अनेकान्त

मई–जून, १९५५ 2413

विषय - सूची

१ भगवान आदीश्वरकी ध्यान-मुद्रा (कविता) —[कविवर दौलतराम २६७
२ धर्म पंचविंशतिका—[ब्रह्म जिनदास २६८
३ श्री हीराचन्द्रजी बोहराका नम्र निवेदन और कुछ शंकाएँ (शंकाओंका समाधान)—[जुगलकिशोर मुख्तार २६९
४ चन्द्रगुप्तमौर्य और विशाखाचार्य—[परमानन्द शास्त्री २७६
५ भ० श्रुतकीर्ति और उनकी रचनाएँ—[परमानन्द शास्त्री २७९
६ धारा और धाराके जैन विद्वान—[परमानन्द जैन शास्त्री २८१
७ जैनसमाजके सामने एक प्रस्ताव—[श्री दौलतराम 'मित्र' २८४
८ अहिंसाकी युगवाणी—[डा० वासुदेवशरण अग्रवाल २८६
१० क्या ग्रन्थसूचियों आदि परसे जैन साहित्यके इतिहासका निर्माण सम्भव है ? - [परमानन्द शास्त्री २८७
११ श्री कुन्दकुन्द और समन्तभद्रका तुलनात्मक अध्ययन—[बालब्रह्मचारिणी श्रीविद्युल्लता शहा बी. ए. बी. टी. २९१
१२ वीरसेवामन्दिरमें श्रुतपंचमी महोत्सव—[परमानन्द जैन ३१३
१३ वीरसेवामन्दिर सोसाइटीकी मीटिंग ३१४
१४ वीरसेवामन्दिरकी कार्यकारिणीके दो प्रस्ताव ३१६
१५ चिट्ठा हिसाब अनेकान्त वर्ष १३वें का—[परमानन्द जैन ३१७
१६ अपनी आलोचना और भावना (कविता) —[युगवीर ३१८
१७ श्रीराजकली मुख्तार ट्रस्टकी ओरसे सात छात्रवृत्तियाँ ३१८
१८ सम्पादकीय—[जुगलकिशोर मुख्तार ३१९
१९ वीरशासनजयन्तीमहोत्सव—[परमानन्द जैन टाइटिल पृष्ट द्वितीय

…कान्त वर्ष १३
किरण ११-१२

वीरशासन जयन्ती महोत्सव

आज ता० ६ जुलाई बुधवारके दिन 'वीरशासन जयन्ती' का महोत्सव वीरसेवा-मन्दिरकी ओरसे लाल-मन्दिर जीके विशाल हालमें सोत्साह मनाया गया। पं० सुमेरचन्दजीके मंगलगानके पश्चात प्रातःकालका कार्य मुनि श्री देशभूषणजीकी उपस्थितिमें सम्पन्न हुआ। इस उत्सवकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि जिस मूलागमका भगवान महावीरकी वाणीसे साक्षात सम्बन्ध है उसका मूल पाठ पंडित हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्रीने सम्पन्न किया। शास्त्रीजीने मूलागमके विषयका परिचय कराते हुए बतलाया कि कर्मबन्धनका मूल कारण कषाय है और कषाय मुक्ति ही मोक्ष है। बादमें पं० जुगलकिशोरजी और बाबू छोटेलालजीने उस पर अच्छा प्रकाश डाला और मुनिजीने अपने भाषणमें वीर शासनकी महत्ता बतलाई।

शामको ८ बजेसे शास्त्र सभाके बाद उत्सवका कार्य ला० रघुवीरसिंहजी जैनावाचकी अध्यक्षतामें सम्पन्न हुआ। सबसे पहले मैंने वीरशासन जयन्तीका इतिहास बतलाते हुए उसकी महत्ता पर जोर दिया। अनन्तर मुख्तार साहबने वीर शासनकी महानता और गम्भीरताका विवेचन करते हुए भक्तिमार्गके आदर्शका विवेचन किया और बतलाया कि देवके बाद हमें शास्त्रकी भक्ति करनी चाहिये। आज हमें शास्त्र ही सद्ज्ञान प्राप्त कराते हैं। परन्तु हम शास्त्रोंको केवल दूरसे हाथ जोड़ देते हैं, परन्तु सच्ची भक्ति नहीं करते, और न उनके उद्धार एवं प्रचारका ही प्रयत्न करते हैं। इस तरह भक्तिके आदर्श मार्गसे हम दूर हैं। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम उनका अध्ययन कर सद्ज्ञान प्राप्त करें। इसके बाद बाबू छोटेलाल जी कलकत्ताने अपने भाषणमें शास्त्रज्ञानकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुए भक्तिका आदर्श मार्ग बतलाया और कहा कि विदेशोंमें करोड़ों व्यक्ति अहिंसाका तन-मन-धनसे प्रचार करते हैं परन्तु खेद है कि हम उसके अनुयायी होकर भी उसके आंशिक रूपको भी यदि अपने जीवनमें नहीं उतारते। महावीरके गुणोंका अपने जीवनमें अनुवर्तन करना ही सच्ची भक्ति है। आदर्श मार्गका अनुकरण होने पर ही आत्म-कल्याण संभव है। अनन्तर पं० अजितकुमारजी शास्त्रीने वीरशासनके ध्येयका विवेचन करते हुए उसकी महत्ता पर प्रकाश डाला और पं० दरबारीलालजी न्यायाचार्यने अपने भाषणमें वीरशासन और अपने कर्तव्यकी ओर निर्देश करते हुए कहा कि वीरसेवामन्दिर जैन समाजकी मान्य संस्था है। वीरसेवामन्दिरने जैन साहित्य और इति-हासकी महत्वपूर्ण शोध (खोज) की है। जिन आचार्योंका हम नाम तक भी नहीं जानते थे, उसके प्रयत्नसे उन्हें भी हम जानने लगे हैं। वीर शासन जयन्तीको उसके संस्थापक मुख्तार साहबने ढूंढ निकाला और उसका उत्सव सबसे प्रथम वीरसेवामन्दिरने ही मनाया। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि हम वीरसेवा मन्दिरके पुनीत कार्योंमें सहयोग दें। और अर्थकी सहायता द्वारा उसे दृढ बनायें। अनन्तर पं० हीरालालजीने वीरशासनकी महत्ताका प्रतिपादन करते हुए वीरके सिद्धान्तों पर अमल करनेकी प्रेरणा की।

पश्चात् अध्यक्ष महोदयने पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार और बाबू छोटेलालजीकी प्रशंसा करते हुए उनका आभार व्यक्त किया। और कहा कि बाबू छोटेलालजीने वीर सेवामन्दिरके लिये चालीस हजारकी जमीन खरीद कर दी और अब ४॥ महीने से वे दिल्लीमें ठहर कर सेवा-कार्य कर रहे हैं, उनकी यह समाज-सेवा समाजके लिये अनुकरणीय है।

—परमानन्द जैन

स्वास्थ्य कामना

वीरसेवामन्दिरके अध्यक्ष श्रीमान् बाबू छोटेलालजी कलकत्ता श्रवण बेलगोलकी मीटिंगसे बैंगलोर होते हुए वापिस मद्रास कार्यवश गए। वहाँ पर परिश्रमादिके कारण आप ज्वरादि रोगसे पीड़ित हो गए हैं। मेरी भगवान महावीर से प्रार्थना है कि बाबू छोटेलालजी शीघ्र ही आरोग्य लाभकर दीर्घायु प्राप्त करें।

—परमानन्द

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ५)

एक किरण का मूल्य १)

वर्ष १३ किरण ११, १२ | वीरसेवामन्दिर, C/o दि० जैन लालमन्दिर, चाँदनी चौक, देहली
वैशाख ज्येष्ठ, वीरनिर्वाण-संवत २४८१, विक्रम संवत २०१२ | मई, जून १९५५

भगवान् आदीश्वरकी ध्यान-मुद्रा

देखो जी आदीश्वर स्वामी, कैसा ध्यान लगाया है।
कर ऊपर कर सुभग विराजै, आसन थिर ठहराया है ॥ १ ॥
जगत-विभूति भूत सम तजकर, निजानन्द पद ध्याया है ।
सुरभितस्वांसा, आसा-वासा नासा-दृष्टि सुहाया है ॥
कंचन वरन चलै मन रंच न, सुरगिर ज्यों थिर थाया है।
जास पास अहि-मोर मृगी-हरि, जाति-विरोध नसाया है ॥
शुधउपयोग हुतासनमें जिन, वसुविधि समिध जलाया है।
श्यामलि अलकावलि सिरसोहै, मानो धुआँ उड़ाया है ॥
जीवन-मरन अलाभ-लाभ जिन तृन-मनिको सम भाया है।
सुर-नर-नाग नमहिं पद, जाके 'दौल' तास जस गाया है ॥

—कविवर दौलतराम

ब्रह्मजिनदास-विरचिता

धर्म-पंचविंशतिका

[यह ग्रन्थ, मार्च सन् १६५० में जयपुरके शास्त्रभण्डारोंका अवलोकन करते हुए, मुझे बलदेवजी बाकलीवालके चैत्यालय-स्थित शास्त्रभंडारके गुटका नं० १५ से उपलब्ध हुआ है, जिसकी ४ मार्चको प्रतिलिपि कराई गई थी। यह प्राकृतमें धर्म-विषयको २५ गाथाओंको लिये हुए है, इसीसे इसका एक नाम धर्म-पंचविंशतिका है। २६वीं गाथामें कविने अपना नाम जिनदास दिया है, अपनेको ब्रह्मचारी बतलाया है और ग्रन्थका नाम 'धर्मविलास' भी सूचित किया है। अन्तिम पुष्पिका-वाक्यमें जिनदासको त्रैविद्य नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक आचार्यका प्रियशिष्य लिखा है जिनका 'चक्रवर्ती' विशेषण कुछ अतिरिक्त एवं प्रतिलिपि लेखककी कृति जान पड़ता है। नेमिचन्द्र और जिनदास नामके अनेक विद्वान् हो गये हैं—ये जिनदास कौनसे हैं यह अभी गवेषणीय है। —जुगलकिशोर मुख्तार]

धर्मपंचविंशतिका

भव्वकमलमायंडं सिद्धं जिण तिहुवणिंद-सद-पुज्जं।
नेमिससिं गुरुवीरं पणमिय तियसुद्धिभवं महणं ॥१॥
संसारमज्झि जीवो हिंडइ मिच्छत्त-विसय-संचित्तो।
अलहंतो जिणधम्मं बहुविहपज्जाइं गिण्हेई ॥२॥
चउ-गइ-दुह-संतत्तो चउरासीलक्खजोणि अइखिण्णो।
कम्मफलं भुंजंतो जिणधम्मविवज्जिओ जीवो ॥३॥
अइदुलहं मणुयत्तं लद्धं नीरोय-देह-कुल-लच्छी।
जइ धम्मं ण वियाणइ पुणरवि ण य हवइ णरजम्मं ॥४॥
धम्मत्थकामसाहणविणा मणुस्साउ पसुजहा वियला।
धम्मं भणंति पवरं तं विणु अत्थं ण कामं च ॥५॥
पढमं किज्जइ धम्मं विग्घहरं सिद्धि हुंति सयलाइं।
लच्छी तहागिहि आवे सुहसंगमु इच्छए तस्स ॥६॥
णिगुणभवम्मि भमिहिसि जोव जरामरणजम्मवसिओसि
तिन्हाकया विनकया जिणवयण-रसायणे पाणं ॥७॥
जो को वि मूढबुद्धी जिणधम्मत्थंमि विसय अणुहवइ।
सो अमियरसं मुंचिवि गिण्हइ हलाहलं पवरं ॥८॥
मिच्छ-दुरग्गह-गहिया धम्मं छंडवि विसय जे लग्गा।
ते कप्पविक्खखंडवि कणयतरुं रक्खणं कुणहि ॥९॥
णरजम्मं वर जाणिवि छंडिवि विसयाइं धम्मु आयरहि।
इंदाइसुहं भुंजवि ते तिहुवण पुज्जया हवहिं ॥१०॥
चंदविहूणी रयणी कंतविवज्जिद हवेइ वर तरुणी।
सद्दायणकरि दंतह विणु धम्मि णरभवो तह च ॥११॥
पवरदलु चिंधचामर-मायंग तुरंग-रह-वरा सुहडा।
णरवइ-विहीण जेहा णरजम्मं धम्मविणु तेहा ॥१२॥
जह निग्गंधं कुसुमं नीरविहूणं सरोवरं पवरं।
लच्छिविहूणं गेहं तहा नरो धम्मविणु कहियो ॥१३॥
आराहंति जिणंदं गुरुचरणं सयलजीवदयजुत्तं।
धम्मि सणेहं दाणं कुणंति जे ते नरा सहला ॥१४॥
कमलासहाव चवला जोव्वण-लावण्ण-रूव-जरगहिया।
पिय पुत्त-सज्जणाणं संजोओ णावजह मणिओ ॥१५॥
इय जाणि चित्तमज्झे धम्मं आयरहि भावसुद्धेय।
जह भावा तह धम्मा तहविह गइ कम्म भुंजंता ॥१६॥
जे मूढ मंदबुद्धी जिणपडिमा-धम्म-मुणिहि-पडिकूला।
विसयामिसत्थ-लुद्धा थावर ते होहिं वयहीणा ॥१७॥
जे णिच्चअट्टरुद्दा कोहाइचउक्क-मच्छरहिजुत्ता।
णिद्दयवइरठिया ते णरए णिवडंति हय-धम्मा ॥१८॥
आलस्सा मंदधिया मुद्धा लुद्धा पवंचट्ठियचित्ता।
कामी माणी परगु[ण]च्छायणसीला य ते तिरिया ॥१९॥
जे सरला दयजुत्ता कज्जाकज्जं वियारगुणवंता।
माया-कवड-विहीणा भत्तिजुदा ते हवहिं मणुसा ॥२०॥
जिणधम्मवयणरत्ता जिणअच्चा-पत्तदाण संजुता।
अविरद-विसय-विरत्ता सुद्धतवा होहिं वरदेवा ॥२१॥
लहिऊण चम्मदेहं जिणसुत्तं सुणिवि भोयनिव्विण्णा।
गिहिद-महव्वय-भारा झाणट्ठिया मुत्तिपुरि-पत्ता ॥२२॥
धम्मेण य सयलसुहं पावेण य पवरदुक्ख-विविहाइं।
इंदबला अबलादय भणंति णिय इट्ठा आयरहिं ॥२३॥
जिणधम्म मोक्खट्ठं अण्णाण हवेहिं हिसगायरणं।
इय जाणि भव्वजीवा जिणअक्खियधम्मु आयरहि ॥२४
णिम्मल-दंसण-भत्ती-वय-अणुपेहा य भावणा चरए।
अंते सल्लेहण करि जइ इच्छहि मुत्तिवररमणी ॥२५॥
मेहाकुमुइणिचंदं भवदुह-सायरहं जाण पत्तमिणं।
धम्मविलासं सुहदं भणिदं जिणदास-बंभेण ॥२६॥

इति त्रैविद्य-सैद्धांतिक-चक्रवर्त्याचार्य (?) श्रीनेमिचंद्रस्य प्रिय-शिष्य-ब्रह्मश्रीजिनदास-विरचितं धर्म्म-पंचविंशतिकानाम शास्त्रं समाप्तं।

श्रीहीराचन्द्रजी बोहराका नम्र निवेदन

और कुछ शंकाएँ

[गत किरण ८ से आगे]

(५)

शंका और समाधान—

अब मैं श्री बोहराजीकी शंकाओंको लेता हूँ, जो संख्यामें ११ हैं। शंकाओंके समर्थनमें प्रस्तुत किये गये प्रमाणोंका ऊपर निरसन एवं कदर्थन हो जानेपर जब वे प्रमाण-कोटिमें स्थिर नहीं रह सके—परीक्षाके द्वारा प्रमाणाभास करार दे दिये गये—तब उनके बलपर प्रतिष्ठित होनेवाली शंकाओंमें यद्यपि कोई ख़ास सत्व या दम नहीं रहता, विज्ञ पाठकों-द्वारा ऊपरके विवेचनकी रोशनीमें उनका सहज ही समाधान हो जाता है, फिर भी चूँकि श्रीबोहराजीका अनुरोध है कि मैं उनकी शंकाओंका समाधान करके उसे भी अनेकान्तमें प्रकाशित कर दूँ और तदनुसार मैंने अपने इस उत्तर लेखके प्रारम्भमें (पृ० १४० पर) यह सूचित भी किया था कि "उनकी शंकाओंका समाधान आगे चलकर किया जायगा, यहाँ पहले उनके प्रमाणोंपर एक दृष्टि डाल लेना और यह मालूम करना उचित जान पड़ता है कि वे कहाँ तक उनके अभिमतविषयके समर्थक होकर प्रमाणकोटिमें ग्रहण किये जा सकते हैं।" अतः यहाँ बोहराजीकी प्रत्येक शंकाको क्रमशः उद्धृत करते हुए उसका यथावश्यक संक्षेपमें ही समाधान नीचे प्रस्तुत किया जाता है :—

१ शंका—दान, पूजा, भक्ति, शील, संयम, महाव्रत, अणुव्रत आदिके परिणामोंसे कर्मोंका आस्रव बन्ध होता है या संवर निर्जरा ?

समाधान—इन दान, पूजा और व्रतादिकके परिणामोंका स्वामी जब सम्यग्दृष्टि होता है, जो कि मेरे लेखमें सर्वत्रविवक्षित रहा है, तब वे शुभ परिणाम अधिकांशमें संवर-निर्जराके हेतु होते हैं, आस्रवपूर्वक बन्धके हेतु कम पड़ते हैं; क्योंकि उस स्थितिमें वे सराग सम्यक्‌चारित्रके अंग कहलाते हैं। सम्यक् चारित्रके साथ जितने अंशोंमें रागभाव रहता है उतने अंशोंमें ही कर्मका बन्ध होता है, शेष सब चारित्रोंके अंशोंसे कर्मबन्धन नहीं होता—वे कर्मनिर्जरादिके कारण बनते हैं; जैसा कि श्रीअमृतचंद्राचार्यके निम्न वाक्यसे जाना जाता है—

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनाऽस्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनाऽस्य बन्धनं भवति ॥(पु०सि०)

इसी बातको श्रीवीरसेनाचार्यने, अपनी जयधवला टीकामें, और भी स्पष्ट करके बतलाया है। वे सरागसंयममें मुनियोंकी प्रवृत्तिको युक्तियुक्त बतलाते हुए लिखते हैं कि उससे बन्धकी अपेक्षा असंख्यातगुणी निर्जरा (कर्मोंसे मुक्ति) होती है। साथ ही यह भी लिखते हैं कि भावपूर्वक अरहंत-नमस्कार भी—जो कि भक्तिभाव रूप सराग चारित्रका ही एक अंग है—बन्धकी अपेक्षा असंख्यात गुणा कर्मक्षयका कारण है, उसमें भी मुनियोंकी प्रवृत्ति होती है :—

"सरागसजमो गुणसेढिणिज्जराए कारणं,तेण बंधादो मोक्खो असंखेज्जगुणो त्ति सरागसंजमे मुणीणं वट्टणं जुत्तमिदि ण पच्चवट्ठाणं कायव्वं। अरहंतणमोक्कारो संपहिय बंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो। उत्तंच—

अरहंतणमोक्कारं भावेण जो करेदि पयडमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥"

इसके सिवाय, मूलाचारके समयसाराधिकारमें यत्नाचारसे चलनेवाले दयाप्रधान साधुके विषयमें यह साफ लिखा है कि उसके नये कर्मका बन्ध नहीं होता और पुराने बँधे कर्म झड़ जाते हैं अर्थात् यत्नाचारसे पाले गये महाव्रतादिक संवर और निर्जराके कारण होते हैं—

जदं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥२३॥

यत्नाचारके विषयमें महाव्रती मुनियों और अणुव्रती श्रावकोंकी स्थिति प्रायः समान है, और इसलिये यत्नाचारसे पाले गये अणुव्रतादिक भी श्रावकोंके लिये संवर-निर्जराके कारण हैं ऐसा समझना चाहिये।

यहां पर मैं इतना और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि सम्यक्‌चारित्रके अनुष्ठानमें, चाहे वह महाव्रतादिकके रूपमें हो या अणुव्रतादिकके रूपमें, जो भी उद्यम किया जाता या उपयोग लगाया जाता है वह सब 'तप' है, जैसा कि भगवती आराधनाकी निम्न गाथासे प्रकट है—

चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउंजणो य जो होइ।
सो चेव जिणेहिं तवो भणियं असढं चरंतस्स ॥१०॥

इसी तरह इच्छाके निरोधका नाम भी 'तप' है; जैसाकि

चारित्रसारके 'रत्नत्रयाविर्भावार्थमिच्छानिरोधस्तपः' इस वाक्यसे जाना जाता है। मुनियों तथा श्रावकोंके अपने-अपने व्रतोंके अनुष्ठान एवं पालनमें कितना ही इच्छाका निरोध करना पड़ता है और इस दृष्टिसे भी उनका व्रताचरण तपश्चरणको लिये हुए है और 'तपसा निर्जरा च' इस सूत्रवाक्यके अनुसार तपसे संवर और निर्जरा दोनों होते हैं, यह सुप्रसिद्ध है।

ऐसी स्थितिमें यह नहीं कहा जा सकता कि सम्यग्दृष्टिके उक्त शुभभाव एकान्ततः बन्धके कारण हैं; बल्कि यह स्पष्ट हो जाता है कि वे अधिकांशमें कर्मोंके संवर तथा निर्जराके कारण हैं।

२ शंका—यदि इन शुभ भावोंसे कर्मोंकी संवर निर्जरा होती है तो शुद्धभाव (वीतरागभाव) क्या कार्यकारी रहे? यदि कार्यकारी नहीं तो उनका महत्त्व शास्त्रोंमें कैसे वर्णित हुआ?

समाधान—शुभ भावोंसे कर्मोंका संवर तथा निर्जरा होनेपर शुद्ध भावोंकी कार्यकारितामें कोई बाधा नहीं पड़ती, वे संवर-निर्जराके कार्यको सविशेषरूपसे सम्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं। शुभ और शुद्ध दोनों प्रकारके भाव कर्मक्षयके हेतु हैं। यदि ऐसा नहीं माना जायगा तो कर्मोंका क्षय हो नहीं बन सकेगा; जैसा कि श्रीवीरसेनाचार्यके जयधवला-गत निम्न वाक्यसे प्रकट है—

सुह-सुद्ध-परिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो। (पृष्ठ ६)

इसके अनन्तर आचार्य वीरसेनने एक पुरातन गाथाको उद्धृत किया है जिसमें "उवसम-खय-मिस्सया य मोक्खयरा" वाक्यके द्वारा यह प्रतिपादन किया गया है कि औपशमिक, क्षायिक और मिश्र (क्षायोपशमिक) भाव कर्मक्षयके कारण हैं। इससे प्रस्तुत शंकाके समाधानके साथ पहली शंकाके समाधानपर और भी अधिक प्रकाश पड़ता है और यह दिनकर प्रकाशकी तरह स्पष्ट हो जाता है कि शुभभाव भी कर्मक्षयके कारण हैं। शुद्धभावोंका तो प्रादुर्भाव भी शुभभावोंका आश्रय लिये बिना होता नहीं। इस बात को पं० जयचन्दजी और पं० टोडरमलजीने भी अपने निम्न वाक्योंके द्वारा व्यक्त किया है, जिनके अन्य वाक्योंको बोहराजीने प्रमाणमें उद्धृत किया है और इन वाक्योंका उद्धरण छोड़ दिया है।

"अर शुभ परिणाम होय तब या धर्म (मोह-क्षोभसे रहित आत्माके निज परिणाम) की प्राप्तिका भी अवसर होय है।" (भावपाहुड-टीका)

"शुभोपयोग भए शुद्धोपयोगका यत्न करे तो (शुद्धोपयोग) होय जाय।" (मोक्षमार्गप्रकाशक अ० ७)

यहाँपर मैं इतना और भी प्रकट कर देना चाहता हूँ कि मुनियों और श्रावकोंके शुद्धोपयोगका क्या स्वरूप होता है, इस विषयमें अपराजितसूरिने भगवती-आराधनाकी गाथा नं० १८३४ की टीकामें कुछ पुरातन पद्योंको उद्धृत करते हुए जो प्रकाश डाला है वह भी इस अवसर पर जान लेनेके योग्य है। पं० हीरालालजी शास्त्रीने उसे गत अनेकान्त किरण ८ में 'मुनियों और श्रावकोंका शुद्धोपयोग' शीर्षकके साथ प्रकट किया है। यहाँ उसके अनुवाद रूपमें * प्रस्तुत किये गये कुछ अंशोंको ही उद्धृत किया जाता है:—

'मैं जीवोंको नहीं मारूँगा, असत्य नहीं बोलूँगा, चोरी नहीं करूँगा, भोगोंको नहीं भोगूँगा, धनको नहीं ग्रहण करूँगा, शरीरको अतिशय कष्ट होने पर भी रातमें नहीं खाऊँगा, मैं पवित्र जिनदीक्षाको धारण करके क्रोध, मान, माया और लोभके वश बहुदुख देने वाले आरम्भ-परिग्रहसे अपनेको युक्त नहीं करूँगा।...इस प्रकार आरंभ-परिग्रहादिसे विरक्त होकर शुभकर्मके चिन्तनमें अपने चित्तको लगाना सिद्ध अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय, जिनचैत्य, संघ और जिनशासनकी भक्ति करना और इनके गुणोंमें अनुरागी होना तथा विषयोंसे विरक्त रहना, यह मुनियोंका शुद्धोपयोग है।'

'विनीतभाव रखना, संयम धारण करना, अप्रमत्तभाव रखना, मृदुता, क्षमा, आर्जव और सन्तोष रखना; आहार भय मैथुन परिग्रह इन चार संज्ञाओंको, माया मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योंको तथा रस ऋद्धि और सात गौरवोंको जीतना, उपसर्ग और परीषहोंपर विजय प्राप्त करना, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सरागसंयम धारण करना, दश प्रकारके धर्मोंका चिन्तवन करना, जिनेन्द्र-पूजन करना, पूजा करनेका उपदेश देना, निःशंकितादि आठ गुणोंको धारण करना, प्रशस्तरागसे युक्त तपकी भावना रखना, पाँच समितियोंका पालना, तीन गुप्तियोंका धारण करना, इत्यादि यह सब मुनियोंका शुद्धोपयोग है।

* मूल वाक्योंके लिये उक्त टीका ग्रंथ या अनेकान्तकी उक्त आठवीं (फरवरी १९५५ की) किरण देखनी चाहिए।

'ग्रहण किये हुए व्रतोंके धारण और पालनकी इच्छा रखना, एक क्षणके लिए भी व्रतभंगको अनिष्टकारक समझना, निरन्तर साधुओंकी संगति करना, श्रद्धा-भक्ति आदिके साथ विधिपूर्वक उन्हें आहारादि दान देना, श्रम या थकान दूर करनेके लिए भोगोंको भोग कर भी उनके परित्याग करनेमें अपनी असामर्थ्यकी निन्दा करना, सदा घरबारके त्याग करनेकी वांछा रखना, धर्मश्रवण करनेपर अपने मनमें अति आनन्दित होना, भक्तिसे पंचपरमेष्ठियोंकी स्तुति-प्रणाम द्वारा पूजा करना, अन्य लोगोंको भी स्वधर्ममें स्थित करना, उनके गुणोंको बढ़ाना, और दोषोंका उपगूहन करना, साधर्मियोंपर वात्सल्य रखना, जिनेन्द्रदेवके भक्तोंका उपकार करना, जिनेन्द्रशास्त्रोंका आदर-सत्कार-पूर्वक पठन-पाठन करना, और जिनशासनको प्रभावना करना, इत्यादि गृहस्थोंका शुद्धोपयोग है।

इस सब कथनसे स्पष्ट जाना जाता है कि जिन दान, पूजा, भक्ति, शील, संयम और व्रतादिके भावोंको हमने केवल शुभ परिणाम समझ रक्खा है उनके भीतर कितने ही शुद्ध भावोंका समावेश रहता है, जिन पर हमारी दृष्टि ही नहीं है—हमने शुद्ध भावोंकी एकान्ततः कुछ विचित्र ही कल्पना मनमें करली है—यहाँ तो अहिंसादि शुभकर्मोके चित्तमें चिन्तनको भी शुद्धोपयोगमें शामिल किया है।

३ शंका—जिन शुभभावोंसे कर्मोका आस्रव होकर बंध होता है, क्या इन्हीं शुभभावोंसे मुक्ति भी हो सकती है? क्या एक ही परिणाम जो बंधका भी कारण है, वे ही मुक्तिका कारण भी हो सकते हैं। यदि ये परिणाम बंधके ही कारण हैं तो इन्हें धर्म (जो मुक्तिका देने वाला) कैसे माना जाय?

समाधान—सम्यग्दृष्टिके वे कौनसे शुभ भाव हैं जिनसे केवल कर्मोका आस्रव होकर बन्ध ही होता है, मुझे उनका पता नहीं। शंकाकारको उन्हें बतलाना चाहिए था। पहली-दूसरी शंकाओंके समाधानसे तो यह जाना जाता है कि सम्यग्दृष्टिके पूजा-दान-व्रतादि रूप शुभभाव अधिकांशमें कर्मक्षय अथवा कर्मोकी निर्जराके कारण हैं और इसलिए मुक्तिमें सहायक हैं। मिश्रभावकी अवस्थामें ऐसा होना सम्भव है कि एक परिणामके कुछ अंश बन्धके कारण हों और शेष अंश बन्धके कारण न होकर कर्मोकी निर्जरा अथवा मुक्तिके कारण हों। सराग सम्यक् चारित्रकी अवस्थामें प्रायः ऐसा ही होता है और इसका खुलासा पहली शंकाके समाधानमें आ गया है। सम्यग्दृष्टिके शुभ परिणाम जब सर्वथा बन्धके कारण नहीं तब शंकाके तृतीय अंशके लिये कोई स्थान ही नहीं रहता। धर्मको ब्रेकट के भीतर जो 'मुक्तिका देने वाला' बतलाया है वैसा एकान्त भी जिनशासनमें नहीं है। जिनशासनमें धर्म उसे प्रतिपादित किया है जिससे अभ्युदय तथा निःश्रेयसकी सिद्धि होती है, जैसा कि सोमदेवसूरिके निम्न वाक्यसे प्रकट है जो स्वामी समंतभद्रके 'निःश्रेयसमभ्युदयं' इत्यादि कारिकाके वचनको लक्ष्यमें लेकर लिखा गया है:—

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (नीतिवाक्यामृत)

४ शंका—उत्कृष्ट द्रव्यलिंगी मुनि शुभोपयोगरूप उच्चतम निर्दोष क्रियाओंका परिपालन करते हुए भी। (यहाँ तक कि अनंतबार मुनिव्रत धारण करके भी) मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही क्यों पड़ा रह जाता है? आपके लेखानुसार तो वह शुद्धत्वके निकट (मुक्तिके निकट) होना चाहिए। फिर शास्त्रकारोंने उसे असंयमी सम्यग्दृष्टिसे भी हीन क्यों माना है?

समाधान—द्रव्यलिंगी मुनि चाहे वह उत्कृष्ट द्रव्यलिंगी हो या जघन्य, सम्यग्दृष्टि नहीं होता और इस लिए उसकी क्रियाएँ सम्यक्चारित्रकी दृष्टिसे उच्चतम तथा निर्दोष नहीं कही जा सकतीं। निर्दोष क्रियाएँ वही होती हैं जो सम्यग्ज्ञानपूर्वक होती हैं। सम्यग्ज्ञानपूर्वक न होनेवाली क्रियाएँ मिथ्याचारित्रमें परिगणित हैं, चाहे वे बाहरसे देखनेमें कितनी ही सुन्दर तथा रुचिकर क्यों न मालूम देती हों, उन्हें सतक्रियाभास कहा जायगा और वे सम्यक्चारित्रके फलको नहीं फल सकेंगी, जब तक उस द्रव्यलिंगी मुनिके आत्माको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होगी तब तक वह मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही चला जायगा।

मेरे उस लेखमें कहीं भी द्रव्यलिंगी मुनियोंकी क्रियाएँ विवक्षित नहीं है—शुभभावरूप जो भी क्रियाएँ विवक्षित हैं वे सब सम्यग्दृष्टिकी विवक्षित हैं चाहे वह मुनि हो या श्रावक अतः मेरे लेखानुसार वह द्रव्यलिंगी मुनि शुद्धत्वके निकट होना चाहिए ऐसा लिखना मेरे लेख तथा उसकी दृष्टि को न समझनेका ही परिणाम कहा जा सकता है।

५ शंका—यदि शुभभावोंमें अटके रहनेसे इसका कोई बात नहीं है तो संसारी जीवको अभी तक मुक्ति क्यों नहीं मिली? अनादिकालसे जीवका परिभ्रमण क्यों हो रहा है? क्या वह अनादिकालसे पापभाव ही करता आया

है? यदि नहीं तो उसके भवभ्रमणमें पापके ही समान पुण्य भी कारण है या नहीं? यदि पुण्यभाव भी बन्धभाव होनेसे भवभ्रमणमें कारण हैं तो उसमें अटके रहनेसे हानि हुई या लाभ?

समाधान—शुद्धत्वका लक्ष्य रखते हुए द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावादिकी परिस्थितियोंके अनुसार शुभमें अटके रहनेसे सम्यग्दृष्टिको सचमुच डरनेकी कोई बात नहीं है—वह यथेष्ट साधन-सामग्रीकी प्राप्ति पर एक दिन अवश्य मुक्तिको प्राप्त होगा। असंख्य संसारी जीवोंको अब तक ऐसा करके ही मुक्ति मिली है। अनादिकालसे जिनका परिभ्रमण हो रहा था वेही सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर शुद्धत्वका लक्ष्य रखते हुए शुभभावोंका आश्रय लेकर—उनमें कुछ समय तक अटके रह कर—भवभ्रमणसे छूटे हैं। और इसलिये यह कहना कि संसारी जीवको अभी तक मुक्ति क्यों नहीं मिली वह कोरा भ्रम है। संसारी जीवोंमेंसे जिनको अभी तक मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हुई उनके विषयमें समझना चाहिये कि उन्हें सम्यग्दर्शनादिकी प्राप्तिके साथ दूसरी योग्य साधन-सामग्रीकी अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है। सम्यग्दर्शनसे विहीन कोरे शुभभाव मुक्तिके साधन नहीं और न कोरा पुण्यबन्ध ही मुक्तिका कारण होता है, वह तो कषायोंकी मन्दतादिमें मिथ्यादृष्टिके भी हुआ करता है। वह पुण्यभाव अपने लेखमें विवक्षित नहीं रहा है। ऐसी स्थितिमें शंकाके शेष अंशके लिये कोई स्थान नहीं रहता। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके पुण्यभाव तथा उनमें अटके रहनेकी दृष्टिमें बहुत बड़ा अन्तर है—एक उसे सर्वथा उपादेय मानता है तो दूसरा उसे कथंचित् उपादेय मानता हुआ हेय समझता है, और इसलिए दोनोंकी मान्यतानुसार उनके हानि-लाभमें अन्तर पड़ जाता है। पुण्यबन्ध सर्वथा ही हानिकारक तथा भवभ्रमणका कारण हो, ऐसी कोई बात भी नहीं है। तीर्थंकर प्रकृति और सर्वार्थसिद्धिमें गमन कराने वाले पुण्यकर्मका बंध जल्दी ही मुक्तिको निकट लानेवाला होता है।

६ शंका—यदि शुभमें अटके रहनेमें कोई हानि नहीं है तो फिर शुद्धत्वके लिये पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है? क्योंकि आपके लेखानुसार जब इनसे हानि नहीं तो जीव इन्हें छोड़नेका उद्यम ही क्यों करे। क्या आपके लिखनेका यह तात्पर्य नहीं हुआ कि इसमें अटके रहनेसे कभी न कभी तो संसार परिभ्रमण रुक जावेगा? शुभक्रिया करते २ मुक्ति मिल जावेगी, ऐसा आपका अभिप्राय हो तो कृपया शास्त्रीय प्रमाण द्वारा इसे और स्पष्ट कर देनेकी कृपा करें।

समाधान—शुद्धत्वकी प्राप्तिका लक्ष्य रखते हुए जब किसीको परिस्थितियोंके वश शुभमें अटकना पड़ता है तो उसके लिये शुद्धत्वके पुरुषार्थकी आवश्यकता कैसे नहीं रहती? आवश्यकता तो उसको नहीं रहती जो शुद्धत्वका कोई लक्ष्य ही नहीं रखता और एकमात्र शुभभावोंको ही सर्वथा उपादेय समझ बैठा है, ऐसा जीव मिथ्यादृष्टि होता है। सम्यग्दृष्टि जीवकी स्थिति दूसरी है, उसका लक्ष्य शुद्ध होते हुए परिस्थितियोंके वश कुछ समय शुभमें अटके रहनेसे कोई विशेष हानि नहीं होती। यदि वह शुभका आश्रय न ले तो उसे अशुभराग द्वेषादिके वश पड़ना पड़े और अधिक हानिका शिकार बनना पड़े। शुभका आश्रय लिये बिना कोई शुद्धत्वको प्राप्त भी नहीं होता, यह बात पहले भी प्रकट की जा चुकी है। अतः मेरे लिखनेका जो तात्पर्य निकाला गया है वह लेख तथा उसकी दृष्टिको न समझनेका ही परिणाम है। लेखमें "शुद्धत्व यदि साध्य है तो शुभभाव उसकी प्राप्ति का मार्ग है—साधन है। साधनके बिना साध्यकी प्राप्ति नहीं होती, फिर साधनकी अवहेलना कैसी?" इत्यादि वाक्योंके द्वारा लेखकी दृष्टिको भले प्रकार समझा जा सकता है। जिसका लक्ष्य शुद्धत्व है ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवको लक्ष्य करके ही यह कहा गया है कि उसे शुभमें अटकनेसे डरनेकी भी ऐसी कोई बात नहीं है, ऐसा जीव ही यदि शुभमें अटका रहेगा तो शुद्धत्वके निकट रहेगा।

७ शंका—यदि पुण्य और धर्म एक ही वस्तु हैं तो शास्त्रकारोंने पुण्यको भिन्न संज्ञा क्यों दी?

समधान—यह शंका कुछ विचित्रसी जान पड़ती है! मैंने ऐसा कहीं लिखा नहीं कि 'पुण्य और धर्म एक ही वस्तु हैं।' जो कुछ लिखा है उसका रूप यह है कि "धर्म दो प्रकारका होता है—एक वह जो शुभभावोंके द्वारा पुण्यका प्रसाधक है, और दूसरा वह जो शुद्धभावके द्वारा किसी भी प्रकारके (बन्धकारक) कर्मास्रवका कारण नहीं होता *। इससे यह साफ फलित होता है कि धर्मका विषय बड़ा है—वह व्यापक है पुण्यका विषय उसके अन्तर्गत आ जाता है; इसलिये वह व्याप्य है। इस दृष्टिसे दोनोंको एक ही नहीं कहा जा सकता, धर्मका एक प्रकार होनेसे पुण्यको भी धर्म कहा जाता है। इसके सिवाय, एक ही वस्तुकी दृष्टिविशेषसे

* देखो अनेकान्त वर्ष १३ किरण १, पृ०, ४।

यदि अनेक संज्ञाएँ हों तो उसमें बाधाकी कौन सी बात है? एक-एक वस्तुकी अनेक अनेक संज्ञाओंसे तो ग्रन्थ भरे पड़े हैं, फिर धर्मको पुण्य संज्ञा देनेपर आपत्ति क्यों? श्री-कुन्दकुन्दाचार्यने जब स्वयं पूजा-दान-व्रतादिको एक जगह 'धर्म' लिखा है और दूसरी जगह 'पुण्य' रूपमें उल्लेखित किया है * तब उससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि धर्मके एक प्रकारका उल्लेख करनेकी दृष्टिसे ही उन्होंने पुण्यप्रसाधक धर्मको 'पुण्य' संज्ञा दी है। अतः दृष्टिविशेषके वश एकको अनेक संज्ञाएँ दिये जाने पर शंका अथवा आश्चर्य की कोई बात नहीं।

८ शंका—यदि पुण्य भी धर्म है तो सम्यग्दृष्टि श्रद्धामें पुण्यको दण्डवत् क्यों मानता है?

समाधान—यदि सम्यग्दृष्टि श्रद्धामें पुण्यको दण्डवत् मानता है तो यह उसका शुद्धत्वकी ओर बढ़ा हुआ दृष्टि-विशेषका परिणाम हो सकता है—व्यवहारमें वह पुण्यको अपनाता ही है और पुण्यको सर्वथा अधर्म तो वह कभी भी नहीं समझता। यदि पुण्यको सर्वथा अधर्म समझे तो यह उसके दृष्टिविकारका सूचक होगा; क्योंकि पुण्यकर्म किसी उच्चतम भावनाकी दृष्टिसे हेय होते हुए भी सर्वथा हेय नहीं है।

९ शंका—यदि शुभभाव जैनधर्म है तो अन्यमती जो दान, पूजा, भक्ति आदिको धर्म मानकर उसीका उपदेश देते हैं, क्या वे भी जैनधर्मके समान हैं? उनमें और जैन धर्ममें क्या अन्तर रहा?

समाधान—जैनधर्म और अन्यमत-सम्मत दान, पूजा, भक्ति आदिकी जो क्रियाएँ हैं वे दृष्टिभेदको लिये हुए हैं और इसलिए बाह्यमें प्रायः समान होते हुए भी दृष्टिभेद-के कारण उन्हें सर्वथा समान नहीं कहा जा सकता। दृष्टिका सबसे बड़ा भेद सम्यक् तथा मिथ्या होता है। वस्तुतत्त्वकी यथार्थ श्रद्धाको लिये हुए जो दृष्टि है वह सम्यग्दृष्टि है, जिसमें कारणविपर्यय स्वरूपविपर्यय तथा भेदाभेदविपर्ययके लिए कोई स्थान नहीं होता और वह दृष्टि अनेकान्तात्मक होती है, प्रत्युत इसके जो दृष्टि वस्तुतत्त्वकी यथार्थ श्रद्धाको लिए हुए नहीं होती, वह सब मिथ्यादृष्टि कहलाती है, उसके साथ कारण-विपर्ययादि लगे रहते हैं और वह एकान्तदृष्टि कही जाती है। सम्यग्दृष्टिके दान-पूजादिकके शुभ-भाव सम्यक्चारित्रका अंग होनेसे धर्ममें परिगणित हैं; जबकि मिथ्यादृष्टिके वे भाव मिथ्याचारित्रका अंग होनेसे धर्ममें परिगणित नहीं हैं। यही दोनों में मोटे रूपसे अन्तर कहा जा सकता है। जो जैनी सम्यग्दृष्टि न होकर मिथ्या-दृष्टि हैं उनकी क्रियाएँ भी प्रायः उसी कोटिमें शामिल हैं।

१० शंका—धर्म दो प्रकारका है—ऐसा जो आपने लिखा है तो उसका तात्पर्य तो यह हुआ कि यदि कोई जीव दोनोंमेंसे किसी एकका भी आचरण करे तो वह मुक्तिका पात्र हो जाना चाहिए; क्योंकि धर्मका लक्षण आचार्य समन्तभद्रस्वामीने यही किया है कि जो उत्तम अविनाशी सुखको प्राप्त करावे वही धर्म है। तो फिर द्रव्य-लिंगी मुनि मुक्तिका पात्र क्यों नहीं हुआ? उसे मिथ्यात्व गुण स्थान ही कैसे रहा? आपके लेखानुसार तो उसे मुक्तिकी प्राप्ति हो जानी चाहिये थी?

समाधान—यह शंका भी कुछ बड़ी ही विचित्र जान पड़ती है। मैंने धर्मको जिस दृष्टिसे दो प्रकारका बतलाया है उसका उल्लेख शंका ७ के समाधानमें आ गया है और उससे वैसा कोई तात्पर्य फलित नहीं होता। द्रव्यलिंगीकी कोई क्रियाएँ मेरे लेखमें विवक्षित ही नहीं हैं। शंका ४ के समाधानानुसार जब द्रव्यलिंगी मुनि ऊँचे दर्जेकी क्रियाएँ करता हुआ भी शुद्धत्वके निकट नहीं तब वह मुक्तिका पात्र कैसे हो सकता है? मुक्तिका पात्र सम्यग्दृष्टि होता है, मिथ्यादृष्टि नहीं। मेरे लेखानुसार 'द्रव्यलिंगी मुनिको मुक्तिकी प्राप्ति हो जानी चाहिये थी, ऐसा समझना बुद्धिका कोरा विपर्यास है; क्योंकि मेरे लेखमें सम्यग्दृष्टिके ही शुभ भाव विवक्षित हैं—मिथ्यादृष्टि या द्रव्यलिंगी मुनिके नहीं। शंकाकारने धर्मका जो लक्षण स्वामी समन्तभद्रकृत बतलाया है वह भी भ्रमपूर्ण है। स्वामी समन्तभद्रने धर्मका यह लक्षण नहीं किया कि 'जो उत्तम अविनाशीसुखको प्राप्त करावे वही धर्म है।' उन्होंने तो 'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः, इस वाक्यके द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको धर्मका लक्षण प्रतिपादन किया है—उत्तम अवि-नाशी सुखको प्राप्त करना तो उस धर्मका एक फलविशेष है, लक्षण नहीं। फल, उसका अभ्युदय-सुख भी है, जो 'निःश्रेयसमभ्युदयं' इत्यादि कारिका (१३०) में सूचित किया गया है, जो उत्तम होते हुए भी अविनाशी नहीं होता और जिसका स्वरूप 'पूजार्थाऽऽज्ञैश्वर्यैर्बल' इत्यादि कारिका (१३५) में दिया हुआ है, जिसे मैंने अपने लेखमें

* देखो, अनेकान्त वर्ष १३ किरण १ पृ० ५

उद्धृत भी किया था, फिर भी ऐसी शंकाका किया जाना कोई अर्थ नहीं रखता।

११ शंका— धर्म मोक्षमार्ग है या संसारमार्ग? यदि शुभभाव भी मोक्षमार्ग है तो क्या मोक्षमार्ग दो हैं?

समाधान—धर्म मोक्षमार्ग है या संसारमार्ग, यह धर्मकी जाति अथवा प्रकृतिकी स्थिति पर अवलम्बित है। सामान्यत: धर्ममात्रको सर्वथा मोक्षमार्ग या संसारमार्ग नहीं कहा जा सकता। धर्म लौकिक भी होता है और पारलौकिक अर्थात् पारमार्थिक भी। गृहस्थोंके लिये दो प्रकारके धर्मका निर्देश मिलता है—एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक, जिसमें लौकिक धर्म लोकाश्रित—लोककी रीति-नीतिके अनुसार प्रवृत्त—और पारलौकिक धर्म आगमाश्रित—आगमशास्त्रकी विधि-व्यवस्थाके अनुरूप प्रवृत्त—होता है, जैसा कि आचार्य सोमदेवके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥ (यशस्तिलक)

लौकिकधर्म प्राय: संसारमार्ग है और पारलौकिक (पारमार्थिक) धर्म प्राय: मोक्षमार्ग। धर्म सुखका हेतु है इसमें किसीको विवाद नहीं (धर्मः सुखस्य हेतुः), चाहे वह मोक्षमार्गके रूपमें हो या संसारमार्गके रूपमें और इसलिये मोक्षमार्गका आशय है मोक्षसुखकी प्राप्तिका उपाय और संसारमार्गका अर्थ है *संसारसुखकी प्राप्तिका उपाय*। जो पारमार्थिक धर्म मोक्षमार्गके रूपमें स्थित है वह साक्षात् और परम्पराके भेदसे दो भागोंमें विभाजित है, साक्षात्‌में उन परम विशुद्ध भावोंका ग्रहण है जो *यथाख्यातचारित्रके* रूपमें स्थित होते हैं, और परम्परामें सम्यक्दृष्टिके वे सब शुभ तथा शुद्ध भाव लिये जाते हैं जो सामायिक, छेदोपस्थापनादि दूसरे सम्यक्चारित्रोंके रूपमें स्थित होते हैं और जिनमें सद्दान-पूजा-भक्ति तथा व्रतादिके अथवा सरागचारित्रके शुभ-शुद्ध भाव शामिल हैं। जो धर्म परम्परा रूपमें मोक्षसुखका मार्ग है वह अपनी मध्यकी स्थितिमें अक्सर ऊँचेसे ऊँचे दर्जेके संसारसुखका भी हेतु बनता है। इसीसे स्वामी समन्तभद्रने अपने समीचीन-धर्मशास्त्रमें ऐसे समीचीन धर्मके दो फलोंका निर्देश किया है—एक निःश्रेयससुखरूप और दूसरा अभ्युदयसुख-स्वरूप (१३०)। निःश्रेयस सुखको सर्व प्रकारके दुःखोंसे रहित, सदा स्थिर रहनेवाले शुद्ध सुखके रूपमें उल्लेखित किया है, और अभ्युदयसुखको पूजा, धन तथा आज्ञाके ऐश्वर्य (स्वामित्व) से युक्त हुआ बल, परिजन, काम तथा भोगोंकी प्रचुरताके साथ लोकमें अतीव उत्कृष्ट और आश्चर्यकारी बतलाया है। और इसलिए वह धर्म संसारके उत्कृष्ट सुखका भी मार्ग है, यह समझना चाहिए। ऐसी स्थितिमें सम्यग्दृष्टिके शुभ भावोंको मोक्षमार्ग कहना न्याय-प्राप्त है और मोक्षमार्ग अवश्य ही दो भागोंमें विभक्त है—एकको निश्चयमोक्षमार्ग और दूसरेको व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं। निश्चयमोक्षमार्ग साध्यरूपमें स्थित है तो व्यवहारमोक्षमार्ग उसके साधन रूपमें स्थित है; जैसा कि रामसेनाचार्य-कृत तत्त्वानुशासनके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है—

मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चय-व्यवहारतः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्॥२८॥

साध्यकी सिद्धि होने तक साधनको साध्यसे अलग नहीं किया जा सकता और न यही कहा जा सकता है कि साध्य तो जिनशासन है किन्तु उसका साधन जिनशासनका कोई अंश नहीं है। सच पूछा जाय तो साधनरूप मार्ग ही जैनतीर्थंकरोंका तीर्थ है—धर्म है, और उस मार्गका निर्माण व्यवहारनय * करता है। शुभभावोंके अभावमें अथवा उस मार्गके कट जाने पर कोई शुद्धत्वको प्राप्त ही नहीं होता। शुभभावरूप मार्गका उत्थापन सचमुचमें जैनशासनका उत्थापन है—भले ही वह कैसी भी भूल, ग़लती, अजानकारी या *नासमझीका परिणाम* क्यों न हो, इस बातको मैं अपने उस लेखमें पहले प्रकट कर चुका हूँ। यहाँपर मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि अणुव्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत, सल्लेखना अथवा एकादश प्रतिमादिक रूपमें जो श्रावकाचार समीचीनधर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) आदिमें वर्णित है और पंचमहाव्रत, पंचसमिति, त्रिगुप्ति, पंचेन्द्रियरोध, पंचाचार, षडावश्यक, दशलक्षण, परीषहजय अथवा अट्ठाईस मूलगुणों आदिके रूपमें जो मुनियोंका आचार मूलाचार, चारित्तपाहुड और भगवती आराधना आदिमें वर्णित है, वह सब प्राय: व्यवहारमोक्षमार्ग है और उसे धर्मेश्वर

* श्री वीरसेनाचार्यने जयधवलामें लिखा है कि 'व्यवहारनय 'बहुजीवानुग्रहकारी' है और वही आश्रय किये जानेके योग्य है, ऐसा मनमें अवधारण करके ही गोतम गणधरने महाकम्मपयडीपाहुडकी आदिमें मंगलाचरण किया है:—

"जो बहुजीवाणुग्गाहकारी ववहारणओ सो चेव समस्सिदव्वो त्ति *मणेणावधारिय गोदमथेरेण मंगलं तत्थ कदं*॥",

तीर्थंकर केवली अथवा जिनेन्द्रदेवने 'धर्म' या 'सच्चारित्र' कहा है; जैसा कि कुछ निम्न वाक्योंसे भी जाना जाता है:—

१. धर्मं धर्मेश्वरा विदुः॥ अभ्युदयफलति सद्धर्मः (रत्नकरण्ड)

२. असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद-समिदि-गुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं (द्रव्यसं०)

३. एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे॥ (चारित्तपा०)

४. दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा।
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मं तं विणा सो वि॥ (रयणसार)

५. एयारसदसभेयं धम्मं सम्मत्तपुव्वयं भणियं।
सागारणगाराणं उत्तमसुहसंपजुत्तेहिं॥ (बारसाणुपे०)
णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो।

६. दशविधमनगाराणामेकादशधोत्तरं तथा धर्मं।
देशयमानो व्यहरत्त्रिंशद्वर्षाण्यथ जिनेन्द्रः।(निर्वाणभक्ति)

७. तिस्रः सत्तमगुप्तयस्तनुमनोभाषानिमित्तोदयाः
पंचेर्यादिसमाश्रयाः समितयः पंचव्रतानीत्यपि।
चारित्रोपहितं त्रयोदशतयं पूर्वं न दिष्टं परै-
राचारं परमेष्ठिनो जिनपतेर्वीरं नमामो वयम्॥(चारित्रभ०)

१. इनमेंसे पहले नं० के जो वाक्य स्वामी समन्तभद्रके हैं जिनमें यह सूचित किया गया है कि रत्नकरण्डमें जिस धर्मका वर्णन है वह धर्मेश्वर (वीर-वर्द्धमानतीर्थंकर) के द्वारा कहा गया है और वह समीचीन धर्म अभ्युदय फलको भी फलता है। दूसरे नं० का वाक्य नेमिचन्द्राचार्यका है, जिसमें अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्तिको सच्चारित्र बतलाया है और लिखा है कि वह व्रत, समिति तथा गुप्तिके रूपमें है और उसे व्यवहारनयकी दृष्टिसे जिनेन्द्रने प्रतिपादन किया है। तीसरे, चौथे और पाँचवें नम्बरके वाक्य श्रीकुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत ग्रन्थोंके हैं, जिनमें अणुव्रतादि तथा एकादश प्रतिमाओंके रूपमें आचारको श्रावकधर्म, और महाव्रतादि तथा दशलक्षणादिरूप आचारको मुनिधर्मके रूपमें निर्दिष्ट किया है। साथ ही, यह भी निर्दिष्ट किया है कि दान पूजा श्रावकका मुख्य धर्म है—इसके बिना कोई श्रावक नहीं होता, और ध्यान तथा अध्ययन यतिका मुख्य धर्म है, इसके बिना कोई यति—मुनि नहीं होता। इसके सिवाय, बारसअणुपेक्खामें यह भी प्रतिपादन किया गया है कि निश्चयनयसे जीव सागार (गृहस्थ) अनगार (मुनि)के धर्मसे भिन्न है अर्थात् गृहस्थ और मुनिका धर्म निश्चयनयका विषय नहीं है—वह सब व्यवहारनयका ही विषय है। छठे-सातवें नंबरके वाक्य पूज्यपादाचार्यके हैं जिनमेंसे एकमें उन्होंने यह सूचित किया है कि मुनियोंके दश प्रकार धर्मकी और गृहस्थोंके ग्यारह प्रकार धर्मकी देशना करते हुए श्रीवीरजिनेन्द्रने तीस वर्ष तक विहार किया है, और दूसरेमें यह प्रतिपादित किया है कि तीन गुप्तियों, पाँच समितियों और पंचव्रतोंके रूपमें जो तेरह प्रकारका चारित्र (धर्म) है वह वीरजिनेन्द्रके द्वारा निर्दिष्ट हुआ है।

उपसंहार

हमारे नित्यके 'चत्तारि मंगलं' नामके प्राचीनतम पाठमें 'केवलि-पण्णत्तो धम्मो मंगलं' 'केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो' और 'केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पव्वज्जामि' इन वाक्योंके द्वारा केवलि-जिन-प्रणीत धर्मको मंगलभूत और लोकोत्तम मानते हुए उसके शरणमें प्राप्त होनेकी नित्य भावना की जाती है। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि श्रीकुन्दकुन्द और स्वामी समन्तभद्रादि महान् आचार्योंके प्राचीन ग्रन्थोंमें श्रावकों तथा मुनियोंके जिस धर्मकी देशना—प्ररूपणा की गई है और जिसका स्पष्ट आभास ऊपर उद्धृत वाक्योंसे होता है वह केवलि-जिन-प्रणीत है या कि नहीं? यदि है तो वह धर्म जिनशासनका अंग हुआ, उसे जिनशासनसे अलग कैसे किया जा सकता है और कैसे कानजीस्वामीके ऐसे कथनको संगत ठहराया जा सकता है जो सम्यग्दृष्टिके पूजा-दान-व्रतादिके शुभभावोंको धर्म ही नहीं बतलाता, प्रत्युत इसके जिनशासनमें उन्हें धर्मरूपसे प्रतिपादनका ही निषेध करता है और फलतः उन प्राचीन आचार्यों पर अन्यथा कथनका दोषारोपण भी करता है जो उसे जिनोपदिष्ट धर्म बतला रहे हैं? और यदि कानजी स्वामीकी दृष्टिमें यह सब धर्म केवलिजिन-प्रणीत नहीं है, तब वह न तो मंगलभूत है न लोकोत्तम है और न हमें उसकी शरणमें ही जाना चाहिए या उसे अपनाना चाहिए, ऐसी कानजी स्वामीकी यदि धारणा है और इसीसे वे उसका निषेध करके उसे गृहस्थों तथा मुनियोंसे छुड़ाना चाहते हैं, तो फिर वे चतुर्थ-सम्प्रदायको जन्म देना चाहते हैं, ऐसी यदि कोई कल्पना करे तो उसमें आश्चर्यकी कौनसी बात है जिससे बोहराजी कुछ क्षुब्ध होकर विरोधमें प्रवृत्त हुए जान पड़ते हैं—खासकर ऐसी हालतमें जब कि कानजीस्वामी अपना वक्तव्य देकर कोई स्पष्टीकरण भी करना नहीं चाहते? क्योंकि जैनियोंके वर्तमान तीनों सम्प्रदाय प्राचीन ग्रन्थोंमें निर्दिष्ट हुए

मुनियों तथा श्रावकोंके आचारको केवलिजिन-प्रणीत धर्म मानते हैं और इसीसे उसकी रक्षा प्राप्त करना तथा उसे अपनाना अपना कर्तव्य समझते हैं। अपने-अपने महान् आचार्योंके इस कथनकी प्रामाणिकता पर उन्हें अविश्वास नहीं है, जब कि कानजी स्वामीकी बाहर-भीतर-की स्थिति कुछ दूसरी ही प्रतिभासित होती है।

आशा है मेरे इस समग्र विवेचन परसे श्रीबोहराजीको समुचित समाधान प्राप्त होगा और वे श्रीकानजीस्वामीकी अनुचित वकालतके सम्बन्धमें अपनी भूलको महसूस करेंगे।

जैन लालमन्दिर, दिल्ली
जेष्ठसुदि २, सं० २०१२ } जुगलकिशोर मुख्तार

चन्द्रगुप्त मौर्य और विशाखाचार्य

परमानन्द शास्त्री

भगवान महावीरके निर्वाणके पश्चात् १६२ वर्ष तक जैनसंघकी परम्परा अविच्छिन्न रही, अर्थात् १६२ वर्षके अन्दर इन्द्रभूति, सुधर्माचार्य, जम्बूस्वामी ये तीन केवली और पांचश्रुतकेवलियों—विष्णुकुमार, नन्दीमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु इन पाँच श्रुतधरों—तक संघ परम्पराका भले प्रकार निर्वाह होता रहा है। भद्रबाहुके बाद संघ परम्पराका वहन १८३ वर्ष तक विशाखाचार्य आदि ग्यारह आचार्य क्रमशः करते रहे। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि भद्रबाहुने अपना संघभार जिन विशाखाचार्यको सौंपा था, जिनका आचार्यकाल प्राकृत पट्टावलीमें दस वर्ष बतलाया गया है। और जिन्हें दश पूर्वधरोंमें प्रथम उल्लेखित किया गया है। और जिन्होंने संघकी बागडोर ऐसे भीषण समयमें सम्हाली, जब द्वादश वर्षीयदुर्भिक्षके कारण समस्त संघको दक्षिणकी ओर जाना पड़ा था। वे विशाखाचार्य कौन थे और उनका जीवन-परिचय तथा गुरु परम्परा क्या है? इसी पर प्रकाश डालना ही इस लेखका प्रमुख विषय है। जहाँ तक मैं समझता हूँ अब तक किसी भी विद्वानने यह लिखनेकी कृपा नहीं की, कि प्रस्तुत विशाखाचार्य कौन थे और उनके सम्बन्धमें क्या कुछ बातें जैन-ग्रन्थोंमें पाई जाती हैं। अस्तु,

विशाखाचार्य गोवर्द्धनाचार्यके प्रशिष्य और अन्तिम श्रुतधर भद्रबाहुश्रुत केवलीके शिष्य थे। भद्रबाहुके गुरु गोवर्द्धनाचार्यके दिवंगत हो जानेके बाद वे अपने संघके साथ विहार करते हुए अवन्तिदेशमें स्थित उज्जयनी नगरीमें आये। और उस नगरीके समीपमें स्थित सिप्रानामक नदीके किनारे उपवनमें ठहरे। उस समय उस नगरका शासक सम्राट् चन्द्रगुप्तमौर्य भी उज्जयनीमें ठहरा हुआ था। चन्द्रगुप्त भद्रबाहुश्रुतकेवलीको वहाँ आया हुआ जान कर उनकी वन्दनाके लिये गया। चन्द्रगुप्तने भद्रबाहुकी वन्दना की और धर्मोपदेश श्रवण किया। चन्द्रगुप्त भद्रबाहुके व्यक्तित्वसे इतना प्रभावित हुआ कि वह सम्यग्दर्शनसे संपन्न महान् श्रावक हो गया *। भद्रबाहुका व्यक्तित्व असाधारण था। उनकी तपश्चर्या, आत्म-साधना और संघ संचालनकी अपूर्व गुरुता देखकर ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जो उनसे प्रभावित हुए बिना रहा हो। भद्रबाहुके निर्मल एवं प्रशान्त जीवन और अपूर्व तत्त्वज्ञानके चमत्कारसे चन्द्रगुप्तका अन्तःकरण अत्यन्त प्रभावित ही नहीं हुआ था किन्तु उसकी आन्तरिक इच्छा उन जैसा अपरिग्रही संयमी साधु जीवनके बितानेकी हो रही थी, भद्रबाहु निःशल्य और मानापमानमें समदर्शी थे और उनका बाह्यवेष भी साक्षात् मोक्षमार्गका निदर्शक था। चन्द्रगुप्त स्वयं राज्य-कार्यका संचालन करता था और विधिवत श्रावकव्रतोंके अनुष्ठान द्वारा अपने जीवनमें आत्मिक-शान्ति लानेके लिए प्रयत्नशील था। जैन-धर्मसे उसे विशेष प्रेम था, वह उसकी महत्ता एवं प्रभावसे भी परिचित था।

वह चन्द्रगुप्तमौर्य उच्च कुलका क्षत्रिय पुत्र था। वह बड़ा ही वीर और पराक्रमी था। उसने सेल्यूकस (Seleucus) जैसे विजयी सेनापतियोंको भी पराजित किया था। उसकी शासन-व्यवस्था बड़ी ही सुन्दर और जनहित-

* तत्कालेतत्पुरि श्रीमांश्चन्द्रगुप्तो नराधिपः।
सम्यग्दर्शन सम्पन्नो बभूव श्रावको महान्॥
—हरिषेणकथाकोष

कारी थी। वह उदार, न्यायी और कर्तव्य पालनमें निष्ठ था। राजनीतिमें दक्ष अत्यन्त साहसी और अपनी धुनका एक ही व्यक्ति था। उसने अपने बाहुबलसे विशाल राज्य कायम किया था, और वह उसका एक अभिषिक्त सम्राट् था। उसके शासनकालमें विदेशियोंने जो मुँह की खाई थी इसीसे किसी विदेशी राजाओंकी हिम्मत भारत पर पुन: आक्रमण करनेकी नहीं हुई थी। उसका चाणिक्य जैसा राजनीतिका विद्वान मन्त्री था। उसके राज्यसंचालनकी व्यवस्थाका आज भी लोकमें समादर है। और सभी ऐतिहासिक व्यक्तियोंने चन्द्रगुप्तकी राजनीति और शासन-व्यवस्थाकी प्रशंसा की है।

एक समय भद्रबाहुस्वामी चर्याके लिये नगरमें गये। उन्होंने चर्याके लिए जिस घरमें प्रवेश किया उसमें उस समय कोई व्यक्ति नहीं था, किंतु पालनेमें एक छोटा सा शिशु झूल रहा था। उसने भद्रबाहुको देख कर कहा कि हे मुने! तुम यहाँ से शीघ्र चले जाओ। भद्रबाहु अन्तराय समझ कर चर्यासे वपिस लौट आये, और उन्होंने अपने निमित्तज्ञानसे विचार किया, तब मालूम हुआ कि यहाँ द्वादशवर्षीय घोर दुर्भिक्ष पड़ेगा। अतः यहांसे साधु-संघको सुभिक्ष स्थानमें अर्थात् दक्षिण देशकी ओर ले जाना चाहिये। इधर सम्राट् चन्द्रगुप्तको रात्रिमें सोते हुए जो स्वप्न दिखाई दिये थे वह उनका फल पूंछनेके लिये भद्रबाहुके पास आया और उसने भद्रबाहुकी वंदना कर उनसे अपने स्वप्नोंका फल पूंछा। तदनन्तर चन्द्रगुप्तको जब यह ज्ञात हुआ कि इस देशमें १२ वर्षका घोर दुर्भिक्ष पड़ेगा। और स्वयं देखते हुए स्वप्नोंका फल भी अनिष्टकारी जानकर चन्द्रगुप्तकी मन: परिणति विरक्तिकी ओर अग्रसर होने लगी। उसे देह-भोग और विषय निस्सार ज्ञात होने लगे। राज्य वैभव और परिग्रहकी अपार तृष्णा दुःखकर, अशान्त और विनश्वर जान पड़ी। फलत: उसने २४ वर्ष राज्य करनेके अनन्तर अपने पुत्र बिन्दुसारको राज्य भार सौंप कर भद्रबाहुस्वामीसे दीक्षा देनेकी प्रार्थना की। भद्रबाहुने चन्द्रगुप्तको अपने संघमें दीक्षित कर लिया। चुनांचे सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्यकी जैन दीक्षाका उल्लेख प्राचीन जैनग्रन्थों, श्रुतावतारों और शिलालेखादिमें समादरके साथ पाया जाता है। विक्रम की चौथी पांचवीं शताब्दीके आचार्य यतिवृषभने अपनी तिलोयपण्णत्तीमें उसका निम्न प्रकार उल्लेख किया है :—

मउडधरेसु' चरिमो जिण दिक्खं धरदि चंदगुत्तो य।
तत्तो मउडधरा दु प्पवज्जणं णेव गेण्हंति ॥ ४- ४८१

ब्रह्म हेमचन्द्रने भी अपने श्रुतावतारमें दीक्षाका उल्लेख करते हुए लिखा कि मुकुट धारी नरपति चन्द्रगुप्तने पंच महाव्रतोंको ग्रहण किया। जैसा कि उनकी निम्न गाथासे स्पष्ट है:—

चरिमो मउड धरीसो णरवइणा चंदगुत्तणामाए।
पंच महव्वय गहिया अवरिं रिक्खाय ओच्छिण्णा॥
— श्रुतस्कन्ध, ७०

दीक्षा लेनेके बाद चन्द्रगुप्तने साधु-चर्याका विधिवत अनुष्ठान करते हुए अपने जीवनको आदर्श और महान् साधुके रूपमें परिणत कर लिया। और अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग तथा आत्मसाधना-द्वारा भद्रबाहुके प्रसादसे दशपूर्वका परिज्ञानी हो गया। और तब भद्रबाहु स्वामीने मुनिचन्द्र गुप्तको सब तरहसे योग्य जानकर उन्हें संघाधिप तथा विशाखाचार्य नामक संज्ञासे विभूषित किया, जैसा कि हरिषेण कथा कोषके निम्नपद्यसे प्रकट है :—

चन्द्र गुप्ति मुनिः शीघ्रं प्रथमो दशपूर्विणाम्।
सर्व संघाधिपो जातो विशाखाचार्य संज्ञकः ॥३६॥

अस्तु, विशाखाचार्यने उस मूल साध्वाचारके यथार्थ रूपको भीषणतम दुर्भिक्षके समयमें भी अपने मूल रूपमें संरक्षित रखनेका प्रयत्न किया था।

यहां पर यह विचारणीय है कि चन्द्रगुप्त मौर्यका दीक्षा नाम कुछ भी क्यों न रहा हो। परन्तु उन्हें लोकमें विशाखाचार्यके नामसे उल्लेखित किया जाता था इसीसे हरिषेणाचार्यनेभी अपने कथा कोशमें उनको विशाखाचार्य नामक संज्ञासे उल्लेखित किया है। उनका विशाखाचार्य यह नाम किसी शाखा-विशेषके कारण प्रसिद्ध हुआ हो, यह नहीं कहा जासकता क्योंकि दक्षिणकी ओर जो संघ इनकी देख-रेख अथवा संरक्षण में गया था वह जैन साधु सम्प्रदायका मूल रूप था। शाखा विशेषके कारण उक्त नामकी प्रसिद्धि तो तब हो सकती थी जब कि द्वादश वर्षीय-घोर दुर्भिक्ष पड़नेके बाद यदि उनका नाम करण किया जाता, तब उक्त नामकी सम्भावना की जा सकती थी। परन्तु उनका 'विशाखाचार्य' यह नाम दश पूर्वधारी हो जानेके बाद प्रथित हुआ जान पड़ता है। हां, यह हो सकता है कि विशाखाचार्यके नेतृत्वमें जो संघ दक्षिण देशकी ओर गया था वह दुर्भिक्ष समाप्तिके बाद जब लौटकर यहां आया, तब जो साधु संघ यहां स्थित रह गया था। उसे दुर्भिक्ष की विषम परिस्थिति वश चर्या की सीमा का

उल्लंघन करना पड़ा था, तथा रहन-सहनमें थोड़े शिथिलताको जीवनमें अपनाना पड़ा था, और कठोर चर्याको छोड़कर बौद्ध भिक्षुओं के सदृश सुकोमल आचार को पालना पड़ा था, वे मध्यम मार्ग के हामी हो चुके थे, अतः उपसर्ग और परीषहोंकी तीव्र वेदनाको सहनेमें वे सर्वथा असमर्थ थे। अतः उन स्थानीय साधुओंकी दृष्टि-से वह संघ विशिष्ट ही था; क्योंकि उसने साध्वाचारके यथार्थ रूपको भीषणतम दुर्भिक्षके समय में भी अपने मूल रूपमें सुरक्षित रखनेका प्रयत्न किया था। हो सकता है कि बादके आचार्योंने विशाखाचार्यका अर्थ यदि विशिष्ट शाखाके आचार्य रूपमें स्वीकृत कर लिया हो, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

इसी कारण भट्टारक शुभचन्द्रने अपने पाण्डव पुराणकी प्रशस्तिमें निम्न पद्य दिया है जिसमें बतलाया गया है कि विशाखाचार्य शुद्ध वंशोद्भूत हैं, उनकी प्रसिद्ध शाखा मुझे संरक्षित करे, क्योंकि संसारके सभी लोगोंने इनको बद्धांजलि होकर स्तुति की है :—

विशाखो विश्रुता शाखा सुशाखो यस्य पातु माम्।
भूतले मिलन्मौलि हस्तभूलोक संस्तुतः॥ १३॥

इससे विशाखाचार्यके जीवनकी महत्तापर विशेष प्रकाश पड़ता है।

दिगम्बर पट्टावलियों* और श्रुतावतारोंमें विशाखाचार्य को दश पूर्वधर बतलाया गया है। जयधवलाकार आचार्य वीरसेनने विशाखाचार्यको दशपूर्वधरोंमें प्रथम उद्घोषित करते हुए लिखा है कि *विशाखाचार्य आचारादि ग्यारह अंगों* और उत्पाद पूर्व आदि दशपूर्वोंके धारक तथा प्रत्याख्यान, प्राणवाय, क्रिया विशाल और लोक बिन्दुसार इन चार पूर्वोंके एक देश धारक हुए हैं। और शेष दश आचार्य अविच्छिन्न सन्तान रूपसे दशपूर्वके धारी हुए हैं—जैसाकि उनके निम्नवाक्योंसे स्पष्ट है।

तत्थ, विसाहाइरियो तक्काले आयारादीणमेक्का-रसण्हमंगाणमुप्पायपुव्वाईणं दसण्हं पुव्वाणं च पच्चक्खाण-पाणावाय-किरियाविसाल-लोयबिंदुसार पुव्वाणमेगदेसाणं च धारओ जादो। पुणो तस्सुद्धसंताणेण पोट्ठिलो खत्तियो जयसेणो णागसेणो सिद्धत्थो धिदिसेणो विजयो बुद्धिल्लो गंगदेवो धम्मसेणो त्ति एदे एक्कारस जणा दसपुव्वहरा जादा।

—जयधवला भाग १, पृ० ८५, ८६

इससे विशाखाचार्यके दशपूर्वधारी होने और शेष पूर्वों के एक देशधारक होना उनके महान् व्यक्तित्वको सूचित करता है।

हरिषेण कथाकोषके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य ही विशाखा-चार्य थे यह स्पष्ट है; क्योंकि उन्होंने भद्रबाहु स्वामीके पादमूलमें दीक्षा धारणकर दशपूर्वका अध्ययन किया था। दूसरे वे इतने सुयोग्य विद्वान हो गए थे कि भद्रबाहुने उन्हें स्वयं 'संघाधिप' की उपाधिसे अलंकृत किया था और उन्हें विशाखाचार्यको संज्ञा भी प्रदानकी थी। इन सब बातोंसे चन्द्रगुप्तके साधु जीवनकी महानताका दिग्दर्शन ही नहीं होता; किन्तु विशाखाचार्यके साथ चन्द्रगुप्तके एकत्वका भी समर्थन होता है। भद्रबाहुने इन्हीं विशाखाचार्य संज्ञक मुनि चन्द्रगुप्तके नेतृत्वमें समस्त संघको दक्षिणको ओर जानेका आदेश दिया था, जैसा कि हरिषेण कथाकोषके निम्न वाक्यसे प्रकट है :

ऊपरके इस सब विवेचनसे स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ही विशाखाचार्य हैं। भद्रबाहु और चन्द्रगुप्तका जो समय है वही मुनि विशाखाचार्यका है। विशाखाचार्यने अपने संघका भार आचार्य प्रोष्ठिलको सौंपा था।

अनेन सह संघोऽपि समस्तो गुरु वाक्यतः।
दक्षिणापथ देशस्थ पुन्नाट विषयं ययौ॥४०॥

जब द्वादश वर्षीय दुर्भिक्ष समाप्त हो गया, तब भद्रबाहु गुरुके शिष्य विशाखाचार्य सर्व संघ सहित दक्षिणापथसे मध्यदेशको प्राप्त हुए×।

*नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावली और काष्ठासंघकी गुर्वावलीमें भी विशाखाचार्यादि एकादश आचार्योंको दशपूर्व-धर प्रकट किया है।

—देखो, जैन सिद्धांत भास्कर भा० १ कि० ३-४, पृ० ७१, ८०।

× दुर्भिक्षे सति संजाते सर्वसंघ समन्वितः।
... ...॥
भद्रबाहुगुरोः शिष्यो विशाखाचार्य नामकः।
मध्यदेशं ... संप्राप्य दक्षिणापथदेशतः॥७६

भ० श्रुतकीर्ति और उनकी रचनाएँ

(परमानन्द शास्त्री)

भट्टारक श्रुतकीर्ति नंदीसंघ बलात्कारगण और सरस्वती गच्छके विद्वान् थे। यह भ० देवेन्द्रकीर्तिके प्रशिष्य और त्रिभुवनकीर्तिके शिष्य थे। ग्रन्थकर्ताने भ० देवेन्द्रकीर्तिको मृदुभाषी और अपने गुरु त्रिभुवनकीर्तिको अमृतवाणीरूप सद्गुणोंके धारक बतलाया है। श्रुतकीर्तिने अपनी लघुता व्यक्त करते हुए अपनेको अल्पबुद्धि बतलाया है। इनकी उपलब्ध रचनाओंके अवलोकन करनेसे ज्ञात होता है कि आप अपभ्रंश भाषाके विद्वान थे। आपकी उपलब्ध सभी रचनाएँ अपभ्रंश भाषाके पद्धडिया छन्दमें ही रची गई हैं। इस समय तक आपकी चार कृतियाँ उपलब्ध हो चुकी हैं। जिनमें धर्मपरीक्षाके आदि और अन्तके कई पत्र खण्डित हैं—इन पत्र मात्र उपलब्ध हैं। और परमेष्ठिप्रकाशसारके भी आदिके ग्रन्तीम पत्र नहीं हैं। आपकी चारों कृतियोंके नाम इस प्रकार हैं:—

१ हरिवंशपुराण, २ धर्मपरीक्षा, ३ परमेष्ठिप्रकाशसार और ४ योगसार। ये चारों ही कृतियाँ उन्होंने मांडवगढ़ (मांडू)के राजा गयासुद्दीन और उसके पुत्र नसीरशाहके राज्य-कालमें सम्वत् १५५२-५३ में बना कर समाप्त की थीं।

आपकी सबसे पहली कृति 'हरिवंशपुराण' है जिसमें ४७ संधियों द्वारा जैनियोंके २२वें तीर्थंकर भ० नेमिनाथके जीवनपरिचयको अंकित किया गया है। प्रसंगवश उसमें श्रीकृष्ण आदि यदुवंशियोंका संक्षिप्त चरित्र भी दिया हुआ है। इस ग्रन्थकी दो प्रतियाँ अब तक उपलब्ध हुई हैं। एक प्रति आरा जैन सिद्धान्त भवनमें है और दूसरी आमेरके महेन्द्रकीर्ति-भण्डारमें मौजूद है, जो संवत् १६०७ की लिखी हुई है। इसकी लिपिप्रशस्ति भी अपभ्रंश-भाषामें लिखी गई है। आराकी वह प्रति सं० १५५३ की लिखी हुई है, जो मंडपाचलदुर्गके सुलतान गयासुद्दीनके राज्यकालमें दमोवादेशके जेरहट नगरके महाखान और भोजखानके समय लिखी गई है। ये महाखान भोजखान जेरहटनगरके सूबेदार जान पड़ते हैं। वर्तमानमें जेरहटनामका एक नगर दमोहके अन्तर्गत है, यह दमोह पहले जिला रह चुका है। सम्भव है यह दमोह उस समय मालव-राज्यमें शामिल हो। और यह भी हो सकता है कि मांडवगढ़के समीप ही कोई जेरहट नामका नगर रहा हो, जिसकी संभावना कम ही जान पड़ती है; क्योंकि उस प्रशस्तिमें 'दमोवादेश' स्पष्ट रूपसे उल्लिखित है।

इतिहाससे प्रकट है कि सन् १४०६ में मालवाके सूबेदार दिलावरखाँ को उसके पुत्र अलफखाँ ने विष देकर मार डाला था, और मालवाको स्वतन्त्र उद्घोषित कर स्वयं राजा बन बैठा था। उसकी उपाधि हुशंगशाह थी। इसने मांडवगढ़को खूब मजबूत बना कर उसे ही अपनी राजधानी बनाई थी। उसीके वंशमें शाह गयासुद्दीन हुआ, जिसने मांडवगढ़से मालवाका राज्य सं० १५२६ से १५५७ अर्थात् सन् १४६९ से १५०० तक किया है*। इसके पुत्रका नाम नसीरशाह था। भट्टारक श्रुतकीर्तिने जेरहटनगरके नेमिनाथ चैत्यालयमें, जहाँ वह रह रहे थे, अपना हरिवंशपुराण विक्रम संवत् १५५२ माघ कृष्णा पंचमी सोमवारके दिन हस्तनक्षत्रके समय पूर्ण किया था। यथा—

'संवत् विक्कमसेण-णरेसहं, साढिगयासुपयावअसेसइं।
णयरजेरहटजिणहरुचंगउ, णेमिणाहजिणबिंबु अभंगउ।
गंथसउण्णु तत्थइहुजायउ, चउविहसंघसुणिअणुरायउ
माघकिण्हपंचमिससिवारइं, हत्थणक्खत्तसमत्तुगुणालइं।
गंथु सउण्णुजाउसुपवित्तउ, कम्मक्खउणिमित्त जं उत्तउ।'

दूसरी रचना 'धर्मपरीक्षा' है। इसकी एकमात्र अपूर्ण प्रति डा० हीरालाल जी एम० ए० नागपुरके पास है। जिसका परिचय उन्होंने अनेकान्त वर्ष ११ किरण २ में दिया है। जिससे स्पष्ट है कि उक्त धर्मपरीक्षामें १७९ कडवक हैं। हरिषेणकी धर्मपरीक्षाके सम्बन्धमें डा० ए० एन० उपाध्ये एम० ए० कोल्हापुरने (Harishenas Dharma pariksha in Apabhramsa) जिसका परिचय उक्त शीर्षक लेखमें दिया है जो सन् १९४२ में भाण्डारकर रिसर्चइन्स्टीट्यूट पूनाके सिलवर जुबली नं० के एनाल्समें प्रकाशित हुआ है। और जिसका अनुवाद अनेकान्तके ८वें वर्षकी प्रथम किरणमें प्रकाशित हो चुका है। उसमें इस 'धर्मपरीक्षा' का कोई उल्लेख नहीं है। क्योंकि वह उस समय तक प्रकाशमें नहीं आई थी।

इस ग्रन्थको भी कविने संवत् १५५२ में बनाया है। क्योंकि इसके रचे जानेका उल्लेख कविने अपने दूसरे ग्रन्थ परमेष्ठिप्रकाशसारमें किया है।

तीसरी रचना 'परमेष्ठिप्रकाशसार' है। इस ग्रन्थकी भी अभी तक एक ही प्रति आमेर-भंडारमें उपलब्ध हुई

*Cambridge shorter History of India.P. 309

है, जिसके आदिके दो पत्र और अन्तिम पत्र नहीं हैं। इसकी पत्रसंख्या ८८८ है। जिसकी श्लोकसंख्या ३००० बतलाई गई है। इस ग्रन्थमें ७ परिच्छेद या अध्याय हैं। इस ग्रंथकी रचना भी, विक्रम संवत् १५५३ को श्रावण गुरु पंचमीके, दिन मांडवगढ़के दुर्ग और जेरहट नगरके नेमीश्वर जिनालयमें हुई है। उस समय ग्यासुद्दीनका राज्य था और उसका पुत्र राज्यकार्यमें अनुराग रखता था, पुञ्जराज नामके एक वणिक उस समय नसीरशाहके मन्त्री थे। और ईसर दास नामके सज्जन उस समय प्रसिद्ध थे, जिनके पास विदेशोंसे भी वस्त्राभूषण आते थे (?)। और जयसिंघु संघवी शंकर तथा संघपति नेमिदास उक्त ग्रंथके अर्थके ज्ञायक थे, अन्य साधर्मी भाइयोंने भी इस ग्रन्थकी अनुमोदना की थी। और हरिवंशपुराणादि ग्रन्थोंकी प्रतिलिपियां कराई गईं थी। इससे उस समय जेरहट नगरके सम्पन्न होनेकी सूचना मिलती है। जैसा कि प्रशस्तिके निम्न अंशसे प्रकट है :—

दहपणसयतेवण गयवासइं,
पुण विक्कमणिव-संवच्छरह।
तह सावण मासहु गुरपंचमि,
सहु गंथु पुण्णु तय सहस तहें॥
मालवदेस दुग्गमंडवचडु,
वट्टइ साहिगयासु महाबलु।
साहि णसीरुणाम तह णंदणु,
राय धम्म अणुरायउ बहुगुणु।
पुञ्जराज वणिमंति पहाणइं,
ईसरदास गयदइं आणइं।
वत्थाह ण देसु घहु पावइ,
अह-णिसि धम्मह भावण भावइ।
तह जेरहटणयर सुपसिद्धइं,
जिणचेईहर मुणि सुपबुद्धइं।
णेमीसर जिणहरणिवसंतइं,
विरयहु एहु गंथु हरिसंतइं।
जयसिन्धु तह संघवइ पसत्थइं,
संकरू नेमिदास बुह तत्थइं।
तह गंथत्थभेद परियाणिउ,
एउ पसत्थु गन्थु सुहु माणिउ।
अवरसंघवइ मणि अणुराइय,
गन्थ अत्थ सुणि भावण भाइय।

तेहिं लिहावइ णाणा गन्थइं,
इय हरिवंस पमुह सुपसत्थइं,
विरइय पढम लिहहि वित्थारिय,
धम्म परिक्खपमुह मणहारिय।

चौथी कृति 'योगसार' है। जिसकी पत्र संख्या ६७ है, यह ग्रन्थ दो परिच्छेदों या सन्धियों में विभक्त है। जिसमें गृहस्थोपयोगी सैद्धान्तिक बातों पर प्रकाश डाला गया है। साथमें कुछ मुनिचर्या आदिका भी उल्लेख किया गया है। यह ग्रन्थ सम्वत् १५५२ में मंगसिर महीनेके शुक्लपक्षमें रचा गया है। ग्रन्थकी यह प्रति भी सम्वत् १५५२ की लिखी हुई है, जिसमें प्रशस्तिका अंतिम भाग कुछ खराब हो जानेसे पढ़ा नहीं जाता। प्रशस्तिमें प्रायः वही उल्लेख दिये हैं जिनका उल्लेख परमेष्ठिप्रकाशसारमें किया जा चुका है।

ग्रंथके अन्तिम भागमें भगवान महावीरके बादके कुछ आचार्योंकी गुरुपरम्पराके उल्लेखके साथ, कुछ ग्रन्थकारोंकी रचनाओंका भी उल्लेख किया गया है। और उससे यह जान पड़ता है कि भट्टारक श्रुतकीर्ति इतिहाससे प्रायः अनभिज्ञ थे और उसके जाननेका भी उन्हें कोई साधन उपलब्ध नहीं था जितना कि आज उपलब्ध है। इसमें श्वेताम्बर-दिगम्बर भेदके साथ, आपुलीय (यापनीय संघ) पिच्छ- और निःपिच्छक संघका भी नामोल्लेख किया गया है। और उज्जैनीमें भद्रबाहुसे चन्द्रगुप्तको दीक्षा लेने का उल्लेख भी किया हुआ है। ग्रन्थकारकी दृष्टिमें अनुदारता कूट-कूट कर भरी हुई थी। वे जैन-धर्मकी उस औदार्य परिणतिसे प्राय अनभिज्ञ थे जिसे महावीरने जगतके सामने रक्खा था। आपने अपने ग्रन्थके ६५वें पत्रमें लिखा है कि जो आचार्य शूद्र पुत्र, दासी और नौकर वगैरहके लिये व्रत देता है वह निगोदमें जाता है और वहां अनन्त काल तक दुख भोगता है*।

इन चारों ग्रन्थोंके अतिरिक्त आपकी अन्य क्या रचनाएं है यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका। ये सभी रचनाएं साधारण हैं। भाषा साहित्यकी दृष्टिसे उन्हें पुष्पदन्तादि महाकवियोंके ग्रन्थों जैसा गौरव प्राप्त नहीं है। फिर भी उनमें हिन्दी भाषाके विकासका रूप परिलक्षित होता ही है।

---

* अह जो सूरि देइ वउ सिच्छहं, णीच-सूद सुय-दासी-भिच्चहं
जाइ णिगोय असुह मणुहुजइ, अमियकाल तहं घोर-दुह भुञ्जइ

धारा और धारा के जैन विद्वान

(परमानन्द जैन शास्त्री)

भारतीय इतिहासमें 'धारा' नामको नगरी बहुत प्रसिद्ध रही है। उसे कब और किसने बसाया, इसके प्रामाणिक उल्लेख अभी अन्वेषणीय हैं। एपि ग्राफिया इण्डिका जिल्द १ भाग ५ के निम्न पद्यसे ज्ञात होता है कि धारा नगरी को पवार या परमारवंशी राजा वैरिसिंहने अपनी तलवारकी धारसे शत्रुकुलको मार कर धारा नगरीको बसाया था। यथा—

"जातस्तस्माद् वैरिसिंहोऽत्र नाम्ना,
लोको ब्रूते वज्रट स्वामिनं यम्।
शत्रोर्व्वर्ग्गं धारयासे निहत्य,
श्रीमद्धारा सूचिता येन राज्ञा ॥"

कहा जाता है कि वैरिसिंहने धाराको बसाने अ १४ यह कार्य सन् ११४ से ११२ ईस्वी, (वि० सं० ९७१ से ९६८) तकके मध्यवर्ती समयमें किया था। दर्शनसारके कर्ता देवसेनने अपना दर्शनसार वि० सं० ९९० में धारामें निवास करते हुए वहांके पारर्वनाथ चैत्यालयमें माघ सुदी दशमीके दिन बनाकर समाप्त किया था। इस ग्रन्थमें एकांतादि प्रधान पंच मिथ्यामतों, एवं द्रविड, यापनीय, काष्ठा, माथुर और भिल्ल-संघोंकी उत्पत्ति आदिका इतिहास उनके कुछ सैद्धान्तिक उल्लेखोंके साथ किया है। जिससे यह ग्रन्थ ऐतिहासिक विद्वानोंके बड़े कामकी चीज है। दर्शनसार-के इस उल्लेख परसे यह स्पष्ट हो जाता है कि धारा नगरी वि० सं० ९९० से पूर्व बसी हुई थी। कितने पूर्व बसी या बसाई गई थी यह अभी विचारणीय है। यह हो सकता है कि देवसेनने जब धारा नगरीके पार्श्वनाथ मन्दिरमें दर्शनसार बनाया तब वहां राजा वैरिसिंहका राज्य रहा हो।

धारा नगरी और उसके आस-पासके इलाकोंमें जैनियों-की वस्ती, मन्दिर-मठ और साधु-सन्त यत्र तत्र विचरण करते थे। १०वीं शताब्दीसे लेकर विक्रमकी १३वीं शताब्दी तक वहां जैनाचार्यों और विद्वानोंने निवास किया है और उनके द्वारा वहां ग्रन्थ रचना करने कराने आदि के अनेक समुल्लेख पाये जाते हैं। धारा मांडू और मालवा तथा उज्जैन जैनधर्मके प्रचार केन्द्र रहे हैं। अनेक प्रथित एवं प्रभावशाली ग्रन्थकारोंने अपने अस्तित्वसे धाराको अलंकृत किया है। और राज दरबारोंमें होने वाले शास्त्रार्थोंमें विजय प्राप्त की है। और कई आचार्य तो तत्कालीन राजाओंसे पूजित तथा उनके नव रत्नोंमें प्रथित रहे हैं। वहां अनेक संघों और गण-गच्छोंके आचार्य रहते थे। और उनके सांनिध्यमें अनेक शिष्य दर्शन, सिद्धान्त, काव्य और व्याकरणादिका पठन-पाठन करते थे, और विद्याध्ययनके द्वारा अपने जीवनको आदर्श बनानेका प्रयत्न करते थे। राजाकी ओरसे भी अनेक विद्यालय और पाठशालाएं चलती थीं जिनमें सैकड़ों छात्र शिक्षा प्राप्त करते थे। इन सब कार्योंसे उस समय की धारा नगरीकी विशालता, महानता और श्री सम्पन्न होनेका उल्लेख मिलता है।

धारामें यवनोंका अधिकार हो जाने पर उन्होंने धार्मिक विद्वेष वश हिन्दुओंके ऐतिहासिक स्थानों और देव मन्दिरों-के साथ जैनियोंके भी अनेक देवस्थान तोड़ दिये गए, उनके पाषाणोंसे उन्हीं स्थानोंमें मस्जिदोंका निर्माण कराया गया, मूर्तियोंका तोड़ा या खण्डित किया गया। और उनके साहित्यको नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया। अनेक बहुमूल्य हस्त-लिखित ग्रंथोंको पानी गर्म करनेके लिये हम्मामोंमें जला दिया गया। इसीसे आजकल उज्जैन, धारा, काठमांडू और मालव देशमें यत्र-तत्र खण्डहरों और जंगलोंमें अनेक जैन मूर्तियाँ खण्डित अखण्डित दशामें उपलब्ध होती हैं। जो वहां जैन-धर्मके अस्तित्व और प्रतिष्ठाकी द्योतक हैं।

आज इस छोटेसे लेख द्वारा धारा और उसके समीप-वर्ती स्थानोंमें जो जैन साधु विहार करते थे और उन्होंने उस समय में जो ग्रन्थ रचनाएं वहां कीः उन्हींके कुछ समु-ल्लेख इस लेखमें देनेका विचार है जिससे १०वीं शताब्दीसे १३वीं शताब्दीके समयमें जैनियोंके इतिवृत्तका कुछ सही पता चल सके।

धाराके कतिपय ग्रन्थकर्ता विद्वान् और उनके ग्रन्थ

(१) संवत् ९९०की देवसेनकी 'दर्शनसार' नामक रचना-का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इसके सिवाय इन्हीं देवसेनकी 'आलाप पद्धति, नयचक्र, तत्त्वसार, आराधनासार आदि कृतियां कही जाती हैं। ये सभी कृतियां धारामें रची गई, या अन्यत्र, यह कृतियों परसे कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

(२) आचार्य महासेनने अपना 'प्रद्युम्न चरित' विक्रम-

की ११वीं शताब्दीके मध्य भागमें बनाकर समाप्त किया है।

आचार्य महासेन लाड बागडसंघके पूर्णचन्द्र, आचार्य जयसेन के प्रशिष्य और गुणाकर सेनसूरिके शिष्य थे। संभव है महासेनाचार्यके गुरुजनोंके विहारसे भी धारा नगरी पूत हुई हो। महासेन सिद्धान्तज्ञ, वादी, वाग्मी कवि और शब्द ब्रह्मके विचित्र धाम थे। यशस्वियों द्वारा समान्य, सज्जनोंमें अग्रणी और पाप रहित थे। यह परमार वंशी राजा मुञ्ज द्वारा पूजित थे। सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र और तपकी सीमा स्वरूप थे और भव्यरूपी कमलोंके विकसित करने वाले बान्धव थे—सूर्य थे—तथा सिन्धुराजके महामात्य श्री पर्पटके द्वारा जिनके चरण कमल पूजे जाते थे× और उन्होंके अनुरोध वश उक्त ग्रन्थकी रचना हुई है।

महासेन सूरिका समय विक्रमकी ११ वीं शताब्दीका मध्य भाग है; क्योंकि धाराधिप मुञ्जके [illegible] वि० सं० १०३१ और वि० सं० १०५० के [illegible] प्राप्त हुए हैं। आचार्य अमितगतिने इन्हीं मुञ्जदेवके राज्य कालमें वि० सं० १०५० पौष शुक्ला पञ्चमीके दिन सुभाषित रत्न सन्दोह की है। जैसा कि उस ग्रन्थके अन्तिम प्रशस्ति पद्यसे प्रकट है :—

समारूढे पूत त्रिदशवसतिं विक्रम नृपे
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके (१०५०)
समाप्ते पञ्चम्यां भवति धरिणीं मुञ्जनृपती,
सिते पक्षे पौषे बुध हित मिदं शास्त्रि मनघम् ॥९२२

इससे मुञ्जका राज्य सं० १०३१ से १०५० तक तो सुनिश्चित ही है और कितने समय तक रहा यह निश्चित नहीं कहा जा सकता, पर यह जरूर होता है कि तैलपदेवने सं० १०५१ या १०५२ के मध्यवर्ती किसी समयमें मुञ्जका वध किया था। चूंकि महासेन मुञ्ज द्वारा पूजित थे, और वे संभवतः वहीं पर निवास करते थे। अतएव यह ग्रन्थ भी उन्हींके राज्य कालमें रचा गया है।

(३) माथुर संघके आचार्य अमितगति, जो माधवसेन सूरिके शिष्य और नेमिषेणके प्रशिष्य थे। अमित गति मुंजकी [illegible] थे।

अमितगतिने अपना पंचसंग्रह वि० सं० १०७३ में मसूतिकापुर (वर्तमान मसूद विलोदा) में जो धाराके समीप है, बनाया था। इन सब उल्लेखोंसे अमितगति धारा नगरीके निवासी थे। उन्होंने प्रायः अपनी सभी रचनाएं धारामें या उनके समीपवर्ती नगरोंमें बनाई हैं। बहुत संभव है कि आचार्य अमितगतिके गुरुजन भी धारा या उसके समीपवर्ती स्थानोंमें रहे हों। अमितगति ने सं० १०५० से १०७३ के २३ वर्षोंमें अनेक ग्रंथोंकी रचना वहां की है।

(४) मुनि श्रीचन्द्र जो लालबागडसंघ और बलात्कारगणके आचार्य श्रीनंदीके शिष्य थे। अपना 'पुराणसार' वि० सं० १०८०में [illegible] किया है। रविषेणके पद्मचरितकी टीकाको भी उन्होंने वि० सं० १०८७में धारा नगरीमें राजा भोजदेवके राज्यकालमें बनाकर समाप्त किया है। तीसरी कृति महाकवि पुष्पदन्तके उत्तरपुराणका टिप्पण है जिसे उन्होंने, सागरसेन नामके सैद्धान्तिक विद्वानसे महापुराणके विषम-पदोंका विवरण जानकर और मूल टिप्पणका अवलोकन कर वि० सं० १०८०में राजाभोजदेवके राजकालमें रचा है१। चौथी कृति 'शिवकोटिकी भगवती आराधना' का वह टिप्पण है जिसका उल्लेख पं० आशाधरजीने अपने 'मूलाराधनादर्पण'में नं० ५८६ की गाथाकी टीका करते हुए किया है। मुनि श्रीचंद्रकी ये सभी रचनाएँ धारामें ही रची गई हैं। इन्होंने सागरसेन और प्रवचनसेन नामके दो विद्वानों का उल्लेख किया है।

(५) दर्शनशास्त्रके तत्वदृष्टा महाविद्वान आचार्य माणिक्यनन्दी त्रैलोक्यनन्दीके शिष्य थे। नयनन्दीने, अपने 'सकलविधिविधान' नामक काव्यमें, महापण्डित बतलाने के साथ साथ, उन्हें प्रत्यक्ष-परोक्षरूप प्रमाण जलसे भरे और नयरूप चंचलतरंगसमूहसे गम्भीर, उत्तम सप्तभंगरूप कल्लोलमालासे भूषित, जिनशासन रूप निर्मल सरोवरसे युक्त और पंडितोंका चूडामणि प्रकट किया है। उन्होंने न्यायशास्त्रका दोहन करके 'परीक्षामुख' नामका सूत्रग्रन्थ बनाया था, जिसे न्याय-विद्यामृत' कहा जाता है। जिसपर उनके शिष्य प्रभाचन्द्र जैसे तार्किक विद्वान द्वारा 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामका टीका-ग्रंथ लिखा गया है, तथा लघु अनन्तवीर्यकी 'प्रमेयरत्नमाला' नामकी एक टीका भी उपलब्ध है और एक टिप्पण भी अज्ञातकर्तृक

×तद्विज्ञो विदितास्विललोकसमयो वादी च वाग्मी कविः।
शब्दब्रह्मविचित्रधाम यशसां मान्यः सतां मग्रणीः ॥
आसीत् श्रीमहसेनसूरिनघः श्री मुञ्जराजार्चितः,
सीमादर्शनबोधवृत्ततपसां भव्याब्जनी बांधवः ॥३॥
श्री सिन्धुराजस्य महत्तमेन श्री पर्पटेनार्चित पादपद्मः।
चकार तेनाभि हितः प्रबंधं स पावनं निष्ठित मङ्गजस्य
[illegible] चरित प्रशस्ति

रखा गया है, जो वर्तमान में नहीं मिलता है। इस टिप्पण की उत्थानिकामें दिए गए निम्नवाक्य खास तौरसे उल्लेखनीय हैं :—'धारानगरीवासनिवासिनः श्रीमाणिक्यनन्दि भट्टारकदेवा: परीक्षामुख्याख्यप्रकरणमारचयाम्बभूवु.'※।

माणिक्यनन्दी दर्शनशास्त्रोंके मर्मज्ञ विद्वान थे। उनके अनेक शिष्य थे, जो उनके पास अध्ययन करते थे। उनमें प्रभाचन्द्र और नयनन्दीका नाम प्रमुख रूपसे उल्लिखित मिलता है। इनका समय भी विक्रमकी ११ वीं शताब्दी है।

माणिक्यनन्दीके प्रथम विद्याशिष्य नयनन्दीने अपने 'सुदर्शनचरित' में अपनी गुरुपरम्पराका उल्लेख करते हुए निम्न विद्वानोंका उल्लेख किया है। पद्मनन्दी, विष्णुनन्दी विश्वनन्दी, वृषभनन्दी, रामनन्दी और त्रैलोक्यनन्दी ये सब उक्त माणिक्यनन्दीसे पूर्ववर्ती विद्वान हैं। संभवतः इन नन्द्यन्त नामवाले आचार्योंकी यह परम्परा धारा या धाराके समीपवर्ती स्थानों पर रही हो; क्योंकि माणिक्यनन्दी और प्रभाचन्द्र तो धाराके ही निवासी थे। अतः माणिक्यनन्दीके गुरु-प्रगुरु भी धाराके ही निवासी रहे हों तो इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है।

(६) नयनंदी और प्रभाचन्द्र चूंकि समसामयिक विद्वान हैं और दोनों ही माणिक्यनन्दीके शिष्य थे। चूंकि नयनंदीने अपने को उनका प्रथम विद्या शिष्य लिखा है इस लिए प्रभाचन्द्रसे पहले उनका परिचय दिया जाता है।

मुंजके बाद जब धारामें राजाभोजका राज्य हुआ, तब उसके राज्यशासनके समय धाराका उत्कर्ष अपनी चरम सीमातक पहुंच गया था। चूँकि भोजविद्याव्यसनी वीर और प्रतापी राजा था। इस लिए उस समय धाराका सरस्वतीसदन खूब प्रसिद्ध हो रहा था। अनेक देशविदेशोंके विद्यार्थी उसमें शिक्षा प्राप्त करते थे। अनेक विद्वान और कवि वहां रहते थे।

प्रस्तुत नयनन्दी राजा भोजके ही राज्यकालमें हुए हैं, और उन्होंने वहीं पर विद्याध्ययन कर ग्रन्थ रचना की है। इन्होंने सकलविधि विधान काव्यमें अपनेको निर्मलसम्यक्त्वी, पंचपरमेष्ठीका भक्त, धर्म, अर्थ और कामरूप पुरुषार्थसे युक्त, तथा शंकादिक मलसे रहित स्वर्गापवर्गरूप-सुखरसका प्रकाशक लिखा है।

इससे नयनन्दी प्रतिभासम्पन्न एक विद्वान् कवि जान पड़ते हैं। आपका 'सुदंशणचरिउ' नामका अपभ्रंश भाषाका खण्ड काव्य महाकाव्यकी श्रेणीमें रखने योग्य हैं। जहाँ उसका चरित भाग रोचक और आकर्षक है वहां वह सालंकार-काव्य-कलाकी दृष्टिसे भी उच्च कोटिका है। कविने उसे सरस बनानेका पूरा प्रयत्न किया है। उन्होंने स्वयं लिखा है कि रामायणमें राम और सीताके वियोग और शोक-जन्य व्याकुलताके दर्शन होते हैं और महाभारतमें पांडव और धृतराष्ट्रादि कौरवोंके परस्पर कलह और मारकाटके दृश्य अङ्कित मिलते हैं। तथा लोकशास्त्रमें भी कौलिक, चोर व्याधे आदिकी कहानियां सुननेमें आती हैं; किन्तु इस सुदर्शनचरित्रमें ऐसा एक भी दोष नहीं है। जैसा कि उसके निम्न पद्यसे प्रकट है।

"रामो सीय-विओय-सोय विहुरं संपत्तु रामायणे।
जादं पाण्डव-धायरट्ठ सददं गोत्तं कली-भारहे।
डेडा कोलिय चोर रज्जु णिरदा आहासिदा सुद्दये,
णो एक्कं पि सुदंसणस्स चरिदे दोसं समुब्भासिदं।

साथ ही उन्होंने काव्यकी आदर्शताको बार-बार व्यक्त करते हुए लिखा है कि रस और अलंकारसे युक्त कविकी कवितामें जो रस मिलता है वह न तरुणिजनोंके विद्रुम समान रक्त अधरोंमें, न आम्र फलमें, न ईखमें, न अमृतमें, न विषमें, न चन्दनमें, और न चन्द्रमामें ही मिलता है। जैसा कि ग्रंथके निम्न पद्यसे स्पष्ट है :—

"णो संजादं तरुणि अहरे विद्रुमा रक्त सोहे,
णो साहारे भमिय भमरे णेव पुंडिच्छु डंडे।
णो पीयूसे, हले खिहिणे चन्दणे णेव चन्दे,
सालंकारे सुकइ भणिदे जं रसं होदि कव्वे।"

नयनन्दीका प्रस्तुत ग्रंथ अपभ्रंश भाषामें लिखा गया है, जो स्वभावतः मधुर है। फिर भी उसमें सुदर्शनके निष्कलङ्क चरितकी गरिमाने उसे और भी पावन एवं पठनीय बना दिया है। ग्रन्थमें १२ सन्धियां हैं जिनमें सुदर्शनके जीवन-परिचयको अङ्कित किया गया है। परन्तु इस महाकाव्य ग्रन्थमें, कविकी कथनशैली, रस और अलंकारोंकी पुट, सरसकविता, शान्ति और वैराग्यरस तथा प्रसङ्गवश कलाका अभिव्यंजन, नायिकाके भेद ऋतुओंका वर्णन और उनके वेष भूषा आदिका चित्रण, विविध छन्दोंकी भरमार, लोकोपयोगी सुभाषित और यथास्थान धर्मोपदेश आदिका मार्मिक विवेचन इस काव्यग्रंथकी अपनी विशेषताके निर्देशक हैं और कविकी आन्तरिक भद्रताके द्योतक हैं।

※ देखो, अनेकान्त वर्ष १० किरण ११-१२

कविने इस ग्रंथकी रचना अवंती देशस्थित धारा नगरीके 'जिनवर' विहारमें राजा भोजदेवके राज्यकालमें की है❀।

इनकी दूसरी कृति 'सयल-विहि-विहाणु' नामका जो महाकाव्य ग्रन्थ है वह ५८ सन्धियोंमें समाप्त हुआ है। शुरूकी दो तीन सन्धियोंमें ग्रन्थके अवतरण, आदि पर प्रकाश डालते हुए १२वीं से १५वी सन्धि तक मिथ्यात्वके कालमिथ्यात्व और लोकमिथ्यात्व आदि अनेक मिथ्यात्वों-का स्वरूप निर्देश करते हुए क्रियावादि और अक्रियावादि आदि भेदोंका विस्तृत विवेचन किया है। परन्तु खेद है कि १५वीं सन्धिके पश्चात् ३२वीं सन्धि तक १६ सन्धियां इस प्रतिमें गायब हैं। १५वीं संधिके बाद ३२वीं संधि आ गई हैं, जिससे ग्रन्थ खण्डित हो गया है, परन्तु पत्र संख्यामें कोई अन्तर नहीं आया।

इसके दो कारण जान पड़ते हैं, एक तो यह कि लिपिकर्ता को उक्त संधियोंसे विहीन त्रुटितप्रति मिला हो और उसने उसीके अनुसार प्रतिलिपि करदी हो। दूसरे यह कि लिपिकर्ताको स्वयं अपने सम्प्रदायके व्यामोहकी कड़ा आलोचना, मान्यताकी असंगति और कथन क्रमादिके बेढंगेपनका प्रदर्शन सह्य न हुआ हो—वह उन्हें रूढीवश उसी तरह से मान रहा हो। और इस कारण उन सन्धिय की प्रतिलिपि न की गई हो। अथवा अन्य कोई कारण हुआ हो, कुछ भी हुआ हो, पर ग्रन्थ की अपूर्णता अवश्य खटकती है आशा है विद्वज्जन अन्य पूर्णप्रतिका अन्वेषण करनेका प्रयत्न करेंगे, जिससे वह ग्रंथ पूरा किया जा सके।

क्रमशः—

नवशिक्षितोंका धर्म विषयक गुमराहपन—

जांच समितिकी आवश्यकता—

जैन समाजके सामने एक प्रस्ताव।

(श्री दौलतराम 'मित्र')

(१)

कहा कुछ भी जाय किंतु देखा यही जा रहा है कि अधिकांश नव शिक्षित धर्मके विषयमें गुमराह होते जा रहे हैं। जैसे—जिनदर्शन नहीं करना, जिनवाणीके पठन-पाठन का अभाव तथा खानपान सम्बन्धी आरोग्यप्रद प्रतिबन्धोंका भी न मानना, इत्यादि।

गुमराह क्यों होते जा रहे हैं?

बस इसी बातकी तो जांच करना है।

एक जांच समिति कायम की जाय जो या तो जगह-जगह घूमकर नव शिक्षितोंसे मिले या उनका किसी एक जगह जमाव करके जांच करे और जांचमें जो कारण नजर आवें समाजको चाहिये कि उन्हें दूर करनेका प्रयत्न करे। कार्य अत्यन्त आवश्यक है। दिन पर दिन मामला बिगड़ता जा रहा है। चिंताका विषय बन रहा है। क्योंकि—'न धर्मो धार्मिकै विना।'

(२)

गुमराहके कारण जांचके वक्त सामने आवेंगे ही फिर भी कुछ कारणोंपर यहां प्रकाश डाला जाता है—

(१) शिक्षा पद्धतिके दोष—

"आज कलकी शिक्षापद्धतिमें बड़ा दोष यही है कि वह आत्माकी वस्तु नहीं रही।"

— सर्वपल्ली-राधाकृष्णन

"जिस शिक्षाका विकाश मनुष्यने इसलिए किया था कि वह मनुष्यको उसके विचारों-भावों-को प्रगट करनेमें सहायक हो। वही शिक्षा जब मनुष्यके भावोंको छिपानेके काम आने लगी तो क्या वह आदर और गौरवकी वस्तु रह जाती है?" —विनोबा

(२) शंका-समाधानकी कमी—

"मनुष्य पर जब उसकी श्रद्धा (धर्म शास्त्रकी बातों) के विरोधमें आक्षेप आते हैं तब सामने दो ही स्थिति रहती

हैं या तो वह उन आक्षेपोंका उत्तर दे या उनका होकर रहे।'

—पं० लालबहादुर जैन

वर्तमानका वैज्ञानिक मानव धर्मकी तरफ इस दृष्टिसे देखना चाहता है कि उसकी शंकाएं और कठिनताएं मिट जांय। यदि धर्मको अपना स्थान बनाए रखना है तो नाना प्रकारके उत्तम सुफल धर्मसे प्राप्त होते हैं यह बात उसे आत्मिक-वैज्ञानिक ढंगसे समझना होगा।'—'वर्तमानका वैज्ञानिक मानव हर एक बातको जांच करके मानना चाहता है यदि वह धर्मको पालना चाहेगा तो वह पूछेगा कि इससे उसे इस संसारमें क्या क्या लाभ मिलेंगे। केवल निर्वाणके भरोसे पर ही उसे कौन पालेगा।'

—लार्ड लेथियन

'आज हम अपने धर्मके विकाशको केवल परलोक सुधारनेका साधन समझ रहे हैं। जहां हमारे आचार्योंने इसे आत्मोन्नतिके साथ साथ इहलोक और परलोक सफल बनानेका साधन बतलाया है।'

—पं० देवकीनन्दन जैन

बड़े-बूढ़ोंकी धर्म ठेकेदारी—

जिस प्रकार पुरुष वर्ग स्त्रियोंको साथमें न रखनेसे सभाओंमें पास किए गये समाजसुधारक प्रस्तावोंका अमल नहीं करा सका, उसी प्रकार बड़े-बूढ़ोंने धर्मको ठेकेदारी खुद लेली, नव शिक्षितोंके माथे धार्मिक (मंदिर व्यवस्था आदि) जवाबदारियाँ नहीं मढ़ी।

(४) पिताओंका अनादर्श जीवन—

मंदिरोंमें लड़ाई मारपीट खून खच्चर तक करना।

पंच पापोंमें लग्नता।

पर्व (त्याग) के दिनोंमें त्योहार (भोग) सरीखा जीवन बिताना।

सत्वेषु मैत्री आदि चार भावनाओंका अभाव।

(५) पिताओंका अनुचित दबाव—ज्यादती—

आजकलका पिता अपने परिवारका संरक्षक और पूज्य अभिभावक बनने मात्रसे संतुष्ट नहीं है। वह तो जेलर होना चाहता है। उसकी खुशी इससे नहीं है कि परिवारके लोग अपने-अपने ढंग पर फले फूले, बल्कि इससे है कि वे उसके उठाये उठें, बैठाये बैठें। यदि वह धार्मिक है तो वे भी धार्मिक हों और वह नास्तिक है तो वे भी नास्तिक हों। खाली अदब कायदोंमें ही नहीं किंतु रुचि, वेष, विन्यास और जीवनकी छोटी-छोटी बातोंमें भी वे उसके पीछे चलें। आगे हों न बराबरीमें किन्तु एक हम पीछे। फौजी अनुशाशनकी तरह एक सीधी कतारमें और सावधान रहें कि जिधर उसका पैर मुड़े उनका भी उधर मुड़े और जिधर उसकी जितनी गर्दन झुके वे भी उधर उतनी ही गर्दन झुकावें।'—कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकरकी एक कहानीसे

"युवक गण खुशामद नहीं चाहते परन्तु निखालसता चाहते हैं। अपनी भूलें छिपानेकी उन्हें कभी जरूरत नहीं मालूम होती। उनकी उम्र ही भूलें करके अक्लमन्दी सीखनेकी होती है। भूल करनेसे और उसे सुधारनेमें उन्हें एकसा आनन्द मिलता है। युवकोंको इस बातका ज्ञान होता है कि वे स्खलनशील हैं। इसीलिए तो वे विश्वासपूर्वक बड़ोंका अंकुश स्वीकार करते हैं। परन्तु जब यह अंकुश दबावका रूप ग्रहण करता है तब वे उसका सामना करते हैं। परन्तु दबाव निकल जाने पर वे फौरन ही अपने स्वभावके अनुसार अंकुश ढूँढते हुए नजर आते हैं।'

'बहते हुए प्रवाहके समान बालक चालाक और कोमल होते हैं, यह बात भूलकर हम लोग, बड़ी अवस्था वाले आदमियोंकी कसौटीसे बालकोंके भले बुरे व्यवहारकी परीक्षा करते हैं। पर यह भ्रम है और इसलिए बालचरित्रमें कुछ कमी होनेपर आकाश-पाताल एक करनेकी कोई जरूरत नहीं है। प्रवाहका जोर ही सुधारका-दोष दूर करनेका उत्कृष्ट साधन बन जाता है। जब प्रवाह बंध होकर पानीके छोटे २ डबके बन जाते हैं तब वास्तवमें बहुत अड़चन पड़ती।'

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

(३)

इस प्रकार गुमराह होनेके कारणोंपर न कुछ प्रकाश डाला गया है। असलमें कारण अनेक हैं। जो जांच के वक्त नवशिक्षितोंके द्वारा सामने आयेंगे।

आशा है, जैन समाज इस निवेदन पर—प्रस्ताव-पर ध्यान देकर नवशिक्षित किंतु धार्मिक पांच सज्जनोंकी एक समिति शीघ्र ही कायम करेगी।

अहिंसा की युगवाणी

(डा० वासुदेव शरण अग्रवाल)

महावीर जयन्ती ऐसा शुभपर्व है, जो हमारी तिथिक्रम-में आकर उच्चतर चिन्तनके लिए बलात् हमारा उद्बोधन करता है। इस समय मनुष्य-जाति ऐसी कठिन स्थितिमें पड़ गई है कि यदि उससे उसका शीघ्र निस्तार न हुआ, तो भविष्यमें क्या दशा होगी, कहना कठिन है। मनुष्यने अपनी मस्तिष्ककी शक्तिसे सब कुछ प्राप्त किया, शायद उसने इतना अधिक प्राप्त कर लिया है, जितनेकी उसमें पात्रता नहीं है। उसकी वह उपलब्धि ही उसके लिए भयानक हो गई है। विज्ञानकी नई शक्ति मानवको मिली है, किन्तु उस शक्तिका संयम वह नहीं सीख पाया है। शक्ति आसुरी भी हो सकती है, दैवी भी। यदि वह भयका संचार करती है, तो आसुरी है। जहाँ भय रहता है, वहाँ उच्च अध्यात्म तत्त्व किसी प्रकार पनप नहीं सकता। भयकी सन्निधिमें शान्तिका अभाव हो जाता है। भय आत्मविश्वासका विनाश करता है। वह शंका और सन्देहको जन्म देता है। समस्त मानवजाति भय और सन्देहकी तिथिमें पड़ जाय तो इससे बढ़ कर शोक और क्या हो सकता है। कुछ ऐसी ही अभव्य स्थितिमें आज हम सब अपनेको पा रहे हैं। कोई भी राष्ट्र भयमुक्त नहीं है।

विचारकर देखा जाय तो भयका मूल कारण हिंसा है। शक्तिका हिंसात्मक प्रयोग—यही विश्वमें भयका हेतु है। इस भयको अभी तक कोई जीत नहीं पा रहा है, और न कोई ऐसी युक्ति ही निकाली जा सकी है, जिससे विश्वके मन पर छाई हुई यह काली घटा दूर हो। यदि हिंसाके इस नग्न ताण्डवसे वास्तविक युद्ध न भी हुआ और कुछ वर्षों तक ऐसी ही भयदायी स्थितिमें मानवको रहना पड़ा, तो भी मानवके मनका भारी नाश हो जायगा। स्वतन्त्र विचार, आत्म-विश्वास, उच्च आनन्द इन सबसे मनुष्यका मन विकास प्राप्त करता है। यही वह अमर ज्योति है, जिससे मानव जातिका ज्ञान अधिक-अधिक विकसित होता है।

इस समय की जो स्थिति है, उसके समाधानका यदि कोई उपाय है तो वह एक ही है। हिंसाके स्थानमें अहिंसा-को लाना होगा। हिंसाकी बात छोड़कर अहिंसाको जीवनका सिद्धान्त बनाना होगा। शायद नियतिने ही मानव जातिको विकासकी उस स्थितिमें लाकर खड़ा कर दिया है, जहाँ सोच विचार कर आगेका मार्ग चुन लेना होगा। यह ध्रुव मार्ग अहिंसाका ही है। हिंसाकी व्यापक ज्वालाओंने दो बार संसारको दो विश्व-युद्धोंके रूपमें इस शतीमें भस्म किया है। आगेकी ज्वाला पहिलेसे कहीं अधिक भयंकर थी। हिंसाकी वे विकराल लपटें अब भी मानवको भस्म करनेके लिए पास आती दिखाई पड़ती हैं। वास्तविक युद्ध न ही होकर भी युद्ध जैसी स्थिति बनी हुई है। यद्यपि शरीरका स्थूल नाश होता नहीं दिखाई देता, पर हिंसाकी इन ज्वालाओंमें मनका नाश तो हो ही रहा है। इस समय जो व्यक्ति अपना सन्तुलन रख कर सत्य और शान्तिकी बात सोचते और कहते हैं, वे मानव जातिके सबसे बड़े सेवक और हितैषी हैं।

इस समय सब राष्ट्रोंके लिए यही एक कल्याणका मार्ग है कि वे सामूहिक रीतिसे अहिंसाकी बात सोचें। अहिंसा और अविरोधके नये मार्ग पर चलनेका निश्चय करें। हिंसात्मक विचारोंको त्याग कर हिंसाके साधनोंका भी परि-त्याग करें। जो शक्तिशाली राष्ट्र हैं, उनके ऊपर तो इस दायित्वका भार सबसे अधिक है। उन-उन राष्ट्रोंके कर्णधारोंको इस बातका भी विशेष ज्ञान है कि इस बारके हिंसात्म युद्धका परिणाम कितना विनाशकारी होगा। ऐसी स्थितिमें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिको इस प्रकारसे मोड़ना होगा कि वह अहिंसाको अपना ध्रुव -बिन्दु बनाये। अहिंसाके द्वारा पारस्परिक प्रीति और न्यायका आश्रय लें।

भगवान महावीरकी जयन्ती प्रतिवर्ष आने वाली एक तिथि है। वह आती है और चली जाती है। किन्तु उसका महत्त्व मानव जातिके लिए वर्तमान क्षणमें असाधारण है। यह तिथि अहिंसाके ध्रुव-बिन्दुकी ओर निश्चित संकेत करती है, और यह बताती है कि मानव कल्याणका मार्ग किस ओर है। महावीर आजसे लगभग ढाई सहस्र वर्ष पूर्व हुए। अपने समयकी समस्याओं पर उन्होंने विचार किया और उसने समकालीन व्यक्तियोंके जीवन पर प्रभाव डाला, किन्तु अहिंसाकी जिस दृढ़ भूमि पर उन्होंने अपने दर्शनका निर्माण किया, उसका मूल्य देश और कालमें अनन्त है। आज भी उसका सन्देश उनके लिए सुलभ है, जो उस वाणीको सुननेका प्रयत्न करेंगे अहिंसाकी वाणी आज भी युगवाणी है।

(क्रमशः)

क्या ग्रंथ-सूचियों आदि परसे जैनसाहित्यके इतिहासका निर्माण सम्भव है ?

(परमानन्द शास्त्री)

कुछ विद्वानोंका खयाल है कि भारतीय जैनवाङ्‍मयके साहित्यका इतिहास उन साहित्यिक ऐतिहासिक अनेकान्तादि पत्रों ग्रन्थ सूचियों और प्रशस्तिसंग्रह आदि परसे संकलित किया जा सकता है। जो समय-समय पर उनमें विद्वानोंके द्वारा लिखे गये अन्वेषणात्मक लेखोंमें निबद्ध हुआ पाया जाता है। उस परसे ऐतिहासिक परिचय लिखनेमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। इसके लिये ग्रन्थ भण्डारोंको देखने तथा सूची निर्माण करने एवं आवश्यक नोटोंके तय्यार करनेमें समय और शक्तिको खर्च करनेकी आवश्यकता नहीं है। और न इसकी वजहसे काममें शिथिलता लानेकी जरूरत है। यह सब कार्य उन व्यक्तियों, संस्थाओं तथा नेताओंका है जो इस ओर अपनी दिलचस्पी रखते हैं। और जो अपने प्रयत्न द्वारा भंडारोंसे खोजबीन करके महत्वपूर्ण ग्रन्थोंको उपलब्ध कर उनका परिचय विद्वानों और जनताके लिये प्रकट करते रहते हैं। क्योंकि शास्त्रभंडारोंका अवलोकन करना बहु श्रम साध्य होनेके साथ साथ आर्थिक असुविधाओंके कारण अब तक सम्पन्न नहीं हो सका है। समाजका इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं है। समाजका अधिकांश अर्थ मन्दिरोंके फर्श, पूजा, प्रतिष्ठा, मेला और रथोत्सवादि जैसे कार्योंमें व्यय किया जाता है। समाजका ध्यानभी प्रायः इन्हीं सब कार्योंकी ओर अधिक रहता है। मूर्ति-मंदिर निर्माणको ही धनी लोग धर्मका खास अङ्ग मानते हैं। जनताकी केवल भक्ति पाषाण-मूर्तियोंमें रह गई हैं। किंतु जिस जिनेंद्र वाणीके द्वारा जगत्‌का कल्याण हुआ है भूले हुए एवं पथ-भ्रष्ट पथिकोंके लिये सन्मार्गका बोध जिससे मिला है। कर्म बंधनकी अनादि परतंत्रता जिसके द्वारा काटी जाती है। देव और गुरुके अभावमें भी जो वस्तु-स्थितिकी निदर्शक है उस भगवती वाणीकी ओर जनताका कोई ध्यान नहीं है। भगवान महावीर कैसे जिन बने, उन्होंने दोषों और कषायों-को कैसे जीता? कठोर उपसर्ग परीषह जन्य वेदनाओं पर किस तरह विजय पाकर स्वात्मोपलब्धिके स्वामी हुए हैं। खेद है कि आज हम लोग उस जिनवाणीकी महत्ताके मूल्यको भूल चुके हैं, यही कारण है कि हम उसके उद्धार तककी चिंता नहीं करते। हम उसे केवल हाथ जोड़नेकी वस्तु मात्र समझते हैं। और अर्घ चढ़ा देते हैं। इतनी मात्र भक्तिसे जिनवाणीका उद्धार हो सकता है। आज यदि जिन-वाणी न होती तो हमें जिन मूर्तियोंकी पूजा, महत्ता और सांसारिक दुखोंसे छूटनेका उपाय, एवं आत्म-बोध प्राप्त करनेके मार्गका संदर्शन मिलना दुर्लभ था। जो सच्चे गुरु जनोंके अभावमें भी जिनवाणी हमारे उत्थान और पतनका और स्वाधीनता प्राप्त करनेका उपदेश देती है। ऐसी पवित्र जिनवाणीकी आज हम उपेक्षा कर रहे हैं। यह कितने खेद का विषय है। हजारों लाखों ग्रन्थ ग्रंथ भण्डारोंमें पड़े-पड़े विनष्ट हो रहे हैं दीमक और चूहोंके भक्ष्य बन रहे हैं और बनते जा रहे हैं। कुछ हमारी लापर्वाहीसे भी विनष्ट हुए हैं। और कितनोंकी हम रक्षा करनेमें असमर्थ रहे हैं। कुछ राज्य विप्लवोंमें विनष्ट हुए हैं। परतु जो शेष किसी तरह बच गए हैं। उनके संरक्षणकी ओर भी हमारा ध्यान नहीं है।

यदि करोड़ों अरबोंकी सम्पत्ति दैवयोगसे विनष्ट हो जाय तो वह पुनः प्राप्त की जा सकती है। परन्तु जिन आचार्योंके बहुमूल्य परिश्रम और अध्यवसायसे जो ग्रन्थ लिखा गया है उसके विनष्ट हो जाने पर या खंडित हो जाने पर प्रायः कोई भी विद्वान उसे उसके निर्दिष्ट रूपमें पुनः बना कर तैयार नहीं कर सकता। ऐसी स्थितिमें समाजके धनिकों और विद्वानोंका आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि वे जिन-वाणीके समुद्धारका पूरा प्रयत्न करें। अर्थाभावके कारण उसके समुद्धारमें जो रुकावटें आ रही हैं—विघ्न-बाधाएँ आ रही हैं—उन्हें दूर कर उसके उद्धारका प्रयत्न करना, और उसे हृदयमें अवधारण कर अन्तः कषाय-शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना ही जिनवाणीकी सच्ची भक्ति है, उपासना है। अस्तु:

वर्तमानमें जो ग्रन्थ-सूचियाँ प्रकाशित हुई हैं उनमें अनेक ऐसी स्थूल भूलें रह गई हैं जिनसे केवल इतिहासमें ही गलती नहीं होगी, किन्तु उस लेखककी कृतिका भी यथार्थ परिज्ञान न हो सकेगा, उससे ऐतिहासिक ज्ञान पूरा न होनेके साथ अन्य द्वारा नहीं रची गई कृतियोंका भी असत्य बोध होगा। जो यथार्थतः सत्यसे बहुत दूर है मैं यहां ऐसी एक दो कुछ भूलोंका दिग्दर्शन मात्र कराऊँगा, जिससे पाठक और अन्वेषक विद्वान यह सहज ही निश्चय

कर सकेंगे कि समग्र जैनसाहित्यका इतिहास लिखनेसे पूर्व ग्रंथभण्डारोंका देखना कितना जरूरी और आवश्यक है। जिसकी ओर कुछ विद्वानोंका ध्यान नहीं है। उससे अन्वेषक विद्वान सहज हीमें यह जान सकेंगे कि मौजूदा ग्रन्थ सूचियोंको बिना जांचे हुए यदि हम उस परसे साहित्यके इतिहासका निर्माण करेंगे, तो वह कितना स्खलित, और त्रुटिपूर्ण तथा अपूर्ण रहेगा। यह उसके संकलित हो जाने पर ग्रंथ-भंडारोंके अन्वेषण द्वारा जांच करनेसे स्वयं फलित हो जायगा।

जयपुरसे प्रकाशित ग्रन्थ-सूची द्वितीय भागके पृष्ठ २४०पर १३०८ नं०पर लब्धिविधान कथा दी हुई है जो १२ पद्यात्मक तथा पं० अभ्र-व कृत संस्कृतकी रचना बतलाई गई है। मैंने इस कथाके जानने और उसके आदि अंत भागमें पाए जाने वाले ऐतिहासिक भागको जाननेकी दृष्टिसे नोट किया था। जब जयपुर जाकर उस ग्रंथको निकलवा कर उसका आदि-अंत भाग देखा, तब उसके अंतः रहस्यका पता चला और तब यह मालूम हुआ कि यह ग्रंथ अकेला एक ही नहीं है किंतु इसके साथमें कई अन्य कवियोंकी कथाएँ और भी संग्रहीत हैं। जिनका नामोल्लेख तक ग्रंथ-सूचीमें कहीं नहीं उपलब्ध होता; किन्तु उसमें पंडित अभ्रदेवकी भी चार और कथाएँ शामिल हैं। जिससे ग्रंथकी कुल कथा संख्या इकत्तीस हो गई है। और इस कथा संग्रहके लेखक मुनि ज्ञानभूषण बतलाए गए हैं। अब मैं ऐतिहासिक दृष्टिसे उनका संक्षिप्त परिचय देना उचित समझता हूँ जिससे पाठक उनके नामादिसे परिचित हो सकें।

इस कथा संग्रहमें अनन्तव्रतकी एक कथा भ० प्रभाचंद्रके शिष्य पद्मनन्दी की है जो विक्रमकी १४वी १५वीं शताब्दीके प्रारम्भिक विद्वान थे और जिनकी अन्य कई कृतियाँ प्रकाशमें आ चुकी हैं * जिसकी श्लोक संख्या ८५ है जिसका आदि अंत भाग इस प्रकार है—

आदिभाग—

श्रीमते भुवनांभोज भास्वते परमेष्ठिने।
सर्वज्ञाय जिनेन्द्राय वृषभस्वामिने नमः॥ १॥
धर्मोपदेश पीयूषैर्भव्याराम मनेकधा।
यः पुपोष नमस्तस्मै भक्त्याऽनंताय तायिने॥ २॥

* देखो वीरसेवामंदिरसे प्रकाशित जैनग्रंथ प्रशस्ति संग्रह प्रस्तावना पृ०

श्रीमते वर्द्धमानाय केवलज्ञानचक्षुषे।
संसारभ्रमनःशाय नमोस्तु गुणशालिने॥ ३॥
गौतमादीन्मुनीन्नत्वा ज्ञानसाम्राज्यनायकान्।
वक्ष्येऽनतव्रतस्योच्चैः विधानं सिद्धि लब्धये॥ ४

अन्त भागः—

पट्टोदयाद्रिशिरसि प्रकटे प्रभेंद्रोः
श्रीपद्मनंदिरचित परमोदयं यः।
तेन प्रकाशितमनंतकथा सरोजं
भव्यालयोऽत्र मकरंद-रसं पिबन्तु।

इति भट्टारक पद्मनन्दि विरचिता अनन्तकथा सम्पूर्णा इति ॥८५॥

इसमें २२ कथाएँ भ० पद्मनन्दिके शिष्य भट्टारक सकलकीर्तिकी हैं:—जिनके नाम पद्यादि संख्या सहित निम्न प्रकार हैं:—१ एकावलीव्रत कथा, पद्य ५८, २ द्विकावली कथा ७६, ३ रत्नावलीव्रत कथा, ५५, ४ नंदीश्वरपंक्ति विधान कथा, ५१, ५ शीलकल्याणक विधि, ७१, ६ नक्षत्रमाला विधान, २८, ७ विमानपंक्ति विधि, ४१, ८ मेरुपंक्ति विधि, ३६, ९ श्रुतज्ञानकथा, ७७, १० सुखसम्पत्तिव्रत फल कथा, ४३, ११ श्रुतस्कंधविधान ५६, १२ दशलाक्षणिक कथा ७५, १३ कनकावली ४६, १४ बृहद्मुक्तावली २५, १५ भावनापंचविंशतिव्रतकथा ३४, १६ सर्वतोभद्रतप कथा, ३७, १७ जिनपुरंदर विधि, ८६, १८ मुक्तावली कथा, ८१, १९ अक्षयनिधि विधान कथा, ४८, २० सुगन्धदशमीकथा, ११४, २१ जिनमुखावलोकनकाथा ६७, २२ मुकुट सप्तमी कथा ५५।

कथा संग्रहमें दो कथाएँ—रुक्मणि विधान और चन्दनषष्ठी—ये दो कृतियां कवि छत्रसेनकी हैं जिनका आदि अंत भाग इस प्रकार है:—

रुक्मणि विधान कथा—

आदि भाग—

जिनं प्रणम्यनेमीशं संसारार्णवतारकम्।
रुक्मणिचरितं वक्ष्ये भव्यसंबोधकारणम्॥ १

अन्त भाग—

यो भव्यः कुरुते विधान ममलं स्वर्गापवर्गप्रदं।
योऽन्यं कारयते करोति भविनां व्याख्याय संबोधन
भुक्त्वाऽसौ नरदेवयोर्वरसुखं सच्छत्रसेनहृतं,
आख्याती जिननायकेन महतीं प्राप्नोति जैनीश्रियं।६१

इति छत्रसेनाचार्य विरचित रुक्मणिकथानकं समाप्तम्

चन्द्रषष्ठी कथा

आदि भाग—

जिनं प्रणम्य चन्द्राभं कर्मौधध्वान्तभास्करम् ।
विधानं चन्दनषष्ठाद्या भव्यानां कथयाम्यहम् ॥

अन्त भाग ऊपरकी कथाके प्रायः समान है। एकादि पद्यमें कुछ पाठ भेद हैं। मेघमालाव्रत कथाकी एक कथा ७० श्लोकात्मक इसमें कवि ननुदासकी है जो इस प्रकार है:—

आदि मंगल—

श्रीवर्द्धमानंत्रिदशेश्वरैनुतंनत्वाधुनावच्मिसुधर्मभूषितम् ।
पापापहंधर्मविवर्द्धनं च मुक्तप्रदंचांबुदमालिकाव्रतम् ॥
यत्पुरा मुनिभिः प्रोक्तं बहुबुद्ध्या सविस्तरम् ।
तत्संक्षिप्य मया मंदमेधासात्र प्रकाश्यते ॥ २४

अन्त भाग—

इति भव्यजनस्य वल्लभा कथिता या मुनिभिः प्रदर्शिता ।
इह सा जिनवार शासिनो ननुदासेन वृषाभिवांछया ।।७

इस संग्रहमें ५ कथाएँ चन्द्रभूषणके शिष्य पंडित अभ्रदेवकी हैं। पण्डित अभ्रदेवने श्रवण द्वादशी कथाके सम्बंध में लिखा है कि मैंने उसे प्राकृतसूत्रसे संस्कृतमें बनाया है। आकाश पंचमी कथाको भी पूर्वसूत्रानुसार रचनेका उल्लेख किया है। इन्होंने लब्धि विधानकथाको ब्रह्म हर्षके उपरोधसे बनाया है। इन कथाओंके अध्ययनसे पता चलता है कि ये सब कथाएँ अभ्रदेवकी अपभ्रंशकी कथाओंसे अनूदित हैं। पर वे किनकी कथाओं परसे अनूदित की गई हैं, यह अन्वेषणीय है। इनकी कथाओंके नाम इस प्रकार हैं:—

१ षोडशकारण कथा श्लोक ७३, २ लब्धिविधानकथा श्लोक २०६, ३ आकाशपञ्चमी कथा श्लोक ८७ ४ श्रवणद्वादशीकथा श्लोक ८०,५ त्रिकालचउवीसीकथा श्लोक ७६।

इस तरह यह कथा संग्रह ३१ कथाओंके समूहको लिये हुए है। अब यदि इतिहास लेखक विद्वान उक्त सूची परसे अभ्रदेवका इतिहास लिखता है जिसमें उसके गुरु आदिका भी उल्लेख नहीं है। और न पूरी कृतियोंका ही उल्लेख है। और जो अन्य विद्वानोंकी कथाओंका उल्लेख किया गया है। उनका तो भला इतिहासमें नाम कैसे उल्लिखित हो सकता है। यह उन विद्वानोंके लिये विचारणीय है। जो उपलब्ध सूची आदि ग्रन्थों परसे जैन साहित्यके इतिहासकी सृष्टि करना चाहते हैं। इतिहास लेखक के लिये पूर्वापर ग्रंथोंको देखना अत्यंत आवश्यक है। विना देखे और बिना किसी जांच पड़तालके परिचय लिखना तो इतिहासका उपहास होगा, अथवा उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध हो जावेगी; क्योंकि सभी सूचियां प्रामाणिक जांचके साथ बनाई गई हों, इसमें मुझे संदेह है। ऐसी स्थितिमें उन ऐतिहासिक विद्वानोंको विचार करना आवश्यक है। अतः इतिहास लेखक विद्वानोंको ग्रन्थ भण्डारोंको देखना आवश्यक है, देखते समय उन्हें और भी कई ऐतिहासिक उपयोगी बातें मिल सकती हैं। इस दृष्टिसे ग्रंथ भंडार देखकर ही इतिहासका सङ्कलन होना चाहिये।

उक्त सूचीमें और भी बहुत सी अशुद्धियाँ हैं, जिनका परिमार्जन करना इतिहास लेखक विद्वानोंका कर्तव्य है। जैसे अमित गतिका प्रवचनसार। इस ग्रंथका नाम मैंने जांच करने के लिये नोट किया था कि यह अमितगतिका नया ग्रन्थ है। परन्तु जब भंडारमें से ग्रन्थको निकलवाकर देखा गया तब मालूम हुआ कि यह तो विक्रमकी १०वीं शताब्दीके आचार्य अमृतचंद्रको प्रवचनसारकी 'तत्त्व दीपिका' नामकी टीका है। जिसे भूलसे अमृतचन्द्रकी जगह अमितगति छप गया है। इसी तरहकी अन्य अनेक अशुद्धियाँ हैं जिन पर अन्वेषक और इतिहास लेखक विद्वानोंका ध्यान जाना आवश्यक है।

इसी तरह प्रथम-ग्रन्थ-सूची और प्रशस्तिसंग्रहकी ऐतिहासिक स्थूल त्रुटियोंके लिये 'आमेर का प्रशस्ति संग्रह' नामका मेरा लेख अनेकांत वर्ष ११ कि ३ पृ० २६३ पर देखना चाहिये।

ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन बम्बई से जो रिपोर्टके रूपमें ग्रन्थ-सूची और कुछ प्रशस्तियोंका संग्रह प्रकाशित हुआ था उसमें भी अनेक शुद्धियाँ थीं। जो ऐतिहासिक विद्वानोंसे छिपी हुई नहीं हैं। जैसे धक्कड़ वंशीय कविवर धनपालकी 'भविष्यदत्त पंचमी कहा' को विना किसी प्रमाणके श्वेताम्बरीय ग्रन्थ-सूचीमें शामिल कर लिया है जब कि वह सुनिश्चित दिगम्बर ग्रन्थ है। इसी तरह भट्टारक सकलकीर्तिका १४४४ समय भी पन्द्रहवीं शताब्दी नहीं है। चूँकि मेरी नोट बुक यहां सामने नहीं है इसलिये उन पर फिर किसी समय अवकाश मिलने पर प्रकाश डाला जायगा।

आरा जैन सिद्धांत भवनसे प्रकाशित प्रशस्ति संग्रहमें भी अनेक अशुद्धियां साहित्य इतिहास सम्बंधी दृष्टिगत होती हैं। जिनका परिमार्जन आज तक न तो सम्पादक

महोदयने किया और न अन्य किसी विद्वानने उन पर प्रकाश डालने या परिमार्जन करनेका यत्न किया है ऐसी स्थितिमें उन पर विचार करना भी आवश्यक है। यहाँ बतौर उदाहरणके एक दो अशुद्धियोंको दिखाकर ही लेख समाप्त किया जाता है।

उक्त प्रशस्ति संग्रहमें पृ० १६१ पर 'हरिवंश पुराण' की प्रशस्ति दी हुई है, जिसके कर्ता भ० श्रुतकीर्ति है। प्रशस्तिमें भ० श्रुतकीर्तिकी गुरु परम्परा दी जाने पर भी उनका कोई परिचय नहीं दिया गया; किंतु उनके स्थानमें यशःकीर्ति का परिचय दिया गया है। जिनका इस प्रशस्तिसे कोई सम्बन्ध नहीं था। प्रशस्ति-गत पाठकी अशुद्धियों पर ध्यान न देते हुए भी यश: कीर्तिके सम्बन्धमें वहां विचार करना और श्रुतकीर्तिका नामोल्लेख तक नहीं करना किसी भूलके परिणामको सूचित करता है।

८वीं प्रशस्ति षड् दर्शन प्रमाण-प्रमेयानु प्रवेश' नामक ग्रंथकी है जिसके कर्ता भ० शुभचंद्र हैं। जिसमें ग्रंथ कर्ताकी अंतिम प्रशस्ति पद्य पर कोई लक्ष्य न देते हुए पाण्डवपुराण आदि ग्रंथोंके कर्ता भ० शुभचंद्रके सम्बंधमें ही विचार किया गया है। परंतु मूलप्रशस्ति पद्यमें उल्लिखित कण्डूरगणके शुभचद्रका कोई उल्लेख नहीं किया गया। यदि उस पर विचार कर लिया जाता तो उक्त शुभचंदकी स्थिति अन्य शुभचंद्रोंसे स्वतः ही भिन्न सिद्ध हो जाती। उसके लिए पाण्डवपुराणादिके कर्ता भ० शुभचंद्रके परिचय असमय ग्रन्थोल्लेख आदिकी कोई आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि उनका गणगच्छादिक भिन्न होनेसे पाण्डवपुराणके कर्तासे वे स्वतः भिन्न सिद्ध होते हैं।

इसी तरह अन्य प्रशस्तियोंके सम्बंधमें जानना चाहिए।

ऊपरके इस विवेचनसे यह स्पष्ट ज्ञान पड़ता है कि ऐतिहासिक विद्वान्को इतिहास लिखनेके लिये इस तरहके उपयोगी संशोधनों, नोटों और ग्रंथ-भण्डारोंके सावधानीसे अन्वेषण करनेकी कितनी आवश्यकता है। बिना ऐसा किए दूसरे ग्रंथांतरोंके सम्बंधसे होनेवाली अशुद्धियोंका परिमार्जन नहीं हो सकेगा। अन्वेषण कार्य और जांचका कार्य सम्पन्न हो जाने पर उक्त सूचियों वगैरहसे जो साहाय्य मिल सकता है फिर उससे भी लाभ उठाया जा सकता है।

ऐसी स्थितिमें सूचियों आदि परसे समस्त जैन साहियके इतिहासका निर्माण जैसे महान् कार्यका तय्यार करना उचित मालूम नहीं देता। और न वह कतपय उपलब्ध ग्रंथोंके इतिवृत्तसे जिनका परिचय अनेकांतादि पत्रों या ग्रंथ प्रस्तावनादि द्वारा हो चुका है, उतने मात्रसे भी उसकी पूर्ति नहीं हो सकती। और इतिहास जैसे गम्भीर और महत्वके कार्यमें बड़ी सावधानी और सतर्कताकी जरूरत है। ऐतिहासिकके लिये निष्पक्ष और असम्प्रदायी होना जरूरी है। क्योंकि पक्षपात और साम्प्रदायिकतासे कार्य करना उसकी महत्ताको कम करना और प्रामाणिकताको खो देना है। इसके लिए निष्पक्ष दृष्टिसे सभी साहित्यका यथास्थान प्रयोग होना आवश्यक है।

आशा है इतिहास लेखक विद्वान्गण अपने दृष्टिकोणको बदलनेका प्रयत्न करेंगे। और विशाल उदार दृष्टिकोणके साथ यथेष्ट परिश्रम द्वारा पहलेसे ग्रन्थ-सूचियों वगैरहकी जाँचके साथ नूतन साहित्य-परिचयको ग्रंथ भण्डारोंसे लेकर इतिहासका निर्माण करेंगे। ऐसा करने पर उसमें त्रुटियोंको कम स्थान मिलेगा। और इतिहास प्रामाणिक कहलायगा, अन्यथा वह सदा ही आलोचनाका विषय होनेके साथ-साथ अनेक भूल-भ्रांतियोंके प्रसारमें सहायक बनेगा।

श्री कुन्दकुन्द और समन्तभद्रका तुलनात्मक अध्ययन*

[बालब्रह्मचारिणी श्रीविद्युल्लता शहा बी० ए०, बी० टी०, शोलापुर]

कुछ समयसे मेरा विचार श्री कुंदकुंदाचार्य और स्वामी समन्तभद्रके ग्रंथोंका खास तौरसे अभ्यास करनेका चल रहा था, जिससे मैं उन्हें ठीक तौर पर समझ सकूँ, क्योंकि उन्हें समझे बिना वीरशासन अथवा जैनधर्मको ठीक तौर पर नहीं समझा जा सकता—दोनोंका शासन ही, सच पूछा जाय तो, उपलब्ध वीरशासन है। अपने उस विचारके अनुसार मैं इस वर्ष उस अभ्यासमें प्रवृत्त होना ही चाहती थी कि इतनेमें अनेकान्त वर्ष ११ की किरण ४-५ में मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीकी एक विज्ञप्ति पढ़नेको मिली, जिसमें उन्होंने कुछ विषयों पर निबन्धोंके लिये अपनी ओरसे ५००) रु० के पाँच पुरस्कारोंकी घोषणा की थी। उनमें एक विषय 'श्री कुंदकुंद और समंतभद्रका तुलनात्मक अध्ययन' भी था। इस विषयको पढ़कर मुझे बहुत ही प्रसन्नता हुई तथा मेरे विचारों को बड़ी ही प्रगति मिली और इस निमित्तको पाकर मैं दोनों महान् आचार्योंके ग्रन्थोंका गहरा एवं ठोस अभ्यास करनेमें शीघ्र ही प्रवृत्त हो गई। मर्यादित समयके भीतर जो कुछ अध्ययन बन सका है उसीके फलस्वरूप यह निबन्ध प्रस्तुत किया जा रहा है। दोनों ही चोटीके महान् आचार्योंका ज्ञान-भंडार अतीव विशाल एवं गहन-गम्भीर समुद्रके समान है और इसलिए मेरे जैसी अज्ञ बालिका का यह प्रयत्न भुजा फैला कर समुद्रको मापने जैसा ही समझा जायगा; फिर भी मुझे सन्तोष है कि मैं इस बहाने अपने दो आदर्श आचार्योंके विषयमें कुछ जानकारी प्राप्त कर सकी हूँ।

पूर्वकालिक कुछ इतिहास

दिन-रातके समान उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालचक्र प्रवर्तित हैं। भोगभूमिके अनन्तर कर्मभूमिका निर्माण हो गया था। चौदह कुलकर (मनु इसके निर्माता कहे जाते हैं। असि-मसि-कृषि-सेवा-शिल्प-वाणिज्य क्रियाओंकी शिक्षा इन्हीं कुलकरोंके द्वारा मिली थी। भोगभूमिमें कर्मभूमिके धर्म और संस्कृतिके लिये स्थान नहीं था। कर्मभूमिमें प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ अर्थात् वृषभ-जिन हुए। भ० वृषभसे श्री महावीर जिन तक यह भूमि तीर्थंकर-भूमि बन गई। इन तीर्थंकरोंकी पुण्यभूमिमें भरत, बाहुबली, श्रेयांस तथा मरीचिकी कथाएँ बड़ी रोचक हैं, अधिकांश जैन इतिहास उन्हींसे घिरा है। भरत राजा भोगको योगमें परिवर्तन करनेवाला, इस भूमिको भरत-खण्ड नाम दिलानेवाला तद्भव मोक्षगामी जीव था। बाहुबली प्रथम कामदेव होकर भी त्यागमूर्ति थे। आज बीसवीं सदी तक आपकी शिला-मूर्तियाँ सारे दक्षिणमें ठौर-ठौर अमर कला-कृतियाँ बन चुकी हैं। आप इस युगके प्रथम मुक्ति-द्वार खोलने वाले थे। श्रेयांसने तो आदि-जिनको इक्षुरसका अक्षयदान देकर अक्षयसुख पाया है। और मरीचिका ३७ भवों तक अखण्ड, अटूट उत्साह, प्रचण्डशक्ति साक्षात् महावीरका ही स्वरूप थी। भ० महावीरकी सारी कथाएँ बड़ी रोचक, अनोखी और सत्य होकर भी आज पोथी-पुराणकी बनी हुई हैं। परन्तु भ० महावीरका भारतके इतिहासमें स्वतन्त्र स्थान है। इतिहासकार उन्हें एक स्वतन्त्रदर्शन-धर्म-संस्कृतिके-प्रवर्तक-प्रसारक मानते हैं। उन्हींका शासन 'सर्वोदय-तीर्थ है, ऐसा स्वामी समन्तभद्रने बतलाया है।

वीर-शासनकी धुराको श्रीगुणधर-धरसेन-भूतबली-पुष्पदन्त आदि अनेक आचार्य-महोदयोंने अपने कन्धों पर लिया था। इन आचार्योंकी परम्पराका काल एक तरहका संधि काल ही है। तीर्थंकर सूर्यका अस्त होनेके बाद कितने ही आचार्योंका उदय इसी तपोभूमिमें हुआ है। इन आचार्योंने वीर-शासनके ज्ञानका,—श्रुतका—प्रवाह आज तक आगे बढ़ाया है, श्रुत पञ्चमी पर्वकी स्थापना इसीका एक प्रतीक है।

कुन्दकुन्द और समन्तभद्र (चन्द्र और सूर्य)

वीर शासनकी धुराको आगे चलाने वाले इसी भूमिमें श्री कुन्दकुन्द और समन्तभद्र नामके दो महान आचार्य चंद्र-सूर्यके समान हुए हैं। कुन्दकुन्दने भारतकी सारी दक्षिणभूमि-पर ज्ञानामृत सिंचन किया था। इससे इनकी जड़ इतनी गहरी पैठ गई कि इनका एक स्वतन्त्र अन्वय (वंश) स्थापित हो गया। कितने ही उत्तरवर्ती आचार्योंने खुदको कुन्दकुन्दान्वयी या 'कुन्दकुन्द-मुनिवंश-सरोज-हंस' कहकर गौरवका स्थान समझा है। कन्नड कवि पंप तो खुदको 'कुन्दकुन्द-नन्दनवन-शुक' कहकर पाठकवृन्दसे स्तुतिके मीठे मीठे फल चखता है।

भ० ऋषभ देवके समयमें ही अन्य दर्शनोंका प्रादुर्भाव प्रारम्भ हो गया था। खास भ० महावीरका समकालीन म०

---

* इस निबन्ध पर लेखिकाको मुख्तार श्री जुगलकिशोर जीकी ओरसे वीरसेवामन्दिरकी मार्फत १००) का 'युग-वीर-पुरस्कार' दिया गया है।

बुद्ध एक स्वतन्त्र बौद्धदर्शनका निर्माता कहा जाता है। वह वैदिक-औपनिषद् ज्ञानके प्रभावका काल था। सांख्य-न्याय-बौद्ध-चार्वाक-वैशेषिक दर्शन अपने-अपने समाजमें फलते,फूलते थे। हर एकने धर्मका स्वरूप उलट-पलट कर वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी काया पलट कर दी थी।

श्री० कुन्दकुन्दको इन विरोधी दर्शनोंका *मन्थन* करके जिनशासन-स्याद्वादका नवनीत (मक्खन) निकालना था। उन्होंने सबसे पहले श्रद्धाकी नींव जनताके हृदय पर डाली। भारतमें जैनदर्शनानुयायी जनताकी संख्या कम होने पर भी उसके दर्शनकी मौलिकता सबसे अधिक थी। राजाश्रय और विशिष्ट परिस्थिति प्राप्त होने पर तो समंतभद्र जैसे कितने ही आचार्यो द्वारा यह मौलिकता सर्वशेषरूपसे सिद्ध हो चुकी है। समन्तभद्रने स्थान-स्थान पर अपनी अकाट्य युक्तियोंसे परमतोंका खण्डन करके स्याद्वादका डंका बजाया है।

कुन्दकुन्दकृत आज जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उन्हींका पहले विचार करना जरूरी है।

कुन्दकुन्द-कृत ग्रंथ तथा विषय परिचय—

१. मूलाचार—यह ग्रन्थ आज कुछ विद्वानोंकी रायमें वट्टकेर-कृत समझा जाता है परन्तु अधिकांश विद्वानोंकी रायमें कुन्दकुन्दकृत ही है। कर्नाटक साहित्यमें कुन्दकुन्दका नाम मूलाचारके लिये स्पष्ट पाया जाता है। और मूलाचार की कितनी ही गाथाएँ कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंमें अनुद्धृतरूपसे पाई जाती हैं।

२. रयणसार—इस नामका जो ग्रंथ उपलब्ध है वह कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंसे कुछ अलगसा दिखता है। यह एक सार ग्रन्थ होकर अधूरा तथा बिखरा हुआ ज्ञान होता है। मुनिचारित्र तथा श्रावकधर्मका वर्णन इसमें है।

पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार तथा नियमसार ये चार सार ग्रन्थ हैं। इनसे पहले तीन ग्रन्थ प्राभृतत्रय या नाटकत्रयके नामसे भी प्रसिद्ध हैं। इनके सिवाय बारह अणुवेक्खा, दशभक्ति तथा अष्टपाहुड नामके ग्रन्थ भी कुन्दकुन्द कृत सुप्रसिद्ध हैं।

पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार इन तीनों ग्रन्थों द्वारा साक्षात् निश्चयरत्नत्रयके रूपमें मोक्षमार्गको साधकके लिये साफ सुथरा करके रखा है। तीनों ग्रन्थोंमें आत्माको मध्यबिन्दु-केन्द्रस्थान बनाया है। कन्नड कवि भरतेशवैभवकार रत्नाकरने कहा है कि प्राभृतपाहुडोंमें संक्षेपसे जो कहा है, उसीका विस्तार इन सार ग्रन्थोंमें है।

३. पञ्चास्तिकाय—('वत्थुसहावो धम्मो' की प्रतीति)

"कहा जाता है कि इस ग्रन्थकी रचना श्रीकुन्दकुन्दके विदेहक्षेत्रसे आनेके बाद हुई है। टीकाकार जयसेनाचार्यके अनुसार शिवकुमार महाराजके प्रबोधके लिए इस ग्रन्थकी रचना हुई है, *अन्तस्तत्त्व तथा बहिस्तत्त्वकी गौण-मुख्य* प्रतिपत्तिके लिए यह ग्रन्थ लिखा गया है। आत्माके सम्पर्कमें रहनेवाले जड पदार्थोंका विश्लेषण इसमें है। पाँच द्रव्य जीवके साथ रहते हुए भी जीवसे सर्वथा भिन्न हैं। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, धर्म-अधर्म-आकाश तथा काल ये द्रव्य नित्य शुद्ध हैं। जीव और पुद्गलका सम्बन्ध संयोगी है, 'पुद्गलनभधर्म-अधर्मकाल, इनतैं न्यारी है जीवचाल.' इस वाक्यमें उसीका पुरस्कार किया गया है। जीव-पुद्गल एक दूसरेके निमित्तसे अशुद्ध बन रहे हैं। संयोग दूर हटनेसे ही जीव द्रव्य शुद्ध परमात्मा हो जाता है। पंचास्तिकाय तथा कालका अस्तित्व इस ग्रन्थमें सप्तभंगीसे सिद्ध किया गया है। यह ग्रंथ निश्चयसम्यग्दर्शनके स्वरूपको स्पष्ट रूपसे प्रगट करता है। धर्म वस्तुस्वभावके बिना और कोई चीज नहीं है। आत्माकी शुद्धावस्था पहचानना ही सम्यग्दर्शन है। इस ग्रन्थमें वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे शुद्धद्रव्यवर्णन पाया जाता है।

४. प्रवचनसार—कुन्दकुन्दका *प्रवचनसार ग्रन्थ* सम्यग्ज्ञानकी प्रधानतासे सारे अध्यात्मग्रन्थोंमें बेजोड़ है। इसमें स्पष्ट कहा है कि ज्ञान ही आत्मा है। आत्माके बिना ज्ञान हो ही नहीं सकता। जैसे कि निम्न गाथासे प्रकट है—

'णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा॥ २७॥

इस ग्रन्थके जो तीन अधिकार हैं वे मानों तीन श्रुत-स्कंध ही हैं। पहला श्रुतस्कंध ज्ञानतत्व-प्रज्ञापन है। अनादिकालसे पर सन्मुख-जीवने 'मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, मेरा सुख आत्मासे अलग नहीं;' इस तरहकी श्रद्धा ही नहीं की। इस ग्रन्थमें कुन्दकुन्दने मानो जीवनके ज्ञानानन्द-स्वभावका अमृत ही बरसाया है। केवलीका ज्ञान और उन्हींका सुख उपादेय है। क्षायिक ज्ञान ही उपादेय है, क्षायोपशमिक ज्ञानधारी केवल कर्मभार सहनेका ही अधिकारी है। प्रत्यक्षज्ञान ही सुख है, परोक्षज्ञान आकुलतारूप है, इत्यादि बातों पर जिन्हें श्रद्धान नहीं उन्हें मिथ्यादृष्टि कहा है। इस तरह इसमें केवलज्ञान तथा अतीन्द्रिय सुखकी ओर जीवक

बड़ी दृढ़ताके साथ आगे बढ़ाया है।

दूसरा ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन अधिकार तो अनेकान्तकी जड़ है कुन्दकुन्दके पहले तीन ही मूल भङ्ग प्रचलित थे। कुन्दकुन्दने तीनोंसे ही सातभंग करके दिखलाये। अनादि-कालसे परिभ्रमण करनेवाले जीवने स्व-पर-भेदविज्ञानका रसास्वाद कभी नहीं पाया। बंधमार्गके समान मोक्षमार्गमें भी जीव अकेला कर्ता-कर्म-करण और कर्मफल बन जाता है—इनके साथ वास्तविक कुछ सम्बन्ध नहीं। इस तरहकी सानुभव श्रद्धा कभी भी नहीं हुई। इस कारण सैकड़ों उपाय करके भी यह जीव दुःखोंसे मुक्ति नहीं पा रहा है—इन दुःखोंसे मुक्तिका रामबाण उपाय भेद-विज्ञान बताया है।

संसारमें कोई भी सत् पदार्थ या द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यके या गुण-पर्यायके विना नहीं होता। सत् कहो या द्रव्य कहो, या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कहो, या गुण-पर्याय-पिण्ड कहो, ये सब एक ही हैं। यही वीतराग-विज्ञान है। द्रव्य-निरूपण तो स्वयं अध्ययन किये विना ठीक समझा ही नहीं जा सकता। द्रव्य-सामान्य-निरूपणके साथ द्रव्य-विशेषका निरूपण अनिवार्य है इस तरह जैनसिद्धान्तका तत्त्व इसमें कूट-कूट कर भरा हुआ है। द्रव्यके सर्वथा अभावका निषेध, द्रव्यकी सिद्धि सत्-असत्, एक-अनेक, पृथक् अपृथक्, तद्-अतद्, नित्य-अनित्य आदि रूपमें अनेकान्तसे की गई है। वस्तु स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा अस्तिरूप है और पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा नास्तिरूप है। इस प्रकार स्वमत सिद्धिके समय बौद्धादि अन्य मतोंका निराकरण सहज ही हो गया है। जीव देहादिका कर्ता नहीं, अन्योंसे जीवकी भिन्नता, जीव पुद्गल पिण्डका भी कर्ता नहीं, निश्चय बन्धका स्वरूप, चेतना-लक्षण आदि विषयों पर स्पष्ट प्रकाश डाला गया है। वीर-शासनका मौलिकतत्त्व सिद्धान्त अबाधयुक्तिसे—स्याद्वादसे—सिद्ध किया गया है। यह अधिकार वीर-जिन शासनका प्रकाशस्तम्भ ही है।

प्रवचनसारका तीसरा अधिकार चरणानुयोग सूचक-चूलिका या चारित्र-प्रज्ञापन-तत्त्व है। इसमें शुभोपयोगी मुनि श्रमणोंकी अन्तरंगदशाका यथार्थ चित्र खींचा गया है। दीक्षाविधि, अन्तरंग सहजदशानुरूप, बहिरंग यथाजातरूप, २८ मूलगुण, अन्तर्बाह्य छेद, उपधिनिषेध, उत्सर्ग-अपवाद, युक्ताहार-विहार, एकाग्रतारूप मोक्षमार्ग, श्रमणका अन्य-श्रमणोंसे वर्तन आदि श्रमण-मुनिके, चारित्रकी छोटीसे लेकर बड़ी बातें कुन्दकुन्दने समझाई हैं। निश्चय-व्यवहारकी दृष्टिसे यह अध्यात्मका निरूपण है। सारे ग्रन्थमें आत्माकी प्रधानता होनेसे सारा वाणी-प्रवाह शान्तधाराके समान बहता हुआ अध्यात्म-गीत सुना रहा है।

५. समयसार—(ज्ञानी-संतके गलेका हार)

समय नाम आत्माका है। 'आत्मा ज्ञानमात्र है' इस तरह प्रवचनसारमें समझानेके बाद 'स्थितिरत्र तु चारित्रम्' अर्थात् आत्मामें स्थिर होना ही चारित्र है ऐसा निर्देश है। कुन्दकुन्दके शब्दोंमें ही 'सव्वणय-पक्ख-रहिदो भणिदो जो सो समयसारो' यह समयसारका रूप है। नव पदार्थोंका कथन शुद्धनयकी प्रधानतासे किया है। श्री कुन्दकुन्द ग्रन्थके प्रारम्भमें ही एकत्व-साधनकी दुर्लभता दिखलाते हैं। वे स्वयं कह रहे हैं—

'सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि काम-भोग-बंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥ ३ ॥

'कामभोगकी कथाएँ सबने सुनी हैं, परिचयमें आई हैं और अनुभव की गई है; परन्तु परसे जुदे एकत्व-अभेदकी प्राप्ति दुलभ है। बाकीके सारे दर्शनकार सर्वथा भेद या सर्वथा अभेदका एकान्त निरूपण करते हैं। पर कुन्दकुन्दकी विशेषता यह है कि भेदमेंसे अभेद पाना। इसी बातकी युक्ति आगम-परम्परा तथा अनुभूति द्वारा समझानेकी बार २ चेष्टा की गई है। आत्माके विना जिनशासन कुछ भी नहीं है—

'जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥'

समय० १५

'जो आत्माको अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष तथा असंयुक्त देखते हैं वे समग्र जिनशासनको देखते हैं, इस तरहका जब तक स्वयं जीव अनुभव नहीं करता तब तक वह मोक्षमार्गी नहीं है। ऐसे जीवके भाव अज्ञानमय होते हैं—उसने भले ही व्रत-समिति-गुप्ति आदि सबका पालन किया हो, सारे आगम मुखाग्र किए हों। शुद्ध आत्मा-की अनुभूति जहाँ है वहीं सम्यग्दर्शन है। रागादिक उदयसे सम्यग्दृष्टि जीव कभी एकाकाररूप परिणमता नहीं, किन्तु ऐसा समझता है कि यह पुद्गल-कर्मरूप रागका विपाक उदय है, यह भाव मेरा नहीं, मैं तो एक शुद्ध ज्ञायक स्वभाव हूं। इस तरह प्रतिपादन करते समय आचार्य श्री स्वयं ही

बुद्ध एक स्वतन्त्र बौद्धदर्शनका निर्माता कहा जाता है। वह वैदिक-औपनिषद् ज्ञानके प्रभावका काल था। सांख्य-न्याय-बौद्ध-चार्वाक-वैशेषिक दर्शन अपने-अपने समाजमें फलते,फूलते थे। हर एकने धर्मका स्वरूप उलट-पलट कर वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी काया पलट कर दी थी।

श्री० कुन्दकुन्दको इन विरोधी दर्शनोंका मन्थन करके जिनशासन-स्याद्वादका नवनीत (मक्खन) निकालना था। उन्होंने सबसे पहले श्रद्धाकी नींव जनताके हृदय पर डाली। भारतमें जैनदर्शनानुयायी जनताकी संख्या कम होने पर भी उसके दर्शनकी मौलिकता सबसे अधिक थी। राजाश्रय और विशिष्ट परिस्थिति प्राप्त होने पर तो समंतभद्र जैसे कितने ही आचार्यो-द्वारा यह मौलिकता सविशेष-रूपसे सिद्ध हो चुकी है। समन्तभद्रने स्थान-स्थान पर अपनी अकाट्य युक्तियोंसे परमतोंका खण्डन करके स्याद्वाद-का डंका बजाया है।

कुन्दकुन्दकृत आज जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उन्हींका पहले विचार करना जरूरी है।

कुन्दकुन्द-कृत ग्रंथ तथा विषय परिचय—

१. मूलाचार—यह ग्रन्थ आज कुछ विद्वानोंकी रायमें वट्टकेर-कृत समझा जाता है परन्तु अधिकांश विद्वानोंकी रायमें कुन्दकुन्दकृत ही है। कर्नाटक साहित्यमें कुन्दकुन्दका नाम मूलाचारके लिये स्पष्ट पाया जाता है। और मूलाचार की कितनी ही गाथाएँ कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंमें अनुद्धृतरूप से पाई जाती हैं।

२. रयणसार—इस नामका जो ग्रंथ उपलब्ध है वह कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंसे कुछ अलगसा दिखता है। यह एक सार ग्रन्थ होकर अधूरा तथा बिखरा हुआ ज्ञात होता है। मुनिचारित्र तथा श्रावकधर्मका वर्णन इसमें है।

पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार तथा नियम-सार ये चार सार ग्रन्थ हैं। इनसे पहले तीन ग्रन्थ प्राभृत-त्रय या नाटकत्रयके नामसे भी प्रसिद्ध हैं। इनके सिवाय बारह अणुवेक्खा, दशभक्ति तथा अष्टपाहुड नामके ग्रन्थ भी कुन्दकुन्द कृत सुप्रसिद्ध हैं।

पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार इन तीनों ग्रन्थों द्वारा साक्षात् निश्चयरत्नत्रयके रूपमें मोक्षमार्गको साधकके लिये साफ सुथरा करके रखा है। तीनों ग्रन्थोंमें आत्माको मध्यबिन्दु-केन्द्रस्थान बनाया है। कन्नड कवि भरतेशवैभवकार रत्नाकरने कहा है कि प्राभृतपाहुडोंमें संक्षेपसे जो कहा है, उसीका विस्तार इन सार ग्रन्थोंमें है।

३. पञ्चास्तिकाय—(वत्थुसहावोधम्मो' की प्रतीति)

'कहा जाता है कि इस ग्रन्थकी रचना श्रीकुन्दकुन्दके विदेहक्षेत्रसे आनेके बाद हुई है। टीकाकार जयसेनाचार्यके अनुसार शिवकुमार महाराजके प्रबोधके लिए इस ग्रन्थकी रचना हुई है, अन्तस्तत्त्व तथा बहिस्तत्त्वकी गौण-मुख्य प्रतिपत्तिके लिए यह ग्रन्थ लिखा गया है। आत्माके सम्पर्कमें रहनेवाले जड पदार्थोंका विश्लेषण इसमें है। पाँच द्रव्य जीवके साथ रहते हुए भी जीवसे सर्वथा भिन्न हैं। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है, धर्म-अधर्म-आकाश तथा काल ये द्रव्य नित्य शुद्ध हैं। जीव और पुद्गलका सम्बन्ध संयोगी है, 'पुद्गलनभधर्म-अधर्मकाल, इनतैं न्यारी है जीवचाल.' इस वाक्यमें उसीका पुरस्कार किया गया है। जीव-पुद्गल एक दूसरेके निमित्तसे अशुद्ध बन रहे हैं। संयोग दूर हटनेसे ही जीव द्रव्य शुद्ध परमात्मा हो जाता है। पंचास्तिकाय तथा कालका अस्तित्व इस ग्रन्थमें सप्त-भंगीसे सिद्ध किया गया है। यह ग्रंथ निश्चयसम्यग्दर्शनके स्वरूपको स्पष्ट रूपसे प्रगट करता है। धर्म वस्तुस्वभावके बिना और कोई चीज नहीं है। आत्माकी शुद्धावस्था पह-चानना ही सम्यग्दर्शन है। इस ग्रन्थमें वैज्ञानिक दृष्टिकोणसे शुद्धद्रव्यवर्णन पाया जाता है।

४. प्रवचनसार—कुन्दकुन्दका प्रवचनसार ग्रन्थ सम्य-ग्ज्ञानकी प्रधानतासे सारे अध्यात्मग्रन्थोंमें बेजोड़ है। इसमें स्पष्ट कहा है कि ज्ञान ही आत्मा है। आत्माके बिना ज्ञान हो ही नहीं सकता। जैसे कि निम्न गाथासे प्रकट है—

'णाणं अप्प त्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा॥ २७॥

इस ग्रन्थके जो तीन अधिकार हैं वे मानों तीन श्रुत-स्कंध ही हैं। पहला श्रुतस्कंध ज्ञानतत्व-प्रज्ञापन है। अना-दिकालसे पर सन्मुख-जीवने 'मैं ज्ञानस्वभावी हूँ, मेरा सुख आत्मासे अलग नहीं;' इस तरहकी श्रद्धा ही नहीं की। इस ग्रन्थमें कुन्दकुन्दने मानो जीवनके ज्ञानानन्द-स्वभावका अमृत ही बरसाया है। केवलीका ज्ञान और उन्हींका सुख उपादेय है। क्षायिक ज्ञान ही उपादेय है, क्षायोपशमिक ज्ञानधारी केवल कर्मभार सहनेका ही अधिकारी है। प्रत्यक्ष-ज्ञान ही सुख है, परोक्षज्ञान आकुलतारूप है, इत्यादि बातों पर जिन्हें श्रद्धान नहीं उन्हें मिथ्यादृष्टि कहा है। इस तरह इसमें केवलज्ञान तथा अतीन्द्रिय सुखकी ओर जीवक

बड़ी दृढ़ताके साथ आगे बढ़ाया है।

दूसरा ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन अधिकार तो अनेकान्तकी जड़ है कुन्दकुन्दके पहले तीन ही मूल भङ्ग प्रचलित थे। कुन्दकुन्दने तीनोंसे ही सातभंग करके दिखलाये। अनादि-कालसे परिभ्रमण करनेवाले जीवने स्व-पर-भेदविज्ञानका रसास्वाद कभी नहीं पाया। बंधमार्गके समान मोक्षमार्गमें भी जीव अकेला कर्ता-कर्म-करण और कर्मफल बन जाता है—इनके साथ वास्तविक कुछ सम्बन्ध नहीं। इस तरहकी सानुभव श्रद्धा कभी भी नहीं हुई। इस कारण सैकड़ों उपाय करके भी यह जीव दुःखोंमे मुक्ति नहीं पा रहा है—इन दुःखोंसे मुक्तिका रामबाण उपाय भेद-विज्ञान बताया है।

संसारमें कोई भी सत् पदार्थ या द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यके या गुण-पर्यायके विना नहीं होता। सत् कहो या द्रव्य कहो, या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कहो, या गुण-पर्याय-पिण्ड कहो, ये सब एक ही हैं। यही वीतराग-विज्ञान है। द्रव्य-निरूपण तो स्वयं अध्ययन किये विना ठीक समझा ही नहीं जा सकता। द्रव्य-सामान्य-निरूपणके साथ द्रव्य-विशेषका निरूपण अनिवार्य है इस तरह जैनसिद्धान्तका तत्त्व इसमें कूट-कूट कर भरा हुआ है। द्रव्यके सर्वथा अभावका निषेध, द्रव्यकी सिद्धि सत्-असत्, एक-अनेक, पृथक् अपृथक्, तद्-अतद्, नित्य-अनित्य आदि रूपमें अनेकान्तसे की गई है। वस्तु स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा अस्तिरूप है और पर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा नास्तिरूप है। इस प्रकार स्वमत सिद्धिके समय बौद्धादि अन्य मतोंका निराकरण सहज ही हो गया है। जीव देहादिका कर्ता नहीं, अन्योंसे जीवकी भिन्नता, जीव पुद्गल पिण्डका भी कर्ता नहीं, निश्चय बन्धका स्वरूप, चेतना-लक्षण आदि विषयों पर स्पष्ट प्रकाश डाला गया है। वीर-शासनका मौलिकतत्त्व सिद्धान्त अबाधयुक्तिसे—स्याद्वादसे—सिद्ध किया गया है। यह अधिकार वीर-जिन शासनका प्रकाशस्तम्भ ही है।

प्रवचनसारका तीसरा अधिकार चरणानुयोग सूचक-चूलिका या चारित्र-प्रज्ञापन-तत्त्व है। इसमें शुभोपयोगी मुनि श्रमणोंकी अन्तरंगदशाका यथार्थ चित्र खींचा गया है। दीक्षाविधि, अन्तरंग सहजदशानुरूप, बहिरंग यथाजातरूप, २८ मूलगुण, अन्तर्बाह्य छेद, उपधिनिषेध, उत्सर्ग-अपवाद, युक्ताहार-विहार, एकाग्रतारूप मोक्षमार्ग, श्रमणका अन्य-श्रमणोंसे वर्तन आदि श्रमण-मुनिके, चारित्रकी छोटीसे लेकर बड़ी बातें कुन्दकुन्दने समझाई हैं। निश्चय-व्यवहारकी दृष्टिसे यह अध्यात्मका निरूपण है। सारे ग्रन्थमें आत्माकी प्रधानता होनेसे सारा वाणी-प्रवाह शान्तधाराके समान बहता हुआ अध्यात्म-गीत सुना रहा है।

५. समयसार—(ज्ञानी-संतके गलेका हार)

समय नाम आत्माका है। 'आत्मा ज्ञानमात्र है' इस तरह प्रवचनसारमें समझानेके बाद 'स्थितिरत्र तु चारित्रम्' अर्थात् आत्मामें स्थिर होना ही चारित्र है ऐसा निर्देश है। कुन्दकुन्दके शब्दोंमें ही 'सव्वणय-पक्ख-रहिदो भणिदो जो सो समयसारो' यह समयसारका रूप है। नव पदार्थोंका कथन शुद्धनयकी प्रधानतासे किया है। श्री कुन्दकुन्द ग्रन्थके प्रारम्भमें ही एकत्व-साधनकी दुर्लभता दिखलाते हैं। वे स्वयं कह रहे हैं—

'सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि काम-भोग-बंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥ ३ ॥

'कामभोगकी कथाएँ सबने सुनी हैं, परिचयमें आई हैं और अनुभव की गई हैं; परन्तु परसे जुदे एकत्व-अभेदकी प्राप्ति दुलभ है। बाकीके सारे दर्शनकार सर्वथा भेद या सर्वथा अभेदका एकान्त निरूपण करते हैं। पर कुन्दकुन्दकी विशेषता यह है कि भेदमेंसे अभेद पाना। इसी बातकी युक्ति आगम-परम्परा तथा अनुभूति द्वारा समझानेकी बार २ चेष्टा की गई है। आत्माके विना जिनशासन कुछ भी नहीं है—

'जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससंतमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥'

समय० १५

'जो आत्माको अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष तथा असंयुक्त देखते हैं वे समग्र जिनशासनको देखते हैं, इस तरहका जब तक स्वयं जीव अनुभव नहीं करता तब तक वह मोक्षमार्गी नहीं है। ऐसे जीवके भाव अज्ञानमय होते हैं—उसने भले ही व्रत-समिति-गुप्ति आदि सबका पालन किया हो, सारे आगम मुखाग्र किए हों। शुद्ध आत्मा-की अनुभूति जहाँ है वहीं सम्यग्दर्शन है। रागादिक उदयसे सम्यग्दृष्टि जीव कभी एकाकाररूप परिणमता नहीं, किन्तु ऐसा समझता है कि यह पुद्गल-कर्मरूप रागका विपाक उदय है, यह भाव मेरा नहीं, मैं तो एक शुद्ध ज्ञायक स्वभाव हूं। इस तरह प्रतिपादन करते समय आचार्य श्री स्वयं ही

शंका उठाते हैं कि रागादिभाव रखते हुए आत्मा शुद्ध कैसे है? उत्तरमें स्फटिक मणिका दृष्टांत निरूत्तर कर रहा है।

प्रज्ञारूपी छैनीसे छेदते छेदते जीव पुद्गल अलग होकर 'जीव जुदा पुद्गल जुदा' की घोषणा अंतर्नादसे सुनी जाती है। अर्थात् ज्ञानसे ही यथार्थ वस्तुस्वरूप पहिचाननेसे अनादि-कालीन रागद्वेषोंके साथ परिणमनेवाला आत्मा एकाकाररूप परिणमता है। इस स्थिति तक पहुंचनेके लिए अनेक विषय अनिवार्य हो गये हैं। जीव और पुद्गलका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध, दोनोंका स्वतन्त्र परिणमन, ज्ञानी जीव न रागद्वेषोंका कर्ता है न भोक्ता, अज्ञानी जीव रागद्वेषोंका कर्ता तथा भोक्ता है, सांख्यदर्शन नित्यवादी एकान्त होनेसे मिथ्या है, गुणस्थान-आरोहणमें भाव और द्रव्यका निमित्तनैमित्तिकपन, मिथ्यात्वादि जडत्व और चेतनत्व, पुण्यपापका बन्धरूप, मोक्षमार्गमें चरणानुयोगका स्थान आदि कितने ही विषय इस अधिकारमें पाये जाते हैं।

श्री जयसेनाचार्यके शब्दोंमें इस ग्रन्थकी महत्ता पर्वतके समान है। इस ग्रन्थकी विशेषता यह है कि 'ज्ञानी जीव कर्म-फल-भोगते समय बद्ध नहीं होता, ज्ञानीकी (सम्यग्दृष्टिकी) सारी क्रियाएँ निर्जराके लिए ही होती हैं, ऐसा बार बार स्पष्ट कहा गया है।

समयसारकी भूमिका नाटकके समान ही है। शायद उस समय समाजमें नाटकोंका बोलबाला और प्रभाव समाज पर ज्यादा होगा। कुन्दकुन्दने जनताकी रुचिको अध्यात्मकी तरफ खींचनेके लिए इस ग्रथका कथन नाटकके समान पात्र-युक्त किया है। कविवर बनारसीदासजीने समयसारको 'नाटक' संज्ञा इसीलिए दी है। इसमें बिल्कुल संदेह नहीं कि यह समयसार अध्यात्मगीता है और ज्ञानी सन्त महात्माओंके गलेका हार बना हुआ है।

६. नियमसार ('मुक्तिधामका सुन्दर मार्ग')

श्रीकुन्दकुन्दने इस ग्रन्थके सिंहावलोकनमें उपयुक्त तीनों ग्रन्थोंके प्रति संकेत किया है—

'जीवाण पुग्गलाणं गमण जाणेहि जाव धम्मत्थी।
धम्मत्थिकायभावे तत्तो परदो ण गच्छदि॥
णियमं णियमस्स फलं णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए।
पुव्वावर-विरोधो जदि अवणीय पूरयंतु समयण्हा॥१८५

प्रस्तुत ग्रंथमें कुन्दकुन्दने अपने पूर्व-रचित ग्रन्थोंका सार ही निकाला है—इस ग्रन्थमें मोक्षमार्गका स्पष्ट सत्यार्थ निरूपण है। कुछ निश्चय नयसे तथा अशुद्ध व्यवहार नयसे जीव-अजीव - शुद्धभाव-प्रतिक्रमण - प्रत्याख्यान-आलोचनाप्रायश्चित्त-समाधि-भक्ति- आवश्यक - शुद्धोपयोग इन सबका वर्णन स्वतन्त्र अधिकारोंमें किया है। 'नियम' की निरुक्ति ग्रन्थारम्भमें तथा फल अन्तमें (उपयुक्त) देते हैं—

'णियमेण य जं कज्जं तण्णियमं णाण-दंसण-चरित्तं।'

नियमसार याने नियमकासार अर्थात् शुद्ध रत्नत्रय। इस शुद्ध रत्नत्रयकी प्राप्ति परमात्मतत्त्वके आश्रयसे होगी। कुन्दकुन्द गाथा-गाथामें अपना अनुभव सिद्ध-परमात्मता बतलाते हैं। परमात्मतत्त्वका आधार सम्यग्दर्शन है—उसका आश्रय पाने पर जीवकी देशचारित्र तथा सकलचारित्रकी दशा प्रकट होती है। परमात्मतत्त्वका आश्रय ही सम्यग्दर्शन है, वही ज्ञान-चारित्र, प्रतिक्रमण, आदि सब कुछ है। जो भाव परमात्मतत्त्वसे सर्वथा अलग हैं वे मोक्षका कारण नहीं हैं। सम्यग्दर्शनसे शून्य निरी व्यवहारभक्ति व्यवहारप्रत्याख्यान आदि सारे उपचार भाव द्रव्यलिंगी मुनिके होते हैं और प्रत्येक जीव उन्हें अनन्तबार कर चुका है। परन्तु ये सब भाव जीवको बार बार संसारचक्रमें घुमानेवाले ही हैं। क्योंकि परमात्मतत्त्वके आश्रयबिना-उसका लक्ष्य न रख कर जीवका स्वभाव परिणमन अंशतः भी सम्भव नहीं।

इस प्रकार ग्रन्थका केन्द्रबिन्दु परमात्मतत्त्व ही है—इसके सहारे आनेवाले पर्याय, गुण, षड्द्रव्य, जीवके ५ असाधारण भाव, व्यवहार-निश्चयनय, रत्नत्रय, तथासम्यक्त्वमें जीवकी देशना ही निमित्त है, इस तरहका नियम, पंचपरमेष्ठी-स्वरूप आदि अनेक विषयोंका सरस वर्णन इसमें मिलता है। और इसीलिए कुन्दकुन्द स्वयं ग्रन्थके अन्तमें कहते है—यह सुन्दर मार्ग है—

ईसाभावेण पुणो, केई णिंदन्ति सुंदर मग्गं।
तेसिं वयणं सोच्चा अभत्ति मा कुणह जिणमग्गे। ६॥

सचमुच ही यह सुन्दर राजमार्ग है।

७. अष्टपाहुड (पहलुदार माणि)

कुन्दकुन्दने रत्नत्रयको अष्टपाहुडोंमें पहलुदार बनाया है। इस ग्रन्थके पहलुओंका तेज प्राभृतत्रयोंमें जगमगाता है। प्रत्येक पाहुडका नाम ही महत्वपूर्ण तथा अन्वर्थसंज्ञक हैं। दर्शन, सूत्र, चारित्र, बोध, भाव, मोक्ष, लिंग और शील ये अष्ट प्राभृतके नाम हैं।

दर्शनका मतलब सम्यग्दर्शन प्रवचनसारमें जिस प्रकार

'चारित्तं खलुधम्मो' कहकर धर्मका लक्षण बतलाया है, उसी प्रकार इसमें धर्मका मूल दर्शन कहा है 'दंसणमूलो धम्मो' की गर्जना इसमें है। दर्शन और चारित्र दोनों धर्म आत्माके निजगुण हैं; इसलिए परस्पराऽविरोधी हैं। परन्तु दर्शनकी मुख्यता दिखानेके लिए 'सिज्झंति चरियभट्टा, दंसणभट्टा ण सिज्झंति' ऐसा सिंहनाद किया है।

सूत्रपाहुडमें 'सूत्र' शब्दकी निरुक्ति करके बड़ा ही चमत्कारपूर्ण अर्थ दिखलाया है। जैसे कि—

सुत्तम्मि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि।
सूई जहा असुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि ॥ ३ ॥

सूत्र=डोरा से रहित नंगी सूई जिसप्रकार खो जाती है या केवल छिद्र करनेमें ही समर्थ होती है—उसी प्रकार सूत्र =जिनशासनसे रहित कथन व्यर्थ होता है। मिथ्या हो जाता है। सूत्रका अर्थ 'अरहंत-भासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सुत्तं' (सूत्र० १.) है। सर्वज्ञ-प्रणीत तत्वको ही सूत्र कहते हैं—यह जिनोक्त सूत्र व्यवहार तथा परमार्थ दो रूपधारी हैं। शायद इसी समय स्त्री-मुक्ति, सग्रन्थमुक्ति आदि श्वेतांबर-मान्यता का प्रचार हो रहा होगा। इसलिए कुन्दकुन्दने दोनोंका तीव्र विरोध किया है और युक्ति तथा आगमके सहारे यथाजातरूप-नग्नदिगम्बरावस्था ही मुक्तिका कारण है, ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन किया है।

चारित्रपाहुडमें—देशचारित्र और सकलचारित्रका निरूपण करके देशचारित्र गृहस्थोंके लिए राजमार्ग तथा सकल चारित्र मुनियोंका आदर्श मार्ग दिखलाया है।

बोधपाहुडमें—जिनबिम्ब, जिनागम, जिनदीक्षाका स्वरूप चित्रपटके समान स्पष्ट दिखलाया है। इसमें गुणस्थान मार्गणा, पर्याप्ति, प्राण आदिका व्यवहार-दृष्टिसे संक्षिप्त कथन किया गया है। इसमें कुन्दकुन्दने अपनेको भद्रबाहुका शिष्य कहा है। साथ ही, 'गमक गुरु' कहकर श्रुतकेवली भद्रबाहुका जयघोष भी किया है।

कुन्दकुन्द स्वयं कहते हैं कि इस प्राभृतमें जो कुछ कहा है वह स्वमतकल्पित नहीं है। बल्कि जिन-कथित है।

भावपाहुड—इन दो अक्षरोंमें सारे जीवनभरके अनन्त परिश्रमोंका सार, निचोड भरा हुआ है। वे स्वयं कहते हैं—

'भावरहिओ ण सिज्झइ जइ वि तवं चरइ कोडि कोडीओ'—(भा० पा० ४)

यदि 'भाव' शब्दका मतलब आत्मज्ञान ही है तो यह भाव ही मूल है। भावविना निरा द्रव्यलिंग चारोंगतियोंमें भटकाता है।

दूसरी विशेषता इस पाहुडकी यह है कि कुन्दकुन्दके समय सैद्धांतिक तथा पारिभाषिक शब्दोंका ज्ञान लोगोंको अच्छी तरह था। अन्यथा पारिभाषिक शब्दोंका निर्देश व्यर्थ होता। उससमय जनतामें पुरातन कथाएँ खूब प्रचलित थीं। अतएव इसमें तुषमास, बाहुबली, मधुपिंग, वशिष्ट, बाहुवाम, दीपायन, शिवकुमार, अभव्यसेन, शिवभूति, शालिसिक्थमत्स्य इत्यादि विविध नामोंका उल्लेख करके कथाओंका निर्देश किया गया है। स्व-आत्मा ही को आलंबन कहा है। भाव शुभ-अशुभ-शुद्धरूप होते हैं। आर्तरौद्र अशुभ धर्म-शुभ भाव है। शुद्धभाव वाला जीव तो उच्चस्थान (पावई तिहुवनसार बोही जिणसासणे जीवो) पाता है। भावपाहुड अन्य पाहुडोंमें सबसे बड़ा है। और यह कुन्दकुन्दके अनुभवकी अविरल रसधारा बहाता है।

मोक्षपाहुडमें—मोक्षके प्राप्त करानेवाले साधनोंका परिचय कराया गया है। इसके अन्तमें कहा भी गया है कि 'जिणपण्णत्तं मोक्खस्स कारणं'इसमें निरूपित है। प्रारंभमें आत्माकी बहिरंग, अन्तरंग तथा परमात्माकी अवस्थाका वर्णन है बहिरात्मा अवस्था त्याज्य है, अन्तरंगावस्था परमात्माके प्रति साधन है। सम्यग्दृष्टि श्रमणही मोक्षका अधिकारी है, आत्माकी अभेदअवस्था ही मोक्षके लिए साधकतम है जहाँ 'जहँ ध्यान ध्याता ध्येयको न विकल्प वच भेद न जहाँ' के समान केवल चैतन्यका ही साम्राज्य है।

लिंगपाहुड – स्वतन्त्र रचना होकर भी भावपाहुडका विषय इसमें घुलामिला है। स्वयं ग्रन्थकार ही कहते हैं 'जो कुछ है वह भाव ही है' 'जाणीहि भावधम्मं किं ते लिंगेण कादव्व' ॥ भावविना द्रव्यलिंग कार्यकारी नहीं है, श्रमण जिनलिंगका ही धारक है अन्यलिंग उसके लिये लांछन हैं। इस प्रकार जिनलिंग—यथाजातरूपता का महत्व मुक्तिमार्ग में है। अष्टपाहुडका अन्तिम पहलु शील है जो आत्माका गुण है। शील और ज्ञान अविरोधि रहते हैं। कुन्दकुंद कहते हैं कि शास्त्रीय ज्ञानसे शील ही श्रेष्ठ है—

वायरण छंद-वइसेसिय ववहारणायसत्थेसु।
वेदेऊण सुदेसुय तेव सुयं उत्तमं सीलं ॥ १६ ।

इस प्रकार शीलमहिमा सबसे बड़ी है। जीवदया, संयम, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दर्शन, तप आदि शीलका परिवार है। जीव-कर्मकी ग्रन्थी शीलसे खुल जाती

है। विषय विरक्त, तपोधन साधु शीलजलमें स्नान करनेसे सिद्धालयको प्राप्त होते हैं। अर्हद्भक्ति दर्शन और शील इन तीनोंसे भिन्न चीज और कुछ नहीं है।

इस प्रकार अष्टपाहुडोंमें सारा जिनशासन भावअनुभूतिसे गूँथा हुआ है। कहते हैं कि इसतरह ८४ पाहुड कुन्दकुन्द-कृत थे।

दशभक्तिया—मुझके समान मूर्खको भी सयाना बनाती हैं। संस्कृत भक्तिपाठ पूज्यपादकृत और प्राकृत भक्तिपाठ कुन्दकुन्दकृत है। पहली तीर्थंकरभक्ति है—जिसमें २४ जिनोंकी वंदना की गई है। पहली गाथाके सिवाय बाकीकी गाथाएँ श्वेताम्बर पंचप्रतिकमणकी गाथाओंके समान मिलती जुलती है। सिद्धभक्ति—दूसरी भक्ति है। इसमें सिद्धोंके वर्ग, उनका मार्ग सुख आदिका निरूपण है। *श्रुतभक्ति की विशेषता यह है कि प्राचीन श्रुतोंको बारह* अंग १४ पूर्वका उल्लेख करके वंदन किया है। चारित्रभक्तिमें मुनिके सामायिक-छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि-सूक्ष्म सांपराय-यथाख्यात—इस तरह ५ प्रकारके चारित्र कहे हैं।

अनगारभक्ति—में सभी महामुनियोंका स्तुति की गई है। इसमें श्रमणके उच्च आदर्श पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। आचार्य भक्तिमें—आचार्योंके चरणोंके पास खुदकी मंगल-याचना नित्यके लिये करते हैं। 'तुम्हं पायपयोरुहमिह मंगलमत्थु मे णिच्चं'। इस भक्तिमें आचार्योंका चित्रण बड़ा ही रोचक एवं काव्यमय किया गया है—

गयणमिव णिरुवलेवा अक्खोहा मुणिवसहा।

निर्वाण भक्ति—जैन तीर्थक्षेत्र तथा निर्वाणभूमियोंके खोजके लिये बड़ी ही महत्वपूर्ण है। इसमें सभी पुण्यभूमियों तथा निर्वाणभूमियोंका निर्देश किया गया है।

पचगुरुभक्ति—अरहंत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय - साधु ये पंचपरमेष्ठी गुरु हैं इन्हींकी भक्तिको यह लिये हुए है।

इन सब भक्तियोंके सूक्ष्म निरीक्षणसे ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्दने कितने सरल हृदयसे कितनी गहरी भक्ति की है। उन्होंने जिनेन्द्रके वचन तथा उनके पादस्पर्शकी भूमि तकको वंदन किया है। सभी भक्तियोंके अन्तिम गद्यभागमें वे अपने लिए वर माँगते हुए कहते हैं—दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, समाहिमरणं च बोहिलाहो य। अर्थात्—मेरे दुःखोंका क्षय हो, समाधिमरण हो और बोधिकी प्राप्ति हो। पंचगुरुका स्मरण ही णमोकार-मंत्र है। 'एदे पंचणमोयारा भवेभवे ममसुहं दिंतु, नन्दीश्वर तथा शांति भक्तिके लिये प्राकृत गाथाके विना केवल गद्य ही है। ये भक्तिपाठ अपनी प्राचीन परम्पराकी भूमि पर अटल हैं—प्रो० उपाध्ये कहते हैं—'Bhakties are something like devotional prayers with a strong dogmatic and religious back ground. इस प्रकार एक मूर्खको भी ये भक्तिपाठ *सयाना बना देती हैं।*

बारह अणुवेक्खा ('वैराग्यकी चाबी')

यह ग्रन्थ कुन्दकुन्द-कृत है। ग्रंथके अन्तमें कुन्दकुन्दका नाम पाया जाता है। प्रो० उपाध्येकी रायमें यह ग्रन्थ कुन्दकुन्दकृत निश्चित नहीं है। परम्परा कुन्दकुन्दकृत माननेके लिये अनुकूल तथा अनिवार्य है। इसकी कितनी ही गाथाएँ मूलाचारसे ठीक मिलती-जुलती है।

भावनाएँ या अनुप्रेक्षा मुनियोंके लिये महाव्रतोंमें स्थिरता लानेके लिए आवश्यक मानी गई हैं। इसमें क्रमशः बारह अनुप्रेक्षाका वर्णन है। जिसके आधार पर आगे श्री कार्तिकेय स्वामीने एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है।

कुंदकुंदके उत्तर और समन्तभद्रके पूर्वका वातावरण

वैदिक कालमें गौडपादके मांडुक्योपनिषद्में जो विचार हैं वे सर्वथा अद्वैतवादी, एकांतवादी, अक्रियावादी हैं। इन विचारोंका खंडन तत्त्वतः कुन्दकुन्द करते हैं। वेदको ही परब्रह्म मानने वाले मीमांसक, ईश्वरको सृष्टिकर्तृत्वका विधान करने वाले न्याय-वैशेषिक, द्वैतवादि-शैव वैष्णव भौतिकवादी चार्वाक, शुक्र-बृहस्पति-चाणक्य कौटिल्य इन नीति ग्रयोंके प्रवर्तक—जिन्हें लौकायतिक भी कहा जाता है और क्षणिकवादी सौत्रांतिकवादी बौद्ध—इन सब दर्शनोंको अपने अपने पन्थमें धुन सवार हो रही थी। प्रत्येक दर्शनकार अपनी अपनी खिचड़ी अलग पकानेमें मस्त था। नित्यवादी-सांख्यका नाम तो स्पष्ट कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें—गाथाओंमें पाया जाता है। सारे दर्शनोंका खंडन और स्वमतमण्डन इन्हें करना पड़ा। अन्य दर्शनोंका संकीर्ण वातावरण तथा प्रभाव होनेसे कुन्दकुन्दके सभी ग्रन्थ अध्यात्मप्रधान, एक स्वआत्माकी विशुद्धिकी प्रधानता लेकर रचे गये हैं। इसीसे सिद्धान्तविरोधी नहीं हैं। औपनिषदिक प्रभावके अनन्तर दो तीन शतकोंका काल सूत्रोंका कहा जाता है, इस समयकी एक लहर थी कि अपनी बात सूत्रमें बांधना। जैनसाहित्यमें उस समय उमास्वामी सुप्रसिद्ध सूत्रकार थे। इन्होंने तत्वार्थसूत्र नामक ग्रन्थमें सारा वीर-शासन गूंथा है।

सूत्रकालके पश्चात् वादियोंका युग आया। वादि-प्रतिवादियोंको केवल आगम और परम्परा मान्य नहीं थी। प्रतिपक्षी अपनी जय-पराजयके लिये न्याय-युक्तिकी कसौटी पर अपने सिद्धान्त कसने लगे, तब वीर-शासनको न्याय-तर्ककी कसौटी पर कसनेके लिये महान् तार्किक योगियोंका उदय हुआ। समन्तभद्रस्वामी इसी तर्कयुगके प्रवर्तक कहे जाते हैं। कुन्दकुन्दसे कार्तिकेय तक अध्यात्मरहस्य खोलना ही मुख्य उद्देश्य था। सूत्र युगमें सूत्रों-द्वारा जिन-शासनको बांधकर प्रभावना करना उद्देश्य था। इसके अनन्तर न्याय-तर्क-युक्ति-आगमकी कसौटी पर पूर्व परम्पराको बाधा न पहुंचाते हुए वीरशासनकी प्रभावना करनेका काल आया। यह काल स्वमतोंकी भेरी बजाकर और अन्य वादियोंको आह्वान देकर वाद-विवादमें उन्हें परास्त करनेका था। इसी युगके प्रवर्तक स्वामी समन्तभद्र होनेसे इनके लिये भी अपनी भेरी बजाना अनिवार्य और आवश्यक हो गया। [अब पहले समन्तभद्रकृत उपलब्ध कृतियोंका विषय परिचय संक्षेपमें दिया जाता है।]

समन्तभद्र कृत उपलब्ध ग्रंथ और विषय परिचय

१. समन्तभद्र स्तोत्र या चतुर्विंशतिस्तुतिमय स्वयंभू स्तोत्र।
२. देवागमस्तोत्र या आप्तमीमांसा
३. जिनशतक या स्तुतिविद्या।
४. युक्त्यनुशासन या वीरजिनस्तोत्र।
५. रत्नकरण्डश्रावकाचार या समीचीनधर्मशास्त्र।

स्वयंभूस्तोत्र ('साधकोंका नंदादीप')—

स्वयंभूस्तोत्रमें आदिजिनसे लेकर वीरजिन तक क्रमशः स्तुति की गई है। यह स्तुतिधारा केवल भक्तिका रूप लेकर ही नहीं बहती, बल्कि भक्तिके आवरणमेंसे स्याद्वाद-अनेकान्ततत्वका दिव्य तेज भी प्रवाहित हो रहा है। जीवनकी विशिष्ट घटनाके समय अपनी दृढ श्रद्धा प्रगट करना केवल आवश्यक ही नहीं किन्तु अनिवार्य हो गया, तब इस महान् स्तोत्रकी निर्मिति हुई है। उनकी आत्मा बाह्यविरोधी शक्तिका प्राबल्य रहने पर भी जिनस्तुतिरसमें इतनी गहरी अनुभूति ले रही थी कि उनकी वाणी सरस्वतीकी स्वच्छन्द विहारभूमि बन गई। और फिर वही भद्र-वाणी स्वयं स्फूर्त होकर शब्दब्रह्म बन गई। वह स्वयंभू-स्तोत्र स्वयंभू नामके समान अबाधित रहा प्रभाचन्द्राचार्यके शब्दोंमें यह स्तोत्र 'निःशेषजिनोक्तधर्म' है, 'असम' अद्वितीय स्तोत्र है। यह स्तोत्र सच्चे साधकोंके लिये 'नन्दादीप' है। समन्तभद्रसे जब पूछा गया कि अर्हत्भक्ति-पूजन-अर्चनादिकके लिये आरंभादि सावद्य क्रिया करनी पड़ती है तब भक्तिसे पाप ही पुण्यके बदले मिलेगा? इस शंकाका समाधान समन्तभद्र स्वयं सुन्दर दृष्टान्त देकर करते हैं—

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषायनालं कणिकाविषस्य न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ॥

यह वाक्य जब अंतःकरणको स्पर्श करता है तब भगवच्चरणारविंदमें अपना मस्तक सहज ही नत हो जाता है। समन्तभद्र कहते हैं कि जिनोंकी भक्तिका जिनोंके लिये कुछ प्रयोजन नहीं क्योंकि वे स्वयं वीतरागी हो गये हैं। और न निन्दाका ही कुछ प्रयोजन है, क्योंकि वे 'विवान्तवैर' हो चुके हैं; प्रयोजन तो स्वयं साधकके लिये अनिवार्य है। 'पुण्य-गुण-स्मृति' ही साधकके चित्तका दुरित-पाप धो सकती है।

इस स्तोत्रकी दूसरी एक खास विशेषता यह है कि स्तोत्र द्वारा जैसे स्याद्वाद-अनेकान्तका तत्त्व दिखलाया है, उसी तरह अपने चरित्र पर कुछ प्रकाश डालने वाले शब्दोंका उपयोग भी किया गया है। यहाँ उसके कुछ प्रमाण दिये जाते हैं।

१. आदिनाथ-स्तुतिके तीसरे श्लोकमें 'भस्मसात्क्रियाम्' का उपयोग।
२. संभव-स्तुतिमें—'रोगैः संतप्यमानस्य' और वैद्यकी उपमा 'जिन' को देना।
३. 'व्याहृतचन्द्रप्रभः' के समान चन्द्रप्रभ-स्तोत्रका दूसरा श्लोक।
४. पार्श्वनाथस्तोत्रमें—तमाल-नील (कृष्णा नदी) भीमाका उल्लेख जो जन्मस्थल है। और 'फणामंडल' 'नाग' 'वनौकस' जो उनका पितृदेश था। चन्द्रप्रभस्तुतिके समयतो प्रसिद्ध ही व्याहृतचन्द्रप्रभः वचन है। इन्हें बंध-रचना और कविता-कुशलताकी ऋद्धि प्राप्त थी। प्रत्येक ग्रन्थमें स्तुतिका पुट देकर साथमें तत्त्वकी बुनाई की गई है। और खास ध्यान इस बात पर जाता है कि व्याधिमुक्त आनन्दसे इस स्तोत्रके अंतमें 'मे, मम, मादृश, मह्य, मयी आदि शब्दों द्वारा वर, अनुग्रह, कृपा माँगी है।

पू० पं० जुगलकिशोर जीके शब्दोंमें 'यह ग्रंथ स्तोत्रकी पद्धतिको लिये हुए है, इसमें वृषभादि जिनोंकी स्तुति की गई है, परन्तु यह कोरा स्तोत्र नहीं, इसमें स्तुतिके बहाने जैनागमका सार एवं तत्त्वज्ञान कूट कूट कर भरा हुआ है।'

आप्तमीमांसा (न्यायकी नींव)

ग्रंथका नाम अन्वर्थसंज्ञक है। अर्हत्-आप्तकी मीमांसा तर्क, युक्ति, आगम, परम्पराकी कसौटी पर की गई है। इसीसे समंतभद्र 'परीक्षेक्षण' तथा बड़े कठोर परीक्षाप्रधानी तार्किक कहे जाते थे। कोरी श्रद्धा जब विरोधी आंदोलनमें अंधश्रद्धाका रूप लेने लगी तब इन्होंने श्रद्धाको कसनेके लिये युक्ति-न्यायका सहारा लिया था।

महावीर आप्तकी महानता-विषयक जब शंका उठाई गई तभी इन्होंने उनकी आप्त-विषयक महानताका मूल्यांकन मार्मिक, महत्वपूर्ण, और युक्ति-न्यायसंगत वचनोंके द्वारा किया। इन्होंने कहा कि दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषा स्त्यतिशायनात्' । यही एक हेतु सर्वज्ञता सिद्ध करनेमें पर्याप्त है।

'संसारमें कोई आदमी सर्वज्ञ नहीं था, हो सकता नहीं और नहीं है, ऐसा कहने वाले मीमांसकादि मतों और भाव एकांतवादी सांख्य, जो सर्वथा भावतत्त्वका हठ लेकर अभावको छिपाना चाहते हैं, सर्वथा एकांतवादी पर्यायनिष्ठ बौद्ध आदि सबकी बड़ी तर्ककठोर मीमांसा करके उनका निराकरण किया है। प्राग्-प्रध्वंस-अन्योन्य-अत्यंत इन चार अभावोंका समर्थन सप्तभंगी न्याय-द्वारा करके आप वीरको जतला रहे हैं कि 'न च कश्चित् विरोधोऽस्ति मुनीन्द्र तव शासने'। सप्तभंगी न्यायसे वीरशासन समृद्ध है।

अद्वैत एकांतवादी वेदांतिक, जो ब्रह्म अद्वैत मानते हैं, और शब्दाद्वैतवादी संवेदनाद्वैतवादी बौद्ध, इनका निराकरण बड़ी खूबीके साथ 'अद्वैतं न विना द्वैतात् अहेतुरिव हेतुना'—अद्वैत द्वैतके विना रहता ही नहीं,—इत्यादि वाक्योंके द्वारा किया है और साथ ही यह प्रतिपादन किया है कि यदि सर्वथा अद्वैत का हठ लिया भी जाय तो बंध-मोक्ष, कर्म-फल, लोक-परलोक विद्या-अविद्या आदि की सारी व्यवस्था झूठ ठहरेगी।

यदि सर्वथा द्वैतवादी, पृथक्त्व एकांत वादी—नैयायिक-वैशेषिक और बौद्धका हठ पूरा किया जाय तो उन्हींके सम्मत सन्तान-समुदायके लोपका प्रसंग आजायगा। अपेक्षा तथा अनपेक्षा कथञ्चित् है। आत्मा सर्वथा कूटस्थनित्य है ऐसा सांख्यका हठ लिया जाय तो पुण्य-पाप, बंध-मोक्ष, इह-परलोक कुछ नहीं बन सकेगा। सर्वथा अनित्य पर्यायवादी बौद्धका एकान्त माननेमें हिंस्य-हिंसक और सन्तानक्रम बिगड़ जाते हैं। उनकी विकल्पोंकी चतुष्कोटि कल्पना भी हवामें उड़ जायगी। सर्वथा अवाच्यतत्व ही वाच्यके विना असम्भव ख-पुष्पके समान है। प्रत्यभिज्ञानसे नित्यसिद्धि और काल-भेदसे अनित्यसिद्धि दिखलाकर एक वस्तुकी एक समयमें होनेवाली उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप तीन अवस्थाओंका वर्णन करके 'घट-मौलि-सुवर्णार्थी' तथा 'पयोव्रती' के सुन्दर और सुयोग्य दृष्टान्तसे समझाया है।

सर्वथा भेदवादी वैशेषिक जो कार्य-कारण, गुण-गुणी, सामान्य-विशेष, अवयव-अवयवी, आश्रय-आश्रयी ये सब सर्वथा भिन्न मानकर समवायसे एक मानते हैं इनका, परमाणु नित्य कथनका, कार्य-कारणका तादात्म्य मानने वाले सांख्योंका निराकरण एक सुन्दर कारिकाके द्वारा करके स्वमतकी सिद्धि की है। यह कारिका तो मानो आप्तमीमांसाका ध्रुवपद ही है—

'विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥

सारे ग्रन्थमें कमसे कम १०।१२ वार इसी कारिका द्वारा उभय और अवाच्यता एकांतका निराकरण किया है।

अन्तमें अनेकान्तका सुन्दर और परिष्कृत स्वरूप दिखलाया गया है—

द्रव्य-पर्यायोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः।
परिणाविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥
संज्ञा-संख्या-विशेषाच्च स्वलक्षण विशेषत.।
प्रयोजनादि-भेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥

द्रव्य और पर्याय कथंचित् एक हैं, सर्वथा भिन्न नहीं, इसमें परिणाम, संज्ञा, संख्या, विशेष आदि हैं। इस प्रकार विविध मतोंका खण्डन करके अन्तरङ्ग-बहिरंग तत्त्व, दैव-पुरुषार्थ, पुण्य-पाप-आस्रव की सिद्धि कथंचित् अनेकान्त-द्वारा की गयी है। और अन्तमें नयोंकी सार्थकता इतनी संक्षेपमें तथा योग्य शब्दों-द्वारा बतलायी गयी है कि एकांतवादियोंकी सारी गुत्थियाँ सहजही सुलझ गई हैं। जैसे कि—

'निरपेक्षाः नयाः मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।'

सापेक्ष नयोंका, स्याद्वादका इतना सूक्ष्म सुन्दर, परिमार्जित, और मार्मिक वर्णन कहीं भी नहीं मिलेगा।

इस ग्रन्थकी प्रत्येक कारिका सूत्रके समान अर्थ-गौरवसे ठोस भरी है। क्योंकि आगे विद्यानन्द-अकलंक वसुनन्दी आचार्योंके द्वारा अष्टसहस्री, अष्टशती, वृत्ति लिखी जाने पर

भी यह ग्रन्थ दुरूह, दुर्बोध बना हुआ है। अर्हत् आप्तकी मीमांसा करने पर अन्तमें अर्हत् ही आप्त सिद्ध होते हैं। अर्हत्के सिवाय और कोई सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो सकता। समन्तभद्रकी परीक्षाप्रधान-दृष्टिमें अर्हत् सर्वज्ञ सिद्ध होने पर इन्होंने उस आप्तप्रणीत शासनको ही निर्दोष तथा सत्य बतलाया है। और उसका ही 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थके द्वारा विस्तृत विवेचन किया है।

युक्त्यनुशासन (वीरका सर्वोदयतीर्थ)

महावीरकी स्तुतिका पुट लेकर स्याद्वाद-अनेकान्तकी सिद्धिगर्भित यह स्तोत्र है। इसमें वीरशासनका बड़ी युक्तिसे मण्डन तथा वीर-विरुद्ध-मतोंका खण्डन किया गया है। ग्रन्थके केवल ६४ पद्योंमें सारा जिनशासन भर कर 'गागरमें सागर' की उक्ति चरितार्थ की गई है। प्रत्येक पद्य अर्थ-गौरव-पूर्ण है। युक्ति-न्याय-द्वारा किया गया अन्यमतका निराकरण मार्मिक तथा यथार्थ हुआ है। इसीलिये इनके वचन मुक्तामणिसे वीरशासनका मूल्य हजार गुना बढ़ जाता है।

समन्तभद्र 'युक्त्यनुशासन' शब्दका स्पष्टीकरण अपने ही शब्दोंमें इस प्रकार कर रहे हैं :—

'दृष्टागमाभ्यामविरुद्धमर्थप्ररूपणं युक्त्यनुशासनं ते'

प्रत्यक्ष और आगमसे अविरोधरूप जो अर्थका अर्थसे निरूपण है वही युक्त्यनुशासन है।' इस ग्रन्थमें मुख्यतः भौतिकवादी चार्वाकोंका निराकरण बड़ी कठोर आलोचना करके किया है। साथमें वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध, नैयायिक, वैदिक आदि दर्शनोंका निराकरण बड़ी खूबीके साथ करके अनेकांत-स्याद्वादकी सिद्धि की है। एकान्तवादी, कदाग्रही जब वीर-शासनको समदृष्टिसे देखेंगे तब तुरन्त ही वे खण्डित मान-शृङ्ग होकर उनकी अ-भद्रता शीघ्र ही स-मंतभद्रताके रूपमें बदल जायगी। वीर-जिनका शासन सभी एकान्तवादी अन्तोंका—धर्मोंका—उदय करने वाला सर्वोदय तीर्थ है।

ग्रन्थके अन्तिम श्लोकमें इस स्तोत्रका उद्देश्य कहा है कि इस ग्रन्थकी निर्मिति न राग से हो रही है, और न द्वेष से; किंतु जो लोग न्याय-अन्यायको पहचानना चाहते हैं, वस्तु स्वरूपका गुण-दोष जानना चाहते हैं—उनके लिये यह स्तोत्र खास तौर पर 'हितान्वेषणके उपाय' स्वरूप है।

स्तुति-विद्या ('स्तोत्रसाहित्यकी चरमसीमा')

स्तुतिविद्या या जिन शतक चित्रकाव्य तथा बंधरचना-कौशल्यकी एक बड़ी देन है। उस समय चित्रकाव्य तथा शतकोंका उदय हो रहा था। स्तोत्र शतक—सौरलोकमें किसी खास विषयको रचना करना एक सम्मान गौरवकी बात हो गई थी। भर्तृहरि जैसे महा कवियोंके नीति शतक आदि प्रसिद्ध ही हैं। समन्तभद्रने भी जिनशतकके बहाने जिन स्तुति की है। मुरजादि चक्रबंधकी रचनासे इसमें चित्रकाव्यका पाण्डित्य चमक उठा है। सारे काव्यकी अंत-र्बाह्य-कला इसमें फूट-फूट करके बह रही है। इसमें भाव-सौंदर्य तथा उससे भी अधिक रचना-कौशल एवं चित्र-काव्यालंकार भरा हुआ है। स्वयम्भू स्तोत्रके समान चौबीस-जिनोंकी स्तुति इसमें की गई है। पर यह कोरी अलङ्कार प्रधान स्तुति नहीं है, बल्कि तत्वज्ञानसे परिष्कृत है, काव्य-से सुशोभित हैं और बीच-बीचमें परमतोंका खण्डन तथा समन्त-सिद्धिको भी लिए हुए हैं।

इस प्रकार यह पद्यबद्ध बंधरचना एक विशिष्ट विद्वत्ता पांडित्य एवं विविध-कला-कुशलताकी द्योतक है। कहा जाता है कि यंत्रबद्ध रचनासे विशिष्टशक्ति प्राप्त होती है। शायद वह शक्ति प्रगटानेके लिए ही इस अमूल्य कृतिकी निर्मिति हुई हो।

रत्नकरण्डश्रावकाचार—समन्तभद्रकी श्रावकधर्मको एक बड़ी ही मूल्यवान देन है। इस रत्नके करण्डमें श्रावकोंका सारा आचार संनिहित है। कुन्द-कुन्दसे उमास्वामी तककी श्रावक धर्मकी परम्परा इन्हींके द्वारा निर्बाध एवं अखण्ड रखी गई है। इसीसे यह 'अक्ष-य्यसुखावह' ग्रंथ कहा गया है। धर्मकी परिभाषा, सत्यदेव-गुरु-शास्त्र, आठ अंग, तीन मूढता, मदोंका निराकरण, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, अनुयोगोंका स्वरूप, सयुक्तिक चारि-त्रकी आवश्यकता, श्रावकव्रतोंके अतिचार, ११ प्रतिमाओं तथा सल्लेखनाका इतना सुन्दर और परिमार्जित वर्णन अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। इसकी खास विशेषता यह है कि श्रावकोंके अष्टमूलगुणोंका सर्वप्रथम वर्णन इसीमें मिलता है, तथा इसीमें अर्हत्पूजनको वैयावृत्यके अन्तर्गत किया गया है। पूजनको श्रावकव्रतोंमें गर्भित करनेवाले ये ही पहले आचार्य हैं। दूसरी खास विशेषता यह है कि पंचाणुव्रतों पांचपापों तथा चार दानों एवं पूजनमें प्रसिद्धि पाने वाले व्यक्तियोंका नामोल्लेख इन्होंने किया है। और तीसरी एक विशेषता यह है कि इन्होंने गृहस्थोंका दर्जा बढ़ाया है—मोही मुनिसे निर्मोही श्रावककी श्रेष्ठता घोषित की है। श्रावकधर्म पर इतना मार्मिक एवं सुन्दर विश्लेषण स्वतन्त्र ग्रन्थमें दिखलानेवाले सबसे पहले ये ही आचार्य हुए हैं।

यह ग्रन्थ मानों श्रावक धर्मको प्रकाशित करने वाला तेजस्वी सूर्य है।

समन्तभद्रके ग्रन्थोंकी एक खास विशेषता यह दिखती है कि अपने सभी ग्रन्थोंके इन्होंने दो दो नाम दिये हैं। एक प्रायः ग्रन्थारम्भमें उल्लिखित और दूसरा ग्रन्थके मुख्य विषयानुसार-अन्वर्थसंज्ञक। जैसा कि लेखके प्रारम्भमें बताया गया है।

दोनों आचार्योंके सामान्य विषय और विशेषता

संसारमें अवयव-समानता तथा मनुष्यजन्म पानेसे सभी मनुष्योंके लिए एक ही मनुष्यसंज्ञा है। परन्तु सारे मनुष्योंमें से प्रत्येकका व्यक्तित्व पहचाननेवाली सूरत अलग अलग ही होती है। अभिन्नत्वमें भिन्नत्वकी विद्यमानता तथा भिन्नत्वमें अभिन्नत्वका अस्तित्व ही अनेकान्त-स्याद्वाद धर्म कहलाता है सामान्य दृष्टिसे हमारे दोनों आचार्योंने जिन-शासनका ही प्रतिपादन किया है; किन्तु अपनी-अपनी विशेषता लेकर। क्योंकि दोनोंका समय, परिस्थिति, समाजकी माँग और व्यक्तित्व, रुचि अलग अलग थी। इतना होने पर भी दोनोंका विषय परस्पर अविरोधी तथा एक ही सूत्रमें बँधा हुआ है। समन्तभद्रने प्रायः कुन्दकुन्दका ही तत्व कहीं विस्तारसे कहीं संक्षेपसे बतलाया है।

यहाँ पर ऐसे ही चुने हुए कुछ सामान्य विषयों पर परस्पर विशेषता दिखलानेकी चेष्टा की जायेगीः—

१. सर्वज्ञसिद्धि या परमात्मसिद्धि—यह दोनों ही आचार्योंका विषय और उद्देश्य था। भ० कुन्दकुन्दके समय तर्क तथा न्यायकी आवश्यकता इतनी नहीं थी। अहत्‌श्रद्धा अनुभूति तथा निजभावनासे सर्वज्ञता सिद्ध हो जाती थी। सर्वज्ञता परमात्मत्वकी चरमावस्था है। बहिरात्म-अवस्थासे उठ कर अन्तरात्मोन्मुख बनके जीव परमात्माका अवलोकन कर सकता है। कुन्दकुन्दके समय 'जो एगं जाणइ सो सव्वं जाणइ' अर्थात् जो एक आत्माको जानता है वह सब कुछ जाननेमें समर्थ है—इत्यादि वचन सर्वज्ञता-साधक थे। परन्तु तर्क युगमें इन वचनोंका जैसा चाहिये वैसा उपयोग नहीं हुआ। समन्तभद्रने सर्वज्ञता-सिद्धिके लिये सुन्दर हेतुकी योजना अपनी आप्तमीमांसामें की है।—

सूक्ष्मांतरित-दूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः ॥५॥

अनुमानसे सर्वज्ञसिद्धि करना इस युगकी विशेषता थी।

कुन्दकुन्दने 'आत्मा जाननेसे सब जाना जाता है' कहा है। पर आत्मा कब जाना जायगा? वे स्वयं इसकी तालिका देते हैं, जैसे कि—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त-गुणत्त-पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहं खलु जादि तस्स लयं॥
—प्रवचनसार ८०॥

कुन्दकुन्दने आत्माकी सर्वज्ञता सिद्ध करके नित्यवादी सांख्य और क्षणिकवादी सुगतोंका खण्डन किया है। आत्मद्रव्यकी सिद्धि पर्याय तथा द्रव्यसे की गई है। इसके अलावा समन्तभद्रने जो आत्मा अर्हत् बन चुकी है उसीमें आप्तत्वकी—सर्वज्ञत्वकी सिद्धि की है। अरंहतके सिवाय और दूसरेकी सर्वज्ञता सिद्ध ही नहीं हो सकती, वही सर्वज्ञ है— इस तरहकी सिंहगर्जना अपने सारे स्तुतिग्रन्थोंमें की है। वे प्रखर तार्किक, प्रचण्डवादी तथा प्रकांड वाग्मी थे। उन्होंने स्थान-स्थान पर भ्रमण करके अर्हद्‌विना अन्यको आप्तकी मान्यता देनेवाले सब वादि-प्रतिवादियोंको—परास्त किया है।

एक बात पर गलत धारणा है कि देव तथा अरंहतके लिये 'आप्त' शब्दका व्यवहार सबसे प्रथम समन्तभद्रने ही किया है। इस तरह पं० कैलाशचन्द्र शास्त्रीने आप्तपरीक्षा-के प्राक्कथनमें पृष्ठ ६ पर लिखा है। परन्तु कुन्दकुन्दने भी अरहंत तथा देवके लिए 'अत्तागमतच्चाणं' जैसे पद-द्वारा आप्त शब्दका व्यवहार नियमसार की ५वीं गथामें किया है। अन्य स्थल पर भी उनके द्वारा 'आप्त' शब्दका व्यवहार किया गया है। बाकी दोनोंको सर्वज्ञता और निर्दोषता कर्मोंसे रहित ही मान्य है।

२. रत्नत्रय-निरूपण—व्यवहार तथा निश्चय रत्नत्रयका निरूपण दोनों आचार्योंने किया है। परन्तु कुंदकुंदका विषय आध्यात्मिक तथा सैद्धांतिक होनेसे निश्चय रत्नत्रय पर ही अधिक जोर दिया गया है। सभी सारग्रन्थों, प्राकृत ग्रंथों पंचास्तिकाय आदिमें इसीकी गहरी छाया है। इसके अलावा समन्तभद्रके सारे ग्रंथ श्रावकधर्म और अरहंतभक्तिकी प्रधानता लेकर हैं; इसलिये जहाँ तहाँ व्यवहार रत्नत्रयका निरूपण है।

कुंदकुंदने निश्चय रत्नत्रयका निरूपण करनेके लिये आत्मतत्वको केन्द्रबिन्दु बनाया। आत्मतत्व पर श्रद्धा 'दर्शन' है, आत्मतत्वको द्रव्य-पर्यायसे जानना ज्ञान'है और आत्मामें स्थिर होना 'चारित्र' कहा है। व्यवहाररत्नत्रयका निरूपण वे एक गाथामें करते हैं:—

'जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं, तेसिमधिगमो णाणं।
रायादिपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥
समय० १३४।

ये लक्षण समन्तभद्रके लक्षणोंसे मिलते-जुलते हैं। पर एक बात पर ध्यान अवश्य जाता है कि जहाँ कुंदकुंदने नियमसारमें आप्त-आगम-तत्त्व इन तीनोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है वहां समन्तभद्रने तत्त्वके लिये तपोभृत्-गुरुको कहा है। [दोनों गाथाएँ आगे असमान सूचीमें देखो]

कुन्दकुन्दने निश्चय रत्नत्रयका निरूपण विस्तारसे किया है, इसकी प्राप्ति ही जीवका उद्देश्य बतलाया है; परंतु समंतभद्रने व्यवहार रत्नत्रयका निरूपण विस्तारसे किया है। निश्चयका निरूपण समंतभद्रके ग्रंथोंमें नहींके बराबर हैं। कुन्दकुन्दके निश्चयरत्नत्रयके स्वतंत्र ग्रंथ प्राभृतत्रय कहे जाते हैं। किंतु दोनोंका लक्ष्य रत्नत्रयकी प्राप्ति होने पर भी रुचि-भिन्नतासे ग्रन्थमें मुख्य-गौणता विषयकी करदी गई है। बाकी कुछ भेद नहीं दिखता।

३. न्यायकी झलक तथा उपयोग—कुन्दकुन्दके पहले तत्त्वचर्चा तथा वाद-विवाद अवश्यही होते थे और उनमें युक्ति-आगम तथा परम्पराका उपयोग किया जाता था। परन्तु खास युक्ति न्याय-शास्त्र पर स्वतन्त्र रचना नहींके समान थी। श्री कुन्दकुन्दके प्रवचनसार जैसे सैद्धान्तिक ग्रंथमें तक युक्तिपूर्ण दार्शनिकताकी झांकी स्पष्ट है। परन्तु उसमें प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाणके भेद पाये जाते हैं तथा सप्तभंगीका निरूपण संक्षेपसे पाया जाता है। पर न्यायशास्त्रकी हेतु अनुमानादिकके रूपसे प्रगति नहीं हुई थी। उमास्वामीकी कड़ीने कुन्दकुन्द तथा समन्तभद्रकी शृङ्खला साधी थी, उमास्वामीने न्यायोपयोगी सामग्री तथा सप्तनयों-की निर्मिति की है।

उमास्वामीके अनन्तर समंतभद्रने सबसे पहले 'न्याय' शब्दका व्यवहार किया तथा न्याय-ग्रंथ लिखा है। आप्तकी स्तुतिके बहाने अद्वैतवाद, नित्यएकांतवाद, भेद एकांतवाद तथा अभेदएकांतवाद आदि सभी एकांतवादियोंकी बड़ी कड़ी आलोचना करके युक्ति न्यायसे अनेकांतवादकी स्थापना तथा उपेयतत्त्वके साथ-साथ उपायतत्त्व आगम और हेतुमें अने-कांत गूंथकर स्याद्वादको स्थिर किया है। उस समय आगम हेतुसे सर्वथा अलग होगया होगा। इसीसे समंतभद्र-को हेतुवादकी कसौटी पर आप्तको कसना पड़ा।

जैन न्यायकी जड़ तो समन्तभद्रसे ही शुरू होती है। इन्होंने खास तौर पर जैनदर्शनमें न्यायका प्रतिष्ठापन किया है। तथा सप्तभंगीको स्थिर बनाकर दर्शनशास्त्रकी प्रत्येक दिशामें उसका व्यावहारिक उपयोग किया है। प्रमाणका दार्शनिक लक्षण तथा फल बतलाया, श्रुतप्रमाणको स्याद्-वाद कहा तथा उसके अंशको नय। सम्यक्-सुनयों तथा मिथ्या-दुर्नयोंकी व्यवस्था की है। इन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि अनेकान्त भी एकान्तयुक्त होना चाहिये, नहीं तो वह सर्वथा अनेकान्त होकर व्यभिचरित होगा।

कुन्दकुन्दके समय तर्क प्रणाली या न्यायशास्त्रका इतना विकास नहीं हुआ था, तो भी समंतभद्रकी आप्त मीमांसा प्राय: कुन्दकुन्दकृत और प्रवचनसारकी नींव पर ही खड़ी है। उन्हींकी समभूमि पर ही समंतभद्र प्रत्येक तत्त्वको न्यायकी तुलामें तोलते हैं। प्रमाणसे अबाधित आप्त की ठीक-ठीक सिद्धि करके उन्होंने शेष सारे आप्तोंकी प्रमाण-बाधा दिखलाई है।

४. सप्तभंगी, अनेकान्त या स्याद्वाद तथा नय—

इन सबकी देन समंतभद्रको कुन्दकुन्दसे मिल चुकी है। कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित सप्तभंगीका विस्तार ही समन्तभद्र-ने अपने स्तोत्र-ग्रंथोंमें किया है। अर्हत्-जिनोंकी स्तुति भी स्याद्वादसे गुम्फित है। परन्तु सप्तभंगीका उल्लेख कुन्दकुन्दके प्रवचनसार और पंचास्तिकायोंमें संक्षेपमें ही पाया जाता है। यथा—

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्व मदि पुणो दव्वं
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥
प्रव० २. २३

सिय अत्थि णत्थि उहयं अवत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥ पंचा० १४

प्रश्नके अनुसार वस्तुमें प्रमाणाविरोधि विधि-प्रतिषेधकी कल्पनाको सप्तभंगी कहते हैं। आगमग्रंथोंमें 'सिय अत्थि, सियणत्थि, सिय अवत्तव्व' रूपसे तीन ही भंगोंका निर्देश है। सर्वप्रथम आचार्य कुंदकुंदके ग्रंथोंमें हमें सात भंगोंके दर्शन होते हैं। वस्तुतत्त्व अखंड, अनिर्वचनीय तथा अनंत-धर्मा है। इस स्थितिके अनुसार अस्ति, नास्ति तथा अवक्तव्य ये तीन ही मूलभंग हो सकते हैं, आगेके भंग तो वस्तुत: कोई स्वतंत्र भंग नहीं है। कार्मिक भंगजालकी तरह द्विसंयोगी रूपसे तृतीय, पंचम तथा षष्ठ भंगका आविर्भाव हुआ तथा सप्तमभंगका त्रिसंयोगीके रूपमें। तीन मूल भंगोंके अपुनरुक्त भंग सात ही हो सकते हैं। इसीका विस्तार समन्तभद्रने

आप्तमीमांसामें किया है। हाँ, यह ठीक है कि जहाँ समंतभद्रने इसका स्पष्ट रूपसे विशद वर्णन किया है वहाँ कुंदकुंदने केवल उनके नामोंका ही निर्देश किया है।

अनेकान्तके बारेमें समन्तभद्रने सिंहके समान गर्जना करके कह दिया है कि सर्वथा एकांती ही स्व-पर बैरी हैं :—

'एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्व-पर-वैरिषु।'

प्रत्येक वस्तुमें अनेक अंत-धर्म होते हैं। वस्तुका स्वभाव तर्कका विषय नहीं, 'स्वभावोऽतर्कगोचरः' ऐसा आप्तमीमांसामें कहा है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य तीनोंका अविनाभाव कुन्दकुन्दने कहा है, समंतभद्रने पृथक्-अपृथक् एक-अनेक, नित्य-अनित्य, भाव-अभावके रूपमें अनेकांतवादको बतलाया है। दोनोंका उद्देश्य वस्तुस्वरूप कहना ही है—केवल दोनोंके कहनेका तरीका भिन्न ज्ञात होता है। तत्त्वके लिए कुंदकुंद द्रव्य शब्दका व्यवहार करते हैं। और अस्ति-नास्ति रूपसे उसकी सिद्धि करते हैं समन्तभद्र तत्त्वका विधि-निषेध रूपसे प्रतिपादन करते हैं इस तरह केवल कहनेका तरीका भिन्न है। कुंदकुंद तत्त्वका स्वरूप कहते समय भूतार्थ-अभूतार्थ और द्रव्य-पर्यायका उपयोग करते हैं; पर समन्तभद्र उसे सामान्य-विशेष, विवक्षित अविवक्षित, मुख्य-गौण और अर्पित-अनर्पित शब्दों द्वारा कहते हैं। कुंदकुंदके ग्रंथमें बार बार निश्चय तथा व्यवहारका उपयोग मिलेगा। समंतभद्र उसीके लिये भेद-अभेद कहते हैं। तत्त्व स्याद्वाद ही है—अनेकान्त रूप ही है यह बात समंतभद्रने अपनी स्तुतियोंमें सिंहनादके साथ कही है। इस प्रकार दोनों आचार्योंमें सप्तभंगी-स्याद्वाद-अनेकांतकी सिद्धि करते समय अपनी-अपनी खास विशेषता है, पर यह विशेषता एक दूसरेकी विरोधी नहीं।

सापेक्ष नयोंकी सार्थकता समंतभद्रने इतनी सयुक्तिक तथा यथार्थ कही है कि निरपेक्ष नयोंका कदाग्रह रखने वाली वृत्ति समूल नष्ट हो जाती है। उन्होंने कहा है कि—

'मिथोऽनपेक्षाः नयाः स्व-पर प्रणाशिनः।'

'परस्परेक्षा नयाः स्वपरोपकारिणः॥'

स्व-पर-नाश तथा स्व-पर-उपकारके सिवाय हानि-लाभ और क्या है? अंतमें उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि अनेकांत भी यदि एकांत-निरपेक्ष हो तो वह मिथ्या ही है—

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नय-साधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्॥

इस प्रकार सापेक्षवादकी घोषणा समन्तभद्रने की है। पर हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि यह सारा वृक्ष विस्तार कुन्दकुन्दके बीजांकुरसे ही हुआ है।

५. चारित्र—रत्नत्रयके सिवाय चारित्र पर भी दोनों आचार्योंने काफी प्रकाश डाला है। चारित्र संपन्न ही मनुष्य वीर-शासनका अधिकारी हो सकता है। चारित्रके दो भेद दोनों आचार्यों द्वारा मान्य हैं एक सकलचारित्र अथवा मुनिचारित्र; दूसरा देशचारित्र अथवा श्रावकचारित्र। कुन्दकुन्दके सभी ग्रन्थोंमें मुनिचारित्रका विस्तार है। प्रवचनसारका एक खास अधिकार, नियमसार, चारित्रभक्ति, चारित्रपाहुड—सबमें प्रधानतया मुनिचारित्रकी सभी छोटी बड़ी बातें कहीं हैं।

समन्तभद्रके ग्रन्थोंमें मुनिचारित्रका व्यवस्थित निरूपण नहींके बराबर है, यों सांकेतिक एवं सूचना रूपमें उन्होंने स्वयंभूस्तोत्रमें बहुत कुछ कह दिया है; जैसे कि उसकी प्रस्तावनामें मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके द्वारा विश्लेषित करके रक्खे हुए 'कर्मयोग' प्रकरणसे जाना जाता है। उन्होंने श्रावकधर्म पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ निर्माण किया। क्योंकि यह उस समयकी एक मांग थी। कुन्दकुन्दके समय लोगोंका झुकाव मुनिप्रवृत्तिकी ओर अधिक होगा। शायद मुनिचारित्रको स्थिर और अचल बनानेके लिये ही उन्हें मुनिधर्म विस्तारसे कहना पड़ा।

समंतभद्रके समयमें वादियोंका स्वमतकी स्थापना तथा उसे सुदृढ़ बनानेका आंदोलन चला था। मुनिप्रवृत्ति शिथिलाचारी बनने लगी थी। और सबसे पहले श्रावकधर्मकी आवश्यकता ज्ञात होने लगी। समंतभद्रको श्रावकधर्मका नवोन्मेष-पुनरुज्जीवन करना पड़ा। इसके अलावा मुनि-श्रमण धर्मकी स्थिरता तथा प्रभावना कुन्दकुन्दने की है। मार्ग-प्रभावना उनका लक्ष्य था तो भी श्रावकधर्मका निरूपण कुन्दकुन्दके चारित्रपाहुड और भावपाहुडमें मिलता है। कुछ औपचारिक भेद दोनोंके निरूपणमें है। कुन्दकुन्द बारह व्रतोंका पालन करने वालोंके लिए 'श्रावक' संज्ञा देते हैं—

पञ्चेव णुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवन्ति तह तिण्णि।
सिक्खावय चत्तारिसंजमचरणं च सायारं। चारित्र पा०२३

समन्तभद्र अष्टमूलगुणोंका पालन करनेवालेको 'श्रावक' कहते हैं—

मद्यमांसमधुत्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः॥ रत्न० ६६

श्रावकोंकी ग्यारह प्रतिमाओंका नामनिर्देश कुन्दकुन्दने किया है, समंतभद्र द्वारा विस्तार हुआ देखा जाता है।

बारहव्रतोंके शिक्षाव्रतसम्बन्धी भेदोंमें सल्लेखनाका नाम कुन्दकुन्दने बतलाया है; परन्तु समन्तभद्रने यह सोचकर कि मरणसमय धारण की जाने वाली सल्लेखनाका जन्मभर यम-नियम रूपसे कैसे पालन किया जायेगा, श्रावकव्रतोंमें सल्लेखनाकी उपेक्षा करके उसकी आवश्यकता कहनेके लिये सल्लेखना पर स्वतंत्र अधिकार लिखा और उसका विस्तारसे निरूपण किया है। एक और विशेषता दोनोंके श्रावकधर्ममें है और वह यह कि कुन्दकुन्दने व्रतोंकी स्थिरता करनेके लिए पांच पांच भावनाएँ कही हैं और समंतभद्रने उमास्वामीकी तरह व्रतोंका निर्दोष पालन होनेके लिए प्रत्येक व्रतके पांच पांच अतिचार कहे हैं।

जिस तरह श्रावकाचारके सिवाय, समंतभद्रके सभी ग्रंथोंमें अनेकांत स्याद्वादन्याय समाया हुआ है उसी तरह कुन्दकुन्दके सभी ग्रंथोंमें निश्चय मोक्षमार्ग और मुनिचारित्रकी छटा दिखाई देती है। परंतु दोनों आचार्यों द्वारा प्रतिपादित चारित्र अविरोधी है तथा वीरशासनके सूत्रमें गूँथा ही हुआ है।

अनुप्रेक्षा—इसका विचार समंतभद्रके ग्रंथोंमें प्रायः नहींके बराबर है। अनुप्रेक्षा नित्यभावना अंतरंग विशुद्धिकी चीज़ है। समन्तभद्रके बुद्धिप्रधान दार्शनिक, वैचारिक तथा तार्किक दृष्टिमें भावना अनुप्रेक्षाको इतना बड़ा और प्रकट स्थान नहीं मिलने पर भी उनके परिणामोंकी विशुद्धि एवं भद्रता स्तोत्रके चरण-चरणमें प्रतिबिम्बित होती है। और ऐसा भी नहीं कि उन्होंने अनुप्रेक्षाके विषयमें कुछ भी न कहा हो—वे रत्नकरण्डकी—

अशरणमशुभमनित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम्।
मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायंतु सामयिके।

इस कारिकाके द्वारा अशरणादि भावनाओंके चिंतनकी श्रावकों तकको स्पष्ट प्रेरणा करते हैं। कुन्दकुन्दका 'बारसाणुपेक्खा' नामक स्वतंत्र ग्रंथ है। अनुप्रेक्षाका उद्देश्य पण्डित दौलतरामजीके शब्दोंमें 'वैराग्य उपावन माई, चिंत्यो अनुप्रेक्षा भाई।' इस वाक्यमें संनिहित है। और वस्तुतः अनुप्रेक्षाका अधिकारी मुनि सकलव्रती ही हैं। वे बड़े भाग्यवान तथा संसार-भोगसे विरक्त होते हैं।

अर्हत्भक्ति या सिद्धभक्ति—

दोनों आचार्योंके उपास्य अरहंत देव तथा सिद्ध भगवान हैं। कुन्दकुन्दने नियमसारमें परमभक्ति अधिकार तथा दश भक्तियां लिखी हैं। वह भक्ति सरल एवं विशुद्ध चित्तसे बहती है। समंतभद्रकी अर्हत्भक्ति तो उनकी नस-नसमेंसे फूट रही है। श्रावकाचारके सिवाय बाकीके सारे स्तोत्रग्रंथ तरहका दार्शनिक तथा तात्विक पुट लेकर अंतर्बाह्य भक्तिसे आप्लावित हैं। कुंदकुंदकी भक्ति निश्चय स्वरूपकी होनेसे परमार्थकी ओर ले जानेवाली है, समंतभद्रकी भक्ति व्यवहार मार्गकी तथा आगे तीर्थंकर प्रकृतिबंधके रूपमें सातिशय पुण्य प्राप्त करने तथा परम्परासे मोक्ष पाने वाली है। कुन्दकुन्दने सबसे पहले रत्नत्रयभक्ति कही है और उसे करनेवाला जीव निवृत्ति पाता है।

सम्मत्तणाण चरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदि भत्ती होदि जिणेहिं पण्णत्तं॥

उन्होंने आगे कहा है कि व्यवहारनयकी प्रधानतासे मोक्षगामी पुरुषोंकी—तीर्थंकरोंकी—भक्ति करनी चाहिये। वे उपसंहार में कहते हैं:—

उसहादिजिणवरिंदा एवं काऊण जोगवर भत्तिं।
णिव्वुदि सुहमावण्णा तम्हा धरु जोगवरभत्तिं॥

अपने भक्ति-पाठोंमें आपने सिद्ध, श्रुत, चारित्र, योगी, निर्वाण, नंदीश्वर, शान्ति, तीर्थंकर, पञ्चपरमेष्ठी इन सबकी भक्ति विस्तारसे की है। समन्तभद्रकी भक्ति सिर्फ मुनिश्रमणोंके लिये नहीं, बल्कि श्रावकके लिये भी है। वृषभादि चौबीस जिनोंकी भक्तिमें उनकी आत्मा इतनी तन्मय हो गई थी कि उन्हींके शब्दोंमें उन्हें यह एक व्यसन हो गया था। जिनभक्तिका उद्देश्य उन्होंने कितने ही स्थलों पर प्रगट किया है। वे कहते हैं—'तथापि भक्त्या स्तुतपादपद्मो ममार्य देयाः शिवतातिमुच्चैः'। आपकी भक्तिमें मुझे कल्याणपरम्पराका सामर्थ्य मिल जाय। और भी जो कुछ कह रहा हूँ वह 'पुनानि पुण्यकीर्तेर्नस्ततो ब्रूयाम किञ्चन'। आपका नामोच्चारण हमें पवित्र करे इसलिये कुछ कहता हूं। अर्हत्जिनके 'वीतरागी' तथा निर्वैर हो चुकनेसे उन्हें स्तुति-पूजा तथा निन्दासे कुछ मतलब नहीं है। उनका पुण्य-गुण-स्मरण ही चित्तका दुरित-पाप नष्ट करनेमें समर्थ है।

दोनों आचार्योंकी भक्तिमें यह एक खास विशेषता है

कि कुन्दकुन्दने अरहंतादि सु'भत्ती···'सुहजुत्ता हवे चरिया' अर्हत् भक्ति शुभोपयोगका पुण्य बांधने वाली, प्रशस्त राग-रूप बतलायी है—जो एक तरहका बंध ही है। यह भक्ति पुण्य बंध बहुत देगी परन्तु कर्मोंका क्षय करनेमें असमर्थ है इस तरह कुन्दकुन्द स्पष्ट कहते हैं:—

'बंधदि पुण्णं बहुसो ण दु सो कम्मक्खयं कुणदि।'

'सिद्धेसु कुणदि भत्तिं णिव्वाणं तेण पप्पेदि' पंचा.१६६

इसीलिये कुन्दकुन्दकी परिणति पुण्य-पापसे निरपेक्ष होकर, शुद्ध निश्चय परमात्माकी तथा सिद्धभक्तिकी ओर अधिक ज्ञात होती है। इसके अतिरिक्त समन्तभद्रको अर्हद्भक्तिकी ही लगन लगी थी। वे शुभोपयोग सातिशय पुण्य बंधके लिये चाहते हैं; जो परम्परासे मुक्तिका ही कारण कुन्दकुन्दने ही कहा है।

'सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपओ तस्स॥ १७०॥

इसीलिये समन्तभद्र पूजन-अर्चनादि कर्ममें सावद्य लेश होने पर भी परवाह नहीं करते। यह सावद्यलेश 'बहु-पुण्य राशिके' सामने नहीं के बराबर है। इस प्रकार यह कहना अनिवार्य हो जाता है कि समन्तभद्रकी भक्ति शुभोप-योगयुक्त थी; जहाँ कुंदकुंदकी भक्ति शुद्धोपयोगकी थी।

दूसरी विशेषता यह कि जो भक्ति कुंदकुंद दशभ क्तयोंमें सौ श्लोकों-द्वारा करते हैं वही भक्ति समन्तभद्र एक श्लोक द्वारा दिखलाते हैं। यथा—

सुश्रद्धा मम ते मते स्मृति रपि त्वय्यर्चनं चापि ते।
हस्तावञ्जलये कथाश्रुतिरतः कर्णोऽक्षि संप्रेक्षते।
संस्तुत्यां व्यसनं शिरोनति परं सेवेदृशी येन ते।
तेजस्वी सुजनोऽहमेव सुकृती तेनैव तेजःपते।

कितनी गाढ़ भक्तिकी यह उत्कटता! शरीरका एक भी अवयव वे जिनभक्ति के विना खाली रखना, दूसरे काममें लगाना पसन्द नहीं करते। इस एकही पद्यमें कुन्दकुन्दकी सारी भक्तियोंका भाव भरा हुआ है। उदाहरणके तौरपर 'कथाश्रुतिरतः' वाक्य श्रुतिभक्तिका द्योतक है, 'हस्तावंजलये:' शब्द उन योगियों-अनगारोंका है जिनके पास भक्तिके लिये अपने अंग हस्तावंजलिके सिवा और कुछ नहीं है, द्योतक है। 'स्तुत्यां व्यसनं' तो तीर्थंकर भक्ति ही है—जो इन्होंने विस्तारसे अन्य ग्रंथोंमें की है। इस प्रकार कुन्दकुन्दकी भक्ति विस्तारसे भक्ति-पाठोंमें जैसी बहती है उसीके भाव समन्तभद्र एकही श्लोकमें व्यक्त करके गागरमें सागर भरने-की कुशलता दिखाते हैं।

समंतभद्रकी अर्हत्भक्ति करनेका और भी एक कारण यह है कि उनकी भावना अर्हत्के समान बनने की है। इस-लिये वे बारबार कहते हैं 'जिनश्रियं मे भगवान् विध-त्ताम्'। कुन्दकुंदकी भक्तिमें भावोत्कटता,विचार-तर्क परी-क्षिकताकी अपेक्षा अधिक है। उनकी भावभक्ति-गंगापर चित्तकी सरलताका सौंदर्य झलक रहा है; इसके अलावा समंतभद्रकी भक्ति धूपकी रोशनीके समान प्रखर तेजःपुञ्ज है। उसमें विचार परीक्षा, तत्त्वनिष्ठा, स्वाभिमान और गाढ़-श्रद्धाका प्रचण्ड सामर्थ्य एक प्रकारसे कूट-कूटकर भरा है। एकके भक्तिरसमें अपनी आत्मा शीतल, शान्त चंद्रकिरणोंका आनंद लेती है, तो दूसरेकी भक्तिके प्रखरतेजसे आँखें चकाचौंधिया जाती हैं और मस्तक नत हो जाता है और अंतः करणकी सारी प्रवृत्तियां जागृत हो उठती हैं।

पुण्य-पाप-व्यवस्था—

अर्हद्भक्ति जब एक शुभोपयोग–प्रशस्तराग है—जिसका आलंबन केवल अशुभोपयोगसे छुटकारा पाकर शुद्धोपयोगकी ओर बढ़नेके लिये है; तब शुद्धोपयोग ही ग्राह्य है शुभोपयोग उसके सामने हेय त्याज्य है। शुभोपयोग सातिशय पुण्य बंधका कारण होकर परंपरासे मुक्तिका कारण कहा है।

कुन्दकुन्दके समयसारमें पुण्य-पापका एक स्वतंत्र अधिकार है। पुण्य-पाप शुभा शुभपरिणामोंसे परिणमता है। लेकिन ये दोनों पुण्य-पाप सुवर्ण लोहश्रृङ्खलाके समान जीवको बंधनमें ही डालने वाले हैं। समयसारमें कुन्दकुन्दने पुण्य-पाप बंधका कारण तथा पुण्य-पापातीत वीतराग अवस्थाही मोक्षका कारण कहा है। समन्तभद्रने यही बात दूसरे शब्दोंमें आप्तमीमांसाके पुण्य-पापाधिकारमें बतलायी है। पुण्य-पापके बारेमें वे कहते हैं कि परमें दुखोत्पादनसे न सर्वथा पाप होता है और सुखो-त्पादनसे न सर्वथा पुण्य अन्यथा अचेतन पदार्थको भी पुण्य-पापका फल मिलना चाहिये? परंतु यह देखनेमें नहीं आता। और यदि इससे विपरीत माना जाय तो वीतरागियोंको भी बंध होना चाहिये था; पर होता नहीं। समंतभद्रने पुण्य-पापकी व्यवस्था आप्तमीमांसामें बड़ी मार्मिक तथा रहस्यपूर्ण की है। वे कहते हैं:—

विशुद्धि संक्लेशाङ्गं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखम्।

पुण्यपापास्रवो युक्तो न चेद् व्यर्थ स्तवार्हतः ॥

सुख और दुःख यदि विशुद्धिका अंग हो, यानी कारण-कार्य-स्वभावमें किसी एक रूप हो तो पुण्यास्रवः और सुख-दुःख यदि संक्लेशका अंग-कार्य-कारण-स्वभावमें किसी एक रूप हो तो पापास्रव है। इन्होंने पुण्य-पापके लिये विशुद्धि और संक्लेश शब्द रखे हैं। अष्टसहस्रीकार विद्यानंदने विशुद्धिमें धर्म-शुक्लध्यान अंतर्गत किये हैं। आर्त-रौद्र ध्यानोंको संक्लेशके भीतर रखा है। इससे विशुद्धिमें शुभ तथा शुद्ध दोनों भावोंको अंतर्गत करनेकी समंतभद्रकी व्यवस्था विशेष है। कुंदकुंदने पुण्य और पापको बंध-कारण होनेसे विशुद्धावस्थाको दृष्टिसे त्याज्य कहा है। लेकिन दोनोंके लिये पुण्य-पुण्यास्रव पुण्यबंधका कारण और पाप-पापास्रव-पापबंधका कारण है।

जहाँ कुंदकुंदने पुण्य-पापकी व्यवस्था शुद्ध-निश्चय, अशुद्ध व्यवहारदृष्टिसे की है वहाँ समन्तभद्रने पुण्य-पापकी कथंचित् अस्ति-नास्ति रूप, उभय अनुभय रूप, वक्तव्य-अवक्तव्य रूप, सहार्पित-क्रमार्पितकी दृष्टिसे व्यवस्था की है।

निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध—

जीव-कर्मका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध समयसारके कर्ताकर्मके अधिकारमें बतलाया गया है। यह भूल नहीं जाना चाहिये कि कुंदकुंदके सारे ग्रन्थ अध्यात्म-प्रधान हैं और उनमें निश्चयकी प्रधानता है। जीव-परिणामके निमित्तसे पुद्गलोंकी कर्मरूप पर्याय होती है। तथा पुद्गलोंके निमित्तसे जीव रागादिरूप परिणमता है। जीव और पुद्गल दोनोंके ही निज-उपादान पर-निमित्तरूपमें कदापि बदल नहीं सकते। ऐसा दोनोंका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। जीव उपादानकी दृष्टिसे निज भावोंका कर्ता-भोक्ता है, न कि कर्मोंका। यह कुंदकुंदकी कर्तृत्व-अकर्तृत्व दृष्टि है। इसका मतलब यही है कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमनमें उपादान है, दूसरा निमित्त है—इसीसे केवल निश्चय दृष्टिसे परनिरपेक्ष शुद्ध-आत्मस्वरूपके निमित्तका कुन्दकुन्दने विचार किया है।

इसी द्रव्य स्वरूपका निरूपण आगे समन्तभद्रने किया है। अध्यात्मशास्त्रके अनुसार कुन्दकुन्दने वीतरागी-शुद्ध परिणतिकी ओरसे जानेके लिये, निमित्तका अहंकार नष्ट करनेकी दृष्टिसे उपादानका समर्थन जोरदार किया है, और उपादानकी जड़ दृढ़ की है। अन्यथा कर्तृत्वजन्य-अहंकारवृत्ति हटना कठिन हो जाता है। अनेकान्त-प्रणेता समन्तभद्रने कार्योत्पत्तिके लिये दोनों ही कारण निमित्त उपादान सिर्फ आवश्यक ही नहीं, बल्कि अनिवार्य कहे हैं: 'यथा-कार्यं बहिरन्तः उपाधिभिः' बाह्य-अभ्यंतर दोनों कारणोंसे कार्य होता है। उन्होंने और भी स्पष्ट कहा है—

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेः, निमित्तमभ्यंतर-मूलहेतोः
अध्यात्मवृत्तस्य तदंगभूतं, अभ्यंतरं केवलमप्यलं ते

मूल अभ्यंतर तथा बाह्य कारणके बिना अकेला जीव-द्रव्य-परिणमन गुण-दोषकी उत्पत्तिमें समर्थ नहीं। सहकारी कारण उपादानके समान ही कार्यकारी है। इसी बातको समन्तभद्र और भी पुष्ट करते हैं।

'अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं, हेतुद्वयाऽऽविष्कृत कार्यलिंगा

हेतुद्वय–निमित्त उपादान या अंतरंग-बहिरंग कारणोंसे आविष्कृत-प्रगट होने वाली भवितव्यताकी-कार्यशक्ति अलंघ्य है। आगे और भी अधिक स्पष्ट कहते हैं कि मोक्ष भी सहकारी कारणोंके बिना असम्भव है। बाह्य-इतर उपाधि या निमित्त-उपादान द्रव्यगत स्वभाव ही है। जैसे कि—

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथामोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम्

यदि दोनों आचार्योंका उपर्युक्त उद्देश्य ठीक उनके ही दृष्टिकोण परसे समझनेका यत्न किया जाता तो श्री कुंदकुंदके नाम पर निश्चय एकान्तका जो दोष मढ़ा जाता है वह धोया जाकर वस्तु-स्वरूपका यथार्थ और समीचीन ज्ञान होगा। हमें भूल नहीं जाना चाहिये कि कुंदकुंदने सूत्रद्वारा जो सिद्धांत कहे हैं निश्चयकी प्रधानता लेकर जो कुछ कहा है—उसीका कथन-विस्तार अनेकान्तकी दृष्टिसे समंतभद्रने किया है।

कुंदकुंदके मतसे अध्यात्ममें जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है उसीका स्पष्टीकरण सप्तभंगी न्यायके द्वारा समन्तभद्रने किया है।

दोनोंकी दृष्टिमें अन्तर—

इन दोनों आचार्योंके यदि उपलब्ध ग्रंथ देखे जायँ, तो कुंदकुंदका ग्रंथ विस्तार समंतभद्रसे कई गुना अधिक है। ग्रंथका विषय देखा जाय तो समंतभद्रका विषय कुंदकुंदके विस्तीर्ण और विशाल उपवनके चुने हुए दो तीन गुलदस्ते

हैं—जिसकी महकसे सारा उपवन गूंज उठा है। कुंदकुंद आत्मवादी, अध्यात्मशील, अनुभूतिशील होनेसे उनका सारा कथन निजआत्माकी उन्नतिके लिये है। समंतभद्र समष्टिवादी, प्रचंड तार्किक, और चतुर वाग्मी होनेसे इनका सारा कथन सामष्टिक दृष्टिकोणसे हुआ है, कुंदकुंद अपना विषय विस्तारसे निरूपण करते हैं, पर समन्तभद्र वही विषय समास—संक्षेपसे कहते हैं। भ० कुंदकुंदने अपना विषय मुख्यतः आगम जिनाज्ञा, दृढ श्रद्धा, तथा अनुभूतिके बल पर निरूपित किया है। पर समंतभद्र निरे आज्ञाधारी ही नहीं थे बल्कि वे तो 'परीक्षण' तार्किक थे। इसलिए उन्होंने प्रत्येक तत्त्वकी सिद्धि युक्तिन्याय तथा अनेकांतकी कसौटी पर कसी है। उनके पास न्यायतुला होनेसे प्रत्येक बात संतुलन करके रखी गई है।

कुंदकुंदने 'आदा' आत्मा शब्दको मध्यबिंदु बना कर मानो आत्माके मधुर गीत सुनाए हैं। किन्तु समन्तभद्रने अपनी निर्दोष वाणीके निनादसे परमतके दृढ दुर्गोंको उखाया है। कुंदकुंदकी अनुभूति भावना और सम्वेदनाको लेकर उमड़ती है। समन्तभद्रको बुद्धि तर्कनिष्ठ विचारोंका बल लेकर योद्धाके समान खड़ी हो जाती है और स्याद्वादकी गर्जनामें मानो एकांतकी आवाज सुनाई ही नहीं देती।

एक महत्वकी बात यह है कि इस प्रकार दोनोंका दृष्टिकोण भिन्न भिन्न ज्ञात होने पर भी दोनोंकी दृष्टि अन्त में एक ही स्थान पर केंद्रित होती है—वह स्थान है वीर-शासन। हाँ यह बात दूसरी है कि, कुन्दकुन्द जो बात कहीं विस्तारसे कहते हैं वही बात समन्तभद्र संक्षेपसे कहते हैं और जो कुन्दकुन्द सूत्र रूपेण कहते हैं समन्तभद्र उसीका विस्तार करके उसका मूल्य हजार गुना बढ़ा देते हैं। दृष्टि-कोणमें अन्तर इतना ही है कि कुन्दकुन्द निश्चय पर जोर देकर प्ररूपण करते हैं और समन्तभद्र उसीके पूरक व्यव-हारकी सार्थकता न्यायके दृष्टिकोणसे दिखलाते हैं। इस प्रकार कुन्दकुन्दका अध्यात्मिक, निश्चय, शुद्ध दृष्टिकोण है और समन्तभद्रका व्यवहारमय तार्किक-न्याय दृष्टिकोण है। परन्तु दोनों का अन्तिम साध्य एक ही है।

दोनों द्वारा प्रतिपादित जिनशासन एक है

दोनोंके सामान्य विषय तथा परस्पर विशेषता देखते समय दोनोंमें कुछ औपचारिक भेद ज्ञात होता है। यह औपचारिक भेद कुछ विशिष्ट परिस्थितियों तथा कालादिके अनुसार हुआ है। लेकिन जिनशासनकी परम्परा तो महावीर भगवानसे समन्तभद्र तक तथा उनके पीछे भी अविरोध-रूपसे अविच्छिन्न बह रही है।

जिनोक्त सूत्रका आश्रय लेकर ही सभी आचार्योंने अपने वचन-मणियोंको गूँथा है। यदि यह सूत्र-डोरा नहीं मिलता तो इनके द्वारा केवल छिद्र ही छिद्र दिखाई देते आज जो हम वीरशासनकी सुन्दर शृंखला बद्ध एकरूपता प्राचीन कालसे देख रहे हैं वह प्रायः अशक्य, असम्भव ही हो जाती। (औपचारिक भेद पीछे दिखाया है, सारा जिन-शासन कुन्दकुन्दने सैद्धांतिक, आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे कहा है वही बात समन्तभद्रने तात्त्विक भूमिका लेकर स्तुतिके बहाने कही है, उनकी दृष्टिमें तार्क-न्यायसे युक्त विश्लेषण है।

जिनशासन-प्रतिपादनकी शैली-साधन एवं दोनोंके पास अलग अलग थे, पर साध्य दोनोंका एक ही है। इसीलिये दृष्टिकोणमें चाहे जितना ही अन्तर क्यों न हो, वह कदापि मौलिक अन्तर नहीं कहा जाता। और न साध्य भिन्न-स्वतन्त्र कहा जा सकता है। सारा अन्तर विषयकी गौण-मुख्य-दृष्टिसे औपचारिक ही रहता है। क्योंकि दोनों आचा-र्योंने 'जिनागमस्य इति संक्षेपः' 'जिनैःरुक्तम्' जिणवरैः कथितम्, णिद्दिट्ठं, भणियं आदि वाक्यों-द्वारा जिनशासन-परम्पराका अनुयायित्व ही प्रकट किया है। दोनों आचार्योंने जिन शासनका मण्डन तथा उसकी सिद्धि करके परमतको परास्त किया है। हाँ, इतना भेद अवश्य है कि कुन्दकुन्दके ग्रंथोंमें न्याय तर्क अन्तर्निहित-गर्भित है—जैसे बादल पानीसे भरे हुए होते हैं। इसके अतिरिक्त वही न्याय सम-न्तभद्र-द्वारा प्रस्फुटित होकर पानीके समान बरसाया गया है, अभिव्यक्त हुआ है। विशिष्ट कालादि परिस्थिति इसका कारण है।

अन्यमतोंका निराकरण करते समय दोनों अपना अपना तत्त्व प्रतिपादन करते हैं। परन्तु कुन्दकुन्द 'जिन्हें जिनमत मान्य नहीं उन्हें 'मिच्छाइट्ठी' 'अनार्हत' कहते हैं। समन्तभद्रकी तार्किकवृत्ति कठोरशब्द-चुनौती है। उन्होंने चार्वाकको—'आत्मशिश्नोदरपुष्टितुष्ट' बौद्धको 'विभ्रांत दृष्टि' तथा वैदिकको वैतंडिक' आदि विशेषणों-द्वारा गलित-मान बनाया है। गौण मुख्यका अंतर पाने पर भी दोनों द्वारा प्रतिपादित जिनशासन एक ही है अविरोधी है। साध्य एक ही होनेसे कथन शैलीकी भिन्नता उन्हें अलग अलग नहीं बनाती। इससे जिनशासनका मूल्य बढ़ता ही है। जैसे कि एक कविने कहा है—

'इक्षोर्विकाररसपृक्तगुणेन लोके पिष्टाधिकांमधुरतांमुपयाति'

दोनोंकी शैली-विशेषता —

Style is the man 'शैली और व्यक्ति भिन्न नहीं,' ऐसा कहा जाता है। परन्तु इन दोनों आचार्योंका व्यक्तित्व इनके ग्रंथोंमें इतना स्पष्ट नहीं होता जितना कि और दूसरे लेखकोंका अपनी काव्य आदि कृतियोंमें देखा जाता है। क्योंकि दोनोंके ग्रंथ अध्यात्मप्रधान तात्विक तथा सैद्धांतिक हैं। लेकिन यहाँ पर स्थूलदृष्टिसे उनकी भाषा, कथन-पद्धति शैलीवैशिष्ट्यका विचार किया जाता है। इससे दोनोंके दृष्टिकोणका अंतर अधिक स्पष्ट होगा।

कुन्दकुन्दकी भाषा प्राकृत ही है। थोडा सा गद्य भी भक्ति पाठोंमें प्राप्य है। गद्यके सिवाय पद्य भाग बहुत है। समंतभद्रकी भाषा संस्कृत है—उनका गद्य कहीं भी नहीं मिलता। वे वस्तुतः कवि थे. उनका संस्कृत भाषा पर कितना प्रभुत्व था यह जिनशतककी बंधरचना तथा विविधवृत्तोंसे ज्ञात होता है। संस्कृत भट्टिकाव्य नैषधचरितके समान इनकी काव्य-कला परिमार्जित एवं दुर्बोध है।

कुन्दकुन्द कविप्रकृतिके थे, उनमें कवित्व अभिज्ञान था—उसे कभी उन्होंने बाह्य छंद, वृत्त, बंध इत्यादि द्वारा प्रगट करनेका प्रयत्न ही नहीं किया। 'सुन्दरमार्ग' का रास्ता सहज स्वयं उस मार्ग परसे जाते समय बिना प्रयास दिखलाया है। उनका वाणी-प्रवाह शान्त, शीतल, मंद-मंद वायुके समान बहता है। समन्तभद्रकी वाणी वीरश्रीसे भरी हुई हमेशा वादियोंको ललकारनेके लिये तैयार है। समंतभद्रकी प्रवृत्तिमें राजस प्रकृतिका तेज प्रस्फुरित हो रहा है, किंतु कुन्दकुन्दमें सात्विक प्रकृतिकी झाँकी है। समंतभद्रकी वाणी का सिंहनाद सुन कर सारे वादी अपनी निर्बलता, अ-भद्रता खो देते हैं और एक तरहकी समीचीन समन्तभद्रता-ही पाते हैं।

दोनों आचार्योंकी जिनशासन-सेवा तथा लोक-सेवा

दोनोंकी भाषा सहज स्फूर्त तथा अधिकारी है—उसमें निजभाव प्रभावित करनेकी शक्ति है। दोनोंके साहित्यमें व्यावहारिक दृष्टान्त पानेसे समय, समाज, परिस्थितिका प्रतिबिम्ब पाते हैं। जैसे कुंदकुंद विष-वैद्य, राजा-सेवक, शिल्पिकार आदि दृष्टांत जीव-पुद्गल संबंध समझानेके लिये देते हैं। समंतभद्रने मौलि, कुम्हार, व्रती, राजा, वैद्य आदिके दृष्टांत दिये हैं।

कुन्दकुन्दकी शैली सरल और प्रसादमय है—उपमा, दृष्टांतोंका इतना सरल उपयोग और वैपुल्य अन्यत्र क्वचित् ही मिलेगा। उदाहरणके तौर पर—

चंदेहि णिम्मलयरा, आइच्चेहिं अहियपहा 'सत्ता'
सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु॥

सिद्धोंका वर्णन इतना सुन्दर और काव्यमय, सरल और कहाँ है? समन्तभद्रकी शैली तथा भाषा पांडित्यपूर्ण है, पर जरा दुरूह और जटिल ज्ञात होती है।

कुन्दकुन्द अपने कथनमें बार बार 'कधं एगं? कधं जाइ?, कधं होइ? ऐसे प्रयोग करके प्रश्नका उत्तर पाठकोंके मुँहसे ही निकाल कर अपने भाव उनके दिल पर अंकित करते हैं। समन्तभद्र भी उदाहरण देकर 'मुरजः किमपेक्षते? 'कः सेवते' आदि प्रश्नोंके द्वारा समस्याका समाधान पाठकोंसे ही करा लेते हैं। वे उदाहरण भी बड़े मार्मिक देते हैं।

कुंदकुंदमें समंतभद्रके समान पांडित्य, रचना कौशल्य, विद्वत्ता प्रचुरता नहीं दिखती; तो भी कुन्दकुन्दकी गाथामें एक तरहकी निराली कुशलता प्रगट होती है जैसे कि—

णिण्णेहा णिल्लोभा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा।
णिब्भय णिरासभावा पवज्जा एरिसा भणिया॥

प्रत्येक पदका प्रारम्भ एक ही अक्षरसे है। इससे गाथाकी मधुरता, बढ़ गई है और उच्चारणकी मंजुल ध्वनि कानोंमें गूंजती है। दोनोंके कथनसे शालीनता, नम्रता और विनय प्रगट होता है। वे बार बार कहते रहे हैं—जो कुछ मैं कह रहा हूँ, वह न मेरा है. न निरी कल्पना-मात्र है' वह सब वीर शासन है 'तवैव,' 'तवजिनशासनं इदं' इन शब्दोंसे समन्तभद्र पुकारते हैं; और कुन्दकुन्द 'भासणं 'हि वीरस्स 'सासणं सव्वं' आदि शब्दोंसे अपना अभिप्राय प्रकट करते हैं।

इन दोनों महान् आचार्योंकी शैलीका इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टिसे अध्ययन किया जा सकता है, परन्तु उनकी शैलीमात्र उनकी भव्य-आत्मा नहीं बन सकती।

संक्षेपमें कुन्दकुन्दकी शैलीमें झरनेका शांत बहना, चाँदकी शीतलता तथा आम्रफलोंकी मधुरता है—जिसका गान दिन रात सुना जाय, जिसकी चन्द्रिकामें कितना ही समय बिताया जाय और जिनका सुस्वाद प्रतिदिन लिया जाय—तो भी मनुष्य ऊब नहीं सकता। इसके अतिरिक्त समन्तभद्रका

शैलीमें योद्धाकी वीरता, सूर्यकी तेजस्विता, तथा सत् शुभ कृत्योंकी प्रखरता अधिक ज्ञात होती है—जिन्हें पाकर जीवनमें अदम्य उत्साह प्रगट होता है। अनेकान्त दृष्टिका तेज झलकता है, और एक प्रकारकी कृतकृत्यता आती है।

दोनों आचार्योंकी जिनशासन-सेवा तथा लोक-सेवा

'सेवाधर्मो परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।'

महान् योगियोंके लिये भी सेवाधर्म असिधाराव्रत है। ऐसा होने पर भी दोनों आचार्योंका जीवनवृक्ष जिनशासन-सेवा तथा लोक-सेवाके फलोंसे लबालब भरा हुआ है। आगम-परम्परा तथा जैनधर्म संस्कृतिका संरक्षण करनेके लिये इन्होंने अमोल सेवा-योग दिया है—जिसका खास प्रमाण उन्हींके अमर ग्रंथ हैं।

आजसे कोई ढाई हजार वर्ष पहले भ० महावीरने अपनी सातिशय दिव्य ध्वनिके द्वारा मोक्षका मार्ग बतलाया। उनके निर्वाणके बाद पांच श्रुतकेवली हुए। उनमेंसे भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे। उस समय तक द्वादशांग वाणीका प्रवाह निश्चयव्यवहार मार्गरूप अविच्छिन्न था। परन्तु आगे काल तथा परिस्थितिके दोषसे अंगज्ञानकी व्युच्छित्ति होने लगी और अपार श्रुत-सिंधुका बहुभाग सूखने लगा। इस परंपरामें अपनी वाग्ज्योति जगाने वाले कई आचार्य हो गये हैं। आ० कुन्दकुन्द भद्रबाहु श्रुतकेवलीके शिष्य थे—इन्होंने भी अपनी ज्योति इसी परंपरासे प्रज्वलित की है।

वीरका सारा शासन तो इन्हें नहीं मिला। परंपरासे बचा-खुचा जो मिला उसीकी सेवा इन्होंने जीवन भर की है। भारतके दक्षिण भागमें कर्नाटक-दिगबर-सम्प्रदाय अलग हो रहा था। श्वेताम्बरोंने गुजरातमें आगम-प्रभावना अपने पंथके अनुसार बढ़ा दी थी देश विभाग-संघात हो रहा था। ऐसी हालतमें मूल-आगम परंपराका रहना आवश्यक था। कुन्दकुन्दने नदिसंघ स्थापन करके उसे अनेक संघोंके साथ एक सूत्रमें बांधनेका काम किया है। ये महान् पद्मनन्दी आचार्य थे जिन्होंने अपने विरोधी कालमें परमागम रूप श्रुतस्कन्ध सम्हालनेका उत्तरदायित्व अपने शिर पर लिया था।

कुम्भकरोंके समान वे एक बड़े अन्वयकार थे। इनका एक स्वतन्त्र अन्वय आगेके आचार्योंने चलाया। वैदिक संप्रदायमें शंकराचार्य माधवाचार्य, रामानुजाचार्य ये सब अपनी आगम-वेद परम्परा स्थिर करनेमें लीन थे। ऐसी हालतमें कुन्दकुन्दने भी भ० महावीरसे चली आई श्रुत-परम्पराकी रक्षा वृद्धि अपनी कृतियाँ लिपिबद्ध करके की है। वे ही ग्रन्थ आज अनेक शतकोंसे अमर हुए हैं।

कुंदकुंदकी ज्योतिसे समंतभद्रने अपनी प्रतिभाकी ज्योति प्रदीप्त की है। श्रद्धासे काम न निभने लगा। वादियोंने तर्क न्यायका विकास दिखलाकर एक आंदोलन शुरू किया था। सिद्धांतको युक्ति आप्त तथा आगम कसौटी हो गयी थी। न्यायके बिना सिद्धान्त अंधा समझा जाने लगा था। इसीलिए समन्तभद्रको न्याय-तर्कका आलंबन अनिवार्य हो गया। उन्होंने न्याय-तर्क-युक्तिसे आप्तकी आप्ततत्वोंकी सिद्धि करके वीरशासनकी अमोघ सेवा की है। शासन-सेवाका मूल्यांकन करनेमें उन्हींके ग्रंथ समर्थ हैं—

लोक-सेवा—

दोनों आचार्योंकी लोक-सेवा अमूल्य है। समयकी लोगोंकी माँग demand क्या थी, दूसरी तरफ उन्हें विरोधका कितना सामना करना था तथा माँगको पूरा और विरोधका सामना करने वालोंके पास योग्यता किस कोटिकी थी—इन सब बातों पर उनकी सेवाका दर्जा तथा मूल्य आंका जा सकता है। कुन्दकुन्दने अध्यात्मका प्रभाव जनता पर डाला। मुनिधर्म-श्रमणधर्मकी ओर जनताकी प्रवृत्ति झुकाई। अध्यात्म रहस्य खोलनेकी चाबी, रत्नत्रय-मार्गका दीप और श्रद्धाका प्रकाश जनताको दिया है। समयकी माँग जो मुनिधर्म-तत्व-निरूपणकी थी वह सौटक्के पूरी की है। निश्चयको मुख्यता देना इसीलिये उन्हें अनिवार्य हो गया। इनकी योग्यताका यथार्थ मूल्यांकन आज निष्ठुर कालके आघातसे बचे हुए कतिपय ग्रन्थोंसे नहीं कर सकते। एक ऋद्धिधारी मुनि होकर आपने विदेह क्षेत्रमें साक्षात् सीमंधर भगवानकी कृपासे प्राप्त हुआ अपना ज्ञान भण्डार हमें रचनाबद्ध करके दिया है।

इनकी प्रत्येक कृति लोगोंके लिए एक परमोच्च अवस्था-मुनि अवस्थाका सत्य आदर्श है। इनकी सेवाका सच्चा मूल्यांकन इनके ग्रंथों पर टीकाएँ लिखने वाले महान आचार्योंने ही किया है। आज सोनगढ़की जनता पर इनका गहरा प्रभाव ज्ञात हो रहा है। कुन्दकुन्दसे समन्तभद्र तक की रेखा सूत्रकारोंकी है दोनोंकी कड़ियाँ जुटानेवाले उमास्वामी आचार्य हैं। समन्तभद्रने लोगोंकी सेवा युगप्रवर्तक बनके की है। इनके प्रभावसे गौरव पाने वाले आचार्योंने कहा है कि जब प्रचण्डवादी समन्तभद्र वादियोंके बीच आते, तब कुवादिजन नीचा मुख करके अंगूठेसे पृथ्वी कुरेदने लग जाते! इनके सामने प्रवादिरूपी पर्वत चूर-चूर हो जाते थे। समन्त-

भद्र एक बड़े वाग्मी गमक तथा तार्किक एवं त्यागी-योगी होनेसे लोगोंकी, समयकी माँगको उन्होंने अच्छी तरह पूरा किया है। परमागमका बीज, त्रिभुवनोंका गुरु जो अनेकान्त उसकी रक्षा वादियोंके झंझावायुसे करके इन्होंने वीरशासनकी बड़ी सेवा की है। इन्होंने वीरशासनका सर्वोदय-तीर्थ सारे प्रतिवादियोंको दिखलाया और कहा है—

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यचमिथोऽनपेक्षम्
सर्वापदामन्तकरं निरन्त, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥

इसी सर्वोदय-तीर्थकी प्रवृत्ति उनकी अनुपम-सेवा है। इसमें परस्पर विरोधी धर्म विधि-निषेध, द्रव्य-पर्याय, सामान्य-विशेष, एक-अनेक सभी धर्म अपनाए गये हैं। यह तीर्थ सर्व आपदाओंका अन्त-नाश करनेवाला, और सभी धर्मोंका उभय-मुख्य गौण रूपसे उदय करने वाला है। समन्तभद्रकी यह अमूल्य देन तथा सेवा उस समयके लोगोंसे आजके वैज्ञानिक तथा आधि भौतिक त्रस्त युग तक अत्यन्त महत्वकी तथा उपयोग की है।

उनकी योग्यता क्या थी इसका परिचय स्वयं इन्होंने राजसभामें दिया था, जो इस प्रकार हैः—

आचार्योहं कविरहमहं वादिराट पण्डितोऽहं।
दैवज्ञोहं भिषगहमहं मांत्रिकस्तांत्रिकोऽहं ॥
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया—
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्ध सारस्वतोऽहं ॥

इससें अहंकार या आत्माभिमानकी ऊक्ति नहीं है। अपि तु उनके उपलब्ध ग्रन्थोंसे कितने ही विशेषण यथार्थ सिद्ध हो चुके हैं। इतनी बड़ी योग्यता होने पर जब भस्मक व्याधिसे त्रस्त हुए थे तब इन्हें परधर्मी शैव आदि राजाओंका कुछ दिनके लिये आश्रय लेना पड़ा। शरीर स्वस्थ होने पर ही इनको सिद्ध सरस्वतीका वहाँके राजा तथा लोगों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि सबके सब इनके अनुयायी हो गये। कहा जाता है कि कुन्दकुन्दको भी गिरनारपर श्वेतांबरोंसे विवाद करके तत्त्वसिद्धि करनी पड़ी थी। परन्तु समन्तभद्र तो स्वयं अपने दक्षिणसे-उत्तर देश तकके (कांची-कन्हाड) विहारका परिचय पद्यमें देते हैं। वादार्थी होकर स्वयं भेरी बजाकर प्रतिवादियोंको आह्वान देना और अन्तमें स्याद्वादकी गर्जना करना इनका मुख्य काम था। इन्होंने दिग्विजय द्वारा वीर-शासनकी प्रतिष्ठा कायम करके अनेकांत और अहिंसाकी सेवा की है। सारे बिखरे हुए जैन समाजको एक सूत्रबद्ध करनेकी बड़ी भारी जिम्मेदारी इन्होंने अपने कंधों पर ली थी, जिसका प्रबल प्रमाण श्रावकाचार ग्रंथकी निर्मिति है। स्वय निश्चयमार्गका अवलम्बन करके (मुनिपदमें रहकर इन्होंने मानव-समाजका ध्यान अर्हत्भक्तिकी ओर आकृष्ट किया, और लोगोंको सच्चे शत्रु-पाप और सच्चे बंधु धर्मकी पहिचान कराकर ज्ञाता बनानेका यत्न किया है :—

'पापमरातिर्धर्मो बंधुर्जीवस्य चेतिनिश्चिन्वन्।
समयं यदि जानीते श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति ॥
(रत्न क०)

अपने शत्रु और बंधु की पहिचान बताकर ज्ञाता बनानेसे और अधिक लोक सेवा कौनसी है? वे कर्मयोगी ज्ञानयोगी और भक्तियोगी थे। कुन्दकुन्दकी सेवा वैयक्तिक आत्मा की सेवा कहलाती है। समंतभद्रकी सेवा समष्टिकी—समाजकी सेवा कही जाती है। इनके वचनामृतसे प्रभावित होने वाले आचार्योंने इनकी आप्तमीमांसा जैसी छोटीसी पर अनुपम और प्रौढ़ कृतीको अपने भव्य प्रासादकी नीव बनाया। अकलंकने अष्टशती लिखकर स्तम्भका सा आधार दिया। और वसुनन्दीने वृत्ति लिखकर, एकाएक पर्देके किवाड खोल दिये। श्री विद्यानन्दने अष्टसहस्री लिखकर तो प्रासाद शिखर ही पूर्ण किया है। यदि आप्तमीमांसाको 'गंधहस्ति महाभाष्य' की मंगल-प्रस्तावना समझी जाय, तो 'गंधहस्तीमहाभाष्य' किस कोटिका होगा, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। दुर्भाग्यसे इस अनमोल कृतिका लाभ हम लोगोंके नसीब नहीं। समन्तभद्रका गहरा प्रभाव तथा ऋण इनने प्रत्येक उत्तरवर्ती आचार्योंने इनका गुणगान करके स्तुत्य स्तोत्रसे उऋण होनेका प्रयत्न किया है।

इस प्रकार दोनों महाभागोंकी सेवामें एक विशेषता यह है कि दोनोंकी सेवाएँ भिन्न-भिन्न कोटिकी होकर भी दोनोंने स्व-पर-उन्नतिका यथार्थ मार्ग बतलाकर लोक-सेवा की है। और दोनोंके ही द्वारा वीर-शासनकी प्रभावना हुई है। क्योंकि 'न धर्मो धार्मिकैर्विना' उन्हींका वचन है। अज्ञान अंधकार तो 'रवि शशि न हरे सो तम हराय' इस उक्तिके अनुसार इतना दूर किया है कि आज तक भी वह जैन दर्शनके समीप फटकने नहीं पाता। जिन्हें इनकी सेवाका लाभ नहीं मिला, वे सच्चे मार्ग-राजमार्ग-से कोसों दूर भाग रहे हैं; और जिन्होंने अंतःकरण को धोकर और निर्मल कर

के लाभ लेनेका प्रयत्न किया है वे मुक्ति-सुखके समीप पहुँच रहे हैं। यदि दोनों आचार्योंकी शासन-सेवा तथा लोक सेवाके बारेमें यह रूपक दिया जाय तो इनकी सेवाकी कोटि (quality) तथा परिस्थिति (quantity) ठीक-ठीक ज्ञात हो सकेगी—

भद्रबाहु वृक्षको कुन्दकुन्दके अध्यात्म-रसने पल्लवित किया। उसीको उमास्वामीने अपने सुन्दर सूत्रोंसे पुष्पित किया और समन्तभद्रने स्याद्वाद अनेकान्त रूप सुमधुर फलोंसे उसे फलित किया, जिनकी सुस्वादमय सुगंध प्रत्येक भव्य जीवको अपनी ओर आकृष्ट कर रही है।

दोनों आचार्योंकी कुछ विषयोंमें समानता-असमानता-द्योतक वाक्य-सूची

कुन्दकुन्द	समन्तभद्र

१. सम्यग्दर्शन

कुन्दकुन्द	समन्तभद्र
अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं। नियम० ५	श्रद्धानं परमार्थानां आप्तागमतपोभृताम्। रत्न० ४

२. अठारह दोषोंके नाम

कुन्दकुन्द	समन्तभद्र
छुहतण्हभीरुरोसा रागोमोहोचिंताजरारुजामिच्चू।	क्षुत्पिपासाजरातंक जन्मांतकभयस्मयाः।
स्वेदं खेदमदोरइ विण्हिय णिद्दा जणुव्वेगो। नियम० ६	न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते॥ रत्न० ६

३. आप्त-लक्षण

कुन्दकुन्द	समन्तभद्र
णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुत्तो।	आप्तेनोत्सन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा॥ नियम० ७	भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥ रत्न० ५

४. आगमलक्षण

कुन्दकुन्द	समन्तभद्र
तस्स मुहग्गयवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।	आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट-विरोधकम्।
आगममिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।	तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥९
नियम ८	रत्न०

५. संयमाचरणके भेद और स्वामी

कुन्दकुन्द	समन्तभद्र
दुविहं संजमचरणं सायारं तह हवे णिरायारं।	सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम्।
सायारं सग्गंथे परिग्गह रहियं खलु णिरायारं चारि० २१	अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम्। रत्न० ४

६. पंचाणुव्रत नाम

कुन्दकुन्द	समन्तभद्र
थूले तसकायवहे मोसे अदत्त थूले य।	प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेय काममूर्च्छेभ्यः।
परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाणं। चारित्त २४	स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति। रत्न० ३

७. विकलचारित्र भेद

कुन्दकुन्द	समन्तभद्र
पंचेवणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि।	गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम्।
सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं।	पंचत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातम्॥ रत्न ५

८. त्रिगुणव्रतनाम

कुन्दकुन्द	समन्तभद्र
दिसिविदिसिमाणपढमं अणत्थदण्डस्स वज्जणं विदियं।	दिग्व्रतमनर्थदण्डव्रतं च भोगोपभोगपरिमाणम्।
भोगोपभोगपरिमा इयमेव गुणव्वया तिण्णि। चारि०	अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यांति गुणव्रतान्यार्याः।
	रत्न० ३६७—

कुन्दकुन्द	समन्तभद्र

९. चारशिक्षाव्रत

सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं। णइयं च अतिहिपुज्जं चउत्थ सल्लेखना अन्ते ॥ चारि०	देशावकशिकं वा सामयिकं प्रोषधोपवासो वा वैयावृत्त्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि। रत्न०

१०. सम्यग्दर्शन

जह मूलम्मि विणट्ठे दुमस्स परिवार णत्थि परीवड्ढी तह जिणदंसण भट्ठा मूलविणट्ठा ण सिज्झंति ॥ चारित्र० २६	न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव। रत्न० ३२

११. सम्यग्दर्शन महिमा

सम्म इट्ठी आवेदि सुरासुरे लोए।	अमरासुरनरपतिभि······नूतपादाम्भोजा०। रत्न०

१२. चारित्रलक्षण

रायादि परिहरणं चरणं। समय०	रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधु०। (रत्न०)

१३. शरीर स्वरूप और उससे वैराग्य

दुग्गंधं बीभत्थं कलिमलभरिदं अचेयणो मुत्तं। सडण-पडणसहावं देहं इदिचिंतये णिच्चं। अशुचि०	अजंगमं जंगमनेययन्त्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरम्। बीभत्सुपूतिक्षयितापकं च स्नेहो वृथाऽत्रेति हितं त्वमाख्यः स्वयं०

१४. सत्-असत् (भाव-अभाव)

भावस्य णत्थि णासो णत्थि अभावस्य चेव उप्पादो। गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए्हिं पकुव्वंति ॥ पंचा १६ एवं सदो विणासो असदो जीवस्य णत्थि उप्पादो।	सतः कथंचित्तदसत्वशक्ति, खे नास्ति पुष्पं तरुषु प्रसिद्धम्। सर्वस्वभावच्युतमप्रमाणं, स्ववाग्विरुद्धं तव दृष्टितोऽन्यत् नैवासितो जन्म सतो न नाशो ॥ स्वयम्भू ३०

१५. सप्तभंगी

अत्थि त्तिय णत्थि त्तिय हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं पज्जायेण दु केण वि तदुभय मादिट्ठमण्णं वा। प्रवच० २३	कथंचित्ते सदेवेष्टं कथंचित्तदसदेव तत्। तथोभयमवाच्यं च नययोगान्न सर्वथा ॥ आप्त० १

१६. उत्पादव्यय-ध्रौव्य

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्य। पज्जायेण दु केण वि अट्ठो खलु होदि सब्भूदो। प्रव०११६	स्थितिजनन निरोध लक्षणं, चरमचरं च जगत् प्रतिक्षणम् —स्वयंभू० ११४

१७. भव्य-अभव्य निर्देश

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं। गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥ मिच्छत्तछण्णदिट्ठी दुद्धी रागगहगहिभचित्तेहि। धम्मं जिणपण्णत्तं अभव्वजीवो ण रोचेदि ॥ भाव पा० १३८, ३६	शुद्धयशुद्धी पुनः शक्ती ते पाक्यापाक्यशक्तिवत्। —आप्त० १०० साद्यनादी तयोर्व्यक्ती स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥ आप्त०

१८. धर्मलक्षण

संसारतरणहेदू धम्मो त्ति। भाव० ८५ रयणत्तयजुत्तो धम्मो ॥ रयण०। २०—२०—	'संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे' ॥ 'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं' रत्न० ३

कुन्दकुन्द | समन्तभद्र

१९. दानफल

खेत्तविसेसे काले ववियसुवीयं फलं तहा विउलम्।
होइ तहा तं जाणइपत्तविसेसेसु दाणफलं। रयण० १७

क्षितिगतमिववटबीजं पात्रगतं दानमल्पमपि काले।
फलतिच्छायाविभवं बहुफलमिष्टं शरीरभृताम्। रत्न०११६

२० अहिंसाका आरम्भसे रहित होना

तस्सारंभ-नियत्तण परिणामो होइ पटमपढम्॥ नियम १६

न सा तत्रारंभोऽस्त्यणुरपि च यत्रा आश्रमविधौ॥
स्वयंभू० १२

२१ अनेकान्त-द्रव्यपर्याय

पज्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पज्जया णत्थि।
दोण्हं अणण्णभूदं भाव समणा परुविंति॥ पंचा० १२

अनेकमेकं च तदेवत त्वं भेदान्वयज्ञानमिदं हि सत्यम्।
मृषोपचारोऽन्यतरस्यलोपे तच्छेषलोपोऽपि ततोऽनुपाख्यम् स्वयम्भू०

२२. अंतरंग विशुद्धिके लिए बाह्य तपः

भावविसुद्धणिमित्तं बाहिरगंथस्य कीरए चाओ।
भावपा० ३

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाऽऽचरंस्त्वम्।
आध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्॥ स्वयंभू-कुंथु ३

२३. मोहीमुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ

ते च्चिय भणामिहं जे सयलकलाकलासील संजमगुणेहिं
बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो॥
भाव पा० १५३.

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः।
रत्न० १७

२४. आप्तकी परीक्षा पूर्वक स्तुति

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं॥ २८
तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणाहिहोंतिकेवलिणो।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि॥ २
णयरम्मि वण्णिदे जह ण रण्णो वण्णणा कदा होदि।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलि गुणा थुदा होंति॥ ३०
जो इंदिये जिणत्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू॥
समय०

देवागमनभोयानचामरादि वभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यंते नातस्त्वमसि नो महान्॥
अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादि महोदयः।
दिव्यः सत्यो दिवौकष्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः॥
तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः।
सर्वेसामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरुः।
दोषावरणया हीनिर्निशेषास्त्यतिशायनात्॥
आप्तमी०

इस प्रकार सूक्ष्म अध्ययनसे दोनों आचार्योंमें शब्द, वाक्य, पद, भाव, पद्धति आदि की उपेक्षा स्थान-स्थान पर साम्य पाते हैं। उदाहरणके तौर पर ऊपर कुछ साम्य-असाम्य सूचक वाक्य उद्धृतकिये गये है।

वीरसेवा मन्दिरमें श्रुतपञ्चमी महोत्सव

ज्येष्ठ शुक्ला पञ्चमी ता० २६ मईको श्रुतपञ्चमी पर्व स्थानीय दि० जैन लालमन्दिरमें सानन्द और सोत्साह मनाया गया। इस उत्सवकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि भगवान महावीरकी साक्षात् वाणीसे जिनका सम्बन्ध है अर्थात् जिनमें भगवान महावीरकी वाणीका सार भरा हुआ है उन आगम ग्रन्थोंकी प्रायः एक हजार वर्ष पुरानी जयधवल महाधवलकी प्राचीन ताडपत्रीय प्रतियाँ जो गत १२ दिसम्बरको देहलीके वार्षिक रथोत्सवके समय मूडबिद्रीसे मरम्मतके लिए लाई गई थीं, और जिनका शानदार जुलूस निकाला गया था। और जो भारतीय ग्रन्थ रक्षागार (नेशनल आरकाईव्ज आफ़ इण्डिया) से जीर्णोद्धारित होकर लालमन्दिरजीके विशाल हालमें शो ग्लासकेशमें चाँदीकी चौकियों पर विराजमान की गई थीं। उनके दोनों ओर लालमन्दिरजी और वीरसेवामन्दिरके हस्तलिखित ग्रंथ और मुद्रित ग्रन्थ विराजमान थे। उस समय ऐसा जान पड़ता था कि सरस्वती माताके इस मन्दिरमें महावीरकी वाणीका धाराका प्रवाह प्रवाहित हो रहा है, बा० छोटेलालजी कलकत्ता, धर्मसाम्राज्यजी मूडबिद्री, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार और ला० रघुवीरसिंहजी जैना वाच, और मैंने तथा दूसरे स्थानीय अन्य साधर्मी भाइयोंके साथ श्रुतकी पूजा की, दोनों ओर दो लाउडस्पीकरों पर पूजा बड़े मधुर स्वरमें पढ़ी जा रही थी, जिसे उपस्थित जनता बड़ी शान्तिके साथ सुन रही थी।

शामको शास्त्र प्रवचनके बाद ८ बजेसे सभाका कार्य प्रारम्भ हुआ। यद्यपि गर्मीकी वजहसे जनताकी उपस्थिति उतनी ज्यादा नहीं थी, जितनी कि देहली जैसे केन्द्र स्थलमें होनी चाहिये थी। फिर भी कार्य प्रारम्भ किया गया। प्रथम हा पं० अजितकुमारजी शास्त्री सम्पादक 'जैन गजट' ने श्रुतपंचमीके उद्गमका इतिहास बतलाते हुए उक्त आगम ग्रन्थोंका महावीरकी वाणीसे कितना गहरा सम्बन्ध है। इसका विवेचन करते हुए आपने बतलाया कि यदि जिनवाणी माता न होती तो आज हमें सत्यपथ भी नहीं सूझता। परन्तु खेद है कि हम लोग इनकी महत्ताको भूल गये। हमारा सौभाग्य है कि वीरसेवा-मन्दिरके सत्प्रयत्नसे हमें इनका साक्षात् दर्शन और पूजन करनेका सुअवसर मिला है। मूडबिद्रीके पंचों ट्रस्टियों और भट्टारकोंने श्रुतकी रक्षाका महान् कार्य किया। जिसके लिए वे धन्यवादके पात्र हैं। वीरसेवामन्दिरका शास्त्रोद्धारका यह विशाल कार्य महान् है, जिसे वीरसेवामन्दिर और बाबू छोटेलालजी कलकत्ताके सत्प्रयत्नसे सम्पन्न कर रहा है। जीर्णोद्धार हो जानेसे इन ग्रन्थोंकी काया पलट हो गई है और अब उनकी आयु पांचसौ वर्षके लगभग और हो गई है।

इसके बाद ला० रघुवीरसिंहजी जैनावाचने बाबू छोटेलालजी कलकत्ताका परिचय कराते हुए बतलाया कि बाबूजी वीरसेवामन्दिरकी बिल्डिंगके कारण इतनी दूर तीव्र गर्मीमें तीन महीनेसे अधिक समयसे पड़े हुए हैं। इन्होंने वीरसेवामन्दिरको बिल्डिंगके लिए जमीन खरीदनेके लिए चालीस हजारसे ऊपरकी रकम प्रदान की है। और शारीरिक अस्वस्थतामें भी अपने सेवा-कार्यमें जुटे हुए हैं। आप लक्ष्मी सम्पन्न, इतिहासज्ञ और कलाके प्रेमी विद्वान हैं। आपकी वजहसे ही इन आगम-ग्रन्थोंका ऐसा अच्छा जीर्णोद्धार कार्य हो सका है। मैं बाबूजीके भद्रस्वभाव और सेवा कार्यको प्रशंसा करते हुए नहीं थकता। मैं बाबूजीसे प्रेरणा करता हूँ कि आप इन श्रुत ग्रन्थोंके सम्बन्धमें अपना भाषण दें। अनन्तर उक्त बाबू साहबने अपना भाषण प्रारम्भ करते हुए जैन समाजके धार्मिक प्रेमके शैथिल्यकी चर्चा करते हुए बड़ा भारी खेद प्रकट किया और कहा कि जिन आगमग्रन्थोंके दर्शनोंके लिए हम हजारों रुपया खर्च करके ३०-३५ व्यक्ति शामिल होकर और वहां भेंट चढ़ा कर उनका दर्शन भक्तिसे करते थे। ये ग्रंथ लाखों व्यक्तियोंके नमस्कारों और धोकोंसे पवित्र हुए हैं। वे जैन संस्कृतिकी ही नहीं किन्तु भारतकी अनुपम निधि हैं। जिनके जीर्णोद्धारका महान् कार्य वीरसेवामन्दिर द्वारा सम्पन्न हुआ है, इस कार्यमें मेरे मित्र धर्मसाम्राज्यजीका सत्प्रयत्न सराहनीय है धर्मसाम्राज्यजीसे मेरी तीस वर्षसे मित्रता है। वे चौट्टार राजवंशके हैं उन्हीं की कृपासे दिल्ली वालोंको उनके दर्शन-पूजन करनेका परम सौभाग्य मिला है। इसके लिये वे धन्यवादके पात्र हैं! दिल्ली जैन समाजका केन्द्र है। यहाँ जैनियोंकी संख्या २०-२५ हजार होते हुए भी उनकी उपस्थिति उसके अनुकूल न होना बड़े भारी खेदका विषय है। मालूम होता है कि हमारा धार्मिक प्रेम अब शिथिल हो गया है, जब कि मुसलमानों और सिक्खोंका धर्म प्रेम बढ़ रहा है। जब एक आनेके एक पुराने स्टम्पका मूल्य दो लाख रुपया मिला और वह भी सुरक्षाकी गारंटीके साथ। इस तरह जब ऐसी-ऐसी चीजोंकी सुरक्षा की जा रही है तब इन अमूल ग्रन्थोंकी सुरक्षाकी ओर हमारा तनिक भी ध्यान न होना हमारी अज्ञता

और लापर्वाहीका ही द्योतक है। खेद है कि हम लोग इन आगम ग्रन्थोंकी महत्तासे परिचित होते हुए भी उनकी वास्तविक भक्ति और कर्तव्यसे दूर हैं। हजारों ताडपत्रके ग्रन्थ आज जीर्ण-शीर्ण दशामें अपना जीवन समाप्त कर रहे हैं। परन्तु हमारा लक्ष्य उनकी रक्षाका अब तक भी नहीं हुआ, यह देख कर तो और भी खेद होता है।

गिरनारकी 'चन्द्रगुहा' जो आचार्य धरसेनका निवास स्थान था, नगरके समीप होते हुए भी हम लोग यात्राका जाते हैं, परन्तु उसे देखने तक नहीं जाते। यद्यपि अब उसमें कोई विशेष सांस्कृतिक चिन्ह अवशिष्ट नहीं है। फिर भी गवर्नमेन्ट उसकी रक्षाके लिये वहाँ ८०) रुपये माहवारका एक चपरासी रक्खे हुए है। इसी तरह मद्रास प्रान्तमें 'सित्तन्नवासल' नामका एक रमणीय एवं सुन्दर स्थान है जो एक सिद्ध स्थान कहलाता है। वहाँ भी मुनियोंके निवासकी अनेक गुफाएँ बनी हुई हैं जो ईस्वी सन्‌से पूर्वकी हैं। वहाँ ईस्वी सन् पूर्वका एक शिलालेख भी मिला हैं। जैन श्रमण संस्कृतिकी अनेक पुरातनवस्तुएँ अजायबघरों, जंगलों, खण्डहरों, मन्दिरों तथा भूगर्भमें दबी पड़ी हैं और जिसके समुद्धारकी हमें कोई चिन्ता नहीं है। यह हमारी उपेक्षा ही हमें पतन की ओर ले जा रही है। मेरा विचार था कि कमसे कम दो घण्टेमें आपको इन आगम ग्रन्थोंके परिचयके साथ इनके प्रति अपने कर्त्तव्यकी ओर आपका ध्यान आकृष्ट करता; परन्तु अब समय कम रह गया है। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम जिनवाणीके प्रति होने वाली भारी उपेक्षाको छोड़ें, क्योंकि जिनदेव और जिनश्रुतमें कोई फरक नहीं है, 'नहि किञ्चिदन्तरं प्राहु राप्ता हि श्रुतदेवयोः।' जो कुछ अन्तर है वह केवल प्रत्यक्ष परोक्षका है। जिनवाणी हमारी माता है हमें उसकी रक्षा उसी प्रकार करनी चाहिये जिस तरह हम अपनी माताकी करते हैं। वीरसेवामन्दिरके द्वारा उठाया हुआ ग्रन्थोंके जीर्णोद्धारका कार्य महान् है। समाजका कर्तव्य है कि इस पुनीत कार्यमें अपना सहयोग प्रदान करें। देहली के कुछ सज्जनोंसे इस कार्यके लिये अभी सात-आठसौ की सहायता प्राप्त हुई है, उनके नामोंकी सूची भी सुनाई गई। अन्य भाइयोंको भी अपना लक्ष्य इधर देनेकी आवश्यकता है। अन्तमें आपने अपने मित्र धर्म साम्राज्यजीका परिचय देते हुए बतलाया कि यह सब महत्वका कार्य आपकी कृपा एवं सौजन्यका प्रतिफल है। मैं उनका अभिनन्दन करता हूं। मुख्तार सा० ने अपने भाषणमें धर्मसाम्राज्यजी की धर्मप्रियताका उल्लेख करते हुए समाजका ध्यान जीर्ण शीर्ण ग्रन्थोंके उद्धार करनेकी ओर आकृष्ट किया और फलस्वरूप उसी समय श्रीमती गुणमाला जयवन्तीदेवीने जीर्णोद्धार कार्यमें सौ रुपये प्रदान किये।

अनन्तर ला० रघुवीरसिंहजीने देहली निवासियोंकी ओर से धर्मसाम्राज्यजी और बाबू छोटेलालजीका आभार व्यक्त करते हुए धन्यवाद दिया और कहा कि आप इसी तरह और भी ग्रन्थ वीरसेवामन्दिरके मारफत लाइये उनकी भी मरम्मत हो जायेगी। और समाजका सहयोग भी प्राप्त होगा। यह कार्य महान् और पुनीत है। इस तरह भगवान महावीरकी जयध्वनि पूर्वक सभा समाप्त हुई। —परमानन्द जैन

वीरसेवा मन्दिर सोसाइटी की मीटिंग

आज ता० १ अप्रेल सन् १९५५ को दिनके ११॥ बजेसे स्थानीय श्री दिगम्बर जैन लालमन्दिरमें श्री वीरसेवामन्दिरके दफ्तरमें कमेटीका अधिवेशन हुआ। जिसमें उपस्थिति निम्न प्रकार थी—पं० जुगलकिशोर जी, बा० छोटेलाल जी (अध्यक्ष), बा० जयभगवान जी एडवोकेट, बा० नेमचन्द्र जी वकील, डा० ए० एन० उपाध्ये कोल्हापुर (विशेषामंत्रित), ला० जुगल किशोर जी कागजी, ला० राज कृष्ण जी और जयवन्ती देव।

प्रथम मीटिंगका नोटिस और एजंडा पढ़कर सुनाया गया।

१. वीरसेवामन्दिरकी यह कार्यकारिणी समिति निम्नलिखित महानुभावोंको कार्यकारिणी समितिके सदस्य नियुक्त करती है। साहू शान्तिप्रसादजी जैन कलकत्ता, नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता, श्रीराजेन्द्रकुमारजी जैन देहली, रायसाहब ला० ज्योतिप्रसादजी देहली, राय सा० ला० उल्फतरायजी जैन देहली, श्री तनसुखरायजी जैन देहली, डा० सुखबीरकिशोरजी, राय बहादुर ला० दयाचन्द्रजी देहली, ला० प्रेमचन्द्रजी, ला० नन्हेमल जी (सुपुत्र ला० मनोहरलालजी) ला० नन्हेमलजी सदरबाजार, ला० मक्खन

लालजी ठेकेदार, ला० श्यामलालजी, वैद्य महावीरप्रसादजी।

प्र० बाबू छोटेलालजी अध्यक्ष

(सर्वसम्मतिसे पास)

२. यह कार्यकारिणी समिति प्रस्ताव करती है कि धारा ६(ख) के अनुसार डा० ए० एन० उपाध्ये कोल्हापुर डा० हीरालाल जी जैन नागपुर, पं० अजित कुमारजी शास्त्री देहली, ला० पन्नालालजीजैन अग्रवाल देहली सम्मानित सदस्य बनाये जांय।

—प्र० अध्यक्ष (सर्व सम्मतिसे पास)।

३. यह समिति प्रस्ताव करती है कि वीरसेवामन्दिर-की स्थावर जंगम सम्पत्तिकी पूरी लिस्ट ट्रस्टसे लेकर उसके अनुसार सम्पत्तिको सम्हाल कर रसीद ट्रस्टके अधिष्ठाताको दे दी जाय।

प्र० जयभगवान वकील, पानीपत

स० नेमचन्द्र वकील, सहारनपुर

(सर्व सम्मतिसे पास)

४. यह कार्यकारिणी समिति प्रस्ताव करती है कि अनेकान्त पत्रका प्रकाशन अनुसंधानकी दृष्टिसे हो, भले ही उसके अंक वर्षमें १२ से कम निकलें। इसके लिए पोस्टल विभागसे भी पूछा जाय कि कम अंक निकलनेसे पोस्टेजमें क्या फर्क पड़ेगा। अनेकान्तको बड़े पुस्तकालयों और विश्वविद्यालयोंमें निःशुल्क भेजा जाय, तथा जो इतिहास और साहित्यसे सम्बन्धित पत्रिकाएँ निकलती हैं उनके साथ विनिमय किया जाय। और प्रसिद्ध इतिहासके विद्वानोंको भी निःशुल्क भेजा जाय। लेखकोंकी सूची बना कर उनसे निवेदन किया जाय।

प्रस्तावक, डा० ए० एन० उपाध्ये

समर्थक, बा० नेमीचन्द जी (सर्व सम्मतिसे)

५. यह कार्यकारिणी समिति प्रस्ताव करती है कि पं० परमानन्द जी द्वारा संकलित अपभ्रंशकी प्रशस्ति संग्रह अनेकान्तमें क्रमशः प्रकाशित किया जाय।

प्र०, डा० ए० एन० उपाध्ये

स०, बा० जयभगवान वकील

(सर्व सम्मतिसे पास)

६. यह कार्य कारिणी समिति प्रस्ताव करती है कि पं० जुगलकिशोर जी द्वारा अनेक वर्षोंमें संकलित किया हुआ जैन ऐतिहासिक व्यक्तिकोश और जैन लक्षणावलीको अविलंब पूरा किया जाय, और उसके पूर्ण होने तक नये काम हाथमें नहीं लिये जांय। इन दो ग्रन्थोंमें पहले जैन लक्षणावलीका कार्य हाथमें लिया जाय और उसके लिये एक विद्वानकी नियुक्तिका भार पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारको दिया जाय।

प्र०, बा० छोटेलाल जी

स०, डा० ए० एन० उपाध्ये

नोट—डा० ए० एन० उपाध्येने यह राय दी कि एच० डी० वेलंकर द्वारा सम्पादित जिन रत्नकोशके प्रकाशित पृष्ठोंमें कोरे कागज लगाकर ग्रन्थोंके नये परिचयको संवर्द्धित किया जाय।

७. यह कार्यकारिणी समिति प्रस्ताव करती है कि वीरसेवा मन्दिरके प्रकाशित ग्रन्थोंकी एक सूची डा० ए० एन० उपाध्येसे प्रस्तुत करवा कर और उसे छपवाकर भारतके समस्त विश्व विद्यालय, कालेजों और पुस्तकालयोंको भेज दी जाय। और पत्रोंमें इन पुस्तकोंका विज्ञापन दिया जाय। बड़े-बड़े मन्दिरों, सेठों और जैन पुस्तकालयोंकी एक सूची तैयार करके पर्यूषणपर्वके पूर्व अपने प्रकाशनोंकी लिस्ट भेज दी जाया करे। और ग्रन्थोंको विभिन्न कीमतोंके सेट बना कर उन्हें बेचनेका प्रयत्न किया जाय।

प्र० जयभगवान वकील

स० जुगलकिशोर मुख्तार

(सर्वसम्मतिसे पास)

८. यह कार्यकारिणी समिति निम्नलिखित बजटको स्वीकार करती है—

आय—

६००) किरायेसे सरसावाकी इमारतोंसे।
१०००) अनेकान्तके ग्राहकोंसे।
७५०) पुस्तक विक्रयसे।
२०००) डिवीडेन्ड से।

४६५०)

व्यय—

पं० परमानन्दजी	२१००)
पं० जयकुमारजी	१०८०)
हरस्वरूप	६००)
	३७८०)
अनेकान्तका कागज छपाई वगैरह	३०००)
बिजली	३००)

स्टेशनरी	२५०)
पोस्टेज	२५०)
लायब्रेरी	२५०)
सफर खर्च	३००)
सरसावा चपरासी जाहरू माली	३६०)
	८४९०)

९. यह समिति प्रस्ताव करती करती है कि पं० जुगलकिशोर जीकी सेवाके लिये ५०) रु० मासिकका एक सेवक नियुक्त किया जाय।

प्र० बा० जयभगवान जी
स० बा० नेमीचन्द जी
(सर्व सम्मतिसे स्वीकृत)

१०. यह समिति ला० राजकृष्णजीसे निवेदन करती है कि साहित्योद्धार, साहित्य और इतिहासके मध्ये जो आर्थिक सहायता उनके व्यवस्थापक कालमें लिखी गई थी उनमें जो रकम वसूल नहीं हुई है उसे उन्हें वे वसूल करवा देवें। समितिके कार्यालयसे भी उन दातारोंको पत्र लिखे जांय।

प्र० बा० छोटेलाल जी (अध्यक्ष)
स० डा० श्रीचन्द्रजी (सगल)

११. पं० जुगलकिशोर जी मुख्तारने बताया कि लक्षणावलीके प्रथमखण्डके प्रकाशनकी सहायताका वचन साहू शान्तिप्रसादजीसे पहले प्राप्त हो चुका है। इस पर समितिने प्रस्ताव किया कि लक्षणावलीके-निर्माणके लिये २५००) वार्षिक सहायताके लिये दातारोंसे अपील की जाय।

नोट—२० मार्च १९५५ को ट्रस्ट कमेटीमें जो ट्रस्टी उपस्थित थे और वे ट्रस्टी ही प्रथम कार्यकारिणीके सदस्य हैं। अस्तु, उन्होंने यह निश्चित किया था कि कार्यकारिणी कमेटीमें डा० ए० एन० उपाध्येको परामर्शके लिये आमन्त्रित किया जाय। डा० उपाध्येने अप्रेलकी कमेटीमें उपस्थित होनेकी कृपा की है।

१२. ता० ७-४-५५ को डाक्टर हीरालालजीने, जिन्हें डाक्टर ए० एन० उपाध्येजीके साथ निमंत्रित किया गया था, वीरसेवामन्दिरमें पधारनेकी कृपा की। डा० हीरालालजी और डा० उपाध्येजीने वीरसेवामन्दिरकी गतिविधिके सम्बन्धमें यह सुझाव दिया कि दिगम्बर जैन समाजकी साहित्यिक, प्रकाशक और अनुसंधानकर्त्री जो संस्थाएँ हैं उन सबका केन्द्रीकरण वीरसेवामन्दिरके तत्त्वावधानमें किया जाय। और वे संस्थाएँ अपना नाम अस्तित्व और कोषको स्वतन्त्र रखते हुए साहित्यिकादि कार्योंको केन्द्रीय सम्पादकमण्डलके निर्देशानुसार सम्पन्न करें। इस सुझावको कार्यान्वित करनेके लिए यह तय हुआ कि ऐसी संस्थाओंके संचालकों या प्रतिनिधियोंको निमंत्रित कर एक सम्मेलन किया जाय, और उस सम्मेलनमें इस योजना पर विचार किया जाय। इन संस्थाओंको जो पत्र लिखा जायगा उसके ड्राफ्टका भार डा० हीरालालजी और डा० उपाध्येजीको दिया गया। और निम्नलिखित संस्थाओंको आमन्त्रित करना तय हुआ। माणिकचन्द ग्रंथमाला बम्बई, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, जीवराजग्रंथमाला सोलापुर, कारंजा सीरीज कारंजा, जैन साहित्योद्धारकफंड भेलसा, वर्णीग्रन्थमाला बनारस, दि० जैन संघग्रन्थमाला मथुरा, वीरशासनसंघ कलकत्ता, कुंथसागरग्रन्थमाला सोलापुर।

वीरसेवामन्दिरकी कार्यकारिणी सभाके दो प्रस्ताव

प्रस्ताव १

श्रीमान् साहू शान्तिप्रसादजीके पेटका आपरेशन सफलता पूर्वक सम्पन्न होने और स्वास्थ्यमें उत्तरोत्तर सुधार एवं लाभके समाचारोंको ज्ञातकर वीरसेवामंदिरकी कार्यकारिणीकी यह सभा सन्तोष और हर्ष प्रगट करती हुई श्रीजिनेन्द्र भगवानसे प्रार्थना करती है कि साहूजी शीघ्र ही पूर्ण स्वस्थ हों और पूर्व की गई अपूर्व देश (सामाजिक और धार्मिक सेवाओंमें अपनी शक्ति और भी अधिक प्रदान करें।

प्रस्ताव २

वीरसेवामन्दिरकी यह कार्यकारिणी सभा आचार्य श्री जुगलकिशोरजी मुख्तार अधिष्ठाता वीरसेवामन्दिरके कल (११) जूनको सहसा बीमार हो जानेके समाचारोंको ज्ञातकर चिन्तित हुई है और भगवान वीरप्रभुसे प्रार्थना करती है कि श्री मुख्तारसाहब शीघ्र ही आरोग्य-लाभ और दीर्घायु प्राप्त करें।

चिट्ठा हिसाब अनेकान्त १३वें वर्षका

(जून सन् १९५४ से)

आय (जमा)

९२१॥≡) ग्राहक खाते जमा, जो वी० पी० आदि के द्वारा प्राप्त हुए।

१२२४) सहायता खाते जमा।

  ११४३) संरक्षकों-सहायकों से

  ८१) साधारण सहायता खाते

  १२२४)

१६८≈) फाइलों और अनेकांतकी फुटकर किरण बिक्रीसे प्राप्त

१०) विज्ञापन खाते जमा

६९) कागज खाते जमा, जो खर्च होकर बाकी बचा

  ५४) सफेद कागज २० × ३० / २४ तीन रिमके लगभग

  १५) आर्ट पेपर १५८ सीट

  ---

  ६९)

२३९३-)

२३५७≡)।।। घाटा जो देना है

  १४८५।।।-) इस वर्षका घाटा

  ८७१।=)। पिछले वर्षका घाटा

  २३५७≡)।।।

४७५०।)।।।

व्यय (खर्च)

८७१।=)। पिछले वर्ष का घाटा

८७१।=)।

६७९=)॥ कागज खाते खर्च

  ४६॥≡)॥ पिछला कागज, जो १२ वें वर्ष के अंत में शेष रहकर जमा किया गया।

  ४९६।।।-) कागज सफेद २० × ३० × २४ के २९ रिम, जो सेठ वृद्धिचन्द कागजी चावड़ी बाजार से खरीद किये।

  १३५॥=) आर्ट पेपर, जो सेठ वृद्धिचन्द और रूपचंद एण्ड सन्स चावड़ी बाजारसे खरीद किया।

  ६७९=)॥

१५६५) छपाई खाते खर्च, जो रूपवाणी प्रेस को दिये गये।

  १४००) एक से १० किरणों की छपाई बाबत।

  १६५) ११-१२वीं संयुक्त किरणके मध्ये दिये गए।

  १५६५)

१४३) पोस्टेज खाते खर्च, किरण १ से १० तक का।

७२) ब्लाक बनवाई में दिये गए

२०) सफर खर्च खाते

३२) स्टेशनरी खाते खर्च

११३७॥) वेतन खाते खर्च जो १३ महीने का बावत अर्द्ध वेतनके रूपमें पं० परमानन्दको दिए गए।

४।) मुतफर्रिक खाते खर्च

१२५) प्रस्तुत संयुक्त कि० की बाबत शेष खर्च, जिसमें लगभग १००) प्रेसको देना और २५) पोस्टेजमें खर्च करना है।

३७७७॥=)॥

८७१।=)। घाटा पिछला

४६४९।)॥।

१०१) बाबू छोटेलालजीके नाम, सेठ बैजनाथजी सरावगीकी सहायता वाला, जिसमें चित्रादिकोंका हिसाब आना शेष है।

४७५०।)।।।

परमानन्द जैन

अपनी आलोचना और भावना

(१)

प्रभो ! रागादिक दोष निवार,
धरूँ मैं समता-भाव उदार।
यही तव पूजा उन्नतिकार,
यही तव गुण-कीर्तनका सार ॥

(२)

आपसा नेता पा अविकार,
मार्ग पर लगा न संयम धार।
रुला जगमें यों होकर ख्वार;
मुझे धिक्कार ! मुझे धिक्कार ! १

(३)

तुच्छ सम्पत पा, यह हुँकार !
क्षणिक बल पा, यह अत्याचार !
ज्ञानको पाकर, धरा विकार ;
मुझे धिक्कार ! मुझे धिक्कार !!

(४)

अज्ञता-वश कीने बहु पाप,
मोह-वश किये अनेक विलाप।
सहे दुख भारी औ' उत्ताप,
जपा नहिं भाव-पूर्ण तव जाप ॥

(५)

भूल-वश भटका सब संसार,
न पाई शान्ति-सुधाकी धार।
लखी नहिं अन्तर्ज्योति अपार,
सुधा बरसाती जो अनिवार ॥

(६)

मुश्क रहता निज-नाभि-मँझार,
विपिनमें खोजे हिरन गँवार।
त्यों हि मुझमें निज-सुख-भंडार
खोज पर-द्रव्योंमें बेकार ॥

(७)

वीर ! हो उस रुचिका विस्तार,
लखूँ निज गुप्त-शक्ति-भंडार !
लहूँ निजमें सन्तोष अपार,
मिटै भव-भ्रमण महा-दुखकार ॥

दिल्ली २०-६-५५ —युगवीर

'श्रीराजकली-मुख्तार-ट्रस्ट' की ओरसे सात छात्र-वृत्तियाँ

'श्रीराजकली मुख्तार ट्रस्ट' को मुख्तार श्रीजुगलकिशोर जीने, अपनी स्वर्गीया धर्मपत्नी श्रीमती राजकलीदेवीकी स्मृतिमें २००१) की रकम निकाल कर, स्थापित किया है। इस ट्रस्टकी ओरसे इस वर्ष सात छात्र वृत्तियाँ देनेका निश्चय किया गया है। ये छात्रवृत्तियाँ उन सुयोग्य छात्राओंको, चाहे वे जैन हों या जैनेतर, दी जाएंगी जो वीरसेवा-मन्दिरसे हालमें प्रकाशित स्वामी समन्तभद्रके 'समीचीन-धर्मशास्त्र' और उसके 'हिन्दी भाष्य' में दक्षता प्राप्त कर ऊँचे नम्बरोंसे उत्तीर्ण होंगी। छात्रवृत्ति-प्रतियोगिताकी इस परीक्षामें विशारद पास अध्यापिकाएँ भी बैठ सकेंगी, जिन्हें उस प्रकारसे उत्तीर्ण होने पर ५०) की एक मुश्त और शेष छात्राओंमेंसे प्रत्येक को ५) मासिककी एक वर्ष तक छात्रवृत्ति दी जायगी।

छात्रवृत्ति प्राप्त करनेकी इच्छुक छात्राओंको अपनी वर्तमान शिक्षा-योग्यतादिका उल्लेख करते हुए नीचे लिखे पते पर पत्रव्यवहार करना चाहिए। साथ ही अपना पूरा पता तथा परिचय भी सुवाच्य अक्षरोंमें लिखना चाहिए, जिससे उनके लिए उक्त ग्रन्थमें परीक्षाकी योजना आगामी दिसम्बर-जनवरीके लगभग की जा सके और इस बीचमें वे ग्रन्थका अच्छा अभ्यास भी कर सकें।

जयवन्ती जैन
मंत्रिणी 'श्रीराजकली-मुख्तार-ट्रस्ट'
ठि० वीरसेवामन्दिर, सरसावा,
जि० सहारनपुर

सम्पादकीय

१. दूसरी भयंकर दुर्घटनासे त्राण—

पिछली ताँगा-दुर्घटनाको अभी दो वर्ष दो महीने भी पूरे नहीं हो पाए थे कि एक दूसरी भारी दुर्घटनाका मुझे शिकार होना पड़ा। गत ११ जूनको काम करते-करते अचानक एक भयंकर रोगका मेरे ऊपर आक्रमण हो गया, जिससे एकदम मल-पित्तादिका क्षय होकर शरीर ठण्डा पड़ गया, खुश्की बढ़ गई और हस्त पादादिक जल्दी-जल्दी मुड़कर भारी वेदना उत्पन्न करने लगे। खूनका दौरा (Circulation of blood) बन्द होकर सब कुछ समाप्त होनेके ही करीब था कि इतनेमें मेरे पोते डा० नेमचन्दका एक इंजेक्शन बाएँ हाथकी एक नस (रग) में सफल हो गया और उससे शरीरमें गर्मीका स्पष्ट संचार होना हुआ नज़र पड़ा। तबियतके कुछ सँभलते ही मुझे जैसे तैसे बन्धुवर डा० रघुवीरकिशोरजी जैनके हस्पतालमें ले जाया गया जो निकट था और जहाँ मैं ताँगा-दुर्घटनाके समय भी २० दिन रह चुका था। दोनों डाक्टरोंके परामर्शसे कुछ इंजेक्शन और दिये गये तथा १५-१५ मिनिटके बाद पानी का दिया जाना निर्धारित हुआ। रात भर पैरों-टाँगों आदिका मुड़ना और नस पर नस चढ़ कर वेदना उत्पन्न करना जारी रहा, जिसे बहुत कुछ धैर्यके साथ सहन किया गया। सुबह होनेपर बड़े इंजेक्शनके द्वारा, जो ढाई घंटेके करीब जारी रहा शरीरमें नमकीन पानी चढ़ाया गया; क्योंकि हस्त-पादादिकके मुड़नेका कारण शरीरमें नमकका कम हो जाना था। इस इंजेक्शनका त्वरित और साक्षात फल यह हुआ कि हस्तपादादिका मुड़ना उसी समय रुक गया। साथ ही, पीया हुआ पानी खट्टे-कड़ए पित्तोंको साथ लेकर जो उबकाई-वमनके द्वारा निकल जाता था उसका निकलना भी बन्द हो गया। और कोई छह दिनके बाद मैं हस्पतालसे वापिस वीरसेवामन्दिरको आगया।

इस तरह दूसरी भारी दुर्घटनासे, जिसकी भयंकरता पहली दुर्घटनासे कुछ भी कम नहीं थी, यद्यपि धर्मके प्रसादसे मेरा त्राण (संरक्षण) हो गया है परन्तु शरीर बहुत कुछ निष्प्राण बन गया है। शरीरमें शक्तियोंके क्षयसे जो कमज़ोरी आ गई है उसका दूर होना अब अधिक विश्राम एवं निश्चिन्ततादिकी अपेक्षा रखता है, जिनका मिलना दिल्ली वीरसेवामन्दिरमें रहते और उसके कार्योंका ज़िम्मेदारियोंका भार वहन करते नहीं बन सकता। दिल्लीका जलवायु भी मुझे अनुकूल नहीं पड़ रहा है। अस्तु।

इस दुर्घटनाके अवसर पर दोनों डाक्टरोंने, पुत्रीसम बहन जयवन्तीने और बाबू छोटेलालजी, पं० परमानन्दजी तथा पं० हीरालालजी शास्त्री आदिने मेरी जो सेवा की है उस सबके लिये मैं उनका बहुत आभारी हूँ।

२. पुरस्कारोंकी घोषणाका नतीजा—

अनेकान्तकी गत दूसरी किरण (अगस्त १९५४) में निम्न छह ग्रन्थोंकी खोजके लिये, जिनके उल्लेख तो मिलते हैं परन्तु वे उपलब्ध नहीं हो रहे हैं, मैंने अपनी तरफसे ६००) रुपयेके छह पुरस्कारोंकी घोषणा की थी और साथमें उन उल्लेख-वाक्यों आदिका परिचय भी दे दिया था जिनसे उनके निर्माण तथा पठन-पाठनादिका पता चलता है—

१—जीवसिद्धि (स्वामी समंतभद्र), २—तत्त्वानुशासन (स्वामी समंतभद्र), ३-४—सन्मतिसूत्रकी दो टीकाएँ—एक दिगम्बराचार्य सन्मति या सुमतिदेव-कृत और दूसरी श्वेताम्बराचार्य मल्लवादि कृत, ५—तत्त्वार्थसूत्रकी टीका (शिवकोटि), ६—त्रिलक्षणकदर्थन (पात्रकेसरी स्वामी)

खोजकी सूचनावधि फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा सं० २०११ तक रक्खी गई थी और साथ ही यह 'आवश्यक निवेदन' भी किया गया था कि—

"इन ग्रन्थोंके उपलब्ध होने पर साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञानविषयक क्षेत्र पर भारी प्रकाश पड़ेगा और अनेक उलझी हुई गुत्थियाँ स्वतः सुलझ जाएँगी। इसीसे वर्तमानमें इनकी खोज होनी बहुत ही आवश्यक है। अतः सभी विद्वानोंको—खासकर जैन विद्वानोंको—इनकी खोजके लिये पूरा प्रयत्न करना चाहिये, सारे शास्त्रभण्डारोंकी अच्छी छान-बीन होनी चाहिये। उन्हें पुरस्कारकी रकमको न देखकर यह देखना चाहिये कि इन ग्रन्थोंकी खोज-द्वारा हम देश और समाजकी बहुत बड़ी सेवा कर रहे हैं। ऐसी सेवाओंका वास्तवमें कोई मूल्य नहीं होता—पुरस्कार तो आदर सत्कार एवं सम्मान व्यक्त करनेका एक चिन्ह मात्र है। वे तो जिस ग्रन्थकी भी खोज लगाएँगे उसके 'उद्धारक' समझे जायेंगे।"

इतना सब कुछ होते हुए भी खेद है कि किसीने भी उस पर कुछ ध्यान नहीं दिया! कहींसे खोजका प्रयत्न-सूचक कोई पत्र भी प्राप्त नहीं हुआ जिससे यह मालूम होता कि अमुक सज्जनने अमुक बड़े, अप्रसिद्ध या अपरि-

चित शास्त्र भंडारके ग्रन्थोंकी छान-बीन की है और उसमें उक्त ग्रन्थ नहीं मिले! क्या इससे यह समझ लिया जाय कि विद्वानों अथवा समाजको इन ग्रन्थोंकी ज़रूरत नहीं है? नहीं ऐसा नहीं समझा जा सकता। समाजको ही नहीं किंतु देश और साहित्यके इतिहासको इनकी और इन जैसे दूसरे भी कितने ही अनुपलब्ध ग्रन्थोंकी बड़ी जरूरत है—साहित्य तथा इतिहास-विषयके विद्वान तो इन ग्रंथोंके दर्शनके लिये बहुत ही लालायित हैं। जब इन ग्रंथोंकी बड़ी ज़रूरत है तब इनकी खोजका प्रयत्न भी समाज-द्वारा कुछ बड़े पैमाने पर और व्यवस्थित रूपसे होना चाहिए—विदेशोंकी लायब्रेरियोंमें भी इनकी खोज कराई जानी चाहिये, जहाँ भारतके बहुतसे ऐसे ग्रन्थ पहुँचे हुए हैं जिनकी अभी तक सूची भी नहीं बन पाई है। मैं तो अवधिकी समाप्ति पर यह सोच रहा था कि यदि अवधिके बाहर भी किसी परिश्रमशील सज्जनने इन ग्रन्थोंमेंसे किसीकी भी खोज लगाकर मुझे उसकी सूचना की तो मैं तब भी उसे पुरस्कार दूँगा। अब मैं इतना और कर रहा हूँ कि द्वितीय भादों के अंत तक खोज-विषयक परिणामकी और प्रतीक्षा करूँ, उसके बाद अपनी निर्धारित रकमके विषयमें दूसरा विचार किया जायगा। भादोंका महीना धर्म साधनका महीना है और ऐसे सद्ज्ञान प्रसाधक ग्रंथरत्नोंकी खोज धर्मका एक बहुत बड़ा कार्य है अतः विद्वानों तथा दूसरे सज्जनोंसे निवेदन है कि वे इस महीनेमें इन ग्रन्थोंकी खोजका पूरा प्रयत्न करें और अपने प्रयत्नके फलसे मुझे शीघ्र सूचित करनेकी कृपा करें।

३. अनेकान्तकी वर्षसमाप्ति और कुछ निवेदन—

इस संयुक्त किरणके साथ अनेकान्तका १३वाँ वर्ष समाप्त हो रहा है। इस वर्ष अनेकान्तने, समाजके राग-द्वेष और झगड़े-टंटोंसे अलग रह कर, अपने पाठकोंको क्या कुछ सेवा की, कितने महत्वके लेख उनके सामने रक्खे, कितने नूतन साहित्यके सृजनमें वह सहायक बना, साहित्य और इतिहास-विषयकी कितनी भूल-भ्रान्तियोंको उसने दूर किया, उलझनोंको सुलझाया और कितने अपरिचित पुरातन साहित्य और विद्वानोंका उन्हें परिचय कराया, इन सब बातोंको यहाँ बतलानेकी ज़रूरत नहीं है—सहृदय पाठक उनसे भले प्रकार परिचित हैं। यहाँपर मैं सिर्फ इतना ही कहना चाहता हूँ कि जिन विद्वानोंने अपने लेखोंसे और जिन धनिकोंने अपने धनसे अनेकान्तकी सहायता की है वे अवश्य ही मेरे तथा संस्थाके द्वारा धन्यवादके पात्र हैं—उनके सहयोगके बिना कुछ भी नहीं बन सकता था। धनसे सहायता करनेवालोंमें ज़्यादातर अनेकान्तके संरक्षक और सहायक सदस्य हैं। सच पूछा जाय तो इनके भरोसेपर ही बंद पड़े अनेकांतको फिरसे चालू किया गया था और इन्हींके आर्थिक सहयोगको पाकर उसके चार वर्ष निकल गये हैं। अन्यथा, समाजमें साहित्यिक रुचिके अभाव और सत्साहित्यके प्रति उपेक्षाभावको लेकर, ग्राहक संख्याकी कमीके कारण उसे कभीका बन्द कर देना पड़ता।

मुझे खेद है कि इस वर्ष मेरे सहयोगी बाबू जयभगवानजी, एडवोकेट अपनी कुछ परिस्थितियोंके वश, अपना कोई भी लेख पाठकोंकी भेंट नहीं कर सके, जिससे पाठक उनके बहुमूल्य विचारोंसे वंचित ही रहे! दूसरा खेद यह है कि कलकत्ताके सेठ तोलारामजी गंगवाल (लाडनूँ वाले) गत सितम्बर मासमें २५१) रु० देकर अनेकान्तके संरक्षक बने थे, जिनकी सहायताकी रकम हिसाबमें दर्ज होगई, रसीद भेजी जा चुकी परन्तु आफिस-क्लर्ककी ग़लतीसे पिछली किरणोंमें उनका नाम संरक्षकोंकी सूचीमें प्रकाशित नहीं किया गया और न अनेकान्तकी किरणें ही सेठ साहबके निर्देशित पते पर लाडनूँ भेजी गई! इसके लिए मैं भारी दुःख व्यक्त करता हुआ सेठ साहबसे क्षमा चाहता हूँ। आशा है वह क्लर्ककी इस भूलके लिये मुझे अवश्य ही क्षमा करेंगे।

तीसरा खेद यह है कि यह संयुक्त किरण, जो २२ जून को प्रकाशित हो जानी चाहिये थी, आज दो महीनेके बाद अगस्तमें प्रकाशित हो रही है! इसके विलम्ब-कारणको यद्यपि कुछ न कहना ही बेहतर है, फिर भी मैं इतना ज़रूर कह देना चाहता हूँ कि मैंने बीमारीकी अवस्थामें रोग-शय्या पर पड़े-पड़े पं० परमानन्दजीको यह सूचना कर दी थी कि इस किरणमें अनेकान्तका वार्षिक हिसाब ज़रूर जायगा और कुछ संपादकीय भी लिखा जायगा; परंतु हिसाब तय्यार नहीं हो सका और न सम्पादकीय ही किसीके द्वारा लिखा जा सका! हिसाबको पं० परमानन्दजीके देख-रेखमें पं० जयकुमारजी लिखते और रखते थे, गत अप्रेल माससे उनकी नियुक्ति बिल्डिंगके कार्यमें करदी गई थी, बिल्डिंगके कार्योंसे अवकाश न मिलने आदिके कारण उन्होंने कह दिया कि मुझे हिसाबके काममें योग देनेके लिये अवसर नहीं मिल

रहा है । इधर बा० छोटेलालजीको कलकत्तासे आए और बिल्डिंगके कार्यमें पूरा योग देते तथा स्वयं खड़े होकर परिश्रमके साथ काम कराते हुए कई महीने हो गये और वे अब जल्दी ही वापिस कलकत्ता जाना चाहते थे और साथ ही यह भी चाहते थे कि बिल्डिंगकी नीचेकी मंजिलको सब तरहसे पूरी कराकर, उसे किराये पर चढ़ाकर और दूसरी मंज़िलके हॉल आदिकी छतें डलवाकर ही कलकत्ता जावें । इससे सामान खरीदने, बिजली तथा नलोंका फ़िटिंग कराने, उनके फ़िटिंगकी शीघ्रताके लिये बार २ अनेक अफसरोंके पास जाने, सरकारी दफ्तरोंमें चक्कर लगाने आदिके कितने ही काम ऐसे नये खड़े होगये जिनकी मारा-मारीमें पं० परमानंद जीको भी लगना पड़ा और अनेकान्तका सारा काम गौण कर दिया गया । उधर दिल्लीमें लगातार अशान्ति भोगते हुए मेरा प्राण घुटने तथा स्वास्थ्य और भी गिरने लगा, इससे स्वास्थ्य तथा शान्ति-लाभके लिये मैं जुलाईके मध्यमें सरसावा चला गया, जहाँ मुझे शान्ति मिली और मेरे स्वास्थ्यमें अपेक्षाकृत कितना ही सुधार हुआ है, और उसीका यह फल है कि आज मैं यह 'सम्पादकीय' लिखनेमें प्रवृत्त हो रहा हूँ । अनेकान्तका हिसाब भी जैसे तैसे तय्यार हो गया है और वह इस किरणमें प्रकाशित किया जा रहा है ।

यहाँ एक बात और भी प्रकट कर देने की है और वह यह कि कुछ विद्वानोंका ऐसा ख़याल है कि अनेकान्तका स्टैंडर्ड कुछ गिर रहा है, जिसका ज़िक्र उन्होंने अध्यक्ष बाबू छोटेलालजीसे किया है । इस विषयमें मैं इस समय इतना ही निवेदन कर देना चाहता हूँ कि जहाँ तक लेखोंके प्रकार, चयन-चुनाव या संकलनसे सम्बन्ध है पत्रका स्टैंडर्ड प्रायः कुछ भी नहीं गिरा—वह जैसा पिछले कुछ वर्षोंमें था वैसा अब भी है । दूसरे अनेक विद्वानोंके ऐसे पत्र आ रहे हैं जो अब भी लेखोंकी दृष्टिसे इसे जैन समाजका एक आदर्श एवं महत्वपूर्ण पत्र बतला रहे हैं । हाँ, दो दृष्टियोंसे पत्रका स्टैंडर्ड कुछ गिरा हुआ जरूर कहा जा सकता है—एक तो यह कि दूसरोंके लेखोंका सम्पादन अब मेरे द्वारा प्रायः नहीं होता, जब मेरे द्वारा लेखोंका सम्पादन होता था तब भाषा-साहित्यादिके सुधार-द्वारा अधिकांश लेखोंमें कुछ नया जीवन आ जाता था और इसलिये पाठकोंको वे अधिक रुचिकर मालूम होते थे । दूसरी दृष्टि पत्रके कुछ अशुद्ध छपनेकी है और उसका प्रधान कारण यही है कि पत्रका प्रूफ रीडिंग अब मेरे द्वारा प्रायः नहीं होता, मैं स्वयं अपने लेखोंका प्रूफ ज़रूर देखता हूँ—दूसरे किसी खास लेखका प्रूफ देखनेमें मुझे कदाचित् ही प्रवृत्त होना पड़ता है । प्रूफ रीडिंग और सम्पादनका कार्य प्रायः पं० परमानन्दजी ही कर रहे हैं । मेरी वृद्धावस्था और रुचिके भी कुछ बदल जानेके कारण ये दोनों परिश्रम-साध्य कार्य अब मुझसे प्रायः नहीं बनते । और इसीसे मैं सम्पादक-पदसे एक दो बार त्यागपत्र भी दे चुका हूँ, जिसे यह कह कर अस्वीकार कर दिया गया कि आप कार्य भले ही न करें, आपका नाम सम्पादक-मण्डलमें जरूर रहेगा; परन्तु मेरे द्वारा होनेवाले कार्योंकी कोई दूसरी व्यवस्था नहीं की गई ! अस्तु ।

अब तो इस नये भयंकर रोगके धक्केसे मेरी शक्तियां और भी जीर्ण-शीर्ण हो गई हैं । इसीसे शरीरमें शक्तिके पुनः संचार एवं स्वास्थ्य-लाभकी दृष्टिसे मैं कमसे कम एक वर्षके लिये सम्पादक-पदसे अवकाश ग्रहण कर रहा हूँ । अतः इस किरणके साथ अपने पाठकोंसे विदाई ले रहा हूँ । यदि जीवन शेष रहा तो फिर किसी-न-किसी रूपसे उनकी सेवामें उपस्थित हो सकूँगा । अपने इस लम्बे सेवा-कालमें यदि कोई अनुचित या अप्रिय आचरण पाठकोंके प्रति मेरा बन गया हो तो उसके लिये मैं उनसे हृदयसे क्षमा चाहता हूँ, आशा है वे अपने उदारभावसे मुझे ज़रूर क्षमा करेंगे ।

४. अनेकान्तका हिसाब और घाटा—

अनेकान्तके इस १३वें वर्षका हिसाब, जिसे पं० परमानन्दजी शास्त्रीने तय्यार किया है, प्रस्तुत किरणमें अन्यत्र प्रकाशित हो रहा है । हिसाबको देखनेसे मालूम होता है कि इस वर्षकी कुल आमदनी २३६३-) है, जिसमें नियत ग्राहकोंसे प्राप्त हुई रकम केवल ६२१॥=) है, शेष संरक्षक-सहायकों तथा फाइलोंकी बिक्री आदिसे प्राप्त रकमें हैं; और खर्चका कुल जोड़ ३७८४॥=)॥ है । अतः इस वर्षका घाटा १४६२॥-)॥ हुआ, जिसमें पिछले घाटेकी रकम ८७१।=)। मिला देनेसे घाटेकी कुल रकम २३६४≡)।। हो जाती है । यह रकम वास्तवमें चार वर्षके घाटेकी है । यदि १०वें वर्षके घाटेकी रकम २३३३॥=) को, जिसके कारण पत्र वर्षभरसे ऊपर बन्द रहा था, अलग रक्खा जाय तो यह कह सकते हैं कि शेष तीनों वर्ष, अपने संरक्षकों तथा सहायकोंके बल पर, बिना किसी घाटेके ही पूरे हो गये हैं । परन्तु घाटेकी उस रकम का तो पहले पूरा होना अनिवार्य था, इसलिये चार वर्षके घाटेकी जो रकम स्थिर की गई वह प्रायः ठीक ही है । मैंने एक दो बार यह प्रकट किया था कि

'अनेकान्तके यदि १०० संरक्षक और ५०० सहायक हो जावें तो वह घाटेकी चिन्तासे बहुत कुछ मुक्त हो सकता है, परन्तु इसपर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। यदि अनेकान्तके प्रेमी पाठक कोशिश करते तो इतने संरक्षकों तथा सहायकोंका हो जाना कोई बड़ी बात नहीं थी। परंतु खेद है कि उन्होंने संरक्षकों तथा सहायकोंको बनानेकी तो बात दूर, ग्राहकोंको बनानेकी भी प्रायः कोई कोशिश की मालूम नहीं होती। घाटेका प्रधान कारण ग्राहक-संख्याकी कमी है और उसीकी वजहसे संरक्षकों तथा सहायकोंकी ज़रूरत पड़ती है। यदि ग्राहक-संख्या एक हजार भी हो तो वर्तमान स्थितिमें घाटेकी चिन्ताके लिये कोई स्थान नहीं रह सकता। इस वर्ष ग्राहक-संख्याकी वृद्धिके लिये तीन उपयोगी योजनाएँ की गई—एक १२) की जगह १०) रु० पेशगी भेजने वालोंको अनेकान्तकी दो कापी दी जानेकी, एक उनके लिये और दूसरी उनके किसी इष्ट-मित्रादिके लिये जिसे वे भिजवाना चाहें। दूसरी, स्थानीय किसी संस्था तथा मन्दिरादिको ग्राहक बनाकर १२) रु० पेशगी भेज देनेवाले विद्वानोंको एक वर्ष तक फ्री पत्र दिये जानेकी; और तीसरी ६) रु० पेशगी भेज देनेवालोंको १० रु० की पुस्तकें ५) में दिये जानेकी, जिससे पत्र १) में ही सालभर पढ़नेको मिल जाता है। इतनी सुविधाएँ दिये जानेपर भी प्रेमी पाठकोंने ग्राहक-संख्याकी वृद्धिका कोई खास प्रयत्न नहीं किया, यह बड़े ही खेदका विषय है!! यदि वे दो-दो ग्राहक भी बनाकर भेज देते अथवा अपने प्रयत्न-द्वारा किसीको २५१) देने वाला संरक्षक या १०१) देने वाला सहायक बना देते तो आज पत्रके घाटेका प्रश्न ही पैदा न होता। इस समय संरक्षकोंकी संख्या कुल २४ और सहायकोंकी संख्या ३३ है। संरक्षकोंके पाससे सहायताकी कुल रकम आ चुकी है; सहायकोंमेंसे एकके पास पूरी, दूसरेके पास आधी और तीसरेके पास आधीसे भी कम रकम बाकी है, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—१. बा० जिनेन्द्रकुमारजी जैन बजाज सहारनपुर, २. ला० परमादीलालजी पाटनी देहली, ३. ला० रतनलालजी कालकावाले देहली। आशा है ये तीनों सज्जन अपनी स्वीकृत सहायताके वचनको अब शीघ्र ही पूरा करनेकी कृपा करेंगे। शेष सब सहायकोंसे भी सहायताकी पूरी रकम आ चुकी है। इस सहायताके लिये संरक्षक और सहायक दोनों ही धन्यवादके पात्र हैं।

५. अगले वर्षकी समस्या—

घाटेकी उक्त स्थितिमें अनेकान्तको अगले वर्ष कैसे निकाला जाय—कहांसे और कैसे इतनी बड़ी रकमको पूरा किया जाय? यह एक समस्या है जो इस समय संचालकोंके सामने खड़ी है। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिए कि जो समस्या १०वें वर्षके अन्तमें उत्पन्न हुई थी वही आज फिरसे उपस्थित हो गई है। इस समस्याको हल किये बिना आगे और घाटेकी जोखोंको कौन उठावे? अतः अनेकान्तके प्रेमी पाठकों और उससे पूरी सहानुभूति रखने वाले सज्जनोंसे निवेदन है कि वे इस समस्याको हल करनेके लिए अपने-अपने सुझाव शीघ्र ही उपस्थित करनेकी कृपा करें, जिससे उनपर गंभीरताके साथ विचार होकर शीघ्र ही कोई समुचित मार्ग स्थिर किया जा सके; क्योंकि साहित्य तथा इतिहासकी ठोस सेवा करनेवाले ऐसे पत्रोंका समाज-हितकी दृष्टिसे अधिक दिन तक बन्द रहना अच्छा नहीं है। आशा है यह समस्या जल्दी ही हल होगी और इसके हल होने तक प्रेमी पाठक, समस्याके हलमें यथाशक्ति अपना सहयोग देते हुए, धैर्य धारण करेंगे।

इस सम्बन्धमें एक विचार यह चल रहा है कि पत्रको त्रैमासिक करके एकमात्र साहित्य और इतिहासके कामोंके लिए ही सीमित कर दिया जाय, इससे ग्राहकसंख्या गिरकर आर्थिक समस्याके और भी जटिल हो जानेकी सम्भावना है। दूसरा विचार है कि पत्रको बदस्तूर मासिक रखकर उसके लिए एक तो उपहार ग्रन्थोंकी योजना की जाय और दूसरा कार्य संरक्षकों तथा सहायकोंकी वृद्धिका किया जाय और इन दोनों कार्योंको सफल बनानेकी जिम्मेदारी कुछ प्रभावशाली प्रेमी ग्राहक एवं पाठक सज्जन अपने-अपने ऊपर लेनेकी कृपा करें। तीसरा विचार है योग्य प्रचारकके द्वारा ग्राहकवृद्धिकी योजना, जिसके लिये योग्य प्रचारककी आवश्यकता है। और चौथा विचार है मूल्य तथा पृष्ठसंख्याको कम करके पत्रको जैसे तैसे चालू रखा जाय। इन सब विचारोंकी उपयुक्तता-अनुपयुक्ततापर भी समस्याको हल करते समय उन्हें विचार कर लेना चाहिए।

जुगलकिशोर मुख्तार

★

ओं अर्हम्

अनेकान्त

सत्य, शान्ति और लोकहितके सन्देशका पत्र नीति-विज्ञान
दर्शन-इतिहास-साहित्य-कला और समाज-शास्त्रके प्रौढ़
विचारोंसे परिपूर्ण सचित्र-मासिक

तेरहवाँ वर्ष

(श्रावण कृष्णा प्रतिपदा वीर नि० सं० २४८० से अषाढ़ शुक्ला वीर नि० सं० २४८१ वि० सं० २०११, १२, जुलाई सन् १९५४ से जून सन् १९५५ तक)

प्रकाशक

परमानन्द जैन शास्त्री
वीरसेवामन्दिर, दि० जैन लाल मन्दिर
चांदनी चौक, देहली

वार्षिक मूल्य छह रुपये | अगस्त १९५५ | एक किरण का मूल्य आठआने

अनेकान्तके तेरहवें वर्षकी विषय-सूची

विषय और लेखक — पृष्ठ

अतिशय क्षेत्र खजुराहा—[परमानन्द शास्त्री १६०
अपनी आलोचना और भावना (कविता) —[युगवीर टायटिल
अपभ्रंश भाषाका जंबूस्वामीचरिउ और महाकवि वीर—[परमानन्द जैन शास्त्री १४९
अपभ्रंशभाषाका पार्श्वनाथ चरित—[परमानंद जैन २५२
अभिनन्दन पत्र १३४
असंज्ञी जीवोंकी परम्परा—[डा० हीरालाल जैन एम० ए० १७५
अस्पृश्यता विधेयक और जैन समाज—[श्री कोमलचन्द्रजी जैन एडवोकेट २१२
अहिंसा तत्त्व—[परमानन्द शास्त्री ९०
अहिंसा की युगवाणी—[डा० वासुदेवशरण अग्रवाल २८६
अहोरात्रिकाचार—[क्षुल्लक सिद्धि सागर १९५
आत्महितकी बातें—[क्षुल्लकसिद्धिसागर ८९
काक पिक-परीक्षा—[पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री ७८
कुमुदचन्द्र भट्टारक—[पं० के० भुजबली शास्त्री १७८
किसकी जीत (कविता)—[नेमिचन्द्र जैन 'विनम्र' १०६
क्या ग्रन्थ-सूचियों आदि परसे जैन साहित्यके इतिहास-का निर्माण सम्भव है?—[परमानन्द शास्त्री २८७
क्या व्यवहार धर्म निश्चयका साधक है? —[जिनेन्द्र कुमार जैन २२१
क्या असंज्ञी जीवोंके मनका सद्भाव मानना आवश्यक है? —[पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य २१७
क्या सुख-दुःखका अनुभव शरीर करता है? —[क्षुल्लक सिद्धिसागर १९७
कोल्हापुरके पार्श्वनाथ मंदिरका शिलालेख —[परमानन्द जैन २४०
क्षुल्लक श्री भद्रबाहुजीका अभिमत २४९
ग्रन्थोंकी खोजके लिये ६००) रुपयेके छह पुरस्कार —[जुगलकिशोर मुख्तार ५५
चन्द्रगुप्त मौर्य और विशाखाचार्य—[परमानन्द २७६
चन्देल युगका एक नवीन जैन प्रतिमालेख—[प्रो० ज्योतीप्रसाद जैन एम० ए० ९८
चिट्ठा हिसाब अनेकान्तके १३वें वर्षका— ३१७
जैन समाजके सामने एक प्रस्ताव—[दौलतराम जी 'मित्र' २८४
डा० भायाणी एम.ए. की भारी भूल—[जुगल किशोर ४
तीर्थ और तीर्थंकर—[पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री ४८
दिल्ली और उसके पाँच नाम—[पं० परमानन्द शास्त्री १९
दिल्ली और योगिनीपुर नामोंकी प्राचीनता—[अगरचन्द नाहटा ७२
दीवान अमरचन्द—[परमानन्द जैन १९८
दीवान रामचन्द्र छावड़ा—[परमानन्द शास्त्री २५९
धर्म पंचविंशतिका (ब्रह्मजिनदास) विरचित—[जुगलकिशोर मुख्तार २५९
धारा और धाराके जैन विद्वान—[परमानन्द शास्त्री
नागकुमारचरित और कवि धर्मधर—[परमानन्द २२७
नाथ अब तो शरण गहूँ (कविता)—[मनु ज्ञानार्थी 'साहित्यरत्न' ९
निरतिवादी समता—[सत्य भक्त ७४
निर्मोहिया और नशियां—[हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री ४३
निश्चयनय और व्यवहारनयका यथार्थनिर्देश [क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी १८९
पं० जयचन्द और उनकी साहित्य-सेवा—[परमानन्द शास्त्री १६९
पं० दीपचन्दजी शाह और उनकी रचनाएँ—[परमानन्द शास्त्री ११९
" " 'परिशिष्ट' १८३
पंडित और पंडित पुत्रोंका कर्तव्य—[क्षुल्लक सिद्धिसागर १२८
पार्श्व जिन जयमाल-निन्दास्तुति (कविता)—[स्व० पं० ऋषभदास चिलकाना निवासी १८२
पुरातन जैन साधुओंका आदर्श—[पं० हीरालाल शास्त्री १०
पूजा राग-समाज तातैं जैनिन योग किम? (कविता)—[स्व० पं० ऋषभदास १६५
पोसहराम और भट्टारक ज्ञानभूषण—[परमानंद जैन ११९
पृथ्वी गोल नहीं चपटी है—[एक अमेरिकन विद्वान् १७९
प्राक्कथन (समीचीन धर्मशास्त्र)—[डा० वासुदेवशरण अग्रवाल २५०
बरगड प्रान्तके दो दिगम्बर जैन मन्दिर—[परमानंद ११२
भगवान ऋषभ देवके अमर स्मारक—[पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री ६७
भगवान आदीश्वरकी ध्यान-मुद्रा (कविता)—[कविवर दौलतराम २६७

विषय और लेखक	पृष्ठ
भगवान महावीर—[परमानन्द शास्त्री	२३१
भगवान महावीर और उनका लोक कल्याणकारी सन्देश—[डा० हीरालाल एम० ए०	२४१
भट्टारक श्रुतकीर्ति और उनकी रचनाएँ— [परमानन्द शास्त्री	२७६
भारतकी राजधानीमें जयधवल महाधवल ग्रंथराजों-का अपूर्व स्वागत [परमानन्द जैन	१२८
भव्यमार्गोपदेश उपासकाध्ययन—[क्षु० सिद्धिसागर	१७६
भारतीय इतिहासका एक विस्मृत पृष्ठ (जैन सम्राट् राणा सुहिलदेव)— [श्री लल्लनप्रसाद व्यास	२४६
भाषा साहित्यका भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे अध्ययन — [श्री माईदयाल जैन बी.ए., बी.टी.	२१०
मद्रास और मयिलापुरका जैन पुरातत्त्व— [छोटेलाल जैन	३५
महापुराणकलिका और कवि ठाकुर— [परमानन्द शास्त्री	१८६
महापुराणकलिकाकी अन्ति प्रशस्ति—[परमानन्द	२०२
महाविकल संमामरी (कविता)— [बनारसीदास	२३६
मुक्तिज्ञान (कविता)—[श्री मनुज्ञानार्थी साहित्यरत्न	१२०
मुनियों और श्रावकोंका शुद्धोपयोग— [पं० हीरालाल जैन सिद्धान्तशास्त्री	२०४
मूलाचारके कर्तृत्वपर नया प्रकाश— [पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री	१८
मौजमाबादके जैन शास्त्रभंडारमें उल्लेखनीय ग्रंथ— [परमानन्द शास्त्री	८०
मौजमाबादके जैन समाजके ध्यान देने योग्य— [परमानन्द शास्त्री	२१४
रत्नराशि (कहानी)— श्री मनुज्ञानार्थी 'साहित्यरत्न'	२४
राजधानीमें वीरशासन-जयन्ती और वीरसेवामन्दिर—नूतन भवनके शिलान्यासका महोत्सव—[परमानन्दजैन	२७
राजस्थानके जैन साहित्य भंडारोंमें उपलब्ध महत्त्वपूर्ण-साहित्य—[कस्तूरचन्द्रजी एम. ए.	४६
राजस्थानमें दासी प्रथा—[परमानन्द जैन	६६
राजस्थान विधानसभामें दि० जैन धर्मविरोधीविधेयक— [बा० छोटेलाल जैन	६४
राष्ट्रपति और प्रधानमंत्रीका महावीर जयन्तीके अवसरपर भाषण	२६३
रोपड़की खुदाईमें महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक वस्तुओंकी उपलब्धि—	१५६
वादीचन्द्र रचित अम्बिका कथासार— [श्री अगरचन्द नाहटा	१०७
विश्वकी अशान्तिको दूर करनेके उपाय — [परमानन्द जैन	७६
वीरसेवामन्दिरको प्राप्त सहायता	५६
वीरसेवामन्दिरको स्वीकृत सहायता	६३
वीरसेवामन्दिर ट्रस्टकी मीटिंग	२२४
वीरसेवामन्दिर सोसाइटीकी मीटिंग	३१४
श्रमण संस्कृतिमें नारी—[परमानन्द शास्त्री	८४
श्रावकोंका आचार विचार — [क्षु० सिद्धिसागर	१८६
श्रीकुन्दकुन्द और समन्तभद्रका तुलनात्मक अध्ययन— [बाल ब्रह्मचारिणी विद्युल्लता बी. ए.	२६१
श्रीधवलग्रन्थराजोंके दर्शनोंका अपूर्व आयोजन— [परमानन्द जैन	१३५
श्रीनेमिनाथाष्टक स्तोत्र —	४१
श्री० पं० मुख्तार सा० से नम्र निवेदन— [श्री हीराचन्द बोहरा बी० ए०	१४२
श्रीवीरजिनपूजाष्टक (कविता)—[जुगलकिशोर मुख्तार	१२२
वीरशासनजयन्ती महोत्सव—[परमानन्द जैन	
श्री हीराचन्दबोहराका नम्र निवेदन और कुछ शंकाएँ— [जुगलकिशोर मुख्तार १३७, १६२, १८७, १६३,	२६६
सकामधर्म साधन— [जुगलकिशोर मुख्तार	५७
सखि पर्वराज पर्यूषण आये (कविता)—[मनु ज्ञानार्थी	६१
सत्यवचन माहात्म्य (कविता)—[मुन्नालाल 'मणि'	४२
समन्तभद्र भारती देवागम— [युगवीर १३३, ६५, ८८, १४७, १६७, १६१,	२१५
समयसारकी १५वीं गाथा और श्रीकानजीस्वामी— [जुगलकिशोर मुख्तार	५
सम्पादकीय—	२६, ६२
सम्पादकीय नोट—परमानन्द जैन	२३६
सम्पादकीय—[जुगलकिशोर मुख्तार	
सम्यग्दृष्टि और उसका व्यवहार—[क्षु० सिद्धिसागर	११७
साधुत्वमें नग्नताका स्थान— [पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य	२४१
साहित्य परिचय और समालोचन— [परमानन्द जैन, ६४, ६६, १३२,	२६६

सिंह-श्वान-समीक्षा—[पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री ५१
स्वागतगान (कविता)— [ताराचन्द्र 'प्रेमी' ३२
हस्तिनागपुरका बड़ा जैन मन्दिर—[परमानन्द जैन २०४
हिन्दी भाषाके कुछ ग्रंथोंकी नई खोज—[परमानन्द जैन १०१
हिंसक और अहिंसक (कविता)—[मुन्नालाल मणि ४२
हिसाबका संशोधन (टाइटिल)— ३
हुँबड़ या हूमडवंश और उसके महत्वपूर्ण कार्य—[परमानन्द जैन शास्त्री १२३

समीचीन-धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड)

मुख्तार श्रीजुगलकिशोरके हिन्दी-भाष्य-सहित

छपकर तय्यार

सर्व साधारणको यह जान कर प्रसन्नता होगी कि श्रावक एवं गृहस्थाचार-विषयक जिस अति प्राचीन तथा समीचीन धर्मग्रन्थके हिन्दी भाष्य-सहित कुछ नमूनोंको 'समन्तभद्र-वचनामृत' जैसे शीर्षकोंके नीचे अनेकान्तमें प्रकाशित देख कर लोक-हृदयमें उस समूचे भाष्य-ग्रन्थको पुस्तकाकार रूपमें देखने तथा पढ़नेकी उत्कण्ठा उत्पन्न हुई थी और जिसकी बड़ी उत्सुकताके साथ प्रतीक्षाकी जा रही थी वह अब छपकर तैयार हो गया है, अनेक टाइपोंके सुन्दर अक्षरोंमें ३५ पोंडके ऐसे उत्तम कागज पर छपा है जिसमें २५ प्रतिशत रूई पड़ी हुई है। मूलग्रन्थ अपने विषयका एक बेजोड़ ग्रन्थ है, जो समन्तभद्र-भारतीमें ही नहीं किन्तु समूचे जैनसाहित्यमें अपना खास स्थान और महत्व रखता है। भाष्यमें, मूलकी सीमाके भीतर रह कर, ग्रन्थके मर्म तथा पद-वाक्योंकी दृष्टिको भले प्रकार स्पष्ट किया गया है, जिससे यथार्थ ज्ञानके साथ पद-पद पर नवीनताका दर्शन होकर एक नए ही रसका आस्वादन होता चला जाता है और भाष्यको पढ़नेकी इच्छा बराबर बनी रहती है—मन कहीं भी ऊबता नहीं। २०० पृष्ठके इस भाष्यके साथ मुख्तारश्रीकी १२८ पृष्ठकी प्रस्तावना, विषय-सूचीके साथ, अपनी अलग ही छटाको लिए हुये है और पाठकोंके सामने खोज तथा विचारकी विपुल सामग्री प्रस्तुत करती हुई ग्रन्थके महत्वको ख्यापित करती है। यह ग्रंथ विद्यार्थियों तथा विद्वानों दोनोंके लिए समान रूपसे उपयोगी है, सम्यग्ज्ञान एवं विवेककी वृद्धिके साथ आचार-विचारको ऊँचा उठानेवाला और लोकमें सुख-शान्तिकी सच्ची प्रतिष्ठा करने वाला है इस ग्रन्थका प्राक्कथन डा० वासुदेवजी शरण अग्रवाल प्रो० हिंदू-विश्वविद्यालय बनारसने लिखा है और भूमिका डा० ए० एन० उपाध्ये कोल्हापुरने लिखी है। साथमें पूज्य क्षुल्लक श्री गणेशप्रसाद जी वर्णीकी शुभ सम्मति भी है। इस तरह यह ग्रंथ बड़ा ही महत्वपूर्ण है। यदि आपने आर्डर नहीं दिया है तो शीघ्र दीजिए,अन्यथा पीछे पछताना पड़ेगा। लगभग ३५० पृष्ठके इस दलदार सुन्दर सजिल्द ग्रन्थकी न्योछावर ३) रुपए रक्खी गई है। सुन्दर जिल्द बंधी हुई है। गैटप चित्ताकर्षक है। पठनेच्छुकों तथा पुस्तक विक्रेताओं (बुकसेलरों) को शीघ्र ही आर्डर देकर मंगवा लेना चाहिए।

मैनेजर 'वीरसेवामन्दिर-ग्रंथमाला'
दि० जैन लालमन्दिर, चाँदनी चौक, देहली

वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी ७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानों के लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द (जिसकी प्रस्तावनादिका मूल्य अलगसे पाच रुपये है) ... १५)

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द। ... ... ८)

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द। ... ... ५)

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद, छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठकी प्रस्तावनासे सुशोभित। ... ... २)

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनादिसे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... ... १॥)

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ।॥)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ।॥)

(१०) सत्साधु-स्मरण मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बाद के २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(११) विवाह-समुद्देश्य—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस-लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ़ गम्भीर विषयको बड़ी सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। ... ... ।)

(१३) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ... ।)

(१५) श्रवणबेलगोल और दक्षिणके अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र—ला० राजकृष्ण जैन १)

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश सटीक सजिल्द ३), जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह ४), समीचीन धर्मशास्त्र ३) महावीर का सर्वोदय तीर्थ ≡), समन्तभद्र विचार-दीपिका ≡)।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'
वीरसेवामन्दिर, जैन लाल मन्दिर, चाँदनी चौक देहली।

Regd. No D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर
२५१) सेठ तुलारामजी नथमलजी लाडनूवाले कलकत्ता

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० शान्तिनाथजी कलकत्ता
१०१) बा० निर्मलकुमारजी कलकत्ता
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१ बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ,,
१०१, बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीराम बैजनाथजी सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चांद औषधालय, कानपुर
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) ला० रतनलाल जी कालका वाले, देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री दि० जैन लालमंदिर देहली। मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

अनेकान्त

अप्रैल १९५५

विषय-सूची

१ महा विकल संसारी (कविता)—[बनारसीदास — २३९
२ कोल्हापुरके पार्श्वनाथ मन्दिरका शिला लेख—[— २४०
३ साधुत्वमें नग्नताका स्थान—[पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य — २४१
४ भारतीय इतिहासका एक विस्मृत पृष्ठ (जैन सम्राट राणा सुहेलदेव—[श्री लल्लनप्रसाद व्यास — २४६
५ क्षुल्लक श्री भद्रबाहुजीका अभिमत—[— २४९
६ प्राक्कथन (समीचीन धर्मशास्त्र पर)-[डा० वासुदेव शरण अग्रवाल—[— २५०
७ अपभ्रंश भाषाका पार्श्वनाथ चरित्र —[परमानन्द जैन — २५२
८ वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट की दो मीटिंग--[— २५४
९ दीवान रामचन्द्र छावड़ा—[परमानन्द शास्त्री — २५६
१० भगवान महावीर और उनका लोक कल्याण कारी सन्देश—[डा० हीरालालजी एम०ए० — २५९
११ राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्रीका महावीर जयन्ती के अवसर पर भाषण — २६३
१२ राजस्थान विधान सभामें दि० जैन धर्म-विरोधी विधेयक [बा० छोटेलाल जैन — २६४
१३ साहित्य परिचय और समालोचन--[परमानन्द जैन — २६६

अनेकान्त वर्ष १३
किरण १०

स्वामी समन्तभद्रका

समीचीन-धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड)

मुख्तार श्री जुगलकिशोरके हिन्दी-भाष्य-सहित

छपकर तय्यार

सर्व साधारणको यह जान कर प्रसन्नता होगी कि श्रावक एवं गृहस्थाचार-विषयक जिस अति प्राचीन तथा समीचीन धर्मग्रन्थके हिन्दी भाष्य-सहित कुछ नमूनोंको 'समन्तभद्र-वचनामृत' जैसे शीर्षकोंके नीचे अनेकान्तमें प्रकाशित देख कर लोक-हृदयमें उस समूचे भाष्य-ग्रन्थको पुस्तकाकार रूपमें देखने तथा पढ़नेकी उत्कण्ठा उत्पन्न हुई थी और जिसकी बड़ी उत्सुकताके साथ प्रतीक्षा की जा रही थी वह अब छपकर तैयार हो गया है, अनेक टाइपोंके सुन्दर अक्षरोंमें ३५ पौंडके ऐसे उत्तम कागज पर छपा है जिसमें २५ प्रतिशत रूई पड़ी हुई है। मूलग्रन्थ अपने विषयका एक बेजोड़ ग्रन्थ है, जो समन्तभद्र-भारतीमें ही नहीं किन्तु समूचे जैनसाहित्यमें अपना खास स्थान और महत्व रखता है। भाष्यमें, मूलकी सीमाके भीतर रह कर, ग्रन्थके मर्म तथा पद-वाक्योंकी दृष्टिको भले प्रकार स्पष्ट किया गया है, जिससे यथार्थ ज्ञानके साथ पद-पद पर नवीनताका दर्शन होकर एक नए ही रसका आस्वादन होता चला जाता है और भाष्यको पढ़नेकी इच्छा बराबर बनी रहती है—मन कहीं भी ऊबता नहीं। २०० पृष्ठके इस भाष्यके साथ मुख्तारश्रीकी १२८ पृष्ठकी प्रस्तावना, विषय-सूचीके साथ, अपनी अलग ही छटाको लिए हुये है और पाठकोंके सामने खोज तथा विचारकी विपुल सामग्री प्रस्तुत करती हुई ग्रन्थके महत्वको ख्यापित करती है। यह ग्रंथ विद्यार्थियों तथा विद्वानों दोनोंके लिए समान रूपसे उपयोगी है, सम्यग्ज्ञान एवं विवेककी वृद्धिके साथ आचार-विचारको ऊँचा उठानेवाला और लोकमें सुख-शान्तिकी सच्ची प्रतिष्ठा करनेवाला है इस ग्रन्थका प्राक्कथन डा० वासुदेवजी शरण अग्रवाल प्रो० हिंदू-विश्वविद्यालय बनारसने लिखा है और भूमिका डा० ए० एन० उपाध्ये कोल्हापुरने लिखी है। इस तरह यह ग्रंथ बड़ा ही महत्वपूर्ण है। यदि आपने आर्डर नहीं दिया है तो शीघ्र दीजिए, अन्यथा पीछे पछताना पड़ेगा। लगभग ३५० पृष्ठके इस दलदार सुन्दर सजिल्द ग्रन्थकी न्योछावर ३) रुपए रक्खी गई है। जिल्द बंधाईका काम शुरू हो रहा है। पठनेच्छुकों तथा पुस्तक विक्रेताओं (बुकसेलरों) को शीघ्र ही आर्डर बुक करा लेने चाहिए।

मैनेजर 'वीरसेवामन्दिर-ग्रंथमाला'

दि० जैन लालमन्दिर, चाँदनी चौक, देहली

श्रीमान् दानवीर साहू शान्तिप्रसादजी जैन कलकत्ता

अभी वैशालीके महावीर जयन्तीके उत्सवमें, वैशाली कमेटीके संरक्षक, भारतके प्रमुख उद्योगपति और जैन समाजके नररत्न, वीरसेवा मन्दिर (दिल्ली) के ट्रस्टी और संरक्षक दानवीर साहू शान्तिप्रसादजी जैन कलकत्ताने प्राकृत जैन विद्यापीठ वैशालीके भवन-निर्माणके लिये एक मुश्त पांच लाख रुपया और पांच वर्ष तक पच्चीस हजार रुपया प्रतिवर्ष देते रहनेकी महत्वपूर्ण उदार घोषणा की है। आप जैन संस्कृतिके लिये लाखों रुपया प्रतिवर्ष मुक्तहस्तसे प्रदान करते रहते हैं। आपका यह युगानुकूल दान प्राचीन भारतीय जैनसंस्कृतिके लिए वरदान सिद्ध होगा। जैनसमाजकी प्रतिष्ठाको समुन्नत करने वाले दानवीर युवक रत्न साहू शान्तिप्रसादजी चिरजीवी हों और चिरकाल तक जैन वाङ्मयका संरक्षण करते रहें, यही अनेकान्त परिवारको हार्दिक शुभकामना है।

ॐ अर्हम्

वार्षिक मूल्य ६)

एक किरण का मूल्य ।)

वर्ष १३ किरण १०

वीरसेवामन्दिर, C/o दि० जैन लालमन्दिर, चाँदनी चौक, देहली
चैत्र, वीरनिर्वाण-संवत् २४८१, विक्रम संवत् २०१२

अप्रैल १९५५

महा विकल संसारी

(कविवर बनारसीदास)

देखो भाई ! महाविकल संसारी,
दुखित अनादि मोहके कारन, राग-द्वेष भ्रम भारी ॥ १ ॥
हिंसारम्भ करत सुख समुझैं, मृषा बोलि चतुराई ।
परधन हरत समर्थ कहावैं, परिग्रह बढ़त बड़ाई ।
वचन राख काया दृढ़ राखैं, मिटै न मन चपलाई ।
यातैं होत और की औरै, शुभ करनी दुखदाई ॥ ३ ॥
जोगासन करि कर्म निरोधै, आतमदृष्टि न जागै ।
कथनी कथत महंत कहावै, ममता मूल न त्यागै ॥ ४ ॥
आगम वेद सिद्धान्त पाठ सुनि हिये आठ मद आनै ।
जाति लाभ कुल बल तप विद्या, प्रभुता रूप बखानै ॥ ५ ॥
जड़मों राचि परमपद साधै, आतम-शक्ति न सूझै ।
बिना विवेक विचार दरब के, गुण परजाय न बूझै ॥ ६ ॥
जस वाले जस सुनि सन्तोषैं, तप वाले तन सोषैं ।
गुन वाले परगुनको दोषैं, मतवाले मत पोषैं ॥ ७ ॥
गुरु उपदेश सहज उदयागति, मोह-विकलता छूटै ।
कहत 'बनारसि' है करुनारसि, अलख अखय-निधि लूटै ॥ ८ ॥

कोल्हापुरके पार्श्वनाथ मन्दिरका शिलालेख

[कोल्हापुर दक्षिण महाराष्ट्रका एक ऐतिहासिक स्थान है, जिसका नाम शिलालेखमें क्षुल्लकपुर उल्लेखित मिलता है। कोल्हापुरका अतीत गौरव जैन संस्कृतिकी समृद्धिसे ओत-प्रोत रहा है। यह नगर 'पंचगंगा' नदीके किनारे बसा हुआ है। कोल्हापुर और उसके आस-पासके प्रदेशोंमें स्थित जैन पुरातत्त्वकी सामग्री, मंदिर, मूर्तियाँ और शिलालेखादि जैन संस्कृतिकी महत्ताकी निदर्शक हैं उसका एक शिलालेख यहाँ दिया जा रहा है। 'हमारी तीर्थयात्राके संस्मरण' नामक लेखमें इस नगरका कुछ परिचय कराया गया है। देखो, अनेकान्त वर्ष १२, किरण ७। —सम्पादक]

१—श्रीमत्परमगम्भीर स्याद्वादामोघलांछनम् ।
जीयात्त्रैलोक्य नाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥

२—स्वस्ति श्रीर्जयाश्च अभ्युदयाश्च जयत्यमलनानार्थप्रतिपत्तिप्रदर्शकम् ।

३—अर्हतः पुरुदेवस्य शासनं मोघ शासनं । स्वस्ति श्रीशिलाहार महाक्षत्रियान्वये ।

४—वित्रस्त शेषरिपुः प्रतीतिजर्जीति गो नाम नरेन्द्रोऽभूत् तस्य सुनूवो दान्तलो गोदलः ।

५—कीर्तिराजश्चन्द्रादित्यश्च इति चत्वारः । तत्र गोदलपति मूरसिंहो नाम नंदनः तस्य तनुजः गुवालो ।

६—गंगदेवः, बल्लालदेवः, भोजदेवः, गान्धारादित्यदेवश्चेति पंच तेषु धार्मिक धर्मजस्य वैरी

७—कान्ता वैधव्य दीक्षागुरोः सकलदर्शन चक्षुषः श्रीमद्गान्धारादित्य देवस्य प्रियातनयः ।

८—स्वस्ति समधिगत पंच महाशब्द महामण्डलेश्वरः तगरपुरवरार्धीश्वर ।

९—श्री शिलाहार नरेन्द्रः निजविलास विजितदेवेन्द्रः जीमूतवाहनान्वय प्रसूतः । शौर्य विख्यातः ।

१०—सुवर्णगरुड देवजः युवतिजनमकरध्वजः निर्दलित रिपु मण्डलिक कंदर्पः मरूवंश सूर्यः ।

११—अय्यनासिंहः सकलगुण तुंगः रिपुमण्डलिक भैरवः विद्वषगजकण्ठीरव ।

१२—उड्डुवरादित्यः कलियुगविक्रमादित्यः रूपनारायणः नीतिविजिता चारायणः ।

१३—गिरिदुर्ग लंघनः विहिताविरोधिवंचनः शनिवारसिद्धिः धर्मैकबुद्धिः ।

१४—महालक्ष्मीदेवी लब्धवरप्रसादः महजकस्तूरिकामोदः एवमादिनामा—

१५—वलिविराजमान श्रीजमादित्यदेवः बलावस्तरशिविरे, सुख-संकथा विनोदेन राज्यं ।

१६—कुर्वन्, शकवर्षेषु पंचषष्ठ्युत्तरसहस्रप्रमितेष्वतीतेषु प्रवर्तमाना

१७—दुंदुभि सम्वत्सर माघमास पौर्णमास्ये सोमवारे सोमग्रहण पूर्वा-निमित्तम ।

१८—अजरागकहोल्लअनुगतहविनां 'होरिलट्' ग्रामे कामदेवस्य हड़पा—

१९—वालेन श्रीमूलसंघ देशीगण पुस्तकगच्छ अधिपतेः क्षुल्लकपुर श्री रूपनारायण जि—

२०—नालयाचार्यस्य श्रीमान् माघनन्दिसिद्धान्तदेवस्य प्रयच्छ छत्रिणः सकलगुणरत्नपात्रेण

२१—जिन पादपद्मभृङ्गेण त्रिप्राकुलसमुत्तुंगधुरीणेन स्वकृति सद्भावेन वासुदेवेन ।

२२—कारित्यः वसतेः श्रीपार्श्वनाथ देवस्य अष्टविधार्चनमर्हन्तम् तच्चैत्यालय खण्ड—

२३—स्फुटिता जीर्णोद्धारार्थं तत्रेत्य यतिनां आहारदान अर्हंकुलम् तत्रैव ग्रामे ।

२४—कुण्डिदण्डेन निवर्तना चातुर्थभागप्रमितं क्षेत्रं द्वादश हस्त सम्मेतम् गृहनिवेशनं

२५—च तं माघनन्दिसिद्धान्तदेवः शिष्याणां माणिक्यनन्दि पण्डितदेवेन, पादौ प्रक्षाल्य धारा-

२६—पूर्वकं सर्पनामास्यं सवबाधा परिहारं चन्द्रार्कतारं शासनं दत्तवान् ।

२७—तद् आगामिभि अस्मद् इति वम्वस्यै राजभि आत्म-सुख-पुण्ययशस्शान्ति वृद्धि अभिलिपिस्यभिः—

२८—दत्ति निरवशेषं प्रतिपादनीयं इति मान्तरसाकेतेन नले आढ ।

२९—जिनप्रभु तत्र देवं अशरान्तगुणक्के तेन नेलेआढातयो ।

३०—जोयी तत्र गुरु तत्र अधियं विमुकामदेव साम्यतन यदुत्वं यदु ।

३१—पुण्य यदु उन्नति वासुदेवेन । (एपिग्राफिका इण्डिका भा० ३ पृ० २०८)

साधुत्वमें नग्नताका स्थान

(पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य बीना)

लेख लिखनेका कारण

एक लेख "दिगम्बर जैन साधुओंका नग्नत्व" शीर्षकसे जैन जगत (वर्धा) के फरवरी १९५९के अंकमें प्रकाशित हुआ है। लेख मूलतः गुजराती भाषाका था और "प्रबुद्ध जीवन" श्वे० गुजराती पत्रमें प्रकाशित हुआ था। लेखके लेखक "प्रबुद्ध जीवन" के सम्पादक श्री परमानन्द कुंवरजी कापड़िया हैं तथा जैन जगत वाला लेख उसी लेखका श्री भंवरलाल सिंघी द्वारा किया गया हिन्दी अनुवाद है।

जैन जगतके सपादक भाई जमनालाल जैनने लेखकका जो परिचय संपादकीय नोटमें दिया है उसे ठीक मानते हुए भी हम इतना कहना चाहेंगे कि लेखकने दिगम्बर जैन साधुओंके नग्नत्व पर विचार करनेके प्रसंगसे साधुत्वमें से नग्नता की प्रतिष्ठाको समाप्त करनेका जो प्रयत्न किया है उसे उचित नहीं कहा जा सकता है।

इस विषयमें पहली बात तो यह है कि लेखकने अपने लेखमें मानवीय विकासक्रमका जो खाका खींचा है उसे बुद्धिका निष्कर्ष तो माना जा सकता है परंतु उसकी वास्तविकता निर्विवाद नहीं कही जा सकती है।

दूसरी बात यह है कि सभ्यताके विषयमें जो कुछ लेखमें लिखा गया है उसमें लेखकने केवल भौतिकवादका ही सहारा लिया है जबकि साधुत्वकी आधारशिला विशुद्ध अध्यात्मवाद है अतः भौतिकवादकी सभ्यताके साथ अध्यात्मवादमें समर्पित नग्नताका यदि मेल न हो, तो इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिये।

तीसरी बात यह है कि बदलती हुई शारीरिक परिस्थितियां हमें नग्नतासे विमुख तो कर सकती हैं परन्तु सिर्फ इसी आधार पर हमारा साधुत्वमें से नग्नताके स्थानको समाप्त करनेका प्रयत्न सही नहीं हो सकता है।

साधुत्वका उद्देश्य

प्रायः सभी संस्कृतियोंमें मानववर्गको दो भागोंमें बांटा गया है—एक तो जनसाधारणका वर्ग गृहस्थवर्ग और दूसरा साधुवर्ग। जहां जनसाधारणका उद्देश्य केवल सुखपूर्वक जीवन यापन करनेका होता है वहां साधुका उद्देश्य या तो जनसाधारणको जीवनके कर्त्तव्य मार्गका उपदेश देनेका होता है अथवा बहुतसे मनुष्य मुक्ति प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही साधुमार्गका अवलंबन लिया करते हैं। जैन संस्कृतिमें मुख्यतः मुक्ति प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही साधुमार्गके अवलंबन की बात कही गयी है।

"जीवका शरीरसे सर्वथा संबंध विच्छेद हो जाना" मुक्ति कहलाती है परन्तु यह दि० जैन संस्कृतिके अभिप्रायानुसार उसी मनुष्यको प्राप्त होती है जिस मनुष्यमें अपने वर्तमान जीवनकी सुरक्षाका आधारभूत शरीरकी स्थिरताके लिये भोजन, वस्त्र, औषधि आदि साधनोंकी आवश्यकता शेष नहीं रह जाती है और ऐसे मनुष्यको साधुओंका चरमभेद स्नातक (निष्णात्) या जीवन्मुक्त नामसे पुकारा जाता है।

साधुत्वमें नग्नताको प्रश्रय क्यों ?

सामान्य रूपसे जैन संस्कृतिकी मान्यता यह है कि प्रत्येक शरीरमें उस शरीरसे अतिरिक्त जीवका अस्तित्व रहता है। परन्तु वह शरीरके साथ इतना घुला-मिला है कि शरीरके रूपमें ही उसका अस्तित्व समझमें आता है और जीवके अन्दर जो ज्ञान करनेकी शक्ति मानी गयी है वह भी शरीरका अंगभूत इन्द्रियोंके सहयोगके बिना पंगु बनी रहती है, इतना ही नहीं, जीव शरीरके इतना अधीन हो रहा है कि उसके जीवनकी स्थिरता शरीरकी स्वास्थ्यमय स्थिरता पर ही अवलंबित रहती है। जीवकी शरीरावलंबनताका यह भी एक विचित्र किन्तु तथ्यपूर्ण अनुभव है कि जब शरीरमें शिथिलता आदि किसी किस्मके विकार पैदा हो जाते हैं तो जीवको क्लेशका अनुभव होने लगता है और जब उन विकारोंको नष्ट करनेके लिये अनुकूल भोजन आदिका सहारा ले लिया जाता है तो उनका नाश हो जाने पर जीवको सुखानुभव होने लगता है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि भोजनादि पदार्थ शरीर पर ही अपना प्रभाव डालते हैं परन्तु शरीरके साथ अनन्यमयी पराधीनताके कारण सुखका अनुभोक्ता जीव होता है।

दिगम्बर जैन संस्कृतिकी यह मान्यता है कि जीव जिस शरीरके साथ अनन्य मय हो रहा है उसकी स्वास्थ्यमय स्थिरताके लिये जब तक भोजन, वस्त्र, औषधि आदिकी आवश्यकता बनी रहती है तब तक उस जीवका मुक्त होना असंभव है और यही एक सबब है कि दि० जैन संस्कृति

द्वारा साधुत्वमें नग्नताको प्रश्रय दिया गया है। दूसरी बात यह है कि यदि हम इस बातको ठीक तरहसे समझ लें कि साधुत्वकी भूमिका मानव जीवनमें किस प्रकार तैयार होती है? तो सम्भवतः साधुत्वमें नग्नताके प्रति हमारा आकर्षण बढ़ जायगा।

साधुत्वकी भूमिका

जीव केवल शरीरके ही अधीन है, सो बात नहीं है; प्रत्युत वह मनके भी अधीन हो रहा है और इस मनकी अधीनताने जीवको इस तरह दबाया है कि न तो वह अपने हितकी बात सोच सकता है और न शारीरिक स्वास्थ्य की बात सोचने की ही उसमें क्षमता रह जाती है। वह तो केवल अभिलाषाओंकी पूर्तिके लिये अपने हित और शारीरिक स्वास्थ्यके प्रतिकूल ही आचरण किया करता है।

यदि हम अपनी स्थितिका थोड़ासा भी अध्ययन करने का प्रयत्न करें तो मालूम होगा कि यद्यपि भोजन आदि पदार्थोंकी मनके लिये कुछ भी उपयोगिता नहीं है, वे केवल शरीरके लिये ही उपयोगी सिद्ध होते हैं। फिर भी मनके वशीभूत होकर हम ऐसा भोजन करनेसे नहीं चूकते हैं जो हमारी शारीरिक प्रकृतिके बिल्कुल प्रतिकूल पड़ता है और जब इसके परिणाम स्वरूप हमें कष्ट होने लगता है तो उसका समस्त दोष हम भगवान या भाग्यके ऊपर थोपनेकी चेष्टा करते हैं। इसी प्रकार वस्त्र या दूसरी उपभोगकी वस्तुओंके विषयमें हम जितनी मानसिक अनुकूलताकी बात सोचते हैं उतनी शारीरिक स्वास्थ्यकी अनुकूलताकी बात नहीं सोचते। यहां तक कि एक तरफ तो शारीरिक स्वास्थ्य बिगड़ता चला जाता है और दूसरी तरफ मनकी प्रेरणासे हम उन्हीं साधनोंको जुटाते चले जाते हैं जो साधन हमारे शारीरिक स्वास्थ्यको बिगाड़ने वाले होते हैं। इतना ही नहीं, उन साधनोंके जुटानेमें विविध प्रकारकी परेशानीका अनुभव करते हुए भी हम परेशान नहीं होते बल्कि उन साधनोंके जुट जाने पर हम आनन्दका ही अनुभव करते हैं।

मनकी आधीनतामें हम केवल अपना या शरीरका ही अहित नहीं करते हैं, बल्कि इस मनकी अधीनताके कारण हमारा इतना पतन हो रहा है कि विना प्रयोजन हम दूसरोंका भी अहित करनेसे नहीं चूकते हैं और इसमें भी आनन्दका रस लेते हैं।

दि० जैन संस्कृतिका मुक्ति प्राप्तिके विषयमें यह उपदेश है कि मनुष्यको इसके लिए सबसे पहले अपनी उक्त मानसिक पराधीनताको नष्ट करना चाहिए और तब इसके बाद उसे साधुत्व ग्रहण करना चाहिए। यद्यपि आजकल प्रायः सभी सम्प्रदायोंमें उक्त मानसिक पराधीनताके रहते हुए ही प्राय: साधुत्व ग्रहण करने की होड़ लगी हुई है, परन्तु नियम यह है कि जो साधुत्व मानसिक पराधीनतासे छुटकारा पानेके बाद ग्रहण किया जाता है वही सार्थक हो सकता है और उसीसे ही मुक्ति प्राप्त होनेकी आशा की जा सकती है। तात्पर्य यह है कि उक्त मानसिक पराधीनताकी समाप्ति ही साधुत्व ग्रहण करनेके लिए मनुष्यको भूमिका काम देती है। इसको (मानसिक पराधीनताकी समाप्तिको) जैन संस्कृतिमें सम्यग्दर्शन नामसे पुकारा गया है और क्षमा, मार्दव आर्जव, सत्य शौच, और संयम ये छह धर्म उस सम्यग्दर्शनके अंग माने गए हैं।

मानव-जीवनमें सम्यग्दर्शनका उद्भव

प्रत्येक जीवके जीवनकी सुरक्षा 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्रमें प्रतिपादित दूसरे जीवोंके सहयोग पर निर्भर है। परन्तु मानव जीवनमें तो इसकी वास्तविकता स्पष्ट रूपसे दिखाई देती है। इसी लिए ही मनुष्यको सामाजिक प्राणी स्वीकार किया गया है, जिसका अर्थ यह होता है कि सामान्यता मनुष्य कौटुम्बिक सहवास आदि मानव समाजके विविध संगठनोंके दायरेमें रहकर ही अपना जीवन सुखपूर्वक बिता सकता है। इसलिए कुटुम्ब, ग्राम, प्रान्त, देश और विश्वके रूपमें मानव संगठनके छोटे-बड़े जितने रूप हो सकते हैं उन सबको संगठित रखनेका प्रयत्न प्रत्येक मनुष्यको सतत करते रहना चाहिए। इसके लिये प्रत्येक मनुष्यको अपने जीवनमें "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" का सिद्धान्त अपनानेकी अनिवार्य आवश्यकता है, जिसका अर्थ यह है कि "जैसा व्यवहार दूसरोंसे हम अपने प्रति नहीं चाहते हैं वैसा व्यवहार हम दूसरोंके साथ भी न करें और जैसा व्यवहार दूसरोंसे हम अपने प्रति चाहते हैं वैसा व्यवहार हम दूसरोंके साथ भी करें।'

अभी तो प्रत्येक मनुष्यकी यह हालत है कि वह प्रायः दूसरोंको निरपेक्ष सहयोग देनेके लिए तो तैयार ही नहीं होता है। परन्तु अपनी प्रयोजन सिद्धिके लिए प्रत्येक मनुष्य न केवल दूसरोंसे सहयोग लेनेके लिए सदा तैयार रहता है। बल्कि दूसरोंको कष्ट पहुँचाने, उनके साथ विषमताका व्यवहार करने और उन्हें धोखेमें डालनेसे भी वह नहीं चूकता है। इतना ही नहीं, प्रत्येक मनुष्यका यह स्वभाव बना हुआ

है कि अपना कोई प्रयोजन न रहते हुए भी दूसरोंके प्रति उक्त प्रकारका अनुचित व्यवहार करनेमें उसे आनन्द आता है।

जैन संस्कृतिका उपदेश यह है कि 'अपना प्रयोजन रहते न रहते कभी किसीके साथ उक्त प्रकारका अनुचित व्यवहार मत करो। इतना ही नहीं, दूसरोंको यथा-अवसर निरपेक्ष सहायता पहुँचानेको सदा तैयार रहो' ऐसा करनेसे एक तो मानव संगठन स्थायी होगा, दूसरे प्रत्येक मनुष्यको उस मानसिक पराधीनतासे छुटकारा मिल जायेगा, जिसके रहते हुए वह अपनेको सभ्य नागरिक तो दूर मनुष्य कहलाने तक का अधिकारी नहीं हो सकता है।

अपना प्रयोजन रहते न रहते दूसरोंको कष्ट नहीं पहुंचाना, इसे ही क्षमाधर्म, कभी भी दूसरोंके साथ विषमताका व्यवहार नहीं करना व इसे ही मार्दव धर्म; कभीभी दूसरोंको धोखे में नहीं डालना, इसेही आर्जव धर्म; और यथा अवसर दूसरोंको निरपेक्ष सहायता पहुंचाना, इसे ही सत्यधर्म समझना चाहिए। इन चारों धर्मोको जीवनमें उतार लेने पर मनुष्यको मनुष्य, नागरिक या सभ्य कहना उपयुक्त हो सकता है।

यह भी देखते हैं कि बहुत मनुष्य उक्त प्रकारसे सभ्य होते हुए भी लोभके इतने वशीभूत रहा करते हैं कि उन्हें सम्पत्तिके संग्रहमें जितना आनन्द आता है उतना आनन्द उसके भोगनेमें नहीं आता। इस लिए अपनी शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्तिमें वे बड़ा कंजूसीसे काम लिया करते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। इसी तरह दूसरे बहुतसे मनुष्योंकी प्रकृति इतनी लोलुप रहा करती है कि वे संपत्तिका उपभोग आवश्यकतासे अधिक करते हुए भी कभी तृप्त नहीं होते। इसलिए ऐसे मनुष्य भी अपना स्वास्थ्य बिगाड़ कर बैठ जाते हैं।

जैन संस्कृति बतलाती है कि भोजन आदि सामग्री शारीरिक स्वास्थ्यकी रक्षाके लिए बड़ी उपयोगी है इसलिए इसमें कंजूसीसे काम नहीं लेना चाहिए। लेकिन अच्छी बातोंका अतिक्रमण भी बहुत बुरा होता है, अतः भोजनादि सामग्रीके उपभोगमें लोलुपता भी नहीं दिखलाना चाहिये, क्योंकि शारीरिक स्वास्थ्यरक्षाके लिए भोजनादि जितने जरूरी हैं उतना ही जरूरी उनका शारीरिक प्रकृतिके अनुकूल होना और निश्चित सीमातक भोगना भी है। इसलिए शरीरके लिए जहाँ तक इनकी आवश्यकता हो, वहां तक इनके उपभोगमें कंजूसी नहीं करना चाहिए और इनका उपभोग आवश्यकतासे अधिक भी नहीं करना चहिए।

आवश्यकता रहते हुए भोजनादि सामग्रीके उपभोगमें कंजूसी नहीं करना, इसे ही शौचधर्म और अनर्गल तरीकेसे उसका उपभोग नहीं करना इसे ही संयमधर्म समझना चाहिए।

इस प्रकार मानव जीवनमें उक्त क्षमा, मार्दव, आर्जव और सत्यधर्मोके साथ शौच और संयम-धर्मोका भी समावेश हो जाने पर सम्पूर्ण मानसिक पराधीनतासे मनुष्यको छुटकारा मिल जाता है और तब उस मनुष्यको विवेकी या सम्यग्दृष्टि नामसे पुकारा जाने लगता है क्योंकि तब उस मनुष्यके जीवनमें न केवल "आत्मन. प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत' का सिद्धान्त समाजाता है, बल्कि वह मनुष्य इस तथ्यको भी हृदयंगम कर लेता है कि भोजनादिकका उपयोग क्यों करना चाहिये और किस ढंगसे करना चाहिये?

सम्यग्दृष्टि मनुष्यकी साधुत्वकी ओर प्रगति

इस प्रकार मानसिक पराधीनताके समाप्त हो जाने पर मनुष्यके अन्तःकरणमें जो विवेक या सम्यग्दर्शनका जागरण होता है उसकी वजहसे, वह पहले जो भोजनादिकका उपभोग मनकी प्रेरणासे किया करता था, अबसे आगे उनका वह उपभोग वह शरीरकी आवश्यकताओंको ध्यानमें रखते हुए ही करने लगता है।

इस तरह साधुत्वकी भूमिका तैयार हो जाने पर वह मनुष्य अपना भावी कर्तव्य-मार्ग इस प्रकार निश्चित करता है कि जिससे वह शारीरिक पराधीनतासे भी छुटकारा पा सके।

वह सोचता है कि 'मेरा जीवन तो शरीराश्रित है ही, हां, लेकिन शरीरकी स्थिरताके लिये भी मुझे भोजन, वस्त्र, आवास और कौटुम्बिक महत्वासका सहारा लेना पड़ता है.इस तरह मैं मानव संगठनके विशाल चक्रमें फंसा हुआ हूं"।

इस डोरीको समाप्त करनेका एकही युक्ति संगत उपाय जैन संस्कृतिमें प्रतिपादित किया गया है कि शरीरको अधिकसे अधिक आत्म निर्भर बनाया जावे। इसके लिए (*जैन संस्कृति*) हमें दो प्रकारके निर्देश देती है—एक तो आत्मचिंतन द्वारा अपनी (आत्माकी) उस स्वावलम्बन शक्तिको जाग्रत करनेकी, जिसे अन्तरायकर्मने दबोचकर हमारे जीवनको भोजनादिकके अधीन बना रक्खा है और दूसरा व्रतादिकके द्वारा शरीरको सबल बनाते हुए भोजना-

दिककी आवश्यकताओंको-कम करनेका। इस प्रयत्नसे जैसे-जैसे शरीरके लिये भोजनादिककी आवश्यकतायें कम होती जायंगी (याने शरीर जितना-जितना आत्म-निर्भर होता जायगा) वैसे-वैसे ही हम अपने भोजनमें सुधार और वस्त्र, आवास तथा कौटुम्बिक सहवासमें कमी करते जावेंगे जिससे हमें मानव संगठनके चक्करसे निकलकर (याने समष्टि गत जीवनको समाप्तकर) वैयक्तिक जीवन बितानेकी क्षमता प्राप्त हो जायगी।

आत्माकी स्वावलंबन शक्तिको जाग्रत करने और शरीर सम्बन्धी भोजनादिककी आवश्यकताओंको कम करनेके प्रयत्नोंको जैन संस्कृतिमें क्रमशः अन्तरंग और बाह्य दो प्रकारका तपधर्म तथा भोजनादिकमें सुधार और कमी करने को त्यागधर्म कहा गया है।

साधु मार्गमें प्रवेश

जीवनमें तप और त्याग इन दोनों धर्मोंकी प्रगति करते हुए विवेक या सम्यग्दर्शन सम्पन्न मनुष्य जब जन साधारणके वर्गसे बाहर रह कर जीवन बितानेमें पूर्ण सक्षमता प्राप्त कर लेता है और शारीरिक स्वास्थ्यकी रक्षाके लिये उसको वस्त्र ग्रहणकी आवश्यकता समाप्त हो जाती है तब वह नग्न दिगम्बर होकर दिगम्बर जैन संस्कृतिके अनुसार साधु-मार्गमें प्रवेश करता है। नग्न दिगम्बर बन कर जीवन बितानेको दिगम्बर जैन संस्कृतिमें आकिंचन्य धर्म कहा गया है। आकिंचन्य शब्दका अर्थ है, पासमें कुछ नहीं रह जाना, अर्थात् अब तक मनुष्यने जो शरीर रक्षाके लिये वस्त्र, आवास, कुटुम्ब और जन साधारणसे सम्बन्ध जोड़ रक्खा था, वह सब उसने समाप्त कर दिया है केवल शरीरकी स्थिरताके लिये भोजनसे ही उसका सम्बन्ध रह गया है और भोजन ग्रहण करनेकी प्रक्रियामें भी उसने इस किस्मसे सुधार कर लिया है कि उसे पराश्रयताका लेशमात्रभी अनुभव नहीं होता है। इतने पर भी कदाचित् पराश्रयताका अनुभव होनेकी सम्भावना हो जाय तो पराश्रयता स्वीकार करनेकी अपेक्षा सन्यस्त होकर (समाधिमरण धारण करके) जीवन समाप्त करनेके लिये सदा तैयार रहता है। भोजनसे उसका सम्बन्ध भी तब तक रहता है जब तक कि शरीर रक्षाके लिये उसकी आवश्यकता बनी रहती है, इसलिये जब शरीर पूर्णरूपसे आत्म निर्भर हो जाता है तब उसका भोजनसे भी सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और फिर शरीर की यह आत्मनिर्भरता तब तक बनी रहती है जब तक कि जीवका उस शरीरसे सम्बन्धविच्छेद नहीं हो जाता है। शरीरका पूर्ण रूपसे आत्म निर्भर हो जानेसे मनुष्यका भोजनसे भी सम्बन्ध विच्छेद हो जानेको आकिंचन्य धर्मकी पूर्णता कहते हैं और इस तरह आकिंचन्यधर्मकी पूर्णता हो जाने पर उसे साधु वर्गका चरमभेद स्नातक नामसे पुकारने लगते हैं। जैन संस्कृतिमें यही जीवन्मुक्त परमात्मा कहलाता है। यह जीवन्मुक्त परमात्मा आयुकी समाप्ति हो जाने पर शरीरसे सर्वथा सम्बन्ध विच्छेद होजानेके कारण जो अपने आपमें स्थिर हो जाता है यही ब्रह्मचर्य धर्म है और यही मुक्ति है। इस ब्रह्मचर्य धर्म अथवा मुक्तिकी प्राप्तिमें ही मनुष्य का साधुमार्गके अवलम्बनका प्रयास सफल हो जाता है।

यहां पर हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि दि० जैन संस्कृतिमें साधुओंको जन-साधारण वर्गसे अलग परस्पर समूह बनाकर अथवा एकाकी वास करनेका निर्देश किया गया है। अत. जब उन्हें भोजन ग्रहण करनेकी आवश्यकता महसूस हो, तभी और सिर्फ भोजनके लिये ही जन साधारणके सम्पर्कमें आना चाहिये। वैसे जनसाधारण चाहें, तो उनके पास पहुंच कर उनसे उपदेश ग्रहण कर सकते हैं।

अन्तिम निष्कर्ष

इस लेखमें साधुत्वके विषयमें लिखा गया है वह यद्यपि दि० जैन संस्कृतिके दृष्टिकोणके आधार पर ही लिखा गया है परन्तु यह समझना भूल होगी कि साधुत्वके विषयमें इससे भिन्न दृष्टिकोण भी अपनाया जा सकता है कारण कि साधुत्व ग्रहण करते समय मनुष्यके सामने निर्विवाद रूपसे आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिको उत्तरोत्तर बढ़ाना और शरीरमें अधिक से अधिक आत्मनिर्भरता लाना एक मात्र लक्ष्य रहना उचित है। अतः किसी भी सम्प्रदायका साधु क्यों न हो, उसे अपने जीवनमें दिगम्बरजैनसंस्कृति द्वारा समर्थित दृष्टिकोण ही अपनाना होगा अन्यथा साधुत्व ग्रहण करनेका उसका उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा।

वर्तमानमें सभी सम्प्रदायोंके साधु-जिनमें दि० जैन सम्प्रदायके साधु भी सम्मिलित हैं, साधुत्वके स्वरूप, उद्देश्य और उत्पत्तिक्रमकी नासमझीके कारण बिल्कुल पथभ्रष्ट हो रहे हैं। इसलिए केवल सम्प्रदाय विशेषके साधुओंकी आलोचना करना यद्यपि अनुचित ही माना जायगा फिर भी जिस सम्प्रदायके साधुओंकी आलोचना की जाती है उस सम्प्रदायके लोगोंको इससे रुष्ट भी नहीं होना चाहिये कारण

कि आखिर वे साधु किसी न किसी रूपमें पथभ्रष्ट तो रहते ही हैं अतः रुष्ट होनेकी अपेक्षा दोषोंको निकालनेका ही उन्हें प्रयत्न करना चाहिए। अच्छा होगा, यदि भाई परमानन्द कुंवरजी कापडिया साधुत्वमेंसे नग्नताकी प्रतिष्ठाको समाप्त करनेका प्रयत्न न करके केवल दि० जैन साधुओंके अवगुणोंकी इस तरह आलोचना करते, जिससे उनका मार्ग-दर्शन होता।

प्रश्न—जिस प्रकार पीछी, कमण्डलु और पुस्तक पासमें रखने पर भी दि० जैन साधु अकिंचन (निर्ग्रन्थ) बना रहता है उसी प्रकार वस्त्र रखने पर भी उसके अकिंचन बने रहनेमें आपत्ति क्यों होना चाहिये ?

उत्तर—दि० जैन साधु कमण्डलु तो जीवनका अनिवार्य कार्य मलशुद्धिके लिए रखता है, पीछी स्थान शोधनके काममें आती है और पुस्तक ज्ञानवृद्धिका कारण है अतः अकिंचन साधुको इनके पासमें रखनेकी छूट दि० जैन संस्कृतिमें दी गयी है परन्तु इन वस्तुओंको पासमें रखते हुए वह इनके सम्बन्धमें परिग्रही ही है, अपरिग्रही नहीं। इसी प्रकार जो साधु शरीर रक्षाके लिए अथवा सभ्य कहलानेके लिए वस्त्र धारण करता है तो उसे कमसे कम उस वस्त्रका परिग्रही मानना अनिवार्य होगा।

तात्पर्य यह है कि जो साधु वस्त्र रखते हुए भी अपनेको साधुमार्गी मानते हैं या लोक उन्हें साधुमार्गी कहता है तो यह विषय दि० जैन संस्कृतिके दृष्टिकोणके अनुसार विवादका नहीं है क्योंकि दि० जैन संस्कृतिमें साधुत्वके विषयमें जो नग्नता पर जोर दिया गया है उसका अभिप्राय तो सिर्फ इतना ही है कि सवस्त्र साधुमें नग्न साधुकी अपेक्षा आत्माकी स्वावलम्बन शक्तिके विकास और शरीरकी आत्म-निर्भरताकी उतनी कमी रहना स्वाभाविक है जिस कमीके कारण उसे वस्त्र ग्रहण करना पड़ रहा है। इस प्रकार वस्त्र त्यागकी असामर्थ्य रहते हुए वस्त्रका धारण करना निन्दनीय नहीं माना जा सकता है प्रत्युत वस्त्र-त्यागकी असामर्थ्य रहते हुए भी नग्नताका धारण करना निन्दनीय ही माना जायेगा क्योंकि इस तरहके प्रयत्नसे साधुत्वमें उत्कर्ष होनेकी अपेक्षा अपकर्ष ही हो सकता है यही सबब है कि दिगम्बर जैन संस्कृतिमें नग्नताको किसी एक हद तक साधुत्वका परिणाम ही माना गया है साधुत्वमें नग्नताको कारण नहीं माना गया है।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार समझना चाहिये कि साधुत्व ग्रहण करनेकी योग्यता रखने वाले, तीसरे, चौथे और पाँचवें गुणस्थान वर्ती मनुष्योंमें जब साधुत्वका उदय होता है तो उस हालतमें उनके पहले सातवां गुणस्थान ही होता है छठा गुणस्थान ही इसके बादमें ही हुआ करता है इसका आशय यही है कि जब मनुष्यकी मानसिक परिणतिमें साधुत्व समाविष्ट हो जाता है तभी बाह्यरूपमें भी साधुत्वको अपनाते हुए वह नग्नताकी ओर उन्मुख होता है।

तात्पर्य यह है कि सप्तम गुणस्थानका आधार साधुत्वकी अन्तर्मुख प्रवृत्ति है और षष्ठ गुणस्थानका आधार साधुत्वकी बहिर्मुख प्रवृत्ति है। साधुत्वकी ओर अभिमुख होने वाले मनुष्यकी साधुत्वकी अन्तर्मुख प्रवृत्ति पहले हो जाया करती है, इसके बाद हो जब वह मनुष्य बहिःप्रवृत्तिकी ओर झुकता है तब वस्त्रोंका त्याग करता है अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साधुत्वका कार्य नग्नता है नग्नताका कार्य साधुत्व नहीं, यद्यपि नग्नता अंतरंग साधुत्वके बिना भी देखनेमें आती है परन्तु जहाँ अन्तरंग साधुत्वकी प्रेरणासे बाह्य वेशमें नग्नताको अपनाया जाता है वही सच्चा साधुत्व है।

प्रश्न—जब ऊपरके कथनसे यह स्पष्ट होता है कि मनुष्यके सातवां गुणस्थान प्रारम्भमें सवस्त्र हालतमें ही हो जाया करता है और इसके बाद छठे गुणस्थानमें आने पर वह वस्त्रको अलग करता है। तो इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि सातवें गुणस्थानकी तरह आठवां आदि गुणस्थानोंका सम्बन्ध भी मनुष्यकी अन्तरंग प्रवृत्तिसे होनेके कारण सवस्त्र मुक्तिके समर्थनमें कोई बाधा नहीं रह जाती है और इस तरह दि० जैन संस्कृतिका स्त्रीमुक्ति निषेध भी असंगत हो जाता है।

उत्तर—यद्यपि सभी गुणस्थानोंका सम्बन्ध जीवकी अन्तरंग प्रवृत्तिसे ही है, परन्तु कुछ गुणस्थान ऐसे हैं जो अन्तरंग प्रवृत्तिके साथ बाह्यवेशके आधार पर व्यवहारमें आने योग्य हैं। ऐसे गुणस्थान पहला, तीसरा, चौथा, पांचवाँ; छठा और तेरहवां ये सब हैं शेष गुणस्थान दूसरा, सातवां, आठवां, नवमां, दशवां, ग्यारहवाँ, बारहवां और चौदहवां ये सब केवल अन्तरंग प्रवृत्ति पर ही आधारित हैं। इसलिए जो मनुष्य सवस्त्र होते हुए भी केवल अपनी अन्तः प्रवृत्तिकी ओर जिस समय उन्मुख हो जाया करते हैं उन मनुष्योंके उस समयमें वस्त्रका विकल्प समाप्त हो जानेके कारण सातवेंसे बारहवें तकके गुणस्थान मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है। दि० जैन संस्कृतिमें भी चेलोपसृष्ट साधु-

ओंका कथन तो आता ही है। परन्तु दि० जैन संस्कृतिकी मान्यतानुसार मनुष्यके छठा गुणस्थान इसलिये सम्भव नहीं है कि वह गुणस्थान ऊपर कहे अनुसार साधुत्वकी अन्तरंग प्रवृत्तिके साथ उसके बाह्य वेश पर आधारित है, अतः जब तक वस्त्रका त्याग बाह्यरूपमें नहीं हो जाता है तब तक दि० जैन संस्कृतिके अनुसार वह साधु नहीं कहा जा सकता है। इसी आधार पर सवस्त्र होनेके कारण द्रव्य स्त्रीके छठे गुणस्थानकी सम्भावना तो समाप्त हो जाती है। परन्तु पुरुषकी तरह उसके भी सातवां आदि गुणस्थान हो सकते हैं या मुक्ति हो सकती है इसका निर्णय इस आधार पर ही किया जा सकता है कि उसके संहनन कौन सा पाया जाता है। मुक्तिके विषयमें जैन संस्कृतिकी यही मान्यता है कि वह वज्र-वृषभनाराचसंहनन वाले मनुष्यको ही प्राप्त होती है और यह संहनन द्रव्यस्त्रीके सम्भव नहीं है। अतः उसके मुक्तिका निषेध दि० जैन संस्कृतिमें किया गया है। मनुष्यके तेरहवें गुणस्थानमें वस्त्रकी सत्ताको स्वीकार करना तो सर्वथा अयुक्त है क्योंकि एक तो तेरहवां गुणस्थान षष्ठगुणस्थानके समान अन्तरंग प्रवृत्तिके साथ-साथ बाह्य प्रवृत्ति पर अवलम्बित है, दूसरे वहाँ पर आत्माकी स्वालम्बन शक्ति और शरीरकी आत्मनिर्भरताकी पूर्णता हो जाती है, इसलिए वहाँ वस्त्रस्वीकृतिकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। दि० जैन संस्कृतिमें द्रव्यस्त्रीको मुक्ति न माननेका यह भी एक कारण है।

जिन लोगोंका यह ख्याल है कि साधुके भोजन ग्रहण और वस्त्र ग्रहण दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है उनसे हमारा इतना कहना ही पर्याप्त है कि जीवनके लिए या शरीर रक्षाके लिए जितना अनिवार्य भोजन है उतना अनिवार्य वस्त्र नहीं है, जितना अनिवार्य वस्त्र है उतना अनिवार्य आवास नहीं है और जितना अनिवार्य आवास है उतना अनिवार्य कौटुम्बिक सहवास नहीं है।

अन्तमें स्थूल रूपसे साधुका लक्षण यही हो सकता है कि जो मनुष्य मन पर पूर्ण विजय पा लेनेके अन्तर यथाशक्ति शारीरिक आवश्यकताओंको कम करते हुए भोजन आदिकी पराधीनताको घटाता हुआ चला जाता है वही साधु कहलाता है।

(बीना—ता० २१।३।५५)

भारतीय इतिहासका एक विस्मृत पृष्ठ

(जैन सम्राट् राणा सुहेलदेव)

[श्रीलल्लन प्रसाद व्यास]

सहस्रों वर्षकी दासताने हमारे राष्ट्रको निर्जीव-सा बना दिया है। इस दीर्घकालीन परतन्त्रता रूपी झंझाके थपेड़ोंने देशकी संस्कृति, धर्म, साहित्य और इतिहासको ध्वस्त व्यस्त कर दिया है। विदेशी शासक, जिसमें विशेषतः अंग्रेजोंने इस देशमें राजनैतिक पारतन्त्रके अपेक्षा मानसिक पारतन्त्र पर अधिक जोर दिया। कारण कि मानसिक पारतन्त्रसे सम्पूर्ण राष्ट्रमें आत्म-विस्मृति हो जाती है और फिर वह राष्ट्र परतन्त्रताकी बेड़ियोंसे और भी जोरोंसे जकड़ा जाता है इसी नीतिको ध्यानमें रखते हुए, विदेशियोंने हमारे अतीतके गौरवमय इतिहासको विनष्ट करने तथा शेषको असत्यमें परिवर्तित कर देनेके सफल प्रयास किए। क्योंकि वे भली भांति जानते थे कि यदि किसी जातिको नष्ट करना है तो सर्वप्रथम उसके ऐतिहासिक महत्वको नष्ट कर देना चाहिए। इसलिए यद्यपि आज हमने राजनैतिक रूपसे स्वतन्त्रता प्राप्त करली है परन्तु मानसिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनेमें अब भी कुछ समय है।

तो, आज हम स्वतन्त्र हैं। परन्तु अभी हमें अपना (स्व) तन्त्र निर्माण करना शेष है। जिसके बिना हम 'स्वतन्त्र' नहीं कहे जा सकते। अतः हमें अपने वास्तविक इतिहासका निर्माण करना बहुत आवश्यक है जो हमारे राष्ट्र जीवनमें सदैव नवस्फूर्ति और प्रेरणाका संचार कर सके। छत्रसाल जयन्तीके अवसर पर भाषण करते हुए राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसादने कहा कि मुझे अत्यन्त खेद है कि भारतीय इतिहासमें छत्रसाल ऐसे महापुरुषका उल्लेख तक नहीं है तथा उन्होंने आश्वासन दिया कि भविष्यमें देशका वास्तविक इतिहास लिखा जाने वाला है।

उसी प्रकार दुर्भाग्यका विषय है कि हमारे इतिहासकार श्रावस्ती नरेश, वीर राणा सुहेलदेवको भी भूल गए जिन्होंने अपनी शक्ति और पराक्रमसे भारत देशको विदेशी आक्रमणकारियोंसे रहित कर दिया था और फिर सैकड़ों वर्षों तक किसी भी विदेशीने भारतवर्षमें आनेका नाम तक न लिया। क्या इस राष्ट्र-पुरुषको हमारा देश कभी भुला सकता है? कदापि नहीं। आज सत्यको छिपानेका चाहे कोई दुस्साहस करे परन्तु कल तो वह प्रकट होकर ही रहेगा और भविष्यमें लिखे जाने वाले देशके सच्चे वीर सुहेलदेवका नाम स्वर्ण अक्षरोंमें अंकित होगा। आज भी मानो श्रावस्ती-के खंडहर अपने गत वैभवकी कहानी सुना रहे हैं तथा उसके कण-कणसे 'राणा सुहेलदेवकी जय' की स्वर लहरी प्रस्फुटित हो रही है।

राणा सुहेलदेवसे सम्बन्धित ऐतिहासिक खोज

यह तो सर्वविदित है कि हमारा भारतीय इतिहास वीर सुहेलदेवके सम्बन्धमें पूर्णतः मौन है। इस सम्बन्धमें अभी तक जो कुछ भी ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हो सकी है उसी पर हमको सन्तोष करना पड़ता है।

प्रथम, आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्टमें सम्राट् सुहेलदेव-को प्रतापी सम्राट् मोरध्वज, हंसध्वज और सुधनध्वजका वंशज तथा श्रावस्तीका अन्तिम जैन सम्राट् माना गया है। युद्धमें सम्राट् सुहेलदेवके हाथों सलार मसऊद गाजीके वधका भी उल्लेख है। द्वितीय, गजेटियर जिला बहराइचसे भी सम्राट् सुहेलदेव जैनी सम्राट् ज्ञात होते हैं तथा इनकी राजधानी श्रावस्तीपुरी थी। तृतीय, श्रीकंठचरित्रमें भी सम्राट सुहेलदेवका उल्लेख है और उनका काश्मीरकी एक विद्वानोंकी सभामें जाना वर्णित है। इसके अतिरिक्त कुछ इतिहासकारोंका मत है कि सम्राट् सुहेलदेव कोई स्वतन्त्र राजा न थे बल्कि अपने समकालीन कन्नौज सम्राट्के आधीन थे। परन्तु यह तो सर्वमान्य सत्य है कि कन्नौजके सम्राट् इसके पूर्वसे ही मुसलमानोंके मित्र हो चुके थे और विशेष रूपसे उनका सैयद सलार मसऊदके बीच भीषण युद्धका प्रश्न ही नहीं उठता।

कतिपय विदेशियोंने ईर्ष्या और द्वेष वश सम्राट् सुहेलदेवको 'भर' अथवा 'डोम' जातिका कह डाला है। उदाहरणार्थ स्मिथ और नेवायलने इनको 'भर' अथवा 'डोम' जातिका सम्राट् कहा है और यही भूल मीरात मसऊदीमें भी की गई। परन्तु कुछ हिन्दू और जैन ग्रंथोंका अध्ययन करनेसे यह बात सर्वथा असत्य जान पड़ती है। श्रीकंठचरित्रमें सम्राट् सुहेलदेव राजवंशी क्षत्रिय कहे गये हैं। गोंडा गजेटियरमें इनको राजपूत सम्राट् बतलाया है। परगना बुक बहराइचमें भी इनका क्षत्रिय वंश उल्लिखित है।

अतएव सम्राट् सुहेलदेवके सम्बन्धमें उपलब्ध, अब तकके समस्त ग्रन्थोंका मन्थन करनेसे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वीर सुहेलदेव, गजनवीके समकालीन, कोशल-के सम्राट् थे, जिनकी राजधानी श्रावस्तीपुरी थी। ये क्षत्री थे तथा जैनधर्मको मानते थे। उन्होंने यवनाधिपति सैयद सलार मसऊद गाजीको युद्धमें मार डाला और एक बार इस भारत भूमिको परकीयोंसे रहित कर दिया।

युद्धसे पूर्व देशकी दशा और युद्ध

वीर सम्राट् सुहेलदेवके जीवनकालमें युद्ध ही एक ऐतिहासिक महत्वकी घटना थी। इस युद्धकी विजयश्रीने ही उन्हें सदैवके लिए अमर बना दिया। इसलिए युद्धके बारेमें थोड़ा बहुत ज्ञान होना अति आवश्यक है।

युद्धके पूर्व देश धन धान्यसे सम्पन्न किन्तु छोटे-छोटे राज्योंमें विभाजित था। देशमें एक सुसंगठित शक्तिका अभाव था। लगभग समस्त राजागणोंमें संकुचित मनोवृत्ति होनेके कारण वे आपसमें ही युद्ध किया करते थे। हमारे देशके इतिहासकी असफलता और पराजयसे परिपूर्ण सहस्रों वर्षकी लम्बी करुण कहानीका सारांश यही है कि शेर शेर आपस में ही लड़कर समाप्त हो गये तथा गीदड़ोंने राज्य किया। उसी प्रकारसे हमारी विघटित तथा क्षीण शक्तिसे लाभ उठाकर महमूद गजनवीने एक दो नहीं सत्रह बार इस देश पर आक्रमण किया और अपार धन यहांसे गजनी ले गया। कन्नौज उस समय देशका केन्द्र था, यथा यहांके राजाने पहले ही राष्ट्रीय आत्म-सम्मानको तिलांजलि देते हुये अन्य राजाओंकी सम्मतिके बिना ही यवनोंसे सन्धि कर ली थी। इसके अतिरिक्त एक दूसरा संकट देश पर आने वाला था। महमूद गजनवीका भानजा सैयद सलार मसूद इस्लाम-धर्म प्रचारकी आड़में भारतवर्ष पर भीषण आक्रमणके हेतु एक बहुत बड़ी सेनाका निर्माण कर रहा था। सत्रह बारके आक्रमणोंसे अनुभव प्राप्त महमूद गजनवीकी सेनाके भूतपूर्व सेनापति और सिपाही ही अधिकतर, सैयद सलार मसूदकी सेनामें भर्ती किये गये थे। इसके उपरान्त वह अपनी सेनाके

साथ गजनीसे भारतमें घुस आया। यहाँ आकर उसने भीषण लूटमार प्रारंभ करदी तथा तलवारके जोरसे इस्लाम-धर्मका प्रसार करने लगा। चारों ओर जनता त्राहि-त्राहि कर उठी। किसीमें इतना साहस न था जो उसका सामना कर सके। लाहौर, दिल्ली, मथुरा, कानपुर, लखनऊ और सतारिख आदिको जीतता हुआ वह सन् १०३० में बालार्क-पुरी (बहराइच) आ पहुंचा और इसीको अपना केन्द्र बना कर रहने लगा।

इधर सैयद सलार मसूदका यह उत्पात देखकर देश-भक्तिकी भावनासे ओत-प्रोत वीर सम्राट सुहेलदेवकी तलवार अपने निरपराध देशवासियोंके खूनका बदला लेनेके लिए मचल रही थी। परन्तु वे शान्ति और अहिंसाके पुजारी थे। उन्होंने एक पत्रके द्वारा सैयद सलारको यह देश छोड़ देनेके लिए कहा। परन्तु वह तो देशका सर्वोच्च शासक बननेका स्वप्न देख रहा था और युद्धका इच्छुक था। वीर सुहेलदेव कब पीछे हटने वाले थे। 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' वे खूब जानते थे। अतः दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ होने लगीं। इधर सुहेलदेवके सेनापति त्रिलोकचन्द बोहराके सेनापतित्वमें प्रान्तके २१ तथा अन्य राजाओंकी भी सैन्य शक्तियाँ श्रावस्ती-के निकट राप्ती नदीके किनारे एकत्रित हुईं। सैयद सलार मसऊदकी सहायताके लिए भी बहराइच, महोबा, गोपामऊ, लखनऊ, मानिकपुर और बनारससे योद्धागण आये। श्रावस्तीसे लगभग चार मील दूर इकौनाके स्थान पर दोनों सेनाओंमें घमासान युद्ध हुआ। सैयद सलारकी पराजय हुई और उनका सेनापति युद्धमें मारा गया तथा शेष सभी बहराइच भाग आये। शत्रु अभी देशमें ही थे, ऐसी दशामें वीर सुहेलदेवको कैसे चैन पड सकता था। उनकी सेनाने आगे बढ़ कर बहराइचसे ७ कोस दूर प्यागपुरके स्थान पर पड़ाव डाला और सैयद सलारको पुनः ललकारा। उसने भी एक दिन अवसर पाकर एकदम सुहेलदेवकी सेना पर धावा बोल दिया। सैयद सलारकी सेना अत्यन्त वीरतासे लड़ी परन्तु सफलता प्राप्त न कर सकी और पुनः बहराइच भाग गई। वीर सुहेलदेवकी सेनाने उसका पीछा किया और बहराइचसे दो कोस दूर कुटिला नदीके किनारे जितौरा अथव चित्तौराके स्थान पर अपना पड़ाव डाला। सैयद सलारको जब इसकी सूचना मिली तो वह अत्यन्त भयभीत हुआ और अब उसको अपनी पराजयका स्पष्ट चित्र दृष्टि-गोचर होने लगा। मीरात मसूदीके अनुसार उस समय उसके मुँहसे ये शब्द निकले 'मौतका सामना है। वक्त आखीर है। यह इल्तिजा है कि मैंने जिसे सताया हो या किसीने मुझसे आजार पाया हो माफ करे। दिलको साफ करे। फिराक सुरी नज़दीक हैं। अब वस्ले बहेदत ला शरीक है।" परन्तु सैयद सलार मसऊदने इस बार एक बहुत बड़ी चाल चली है।

उसको निश्चय पता था, कि हिन्दू गऊको पूज्य मानते हैं और गऊओं पर कभी अस्त्र नहीं उठा सकते। इसलिए उसने अपनी सेनाके आगे बहुतसी गायोंको कर दिया। जिनके कारण विरोधी सेना इन पर तीरका वार न कर सके-परन्तु ये अपनी विरोधी सेना पर आसानीसे तीरवर्षा कर सकें ऐसे आपत्ति और संशयके क्षणोंमें वीर सुहेलदेव अपना कर्त्तव्य खूब पहचानते थे। बुद्धिमानी और चातुर्य्यमें भी वे किसीसे कम न थे। इसलिए उन्होंने आतिशबाजी और हल्की तीर वर्षासे गायोंको तितर-बितर कर दिया। अब क्या था, सुहलदेवकी सेना सैयद सलारकी सेनापर शेरोंकी भांति टूट पड़ी। उनकी तलवारें अरि शोणितसे अपनी प्यास बुझाने लगीं। इसी युद्ध पर देशके भाग्य-सूर्यका उदय अथवा अस्त होना निर्भर था। दोनों सेनायें बडी वीरतासे लड़ रही थीं। किन्तु इस समय सम्राट् सुहलदेवकी आंखें किसी और के लिएही व्याकुल थीं और वह था सैयद सलार। तभी सम्राट्ने उसे एक महुएके पेड़के नीचे युद्ध करता हुआ देखा। इन्हीं क्षणोंकी तो वे प्रतीक्षामें देश तथा धर्मके अपमानका बदला लेनेके लिए क्षण भरको उनका हृदय मचल उठा। देहसे क्रोधाग्नि निकलने लगी। अब अपनेको और सम्हालना उनके लिए असम्भव हो गया। सम्राट् सुहलदेव और यवनाधिपति सैयद सलारके बीच युद्ध प्रारम्भ हुआ। इतनेमें ही सम्राट् सुहलदेवके एक बाणने सैयद सलारको मृत्युलोक पहुँचा दिया। मीराते मसऊदी (फारसी) में इसका वर्णन इस प्रकार है :—

"निज़्द दरियाय कुटिला जेर दरख्त गुलचकां
व जर्बे नाविक हम चूँ मीर्जां शहीद शुदबै"

अर्थात् कुटिला नदीके किनारे, महुवेके वृक्षके नीचे, तीर-के द्वारा गला विंधनेसे मसऊद गाजी शहीद हुए।

इसके उपरान्त सैयद सलारके लगभग सभी सिपाही मारे गये। भारत भूमि यवनोंसे रहित हुई। देशके भाग्यका पुनः सूर्योदय हुआ। विजयकी सूचनासे सम्पूर्ण देशवासियों में प्रसन्नताकी एक लहर दौड़ गई। प्रजाके लिए तो राजा

सुहलदेव भगवान बन गये और वह पूर्ववत सुखसे रहने लगा।

सूर्यकुण्ड और सैयद सलारका मकबरा

सैयद सलारकी मृत्युके ३१० वर्ष बाद अर्थात १३५१ ई० में बादशाह फीरोज तुगलकने बंगाल पर चढ़ाई की और उसी समय वह सैयद सालार मसऊदका मकबरा बनवाने बहराइच आया। इतने वर्षोंके बाद सैयद सलार मसऊदकी कब्रका कोई चिन्ह तक शेष न रह गया था। बादशाहने यहा के सबसे वृद्ध मुसलमान कोसे जो अपनेको एक पहुंचा हुआ फ़क़ीर बतलाता था सैयद सलारकी कब्रके सम्बन्धमें पूछा। बालार्कपुरी (बहराइच) में एक सूर्य भगवानका मन्दिर था जो उस समय देश भरमें प्रसिद्ध था तथा इसके समीपही एक सूर्य कुण्ड था जिसके उष्ण जलसे कुष्टरोगी अच्छे हो जाया करते थे। उस मुसलमान फकीरने बादशाहको विश्वास दिलाया कि यहीं पर सैयद सलार मसऊद गाजीकी कब्र थी, जब कि वास्तविक स्थान कुटिला नदीके किनारे जित्तौरा या चित्तौरा जहाँ पर महुवेके वृक्षके नीचे सैयद सालार मारे गये थे बहराइचसे ४ मील पूर्वमें स्थित है और यह स्थान (सूर्यकुण्ड आदि) बहराइचसे १ मील उत्तरमें है। लेकिन बादशाह फीरोज तुगलकने इन सब बातों पर कोई ध्यान न दिया और फकीरके कहने पर सूर्यकुण्ड मिट्टीसे पटवा दिया तथा सूर्य भगवानके मन्दिरको ध्वस्त करके उस पर सैयद सलार मसऊदको गाजीका एक शानदार मकबरा बनवा दिया। वह अब भी वर्तमान है। इसके अतिरिक्त शुक्र, बुद्ध बृहस्पति, मंगल और चन्द्र आदि ग्रहोंके स्थान पर क्रमशः सुकरू सलार बुढ्ढन सलार, पीरू सलार, हटीले तथा मीर माहकी कब्रें बनवा दीं।

यह हमारे राष्ट्रके लिए बड़े कलंक की बात है कि अराष्ट्रीय और देशघातक मनोवृत्ति पर विजय प्राप्त करने वाले एक राष्ट्रीय महापुरुषकी हमने सदैव उपेक्षा की है तथा एक परकीय एवं आक्रमणकारीका पूजन किया। हो सकता है कि समय और परिस्थितियोंने हमको ऐसा करनेके लिए बाध्य कर दिया हो, किन्तु अब तो हमारा देश स्वतन्त्र है। अतएव राष्ट्रीय जीवनमें नवचेतनाका संचार करने वाले वीर सम्राट् सुहेलदेवकी स्मृतिको पुनर्जीवित करना आज हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है। —(वीर अर्जुनसे)

समीचीन धर्मशास्त्रके भाष्यपर

क्षुल्लक श्री भद्रबाहुजीका अभिमत

मुक्तिसोपानपर महत्त्वका प्रकाश डालने वाले इस समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड) पर अनेक टीका टिप्पणादि उपलब्ध हैं, किन्तु ग्रन्थके मर्मको, ग्रन्थकारके हार्दिक भावोंको प्रत्येक पदके यथार्थ सुनिश्चित अर्थको स्पष्ट करके यथार्थ-ग्रन्थ-व्युत्पत्ति कराने वाले भाष्यकी आवश्यकता सुदीर्घकालसे महसूस हो रही थी। श्री० विद्वद्वर पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने इस भाष्यको लिखकर उस महती आवश्यकताकी पूर्ति की है। अतः वे अनेकशः हार्दिक धन्यवादके पात्र हैं।

जैन तत्त्वज्ञान और इतिहासका, विशेषतः समन्तभद्र-भारतीका और स्वामी समन्तभद्राचार्यके जीवनका, श्री० पं० मुख्तारजीने अपने सम्पूर्ण जीवनमें इतनी रुचिसे और तल्लीनतासे गहरा अध्ययन किया है कि समन्तभद्रभारतीके ऊपर अधिकार वाणीसे कहने वाले जगतमें आज वे ही एक मेव-अद्वितीय विद्वान् हैं। उनकी साहित्य सेवाएं विद्वज्जनोंके हृदयमें उनका नाम अमर बना रक्खेंगी। उनकी इस लोकोपयोगी अनुपम कृतिका विद्वज्जनोंमें समुचित समादर होकर इसके अन्य प्रांतीय भाषाओंमें भी भाषांतर हों और सामान्य जनताके हृदयतक इसका खूब प्रचार होकर समीचीन धर्मकी प्रभावना हो, यही शुभ कामना है। क्षु० भद्रबाहु

११-४-५५

वीरसेवामन्दिरसे हालमें प्रकाशित समीचीन-धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड)

का

प्राक्कथन

(डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल प्रो० काशी विश्वविद्यालय)

स्वामी समन्तभद्र भारतवर्षके महान् नीतिशास्त्री और तत्त्वचिन्तक हुए हैं। जैन दार्शनिकोंमें तो उनका पद अति उच्च माना गया है। उनकी शैली सरल, संक्षिप्त और आत्मानुभवी मनीषी जैसी है। देवागम या आप्तमीमांसा और युक्त्यनुशासन उनके दार्शनिक ग्रन्थ हैं। किन्तु जीवन और आचारके सम्बन्धमें भी उन्होंने अपने रत्नकांड-श्रावकाचारके रूपमें अद्भुत देन दो है। इस ग्रन्थमें केवल १५० श्लोक हैं। मूलरूपमें इनकी संख्या यदि कम थी तो कितनी कम थी इस विषय पर ग्रन्थके वर्तमान सम्पादक श्रीजुगलकिशोरजो ने विस्तृत विचार किया है। उनके मतसे केवल सात कारिकाएँ संदिग्ध हैं। सम्भव है मातृचेतके अध्यर्घ शतककी शैली पर इस ग्रन्थकी भी श्लोकसंख्या रही हो। किन्तु इस प्रश्न का अन्तिम समाधान तो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियोंका अनुसंधान करके उनके आधार पर सम्पादित प्रामाणिक संस्करणसे सम्यक्तया हो सकेगा जिसकी ओर विद्वान् सम्पादकने भी संकेत किया है (पृ० ८७)।

समन्तभद्रके जीवनके विषयमें विश्वसनीय तथ्य बहुत कम ज्ञात हैं। प्राचीन प्रशस्तियोंसे ज्ञात होता है कि वे उरगपुरके राजाके राजकुमार थे जिन्होंने गृहस्थाश्रमीका जीवन भी बिताया था। यह उरगपुर पांड्य देशकी प्राचीन राजधानी जान पड़ती है, जिसका उल्लेख कालिदासने भी किया है (रघुवंश, ६।५९, अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथं)। ४७४ ई० के गड्वल ताम्रशासनके अनुसार उरगपुर कावेरीके दक्षिण तट पर अवस्थित था (एपि० इं०, १०।१०२)। श्री गोपालनने इसकी पहचान त्रिशिरापल्लीके समीप उरैय्यूरसे की है जो प्राचीन चोलवंशकी राजधानी थी। कहा जाता है कि उरगपुरमें जन्म लेकर बड़े होने पर जब शान्तिवर्मा (समन्तभद्रका गृहस्थाश्रमका नाम) को ज्ञान हुआ तो उन्होंन कांचीपुरमें जाकर दिगम्बर नग्नाटक यतिकी दीक्षा ले ली और अपने सिद्धान्तोंके प्रचारके लिए देशके कितने ही भागोंकी यात्रा की। आचार्य जिनसेनने समन्तभद्रकी प्रशंसा करते हुए उन्हें कवि, गमक, वादी और वाग्मी कहा है। अकलंकने समन्तभद्रके देवागम ग्रन्थकी अपनी अष्टशती विवृतिमें उन्हें भव्य अद्वितीय लोकचक्षु कहा है। सचमुच समन्तभद्रका अनुभव बढ़ा चढ़ा था। उन्होंने लोक-जीवनके राजा-रंक, ऊँच-नीच, सभी स्तरोंको आँख खोलकर देखा था और अपनी परीक्षणात्मक-बुद्धि और विवेचना-शक्तिसे उन सबको सम्यकदर्शन सम्यक आचार और सम्यक् ज्ञानकी कसौटी पर कसकर परखा था। इसीलिये विद्यानन्दस्वामीने युक्त्यनुशासनकी अपनी टीकामें उन्हें 'परीक्षेक्षण' (परीक्षा या कसौटी पर कसना ही है आँख जिसकी) की सार्थक उपाधि प्रदान की।

स्वामी समन्तभद्रने अपनी विश्वलोकोपकारिणी वाणीसे न केवल जैन मार्गको सब ओरसे कल्याणकारी बनानेका प्रयत्न किया (जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः), किन्तु विशुद्ध मानवी दृष्टिसे भी उन्होंने मनुष्यको नैतिक धरातल पर प्रतिष्ठित करनेके लिये बुद्धिवादी दृष्टिकोण अपनाया। उनके इस दृष्टिकोणमें मानवमात्रकों रुचि हो सकती है। समन्तभद्रकी दृष्टिमें मनकी साधना, हृदयका परिवर्तन सच्ची साधना है, बाह्य आचार तो आडम्बरोंसे भरे हुए भी हो सकते हैं। उनकी गर्जना है कि मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है (कारिका ३३)। किसीने चाहे चण्डाल-योनिमें भी शरीर धारण किया हो, किन्तु यदि उसमें सम्यग्दर्शनका उदय हो गया है, तो देवता ऐसे व्यक्तिको देव-समान ही मानते हैं। ऐसा व्यक्ति भस्मसे ढके हुए किन्तु अन्तरमें दहकते

हुए अंगारेकी तरह होता है—

सम्यग्दर्शन सम्पन्नमपि मातंगदेहजम् ।
देवादेवं विदुर्भस्मगूढांऽगारान्तरौजसम् ॥श्लो०२८

'धर्मसे श्वानके सदृश नीचे पड़ा मनुष्य भी देव हो जाता है और पापसे देव भी श्वान बन जाता है।' (श्लोक २६)

ये कितने उदात्त, निर्भय और आशामय शब्द हैं जो धर्मके महान् आन्दोलन और परिवर्तनके समय ही विश्व-लोकोपकारी महात्माओंके कण्ठोंसे निर्गत होते हैं? धर्म ही वह मेरुदण्ड है जिसके प्रभावसे मामूली शरीर रखनेवाले प्राणीकी शक्ति भी कुछ विलक्षण हो जाती है' (कापि नाम भवेदन्या सम्पद् धर्माच्छरीरिणाम्। श्लोक २६)। यदि लोकमें आँख खोलकर देखा जाय तो लोग भिन्न-भिन्न तरहके मोह जाल और अज्ञानकी बातोंमें फँसे हुए मिलेंगे। कोई नदी और समुद्रके स्नानको सब कुछ माने बैठा है, कोई मिट्टी और पत्थरके स्तूपाकार ढेर बनवाकर धर्म की इति श्री समझता है, कोई पहाड़से कूदकर प्राणांत कर लेने या अग्निमें शरीरको जला देनेसे ही कल्याण मान बैठे हैं—ये सब मूर्खतासे भरी बातें हैं जिन्हें लोक-मूढ़ता कहा जा सकता है (श्लोक २२)। कुछ लोग राग द्वेषकी कीचड़में लिपटे हुए हैं पर वरदान पानेकी इच्छासे देवताओंके आगे नाक रगड़ते रहते हैं—वे देवमूढ़ हैं (श्लोक २३)। कुछ तरह-तरहके साधु-सन्यासी पाखण्डियोंके ही फन्दोंमें फंसे हैं (श्लोक २४)। इनके उद्धारका एक ही मार्ग है— सच्ची दृष्टि, सच्चा ज्ञान और सच्चा आचार। यही पक्का धर्म है जिसका उपदेश धर्मेश्वर लोग कर गए हैं—

सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः। श्लो० ३

धर्म कल्पित ढकोसलोंका नाम नहीं है। धर्म तो जीवनके सुनिश्चित नियमोंकी संज्ञा है जिन्हें जैन परिभाषामें सामायिक कहते हैं। यदि गृहस्थाश्रममें रहनेवाला गृही व्यक्ति भी सामायिक-नियमोंका सचाईसे पालन करता है तो वह भी वस्त्रखण्ड उतार फेंकनेवाले मुनिके समान ही यतिभावको प्राप्त हो जाता है (श्लोक १०२)। बात फिर वहीं आ जाती है जहाँ संसारके सभी ज्ञानी और तपःस्थित महात्माओंने उसे टिकाया है—हिंसा, अनृत, चोरी, मैथुन और परिग्रह ये पांच पापकी पनालियाँ हैं। इनसे छुटकारा पाना ही चारित्र है' (श्लोक ४६)।

स्वामी समन्तभद्रके ये अनुभव मानवमात्रके लिये उपकारी हैं। उनका निजी चारित्र ही उनके अनुभवकी वाणी थी। उन्होंने जीवनको जैसा समझा वैसा कहा। अपने अन्तरके मैलको काटना ही यहाँ सबसे बड़ी सिद्धि है। जब मनुष्य इस भवके मैलको काट डालता है तो वह ऐसे निखर जाता है जैसे किट्ट और कलौंसके कट जानेसे घरियामें पड़ा हुआ सोना निखर जाता है (श्लोक १३४)। अन्तमें वे गोसाईं तुलसीदासजीकी तरह पुकार उठते हैं—स्त्री जैसे पतिकी इच्छासे उसके पास जाती है, ऐसे ही जीवनके इन अर्थोंकी सिद्धि मुझे मिले; कामिनी जैसे कामीके पास जाती है ऐसे ही अध्यात्म-सुखकी स्थिति (सुखभूमि) मुझे सुख देनेवाली हो।' (श्लोक १४६-५०)। मनोविज्ञानकी दृष्टिसे भी यह सत्य है कि जब तक अध्यात्मकी ओर मनुष्यकी उसी प्रकार सहज प्रवृत्ति नहीं होती जैसी कामसुखकी ओर, तब तक धर्म-साधनामें उसकी निश्चल स्थिति नहीं हो पाती।

काशी, ता० २८-२-१६५५

अपभ्रंश भाषाका पार्श्वनाथचरित

(परमानन्द शास्त्री)

कुछ वर्ष हुए डा० हीरालालजी एम० ए० नागपुरने नागरी प्रचारिणी पत्रिकामें अपने लेखमें कवि असवालके 'पासणाहचरिउ' की एक अपूर्ण प्रतिका उल्लेख किया था। उसी समयसे मैं उसकी दूसरी पूर्ण प्रतिको तलाशमें था। भाग्यसे उसकी एक प्रति जयपुरके तेरापंथी मन्दिरके शास्त्र-भंडारमें मिल गई। प्रति यद्यपि कुछ अशुद्ध है परन्तु पूर्ण है। उसका संक्षिप्त परिचय मय आदि अन्त प्रशस्तिके यहां दे देना ही इस लेखका प्रमुख विषय है।

इस ग्रंथमें जैनियोंके तेईसवें तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथका जीवन परिचय दिया हुआ है। ग्रन्थमें कुल १३ संधियां दी हुई हैं जिनमें पार्श्वनाथकी जीवन-घटनाओंका उल्लेख किया गया है। इस ग्रन्थके कर्ता कवि असवाल हैं जो पं० लक्ष्मणके सुपुत्र और 'गुल्तराडवंश' में उत्पन्न हुए थे। यह 'गुलराड' वंश सम्भवतः 'गोलाराड' वंश ही जान पड़ता है। कविने यह ग्रंथ कुशार्त[1] देशमें स्थित करहल नामक ग्राममें विक्रम संवत् १४७९में भाद्रपद कृष्णा एकादशीको बनाकर समाप्त किया था और जिसे कविने एक वर्षमें बनाया था। जैसा कि ग्रंथकी अन्तिम प्रशस्तिके निम्न पद्यसे प्रकट है :—

इगवीर हो गिव्वुइं वुच्छराइं सत्तरिसहुंचउसयवत्थराइं।
पच्छइंसिरिणिवविक्कमगयाइ, एउणासीदीसहुँचउदहसयाइं
भादवतम एयारसि मुणेहु, वरिसिक्केपूरिउ गंथु एहु ॥

कविने मूलसंघ स्थित नंदिसंघबलात्कारगणके आचार्य प्रभाचन्द्र पद्मनन्दि और उनके पट्टधर शुभचंद्र और धर्मचंद्र-का समुल्लेख किया है जिससे ग्रन्थकर्ता उन्हींकी आम्नायका ज्ञात होता है।

कविने इस ग्रन्थकी जब रचना की, उस समय करहल-में चौहान वंसी राजा भोजदेवका राज्य था। उस समय यदुवंशी अमरसिंह भोजराजके मंत्री थे, जो जैनधर्मके संपालक थे। इनके चार भाई और भी थे जिनके नाम करमसिंह, समरसिंह और नक्षत्रसिंह लक्ष्मणसिंह। अमरसिंहकी पत्नीका नाम 'कमलश्री' था, उससे तीन पुत्र उत्पन्न हुए थे नंदण, सोणिग और लोणासाहू। इनमें साहू लोणा जिनयात्रा आदि प्रशस्तकार्योंमें द्रव्यका विनिमय करते थे। अनेक विधान और उद्यापनादि कराते थे।

उन्होंने कवि 'हल्ल' की प्रशंसाकी थी, जिसने 'मल्लि-नाथ चरित की रचनाकी थी। लोणासाहूने अनेक यात्रा और प्रतिष्ठाएं कराई थीं और उन्हींकी प्रेरणासे कवि असवालने इस ग्रन्थकी रचना की जिसे उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता सोणिगके लिये बनवाया था।

ग्रन्थकी आद्य प्रशस्तिमें लिखा है कि उक्त चौहानवंशी राजा भोजराजके राज्यकालमें सं० १४७१ मे वहां बड़ा भारी प्रतिष्ठोत्सव हुआ था जिसमें रत्नमयी बिम्बकी प्रतिष्ठाकी गई थी। इससे स्पष्ट है कि उस समय करहल जन धनसे सम्पन्न था।

पार्श्वनाथ चरित प्रशस्ति

आदिभाग—

सिवसुहसर सारंगहो सुयसारंगहो सारंगकहो गुणभरिओ।
भणमिभुअणसारंगहोखमसारंगहो पणविविपासजिणहोचरिओ॥
भावियमिरिमूलसंघचरणु, सिरिवलयारयगण वित्थरणु।
पर हरिय कुमय पोमायरिउ, आयरियमासि गुणगणभरिउ।
धरमचंदुव पहचंदायरिओ, आयरियरयणजम पहु धरिओ।
धरियंचमहव्वयकासरणु, रणुकयपंचिंदिय संहरणु।
धर धम्म पयासउ सावयहं, वय आरि मुणीसर भावयहं।
भवियण मण पोमाणंदयरु, मुणिपोमणंदि तहो पट्टवरु।
हरिसमउणभवियणु तुट्ठमणु, मणहरइपइट्ठजिणवरभवणु।
वरभवण भवणि जस पायडिउ, पायडु ण अणंग मोहणडिउ।
णडियावयरयणत्तय धरणु, धर रयणत्तयगुणवित्थरणु।

घत्ता—

ततोपट्टवरससि णामेसुहससि मुणिपयपंकयचन्द हो।
कुलुखित्तिपासमि पहु आहासमि, संघाहिवहो वहोअणिंदहो।
इयं जंबूदीवहं पहाणु, भरहंकिउ णं पुर एव णाणु।
खेत्तंतरिंदेसुकुसट्टु रम्मु, दो वीसमु जिण कल्लाणु जम्मु।
कालिंदिय सुरसरिमज्झगाइं, दस्साछयायंतरि पक्खुणाइं।
करहलु वरणयरू करहलुसुरम्मु मणिवपरिपालणि पयलहहसम्मु
चहुवाणवंसेअरिकुरहणाउ, भोइवभोयंकिउ भोयराउ।
णाइक्कदेवि सुउ अरिमयंदु, चंदुव कुवलय संसारचंदु।

---

[1] कुशार्त देश सूरसेन देशके उत्तरमें बशा हुआ था और उसकी राजधानी शौरीपुर थी जिसे यादवोंने बसाया था। भगवान नेमिनाथका जन्म भी शौरिपुरमें बतलाया जाता है। जरासंधके विरोधके कारण यादवोंको इस प्रदेशको छोड़कर द्वारिकाको अपनी राजधानी बनानी पड़ी थी। वर्त-मानमें यह ग्राम इसी नामसे आजभी प्रसिद्ध है।

जसुरज्जिपुव्वपुरिसाहिमाणु, मंघाहिवेण विज्जइ पमाणु ।
सयचउदहइगहत्तरि ममेय माहवघणम्मणित्रामर पमेय ।
रयणमयबिंबजिणतिलक मिद्ध , तित्थयरणामुकुलअ।उवन्न ।
तहोजुयरज्जिउकयपुहइरज्जु, अरिकुल कयंतु पहुपुहइ रज्जु ।
तहो ममइं एउगुणगणपमन्थु, लेहाविउ संघाहिवेण गंथु ।
जदुवंसरवर विपिलुग्वुणिमकउ? बंभुव पय पालउ ब्रम्हण्उ ।

घत्ता—

एहुरज्जिधुरंधरु उगणयकंधरु णिवकुवेर पहचंद गुरु ।
णयकय सज्जिणालउ चउवीमालउ मंतत्तणि पहुमंतियउ ।

तहो भज्जा निगिण कुमुवा पहिल्ल,मुअकरम ममराणसहगुणगरिल्ल
मूहव बाडे णक्खत्तकुमर, मायरिपउमालक्खणाहे णवर ।
हुव पंचपुत्तगुणगणमहंत, धीरत्तणेण णं मेरु मंत ।
करमसिंह ममर णक्खत्तसीह तुरियउमुअकुमरु अमरसीहु
णिवभोयमंति मंतण वियड्ढ, लक्खणहो जेट्ठ भायरु गुणड्ढ
कमलसिरिजायतहोतणियभज्ज,पइवय-वयधारिणिपियमलज्ज।
तहिउअरिपुत्तउ(अ)तिविणकेय,जिणवाणिहिरयणइंतिणिजेम।
पढमउं मणणंदणुणंदणक्खु, सोणिगु बीउ संघवइदक्खु ।
लहुभाइग लूणिवकज्जिदन्थु, जिणजत्त पवित्त ण वित्त मन्थु ।
वहुविह विहाण उज्जावणासु, कइहल्ल कवित्त पमंसणासु ।
जिण मल्लिचरित्त णामंकियासु, सुअतिलयतायजसपूरियासु ।
अट्ठविह पुज्जसुहदाणयासु जो भाइजेट्ठ उवममधरासु ।

घत्ता—

गुणियणहं गुणायरु मंतणिकुलगुरु जिणगिहतुंगविमालउ ।
कारावणतप्परू सवाहिउ गुरुदाणेणं मयपालउ ।४

तहो रामाणामें रामलच्छि, सुरवइ मईयकुल कमललच्छि ।
सुउगुणसंघट्टवघाटमुक्खु, णिव।यरुपियक्खरमयलचक्खु ।
इक्कहिं दिणि जिणहरिठंनएण, जिणसत्थनच्च पयडंतएण ।
घाटेंमतेणँ एह सतएण ? दहलक्खणधम्मासत्तएण ।
जिणजत्तपइट्ठ कयायरेण, सयत्तरयण रयणायरेण ।
लोणसिंह भाइणिव दुल्लहेण, बोलिज्जइ रामावल्लहेण ।
अहो पंडिय लक्खण सुयगुणंग, गुलराडवंसि भयवइअहंग ।
किं धम्में अहधणु णिग्गुणेण, रयणेहिं बुहणिव फग्गुणेण ।
कीरइ जाणेविणु मणुयजम्मु, सहलउ पयडेवि अहिंमधम्मु ।
संसारु असारउ मुणहि एउ, सारत्तणु बुद्धिहि तच्चहेउ ।

उक्तं च—

'बुद्धेः फलं तत्वविचारणं च, देहस्य मारं व्रतधारणं च ।
अर्थस्य मारं किल पात्रदानं, वाचाफलं प्रीतिकरं नराणां ॥''

रयणेहिं किंकरजंपिएण, किं बुद्धिएं नच्च अजंपिएण ।
इउसुणिवि मज्झु पोसेहि चित्तु करि कव्वु पासणाहोचरित्तु ।
तं णिसुणिवि कव्वहं तणउणासु.बुहुआसुवालु हुउ जो मधासु ।
खणु इक्कविलंबिवि भणइ तासु, किं कुणमि कव्वु मंघाहिवासु

घत्ता—

हउं मुक्ख णिरक्खरु असुणिय सक्खरुविरु महकइकह मोहणु
पावमि किरणाहें रविससिवोहें खज्जोवय कि बोहणु ॥५॥

वियाण विलक्खणु रामहो भाइ, सम।सुनिमट्टि दिणहि जुआइ ।
मछंदु णिवंदु सुओ वणिणाउ, सुणोरम मंथणि तक्कु महाउ
लह गुरु वंदिण भास मुणेमि, वरूहिणि मामहि संधि मुणेमि
विहत्ति वियाणमि दुज्जणसन्थि, वणीहरिणील मुणेमि पयन्थि
अहो किमि रंजमि मज्जणचित्तु जिदुज्जणु ताहंण बुज्झमि वित्तु
तिलुव्वसु चंपिय मुच्चति णेहु, गुणेहि खलिव्व वियंभहि देहु ।
दुजोहु व जपहि भासदुमग्गि, णयाणमि ताहं सुपसत्थ ण लग्गि
चरित्तु पयासमिणासहु केव, सुणे वि पयंपियु सज्जणु एम ।
अहो बुह जइ विरवी महतेउ, खजोवयतो विणणामहंभेउ ।
पयासहि णिम्मल आयमवाणि, कुणेविणु सज्जण पंजलपाणि
जिगव्वु ण घेसु कुणंति गहंति गुणी गुणमोत्तिमदाम लहंति ।
णहु दुज्जणु सप्पुव सुद्ध महावु, मरम्मि दएप्पिणु दुट्ठहं पाउ ।

घत्ता—

पयडक्खरु जंपहि थोउवियप्पहि सुहउडवहु रसदावणउं ।
भाषणि छुहभंजणु पयडुमबंजणु णासुवसाय सुहावणउं ॥६॥

जसुणाम गहणि उवसग्गसुद्ध, णासंति जंति बहु विहरउद्द ।
मो किरणथुणहि सम्मत्तसुद्धि पावइ णरु होइ अणंतबुद्धि ।
जंपिउ मुणे वि मंघाहिवासु, पंडिएण पयंपुण कुणि वि हासु ।
णिच्छुउइउ जिणगुर णविविपाय, नउ वंछिउपूरमिसागुराय ।
खरविडव भंजिमग्गेणणाउ, जेणेइ कि ण सारंगु जाउ ।
कइ पुव्वसूरि सुत्तु जि मुणेहु, गंथुजि अउव्वु भासाम मुणेहु

अन्तभाग—

इगवीरहो णिव्वुइंकुच्छराइं, सत्तरिसहैंचउसयवत्थराइं ।
पच्छइंसिरिणिवविक्कमगयाइं, एउणासीदीसहुँचउदहसयाइं ।
भादवतमएयारसिमुणेहु, वरिसिक्कपूरिउगंथुएहु ।
पंचाहियवीससयाइं सुत्तु महमइं चयारि मंडणिहिंजुत्तु ।
बहलक्खणमूणासुउवरिट्ठ , आणंदमहेसर भाइजेट्ठ ।
जसुपंचगुत्तसीहंतियाइं, हुअ करम-रयण महमयणराइं ।
सो करम उलेविणु मज्जणाहं, आहासइ गुणियण गुणमणाहं
जो दुविहालंकारइ मुणेइ, जो जिणसासणि दंसणु जणेइ ।
जो सम्मत्तायरुगुणअगव्वु, जो आयम-सत्थइं मुणइं भव्वु ।

जो जीव दव्व तच्चत्थभासि, जो सहासहहं कुणइं रासि।
गुणथास भाउ संवग्गु भेइ, जो वग्गु वाग मूल जि मुणेइ।
जो सख असंख अणंत जाणि, जो भव्वाभव्वहं कय पमाणि।
जो घण घण मूलहं मुणइं भेउ, सो मोहिवि पयडउ गंथुएउ।
अहवा मुणइंती मज्झुत्थ होउ असुणंतहं दोसु म मज्झ देउ।
घत्ता—
जिणसमय पहुत्तणु गुणगणकित्तणुअवमविमहिविन्थारइ।
हउं तसु पयवंदमि अप्पउ णिंदमि जो सम्मत्तुद्धारइ ॥१॥
सो णंदउजियु सिरिपासणाहु, उवसग्गविणासणु परमसाहुँ
णंदउ परमागमु णंदिसंघु, णंदउपुहवीमरु अरिदुलंघु।
णंदउ पउरमगु अहिंमभाउ, दुहयणु सज्जणु असुणियकुभाउ
णंदउम्मरि वाम्ह हो तणउतसु, कीलउ णियकुलिजिमसेरहि हंसु
णंदउ जिण धम्म णिबद्धराउ, लोणायरु सुम्र हरिबम्हताउ।
णंदउ णंदणु सहुं भायरेहिं, वारम्मता उपहसिय मणेहिं।
णंदउ लहुभायस सहुं सुएण, परमत्थु जेण बुज्झिउ मणेण।
णंदउ अवरुवि जिणसमयलीणु, खउजाउ दुट्ठु मिच्छत्तु हीणु
णंदउ जो पयडइ पासचित्तु आतम मारंकिउ गुण विचित्तु।
जा सुरगिरि रविससि महिपओहि, ताचउविह संघहं जणहिं बोहि
असुवालु भणइ मइं कयउ राउ, जिणु केवललोगणु मज्झुदेउ
किंचोज्ज जासुघरिजं हवइ। भोकिं सेवय म्हो तंण देइ।
घत्ता—
जा जिणमुहणिग्गय सग्गा सुभंगम गिरतइ लोअहो सारो।
जं किउ हीणाहिउ काइमि साहिउ तमहु खमउ भंडारो ॥१॥
इय पासणाह चरिए आयमसारे सुवग्ग चहुभरिए बुह असवाल विरइए संघाहिप सोणिगस्स कएणाहरण सिरिपास णाह णिव्वाण गमणोणाम तेरहमो परिच्छेओ सम्मतो ॥१३॥

वीरसेवामन्दिर ट्रस्टकी दो मीटिंग

(१)

ता० २० माच मन् १९५५ को प्रातःकाल ९॥ बजे स्थानीय दि० जैन लालमन्दिरमें श्री वीरसेवामन्दिर ट्रस्टकी मीटिंग श्री बाबू छोटेलालजी कलकत्ताकी अध्यक्षतामें हुई, जिसमें निम्नलिखित ट्रस्टी उपस्थित थे—बाबू छोटेलाल जी कलकत्ता (अध्यक्ष) पंडित जुगलकिशोरजी मुख्तार, बा० जयभगवानजी एडवोकेट (पानीपत), बा० नेमचन्द्जी वकील (सहारनपुर), ला० राजकृष्णजी, ला० जुगलकिशोर जी, बाबू जिनेन्द्रकिशोर जी और श्रीमती जयवन्तीदेवी।

आजकी मीटिंगको बुलाने वाला नोटिस व एजंडा पढ़कर सुनाया गया। एजंडा—१ ट्रस्टादिका हिसाब, २ पदाधिकारियोंका चुनाव, ३ ट्रस्टको वीरसेवामन्दिर सोसाइटीके सुपुर्द करनेका विचार, ४ सोसाइटीके मेम्बरोंकी अभिवृद्धि, ५ वीरसेवामन्दिर बिल्डिंगके निर्माण तथा उद्घाटनका विचार, ६. अन्य कार्य जिसे समय पर पेश करना जरूरी समझा जाय।

प्रथम ही गत ता० २१-२-५४ की कार्रवाई पढ़कर सुनाई गई जो सर्व सम्मतिसे पास हुई।

अध्यक्षने सूचित किया कि श्रीवीरसेवामन्दिर सोसाइटी ता० २१-७-५४ को रजिस्टर्ड हो चुकी है और श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने देहली क्लाथ मिलके आर्डनरी ८२३ शेयर, क्यूम्यूलेटिव शेयर और साउथ विहार सुगर मिलके आर्डनरी ५० शेयर और डिफर्ड ५० शेयरोंकी ट्रान्सफरडीड्स पर हस्ताक्षर करके मुझे दे दिये हैं।

गत मीटिंगमें जो सरसावाकी दुकानें बनाने बावत दो हजार रुपये स्वीकृत हुए थे वे दुकानें अभीतक नहीं बनाई जा सकी हैं।

आज की मीटिंगमें श्री जयभगवानजी वकीलके सुझाव पर कि वीरसेवामन्दिर ट्रस्टको समाप्तकर उसकी सारी संपत्ति वीरसेवामन्दिर सोसाइटीके सुपुर्द कर दी जाय, इस पर काफी वाद-विवाद हुआ और समय हो जानेसे मीटिंग दुपहर के लिये स्थगित हो गई, तथा २॥ बजे पुनः प्रारम्भ हुई, उसमें पर्याप्त विचारके बाद ट्रस्टको रखना स्थिर हुआ।

मीटिंगमें निम्नलिखित प्रस्ताव सर्वसम्मतिसे पास हुए।

१—यह ट्रस्ट कमेटी प्रस्ताव करती है कि ट्रस्टके उद्देश्योंकी पूर्ति वीरसेवामन्दिर सोसाइटीके द्वारा कराई जाय और इसके लिये उक्त सोसाइटीको पूर्ण सहयोग दिया जाय।

२—यह ट्रस्ट कमेटी प्रस्ताव करती है कि श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारके द्वारा ट्रस्टको दी गई सम्पत्तिकी आय वीरसेवामन्दिर सोसाइटीको प्राप्त होते ही दी जाया करे और इस सम्पत्तिकी रक्षा तथा स्थितिके लिये जितना खर्च आवश्यक हो वह वीरसेवामन्दिर सोसा-

ट्रस्टीसे लिया जाय और सारा आय-व्ययका हिसाब भी वीरसेवामन्दिर सोसाइटी ही रक्खे।

३—यह ट्रस्ट कमेटी प्रस्ताव करती है कि 'अनेकान्त' पत्रका प्रकाशन वीरसेवामन्दिर सोसाइटीकी ओरसे होता रहे।

४—इस ट्रस्ट कमेटीके आधीन जो पुस्तकादि फर्नीचर वगैरह चल सम्पत्ति है वह सब वीरसेवामन्दिर सोसाइटीके उपयोगके लिये दी जाती है।

५—यह कमेटी श्री नत्थूमलजीके स्तीफेको स्वीकार करती है और अब तक उनके द्वारा दिये गए सहयोगके लिये धन्यवाद देती है।

समय न रहनेके कारण एजेंडाकी अन्य बातोंपर विचार नहीं किया गया और आगे मीटिंग १ अप्रैल चैत्र शुक्ला ६ के लिये रक्खी गई। —छोटेलाल जैन अध्यक्ष,देहली

१—४—५५

(२)

ता० १ अप्रेल सन् १९५५ चैत्र शुक्ला ६मी को सुबह ६। बजे वीरसेवामन्दिर ट्रस्ट कमेटीकी बैठक दि० जैन लाल-मन्दिरमें हुई, जिसमें निम्नलिखित ट्रस्टी उपस्थित थे। १—बा० छोटेलाल जी (अध्यक्ष) २—पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, ३—डा० श्रीचन्दजी संगल ४—बा० जय भगवान एडवोकेट ५—बा० नेमचन्द वकील, ६—जुगलकिशोरजी कागजी ७—जयवन्ती देवी ८—राजकृष्ण जैन।

१—अध्यक्षने साहू श्री शान्तिप्रसादजी जैन (सुपुत्र स्वर्गीय साहू दीवानचन्दजी) कलकत्ता और श्रीनन्दलालजी सरावगी (सुपुत्र स्वर्गीय सेठ रामजीवन सरावगी) कलकत्ता के नाम ट्रस्ट कमेटीके लिये रक्खे, जो सर्व सम्मतिसे स्वीकृत हुए। पं० श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तारने आय-व्ययका हिसाब जो उनके स्वयंके पास था, १ मई सन् १९५१से ३० जून सन् १९५४ तकका पेश किया, जिसमें अनेकान्तका हिसाब भी १ मई सन् १९५१ के (पिछली रोकड़ बाकी) ओपनिंग बेलेन्ससे प्रारम्भ करके ३० सन् १९५४ तकका शामिल था, इस पर यह तय हुआ कि—

२—यह ट्रस्ट कमेटी प्रस्ताव करती है कि पं० जुगल-किशोरजी मुख्तारने जो हिसाब दिया है और जो आय-व्यय वीरसेवामन्दिर देहलीके आफिसमें हुआ है उन दोनोंको सम्मिलितकर एक हिसाब बनाया जाय और उसे फिर हिसाब परीक्षकसे जंचवाकर प्रकट कर दिया जाय। हिसाब नियमानुसार लिखवानेके लिये अकाउन्टेन्टकी नियुक्ति ला० जुगलकिशोर जी कागजीके परामर्शसे एक मासके अन्दर करली जाय।

प्रस्तावक—नेमीचन्द जैन, समर्थक—जयभगवान जैन

३—यह ट्रस्ट कमेटी श्रीवीरेन्द्रकुमारजी जैन चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट कानपुरको हिसाब परीक्षक नियुक्त करती है। प्रस्तावक—डा०श्रीचन्द संगल। समर्थक—राजकृष्ण जैन।

४ यह ट्रस्ट कमेटी पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार अधि-ष्ठाता वीर सेवामन्दिर, ट्रस्टके स्तीफेको अस्वीकार करती हुई उनसे निवेदन करती है कि अभी इस पदको आप ही सुशोभित करें। आपके-व्रत नियमोंके पालनके लिये समय और शांति प्राप्त हो इसके लिये कमेटी प्रबन्ध करेगी।

प्रस्तावक—छोटेलाल जैन, समर्थक—नेमीचन्द जैन

५ यह ट्रस्ट कमेटी प्रस्ताव करती है कि ट्रस्टकी अचल संपत्तिकी देखभाल, किराया वसूली, मुकद्दमा वगैरहके लिये जनरल पावर आफ एटर्नी (मुख्तार आमके अधिकार) श्री महाराजप्रसाद जैन सुपुत्र स्वर्गीय ला० चमनलालजी सर-सावा निवासी और पं० परमानन्दजी जैन शास्त्री सुपुत्र स्वर्गीय सिंघई दरयावसिंहजी देहली निवासीको दिया जाय। व्यक्तिगतरूपसे और सम्मिलित रूपसे—Separately and Jointly.

प्रस्तावक—जुगलकिशोर मुख्तार। स०—डा०श्रीचन्द संगल

६ यह ट्रस्ट कमेटी प्रस्ताव करती है कि सरसावाके निम्नलिखित किरायेदारोंके विरुद्ध किराया वसूली और आवश्यक हो तो बेदखलीके लिये तुरन्त दावा कर दिया जाय और इसके लिये आवश्यक कानूनी कार्रवाई करने के लिये श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारको उस वक्त तक अधिकार दिया जावे जब तक कि मुख्तारआमनामा रजि-स्टर्ड नहीं हो जाता।

१. सुरजा कहार, २. बनारसीदास, ३. मंगतराम किरायेदार

प्रस्तावक—छोटेलाल जैन समर्थक—जयवन्ती देवी

७ यह ट्रस्ट कमेटी निम्नलिखित पदाधिकारियों का चुनाव करती है।

अधिष्ठाता—पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार, सरसावा

अध्यक्ष—बा० छोटेलाल जी सरावगी कलकत्ता।

कोषाध्यक्ष—श्री जुगलकिशोर जी कागजी, देहली

मंत्री—श्री जयभगवानजी वकील, पानीपत

प्रस्तावक—नेमीचन्द जैन समर्थक—राजकृष्ण जैन

नोट—उपरोक्त सभी प्रस्ताव सर्व सम्मतिसे पास हुए।

दीवान रामचन्द्र छावड़ा

(परमानन्द शास्त्री)

कौटुम्बिक-परिचय

राजपूताना अपनी वीरताके लिये प्रसिद्ध है। राजपूत वीरों और वीराङ्गनाओंकी वीरता और स्वदेश रक्षाके लिये अपनी आनपर प्राणोंका उत्सर्ग करने वाली गौरव-गाथासे भारत गौरवान्वित है। वे अपनी बातके धनी थे, आनके पक्के थे जो किसीसे कह देते थे उसे पूर्ण करना अपना कर्तव्य समझते थे। वैसे तो राजपूतानेमें अनेक जैन वीर हुए हैं, जिनकी कर्तव्य-निष्ठा, वीरता, त्याग और सहृदयता स्पृहाकी वस्तु हैं। पर राजस्थानका जयपुर तो जैनवीरोंकी खान रहा है—वहाँ अनेक जैन वीर अपनी वीरता, कला-कौशल्य, ईमानदारी, कर्तव्य परायणता, स्वामिभक्ति और राज्यके संरक्षण तथा संवर्द्धनमें ही सहायक नहीं हुए हैं किन्तु उन्होंने शाही अधिकारसे आमेर और जोधपुरको छुड़ाकर संरक्षित भी किया है। उनका नाम है दीवान रामचन्द्र छावड़ा।

इनकी जाति खंडेलवाल, गोत्र छावड़ा और धर्म दिगम्बर जैन था। यह रामगढ़के निवासी थे, इनके पिताका नाम विमलदासजी और दादा वल्लूशाहजी थे, जो जयपुरके मिर्जा राजा जयसिंहजी के समय हुए हैं जिनका राज्यकाल संवत् १६७८ से १७२४ तक पाया जाता है।

विमलदासजी स्वयं एक वीर योद्धा, राजनीतिमें विचक्षण, कर्मठ कार्यकर्ता एवं राजभक्त थे। इन्होंने राजा रामसिंहजी और विशनसिंहजीके समयमें, जिनका राज्यकाल सं० १७२४ से १७४६ और १७४६ से १७५६ तक बतलाया जाता है। दीवान जैसे उच्च एवं प्रतिष्ठितपद पर आसीन होकर राज्य-कार्यका संचालन किया है। कहा जाता है कि लालसोट नामक स्थानमें युद्धमें गोला लग जानेसे आपकी मृत्यु हुई थी।

रामचन्द्रजी छावड़ाका विवाह शाहपुरा (मेवाड़) के सेठ सरूपचन्दजीकी कन्यासे हुआ था, स्वरूपचन्द्रजीने जब टीका भेजा उसके साथ ही एक राई की थैली भी भेजी और यह कहलाया कि अगर तुम दीवान हो तो थैलीमें जितने राईके दाने मौजूद हों उतने बराती लाना। जब दीवान विमलदासजीको यह हाल मालूम हुआ तब उन्होंने सवाई जयसिंहजीसे सब हाल कह सुनाया, तब आमेरपतिने अपने सब सरदारों, सामन्तों और रईसोंको इस विवाहमें सम्मिलित होनेके लिये आदेश दे दिया। बरातमें बरातियोंकी संख्या देखकर रामचन्द्रजीके ससुर साहब घबड़ा गए। परन्तु उस समय उनकी सासुने शाहपुराके नरेशको कहलवाया कि धनकी कमी तो नहीं है परन्तु यदि व्यवस्थामें कमी किसी तरहकी रह गई तो आपकी बदनामी होगी। अतः आप इस कार्यमें सहयोग प्रदान कीजिये। लेकिन शाहपुरा नरेशकी सहायतासे प्रबन्ध पूरा हो गया। जब बरात विदा होने लगी तब विमलदासजीने अपने सम्बन्धीसे कहा—"यह अधिक अच्छा होता कि हम लोगोंने इस विवाहमें जितना अधिक धन व्यय किया है यदि वह धर्म-कार्यमें खर्च किया जाता।" अस्तु,

धर्म-प्रेम

दीवान रामचन्द्रजी एक वीर सैनानी होते हुए भी परम धार्मिक सद्गृस्थ थे। वे श्रावकोचित षट्कर्मका पालन भली-भांति करते थे। रामगढ़ आमेरसे लगभग १५ मील दूर था। उस समय यातायातकी व्यवस्था आजकल जैसी न थी, ऊँट और घोड़ेकी सवारी पर ही इधर-उधर आना-जाना होता था। दीवानजीका आमेरसे रामगढ़ बराबर आना-जाना रहता था। आमेर और रामगढ़के मध्यमें उन्हें जैन-मन्दिरका अभाव खटकता था, अतः आपने सं० १७४७ में एक जिन मंदिर साहाबाड नामक ग्राममें बनवा दिया। वहांके मन्दिरपर उक्त संवत्का एक लेख भी उत्कीर्णित है परन्तु वह इतना खराब हो गया है कि ठीक रूपसे पढ़नेमें नहीं आता।

सवाई जयसिंहजीने सैयदोंसे जब विजय प्राप्त कर ली, तब मुगल बादशाहकी ओरसे उन्हें उज्जैनका सूबा प्रदान किया गया। उस समय दीवान रामचन्द्र जी भी जयपुराधिपके साथ उज्जैनमें मौजूद थे। तब दीवानजीने उज्जैनमें भी एक निशि या निषद्या बनवाई थी और जब दीवानजी का जयसिंहजीके साथ दिल्लीके जयसिंह पुरा नामक स्थानमें रहना हुआ, तब आपने वहां भी एक जैन मन्दिर और रहनेके लिये एक मकान बनवाया। राज्यकार्यसे अवकाश मिलनेपर आप अपना समय धार्मिक कार्योंमें व्यतीत करते थे और संवत् १७७०में होने वाले भट्टारक देवेन्द्रकीर्तिके पट्टाभिषेक-में भी आपने अपने पुत्रके साथ भाग लिया था। इन सब कार्योंसे आपके धर्म-प्रेमका कितना ही परिचय प्राप्त हो जाता है।

राज्य-सेवा

सम्राट् औरंगजेबकी मृत्युके पश्चात् उनके लड़कोंमें राज्यसिंहासनके लिये युद्ध छिड़ गया। सवाई जयसिंहजीने बहादुरशाहका पक्ष न लेकर शाह आजमका साथ दिया। किन्तु युद्धमें बहादुरशाह विजयी हुआ। बहादुरशाहने सं० १७६४ में आमेर पर आक्रमण कर कब्जा कर लिया। अतः जयसिंहजीको अपना राज्य छोड़ना पड़ा और संयद हुशैनखांको आमेरका प्रबन्ध सौंपा गया।

ठीक इसी तरहकी घटना जोधपुर पर भी घटी। जोधपुर पर बादशाहने खालसा बिठला दिया—अपना कब्जा कर लिया। जयपुर-जोधपुरके दोनों राजा बादशाहके साथ दक्षिणकी रेवा (नर्मदा) नदी तक गए और वहांसे बादशाहका पीछा छोड़कर संवत् १७६५ में जेठवदी ५ के दिन दोनों उदयपुर पहुंचे। यद्यपि उस समय आमेर और उदयपुरमें वैमनस्य चल रहा था, पर जब आमेरपति स्वयं ही राणाजीके घर पहुंच गए, तब राणाजीने प्राचीन बैरकी ओर ध्यान न देकर जयसिंहजीका उचित सम्मान किया और उन्हें 'सर्वऋतु-विलास' नामक भवनमें ठहराया गया। दीवान रामचन्द्रजी भी उनके साथ थे।

एक दिन उदयपुरके दरबारमें किसी सरदारने कुछ ऐसी बातें कहीं जो जयपुर और जोधपुरके लिये अपमानजनक थीं। उन्हें सुनकर रामचन्द्रजीसे न रहा गया। वे सब बातें उनके हृदय-पट पर अंकित हो गईं और वे उन्हें बाणकी तरह चुभने लगी। वे विषका-सा घूंट चुपचाप पी कर अपने डेरेपर आए, तब उन्होंने आमेरपतिसे प्रार्थनाकी कि—'मुझे आदेश दीजिये, मैं आमेर जाऊँगा।' महाराज जयसिंहजी ने जब कारण पूछा, तब उन्होंने दरबारमें उस सरदार द्वारा कही हुई वे सब बातें कहीं। तब जयपुराधिप बोले—'अभी हम विपद्ग्रस्त हैं अतः हमें चुप होकर सब कुछ सहना ही पड़ेगा।' रामचन्द्रजीने कहा—'मैं जाता हूँ और आमेरके उद्धारका यत्न करूंगा।' जयसिंहजीने कहा—'जैसी तुम्हारी मर्जी।'

आमेरका उद्धार-कार्य

दीवान रामचन्द्रजी उदयपुरसे रवाना हुए। आमेरके पाससे आते हुए रास्तेमें उनकी मोती नामक एक लक्खी बनजारेसे भेंट हो गई। बनजारा दीवनजीसे परिचित था, उसने दीवानजीका खूब आदर सत्कार किया और आमेरपति के कुशल समाचार पूछे। दीवानजीने जयपुराधिपके समाचार बतलाये और कहा—'मोतीजी मैं तुमसे कुछ मदद चाहताहूँ।

बनजारेने कहा—'दीवानजी! मैं किस योग्य हूं जो आपकी मदद कर सकूं, फिर भी आप जो फर्मावें और मैं अपनी सामर्थ्यानुसार जिसे पूरा करनेमें समर्थ हो सकूं वह सब करनेको तैयार हूं।'

दीवानजी ने कहा—'हमें आमेरका राज्य वापिस लेना है, इसलिये तुम हमें पचास हजार रुपये, एक हजार बैल, और एक हजार आदमियोंकी मदद दो। हम राज्य प्राप्त करनेके बाद तुम्हारे रुपये और युद्धसे बचे हुए बैल और आदमी सभी वापिस कर देंगे तथा राज्यमें तुम्हारा कर भी माफ कर देंगे।'

बनजारेने दीवानजीके निर्देशानुसार तीनों चीजें मदद स्वरूप प्रदान करदीं। फिर दीवानजी आस-पासके जागीर-दारोंसे मिले और उन्हें आमेर प्राप्त करनेका सब हाल कहा एवं उनसे सहयोग करनेका संकेत भी किया, परिणामस्वरूप उनसे भी तीनसौ के लगभग राजपूत वीरोंकी सहायता प्राप्त हुई। यह सब पा चुकनेके बाद वे उसकी तैयारीमें संलग्न थे और आमेरपर कब्जा करनेके लिये वे किसी खास उपर्युक्त अवसरकी बाट जोह रहे थे।

एक समय जब कृष्णारात्रि अपने तिमिर-वितानसे भूमण्डलको व्याप्त कर रही थी। दीवानजीने धूमधामसे आमेर पर चढ़ाई कर दी। बैलोंके सींगों पर मशालें बांधकर जला दी गईं और प्रत्येक बैलकी पीठ पर मनुष्याकार पुतले बैठा दिये गये, वे देखनेमें दूरसे मनुष्य ही मालूम होते थे, दो-दो बैल एक ही साथ जोड़ दिये गए, जिससे वे सब एक साथ कतारमें चल सकें और प्रत्येक दो बैलोंके साथ एक-एक आदमी था, जिसके एक हाथमें तेलसे भरी हुई सीदर्दी और रस्सी तथा दूसरे हाथमें चमकती हुई तलवार थी। सौ के लगभग सिपाही युद्धका बाजा बजाते हुए आगे-आगे जा रहे थे और उनके पीछे चारसौ सशस्त्र सैनिक पैदल चल रहे थे। बैलोंके सींगों पर बंधी हुई दो सहस्र मशालें आमेरके भूभाग पर अपनी प्रकाश-किरणें बखेर रही थीं। और सैनिकगण महाराजा जयसिंहकी जयके नारे लगाते हुए आगे बढ़े जा रहे थे। जब सेना आमेरके किलेके कुछ नज-दीक आनेको हुई। तब आमेरके किलेमें जो मुस्लिम सैना विद्यमान थी, उसके सैनिक लोगोंने जब दूरसे मशालोंसे आलोकित सैन्य-समूह देखा और मशालोंके मध्यमें और

आगे नर-मुण्डों पर निगाह पड़ी, तब उन्हें यह भान हुआ कि महाराज जयसिंह बहुत बड़ी फौजके साथ आ रहे हैं। उन्होंने यह सब माजरा देखकर यह निश्चय किया कि इतनी विशाल फौजके साथ थोड़ेसे सैनिकोंका युद्ध करना मूर्खता है। अतः किलेके सैनिक जान बचा दूसरे रास्तेसे भागने लगे।

उसी समय दीवान रामचन्द्रजी ढाईसौ राजपूतोंके साथ आमेरके किलेमें प्रविष्ट होगए। और उन्होंने अवशिष्ट बचे हुए मुसलमान सिपाहियोंका काम तमामकर किले पर अपना अधिकार कर लिया, और आमेरमें पुनः राजा जयसिंहकी ध्वजा फहराने लगी।

दीवान रामचन्द्रजीने राजा जयसिंहजीके पास उदयपुर पत्र भेजा कि आमेर पर अपना अधिकार हो गया है। अब आप यहां आ जावें। पत्र पाकर महाराज जयसिंहजी बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उत्तर दिया—"मैं तब तक आमेर नहीं आऊँगा, जब तक हमारे बहनोईजीका जोधपुरका राज्य मुसलमानोंके अधिकारसे पुनः अधिकृत नहीं हो जाता।"

जोधपुरका उद्धार-कार्य

दीवानजीने जब अपने स्वामीका पत्र पढ़ा, तब उन्हें जोधपुरका राज्य पुनः वापिस लेनेकी चिंता हुई और उन्हें एक युक्ति सूझ पड़ी। उन्होंने दो सौ म्याने तैयार करवाए। हर एक म्यानेमें शस्त्र सज्जित चार-चार वीर सैनिक बिठाए, और चार-चार सिपाही उनको उठाने वाले हुए, जिनके सब हथियार म्यानेके अन्दर रख दिये गए। और तीन सौ सवार मुस्लिम सैनिक वेषमें उन म्यानोंके आगे पीछे चले। म्याने जिस दिन जोधपुर पहुंचे, उस दिन ताजियोंका त्यौहार था। किलेकी फौजके अनेक सिपाही ताजियोंमें चले गए थे, कुछ थोड़ेसे सैनिक किलेमें रक्षार्थ रह गए थे। जब म्याने किलेके दरवाजे पर पहुंचे, तब दरवाजेके पहरेदारोंने रोका और पूछा, तब उत्तर दिया कि 'शाहंशाहका जनाना है।' मुसल सैनिकोंको देखकर पहरेदार सिपाहियोंने रास्ता दे दिया। म्याने किलेके अन्दर पहुँचते ही हथियारबन्द सैनिक म्यानों-से बाहर निकल पड़े। उन्होंने किलेके रक्षक मुसलमान सिपाहियोंको मार डाला और किले पर अधिकार कर जोधपुर राज्यका झंडा खड़ा कर दिया। जब किलेके सैनिकोंको, जो ताजियोंमें गए हुए थे यह पता चला कि किले पर जोधपुर नरेशका कब्जा हो गया है बेचारे अपने प्राणोंकी रक्षार्थ इधर-उधर भाग गये।

सांभरपर अधिकार और उसका बटवारा

दीवान रामचन्द्रजीने तुरन्तही महाराजा जयसिंहजीको जोधपुरके किले पर भी अधिकार प्राप्त करनेका समाचार भेजा, तो उन्हें बड़ी खुशी हुई। दोनों राजा अपने सिपाहियोंके साथ दल-बल सहित उदयपुरसे रवाना हुए। चलते-चलते जब वे सांभरके पास पहुँचे, तब सांभरके रक्षक मुसलमानों पर उन्होंने हमला कर दिया। आखिर मुसलमान सिपाही वीर राजपूतोंसे कब तक लोहा लेते, कुछ मर गए और कुछ हारकर भाग गये।

इतनेमें दीवान रामचन्द्रजी भी महाराजा जयसिंहजीके आगमनका समाचार सुनकर अगवानीके लिये आए थे, वे भी सांभरकी उस युद्धस्थलीमें शरीक हो गए। सांभर पर दोनों राजाओंने अधिकार तो कर लिया; किन्तु दोनोंमें इस बातकी चर्चा उठ खड़ी हुई कि सांभर किसके राज्यमें रहे? इस छोटी सी बातपर विवाद बढ़ने लगा और वह विसंवादका रूप धारण करना ही चाहता था कि सहसा उनका ध्यान दीवान रामचन्द्रजी पर गया। दोनों राजाओंने सांभरके फैसलेका भार दीवानजी पर डाला, दीवानजीने कुछ-सोच-विचार कर सांभरका आधा-आधा बटवारा करनेका फैसला दिया अर्थात् आधा सांभर जयपुर राज्यमें और आधा जोधपुर राज्यमें रहेगा। उक्त फैसला दोनों राजाओंने स्वीकृत किया और आगत विसंवाद टल गया। सांभरका उक्त बटवारा दोनों राज्योंमें अब तक बराबर कायम रहा है।

दीवान रामचन्द्रजीके इन कार्योंसे उनकी स्वामिभक्ति और राज्य संचालनकी योग्यता और निर्भयता परखी जा सकती है। इस प्रकारके कार्योंसे उन्हें राज्यसे अनेक उपहार और जागीरें, सनदें समय समय पर प्राप्त होती रही हैं।

अनन्तर दीवानजीने राजा जयसिंहजीसे बादशाहको खुश करनेकी तदवीर भी बतलाई, और उससे बादशाहका रोषभी ठंडा पड़ गया और उसने राज्य प्राप्ति-सम्बन्धी अपराधको क्षमा कर दिया।

इससे रामचन्द्रजी दीवानके सम्बन्धमें भाई भंवरलाल-जीने जो तीन दोहे सुनाए थे, मैं उन्हें नोट कर लाया था, उनसे दीवानजीके व्यक्तित्व और राज्य प्रेमकी महत्ताका कितना ही बोध हो जाता है।

"रामचन्द्र विमलेशका ढूंढाहडकी ढाल।
बांकाने सूंधा किया सूंधा किया निहाल॥

मन कोई फलसा जुडो मन कोई जुडो किवाड़।
यह रामचन्द्र विमलेशका ढूंढाहडकी ढाल ॥
घर राखण धरा राखण प्रजा राखण प्राण।
जैसिंह कहै छै रामचन्द्र तू सांचो छै दीवाण ॥"

वीर सेनानी दीवान रामचन्द्रकी मृत्यु सं० १७८४ में हुई थी। इनका एक मकान आमेरमें भी बतलाया जाता है। वह अब मौजूद है या नहीं। यह कुछ ज्ञात नहीं होता। बहुत सम्भव है वह भी खण्डरातमें परिणत हो गया हो।

भगवान महावीर और उनका लोक-कल्याणकारी सन्देश

(डा० हीरालाल जैन एम० ए० डी० लिट०)

[वैशाली संघकी ओरसे भ० महावीरकी जन्मभूमि वैशालीमें, जो भगवान महावीरके नाना और लिच्छविगणराजके अधिनायक राजा चेटककी राजधानी थी और जिसका कुण्डपुर एक उपनगर था गत ५ अप्रेल १६५५ को आयोजित ११ वें महावीर जयन्ती-महोत्सवके अध्यक्षपदसे डा० हीरालालजीने जो महत्व-पूर्ण अभिभाषण दिया था, वह अनेकान्तके पाठकोंको हितार्थ यहाँ दिया जाता है डाक्टर साहब जैन साहित्य और इतिहासके अधिकारी विद्वान हैं और नागपुर विश्व विद्यालयमें संस्कृत पाली तथा प्राकृत विभागके प्रमुख एवं विद्या परिषद्के अध्यक्ष हैं। —सम्पादक]

प्रिय बन्धुओ,

मैं वैशाली-संघ और उसके सुयोग्य प्रधान श्री माथुर जीका बहुत कृतज्ञ हूँ, जो उन्होंने मुझे वैशालीकी इस पवित्र भूमिके दर्शन करने और यहाँ एकत्रित जनताके सम्पर्कमें आनेका आज यह सुअवसर प्रदान किया। वैशाली एक महान् तीर्थक्षेत्र है, और तीर्थवंदनाका अवसर मनुष्यको बड़े पुण्यके प्रभावसे ही मिला करता है। अतएव इस अवसरको पाकर मैं अपनेको बड़ा पुण्यशाली अनुभव कर रहा हूँ।

इस वैशाली-क्षेत्रको तीर्थकी पवित्रता किस प्रकार प्राप्त हुई, यह बात आप सब भली भांति जानते हैं। यह वही भूमि है, जिसने भगवान् महावीर जैसे महापुरुषको जन्म दिया। यहाँ भगवान् महावीरका जन्म आजसे कोई अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व हुआ था। भगवान् महावीर कितने महान् थे, यह इसी बातसे जाना जा सकता है कि अढ़ाई हजार वर्षोंके दीर्घकालके पश्चात् भी हम और आप सब आज अनेक कष्ट सहकर भी उनकी जन्म-भूमिके दर्शन कर अपनेको धन्य और पुण्यवान् बनानेके लिए यहाँ आये हैं। इस सुअवसर पर स्वभावत: हमें यह जाननेकी कुछ विशेष इच्छा और अभिलाषा होती है कि भगवान् महावीरमें ऐसा कौन-सा गुण था और उन्होंने ऐसा कौन-सा महान् कार्य किया, जिसके कारण उन्हें आज भी यह लोक-पूजा प्राप्त हो रही है।

महावीर कौन थे, यह बात विस्तारसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि उसे आप सम्भवतः इससे पूर्व अनेक बार सुन और पढ़ चुके होंगे। किन्तु उनकी जन्म-जयन्तीके इस अवसर पर उनके जीवनका स्मरण कर लेना एक पुण्य-कार्य है। इसलिए संक्षेपमें भगवान् महावीरके जीवन-वृतान्तकी चर्चा कर लेता हूँ।

आजसे अढ़ाई हजार वर्ष पूर्वकी बात सोचिए। संसार कितना परिवर्तन-शील है ? जहाँ हम और आप इस समय खड़े या बैठे हैं, वहाँ उस समय एक वैभवशाली राजधानी थी और उसीका नाम वैशाली था। वैशालीका एक भाग कुण्डपुर या क्षत्रिकुण्ड कहलाता था जहाँ एक राजभवनमें राजा सिद्धार्थ अपनी रानी त्रिशलाके साथ धर्म और न्याय-पूर्वक शासन करते हुए सुखसे रहते थे। रानी त्रिशलाकी कुक्षिसे एक बालकका जन्म हुआ और राजकुमारके अनुरूप उसका पालन-पोषण और शिक्षण हुआ। इसी राजकुमारकी उत्तरोत्तर बढ़ती हुई बुद्धि और प्रतिभा तथा उन्नति-शाली शरीरको देखकर उसका नाम वर्द्धमान महावीर रखा गया। स्वभावतः यह आशा की जाती थी कि राजकुमार महावीर भी यथा समय राज्यकी विभूतिका सुख-भाग करेंगे। किन्तु ऐसा नहीं हुआ। लगभग तीस वर्षोंकी युवावस्थामें उन्हें राजभवनके जीवनसे विरक्ति हो गयी, आत्म-कल्याण तथा लोकोपकारकी भावनासे प्रेरित होकर राजधानीको छोड़ वनको चले गये। उन्होंने भोगोपभोग और साज-सजावटको

समस्त सामग्रीका परित्याग तो किया ही, किन्तु लेशमात्र परिग्रह रखना उन्होंने अपनी शान्ति और आत्मशुद्धिका बाधक समझा। इसलिए उन्होंने वस्त्रका भी परित्याग कर दिया और वे 'निर्ग्रंथ' या 'अचेल' हो गये। इस प्रकार बारह वर्षों तक कठोर तपस्या करनेके पश्चात् उन्हें सच्चा, शुद्ध और सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ, जिसके कारण वे 'सर्वज्ञ' और 'केवली' कहलाने लगे। उस समय मगध देश-की राजधानी राजगृह (आधुनिक राजगिर) थी और वहाँ सम्राट् श्रेणिक बिंबसार राज्य करते थे। भगवान् महावीर विहार करते हुए राजगृह पहुँचे और विपुलाचल नामक पहाड़ी पर उनका सर्वप्रथम प्रवचन हुआ। उनके उपदेशोंको हजारोंकी संख्यामें जनताने बड़े चावसे सुना और ग्रहण किया। फिर कोई तीस वर्षों तक भगवान् महावीर देशके भिन्न-भिन्न भागोंमें विहार करते रहे और इसीलिए इस प्रदेशका नाम 'विहार' प्रसिद्ध हुआ। उन्होंने मुनि, अर्जिका, श्रावक और श्राविका इस प्रकार चतुर्विध संघकी रचना की, जिसकी परम्परा जैनधर्मके नामसे आज तक भी विद्यमान है। किन्तु मैं यह बात नहीं मानता कि महावीर भगवानके उपदेशोंकी परम्परा केवल अपनेको जैनी कहने वाले लोगोंमें ही विद्यमान हो। भगवान महावीरने जो अमृतवाणी वर्षायी, उसका भारतकी कोटि-कोटि जनताने पान किया, जिसका प्रभाव आज तक भारतीय जनता भरमें कुछ-न-कुछ सर्वत्र पाया जाता है। विहार करते हुए भगवान् पावापुरीमें पहुंचे और वहाँ करीब बहत्तर वर्षोंकी अवस्थामें उनका निर्वाण हो गया। प्राचीन ग्रन्थोंमें उल्लेख मिलता है कि भगवान् महावीरका निर्वाणोत्सव दीपमालिकाओं द्वारा मनाया गया और आजकल जो दीवाली मनायी जाती है, वह उसी परम्पराकी द्योतक है।

भगवान् महावीरका उपदेश संक्षेपमें यह था कि चेतन और जड ये दोनों अलग-अलग पदार्थ हैं, जिन्हें हम जीव और अजीव तत्त्व भी कह सकते हैं। ये दोनों प्रकारके तत्त्व अनादि और अनन्त हैं। जीवका जड़ भौतिक तत्त्वके साथ अनादि कालसे सम्बन्ध चला आता है। यही उसका संसार या कर्म-बन्धन है। जीव शुभ कर्म करता है, तो उसे पुण्य-का बंध होता है और वह सुख भोगता है तथा स्वर्गको जाता है। और जीव यदि अशुभ या बुरे कर्म करता है, तो उसे पापका बन्ध होता है, वह दुःख भोगता है और नरकको जाता है। मनुष्यसे लेकर पशु पक्षी, कीट, पतंग एवं वृक्ष, वनस्पति आदि सब सचेतन पदार्थोंमें जीव रहता है। जीवकी ये गतियाँ उसके पुण्य और पापके फलसे ही उत्पन्न होती हैं। जब मनुष्य श्रद्धा, ज्ञान और संयमके द्वारा पाप-पुण्य-रूपी कर्म-बंधका नाश कर देता है, तब वह इस संसारसे मुक्त हो जाता है। यही उसका निर्वाण है, जिसके होने पर आत्मामें सच्चे ज्ञान और निर्बाध सुखकी उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार यही जीव परमात्मा हो जाता है।

अपने इस तत्त्वज्ञानके आधार पर भगवान् महावीरने जीवनको सुखमय, सुशांतिपूर्ण और कल्याणकारी बनानेके लिए कुछ उपयोगी नियम स्थिर किये। चूँकि सभी जीव-धारियोंमें परमात्मा बननेकी योग्यता रखने वाला जीव विद्यमान है, अतएव सत्ताकी दृष्टिसे वे सब समान हैं और अपना-अपना विकास करनेमें स्वतन्त्र हैं। वे सब अपने-अपने कर्मानुसार नाना गतियों और भिन्न अवस्थाओंमें विविध प्रकारके सुख-दुःखोंका अनुभव करते हैं। इसमें न कोई देवी-देवता उन्हें क्षमा कर सकता और न दंड दे सकता है। अतएव प्रत्येक मनुष्यको अपनी पूरी जिम्मेदारी-का ध्यान रखते हुए अपना चरित्र शुद्ध और उन्नतिशील बनाना चाहिए। अपनी इस जिम्मेदारीको कभी भूलना नहीं चाहिए और न सदाचारमें कोई प्रमाद करना चाहिए। प्रमाद, भूल और अपराध करनेसे केवल अपना ही बुरा होता हो, सो बात नहीं है। अपनी आत्माका अधःपतन तो होता ही है, किन्तु साथ ही उसके द्वारा दूसरे प्राणियोंके विकासमें भी बाधा पडती है। और यही यथार्थतः हिंसा है। जब हम क्रोधके वशीभूत होकर, या अहंकार-वश, अथवा छल-कपट बुद्धिसे, या लोभवश कुछ अनाचार या दुराचार करते हैं, तब हम स्वयं पापके भागी होते हैं और दूसरे प्राणियोंको हानि या चोट पहुंचती है, जो हिंसा है। दूसरे जीवोंका प्राण-हरण करना तो हिंसा है ही, उनको किसी प्रकार हानि या चोट पहुंचाना भी हिंसा है, जिससे सदाचारी मनुष्यको सावधान रहना चाहिए। किसीका प्राण हरण करना या चोट पहुंचाना जैसा पाप है, उसी प्रकार चोरी करना, झूठ बोलना, व्यभिचार करना भी पाप है। यहाँ तक कि अपनी और अपने कुटुम्बकी आवश्यकताओंसे अधिक धन-संचयका लोभ करना भी पाप है। इन्हीं पांच पापोंसे समाजमें नाना प्रकार का विद्वेष, कलह और संघर्ष उत्पन्न होता है। यदि लोग इन पाँच पापोंका परित्याग कर दें, तो वे समाजके विश्वासपात्र और प्रेम-भाजन बन

जाते हैं और कभी भी किसी देश या कालमें किसी अपराध में नहीं फँस सकते।

चूंकि सभी प्राणी परमात्मत्व की ओर विकास कर रहे हैं, अतएव वे सब एक ही पथ के पथिक हैं। अतः उनमें परस्पर समझदारी और सहयोग एवं सहायता की भावना होनी चाहिए, न कि परस्पर विद्वेष और कलह की। विद्वेषका मूल कारण प्रायः यह हुआ करता है कि या तो हम भूल जाते हैं कि हम मनुष्य हैं, या हमारी लोलुपता हमें मनुष्यताने भ्रष्ट कर देती है। इन्हीं दो प्रवृत्तियोंसे बचनेके लिए भगवान् महावीरने मद्य और मांसके निषेधका उपदेश दिया है। शराब पीकर मनुष्य भूल जाता है कि वह कौन है और अन्य जन कौन कैसे हैं। इसीसे शराबीका आचरण अविवेक और निर्लज्जतापूर्ण हो जाता है, जिससे वह नाना प्रकारके भयंकर अपराध कर बैठता है। धर्माचार्योंने सदैव मद्य-पानको पाप बतलाया है। आज सौभाग्यसे हमारी राष्ट्रीय कांग्रेस तथा सरकार भी मद्यपान के निषेधका प्रयत्न कर रही है। उनके इस पवित्र कार्यमें सभी विवेकी और धार्मिक व्यक्तियोंको सहयोग प्रदान करना चाहिए।

मांस-भोजनका निषेध मद्य-निषेधसे बहुत बड़ी समस्या है, क्योंकि उसका सम्बन्ध आदतके अतिरिक्त भोजन-सामग्रीकी कमीसे भी है। तथापि इस सम्बन्धमें हमें प्रकृतिके स्वभाव और मानवीय संस्कृतिके विकासकी ओर ध्यान देना चाहिए। प्रकृतिमें जो प्राणी मांस-भक्षी हैं, जैसे शेर, व्याघ्र इत्यादि, वे क्रूर-स्वभावी और निरुपयोगी पाये जाते हैं। शिक्षाके योग्य, उपयोगी और मृदु-स्वभावी वे ही प्राणी सिद्ध हुए हैं, जो मांस-भोजी नहीं हैं—शुद्ध शाक-भोजी हैं—जैसे हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाय, बैल, भैंस इत्यादि। एक वैज्ञानिक शोधके अनुसार मनुष्य-जातिका विकास बानरोंसे हुआ है, और जैसा कि हम भली भांति जानते हैं, बानर शुद्ध शाक और फल-भक्षी होता है। प्राणीशास्त्रके विज्ञाता बतलाते हैं कि मनुष्योंके दाँतोंकी अथवा उसके हाथ-पाँवों की रचना मांस-भक्षी प्राणियों जैसी नहीं है। इसीसे मांस-भोजी मनुष्योंके दाँत जल्द खराब हो जाते हैं और उससे कई बीमारियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं, जिनसे शाक-भोजी मनुष्य बहुधा बचा रहता है। अतएव भगवान् महावीरके अनुयायियोंका कर्त्तव्य है कि वे इन वैज्ञानिक शोधोंके प्रचार द्वारा तथा शाक-भोजन की सुविधाएँ उत्पन्न करनेके प्रयत्नों द्वारा मांस-भोजनकी ओरसे मनुष्यको रुचिको हटानेका आयोजन करें। अन्न और फलोंका उत्पादन बढ़ाना तथा शाक-भोजनालयोंकी जगह-जगह स्थापना और उनमें रुचिकारक और सस्ते शाकमय खाद्य-पदार्थोंको प्रस्तुत करना इस दिशामें उचित प्रयत्न होंगे।

ऊपर जो भगवान् महावीर द्वारा बतलाये गये हिंसा आदि पाँच पाप कह आये हैं, उनमें अन्तिम पापका कुछ विस्तारसे वर्णन करना आवश्यक है। भगवान्ने स्वयं राजकुमारका वैभव छोड़कर अकिंचन व्रत धारण किया था। उन्होंने गृहस्थोंको यह उपदेश तो नहीं दिया कि वे अपनी समस्त धन-सम्पत्तिका परित्याग कर दें, किन्तु अपने लोभ और संचय पर कुछ मर्यादा लगाना उन्होंने आवश्यक बतलाया। संसारमें जितने जीवधारी हैं, उनके खाने-पीने और सुखसे रहनेकी सामग्री भी वर्तमान है। किन्तु मनुष्यमें जो अपरिमित लोभ बढ़ गया है, उसके कारण ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है कि प्रत्येक मनुष्य या जन-समुदाय संसारकी समस्त सुख-सम्पत्ति पर अपना अधिकार जमाना चाहता है। इसमें संघर्ष और विद्वेष अवश्यम्भावी है। महावीर भगवान् ने इस आर्थिक संघर्षसे मनुष्यको बचानेके लिए ही परिग्रह-परिमाण पर बड़ा जोर दिया है। और गृहस्थोंको इस बातका उपदेश दिया है कि वे अपनी आवश्यकतासे विशेष अधिक धन-संचय न करें। यदि अपना कर्त्तव्य करते हुए न्याय और नीति के अनुसार धनकी वृद्धि हो हो, तो उस अतिरिक्त धनको उन्हें औषधि, शास्त्र, अभय और आहार इन चार प्रकारके लोक-हितकारी दानोंमें लगा देना चाहिए। अर्थात् सम्पन्न गृहस्थका उन्होंने यह कर्त्तव्य बतलाया है कि वह अपनी सम्पत्तिका सदुपयोग लोगोंकी प्राण-रक्षाके उपायोंमें, शिक्षा और विद्याके प्रचार में, रोग-व्याधियोंके निवारणमें तथा दीन-दुःखियोंको भोजन-वस्त्रादि प्रदान करनेमें कर डाले। आज आचार्य विनोबा भावे अपने भूदान-यज्ञके आन्दोलन द्वारा जिस मनोवृत्तिका निर्माण करनेका प्रयत्न कर रहे हैं, उसी वृत्तिके निर्माणका उपदेश भगवान् महावीरने आजसे अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व दिया था। यही नहीं, भगवान्के उस शासनको उनके अनुयायियोंने आजसे कोई डेढ़ हजार वर्ष पूर्व ही 'सर्वोदय-तीर्थ' का नाम भी दिया है। आचार्य समन्तभद्रने भगवान् महावीर

के 'सर्वोदय-तीर्थ' के जो लक्षण बतलाये हैं, वे सर्वोदय-भावनाकी वृद्धि और पुष्टिमें आज भी बहुत सहायक हो सकते हैं। जब सभी विचार-धाराओंका समन्वय किया जाए, किसी एक मत या दलकी पुष्टि और पक्षपात न किया जाए, किन्तु समय और आवश्यकतानुसार गौण और मुख्यके भेदसे एक या दूसरी बातको प्रधानता या अप्रधानता दे दी जाए, और दृष्टि रखी जाए सब प्रकारकी जन-बाधाओंको दूर करनेकी, तथा जोर दिया जाय न्याय और नीतिके शाश्वत् सिद्धान्तों पर, तभी सर्वोदय-तीर्थकी सच्ची स्थापना हो सकती है। इस सर्वतोमुखी, सर्वहितकारी कल्याण-भावनाका विस्तार भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त-सिद्धांतमें पाया जाता है, जिसके द्वारा सब प्रकारके मतभेदों और विरोधोंको मिटाकर एकत्व और सहयोगकी स्थापना की जा सकती है। क्या ही अच्छा हो, यदि आजका विरोधी विचारोंके कारण सर्वनाशकी ओर बढ़ता हुआ मानव-समाज भगवान् महावीरकी अनेकान्तात्मक समन्वयकारी वाणीको समझ कर उससे लाभ उठाए।

आज संसारमें चारों ओर नर-संहारकी आशंका फैल रही है। युद्धके बादल बारंबार उठ-उठकर गर्जन-तर्जन कर रहे हैं और जिन महाभयंकर प्रलयकारी अस्त्र-शस्त्रोंका आजके विज्ञान द्वारा आविष्कार हुआ है, उनके नाम और गुण सुन-सुनकर ही निरपराध नर-समाज काँप-काँप उठता है। ऐसे समयमें हमारे देशकी राजनीतिको निर्धारित करने वाले पंडित जवाहरलाल नेहरूने जो 'पंचशील' की घोषणा की है, वह भारतीय संस्कृतिके सर्वथा अनुकूल एवं भगवान् महावीर द्वारा बतलाये गये अहिंसा-प्रधान मार्गका पूर्णतः अनुकरण है।—

खम्मामि सव्व-जीवानं सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मेत्ती मे सव्व-भूदेसु वेरं मज्झ न केनवि॥

सब जीवोंसे देशोंसे और राष्ट्रोंसे हमारा कोई विद्वेष नहीं, और हम चाहते हैं कि वे सब जीव, देश और राष्ट्र हमसे भी कोई विद्वेष न रखें। सबसे हमारी मित्रता है, वैर किसीसे भी नहीं। परस्पर आक्रमण नहीं करना, दूसरेकी गति-विधिमें व्यर्थ हस्तक्षेप नहीं करना, मिलकर रहना, सहयोग रखना, जीना और जीने देना इत्यादि समस्त भावनाएँ अहिंसावृत्तिके व्यावहारिक रूप ही तो हैं, जिसे पुष्टि देकर संसार भरमें फैलाना तथा व्यक्तियों, समाजों और राष्ट्रोंके जीवनमें उतारना हम सबका महान् पुनीत कर्त्तव्य होना चाहिए। यही भगवान् महावीरकी जन्म-जयन्ती मनानेका सच्चा फल होगा।

मुझे यह जान कर बड़ा हर्ष है कि भगवान् महावीरके इन्हीं सब विश्व कल्याणकारी उपदेशोंका अध्ययन करने तथा उनके शासन पर आधारित साहित्यका शोध और पठन-पाठनकी विशेष सुविधायें उत्पन्न करनेके लिए उनकी इसी जन्म-भूमि पर एक विद्यापीठके निर्माणका प्रयत्न किया जा रहा है। जो सज्जन इस पुण्य-कार्यमें विशेष रूपसे प्रयत्न-शील हैं, उनमें मुझे वैशाली-संघके प्रधान मन्त्री श्री जगदीशचन्द्र माथुर जीका नाम प्रमुखतासे ध्यानमें आता है। मैं माथुर जी और उनके समस्त सहयोगियोंका उनकी इस उत्तम योजनाके लिए अभिनन्दन करता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि उनका यह महान् संकल्प पूर्णतः सफल हो।

महावीर जयन्ती के अवसर पर राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री का भाषण

अहिंसाके बिना संसारमें वास्तविक शांति असंभव जैन साहित्य के प्रचार पर जोर

राष्ट्रपति का महत्वपूर्ण भाषण

भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने दिनांक ७ अप्रेल ५५ को उक्त महावीर जयन्ती-समारोह में भाषण करते हुए कहा कि 'संसार में अहिंसा के सिद्धान्त को स्वीकार किए बिना वास्तविक शान्ति असम्भव है। २५०० वर्षों से जैन धर्म के प्रचारकों की अटूट परम्परा आज तक चली आ रही है और उनके विद्वान् तथा मुनिगण अनेक ग्रन्थ लिखते आ रहे हैं, मगर तो भी यह दुःख के साथ कहना पड़ेगा कि उनके साहित्य से आम लोगों को परिचय बहुत ज्यादा नहीं हुआ। उनके सहस्त्रों हस्तलिखित ग्रन्थ पुस्तकालयों और संग्रहालयों में छिपे रहते हैं, यहाँ तक कि उनको तहखानों में सुरक्षित रखा हुआ है। हाल में मैं जैसलमेर गया था वहाँ मैंने तहखाने में भी तहखाना और उस तहखाने में भी तहखाना देखा, जहां जैन ग्रन्थ मुझे दिखाये गये। जिनके पास धन है वे इन ग्रन्थोंको प्रकाशमें लायें और जिनके पास ज्ञान वे इनका योग्य सम्पादन करें तथा जिनके पास कुछ नहीं है वे इससे फायदा उठायें और जो जैनेतर हैं वे जैन विचारोंसे परिचित हों।'

आज ही मुझे बिहार के राज्यपाल ने लिखा है कि वहाँ वैशाली में जैन-ज्ञान-प्रतिष्ठान के लिए पाँच लाख इकमुश्त और २५ हजार प्रति वर्ष ५ वर्ष तक देने का एक जैन भाईने उन्हें वचन दिया है। हमें हर्ष है कि भगवान महावीर का जन्म बिहार में वैशाली में हुआ और वहीं पावापुर में उनका निर्वाण हुआ। उन्होंने १२ वर्ष तक तप भी बिहार में ही आस-पास किया होगा। जहाँ जहाँ उन्होंने तप किया उन स्थानों की आज खोज होनी चाहिए। वे महापुरुष थे, उनके सिद्धान्तों से ही दुनियामें शान्ति हो सकती है।'

हथियारका जबाब हथियार नहीं अहिंसा है।

चैत्र शुक्ला १२ वीं नि॰ सं० २४८१ दिनांक ५ अप्रेल १९५५ को 'कॉस्टीटयूशन क्लब' नई दिल्ली में आयोजित महावीर-जयन्ती के समारोह में भाषण करते हुए भारत के प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि 'हथियार का जबाब हथियार से नहीं बल्कि शान्तिमय ढंग से अहिंसा से देना चाहिए। हमारे महापुरुषों—गाँधी जी तथा महावीर स्वामी ने शान्ति व अहिंसा के मार्ग पर चलने के लिए उपदेश दिये। आज एक महापुरुष की जयन्ती है। मुनासिब है कि हम उनके सिद्धान्तों को याद करें और उनका तर्जुमा अपने जीवन में करें।' आगे नेहरू जी ने कहा—जहाँ तक जैन सिद्धान्तों का मतलब है, वे अहिंसक ही हैं। हम महापुरुषों के सिद्धान्तों की ओर ध्यान कम देते हैं और तमाशा करते हैं, दूसरों को दिखाने के लिए। आप ही नहीं हम सब करते हैं। मुनासिब तो यह है कि हम भगवान महावीर के सिद्धान्तों का पालन करें।

आजकल दुनिया टेढ़ी है, खतरनाक है। हम एक दूसरे को भला बुरा कहते हैं। एक देश दूसरे देश को धोखा देता है। नेता लोग एक दूसरे देश पर इल्जाम लगाते हैं। हमें अपने दिलों को टटोलना चाहिये, क्या अच्छाई है, क्या बुराई है? हम लोगों में रटे हुए सबक को दोहराने की आदत है। सवाल है कि हमें क्या करना है? हमें महापुरुषों के सिद्धान्तोंको जीवन में उतारना है, अपने ही नहीं, बल्कि राष्ट्र के और विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय जीवनमें।'

अणुबम की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा— आज संसार में एटमबम और हाईड्रोजन बम की चर्चा है, लेकिन इसका जबाब अहिंसा से दिया जा सकता है, हथियार से नहीं। हथियार से हथियार का कोई जवाब नहीं, क्योंकि अपने हथियार से अपने को ही खतरा है। हमें इस शक्ति का उपयोग शान्ति कायम करने में करना चाहिये हमें खुशी है कि हम महफूज हैं, हम उतने खतरे में नहीं जितने और देश हैं। कारण हम लड़ना नहीं चाहते। पर आज कोई महफूज नहीं, जब कि आग सब जगह लग गई है। जवाब गालिबन एक ही है और वह है गांधी जी तथा भगवान महावीर के शान्तिमय सिद्धान्तों पर चलने का। भगवान महावीरने उन्हें धर्म व समाज तक सीमित रखा, गाँधी जी उन्हें राजनीति में लाये। हम महाशक्ति का मुकाबला महाशक्ति से न करें।'

राजस्थान विधान सभामें नग्नता प्रतिषेध विधेयक

(श्री छोटेलाल जैन)

राजस्थान विधानसभामें जो पशुवलि विरोध बिल पेश है उसीकी प्रतिक्रिया स्वरूप यह नग्न उपस्थिति तथा प्रदर्शन (प्रतिषेध) विधेयकके १९५५ श्री भीमसिंह जी भूतपूर्व जागीरदार मडावाने उपस्थित किया है। भारतमें कहीं भी दिगम्बर साधुओंके विहार पर प्रतिबन्ध न था और न अब तक है तो भी राजस्थानमें उक्त अराजकीय बिल पेश है।

यह विधेयक दिगम्बर जैन समाजके मूलभूत सिद्धांतका घातक है। पाश्चात्य संस्कृतिसे प्रभावित आजके सत्ताधारी धर्मकी परिभाषामें ही परिवर्तन लाना चाहते हैं। प्राचीनकालमें नीति और चरित्रकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिये विदेशोंसे लोग भारत आते थे, पर आज भारतवासी अपना मार्ग-दर्शन विदेशोंसे प्राप्त करते हैं। धार्मिक हस्तक्षेप करने वाले विधेयक कदापि उचित नहीं कहे जा सकते हैं और वे सहनीय भी नहीं हो सकते हैं जो अन्याय मुसलिम और क्रिश्चियन जैसे विदेशी और मूर्ति-पूजाके महा विरोधी शासन कालमें नहीं हुआ वह अब स्वतन्त्रकाल-में हो रहा है। जिस शासनमें जनताको यह विश्वास दिलाया गया था कि शासन सदा धर्मनिरपेक्ष नीतिको अपनावेगा। उसी शासनके कतिपय सदस्य जिनका सांस्कृतिक और प्रागैतिहासिक ज्ञान न्यून है और जो अपने धर्मसे विपरीत धर्म वालोंका अन्त करने पर हो तुल गये हैं। दिगम्बर मुनियों और मूर्तियोंका अस्तित्व कम से-कम ४००० हजार वर्षोंसे आजतक अविच्छिन्न रूपसे भारतमें प्राप्त हो रहा है। प्राचीनकालमें महाराज चन्द्रगुप्त मौर्य और महाराज खारवेल सरीखे प्रसिद्ध सम्राटोंने भी दिगम्बर दीक्षा ग्रहण करके आत्म-कल्याण किया था और उनकी महारानियाँ दिगम्बर साधुओंको नवधा भक्तिसे आहार दान देकर अपनेको कृतार्थ मानती थीं। इस प्रकारके अनेक राजा मन्त्री और सेनानायकोंके दृष्टान्त इतिहासमें उपलब्ध हैं। परिग्रह त्यागकी चरम सीमा पर पहुँचने वाले इन परम त्यागियोंने जितना लोक कल्याण किया है उतना किसी अन्यने नहीं किया। इनके सम्पर्कमें आकर घोर व्यभिचारी भी सदाचारी बन गए और अब भी बनते हैं। नंगे बच्चों-को देख कर जैसे किसीके मनमें क्लेश उत्पन्न नहीं होता, वैसे ही परम तपस्वियोंके दर्शनसे क्लेश कैसे हो सकता है? यदि ऐसा होता तो भारतकी दिगम्बर समाज कभीका यह सुधार कर चुकी होती; क्योंकि समाजमें बहुत बड़ी संख्या विद्वानों, विचारकों और सुधारकों की है।

दिगम्बर जैन मुनियोंकी चर्या इतनी कठोर होती है कि इनका रास्तोंमें निकलना बहुत ही कम होता है। केवल एक बार भोजन और शौचके लिए बाहर जाते हैं। सूर्यास्त-से सूर्योदय तक इनका गमन बिल्कुल बन्द रहता है। भोजन और जल भी केवल जैनीके यहाँ लेते हैं, सो भी खड़े खड़े, पाणि पात्र (हाथों पर) से ही लेते हैं, रात्रि-कालमें वे मौन पूर्वक रहते हैं। इनका रात दिन धर्मध्यानमें ही व्यतीत होता है। उनका मन पवित्र और शरीर तथा इंद्रिय-विषयों पर विजय होती है। अस्तु।

विधेयकका दुष्प्रभाव

यद्यपि इस विधेयक द्वारा दि० जैनोंके अतीव प्राचीन और परम्परागत दृढ़ सिद्धान्तको आघात पहुंचानेका प्रधान आशय है, तो भी इसका प्रभाव अन्य सम्प्रदायोंमें भी पड़ेगा। दिगम्बर मूर्तियोंके निदर्शन प्रागैतिहासिक कालसे आज तक जो उपलब्ध हैं उनमें जैनोंके और शैवोंसे विशेषतासे उपलब्ध हैं मोहन जोदड़ोकी चार हजार वर्ष प्राचीन शिवजीकी तथा ध्यानमग्न दि० साधुके चित्र प्रकाशित हो चुके हैं। दोनोंके दिगम्बरत्वमें अन्तर इतना ही है कि जैनोंके दिगम्बर बिलकुल नग्न वस्त्राभूषणसे रहित होते हैं और शिश्न पड़ा हुआ होता है, जबकि शिवजीकी मूर्ति वस्त्राभूषण सहित होती है और लिंगको ऊर्ध्व रूपसे इतना उठा हुआ दिखाया जाता है कि वह मानो नाभिको ही स्पर्श कर रहा हो। इस प्रकारसे ऊर्ध्व लिंग शिवकी मूर्तियाँ अनेक जगह पाई जाती हैं। गुडिमल्लमके परशु-रामेश्वर मन्दिरमें ई० पूर्व दूसरी शताब्दीकी मूर्ति है जिसकी पूजाके लिये लाखों हिन्दू आते-जाते हैं। ऊर्ध्वलिंग शिवकी मूर्तियाँ भारतमें सर्वत्र उपलब्ध हैं। कलकत्ताके म्युजियममें चतुर्थ शताब्दीकी कोशमसे उपलब्ध शिव-पार्वतीकी एक मूर्ति है जिसमें ऊर्ध्व लिंग स्पष्ट रूपसे अंकित है।

अमरावती, सांची आदिकी दो हजार वर्ष प्राचीन ऐसी मूर्तियाँ उपलब्ध हैं जिनको शिल्पीने स्त्राभूषणोंसे आच्छादित कर दिया है पर उनका लिंगभाग स्पष्ट प्रदर्शित होता है।

बौद्धोंके कुम्भंड यक्षकी मूर्तिमें उसके बड़े अंडकोशको प्रदर्शित करते हुए उसका नाम निर्देश हुआ है। ऐसी

मूर्तियाँ मथुरामें उपलब्ध है। भैरवकी मूर्ति वस्त्राभूषण होते हुए भी लिंगको दर्शनीय रखा जाता है और यही हाल भिक्षाटन शिव और सदाशिव ब्रह्मेन्द्रका है। दाराश्वरम् में तो भिक्षाटन मूर्ति दि० शिवकी इस प्रकार की है, जिसमें स्त्रियाँ शिवजीके सुन्दर रूपसे लुप्त होगई हैं और उनके वस्त्र खुल कर पड़ते हुए प्रदर्शित किये गए हैं।

ग्रीक (यूनान) लोगोंके शक्तिके देवता हरक्यूलिशकी बड़ी बड़ी कलापूर्ण मूर्तियाँ जो प्रसिद्ध संग्रहालयोंमें गौरवके साथ प्रदर्शित होती हैं। वे नग्न होती हैं अंगोपाग सहित मूर्तियोंके अतिरिक्त केवल लिंगकी पूजा तो भारतके कोनेकोने-में प्रचलित है। क्या इनका भी अन्त राजस्थानमें किया जायेगा? पूरे नग्न लिंग देवताकी पूजा जब वर्जितकी जा रही है तब कटे हुए अंग भागकी पूजाका अस्तित्व किस प्रकार रह सकेगा? यह विचारणीय है। इसके लिये क्या लाखों जैनोंके विरोध-सूचक अभिमतका आदर इस विधेयक द्वारा मान्य होगा?

दिगम्बरत्वका प्रभाव

दिगम्बर जैन साधुओंका राजप्रसदोंमें पदार्पण होना सम्राट् और सम्राज्ञी अपना अहोभाग्य समझते थे और उन्हें नवधा भक्तिपूर्वक आहार दान देकर अपनेको धन्य मानते थे। और उनके सादुपदेशको वे केवल ग्रहण ही नहीं करते थे किन्तु जीवनमें उतार कर स्वयं साधुदीक्षा तक ले लेते थे। उन परम त्यागीतपस्वियोंका आज अल्प समयके लिये मार्ग-में चलना ही खटकमकता है इसकी स्वप्नमें भी आशा नहीं थी।

जिस सम्प्रदायका अतीव उच्चकोटिका साहित्य गत तीन हजार वर्षोंसे निरन्तर समृद्धिको प्राप्त होता हुआ, संस्कृत, प्राकृत तामिल कन्नड, अपभ्रंश, राजस्थानी और गुजराती आदि सभी भाषाओंमें उपलब्ध है और विभिन्न विषयोंक अतिरिक्त तर्कशास्त्र और अपने सिद्धान्तको (दिगम्बरत्वके) इतनी सबलतासे प्रतिपादन करने वाला है कि उसके सामने विरोधियोंको भी लोहा मानना पड़ा है।

संसारके किसी भी सम्प्रदायने दिगम्बरत्व (अपरिग्रहवाद) का विरोध नहीं किया है और उसकी प्रशंसा और उपादेयताका समर्थन भी किया है। भले ही इस घोर तपस्याके प्रतीक उनमें आज उपलब्ध न हों।

भारतमें आने वाले विदेशी यात्रियोंने जैसे ग्रीक, चीन अरबी आदि ने दि० साधुओंके प्रभाव और तपस्या पर प्रकाश डाला है जिनसे उनके निर्बाध विहार पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। मुसलमान राज्यकालमें मुसलिम शासकोंने तत्पश्चात् अंग्रेजोंने भी दिगम्बर साधुओंके प्रति अपना आदर प्रकट किया था, इसके भी प्रमाण उपलब्ध हैं।

श्रवणबेलगोला (मैसूर) की जगत प्रसिद्ध गोमटेश्वरकी विशाल दिगम्बर मूर्तिके दर्शन करनेके लिये भारतीय ही नहीं किन्तु विदेशोंसे भी लोग दर्शन करनेके लिये आते हैं, और उस वीतराग तपस्वीकी मुद्राको देखकर नतमस्तक हो जाते हैं, भारत सरकारने भी उस दिव्य मूर्तिको भारतके गौरवकी वस्तु मान कर उसे सुरक्षित रखनेकी घोषणा की है। इसी प्रकार भारतके म्यूजियमों (संग्रहालयों) में दिगम्बर जैन मूर्तियाँ गौरवके साथ प्रदर्शित हैं। जिन पाश्चात्य देशोंके लोगोंको नग्नताके विरोधी मानते हैं उनके संग्रहालयोंमें भी दिगम्बर जैन मूर्तियाँ आदरके साथ रक्खी जाती हैं और कलाके पारखी लोग उनके दर्शनोंसे प्रभावित होते हैं।

गत दिसम्बरमें राज्य सभामें अपने एक भाषणमें प्रसिद्ध कलाकार पृथ्वीराजकपूरने कहा था कि—'जेनेवामें मैंने बिल्कुल नंगे नाचको पाससे देखा, इससे श्रद्धा होती है कि इतना सुन्दर शरीर हो सकता है।' तब भला निर्विकार और निर्लिप्त दि० मुनियोंके दर्शनोंसे वीतरागता और भक्ति ही जागृत हो तो इसमें क्या आश्चर्य है? उनके दर्शनोंसे मनुष्यके हृदयमें विकार उत्पन्न हो ही नहीं सकते, यह तो भावनाकी बात है। हाँ, यदि दस बीस कलुष हृदय व्यक्तियोंकी भावना बिगड़ती हो तो इसके लिये एक प्राचीन अकाट्य सिद्धान्तका गला नहीं घोंटा जा सकता।

यह कोई नया धर्म तो है नहीं कि उसे बन्द करनेकी आवश्यकता हो। यह तो इतिहासकालसे अब तक निर्बाधित रूपसे चला आ रहा है, फिर धर्मनिरपेक्ष सरकारका यह कर्तव्य नहीं है कि वह सभी धर्मवालोंके विश्वासोंमें बाधा न पहुंचाये।

साहित्य परिचय और समालोचन

१—वरांगचरित, मूलकर्ता जटासिंहनन्दी अनुवादक प्रो० खुशालचन्दजी एम. ए. साहित्याचार्य गोरावाला, प्रकाशक, मंत्री साहित्य विभाग भारत दि० जैन संघ चौरासी मथुरा। साइज २२ × २६ पृष्ठ संख्या सब मिला कर ४०० सजिल्द प्रतिका मूल्य सात रुपया।

इस मूल काव्य-ग्रन्थका अन्वेषण डा० ए० एन० उपाध्ये एम० ए० ने किया और स्वयं सम्पादितकर माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशमें लाया गया। जटासिंह नन्दीने इस महाकाव्यमें ३१ सर्गों और तीन हजार आठ सौ उन्नीस श्लोकोंमें राजा वरांगकी जीवन-कथाका परिचय कराया है, जिसमें वरांगकी धर्म-निष्ठा, सदाचार, कर्त्तव्य परायणता, और शारीरिक तथा मानसिक विपत्तियोंमें सहिष्णुता, विवेक और साहसके साथ बाह्य और अन्तरकषाय शत्रुओंको दबाने, उनकी शक्ति क्षीण करने उन्हें अशक्त एवं असमर्थ बनाने अथवा उन पर विजय प्राप्तिका उल्लेख किया गया है। राजा वरांग जैनियोंके २२वें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ और श्रीकृष्णके समकालीन थे। ग्रन्थकारने ग्रन्थमें उपजाति, मालभारिणी, भुजंगप्रयात और द्रुतविलम्बित आदि विविध छन्दोंका उपयोग किया है। ग्रंथका कथा भाग सरस और सुन्दर है। प्रस्तुत ग्रंथका यह हिन्दी अनुवाद बहुत सुन्दर और मूलानुगामी हुआ है। और प्रोफेसर साहबने इसे ललित भाषामें रखनेका उपक्रम किया है, भाषा मुहावरेदार और सरल है। अनुवादकने ग्रन्थमें मूल पद्योंके नम्बर भी यथास्थान दे दिये हैं जिनसे पद्योंके अर्थके साथ मूल श्लोकोंका मिलान करनेमें सुभीता हो जाता है। ग्रंथके अन्तमें पारिभाषिक कोषभी दे दिया है जिससे स्वाध्याय प्रेमियोंको शब्दोंके अर्थ जाननेमें विशेष सुविधा हो गई है, ग्रंथकी प्रस्तावना सुन्दर ऐतिहासिक दृष्टिको व्यक्त करते हुए लिखी गई है। इस तरह अनुवादकजीने हिन्दी भाषा भाषियोंके लिए उक्त ग्रन्थको पठनीय बना दिया है। इसके लिये अनुवादक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवादके पात्र हैं।

२—कुरल-काव्य, मूलकर्ता थिरुवल्लुवर-एलाचार्य, अनुवादक, संस्कृत-हिन्दी गद्य-पद्य पं० गोविन्दरायजी शास्त्री, महरौनी। प्रकाशक स्वयं, पृष्ठ संख्या ३२०, सजिल्द प्रतिका मूल्य १०)।

मूल ग्रन्थ तामिल भाषाका महाकाव्य है जो तामिल देशमें 'तामिल-वेद' के नामसे प्रख्यात है। यह उसी महाकाव्यके कामपुरुषार्थको छोड़कर शेष सम्पूर्ण ग्रन्थका संस्कृत हिन्दी गद्य-पद्यानुवाद है। जिसके कर्ता प्रज्ञाचक्षु पं० गोविंदरायजी शास्त्री हैं जिन्होंने इस ग्रन्थका अध्ययन मनन परिशीलनकर संस्कृत और हिन्दीकी सरस कवितामें रखनेका उपक्रम किया है। ग्रन्थमें १०८ परिच्छेद या अध्याय हैं जिनमें सदाचार, धर्म, ईश्वर स्तुति, संयम, भेद, परोपकार, सत्य, दान, कीर्ति, आदि १०८ विषयों पर प्रकाश डाला गया है। यह नीतिका महाकाव्य है, ग्रन्थके सभी प्रकरण रोचक और पठनीय हैं और लोकोपयोगी हैं। छपाई सफाई अच्छी है, ऐसे सुन्दर संस्करणके लिये पंडितजी बधाईके पात्र हैं। सजिल्द प्रतिका मूल्य १०) कुछ अधिक जान पड़ता है।

३—पाण्डव पुराण भट्टारक, शुभचन्द्र, अनुवादक पं० जिनदास शास्त्री प्रकाशक, जीवराज ग्रंथमाला शोलापुर। पृष्ठ संख्या ४६८ बड़ा साइज, मूल्य सजिल्द प्रतिका १२) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थमें महाभारत कालमें होने वाले यदुवंशी कौरव और पांडवोंका चरित्र छः हजार श्लोकोंमें दिया हुआ है। महाभारतकी कथा हिन्दू जैन बौद्ध ग्रन्थोंमें अंकित पाई जाती है। यद्यपि उनमें परस्पर कुछ भेदोंके साथ कथनोपकथनोंमें वैशिष्ट मिल जाता है। फिरभी ग्रन्थकारोंमें एक दूसरेके अनुकरणकी स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। अनुवाद भी अच्छा है।

पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्त शास्त्री द्वारा लिखी गई इस ग्रन्थकी प्रस्तावना खोज पूर्ण है। उसके पढ़नेसे ग्रन्थका निचोड़ सहज ही मालूम हो जाता है। और कथावस्तुके मर्मका भी पता चल जाता है। साथही ग्रन्थकी रचना शैली आदिके सम्बन्धमें विचार हो जाता है। ग्रंथके अन्तमें पद्योंका अनुक्रम न होना खटकता है। साथमें ग्रन्थ निर्दिष्ट राजा, राज मंत्री, श्रेष्ठी और विविध देशों आदिका परिचायक परिशिष्ट भी रखना आवश्यक था। फिर भी जीवराज ग्रन्थमालाका प्रकाशन सुन्दर हुआ है। इसके लिये ग्रंथ मालाके संचालक महोदय धन्यवादके पात्र हैं। आशा है यह ग्रन्थमाला भविष्यमें और भी सुन्दरतम प्रकाशनों द्वारा जैन संस्कृतिके संरक्षणके साथ उसके प्रचारमें विशेष योग देगी।

—परमानन्द जैन

वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी ७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नाग एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानोंके लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द (जिसकी प्रस्तावनादिका मूल्य अलगसे पांच रुपये है) ... १५)

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द। ... . ८)

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द। ... ... ५)

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद, छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठकी प्रस्तावनासे सुशोभित। ... ... २)

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनादिसे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... ... १॥)

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥।)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। . ... ॥।)

(१०) सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बाद के २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(११) विवाह-समुद्देश्य—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस-लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ गम्भीर विषयको बड़ी सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। ... ... ।)

(१३) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ... ।)

(१५) श्रवणबेलगोल और दक्षिणके अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र—ला० राजकृष्ण जैनकी सुन्दर सचित्र रचना भारतीय पुरातत्व विभागके डिप्टी डायरेक्टर जनरल डा०टी०एन० रामचन्द्रनकी महत्व पूर्ण प्रस्तावनासे अलंकृत १)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालोंको ३८॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'

वीरसेवामन्दिर, जैन लाल मन्दिर, चाँदनी चौक देहली।

Regd. No D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० शान्तिनाथजी कलकत्ता
१०१) बा० निर्मलकुमारजी कलकत्ता
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीरामबैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चद औषधालय, कानपुर
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) ला० रतनलाल जी कालका वाले, देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री दि० जैन लालमंदिर देहली। मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

अनेकान्त

मार्च १९५५

अनेकान्त वर्ष १३
किरण ९

विषय-सूची

१ समन्तभद्र-भारती देवागम—[युगवीर २१५
२ क्या असंज्ञी जीवों के मनका सद्भाव मानना आवश्यक है ? —[पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य २१७
३ क्या व्यवहार धर्म निश्चयका साधक है ? —[जिनेन्द्रकुमार जैन २२१
४ सम्पादकीय नोट—[परमानन्द जैन २२६
५ नागकुमार चरित और कवि धर्मधर —[परमानन्द शास्त्री २२७
६ भगवान महावीर—[परमानन्द शास्त्री २३१

स्वामी समन्तभद्रका

समीचीन-धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड)

मुख्तार श्री जुगलकिशोरके हिन्दी-भाष्य-सहित

छपकर तय्यार

सर्व साधारणको यह जान कर प्रसन्नता होगी कि श्रावक एवं गृहस्थाचार-विषयक जिस अति प्राचीन तथा समीचीन धर्मग्रन्थके हिन्दी भाष्य-सहित कुछ नमूनोंको 'समन्तभद्र-वचनामृत' जैसे शीर्षकोंके नीचे अनेकान्तमें प्रकाशित देख कर लोक-हृदयमें उस समूचे भाष्य-ग्रन्थको पुस्तकाकार रूपमें देखने तथा पढ़नेकी उत्कण्ठा उत्पन्न हुई थी और जिसकी बड़ी उत्सुकताके साथ प्रतीक्षा की जा रही थी वह अब छपकर तैयार हो गया है, अनेक टाइपोके सुन्दर अक्षरोंमें ३५ पौंडके ऐसे उत्तम कागज पर छपा है जिसमें २५ प्रतिशत रूई पड़ी हुई है। मूलग्रन्थ अपने विषयका एक बेजोड़ ग्रन्थ है, जो समन्तभद्र-भारतीमें ही नहीं किन्तु समूचे जैनसाहित्यमें अपना खास स्थान और महत्व रखता है। भाष्यमें, मूलकी सीमाके भीतर रह कर, ग्रन्थके मर्म तथा पद-वाक्योंकी दृष्टिको भले प्रकार स्पष्ट किया गया है, जिससे यथार्थ ज्ञानके साथ पद-पद पर नवीनताका दर्शन होकर एक नए ही रसका आस्वादन होता चला जाता है और भाष्यको पढ़नेकी इच्छा बराबर बनी रहती है—मन कहीं भी ऊबता नहीं। २०० पृष्ठके इस भाष्यके साथ मुख्तारश्रीकी १२८ पृष्ठकी प्रस्तावना, विषय-सूचीके साथ, अपनी अलग ही छटाको लिए हुये है और पाठकोंके सामने खोज तथा विचारकी विपुल सामग्री प्रस्तुत करती हुई ग्रन्थके महत्वको ख्यापित करती है। यह ग्रंथ विद्यार्थियों तथा विद्वानों दोनोंके लिए समान रूपसे उपयोगी है, सम्यग्ज्ञान एवं विवेककी वृद्धिके साथ आचार-विचारको ऊँचा उठानेवाला और लोकमें सुख-शान्तिकी सच्ची प्रतिष्ठा करनेवाला है इस ग्रन्थका प्राक्कथन डा० वासुदेवजी शरण अग्रवाल प्रो० हिंदू-विश्वविद्यालय बनारसने लिखा है और भूमिका डा० ए० एन० उपाध्ये कोल्हापुरने लिखी है। इस तरह यह ग्रंथ बड़ा ही महत्वपूर्ण है। यदि आपने आर्डर नहीं दिया है तो शीघ्र दीजिए, अन्यथा पीछे पछताना पड़ेगा। लगभग ३५० पृष्ठके इस दलदार सुन्दर सजिल्द ग्रन्थकी न्योछावर ३) रुपए रक्खी गई है। जिल्द बंधाईका काम शुरू हो रहा है। पठनेच्छुकों तथा पुस्तक विक्रेताओं (बुकसेलरों) को शीघ्र ही आर्डर बुक करा लेने चाहिए।

मैनेजर 'वीरसेवामन्दिर-ग्रंथमाला'

दि० जैन लालमन्दिर, चाँदनी चौक, देहली

भूल सुधार—

प्रथम फार्ममें पेजोंके नम्बर २१५-से २२२ के स्थानमें २२४ से २३२ तक गलत छप गए है। अतः पाठक उन्हें सुधार कर २२२ से २३२ के स्थान पर २१५ से २२२ तकके नम्बर अपनी-अपनी कापीमें बनानेकी कृपा करें।

—प्रेस मैनेजर

ॐ अर्हम्

वर्ष १२ } वीरसेवामन्दिर, C/o दि० जैन लालमन्दिर, चाँदनी चौक, देहली { मार्च
किरण ९ } फाल्गुन, वीरनिर्वाण-संवत २४८१, विक्रम संवत २०११ { १९५५

समन्तभद्र-भारती

देवागम

यद्यसत्सर्वथा कार्यं तन्मा जनि ख-पुष्पवत् । मोपादान-नियामोऽभून्माऽऽश्वासः कार्य-जन्मनि ॥४२॥

'(क्षणिकैकान्तमें कार्यका सत् रूपसे उत्पाद तो बनता ही नहीं; क्योंकि उससे सिद्धान्त-विरोध घटित होता है—क्षणिक एकान्तमें किसी भी वस्तुको सर्वथा सत्-रूप नहीं माना गया है। तब कार्यको असत् ही कहना होगा।) यदि कार्यको सर्वथा असत् कहा जाय तो वह आकाशके पुष्प-समान न होने रूप ही है। यदि असत्का भी उत्पाद माना जाय तो फिर उपादान कारणका कोई नियम नहीं रहता और न कार्यकी उत्पत्तिका कोई विश्वास ही बना रहता है—गेहूँ बोकर उपादान कारणके नियमानुसार हम यह आशा नहीं रख सकते कि उससे गेहूँ ही पैदा होंगे, असदुत्पादके कारण उससे चने जौ या मटरादिक भी पैदा हो सकते हैं और इसलिये हम किसी भी उत्पादन कार्यके विषयमें निश्चित नहीं रह सकते; सारा ही लोक-व्यवहार बिगड जाता है और यह सब प्रत्यक्षादिकके विरुद्ध है।'

न हेतु-फल-भावादिरन्यभावादनन्वयात् । सन्तानान्तरवन्नैकः सन्तानस्तद्वतः पृथक् ॥४३॥

'(इसके सिवाय क्षणिकैकान्तमें पूर्वोत्तरक्षणोंके) हेतुभाव और फलभाव आदि कभी नहीं बनते; क्योंकि सर्वथा अन्वयके न होनेके कारण उन पूर्वोत्तर क्षणोंमें सन्तानान्तरकी तरह सर्वथा अन्यभाव होता है। (यदि यह कहा जाय कि पूर्वोत्तर क्षणोंका सन्तान एक है तो यह ठीक नहीं है; (क्योंकि) जो एक सन्तान होता है वह सन्तानीसे पृथक् नहीं होता—सर्वथा पृथक्रूपमें उसका अस्तित्व बनता ही नहीं।'

अन्येष्वनन्यशब्दोऽयं संवृतिर्न मृषा कथम् । मुख्यार्थः संवृत्तिर्न स्याद् (नास्ति) विना मुख्यान्न संवृतिः ॥

'यदि (बौद्धोंकी ओरसे) यह कहा जाय कि अन्योंमें अनन्य शब्दका यह जो व्यवहार है—सर्वथा भिन्न चित्त-क्षणोंको जो सन्तानके रूपमें अनन्य, अभिन्न अथवा एक आत्मा कहा जाता है—वह संवृति है—काल्पनिक अथवा

औपचारिक है, वास्तविक नहीं—तो सर्वथा संवृत्तिरूप होनेसे वह मिथ्या क्यों नहीं है ?—अवश्य ही मिथ्या है, और इसलिये उसके आधार पर सन्तान आत्मा जैसी कोई वस्तु व्यवस्थित नहीं बनती। यदि संतानका मुख्य अर्थके रूपमें माना जाय तो जो मुख्यार्थ होता है वह सर्वथा संवृति रूप नहीं होता और यदि संवृति रूप में उसे माना जाय तो संवृति बिना मुख्यार्थ के बनती नहीं—मुख्यके बिना उपचारकी प्रवृत्ति होती ही नहीं; जैसे सिंहके सद्भाव-बिना सिंहका चित्र नहीं बनता।'

चतुष्कोटेर्विकल्पस्य सर्वन्तेषूक्त्ययोगतः। तत्त्वाऽन्यत्वमवाच्यं चेत्तयोः सन्तानतद्वतोः ॥४५॥

'यदि (बौद्धोंकी ओर से) यह कहा जाय कि चूँकि सब धर्मोंमें चतुष्कोटिविकल्पके कथनका अयोग है—सत्त्व-एकत्वादि किसी भी धर्मके विषयमें यह कहना नहीं बन सकता कि वह सत् रूप है या असत् रूप है अथवा सत् असत् दोनों (उभय) रूप है या दोनों रूप नहीं (अनुभय रूप) है; क्योंकि सर्वथा सत् कहने पर उसकी उत्पत्तिके साथ विरोध आता है, सर्वथा असत् कहने पर शून्य-पक्षमें जो दोष दिया जाता है वह घटित होता है, सर्वथा उभयरूप कहने पर दोनों दोषोंका प्रसंग आता है और सर्वथा अनुभय पक्षके लेनेपर वस्तु निर्विषय, नीरूप, निःस्वभाव अथवा निरुपाख्य ठहरती है और तब उसमें किसी भी विकल्पकी उत्पत्ति नहीं बनती—अतः उन सन्तान सन्तानीका भी तत्त्व (एकत्व-अभेद) धर्म तथा अन्यत्व (नानात्व-भेद) धर्म (धर्म होनेसे) अवाच्य ठहरता है। तदनुसार उभयत्व-अनुभयत्व धर्म भी (अवाच्य ठहरते हैं); क्योंकि वस्तुके धर्मको वस्तुसे सर्वथा अनन्य (अभिन्न) कहनेपर, वस्तुमात्रका प्रसंग आता है, वस्तुसे सर्वथा अन्य (भिन्न) कहने पर व्यपदेशकी सिद्धि नहीं होती अर्थात् यह कहना नहीं बनता कि अमुक वस्तुका यह धर्म है, सर्वथा उभय (भिन्नाऽभिन्न) कहने पर दोनों दोष आते हैं और सर्वथा अनुभय (न भिन्न और न अभिन्न) कहने पर वस्तु निरुपाख्य एवं निःस्वभाव ठहरती है—इससे सन्तान-सन्ततीके धर्म-विषयमें कुछ भी कहना नहीं बनता, (तो यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि)

अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्पोऽपि न कथ्यताम्। असर्वान्तमवस्तु स्यादविशेष्य-विशेषणम् ॥४६॥

'तब तो (बौद्धोंको) 'चतुष्कोटिविकल्प अवक्तव्य है' यह भी नहीं कहना चाहिये;—क्योंकि सब धर्मोंमें उक्तिका अयोग बतलाने अर्थात् सर्वथा अवक्तव्य (अनभिलाप्य) का पक्ष लेनेपर 'चतुष्कोटिविकल्प अवक्तव्य है' यह कहना भी नहीं बनता, कहनेसे कथंचित् वक्तव्यत्वका प्रसंग उपस्थित होता है। और न कहनेसे दूसरोंको उसका बोध नहीं कराया जा सकता। ऐसी स्थितिमें उसके सर्वविकल्पातीतत्व फलित होता है, जो सर्व विकल्पातीत है वह असर्वान्त (सब धर्मोंसे रहित) है और जो असर्वान्त है वह (आकाश कुसुमके समान) अवस्तु है; क्योंकि उसके विशेष्यविशेषणभाव नहीं बनता।—ऐसी कोई भी वस्तु प्रत्यक्षमें प्रतिभासित नहीं होता जो विशेष्य न हो या विशेषण न हो।'

(यदि यह कहा जाय कि स्वसंवेदन विशेषण-विशेष्य-रहित ही प्रतिभासित होता है तो वह ठीक नहीं; क्योंकि स्वसंवेदनके भी सत्त्व (अस्तित्व) विशेषणकी विशिष्टतासे विशेष्यका ही अवभासन होता है। स्वसंवेदनके उत्तरकालमें विकल्पबुद्धिके होने पर 'स्वका संवेदन' इस प्रकार विशेषण-विशेष्य भाव अवभासित होता है। यदि यह कहा जाय कि स्वसंवेदन अविशेष्य-विशेषण रूप है और यह स्वतः प्रतिभासित होता है तो इससे (भी) संवेदनमें विशेषण—विशेष्य—भाव सिद्ध होता है; क्योंकि वैसा कहने पर अविशेषणविशेष्यत्व ही विशेषण हो जाता है।)

द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः सतः। असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधि-निषेधयोः ॥४७॥

'(यदि विशेषण-विशेष्य-भावको सर्वथा असत् माना जाय तो उसका निषेध नहीं बनता; क्योंकि) जो संज्ञी (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षा) सत् होता है उसीका पर द्रव्य-क्षेत्रकाल-भावकी अपेक्षा निषेध किया जाता है, न कि असत्का। सर्वथा असत् पदार्थ तो विधि निषेधका विषय ही नहीं होता—जो पदार्थ परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षाके समान स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी अपेक्षासे भी असत् है वह सर्वथा असत् है, उसकी विधि कैसी ? जिसकी विधि नहीं उसका निषेध नहीं बनता; क्योंकि निषेध विधिपूर्वक होता है। और इसलिये जो सत् होकर अपने द्रव्यादिकी अपेक्षा कथंचित् वक्तव्य है) उसीके (परद्रव्यादिकी अपेक्षा निषेध होनेसे अवक्तव्यपना युक्त ठहरता है। और जो सत् पदार्थ स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा कथंचित् विशेषण-विशेष्य रूप है उसीके (परद्रव्यादिकी अपेक्षा) अविशेष्य-विशेषणपना ठीक घटित होता है। अतः एकान्तसे कोई वस्तु अवक्तव्य या अविशेष्य-विशेषण रूप नहीं है ऐसा बौद्धोंको जानना चाहिये।

क्या असंज्ञी जीवोंके मनका सद्भाव मानना आवश्यक है ?

(पं० वंशीधर व्याकरणाचार्य)

श्री डा० हीरालाल जैन एम० ए० नागपुरने अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलनके १६वें अधिवेशनके समय प्राकृत और जैनधर्म विभागमें जो निबन्ध पढ़ा था उसका हिन्दी अनुवाद 'असंज्ञी जीवोंकी परंपरा' शीर्षकसे अनेकान्त पत्रके वर्ष १३ की संयुक्त किरण ४-५ और ७ में प्रकाशित हुआ है।

डा० साहबके निबन्धका सारांश यह है कि असंज्ञी माने जाने वाले एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यंचोंके जब मति और श्रुत दोनों ज्ञानोंका सद्भाव जैन आगममें स्वीकार किया गया है तो निश्चित ही उन सभी जीवोंके मनका सद्भाव सिद्ध होता है कारण कि मति और श्रुत ये दोनों ही ज्ञान मनकी सहायताके बिना किसी भी जीवके सम्भव नहीं हैं।

अभी तककी प्रचलित दि० आगम परंपरा यह है कि जिन जीवोंके मनका सद्भाव पाया जाता है वे जीव संज्ञी और जिन जीवोंके मनका सद्भाव नहीं पाया जाता है वे जीव असंज्ञी कहे जाते हैं परन्तु माननीय डा० साहबने संज्ञी जीवोंके साथ असंज्ञी जीवोंका अन्तर दिखलानेके लिये अमनस्क शब्दका मनरहित अर्थ न करके 'ईषत् मन वाला' अर्थ किया है।

माननीय डा० साहबने अपने उक्त विचारोंकी पुष्टि आगमके कतिपय उद्धरणों और युक्तियों द्वारा की है।

इन्द्रियजन्य सभी प्रकारके मतिज्ञानमें मनकी सहायता अनिवार्य है—यह विचार न तो आज तक मेरे मनमें उठा और न अब भी मैं इस बातको माननेके लिये तैयार हूँ परंतु समूचे जैनआगममें असंज्ञी जीवोंके श्रुतज्ञानकी सत्ता स्वीकार करनेमे मेरे मनमें यह विचार सतत उत्पन्न होता रहा कि श्रुतज्ञान, जो कि मनके अवलम्बनसे ही उत्पन्न होता है, मन रहित असंज्ञी जीवोंके कैसे सम्भव हो सकता है ?

प्रायः वर्तमान समयके सभी दि० विद्वान् असंज्ञी जीवोंके मनका अभाव निश्चित मानते हैं इसलिये उनके (असंज्ञी जीवोंके) आगममें स्वीकृत श्रुतज्ञानकी सत्ता स्वीकार करके भी वे विरोधका परिहार इस तरह कर लेते हैं कि असंज्ञी जीवोंके मनका अभाव होनेके कारण लब्धिरूप ही श्रुतज्ञान पाया जाता है क्योंकि उपयोगरूप श्रुतज्ञान मनके सद्भावके बिना उनके (असंज्ञी जीवोंके) संभव नहीं है।

दि० विद्वानोंका उक्त निष्कर्ष मुझे संतोषप्रद नहीं मालूम होता है। अतः मेरे सामने आज भी यह प्रश्न खड़ा हुआ है कि मनके अभावमें असंज्ञी जीवोंके श्रुतज्ञानकी संगति किस तरह बिठलाई जावे ?

श्वे० आगम ग्रंथ विशेष आवश्यक भाष्यका वह प्रकरण, जिसका उद्धरण माननीय डा० साहबने अपने निबन्धमें लिया है और जिसमें एकेन्द्रिय आदि समस्त असंज्ञी जीवोंके भी तरतम भावसे मनकी सत्ताको स्वीकार किया गया है, करीब २० वर्ष पहले मेरे भी देखनेमें आया था लेकिन उससे भी मेरे उक्त प्रश्नका उचित समाधान नहीं होता है; क्योंकि असंज्ञी जीवोंके मनके अभावमें लब्धिरूप श्रुतज्ञानकी सत्ताको स्वीकार करने और उनके ईषत्-मनका सद्भाव स्वीकार करके उपयोगरूप श्रुतज्ञानकी सत्ता स्वीकार करनेमें असंतोषप्रद स्थितिका विशेष अन्तर नहीं है।

चूंकि डा० साहबने उक्त विषयमें अपने विचार लिपिबद्ध किये हैं अतः इस विषय पर मेरे अब तकके चिंतनका जो निष्कर्ष है उसे मैं भी विद्वानोंके समक्ष उपस्थित कर देना उचित समझता हूँ।

ज्ञानकी उत्पत्ति दो प्रकारसे सम्भव है—स्वापेक्ष और परापेक्ष। अवधि, मनःपर्यय और केवल इन तीनोंकी उत्पत्ति स्वापेक्ष मानी गई है तथा मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानोंकी उत्पत्ति परापेक्ष मानी गई है। यहाँ पर शब्दसे मुख्यतया स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण ये पांच द्रव्य-इन्द्रियां और द्रव्यमन ग्रहीत होते हैं।

मतिज्ञानका प्रारम्भिक रूप अवग्रह ज्ञान है और अनुमान उस मतिज्ञानका अन्तिम रूप है। मतिज्ञानका अंतिम रूप यह अनुमान ज्ञान श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारण होता है। आगमके 'मतिपूर्वं श्रुतम्' इस वाक्यसे भी उक्त बातका समर्थन होता है।

किसी एक घट शब्दमें गुरु द्वारा घट रूप अर्थका संकेत ग्रहण करा देनेके अनन्तर शिष्यको सतत घट शब्द श्रवणके अनन्तर जो घटरूप अर्थका बोध हो जाया करता है वह बोध उस शिष्यको अनुमान द्वारा उस घट शब्दमें घट रूप अर्थका संकेत ग्रहण करनेपर ही होता है अतः अनुमानकी श्रुतज्ञानकी उत्पत्तिमें कारणता स्पष्ट है और चूंकि अनुमान मतिज्ञानका ही अंतिम रूप है अतः 'मतिपूर्वं श्रुतम्' ऐसा निर्देश आगममें किया गया है।

कई लोगोंका ख्याल है कि 'जब अर्थसे अर्थान्तरके बोधको श्रुतज्ञान कहते हैं तो श्रुतज्ञानको अनुमान ज्ञानसे पृथक् नहीं मानना चाहिये' परन्तु उन लोगोंका उक्त ख्याल ग़लत है; क्योंकि मैं ऊपर बतला चुका हूँ कि श्रुतज्ञानमें अनुमान कारण है अतः अनुमान ज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों एक कैसे हो सकते हैं ?

जिस प्रकार श्रुतज्ञानमें कारण अनुमानज्ञान है और अनुमानज्ञानके अनन्तर ही श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार अनुमानज्ञानमें कारण तर्कज्ञान होता है और तर्कज्ञानके अनन्तर ही अनुमानज्ञानकी उत्पत्ति हुआ करती है इसी तरह तर्कज्ञानमें कारण प्रत्यभिज्ञान, प्रत्यभिज्ञानमें कारण स्मृतिज्ञान और स्मृतिज्ञानमें कारण धारणा ज्ञान हुआ करता है तथा तर्कज्ञानके अनतर ज्ञानकी उत्पत्तिके समान ही प्रत्यभिज्ञानके अनन्तर ही तर्कज्ञानकी, स्मृतिज्ञानके अनन्तर ही प्रत्यभिज्ञानकी और धारणाज्ञानके अनन्तर ही स्मृतिज्ञानकी उत्पत्ति हुआ करती है।

इस प्रकार श्रुतज्ञानकी तरह उक्त प्रकारके मतिज्ञानोंमें भी मतिज्ञानकी कारणता स्पष्ट हो जाती है क्योंकि अनुमान तर्क, प्रत्यभिज्ञान, स्मृति और धारणा ये सभी ज्ञान मतिज्ञानके ही प्रकार मान लिये गये हैं 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्' इस आगमवाक्यमें मतिके अर्थमें 'अवग्रहेहावायधारणाः' इस सूत्र वाक्यनुसार धारणाका अन्तर्भाव हो जाता है तथा प्रत्यभिज्ञानका ही अपर नाम संज्ञाको, तर्कका ही अपर नाम चिन्ताको और अनुमानका ही अपर नाम अभिनिबोधको माना गया है।

यहाँ पर इतना और ध्यान रखना चाहिये कि जब स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान इन सब प्रकारके मतिज्ञानोंमें तथा श्रुतज्ञानमें पदार्थका दर्शन कारण न होकर यथायोग्य ऊपर बतलाये गये प्रकारानुसार पदार्थज्ञान अथवा यों कहिये कि पदार्थज्ञानका दर्शन ही कारण हुआ करता है अतः ये सब ज्ञान परोक्षज्ञानकी कोटिमें पहुँच जाते हैं क्योंकि पदार्थदर्शनके अभावमें उत्पन्न होनेके कारण इन सब ज्ञानोंमें विशदताका अभाव पाया जाता है जबकि 'विशदं प्रत्यक्षम्' आदि वाक्यों द्वारा आगममें विशद ज्ञानको ही प्रत्यक्षज्ञान बतलाया गया है यहाँ पर ज्ञानकी विशदताका तात्पर्य उसकी स्पष्टतासे है और ज्ञानमें स्पष्टता तभी आ सकती है जबकि वह ज्ञान पदार्थदर्शनके सद्भावमें उत्पन्न हो।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि प्रत्येक ज्ञानमें दर्शन कारण होता है परन्तु इतना विशेष है कि किसी-किसी ज्ञानमें तो पदार्थका दर्शन कारण होता है और किसी-किसी ज्ञानमें पदार्थका दर्शन कारण न होकर पदार्थ ज्ञानका दर्शनकारण होता है, जिन ज्ञानोंमें पदार्थका दर्शन कारण होता है उन ज्ञानोंमें पदार्थ स्पष्टताके साथ झलकता है। अतः वे ज्ञान विशद कहलाते हैं और इस प्रकारकी विशदताके कारण ही वे ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञानकी कोटिमें पहुंच जाते हैं। जैसे—अवधि, मनःपर्यय और केवल ये तीनों स्वापेक्षज्ञान तथा स्पर्शन, रसना, नासिका, नेत्र और कर्ण इन पांच इन्द्रियोंसे होने वाला पदार्थज्ञान तथा मानस प्रत्यक्ष ज्ञान। एवं जिन ज्ञानोंमें पदार्थका दर्शन कारण नहीं होता है अर्थात् जो ज्ञान पदार्थदर्शनके अभावमें ही पदार्थज्ञानपूर्वक या यों कहिये कि पदार्थ ज्ञानदर्शनके सद्भावमें उत्पन्न हुआ करते हैं उन ज्ञानोंमें पदार्थ स्पष्टताके साथ नहीं झलक पाता है अतः वे ज्ञान अविशद कहलाते हैं और इस प्रकारकी अविशदताके कारण ही वे ज्ञान परोक्षज्ञानकी कोटिमें चले जाते हैं जैसे—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क व अनुमान ये चारों मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान।

यहाँ पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि दर्शन और ज्ञानमें जो कार्य-कारण भाव पाया जाता है, वह सहभावी है इसलिए जब तक जिस प्रकारका दर्शनोपयोग विद्यमान रहता है तब तक उसी प्रकारका ज्ञानोपयोग होता रहता है और जिस क्षणमें दर्शनोपयोग परिवर्तित हो जाता है उसी क्षणमें ज्ञानोपयोग भी बदल जाता है 'दंसणपुव्वं णाणम्' इस आगम वाक्यका यह अर्थ नहीं है कि दर्शनोपयोगके अनन्तरकालमें ज्ञानोपयोग होता है क्योंकि यहाँ पर पूर्व शब्द ज्ञानमें दर्शनकी सिर्फ कारणताका बोध करानेके लिये ही प्रयुक्त किया गया है जिसका भाव यह है कि दर्शनके बिना किसी ज्ञानकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

इस कथनसे छद्मस्थजीवोंमें दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगके क्रमवर्त्तीपनेकी मान्यताका खण्डन तथा केवलीके समान ही उनके (छद्मस्थोंके) उक्त दोनों उपयोगोंके यौगपद्यका समर्थन होता है।

इस विषयके मेरे विस्तृत विचार पाठकोंको भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित होने वाले ज्ञानोदय पत्रके अप्रेल सन् १९५१ के अंकमें प्रकाशित 'जैन दर्शनमें दर्शनोपयोगका स्थान' शीर्षक लेखमें तथा जून ५१ के अंकमें प्रकाशित 'ज्ञानके प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोंका आधार' शीर्षक लेखमें देखनेको मिल सकते हैं।

अस्तु! ऊपर जो स्मृतिमें कारणभूत धारणाज्ञानका संकेत किया गया है वह धारणाज्ञान चूंकि पदार्थ दर्शनके सद्भाव में ही उत्पन्न होता है अतः वह ज्ञान प्रत्यक्षज्ञानकी कोटिमें पहुँच जाता है। तथा इस धारणाज्ञानके अतिरिक्त इसके पूर्ववर्ती अवाय, ईहा और अवग्रहज्ञान भी चूँकि पदार्थ दर्शनके सद्भावमें ही उत्पन्न हुआ करते हैं अतः ये तीनों ज्ञान भी प्रत्यक्षज्ञानकी कोटिमें पहुँच जाते हैं।

यहाँ पर इतना विशेष समझना चाहिए कि अवाय, ईहा और अवग्रह ये तीनों ज्ञान यद्यपि धारणाज्ञानके पूर्ववर्ती होते हैं परन्तु इनका धारणाज्ञानके साथ कार्यकारण सम्बन्ध नहीं है अर्थात् जिस प्रकार पूर्वोक्त प्रकारसे धारणा आदि ज्ञान स्मृति आदि ज्ञानोंमें कारण होते हैं उस प्रकार धारणाज्ञानमें अवाय आदि ज्ञानोंको कारण माननेकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है कि धारणाज्ञानके पहले अवाय आदि ज्ञान होना ही चाहिये।

तात्पर्य यह है कि कभी कभी हमारा ऐन्द्रियिकज्ञान अपनी उत्पत्तिके प्रथमकालमें ही धारणारूप हो जाया करता है अतः वहाँ पर यह भेद करना असम्भव होता है कि ज्ञानकी यह हालत तो अवग्रहज्ञानरूप है और उसकी यह हालत धारणारूप है। कभी २ हमारा ऐन्द्रिक ज्ञान अपनी उत्पत्तिके प्रथमकालमें धारणारूप नहीं हो पाता, धीरे-धीरे कालान्तरमें ही वह धारणाका रूप ग्रहण करता है इसलिए जब तक हमारा ऐन्द्रियिक ज्ञान धारणा रूप नहीं होता, तब तक वह ज्ञान अवग्रहज्ञानकी कोटिमें बना रहता है। यदि कदाचित् हमारा ऐन्द्रियिक ज्ञान किन्हीं कारणोंकी वजहसे संशयात्मक हो जाता है तो निराकरणके साधन उपलब्ध हो जानेपर संशयके निराकरण कालमें ही वह ज्ञान धारणा रूप नहीं हो जाया करता है। कदाचित् संशयके निराकरण कालमें वह ज्ञान धारणा रूप नहीं हो सका तो जब तक वह ज्ञान धारणारूप नहीं होता तब तक उसकी अवायरूप स्थिति रहा करती है। कभी कभी संशय निराकरणके साधन उपलब्ध होने पर भी यदि संशयका पूर्णतः निराकरण नहीं हो सका तो उस हालतमें हमारा वह ज्ञान ईहात्मक रूपधारण कर लेता है और कालांतरमें वह ज्ञान या तो सीधा धारणारूप हो जाया करता है अथवा पहले अवायात्मक होकर कालांतरमें धारणारूप होता है इस तरह ज्ञानके धारणारूप होनेमें निम्न प्रकार विकल्प खड़े किए जा सकते हैं—

१—पदार्थ दर्शनकी मौजूदगीमें ही उस पदार्थका प्रत्यक्ष होता है।

२—इन्द्रियों अथवा मन द्वारा होने वाला पदार्थ प्रत्यक्ष या तो सीधा धारणारूप होता है। अथवा—

३—अवग्रह पूर्वक धारणारूप होता है। अथवा—

४—संशयात्मक अवग्रहण होनेके अनन्तर यथायोग्य साधन मिलने पर धारणारूप होता है। अथवा—

५—संशयात्मक अवग्रहणके अनन्तर यथायोग्य साधनोंके मिलने पर उसकी अवायात्मक स्थिति होती है और तदनन्तर वह धारणारूप होता है। अथवा—

६—संशयात्मक अवग्रहणके अनन्तर यथायोग्य साधनोंके मिलने पर उसकी ईहात्मक स्थिति होती है और तब वह धारणारूप होता है। अथवा—

७—ईहाके बाद अवायात्मक स्थिति होकर वह धारणारूप होता है। इस प्रकार ऐन्द्रियिक पदार्थ प्रत्यक्षके धारणा रूप होनेमें ऊपर लिखे विकल्प बन जाते हैं और इन सब विकल्पोंके साथ पदार्थदर्शनका सम्बन्ध जैसाका तैसा बना रहता है लेकिन जिस समय और जिस हालतमें पदार्थका दर्शन होना बन्द हो जाता है उसी समय और उसी हालत में पदार्थ प्रत्यक्षकी धारा भी बन्द हो जाती है इस तरह कभी तो ऐन्द्रियिक पदार्थ प्रत्यक्ष-धारणारूप हो कर ही समाप्त होता है और कभी-कभी यथायोग्य अवग्रह, संशय, ईहा या अवायकी दशामें ही वह समाप्त हो जाता है।

इस विवेचनसे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि जिस प्रकार धारणा प्रत्यक्षसे लेकर परोक्ष कहे जाने वाले स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुतरूप ज्ञानोंमें नियत, आनन्तर्य पाया जाता है उस प्रकार प्रत्यक्ष कहे जाने वाले अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा रूप ज्ञानोंमें आनन्तर्य नियत नहीं है तथा यह बात तो हम पहले ही कह आये हैं कि अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा इन चारों प्रकारके प्रत्यक्षज्ञानोंमें उत्तरोत्तर कार्यकारण भावका सर्वथा अभाव ही रहता है।

इन पूर्वोक्त प्रत्यक्ष और परोक्ष सभी ऐन्द्रियिक ज्ञानोंमें से एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके समस्त असंज्ञी जीवोंके पदार्थका केवल अवग्रहरूप प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार किया जावे और शेष प्रत्यक्ष कहे जाने वाले ईहा, अवाय और धारणाज्ञान तथा परोक्ष कहे जाने वाले स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और श्रुतज्ञान उन असंज्ञी जीवोंके न स्वीकार किये

जायें जैसा कि बुद्धिगम्य प्रतीत होता है तो इनके (असंज्ञी जीवोंके) ईषत् मनकी कल्पना करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है और तब संज्ञी तथा असंज्ञी जीवोंकी 'जिनके मनका सद्भाव पाया जाता है वे जीव संज्ञी, तथा जिनके मनका सद्भाव नहीं पाया जाता है वे जीव असंज्ञी कहलाते हैं' ये परिभाषायें भी सुसंगत हो जाती हैं।

इतना स्वीकार कर लेने पर अब हमारे सामने यह मुख्य प्रश्न विचार के लिए रह जाता है कि जब असंज्ञी जीवोंके मनका सद्भाव नहीं है तो केवलियोंके अतिरिक्त पंचेन्द्रियसे लेकर एकेन्द्रिय तकके समस्त संसारी जीवोंके मति और श्रुत दोनों ज्ञानोंकी सत्ता बतलानेका कारण क्या है?

इसका उत्तर यह है कि जैन संस्कृतिमें वस्तु विवेचनके विषयमें दो प्रकारकी पद्धतियाँ अपनायीं गयी हैं—एक तो करणानुयोगकी आगमिक पद्धति और दूसरी द्रव्यानुयोगकी दार्शनिक पद्धति। इनमेंसे जो द्रव्यानुयोगकी दार्शनिक पद्धतिका श्रुतज्ञान है जिसका अपर नाम आगमज्ञान है और जिसका कथन द्रव्यश्रुतके रूपमें 'द्वयनेकद्वादशभेदम्' इस सूत्र वाक्य द्वारा किया गया है अथवा जो वचनादि निबन्धन अर्थज्ञानके रूपमें प्रत्येक संज्ञी जीवके हुआ करता है—वह श्रुतज्ञान असंज्ञी जीवोंके नहीं होता, यह बात तो निर्विवाद है तब फिर इसके अतिरिक्त कौनसा ऐसा श्रुतज्ञान शेष रह जाता है जिसकी सत्ता असंज्ञी जीवोंके स्वीकार की जावे।

शंका—एकेन्द्रियादिक सभी असंज्ञी जीवोंकी भी संज्ञी जीवोंकी तरह सुखानुभवनके साधनभूत पदार्थोंका ग्रहण और दुखानुभवनके साधनभूत पदार्थोंका वर्जन रूप जो यथा सम्भव प्रवृत्तियां देखनेमें आती हैं वे उनकी प्रवृत्तियां बिना श्रुतज्ञानके सम्भव नहीं जान पड़ती हैं।

प्रायः देखने में आता है कि चींटी मिठासजन्य सुखानुभवन होने पर मीठे पदार्थकी ओर दौड़कर जाती है और उष्णताजन्य दुःखानुभवन होने पर अग्नि आदि पदार्थोंसे दूर भागती है इस प्रकार चींटीकी इस प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति रूप क्रियाका कारण श्रुतज्ञानको छोड़कर दूसरा क्या हो सकता है? अतः असंज्ञी जीवोंके श्रुतज्ञानकी सत्ता-भलेही वह किसी रूपमें हो—मानना अनिवार्य है और इसीलिए उनके ईषत् मनका सद्भाव स्वीकार करना असंगत नहीं माना जा सकता है।

समाधान—एकेन्द्रियादिक सभी जीवोंका प्रत्येक ज्ञान स्वसंवेदी होता है। ज्ञानकी यह स्वसंवेदना प्रकाशमें रहने वाली स्वप्रकाशकताके समान है। अर्थात् जिस प्रकार प्रकाश को अपना प्रकाश करने के लिये दूसरे प्रकाशकी आवश्यकता नहीं होती है उसी प्रकार ज्ञानको अपना प्रकाश करने (ज्ञान कराने) के लिये दूसरे ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रहती है।

ज्ञानका यह स्वसंवेदन ही एकेन्द्रिय आदि सभी असंज्ञी जीवोंको प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप समस्त क्रियाओंमें प्रेरक हुआ करता है अतः इनकी (असंज्ञी जीवोंकी) उक्त प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप क्रियाओंके लिये कारण रूपसे उन जीवोंके अतिरिक्त श्रुतज्ञानका सद्भाव माननेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती है जिसके लिये हमें उनके ईषत् मनकी कल्पना करनेके लिये बाध्य होना पड़े।

मेरा ऐसा मत है कि करणानुयोगकी आगमिक पद्धतिमें उक्त स्वसंवेदन ज्ञानको ही संभवतः श्रुतज्ञान शब्दसे पुकारा गया है; क्योंकि अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान रूप श्रुतज्ञानका लक्षण उसमें घटित हो जाता है। घट पदार्थका ज्ञान होनेके साथ जो घट ज्ञानका स्वसंवेदन रूप ज्ञान हमें होता है यह अर्थान्तर ज्ञान रूप ही तो है। यह स्व संवेदनरूप श्रुतज्ञान चूँकि इन्द्रियों द्वारा न होकर ज्ञानद्वारा ही हुआ करता है अतः श्रुतको अनिन्द्रियका विषय माननेमें कोई विरोध भी उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि "अ" का अर्थ निषेध करके अनिन्द्रिय शब्दका "ज्ञान" अर्थ करनेमें भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है।

तात्पर्य यह है कि द्रव्यानुयोगकी दार्शनिक पद्धतिमें जिस श्रुतका विवेचन किया जाता है वह तो मनका विषय होता है अतः इस प्रकरणमें अनिन्द्रियको "अ" का ईषत् अर्थ करके मनका वाची मान लेना चाहिये और करणानुयोगकी आगमिक पद्धतिमें जिस स्वसंवेदन रूप ज्ञानको श्रुत नामसे ऊपर बतला आये हैं वह ज्ञानका विषय होता है अतः उस प्रकरणमें अनिन्द्रिय शब्दको 'अ' का अर्थ निषेध करके ज्ञानवाची मान लेना चाहिये।

अमनस्क शब्दका "ईषत् मन वाला" अर्थ भी कुछ असंगत सा प्रतीत होता है। अर्थात् इन्द्रिय शब्दके साथ अनिन्द्रिय शब्दका "ईषत् इन्द्रिय" अर्थ जितना उचित प्रतीत होता है उतना समनस्क शब्दके साथ अमनस्क शब्दका "ईषत् मन वाला" अर्थ उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि समनस्क शब्दमें सह शब्दका प्रयोग मनकी मौजूदगीके अर्थमें ही किया गया है अतः स्वभावतः अमनस्क शब्दमें

"अ" का अर्थ मनकी गैर मौजूदगी ही करना चाहिये।

दूसरी बात यह है कि अनिंद्रिय शब्दके विशेषणार्थक संज्ञा होनेकी वजहसे उसका वाच्यार्थ मन होता है इसलिये जिस प्रकार इन्द्रिय शब्दके साथ अनिन्द्रिय शब्दके प्रयोगमें सामंजस्य पाया जाता है उस प्रकार अमनस्क शब्दका "ईषित् मन वाला" अर्थ करके समनस्क शब्दके साथ उसका (अमनस्क शब्दका) प्रयोग करनेमें सामंजस्य नहीं है क्योंकि अमनस्क शब्दका जब हम "ईषित् मन वाला" अर्थ करेंगे तो स्वभावतः समनस्कशब्दका हमें "पूर्ण मन-वाला" अर्थ करना होगा लेकिन समनस्क शब्दका "पूर्ण मन वाला" अर्थ करना क्लिष्ट कल्पना ही कही जा सकती है।

बीना, ता० २६।२।५५

क्या व्यवहार-धर्म निश्चयका साधक है ?

(जिनेन्द्रकुमार जैन)

व्यवहार तथा निश्चय-धर्म नाम निर्देश :—

दया, दान, सद्देव गुरु शास्त्रकी पूजा, भक्ति, शील, संयम, तप, अणुव्रत, महाव्रत, समिति, गुप्ति आदि सर्व बाह्य क्रियायें, व्यवहार धर्म है, निश्चयके साधन हैं, हेतु हैं, सहायक है, मित्रवत् है इत्यादि अभिप्राय सूचक वाक्योंकी जैनागममें कमी नहीं है। यह बात कौन नहीं जानता। इसलिये सप्रमाण इनको सिद्ध करनेका प्रयत्न व्यर्थ ही है। दूसरी ओर इस प्रकारके प्रमाणोंकी भी कमी नहीं कि जिनमें इन बाह्य क्रियाओंको निरर्थक, व्यवहाराभास, चारित्राभास आदि संज्ञाओंसे अलंकृत करके स्वत्रं आश्रय रूप स्वात्मानुभूतिमें ही दृढ़ रहनेका उपदेश है। जैसे मूलाचार गा० ९०० में सम्यक्त्व रहित उपरोक्त क्रियाओंको निरर्थक कहा है१। स० सा० गा० ४११ की टीकामें इन क्रियाओंका छोड़ देने तकका भी भगवान अमृतचन्द्राचार्यका आदेश है२। आत्मानुशासन गा० १५ में इन्हें भार बताया है३। लाटीसंहितामें विना स्वात्मानुभूति श्रुत मात्र तत्वार्थ श्रद्धान तथा व्रतादि क्रियाओंको मिथ्यात्वकी कोटिमें गिनाया है४। प्र० सा० १५, पंचास्तिकाय६, तथा मोक्षमार्गप्रकाश आदि सर्व ग्रन्थोंमें इन क्रियाओंको जो-जो उपाधियें प्रदान की गई हैं वह विद्वद्जनोंकी दृष्टिसे ओझल नहीं है। यदि कहा जाय कि यह सब संज्ञायें तो अज्ञानीकी क्रियाओंके लिए हैं तो ठीक है। परन्तु यह तो भूल नहीं जाना चाहिये कि ज्ञानीकी क्रियायें तो निम्न प्रकार हेयोपादेय बुद्धि सहित ही होती हैं। निरपेक्ष नहीं। अतः उन क्रियाओंका अर्थ ग्रहण जिसे उस रूपमें हुआ हो उसीकी उन क्रियाओंको व्यवहार धर्म कह सकते हैं, सब ही की क्रियाओंको नहीं।

क्या पूर्वापर विरोध है ?

एक ही आचार्य प्रणीत एक ही ग्रन्थमें भिन्न-भिन्न स्थलोंपर इस प्रकारकी दो विरोधी बातोंसे क्या पूर्वापर विरोधका ग्रहण होना स्वप्नमें भी सम्भव है ? ऐसा कदापि हो ही नहीं सकता कि सर्वज्ञ भाषित जिनागममें इस प्रकारका विरोध आये। शब्दोंमें विरोध देखते हुए भी इन दोनों ही मन्तव्योंमें किञ्चित भी भेद नहीं है। केवल कथन शैलीमें अन्तर है। एक चरणानुयोगकी मुख्यतासे कहा गया है और दूसरा द्रव्यानुयोगकी मुख्यतासे। परन्तु इनमें परस्पर क्या सम्बन्ध है यह केवल ज्ञानी जन ही जान सकते हैं अज्ञानी

---

१ ज्ञानं करणविहीनं, लिंगग्रहणंच संयमविहीनं।
दर्शनरहितं च तपः यः करोति निरर्थकं करोति॥मू.गा. ९००

२ ततः समस्तमपि द्रव्यलिंगं त्यक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्रे चैव मोक्षमार्गत्वात् आत्मा योक्तव्य इति सूत्रानुमतिः।
आत्मख्याति टीका गा० ४११

३ शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्व संयुक्तं। आत्मानुशासन १५

४ स्वानुभूतिं विनाभासाः नार्थादिच्छ्रद्धादयो गुणाः।
बिना स्वानुभूतिं तु या श्रुतमात्रतः।
तत्त्वार्थानुगताप्यर्थाच्छ्रद्धा नानुपलब्धितः ॥६६॥
भवेद्दार्शनिको नूनं सम्यक्त्वेन युतो नरः।
दर्शनप्रतिमाभासः क्रियावानऽपि तद्विना ॥१२१॥
लाटीसंहिता अ० ३

५ अथ आत्मज्ञानशून्यं आगमज्ञानतत्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यमपि अकिंचित्करमेव। प्र० सा० टीका गा०२३६

६ ततः खल्वर्हदादिगतमपि रागं चन्दननगसङ्गतमाग्निमिव

नहीं। इनमेंसे किसी एक अंगको ग्रहण करते हुये ज्ञानी जन तत्सापेक्ष अन्य अंगको एक क्षणके लिये भी भूल नहीं पाते। पर जो इनमेंसे अपनी इच्छासे किसी एक अंगको पकड कर केवल उसके मात्रपरसे लेखक या वक्ताके अभिप्रायका मिथ्या अनुमान लगाकर एकान्तरूप अग्निमें पुण्यरूप राखका ग्रहण करनेके लिये यथार्थ आत्म स्वभावरूप रत्नको भस्म करनेमें, निरपेक्ष अर्थको ग्रहण कर मिथ्या मार्गको पकड़नेमें और उस अपनी कल्पनाको जिन प्रणीत मार्ग मानकर अपनी गणना व्यवहार सम्यग्दृष्टिकी श्रेणीमें करनेमें, तथा भगवान आत्माकी रुचिसे उन्मुख स्वयं ही निजात्म हननके कारण बननेमें संतुष्ट हो रहे हैं, ऐसे आत्माके प्रति नकार करनेवालोंमें वर्तमानमें व्यवहाराभासियोंकी संख्या ही विशेष ध्यान देने योग्य है। 'व्यवहार करते-करते निश्चय हो जायेगा' इसको ही दोनों अंगोंकी सापेक्षता कहकर मात्र एकान्तकी पुष्टि करने वाले ऐसे उभयावलम्बी अंधकारमें भटके हुये भव्य जीवोंको प्रकाश दर्शानेकी आवश्यकता है।

ऐसी भ्रमपूर्ण धारणासे सावधान करते हुए परम कृपालु आचार्य भगवन्तोंने प्र० सा० गा २६६× तथा भावपाहुड गा० ८३‡ टीकामें ऐसे साध्वाभासियों तथा जैनाभासियोंको लौकिक जनों तथा अन्य मतियोंकी कोटिमें बिठाकर, इस प्रकारकी कोरी बाह्य क्रियाओंमें अपने पुरुषार्थको व्यर्थ न खोनेका आदेश किया है।

'फिर इन दोनों परस्पर विरोधी भासने वाले वाक्योंका अर्थ कैसे किया जाये।' इस संकटमें, आज तक अनेक प्रकारकी क्षतियों तथा विपत्तियोंसे जैन शासनकी रक्षा करके उसे अचल रूपमें स्थायी रखने वाला वह अनुपम स्याद्वाद-चक्र ही सहायक हो सकता है। पर आश्चर्य है कि आज उस अमूल्य रत्नकी परख खो बैठनेके कारण जैन भी उपरोक्त मिथ्या सापेक्षता रूपी बनावटी पाषानको अपनानेमें अपना गौरव मानने तथा उस अतुल निधानका तिरस्कार करनेमें अपनी सर्व शक्तिका दुरुपयोग कर रहे हैं। आजसे लगभग ३०० वर्ष पूर्व श्वेताम्बराचार्य श्रीयशोविजयजी, उस समय दिगम्बर समाजमें दृढ स्याद्वाद रूप सापेक्षताके आकारको दिगम्बर समाजकी भूल सूचित करते हुए, "निश्चय नय पहिले कहैं पीछे लें व्यवहार। भाषाक्रम जाने नहीं, जैन ममका सार" इत्यादि रूप जो कुछ लिख गये हैं, बड़े खेदकी बात है कि उस ही को अपनी भूल स्वीकार करके यथार्थ मार्गका वर्जन करनेमें अर्थात् निश्चयसे पहिले व्यवहारको मुख्य रूप स्थापित करके यशोविजयजीके मतानुयायी बनकर आज साधारण दिगम्बर समाज मिथ्यात्वमें सम्यक्त्वकी रूपरेखाके दर्शन करने लगी है।

दोनों अंगोंमें हेयोपादेयपना :—

उपरोक्त दोनों मन्तव्योंमें प्रथमको व्यवहार और दूसरेको निश्चय संज्ञायें अर्पित की गई हैं। जो केवल शाब्दिक नहीं बल्कि मार्मिक है। यह ठीक है कि परस्पर सापेक्ष दो विरोधी धर्मोको बारी-बारीसे अपनी-अपनी अपेक्षा मुख्य गौण करके कथन करनेकी पद्धतिका नाम स्याद्वाद या अनेकान्तवाद है‡। जिस प्रकारसे निश्चयको धर्म कहा है बिल्कुल उसी प्रकारसे यदि व्यवहारको भी धर्म माना जायेगा तो निश्चय और व्यवहारमें कुछ भेद रहेगा नहीं। इसलिये यह मुख्यता गौणता कथन करनेमें ही भिन्न-भिन्न वक्ताकी विवक्षाओंके कारण आ सकती है÷ परन्तु अर्थ ग्रहण करनेमें नहीं। अर्थ ग्रहण करनेमें तो जो अंग नियत रूप से हेय है वह हेय ही रहता है और जो उपादेय है उसका उपादेय रूपमें ही ग्रहण होता है। अपनी इच्छासे अन्यथा ग्रहण नहीं किया जा सकता। यदि ऐसा न होता तो पंचाध्यायीकारको 'निश्चय ही उपादेय है अन्य सब हेय है' ऐसा नियम करनेकी आवश्यकता न पड़ती ×।

...समस्तविषयमपि रागमुत्सृज्य। पंचास्तिकाय ' ७२.

×संयमतपोभारोऽपि मोहबहुलतया श्लथीकृत शुद्धचेतनव्यवहारो मुहुर्मनुष्यव्यवहारेण व्याघूर्णमानत्वादैहिककर्मानिवृत्तौ लौकिक इत्युच्यते। प्र०सा० तत्त्वदीपिका टीका गा० २६६

‡लौकिक जन तथा अन्य मति केई कहे हैं जो पूजा आदि शुभ क्रिया तिनि विषै अर व्रत क्रिया सहित है सो धर्म है सो ऐसे नाहीं है। भा० पा० गा० ८३ टीका

‡ युक्ति और आगम दोनोंसे अविरुद्ध अस्तित्व नास्तित्व आदि एक दूसरेके प्रतिपक्षी अनेक धर्मोके स्वरूपको निरूपण करने वाला सम्यगनेकान्त है।

राज० वा० १।६।७

÷ विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो, गुणो विवक्षो न निरात्मकस्ते॥ स्वयंभूस्तोत्र ॥५३॥

× स्वयमपि भूतार्थत्वाद्भवति स निश्चयनयो हि सम्यक्त्वम्। अविकल्पवदतिवागिव स्यात् अनुभवैकगम्यवाच्यार्थः। यदि वा सम्यग्दृष्टिस्तद्दृष्टिः कार्यकारी स्यात् तस्मात्।

• प्रमाण ज्ञान सर्व अंशोंको उन उनके रूपमें युगपत ग्रहण करता है। पर इन अंशोंमें सर्व ही उपादेय या सर्व ही हेय नहीं हुआ करते। इन सब अंशोंमें स्वाभाविक अंशों रूप उपादेय ऐसे सद्भूत नयके विषय तथा विभाविक अंश रूप हेय ऐसे असद्भूत नयके विषय दोनों ही सम्मिलित होते हैं। ज्ञान सबको युगपत जानता है। परन्तु सबको ही उपादेय नहीं मान लेता। ज्ञान अर्थात् जानना एक बात है और सम्यक्त्व अर्थात् यथार्थ हेयोपादेय बुद्धि दूसरी बात। सम्यक्त्व सद्भूत अर्थात निश्चयके ही विषयको ग्राह्य मानता है, असद्भूत अर्थात् व्यवहार या उपचारके विषयको हेय रूपमें अंगीकार करता है। यदि इन दोनोंमें इस प्रकार का हेयोपादेय रूप भेद न हो और दोनों ही समान रूपसे धर्म हों तो इनको भिन्न-भिन्न नयोंका विषय न बनाया जाये। ज्ञानमें ग्रहण करनेकी अपेक्षा यद्यपि दोनों समान हैं पर चारित्रमें आचरनेकी अपेक्षा निश्चयको सदा मुख्य तथा व्यवहारको सदा गौण ही समझना चाहिए। क्योंकि व्यवहारनय स्थापन करने योग्य है पर अनुसरने योग्य नहीं है ✝ नय सम्यग्ज्ञानका अंश है चरित्रका नहीं। इसलिए प्रवृत्तिमें नयका प्रयोजन ही नहीं है✻। यही समीचीन सापेक्षता है।

व्यवहारको धर्म कहनेका प्रयोजन

यह व्यवहार तथा निश्चय एक धर्मके दो अंश दो प्रकारसे हो सकते हैं। एक क्रमवर्ती तथा दूसरा सहवर्ती। यह ठीक है कि सम्यक्त्व सन्मुख जीवको सम्यक्त्व प्रगटनेसे पूर्व शुभ रागरूप व्यवहार होता है और इसी कारण उसके रागको भूत नैगमनयकी अपेक्षा उत्तर समयमें प्रगटने वाले निश्चय अंशका, कारणमें कार्यका उपचार करके, साधन कहा जाता है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि जिसे सम्यक्त्व प्रगटा नहीं, उसके प्रति रुचि उत्पन्न हुई नहीं, उसको समझनेका भी प्रयास जो वर्तमानमें करता नहीं, 'निश्चयकी कथनी' इतना कह कर उसे छोड़ देता है ऐसे अज्ञानीको भी उन क्रियाओंको साधन या व्यवहार कहा जाये। क्योंकि भूत नैगमनय कार्य प्रगट हो जाने पर और भावी नैगमनय आंशिक कार्य देख कर भविष्यमें पूर्ण हो जानेका निश्चय हो जाने पर ही लागू होती है। जिन शुभ क्रियाओंके पीछे मिथ्यात्व होना पड़ा हो उन्हें सम्यक्त्व या धर्मका उपचारसे भी साधन नहीं कहा जा सकता। इस विषम व्याप्तिके कारण यह दोनों क्रमवर्ती अंश ग्रहण नहीं किये जा सकते। यदि ऐसा किया जाये तो द्रव्य लिंगीको मोक्ष होनेका प्रसंग आजाये। इस हानिके कारण इस प्रकारकी मान्यताको उपचार या व्यवहार भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उपचार किसी लाभदायक प्रयोजनकी सिद्धिके लिये ही किया जाता है हानिकारक प्रयोजनके लिये नहीं। जैसे कि जीवको देहके कारण वर्णादिमान कहना कोई उपचार नहीं हो सकता✻।

वास्तवमें सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाते ही, तत्क्षण चारित्रमें भी आंशिक वीतरागता (स्वरूपाचरण) प्रगट हो जाती है। यही रत्नत्रयकी एकता है। पर अल्पशक्तिके कारण उस वीतरागताके साथ वर्त रहे राग अंशके फलस्वरूप उसके द्वारा हठ पूर्वक भी ग्रहणकी जा रही वह बाह्य क्रियायें, उनके प्रति अन्तरमें निषेध होते हुए भी, उसमें होती हैं। इसमें कोई दोष नहीं। क्योंकि स्वाभाविक वीतराग अंशके साथ-साथ जो यह राग रूप विभाविक अंश या व्यवहार धर्म रहता है उसको हठको बराबर अपने अनन्त पुरुषार्थ द्वारा साधक जीव पीछे छोड़ता तथा निश्चय धर्ममें वृद्धि करता चला जाता है। और एक दिन उस व्यवहारका मूलोच्छेद करके पूर्ण निश्चय धर्म तत्व प्रगट करता है। अतः इन दोनोंको सहवर्ती अंशोंके रूपमें ही नियमसे ग्रहण किया जा सकता है। इसमें अति व्याप्ति आदि कोई भी दूषण नहीं लग सकता।

वीतरागता रूप निर्विकल्प, सूक्ष्म, अरूपी, वचनातीत,

तस्मात स उपादेयो नोपादेयस्तदन्यनयवादः।
पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध ६२९-६३०॥

सत्यं शुद्धनयः श्रेयान् न श्रेयानितरो नय.।
अपि न्यायबलादस्ति नयः श्रेयानिवेतरः।
पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध १३७॥

✝ व्यवहारनयोपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थ प्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयो, अथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इतिवचनाद्व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः।
स० सा० आत्मख्याति गा० ८

✻ प्रवृत्तिमें नयका प्रयोजन ही नहीं है।
मो० मा० प्र० अ० ७ निश्चय व्यवहारावलम्बी प्र० २
यही भेद विज्ञान है, यही जिनशासनका सार है। इसलिये यही जैनधर्म है।

✻तद्वादोऽथ यथा स्याज्जीवो वर्णादिमान इहास्तीति,
इत्युक्ते न गुणः स्यात्प्रत्युत दोषस्तदेकबुद्धित्वात्।
(पंचाध्यायी पूर्वार्ध ५५५)

केवल अनुभव गम्य तथा दृष्टांत रहित† उस निश्चय अंश-का किसी मन्द बुद्धि या प्राथमिक शिष्यको परिज्ञान कराने के लिये × उस अंशके सहवर्ती यह रूपी बाह्य क्रियायें साधन पड़ती हैं। और साधनका नाम ही उपचार है+। जहां जो प्रयोजन निमित्त होता है वहां उपचार होता है और वह उपचार व्यवहारमें गर्भित है‡। मुख्यके अभावमें प्रयोजन या निमित्त दर्शानेके लिये उपचार प्रवर्तता है। अन्तरंग वीतरागतामें प्रवृत्ति बाह्य त्यागादि कार्योंमें साधन है। इस रूपसे तो निश्चय व्यवहारका साधन है तथा उपरोक्त प्रकार निश्चयका ज्ञान करानेमें बाह्य व्यवहार साधन है। इस प्रकार एक दूसरेमें भिन्न-भिन्न अपेक्षाओंसे साध्य साधन भाव है। यही इन दोनोंका परस्परोपकारीपना या मैत्रित्व इत्यादि है। यही श्रीस्वयंभूस्तोत्र गा. ६१का ° अभिप्राय है। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि सम्भव नहीं कि किसी जीवको व्यवहार क्रियाओं रूप धर्मका उपादेय रूप अंगीकार तथा किसी अन्यको निश्चयका उपादेय रूप अंगीकार या किसी तीसरेको दोनों ही का उपादेय रूप अंगीकार समान रूपसे मोक्ष फलमें कारण या साधन हो सकता है।

निश्चय मुख्य तथा व्यवहार सदा गौण होता है

पंचाध्यायी उत्तरार्ध गा० ८०६,※ कार्तिकेयानुप्रेक्षा गा० २७७+ तथा टीका ३११× स्वयंभूस्तोत्र ५०÷ आदि परसे प्रथम यह निश्चय कर लेनेके पश्चात् कि (अर्थ ग्रहण करते समय) निश्चय सदा मुख्य तथा व्यवहार सदा गौण ही होता है. बाह्य क्रियाओंको व्यवहार धर्म कहना सत्य है। इसके अतिरिक्त नय समीचीन तभी कहला सकती है जब कि वह लक्षण कारण तथा प्रयोजन सहित ही ग्रहण की जाय। प्रकृत विषयमें प्रथम अंश असद्भूत नयका विषय है। जिस-का कारण उस जीवकी विभाव परणति अर्थात् व्रतादिका हट पूर्वक अंगीकार है और इस प्रकारका पराश्रय रूप संकर दोषोंका क्षय करना ही इस नयके विषय रूप व्यवहार धर्मको जाननेका फल है (), १७। लघुनयचक्र गा० ७७ [] में भी बाह्य व्यवहारको बन्धका कारण जान आराधना कालमें अर्थात निश्चय धर्मरूप यथार्थ स्वभाव प्रगटानेके लिए गौण करनेको ही कहा है। अर्थात विद्यमान रहते भी उस राग रूप व्यवहार धर्मके प्रति सदा हेयबुद्धिरूप अरुचि अन्तरङ्गमें रखनेका

---

†तस्मादवसेयमिदं यावदुदाहरणपूर्वको रूपः।
तावान् व्यवहारनयस्तस्य निषेधात्मकस्तु परमार्थः॥
(पंचाध्यायी पूर्वार्ध ६२५)

× परमार्थतस्त्वेक...स्वभाव-अनुभवतो न दर्शनं न ज्ञानं न चारित्रं, ज्ञायकैव एकः शुद्धः। आत्मख्यातिटीका गा० ७ तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्य इति चेत्। (इस शंकाका उत्तर गा० ८ में दिया है)
यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम्।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम्॥
स० सा० गा० ८

+ अर्थो ज्ञेयज्ञायकसंकरदोषभ्रमक्षयो यदिवा।
अविनाभावात् साध्यं सामान्यं साधको विशेषः स्यात।
पंचाध्यायी पूर्वार्ध ५४५

नो व्यवहारेण विना निश्चयसिद्धिः कृता विनिर्दिष्टा।
साधनहेतुर्यस्मात्तस्य च सो भणितो व्यवहारः॥
(वृ० नयचक्र २८५)

‡ अन्य वस्तुका अन्य वस्तुमें आरोपण करके प्रयोजन सिद्ध किया जाता है। वहां उपचार नय कहलाता है। यह भी व्यवहारमें ही गर्भित है ऐसा कहा है। जहां जो प्रयोजन निमित्त होता है वहां उपचार प्रवर्तता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका गा० ३११-३१२)
व्यवहारनय भी उपचार है। जैसे कुण्डी बहती है, मार्ग चलता है। स्याद्वाद मञ्जरी २८।११ पृ० १६६

° य एव नित्यक्षणिकादयो नया मिथोऽनपेक्षाः स्वपरप्रणाशिनः।
त एव तत्वं विमलस्य ते मुने परस्परेक्षा स्वपरोपकारिणः॥
स्वयम्भूस्तोत्र ६१॥

※ तद्द्विधाऽथ च वात्सल्यं भेदात्स्वपरगोचरात।
प्रधानं स्वात्मसम्बन्धिगुणे यावत्परात्मनि॥
(पंचाध्यायी उत्तरार्ध ८०६)

+ जेण सहावेण जदा परिणद रूवम्मि तम्मयत्तादो।
तप्परिणामं साहदि जो विसओ सो वि परमत्थो॥
(का० अनु० गा० २७७)

× अध्यात्मप्रकरणमें मुख्यको तो निश्चय कहा है और गौणको व्यवहार कहा है। का० अनु० टीका ३११।

÷ यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेनिमित्तमभ्यन्तरमूलहेतोः।
अध्यात्मवृत्तस्य तदंगभूतमभ्यन्तर केवलमप्यलंते॥
स्वयंभू स्तोत्र५९॥

() फलमागन्तुकभावादुपधिमात्रं विहाय यावदिह।
शेषस्तच्छुद्धगुणःस्यादिति मत्वा सुदृष्टिरिह कश्चित्॥
पंचाध्यायी पूर्वार्ध ५३२

[] व्यवहारादो बन्धो मोक्खो जम्हा सहावसंजुत्तो।
तम्हा कुरु तं गउणं सहावमाराहणाकाले॥लघुनयचक्र७७॥

ही उपदेश मुख्यतासे सर्वत्र योजनीय है। निश्चयके लिये हो तो व्यवहार भी सत्यार्थ है। और बिना निश्चयके व्यवहार भी सारहीन है। +

फिर व्यवहार क्रियायें क्यों ?

साधक दशामें व्यवहार तथा निश्चय दोनों ही अंश होते अवश्य हैं। इसका निषेध नहीं। ज्ञान इन दोनोंको अपने २ रूपसे (एकको हेय तथा दूसरेको उपादेय) जानता भी है। इसका भी निषेध नहीं। अल्प शक्तिके कारण वह अंश होता है। उसे छोड़ देनेका भी उपदेश नहीं है। क्योंकि जब तक राग अंश विद्यमान है उसका कार्य अवश्य होगा। यदि शुभको छोड़ा तो वही अशुभ रूप होगा। राग रूप बाह्य क्रियाओंको छोड़नेसे रागका अभाव नहीं होगा परन्तु अन्तरंगमेंसे उस रागके प्रति कारण अर्थात् रुचि या उपादेय बुद्धिको छोड़नेसे※ ही उसका लोप हो सकता है। इसलिए निषेध है व्यवहारमें उपादेय बुद्धि रूप पकड़ रखनेका। क्योंकि जब तक उसके प्रति उपादेय बुद्धि है तब तक उसका त्याग नहीं हो सकता। जब तक उसका त्याग नहीं होता (अर्थात उसका लोप नहीं हो जाता) तब तक मोक्ष नहीं होता। इसलिये सदैव साथ-साथ वर्तते हुए उस व्यवहार अंशके प्रति 'मेरा अपराध है' ऐसी बुद्धि बनी रहनी चाहिये×। उसका भार कर्मोंपर डालकर स्वयं निर्दोष नहीं बनना चाहिये। उसको औदयिक भाव न समझकर अपना विभाविक पारिणामिक भाव ही ग्रहण करना चाहिए (जयधवला भा० १ पृ० ३१९✓) इस प्रकार समझते हुये सदा ही उसके वर्जन-

की भावनाको तीव्र और तीव्रतर बनानेमें उद्यमशील रहना चाहिए। ऐसा उपदेश है।

परन्तु यह बात तभी सम्भव है जबकि दोनों अंशोंमेंसे एक अर्थात् व्यवहारको असद्भूत तथा दूसरे अर्थात् निश्चयको सद्भूत, एकको विभाव दूसरेको स्वभाव, एकको दोष दूसरेको गुण, एकको अशुद्ध दूसरेको शुद्ध, एकको आश्रव बन्ध रूप अधर्म और दूसरेको संवर निर्जरा रूप धर्म समझा जाये। इस प्रकारका भेद विज्ञान किये बिना प्रयोजनकी सिद्धि नहीं और इसीलिये इस व्यवहारको कथञ्चित् अधर्म कहना बाध्य नहीं समझा जा सकता। कथञ्चित् कहनेका यह अभिप्राय नहीं कि किसी अपेक्षा इसमें स्वभाव रूप धर्मपना भी है, परन्तु यह है कि वास्तवमें अधर्म (विकार) होते हुए भी विप्रतिपत्तिके समय, संशय उत्पन्न हो जाने पर या मन्दबुद्धि किसी शिष्यको निश्चय धर्मका स्वरूप समझाते समय इसका आश्रयज्ञानमें लिये बिना नहीं बनता। इसलिये निचली दशामें किसीके लिये वस्तु स्वरूप या निश्चयधर्मका ज्ञान करते समय उपरकी सिद्धिके लिये यह साधन रूपमें कार्यकारी होता है। इसलिये उपचारसे इसे धर्म कहा जाता है निश्चयसे नहीं। पर यह केवल स्थापना करने योग्य है (जानने योग्य है) पर अनुसरने योग्य नहीं (आचरने योग्य नहीं +।

व्यवहार अधर्म है

व्यवहार तथा निश्चयके उपरोक्त नामान्तर युगलोंमेंसे सबको तो जिस किसी प्रकार भी स्वीकार कर लिया जाता है पर व्यवहारको अधर्म संज्ञित स्वीकार करनेमें आपत्ति आती है। और उसका कारण केवल वह मिथ्या मान्यता है जिसके आधार पर कि जीव इसे निश्चयमें सहायक रूप जान कर यह कहा करता है कि 'व्यवहार करते करते निश्चय हो जायेगा।' उसी मिथ्यामान्यताको अन्तरसे पूर्णतया धो देनेके लिये ही परम कृपालु श्रीकानजी स्वामीके प्रवचनोंका भार

\+ यह व्यवहार निश्चयके लिये हो तो वह व्यवहार भी सत्यार्थ है और बिना निश्चयके व्यवहार सारहीन है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा टीका ४६४)

※ कुशील शुभाशुभ कर्मभ्यां सहराग संसर्गौ प्रतिषिद्धौ बंध हेतुत्वात्। स० सा० आत्मख्याति टीका १४७।

× वैचित्र्याद्वस्तुशक्तिनां स्वतः स्वस्यापराधतः॥ पंचाध्यायी उत्तरार्ध ६०॥ परद्रव्य ग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्। बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतोत्पत्तिः।स.सा. कलश १८६। कषायोंको अपराध रूप जाने इनसे अपना घात जाने तब अपनी दया कषायभावके अभावको मानता है इस तरह अहिंसाको धर्म जानता है। का० अनु० टीका ४१२

✓ अहवा ओदइएण भावेण कसाओ। एदं णेगमादिचउण्ह णयाणं। तिण्हं सद्दणयाणं पारिणामिकुण भावेण कसाओ; कारणेण विणा कज्जुप्पत्तीदो। जय ध० भाग १ पृ.३१९.

\+ नैव यतो बलादिह विप्रतिपत्तौ च संशयापत्तौ। वस्तु विचारे यदि वा प्रमाणमुभयावलम्बि तज्ज्ञानम् ॥६३८॥ तस्मादाश्रयणीयः केषांचित् स नयः प्रसंगत्वात्। अपि सविकल्पानामिव न श्रेयो निर्विकल्पबोधवताम् ॥६३९॥ पंचाध्यायी पूर्वार्ध। ये परमं भावमनुभवन्ति तेषां…… शुद्ध नयएव…परिज्ञायमानः प्रयोजनवान्। ये अपरमं भावमनुभवन्ति तेषां…व्यवहार नयो…परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्। स० सा० आत्मख्याति टी० गा० १२.

मुख्यतया व्यवहारको अधर्म संज्ञित सिद्ध करने पर अधिक रहता है। मोक्षमार्ग प्रकाशक अधिकार ८ प्रकरण १६ में भी ऐसा ही कहा है कि 'अपनेको जो विकार हो उसके निषेध करने वाले उपदेशको ग्रहण करे पर उसके पोषण वाले उपदेशको न ग्रहण करे।' इसलिए उसका अर्थ यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि वह एकान्ती है या उनका अभिप्राय इन बाह्य क्रियाओंको छुड़ा कर जनसाधारणको स्वच्छन्दी बनाने या आगममें धर्म संज्ञित उन क्रियाओंका सर्वथा निषेध करके किसी रूपमें भी उन महान पाद पूज्य आचार्य भगवन्तोंकी जिनके लिए कि उनकी दृष्टिमें अगाध आदर भरा हुआ है, जिनके लिये कि उनके हृदयमें भक्ति रसका सागर कल्लोलित हो रहा है, अवहेलना करने या करानेका है। न ही वे कोई सम्प्रदाय बनाने जा रहे है। क्योंकि जितनी बातें भी वह कहते हैं सप्रमाण दिगम्बर ग्रन्थोंके आधार पर ही कहते हैं, कोई अपनी तरफसे नहीं कहते।

जब तक व्यवहारको भी उसी रूपसे उपादेय रूप धर्म समझा जाता रहेगा, जिस प्रकारसे कि निश्चयको तब तक दोनोंमें भेद करना असम्भव है। भेदके अभावमें सप्तभंगीके अभाव तथा एकान्तका प्रसंग आता रहेगा। तथा दोनों ही अंश धर्म हो जाने पर अधर्म रूप अंशका सर्वथा अभाव मानना होगा। और इस प्रकार अधर्मके अभावमें पूर्ण धर्म रूप केवलज्ञान प्रगट हो जानेका प्रसंग उपस्थित हो जायेगा। केवलज्ञान धर्मसे नहीं बल्कि अधर्मसे रुका हुआ है। अत. व्यवहारधर्मको अधर्म स्वीकार किये बिना साधक कभी आगे नहीं बढ़ सकता। वस्तु अर्थात् आत्माका निज स्वभाव न होनेके कारण मिथ्यादृष्टिकी यह एकान्तिक क्रियायें पंचाध्यायीमें अधर्म बताई गई है ※। इन्हें अशुभ अर्थात् पापका अगवाई बताया गया है। कार्तिकेयानुप्रेक्षामें सम्यग्दृष्टिके भी निन्दनगर्हन आदिको पुण्य (अशुद्धोपयोग रूप अधर्म) कहा है × धर्म नहीं, फिर मिथ्यादृष्टिकी क्रियाओंको तो बात ही क्या है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा ४०१ के अनुसार जो पुरुष पुण्यको चाहता है वह संसारको चाहता है +।

जब तक उसे धर्म जानता रहेगा तब तक उसके प्रति उपादेय बुद्धि बनी रहना स्वाभाविक है। माना कि लौकिकमें अधर्म पापको और धर्म पुण्यको भी कहते हैं परन्तु यह मोक्षमार्ग है। लौकिक या संसारमार्ग नहीं। यहाँ पुण्य तथा पाप यह द्वैत ही बनता नहीं ※। यहाँ तो एक शुद्धोपयोग (धर्म) है और दूसरा अशुद्धोपयोग (अधर्म) है इसीलिए यहाँ पुण्यका कोई मूल्य नहीं। सम्यग्दृष्टि इसे आश्रव अर्थात् बाधक ही समझता है सहायक नहीं। यह विभाव है और विभाव तीन कालमें भी स्वभावका कारण नहीं हो सकता। लौकिकमें या उपचारसे धर्म कहा जाने वाला यह अंश उसके लिए अधर्म ही है। यदि इन दोनों अंशोंमेंसे व्यवहारको अधर्म न समझा जाये तो मोक्षमार्ग ही न बने। बल्कि सम्यग्दर्शन होते ही पूर्ण धर्म अर्थात मोक्ष हो जाया करे।

इस प्रकार वास्तविकताको लक्ष्यमें रख कर व्यवहारका कथञ्चित् निषेध करने वाले वक्ता पर आगमविरुद्ध होनेका आरोप लगाना युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता।

※ नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः।
नित्यं रागादि सद्भावात् प्रत्युताऽधर्म एव सः।
(पंचाध्यायी उत्तरार्द्ध ४४४)

+ विरलो अज्जदि पुण्णं सम्मादिट्ठी वएहि संजुत्तो।
उवसमभावे सहियो णिंदणगरहाहि संजुत्तो॥
का० अनु० ४८

+ पुण्णं पि जो समिच्छदि, संसारो तेण ईहिदो होदि।
पुण्णं सुगई हेऊं,पुण्णखयेणेव णिव्वाणं॥
का० अनु० ४०१

※ परमार्थतः शुभाशुभोपयोगयोःपृथक्त्व व्यवस्था नावतिष्ठते।
॥ प्र० सा० तत्वदीपिका टीका गा० ७२ ॥

सम्पादकीय नोट—

लेखकने लेखमें व्यवहारको अधम बतला कर उसे केवल स्थापन (जानने) योग्य बतलाया है। यदि ऐसा है तो सम्यग्दृष्टिका व्यवहार भी क्या अधर्म है? तब उसे व्यवहार धर्मका आचरण नहीं करना चाहिये। लेखमें सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनोंके व्यवहारकी खिचड़ी करदी गई है। यदि व्यवहार केवल स्थापनकी ही चीज है तो उसका जीवनमें उपयोग क्यों किया जाता है? वह तो अधर्म है, फिर मूर्ति और मन्दिर-निर्माण तथा प्रतिष्ठादि कार्यमें प्रवृत्ति क्यों की जाती है वह भी व्यवहार है। इन व्यवहार कार्योंमें प्रवृत्ति करते हुए

उन्हें अधर्म (पाप) की घोषणा करते हुए केवल उपादानका उपदेश देने और व्यवहार प्रवृत रहनेसे तो मोक्ष-मार्ग नहीं बन जाता। व्यवहारके बिना केवल निश्चयकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। आचार्य अमृतचन्द्रने जब तक शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती तब तक व्यवहारनयको हस्तावलम्बके समान बतलाया है और उक्तं च रूपसे उद्धृत निम्न प्राचीन पद्यके द्वारा उसका समर्थन भी किया है।

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुणह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

इसमें बतलाया गया है कि यदि तुम जिनमतको प्रवर्ताना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयोंको मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारनयके बिना तो तीर्थ का नाश हो जायगा और निश्चयके बिना तत्त्व (वस्तु) का विनाश हो जायगा। अतः यथायोग्य दोनों नयोंका व्यवहार करना उचित है। एकको ही उपादेय और दूसरेको मात्र स्थापनकी चीज समझना उचित नहीं जान पड़ता।

निश्चयनय सदा मुख्य कैसे हो सकता है ? उसके सदा मुख्य रहने पर व्यवहार बन नहीं सकता। इसलिए निश्चयनय सदा मुख्य नहीं रह सकता। यदि केवल निश्चयनयको सदा मुख्य मान लिया जाय तो क्या बिना किसी निमित्तके केवल उपादनसे कार्य निष्पन्न हो सकता है। कार्य निष्पत्तिके लिए तो अनेक कारणोंकी आवश्यकता होती है क्या उनके बिना भी उपादान अपना कार्य कर सकता है ?

लेखका अन्तिम भाग पढ़नेसे ज्ञात होता है कि लेखकने श्री कानजी स्वामीके सम्बन्धमें उठनेवाले आक्षेपोंका परिमार्जन करनेके लिए ही प्रस्तुत लेख लिखनेका प्रयास किया है परन्तु उन आपत्तियोंका लेखकसे कोई निरसन नहीं बन पड़ा है। और न कानजी स्वामीने ही उनके सम्बन्धमें अपना कोई वक्तव्य देनेकी कृपा की है। जब शुभक्रियाओं को आगममें धर्मसंज्ञित स्वीकार कर लिया गया तब फिर उनके निषेधकी आवश्यकता ही क्या रही ?

—परमानन्द जैन

नागकुमार चरित और कवि धर्मधर

(परमानन्द शास्त्री)

नागकुमारकी कथा कितनी लोक प्रिय रही है, इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं है। उस पर अनेक ग्रंथ रचे गए हैं। संस्कृत और अपभ्रंश भाषामें अनेक कवियों द्वारा ग्रंथोंकी रचना की गई है। इस पर खण्डकाव्य भी रचे गए हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ भी कविकी एक छोटीसी संस्कृत कृति है जिसमें नागकुमारका संक्षिप्त जीवन-परिचय अंकित किया गया है। नागकुमारने अपने जीवनमें जो-जो कार्य किये, व्रतादिका अनुष्ठान कर पुण्य संचय किया और परिणामतः विद्यादिका लाभ तथा भोगोपभोगकी जो महती सामग्री मिली, उसका उपभोग करते हुए भी नागकुमारने उनसे विरक्त होकर आत्म-साधना-पथमें विचरण किया है। नागकुमारका जीवन बड़ा ही पावन रहा है उसे क्षणस्थाई भोगोंकी चकाचौंध इन्द्रिय विषयोंमें आसक्ति उत्पन्न करनेमें असमर्थ रही है। वह आत्म-जयी वीर था जो अपनी साधनामें खरा उतरा है। और अपने ही प्रयत्न द्वारा कर्मबन्धनकी अनादि परतन्त्रतासे सदाके लिए उन्मुक्ति प्राप्त की है।

कवि परिचय

इस ग्रन्थके कर्ता कवि धर्मधर हैं जो इक्ष्वाकुवंशमें समुत्पन्न गोलाराडान्वयी साहू महादेवके प्रपुत्र और आशापालके पुत्र थे। इनकी माताका नाम हीरादेवी था धर्मधरके दो भाई और भी थे जिनका नाम विद्याधर और देवधर था। पंडित धर्मधरकी पत्नीका नाम नन्दिका था जो शीलादि सद्गुणोंसे अलंकृत थी, उससे दो पुत्र एवं तीन पुत्री उत्पन्न हुई थीं। पुत्रोंका नाम पराशर और मनसुख था। इसी सब

परिवारसे युक्त कवि धर्मधरने सम्वत् १५११में श्रावण शुक्ला पूर्णिमा सोमवारके दिन इस ग्रन्थको बनाकर समाप्त किया था। कविने इस ग्रंथकी रचना कविवर पुष्पदन्तके 'नाग कुमार चरिउ' को देखकर की है।

कविने ग्रन्थके गुरुमें मूलसंघ सरस्वती गच्छके भट्टारक पद्मनन्दी शुभचन्द्र और जिनचन्द्रका उल्लेख किया है जिससे स्पष्ट है कि कवि उन्हींकी आम्नायका था और उन्हें गुरुरूपसे मानता था। कविने इस ग्रन्थमें अपनी दूसरी रचना 'श्रीपालचरित' का भी उल्लेख किया है, जिसे उसने इससे पूर्व बनाया था। और जो इस समय अनुपलब्ध है। कविने अन्य किन ग्रंथोंकी रचना की, यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका।

ग्रन्थ रचना में प्रेरक

इस ग्रन्थको कविने यदुवंशी लंबकंचुक (लमेचू) गोत्री साहू नल्हूकी प्रेरणासे बनाया है। साहू नल्हू चन्द्रपाट या चन्द्रवाड नगरके दत्तपल्ली नामक नगरके निवासी थे। उस समय उस नगरमें ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र नामक चातुरवर्णके लोग निवास करते थे। नल्हू साहूके पिताका नाम धनेश्वर या धनपाल था जो जिनदासके पुत्र थे। जिनदासके चार पुत्र थे शिवपाल- द्युतलि, जयपाल और धनपाल। और जिनदास श्रीधरके पुत्र थे। नल्हू-साहूकी माताका नाम लक्षणश्री था। उस समय चौहान वंशी राजा भोजराजके पुत्र माधवचन्द्र राज्य कर रहे थे। धनपाल उनके समयमें मन्त्रीपद पर प्रतिष्ठित थे। साहूनल्हू-के भाईका नाम उदयसिंह था। साहूनल्हू राज्यमान थे। और श्रावकोचित व्रतोंका अनुष्ठान करनेमें दक्ष थे। जिन-देवके भक्त थे। इनकी दो पत्नियां थी। जिनमें पहलीका नाम दूमा और दूसरीका नाम यशोमति था, उनसे चार पुत्र उत्पन्न हुए थे। तेजपाल विनयपाल, चन्दनसिंह और नर-सिंह। इस तरह साहू नल्हूका परिवार बड़ा ही सम्पन्न और धर्मात्मा था। उन्हीं साहू नल्हूकी प्रेरणाका परिणाम कवि धर्मधरकी प्रस्तुत रचना है।

चन्द्रपाट या चन्द्रवाड ऐतिहासिक नगर है जो आज खंडहरके रूपमें विद्यमान है। यहाँ पर चौहान वंशी राजाओं-का राज्य १२वीं शताब्दी से १६वीं शताब्दी तक रहा है। मैंने इस नगरके इतिहास को प्रकट करते हुए एक लेख लिखा था, जिसका शीर्षक 'अतिशयक्षेत्र चन्द्रवाड' है, और जो अनेकान्तके वर्ष ८ किरण ८-९ में प्रकाशित हो चुका है। उस समय तक यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ था। अब यह ग्रन्थ जयपुरके तेरापंथी मन्दिरके शास्त्र भंडारमें उपलब्ध हुआ है, उस पर से जो मैंने प्रशस्ति नोट की थी उसे पाठकोंकी जानकारीके लिए नीचे दिया जा रहा है।

इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें भी चौहानवंशके कुछ राजाओं का परिचय आदिका उल्लेख दिया हुआ है वह इस प्रकार है:—सारंगदेव, इनका पुत्र अभयपाल या अभयचन्द्र हुआ। अभयपालका पुत्र रामचन्द्र था जिसका राज्य सं० १४४८ में मौजूद था। रामचंद्रका पुत्र प्रतापचंद्र था जिसके राज्यमें रइधूने ग्रंथ रचना की थी। प्रतापचन्द्रका दूसरा भाई रणवीर (सिंह) था। इनका पुत्र भोजराज था भोजराजकी पत्नीका नाम शीलादेवी था और उससे माधवचन्द्र नामका एक पुत्र उत्पन्न हुआ था। माधव चन्द्रके दो भाई और भी थे कनकसिंह और नृसिंह। ग्रंथ- कर्ता कवि धर्मधरके समय माधवचन्द्र राज्य कर रहे थे।

नागकुमार चरित प्रशस्ति

आदिभाग—

श्रीमंतं त्रिजगद्वंद्यं संसारांबुधितारकं।
प्रणमामि जिनेशानं, वृषभं वृषभध्वजम् ॥१॥
नमोऽस्तु वर्द्धमानाय केवलज्ञानचक्षुषे।
संसारश्रमनाशाय कर्मौघध्वांतभानवे ॥२॥
जिनराजमुखांभोज-राजहंससरस्वती।
मानसे रमतां नित्यं मदीये परमेश्वरी ॥३॥
गौतमादीन्मुनीन्नत्वा श्रुतसागरपारगान।
वक्ष्येऽहं शुक्लपंचम्याः फलं भव्यसुखप्रदम् ॥४॥
भद्रे सरस्वतीगच्छे कुंदकुंदाभिधो गुरुः।
तदाम्नाये गणी जातः पद्मनंदी यतीश्वरः ॥५॥
तत्पट्टे शुभचंद्रोऽभूज्जिनचन्द्रस्ततोऽजनि।
नत्वा तान् सद्गुरून् भक्त्या करिष्ये पंचमीकथां ॥६॥
शुभां नागकुमारस्य कामदेवस्य पावनीं।
करिष्यामि समासेन कथां पूर्वानुसारतः ॥७॥
समस्तवसुधायोषिदऽलंकारमिवाऽभवत्।
चंद्रपाटाभिधं रम्यं नगरं स्वःपुरोपमम् ॥८॥
तद्देशेस्ति पुरी रम्या दत्तपल्लीति विश्रुता।
चातुर्वर्णजनैः पूर्णा कल्पवल्लीव राजते ॥९॥
चाहुमानान्वये श्रेष्ठः कल्पवृक्ष इवापरः।
दाननिर्जितकर्णोऽभूद्भोजराजो महीपतिः ॥१०॥

तत्पुत्रोऽस्ति महातेजा जितारातिर्विवेकवान् ।
राजनीतिविदांश्रेष्ठो माधवेंद्रो गुणाश्रयः ॥११॥
तस्य मंत्रिपदे श्रीमद्यदुवंशसमुद्भवः ।
लंबकंचुकसद्गोत्रे धनेशो जिनदासजः ॥१२॥
तत्पत्नी शीलसंपूर्णा पातिव्रत्यगुणान्विता ।
सर्व्वलक्षणसंपूर्णा लक्षणश्रीति नामिका ॥१३॥
तदात्मजो गुणश्रेष्ठो भाग्यवान् संपदाश्रयः ।
अग्रणीर्भव्यलोकानां नल्हू साधुर्गुणालयः ॥१४॥
धर्मेच्छया तु तेनोक्तं सादरं श्रद्धया युतं ।
सुसंस्कृतमयीं रम्यां धर्मश्रावय पंचमीम् ॥१५॥
कथां नागकुमारस्य श्रोतुमिच्छाम्यहं मुदा ।
श्रुत्वा धर्मधरश्चित्ते कथां चिंतितवान् परो ॥१६॥
मन्दबुद्धिरहं यस्मात्कथं काव्यं प्रकाशयेत् ।
विना लक्षणछन्दोभिस्तर्केणालंकृतो च भो ॥१७॥
न काव्यानि मयाधीतान्यभिधानं च न श्रुतं ।
कर्त्तुं न पार्यते भद्र ! संस्कृतं काव्यमुत्तमम् ॥१८॥
इति श्रुत्वा ब्रवीत्साधुर्यथाशक्तिविधीयतां ।
अत्र नास्य परः कश्चित्संस्कृतस्य विधायकः ॥१९॥
श्रीपालचरितं पूर्वं कृत्वा संस्कृतमुत्तमम् ।
यथासम्बोधितो भव्यः क्षेमलो भवता तथा ॥२०॥
सावधानं मनःकृत्वाऽआलस्यं प्रविहाय च ।
प्रबोधय भद्र त्वं कृत्वा धर्मकथानका ॥२१॥
बिभेमि दुर्जनात्साधो दोषग्रहणतत्परात् ।
गृहीतेषु तु दोषेषु ग्रन्थो निर्दोषवान् भवेत ॥२२॥
तस्य साधोर्वचः श्रुत्वा कविर्द्धर्मधरोऽब्रवीत ।
समाकर्णय भव्यात्मन ! रम्यं तत्पंचमीफलम् ॥२३॥

× × × ×

इति श्रीनागकुमारकामदेवकथावतारे शुक्लपंचमीव्रत-माहात्म्ये साधुनल्हूकारापिते पण्डिताऽशपालात्मजधर्मधर विरचिते श्रेणिकमहाराजसमवसरणप्रवेशवर्णनो नाम प्रथमः-परिच्छेदः समाप्तः ॥१॥

अन्तभागः—

स्व-संवेदनसुव्यक्तमहिमानमनश्वरं ।
परमात्मानमाद्यंतविमुक्तं चिन्मयं नुमः ॥१॥
यत्रानम्रसुरासुरेश्वरशिरःकोटीरकोटिस्फुर-
द्रैद्रूयोत्कररश्मिरक्तनया लीलाविधत्ते तरां ।
श्रीचन्द्रप्रभकायकान्तिविलसद्गंगांतरं,
गोल्वला भूयाद्वः परितापपापहृदये सा सर्वदा शर्मदा ।२।

स्वस्ति प्रशस्तजनजीवनहेतुभूतं श्रीचन्द्रपाटनगरं प्रथितं जगत्यां
आलोक्य यस्य नयवर्द्धितपौरवित्तं चित्ते सुकौतकवता मलकापिनैव
श्री चाहुमानान्वय दुग्धसिंधुसुधाकरस्तत्र चकार राज्यं ।
सारंगदेवप्रभुराजि कृपाणतापानतवैरिराज ॥४॥
तस्यात्मजो भूमपतीद्धितांघ्रिर्विख्यातनामाऽभयचंद्रदेवः ।
यः क्षात्रदानैरसमः पृथिव्यां बभूव सन्नीतिमतांधुरीणः ॥५
श्रीरामचन्द्रो जितवक्रचन्द्रः स्वगोत्रपाथोनिधिवृद्धिचंद्रः
विपक्षपंकेरुहवन्दचन्द्रो,जातो गुणज्ञोऽभयचंद्र-पुत्रः ॥६॥
श्रीमत्प्रतापनृपनिस्तनयास्तदीयो,ज्येष्ठोनराधिपगुणैरतुलोविनीतः
नात सुरैःसकर्माग्व्ययुतं स्वलोकं,ज्ञात्वागुणाधिकमियंकमनीयकांतिः
तस्यानुजः श्रीरणवीर नामा भुक्ते महाराजपदं हतारिः ।
श्रीमत्सुमंत्रीश्वररायतासे आत्रासभं नंदतु सर्वकालम् ॥८॥
चंद्रपाट समीपेऽस्ति दत्तपल्ली पुरी परा ।
राजते कल्पवल्लीव वांछितार्थप्रदायका ॥९॥
स्फाटिका यत्र हर्म्यालीलानाचंद्रकैरनिशि ।
कोटिः सुवर्णकुंभानां नभः पद्मायतेऽभितः ॥१०॥
यत्र पुंड्रेक्षवो रम्याः सरसा वायुनोदिताः ।
नृत्युमाना इवाभांति गोधनैर्लक्षिता अपि ॥११॥
कल्पवृक्षसमा वृक्षाः फलानि मधुराणि ये ।
प्रयच्छंति हि लोकेभ्यः पुण्यस्येव मनोरमाः ॥१२॥
तत्राभयेंद्रोरनुजः प्रतापी प्रतापसिंहो नृपशक्रसूनुः ।
चक्रे स्वराज्यं किल दत्तपल्यां यः शक्रवद्वज्रधरोऽरिशैले ॥१३॥
प्रतापसिंहदेवस्य पत्नी लाडमदेविका ।
ख्याता सती व्रतोपेता परिवारधुरंधरा ॥१४॥
तत्कुक्षिसुक्तिमौक्तिं महिमानं भोजराजुनामानं ।
पुत्रंप्रतापसिंहो धर्मादुत्पादयामस ॥१५॥
पत्नी श्रीभोजराजस्य शीलादेवीति विश्रुता ।
शीलाभरण शोभाढ्या कामधेनुरिवाऽभवत् ॥१६॥
भोजः प्रासूत सुतं विख्यातं माधवेन्द्रनामानं ।
ध्वजपटइव निजवंशं व्यभूषयद्योगुणैर्युक्तः ॥१७॥
स्वभ्रातृभिःकनकसिंहनृसिंहबालैरग्रेसरं समिति नंदतुधारमाद्यैः
संपत्तिपालितमनीषिमहीसुरोऽथदार्श्यैःसमेधितसमस्तमनीषितार्थः
भास्वत्प्रतापविषमाऽग्निमुपहुतारिवर्गेन्धनोधनकृतार्थितयाचकौघः
श्रीभोजराजतनयोभुविमाधवेंद्रदेवः क्षमापतिरभूद्भुवनैकमान्यः
न्याये यस्य मतिः सदा भगवति श्रीवासुदेवे स्तुति—
र्वेदार्थश्रवणे श्रुतिः सुकृद्गुदेव वर्ग्ये रतिः ।
मित्रेपूपकृतिर्विरोधिषु हतिः पात्रेषु दानोन्नतिः,
सत्कीर्तिर्वरमाधवेंद्रनृपतिर्जीयात्ससशाकाकृतिः ॥२०॥

तस्मान्माधवतो लब्धप्रतिष्ठो नल्हनामकः ।
यदुवंशनभोभानुस्तत्प्रशस्ति निगद्यते ॥२१॥
सद्वृत्ताः खलु यत्र लोकमहिता युक्ता भवंति श्रियो,
रत्नानामपिलब्धये सुकृतिनोयं सर्वदोपासते ।
सद्धर्मामृतपूरपुष्टसुमनाः स्याद्वादचंद्रोदयः ।
कांती सोऽत्र मनातनो विजयते श्रीमूलमंघोदधिः ॥२२॥
सद्यशः पूरकर्पूरसुगंधीकृतदिग्गणं ।
लंबकंचुकसद्गोत्रमस्ति स्वस्तिपदं भुवि ॥२३॥
जिनबिम्बतिलकदानैर्गर्जितपुण्यौ विशुद्धसम्यक्त्वौ ।
कोकिलभरतौ भव्यौ बभूवतुः शुचिगुणोपेतौ ॥२४
ततोबहुष्वतीतेषु पुरुषेषु व्रतैकभूः ।
गजसिंहस्तु जैनांघ्रि सेवाहेवाकिमानसः ॥२५॥
लंबकंचुकसद्गोत्रपद्माकरदिवाकरः ।
अजनिष्ट महीपृष्ठे श्रीधरः साधुरद्भुतः ॥२६॥
जिनार्चने सद्गुरुपर्युपास्तौ श्रुतःश्रुतौ-निर्मलपात्रदाने ।
दृढानुरागो जिनदासनामा कृती कृतज्ञस्तनयस्तदीयः ।२७
जिनदासो जिनाधीशपदभक्तिरसे वशी ।
शच्या शक्रइवाभास्वत्पत्न्यादेवश्रियाश्रितः ॥२८॥
पदार्था इव चत्वारः तत्पुत्राः सुनयान्विताः ।
चिंतामणिसमानास्ते पात्रदानसमुद्यताः ॥२९॥
आद्यः श्रीशिवपालाख्यो द्वितीयो वृद्धलिः ।
कृती तृतीयो जयपालश्च धनपालश्चतुर्थकः ॥३०॥
पत्नी श्रीशिवपालस्य पातिव्रत्यगुणोज्वला ।
नारी नाम्नाऽकुनेत्राभूत्परिवारधुरंधरा ॥३१॥
तनयास्तस्य चत्वारः प्रयागप्रथमोऽभवन् ।
शिवब्रह्मापरो जातो महादेवदिवाकरौ ॥३२॥
वृद्धालि प्रमदाख्याता विजयश्रीर्बभूव हि ।
शुभलक्षणसंयुक्ता जिनशासनभाक्तिका ॥३३॥
ततोभूदजयाख्यस्य हीरा नाम्ना सुपत्निका ।
क्षितौ सर्वसुखौ पुत्रौ संजातौ शुभलक्षणौ ॥३४॥
ततः श्रीधनपालस्य भामिनी लक्षणान्विता ।
लक्षणश्रीरिति ख्याता साध्वीगुण विराजिता ॥३५॥
तत्पुत्रौ जगति ख्यातौ सूर्याचंद्रमसाविव ।
माधवेंद्रनृपाल्लब्धप्रतिष्ठौ जिनभक्तिकौ ॥३६॥
ज्येष्ठो नल्हः सुविख्यातो राजमान्यो गुणालयः ।
द्वितीयोदयसिंहाख्यो द्वितीयः समभून्क्षितौ ॥३७॥

माधोर्नल्हस्य भार्ये द्वे संजाते सुप्रशस्तिके ॥
दूमाख्याप्रथमा प्रोक्ता द्वितीया तु यशोमती ॥३८॥
तत्पुत्रस्तेजपालोऽभूद्विनयाख्यो द्वितीयकः ।
चंदनो नरसिंहश्च ततस्त्रिभुवनाभिधः ॥३९॥
जयतु जिनविपक्षःश्रावकाचारदक्षः कुसुमशरसदक्षः प्राप्तसन्मंत्रशिक्षः
दुरिततरुहुताशःकीर्तिविद्योतिताशो धनपतिवरपुत्रो नल्हसाधुसुवक्र
बुधजनकृतमानकांतिपीयूषधामात्रिनयगुणनिवाससत्यवाणीविलास
कलिकलुषविहीनःपोषिताशेषदीनःकृतजिनपतिसेवो नंदतान्नल्हदेव
परिवारधुरीणेन नल्हाख्येन गुणात्मना ।
पंचमीव्रतमाहात्म्यं तेन कारापितं महत् ॥४२॥
पुष्पदन्तकवींद्रेण यत्सूत्रं भाषितं पुरा ।
तन्निरीक्ष्यकृतं नान्यत्संस्कृतं तन्निदेशतः ॥४३॥
इक्ष्वाकवंशसंभूतो गोलाराडान्वयः सुधीः ।
महादेवस्य पुत्रोऽभूदाशपालोबुधः क्षितौ ॥४४॥
तद्भार्याशीलसंपूर्णा हीरानाम्नीति विश्रुता ।
तत्पुत्रत्रितयं जातं दर्शनज्ञानवृत्तवत् ॥४५॥
ज्येष्ठो विद्याधरः ख्यातः सर्वविद्याविशारदः ।
ततो देवधरो जातस्तृतियो धमनामकः ।
तत्पत्नी नंदिका नाम्नः शीलसौभाग्यशालिनी ।
तत्पुत्रद्वितयं जाता कन्यका त्रितयं तथा ॥४७॥
आद्य. परशुरामाख्यो द्वितीयस्तु मनःसुखः ।
एतेन परिवारेण युतो धर्मधरः कवि ॥४८॥
अकार्षीच्चरितं भद्रं पंचम्यत्यभिधानकं ।
कथां नागकुमारस्य कामदेवस्य पावनीं ॥४९॥
चरितं नंदतादेतत्सर्वकालं नराधिप. ।
लोकश्च सर्वो निर्विघ्नो भवतु प्राप्यतां सुखं ॥५०॥
समस्तर्वाहिसम्पूर्णा मही भवतु सर्वदा ।
लोकाः सर्वेऽभिनंदंतु यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥५१॥
दुर्भिक्ष मारिचैव डाकिनी साकिनी तथा ।
प्रलयं यांतु मेघाश्च सदा वर्षंतु भूतले ॥५२॥
व्यतीते विक्रमादित्ये रुद्रे पुशशिनामनि ।
श्रावणे शुक्लपक्षे च पूर्णिमाचन्द्रवासरे ॥५३॥
अभूत्समाप्तिर्ग्रंथस्य जयंधरसुतस्य हि ।
नूनं नागकुमारस्य कामरूपस्य भूपतेः ॥५४॥
इति श्रीनागकुमारस्य चरित्रं समाप्तं ॥शुभं भवतु ॥

भगवान महावीर

(परमानन्द शास्त्री)

भगवान महावीरकी जन्मभूमि विदेह देश [1] की राजधानी वैशाली थी जिसे बसाढ़ भी कहा जाता था। प्राचीन कालमें वैशालीकी महत्ता और प्रतिष्ठा गणतंत्रकी राजधानी होनेके कारण अधिक बढ़ गई थी। मुजफ्फरपुर जिलेकी गंडिकानदीके समीप स्थित बसाढ ही प्राचीन वैशाली है। उसे राजा विशालकी राजधानी बननेका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था। पाली ग्रंथोंमें वैशालीके संबंधमें लिखा है कि—'दीवारोंको तीन बार हटाकर विशाल करना पड़ा था' इसीलिये इसका नाम वैशाली हुआ जान पड़ता है। वैशालीमें उस समय अनेक उपशाखा नगर थे जिनसे उसकी शोभा और भी द्विगुणित हो गई थी। प्राचीन वैशालीका वैभव अपूर्व था और उसमें चातुर्वर्णके लोग निवास करते थे।

विज्जीदेश × की शासक जातिका नाम 'लिच्छवि' था। लिच्छवि उच्च वंशीय क्षत्री थे। उनका वंश उस समय अत्यन्त प्रतिष्ठित समझा जाता था। यह जाति अपनी वीरता, धीरता, दृढ़ता सभ्यता और पराक्रमादिके लिए प्रसिद्ध थी। इनका परस्पर संगठन और रीति-रिवाज, धर्म और शासन-प्रणाली सभी उत्तम थे। इनका शरीर अत्यन्त कमनीय और ओज एवं तेजसे सम्पन्न था। यह अपने लिए विभिन्न रंगोंके वस्त्रोंका उपयोग करते थे। परस्परमें एक दूसरेके सुख-दुखमें काम आते थे। यदि किसीके घर कोई उत्सव वगैरह या इष्टवियोगादि जैसा कारण बन जाता था तो सब लोग उसके घर पर पहुँचते थे और उसे तरह-तरहसे सान्त्वना देते थे और प्रत्येककार्यको न्याय-नीतिसे सम्पन्न करते थे। वे न्याय-प्रिय और निर्भयवृत्ति थे और स्वार्थतत्परतासे दूर रहते थे। वे परस्परमें प्रेम-सूत्रमें बंधे हुए थे, एकता और न्यायप्रियताके कारण अजेय बने हुए थे। इनमें परस्पर बड़ा ही सौहार्द एवं वात्सल्य था। वे प्रायः अपने सभी कार्योंका परस्परमें विचार विनिमयसे निर्णय करते थे। वैशाली गणतंत्रकी प्रमुख राजधानी थी और उसके शासक राजा चेटक गणतंत्रके प्रधान थे। राजा चेटककी रानीका नाम भद्रा था, जो बड़ी ही विदुषी और शीलादि सद्गुणोंसे विभूषित थी। चेटकका ७ पुत्री और धन, सुभद्र, सुदत्त, सिंहभद्र, सुकुंभोज अकम्पन, सुपतंग, प्रभंजन और प्रभास नामक दश पुत्र थे *। सिंहभद्रकी सातों बहनोंके नाम—प्रियकारिणी (त्रिशला) सुप्रभा, प्रभावती, मृगावती, ज्येष्ठा, चेलना और चन्दना था। उनमें त्रिशला क्षत्रिय कुण्डपुरके राजा सिद्धार्थको विवाही थी। सुप्रभा दशार्ण देशके राजा दशरथको और प्रभावती कच्छ देशके राजा उदयनकी रानी थी। मृगावती कौशाम्बीके राजा शतानीककी पत्नी थी। चेलना मगधके राजा बिम्बसारकी पटरानी थी। ज्येष्ठा और चन्दना आजन्म

---

[1] गण्डकी नदीसे लेकर चम्पारन तकका प्रदेश विदेह अथवा तीरभुक्त (तिरहुत) नामसे भी ख्यात था। शक्ति-संगम तंत्रके निम्न पद्यमें उसकी स्पष्ट सूचना मिलती है—

गण्डकी तीरमारभ्य चम्पारण्यान्तकं शिवे।
विदेह भूः समाख्याता तीरभुक्ताभिधो मनुः॥

× (अ) वज्राभिदे देशे विशाली नगरी नृपः।
हरिषेण कथाकोष, ५५, श्लो० १६५

(आ) विदेहों और लिच्छवियोंके पृथक-पृथक संघोंको मिलाकर एक ही संघ या गण बन गया था जिसका नाम वृजि या वज्जिगण था। समूचे वृजिसंघकी राजधानी वैशाली ही थी। उसके चारों ओर तिहरा परकोटा था जिसमें स्थान २ बड़े बड़े दरवाजे और गोपुर (पहरा देनेके मीनार) बने हुए थे। —भारतीय इतिहासकी रूप-रेखा पृ० ३१०से ३१३

(इ) वज्जीदेशमें आजकलके चम्पारन और मुजफ्फरपुर जिला, दरभंगाका अधिकांश भाग तथा छपरा जिलेका मिर्जापुर, परसा, सोनपुरके थाने तथा अन्य कुछ और भूभाग सम्मिलित थे। —पुरातत्त्व निबन्धावली पृ० १२

* चेटकाख्योति विख्यातो विनीता परमार्हतः॥३॥
तस्य देवी च भद्राख्या तयोः पुत्रा दशाभवत्।
धनाख्यो दत्त भद्रांतावुपेन्द्रोऽन्यः सुदत्तवाक् ॥४॥
सिंहभद्रः सुकुंभोजोकंपनः सुपतंगकः।
प्रभंजन प्रभासश्च धर्माइव सुनिर्मलाः ॥५॥
—उत्तरपुराणे गुणभद्रः

ब्रह्मचारिणी थी, ये दोनों ही महावीरके संघमें दीक्षित हुईंथीं, उनमें चन्दना आर्यिकाओं में प्रमुख थी। सिंहभद्र विज्जि-संघकी सेनाके सेनापति थे। इस तरह राजा चेटकका परिवार खूब सम्पन्न था।

वज्जीदेशके ६ गणतंत्र थे जिनमें वृजि, लिच्छवि, ज्ञात्रिक, विदेही, उग्र, भोग और कौरवादि संभवत: आठ जातियाँ शामिल थीं। ये जातियाँ सोलह जनपदोंमें विभाजित थीं। उस समय भिन्न-भिन्न देशोंको जनपद और उनके सामूहिक प्रदेश या भूभागको महाजनपद कहा जाता था। अंग, मगध, काशी-कौशल, वृजि-मल्ल, चेदि-वत्स, कुरु-पांचाल, वत्स-शूरसेन, अश्मक-अवन्ति और गान्धार-कम्बोज। ये सोलह जनपद महाजनपदकी विशाल शक्तिसे सम्पन्न थे और अपनी समृद्धि एवं शक्तिके कारण बड़े राष्ट्र कहलाते थे। उस समय अन्य भी कई छोटे-छोटे राष्ट्र थे; परन्तु उन सबमें कोशल, मगध, अवन्ति और वत्सराज ये चारों ही राज्य ईसाकी छठी शताब्दी से पूर्व अत्यन्त प्रबल थे। अंग और मगध तो एक दूसरे पर जब कभी अधिकार कर लेते थे।

वृजि लोगों में प्रत्येक गांवका एक सरदार राजा कहलाता था। लिच्छवियोंके अनेक राजा थे और उनमें प्रत्येकके उपराज, सेनापति और कोषाध्यक्ष आदि अलग, अलग होते थे। ये सब राजा अपने-अपने गांवके स्वतन्त्र शासक थे किन्तु राज्य कार्यका संचालन एक सभा या परिषद द्वारा होता था। यह परिषद् ही लिच्छवियोंकी प्रधान शासन-शक्ति थी। शासन-प्रबन्ध के लिए सम्भवत: उनमेंसे ४ या ६ आदमी गण राजा चुने जाते थे। इनका राज्याभिषेक वहाँ की एक पोखरनीके जल से होता था —:—।

मल्लोंका गणतन्त्र और लिच्छवि राजवंश ये दोनों ही गणतन्त्र भारतके प्राचीन ग्राम्य कहलाते थे। और यह दोनों ही अर्हन्तोंके उपासक थे। उनमें जैनियोंके तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का शासन या धर्म प्रचलित था।

वैशालीमें गंडकी नदी बहती थी उसके तटपर क्षत्रिय कुंडपुर और ब्राह्मण कुण्डपुर नामक उपनगर अवस्थित थे। क्षत्रिय कुण्डपुरमें ज्ञात्रिक क्षत्रियोंके ५०० घर थे ※। राजा सिद्धार्थ क्षत्रियकुंडपुरके अधिनायक थे। सिद्धार्थकी रानी त्रिशला वैशालीके राजा चेटककी पुत्री थीं। जिस रात्रि-

—:— भारतीय इतिहास की रूपरेखा भाग १ पृ० १३४

※ श्रमण भगवान महावीर पृ० ५।

को भगवान महावीरका जीव अच्युत कल्पके पुष्पोत्तर नामक विमानसे च्युत होकर आषाढ शुक्ला षष्ठीके दिन जबकि हस्त और उत्तरा नक्षत्रोंके मध्यमें चन्द्रमा अवस्थित था। त्रिशला देवीके गर्भमें आया ×। उसी रातको त्रिशला देवीने १६स्वप्न देखे। जिनका फल अष्टांग महानिमित्तके जानकारोंने बतलाया कि सिद्धार्थ राजाके एक शूरवीर पुत्रका जन्म होगा जो अपनी समुज्वल कीर्तिसे जनताका कल्याण करेगा।

महावीरका जन्म और बाल्यजीवन

नौ महीना आठ दिन अधिक व्यतीत होने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशीकी रात्रिमें सौम्यग्रहों और शुभलग्नमें जब चन्द्रमा अवस्थित था, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्रके समय भगवान महावीरका जन्म हुआ। पुत्रोत्पत्तिका शुभसमाचार देनेवालों को खूब पारितोषिक दिया गया। नगर पुत्रोत्पत्तिकी खुशीमें खूब सुसज्जित किया गया, तोरण ध्वज-पंक्तियोंसे अलंकृत किया गया। सुन्दरवादित्रों की मधुरध्वनिसे अम्बर गूंज उठा। याचक जनोंको मनवांछित दान दिया गया। साधु-सन्तों, श्रमणों और ब्राह्मणादिका सन्मान किया गया। उस समय नगरमें दीन दुखियोंका प्राय: अभाव-सा था। नगरके सभी नरनारी हर्षातिरेकसे आनन्दित थे। धूप-घटोंसे उद्गत सुगन्धित वायुसे नगर सुरभित हो रहा था। जिधर जाइये उधर ही बालक महावीरके जन्मोत्सवका कलरव सुनाई पड रहा था।

बालक का जन्म जनताके लिए बडा ही सुख-प्रद हुआ था। उनके जन्म समय संसारके सभी जीवोंने क्षणिक-शांति का अनुभव किया। इन्द्रने श्रीवृद्धिके कारण बालकका नाम वर्द्धमान रक्खा। बालकके जातकर्मादि संस्कार किए गए। राजा सिद्धार्थने स्वजन-सम्बन्धियों परिजनों, मित्रों नगरके प्रतिष्ठित व्यक्तियों, सरदारों और जातीयजनों तथा नगर-वासियोंका भोजन, पान वस्त्र, अलंकार और ताम्बूलादिसे उचित सम्मान किया। इस तरह और राज्यकी श्रीसमृद्धिके कारण बालकके वर्द्धमान होनेकी अनुमोदना की।

बालक वर्द्धमान बाल्यकालीन दो खास घटनाओंके

× यहां यह प्रकट करदेना अनुचित न होगा कि श्वेताम्बीय कल्पसूत्र और आवश्यक भाष्यमें ८२ दिनबाद महावीरके गर्भापहारकी अशक्य घटनाका उल्लेख मिलता है इस घटनाको श्वेताम्बारीय मान्य विद्वान भी अनुचित बतला रहे हैं।

—देखो, चार तीर्थंकर पृ० १०६

कारण 'महावीर' और 'सन्मति' नामसे लोकमें ख्यापित हुए। बालक वर्द्धमान बाल्यकालसे ही प्रतिभा सम्पन्न पराक्रमी, वीर, निर्भय तथा मति-श्रुत-अवधिरूप तीन ज्ञान-नेत्रों के धारक थे। उनका शरीर अत्यन्त सुन्दर और मनमोहक था। उनकी सौम्य आकृति देखते ही बनती थी और उनका मधुर संभाषण प्रकृतितः भद्र और लोकहितकारी था। उनके तेज पुंजसे वैशालीका राज्यशासन चमक उठा था। उस समय वैशाली और कुण्डपुरकी शोभा द्विगुणित हो गई थी और वह इन्द्रपुरीसे कम नहीं थी।

वैराग्य और दीक्षा

भगवान महावीरका बाल्यजीवन उत्तरोत्तर युवावस्था में परिणत हो गया। राजासिद्धार्थ और त्रिशलाने महावीर का वैवाहिक सम्बन्ध करनेके लिए प्रेरित किया; क्योंकि कलिंगदेशके राजा जितशत्रु, जिसके साथ राजा सिद्धार्थकी छोटी बहिन यशोदाका विवाह हुआ था, अपनी पुत्री यशोदाके साथ कुमार वर्द्धमानका विवाह सम्बन्ध करना चाहता था, परन्तु कुमारवर्द्धमानने विवाह सम्बन्ध करानेके लिए सर्वथा इंकार कर दिया—वे विरक्त होकर तपमें स्थित हो गए। इससे राजा जितशत्रु का मनोरथ पूर्ण न हो सका ※। क्योंकि कुमारवर्द्धमान अपना आत्म-विकास करते हुए जगतका

कल्याण करना चाहते थे। इसी कारण उन्हें सांसारिक भोग और उपभोग अरुचिकर प्रतीत होते थे। वे राज्य-

---

※(अ) भवान्नकिश्रेणिक वेत्तिभूपतिं नृपेन्द्रसिद्धार्थकनीयसीपतिं
इमं प्रसिद्धं जितशत्रु माख्ययाप्रतापवन्तं जितशत्रुमंडलम् ॥६॥
जिनेन्द्रवीरस्य समुद्भवोत्सवे तदागतः कुन्दपुरं सुहृत्परः।
सुपूजितः कुंडपुरस्य भूभृता नृपोयमाखण्डलतुल्यविक्रमः ॥७॥
यशोदयायां सुतया यशोदया पवित्रया वीर विवाह मंगलम्।
अनेककन्या परिवारयारुहत्समीक्षतुं तुंगमनोरथं तदा ॥८॥
स्थितेऽथनाथेतपसि स्वयंभुवि प्रजातकैवल्य विशाललोचने।
जगद्विभूत्यै विहरत्यपि क्षितिं क्षितिं विहाय स्थितवांस्तपस्ययं॥९॥
—हरिवंशपुराणे जिनसेनाचार्यः

(आ) श्वेताम्बर सम्प्रदायमें महावीरके विवाह-सम्बन्धमें दो मान्यताएँ पाई जाती हैं। विवाहित और अविवाहित। कल्पसूत्र और आवश्यक-भाष्यकी विवाहित मान्यता है और समवायांगसूत्र तथा आवश्यकनियुक्तिकार भद्रबाहुकी अविवाहित मान्यता है।

"एगूणवीसं तित्थयरा अगारवासमज्झे वसित्ता मुंडे भवित्ताणं अगाराओ अणगारित्रं पव्वइआ।"
—समवायांगसूत्र १९ पृ० ३५

इस सूत्रमें १९ तीर्थंकरोंका घरमें रहकर और भोग भोग कर दीक्षित होना बतलाया गया है। इससे स्पष्ट है कि शेष पाँच तीर्थंकर कुमारअवस्थामें ही दीक्षित हुए हैं। इसीसे टीकाकार अभयदेव सूरिने अपनी वृत्तिमें 'शेषास्तु पंचकुमार-भाव एवेत्याहच' वाक्यके साथ 'वीरं अरिष्टनेमि' नामकी गाथा उद्धृत की है।

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एए मोत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥२२१॥
रायकुलेसुऽवि जाया विसुद्ध वंसेसुखित्तिअ कुलेसु।
न य इत्थियाभि सेआ कुमारवासंमि पव्वइया ॥२२२॥
—आवश्यक नियुक्ति पत्र १३६

इन गाथाओंमें बतलाया गया है कि वीर, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ, मल्लि और वासुपूज्य इन पांचोंको छोड़कर शेष १९ तीर्थंकर राजा हुए हैं। ये पांचों तीर्थंकर विशुद्ध वंशों, क्षत्रिय कुलों और राजकुलोंमें उत्पन्न होने पर भी स्त्री पाणिग्रहण और राज्याभिषेकसे रहित थे तथा कुमारावस्थामें ही दीक्षित हुए थे। गाथामें प्रयुक्त 'न य इत्थिआभिसेआ कुमारवासंमि पव्वइया' ये दोनों वाक्य खास तौरसे ध्यान देने योग्य हैं। इनमेंसे प्रथम वाक्यका अर्थ टिप्पणमें निम्न प्रकारसे विशद किया गया है—

स्त्री पाणिग्रहण-राज्याभिषेकोभयरहिता इत्यर्थः।'
—देखो, आवश्यक सूत्र आगमोदय समिति द्वारा प्रकाशित।

आवश्यक निर्युक्तिकी 'गामायारा विसया जे भुक्ता कुमाररहिएहिं' नामकी गाथासे उक्त विषयकी और भी पुष्टि हो जाती है। परन्तु कल्प-सूत्रकी गत समरवीर राजाकी पुत्री यशोदासे विवाह-सम्बन्ध होने और उससे प्रियदर्शना नामकी लड़कीके उत्पन्न होने और उसका विवाह जामालिके साथ करनेकी मान्यताका मूलाधार क्या है? यह कुछ मालूम नहीं होता और न महावीरके दीक्षित होनेसे पूर्व एवं पश्चात् यशोदाके शेष जीवनका अथवा उसकी मृत्यु आदिके संबंधमें ही कोई उल्लेख श्वेताम्बरीय साहित्यमें उपलब्ध होता है जिससे यह कल्पना भी निष्प्राण एवं निराधार जान पड़ती है कि यशोदा अल्पजीवी थी और वह भगवान महावीरके दीक्षित होनेसे पूर्व ही दिवंगत हो चुकी थी। अतः उसकी मृत्युके बाद भगवान महावीरके ब्रह्मचारी रहनेसे वे ब्रह्मचारीके रूपमें प्रसिद्ध हो गए थे।

—देखो, अनेकान्त वर्ष ४ कि० ११, १२

वैभवमें पले और रह रहे थे; किन्तु वह जलमें कमलवत रहते हुए उसे एक कारागृह ही समझ रहे थे, उनका अन्तःकरण सांसारिक भोगाकांक्षाओंसे विरक्त और लोक-कल्याणकी भावनासे ओत-प्रोत था। अतः विवाह-सम्बन्धकी चर्चा होने पर उसे अस्वीकार करना समुचित ही था। कुमार वर्द्धमान स्वभावतः ही वैराग्यशील थे। उनका अन्तःकरण प्रशान्त और दयासे भरपूर था, वे दीन-दुखियोंके दुःखोंका अन्त करना चाहते थे। इस समय उनकी अवस्था भी २८ वर्ष ७ महीने और १२ दिन की हो चुकी था। अतः आत्मोत्कर्षकी भावना निरन्तर उदित हो रही थी जो अन्तिम ध्येयकी साधक ही नहीं; किन्तु उसके मूर्तरूप होनेका सच्चा प्रतीक थी। अतः भगवान महावीरने द्वादश भावनाओंका चिन्तन करते हुए संसारका अनित्य एवं अशरणादि अनुभव किया और राज्य-विभूतिको छोड़कर जिन दीक्षा लेनेका दृढ संकल्प किया। उनकी लोकोपकारी इस भावनाका लौकान्तिक देवोंने अभिनन्दन किया और भगवान महावीरने 'ज्ञातखण्ड' नामके वनमें मंगशिर कृष्णा दशमीके दिन जिनदीक्षा ग्रहण की ❀। उन्होंने बहुमूल्य वस्त्राभूषणोंको उतारकर फेंक दिया और पंचमुष्टियोंसे अपने केशोंका लोच कर डाला। इस तरह भगवान महावीरने सर्व ओरसे निर्भय एवं निस्पृह और ग्रन्थ रहित होकर दिगम्बर मुद्रा धारण की ×, जो यथा-जात बालकके समान निर्विकार, वीतराग और आत्म-सिद्धिकी प्रसाधक थी।

तपश्चर्या और केवलज्ञान

भगवान महावीरने अपने साधु जीवनमें अनशनादि द्वादश दुर्धर एवं दुष्कर तपोंका अनुष्ठान किया। भयानक हिंस्रजीवोंसे भरी हुई अटवीमें विहार किया, डांस मच्छर, शीत, उष्ण और वर्षादिजन्य घोर कष्टोंको सहा साथ ही उपसर्ग परीषहोंको, जो दूसरोंके द्वारा अज्ञानभावसे अथवा विद्वेषवश उत्पन्न किये गए थे, उन्हें सम्यक् भावसे सहन किया परन्तु दूसरोंके प्रति अपने चित्तमें जरा भी विकृतिको स्थान नहीं दिया, और न कभी यह विचार ही उत्पन्न हुआ कि अमुक पुरुषने अज्ञानता या विद्वेषवश असहनीय उपसर्ग किया है। यह महावीरकी महानता और सहन-शीलताका उच्चा आदर्श है। उन्होंने १२ वर्ष तक मौन पूर्वक जो कठोर तपश्चर्या की और मानव तथा तिर्यंचों द्वारा किये जाने वाले असहाय उपसर्गोंको निर्ममभावसे सहन किया। उपसर्ग और परिषह सहिष्णु होना महावीरके साधु-जीवनकी आदर्शता और महानता है। श्रमण महावीर शत्रु-मित्र, सुख-दुख, प्रशंसा-निन्दा, लोह-कंचन और जीवन-मरणादिमें समान-भावको—मोह क्षोभसे रहित वीतरागभावको—अवलम्बन किये हुए थे ❀। वे स्व-पर-कल्पना रूप ममकार अहंकारात्मक विकल्पोंको जीत चुके थे और निर्भय होकर सिंहके समान ग्राम नगरादिमें स्वच्छन्द विचरते थे। महावीर अपने साधु जीवनमें तीन दिनसे अधिक एक स्थान पर नहीं ठहरते थे। किन्तु वर्षा ऋतुमें वे चार महीना जरूर किसी एक स्थान पर रहकर योग-साधनामें निरत रहते थे। उनके मौनी साधु-जीवनसे भी जनताको विशेष लाभ पहुँचा था। अनेकोंको अभयदान मिला, और अनेकोंका उद्धार हुआ और अनेकोंको पथ-प्रदर्शन मिला। यद्यपि श्रमण महावीरके मुनि जीवनमें होने वाले उपसर्गोंका विस्तृत उल्लेख श्वेताम्बर परम्पराके समान दिगम्बर साहित्यमें उपलब्ध नहीं होता परन्तु पांचवी शताब्दीके आचार्य यतिवृषभकी तिलोयपण्णत्तीकी चतुर्थाधिकारगत १६२० नं० की गाथाके— 'सत्तमतेवीसंतिमतित्थयराणं च उवसग्गो' वाक्यसे, जिसमें सातवें, तेईसवें और अंतिम तीर्थंकर महावीरके सोपसर्ग होनेका स्पष्ट उल्लेख किया गया है। इससे महावीरके सोपसर्ग साधु जीवनका स्पष्ट आभास मिल जाता है। भले ही उनमें कुछ अतिशयोक्तिसे काम लिया गया हो। परन्तु श्रमण महावीरके सोपसर्ग साधु जीवनसे इंकार नहीं किया जा सकता।

महावीरने अपने साधुजीवनमें पंचसमितियोंके साथ मन-वचन-कायरूप तीन गुप्तियोंको जीतने और पंचेन्द्रियोंको उनके विषयोंसे निरोध करने तथा कषाय चक्रको कुशल मल्लके समान मलमलकर निष्प्राण एवं रस रहित बनानेका उपक्रम करते हुए दर्शनज्ञान चारित्रकी स्थिरतासे समतामय संयतजीवन व्यतीत करते हुए समस्त परद्रव्योंके विकल्पोंसे शून्य विशुद्ध आत्मस्वरूपमें निश्चल वृत्तिसे अवगाहन करते थे। श्रमण महावीरने इस तरह ग्राम, खेट, कर्वट और

❀ देखो, पूज्यपादकृत निर्वाण भक्ति ९

× श्वेताम्बर सम्प्रदायकी मान्यता है कि महावीरके दिगम्बर दीक्षा लेने पर इन्द्रने एक 'देवदूष्य' वस्त्र उनके कंधे पर डाल दिया था, कुछ समय बाद जिसमेंसे आधा फाड़कर उन्होंने गरीब ब्राह्मणको दे दिया था।

❀ सममत्तुबंधुवग्गो समसुह-दुक्खो पसंसणिंदसमो।
समलोट्टकंचणो पुण जीविद मरणे समो समणो॥

वन मटम्बादि अनेक स्थानोंमें मौन पूर्वक × उग्रोग्र तपश्चरणोंका अनुष्ठान एवं आचरण करते हुए बारह वर्ष, पाँच महीने और १५ दिनका समय व्यतीत हो गया ※। और वे घोर तपोंके साधन द्वारा अपनी चित्त शुद्धि करते हुए जृम्भिका ग्रामके समीप आये और ऋजूकूला नदीके किनारे शालवृक्षके नीचे वैशाख शुक्ला दशमीको तीसरे पहरके समय जब वे एक शिला पर षष्ठोपवाससे युक्त होकर क्षपकश्रेणी पर आरूढ थे, उस समय चन्द्रमा हस्तोत्तर नक्षत्रके मध्यमें स्थित था, भगवान महावीरने ध्यानरूपी अग्निके द्वारा ज्ञानावरणादि घातिकर्ममलको दग्ध किया+ और स्वाभाविक आत्म-गुणोंका पूर्ण विकास किया-केवल ज्ञान या पूर्णज्ञान प्राप्त किया १। कर्म कलंकके विनाशसे संसारके सभी पदार्थ उनके ज्ञानमें युगपत प्रतिभासित होने लगे और इस तरह भगवान महावीर वीतराग, सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर अहिंसाकी पूर्णप्रतिष्ठाको प्राप्त हुए। उनके समक्ष जाति-विरोधीजीव भी अपना वैर-विरोध छोड़ देते थे ×। उनकी अहिंसा विश्वशांति और वास्तविक स्वतन्त्रताकी प्रतीक है और इसीलिए आचार्य समन्तभद्रने उसे परब्रह्म बतलाया है ※।

× श्वेताम्बर सम्प्रदायमें आम तौर पर तीर्थंकरोंके मौनपूर्वक तपश्चरणका विधान नहीं है। किन्तु उनके यहां जहां तहां वर्षावासमें चौमासा बिताने और छद्मस्थ अवस्थामें उपदेशादि स्वयं देने अथवा यक्षादिके द्वारा दिलानेका उल्लेख पाया जाता है। परन्तु आचारांगसूत्रके टीकाकार शीलांकने साधिक बारह वर्षतक मौनपूर्वक तपश्चरणका दिगम्बर परम्पराके समान ही विधान किया है, वे वाक्य इस प्रकार हैं:—

'नानाभिधाभिग्रहपरो घोरान् परीषहोपसर्गानपि सहमानो महासत्वतया म्लेच्छानप्युपशमं नयन् द्वादशवर्षाणि साधिकानि छद्मस्थो मौनव्रती तपश्चचार।''

—आचारांगवृत्ति पृ० २७३

आचार्य शीलांकके इस उल्लेख परसे श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी तीर्थंकर महावीरके मौनपूर्वक तपश्चरणका विधान होनेसे छद्मस्थ अवस्थामें उपदेशादिकी कल्पना निरर्थक जान पड़ती है।

※ धवलामें भी भगवान महावीरके तपश्चरणका काल बारह वर्ष साढे पांच महीने बतलाया है जैसा कि उसमें समुद्धृत निम्न प्राचीन गाथासे स्पष्ट है—

गमइय छदुमत्थत्तं बारस वासाणि पंचमासेय।
पएणारस दिणाणिय ति-रयणसुद्धो महावीरो॥

+ देखो, निर्वाणभक्ति पूज्यपाद कृत १०, ११ १२।

१ वइसाह-जोगहपक्खदसमीए उजुकूलणदीतीरे जंभियगामस्स बाहिछट्ठोववासेण सिलावट्टे आदावेंतेण अवरगहे पादछायाए केवलणाणं समुप्पाइदं।

—जयधवला भा० १, पृ० ७६

भगवान महावीरका उपदेश और विहार

केवलज्ञान होनेके पश्चात् महावीरकी दिव्य वाणीको झेलने या अवधारण करने योग्य कोई गणधर नहीं था, इस कारण भगवान छ्यासठ दिन तक मौन पूर्वक रहे †। पश्चात राजगृहके विपुलगिरिपर श्रावण कृष्णा प्रतिपदाको अभिजित नक्षत्रमें भगवान महावीरके सर्वोदय तीर्थकी धारा प्रवाहित हुई×। अर्थात भगवानका सबसे प्रथम उपदेश हुआ। उसी दिनसे वीरके शासनकी लोकमें प्रवृत्ति हुई—तीर्थचला। वह वर्षका प्रथम मास और प्रथम पक्ष था, वहीयुगका भी आदि था। इसीसे अब यह पर्व वीर-सेवामन्दिर द्वारा प्रचलित समाजमें वीरशासन जयन्तीके रूपमें मनाया जाने लगा है। क्योंकि इसका मानव जीवनके विकाससे खास सम्बन्ध है। उनकी इस सभाका नाम समवसरण सभा था और उसमें देव, मनुष्य, पशु,पक्षी वगैरह सभी जीवोंको समुचित स्थान मिला, सभी मनुष्य तिर्यंच बिना किसी भेदभावके एक स्थान पर बैठकर धर्मोपदेश रहे थे। मनुष्योंकी तो बात क्या उस समय सिंह, हिरण, सर्प, नकुल और चूहा बिल्ली आदि तिर्यंचोंमें भी कोई वैर-विरोध दृष्टिगोचर न होता था, प्रत्युत वे सब बड़ी ही शांतिके साथ दिव्य देशनाका पानकर रहे थे। इससे पाठक भगवान महावीरके शासनकी महत्ताका अनुमान कर सकते हैं।

× अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः, ३५,
—पातंजलिकृत योगसूत्र।

※ अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमं,
न सा तत्रारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृत-वेषोपधि-रतः॥ स्वयं०

† षट्षष्ठि दिवसानभूयो मौनेन विहरन विभुः।
आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृहं पुरं॥
—हरिवंश पुराण २-६१

× वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले।
पाडिवद-पुव्व-दिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि॥
सावण-बहुल-पडिवदे रुद्द-मुहुत्ते सुहोदए रविणो।
अभिजिस्स पढम-जोए जत्थ जुगादी मुणेयव्वो॥
—धवला १, १, पृ० ६३

भगवान महावीरने अपने ३० वर्षके लगभग अर्थात् २९ वर्ष ५ महीने और २० दिनके केवली जीवनमें काशी, कौशल, पांचाल, मगध, विहार, राजगृह, मथुरा और अंग, बंग कलिंगादि विविध देशों और नगरोंमें विहारकर जीवोंको कल्याणकारी उपदेश दिया। उनकी अन्धश्रद्धाको हटाकर समीचीन बनाया। दया, दम, त्याग और समाधिका स्वरूप बताते हुए यज्ञादि कांडोंमें होने वाली भारी हिंसाको विनष्ट किया और इस तरह बिल बिलाट करते हुए पशुकुलको अभय दान मिला। जनसमूहको अपनी भूलें मालूम हुईं और वे सत्पथके अनुगामी हुए। घृणा पापसे करना चाहिये पापीसे नहीं, उसपर तो दया भाव रखकर उसकी भूल सुझा कर प्रेमभावसे उसके उत्थान करनेका यत्न करना चाहिये। शूद्रों और स्त्रियोंको अपनी योग्यतानुसार आत्म-साधनका अधिकार मिला। महावीरने अपने संघमें स्त्रियोंको सबसे पहले दीक्षित किया और चन्दना उन सब आर्यिकाओंकी गणिनी (मुख्य) थी। भगवान महावीरके शासनकी महत्ताका इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि उस समयके बड़े २ प्रधान राजा और युवराज अपने २ राज्य वैभवको जीर्ण तृणके समान छोड़कर महावीरके संघमें दीक्षित होकर ऋषिगिरि पर कठोर तपश्चर्या द्वारा आत्म-साधना कर निर्वाणको पधारे। जिनमें राजा चेटक, जीवंधर, वारिषेण और अभय-कुमारादिका नाम उल्लेखनीय है।

इस तरह भगवान महावीरने अपने विहार एवं उपदेश द्वारा जगतका कल्याण करते हुए कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तिम प्रहरमें पावासे परिनिर्वाण प्राप्त किया×।

वीरशासन और हमारा कर्तव्य

विक्रमकी दूसरी शताब्दीके आचार्य समन्तभद्रने भगवान महावीरके शासनको उनके द्वारा प्रचारित या प्रसारित धर्मको निम्न पद्यमें सर्वोदय तीर्थ बतलाया है—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्य कल्पं सर्वान्तशून्यंच मिथोऽनपेक्षम्
सर्वापदामंतकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥

×पच्छा पावाणयरे कत्तियमासस्स किण्ह चोद्दसिए।
सादीए रत्तीए सेसरय छेत्तु णिव्वाओ ॥३१॥
—जयधवला भा० १ पृ० ८१

तीन पावाओंका उल्लेख देखनेमें आता है उनमेंसे यह पावामगधमें थी। यह विहार नगरसे तीन कोस दक्षिणमें है, और वर्तमानमें जैनियोंकी तीर्थ भूमि कहलाती है।

इस पद्यमें जिस शासनको 'सर्वोदयतीर्थ' कहा गया है वह संसारके समस्त प्राणियोंको संसार समुद्रसे तारनेके लिये घाट अथवा मार्गस्वरूप है, उसका आश्रय लेकर सभी जीव आत्म विकास कर सकते हैं। वह सब सबके उदय, अभ्युदय उत्कर्ष एवं उन्नतिमें अथवा अपनी आत्माके पूर्णविकासमें सहायक है। सर्वोदय तीर्थमें तीन शब्द हैं सर्व उदय और तीर्थ। सर्वशब्द सर्वनाम है वह सभी प्राणियोंका वाचक है, उदयका अर्थ कल्याण, अभ्युदय, उत्कर्ष एवं उन्नति और तीर्थ शब्द संसार समुद्रसे तरनेके उपाय स्वरूप जहाज, घाट अथवा मार्ग आदि अर्थोंमें व्यवहृत होता है। इससे इसका सामान्य अर्थ यह है कि जो शासन संसारके सभी प्राणियोंके उत्कर्षमें सहायक है, उसके विकास अथवा उन्नतिका कारण है वह शासन सर्वोदय 'तीर्थ' कहलाता है। यह तीर्थ सामान्य-विशेष, विधि-निषेध और एक अनेक आदि विविध धर्मोंको लिए हुए है, मुख्य-गौणकी व्यवस्थासे व्यवस्थित है, सर्वदुःखोंका विनाशक है और स्वयं अविनाशी है।

इसके सिवाय, जो शासन वस्तुके विविध धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाको नहीं मानता, उसमें दूसरे धर्मोंका अस्तित्व नहीं बनता, अतः वह सब धर्मोंसे शून्य होता है। उसके द्वारा पदार्थ व्यवस्था कभी ठीक नहीं हो सकती। वस्तुतत्त्वकी एकान्त कल्पना स्व-परके वैरका कारण है, उससे न अपना ही हित होता है और न दूसरेका ही हो सकता है, वहतो सर्वथा एकान्तके आग्रहमें अनुरक्त हुआ वस्तुतत्त्वसे दूर रहता है। इसीसे सर्वथा एकान्त शासन 'सर्वोदयतीर्थ' नहीं कहला सकते। अथवा जिस शासनमें सर्वथा एकान्तोंके विषय-प्रवादोंको पचानेकी शक्ति—क्षमता नहीं है और न जो उनका परस्परमें समन्वय ही कर सकता है वह शासन कदाचित भी 'सर्वोदय' शब्दका वाच्य नहीं हो सकता है। जो धर्म या शासन स्याद्वाद के समुन्नत सिद्धान्तसे अलंकृत है, जिसमें समता और उदारताका सुधारस भरा हुआ है, जो स्वप्नमें भी किसी प्राणीका अकल्याण नहीं चाहता—चाहे वह किसी नीची से नीची पर्यायमें ही क्यों न हो, जो अहिंसा अथवा दयासे ओत-प्रोत है जिसके आचार-व्यवहारमें दूसरोंको दुःखोत्पादनकी अभिलाषारूप असंत्री-भावनाका प्रवेश भी न हो, पंच इंद्रियोंके दमन अथवा जीतनेके लिये जिसमें संयमका विधान किया गया हो, जिसमें प्रेम और वात्सल्यकी शिक्षा दी जाती हो, जो मानवताका सच्चा हामी हो, अपने विपक्षियोंके प्रति भी जिसमें राग और द्वेषकी

चञ्चल तरंगें न उठती हों जो सहिष्णु एवं क्षमाशील है, वही शासन सर्वोदयतीर्थ कहला सकता है और उसीमें विश्वबन्धुत्वकी कल्याणकारी भावना भी अन्तर्निहित होती है। वही शासन विश्वके समस्त प्राणियोंका हितकारी धर्म हो सकता है। तथा जिसकी उपासना एवं भक्तिसे अभद्रता भी भद्रतामें परिणत हो जाती हो वही शासन विश्वमें श्रेयस्कर हो सकता है।

भगवानके शासन-सिद्धान्त बड़े ही गम्भीर और समुदार हैं वे मैत्री प्रमोद कारुण्य और मध्यस्थताकी भावनाओंसे ओत-प्रोत हैं, उनसे मानव-जीवनके विकासका खास-सम्बन्ध है उनके नाम हैं अहिंसा, अनेकान्त या स्याद्वाद, स्वतंत्रता और अपरिग्रह। ये सभी सिद्धान्त बड़े ही मूल्यवान हैं; क्योंकि इनका मूलरूप अहिंसा है।

अहिंसा—*वीर शासनमें अहिंसाकी जो परिभाषा बतलाई गई है* वह अन्यत्र नहीं मिलती। उसमें केवल प्राणी-वधका न होना अहिंसा नहीं है किन्तु अपने अभिप्रायमें भी किसीको मारने, सताने, दुःखी करने जैसा कोई भी दुष्कृत विचार का न होना अहिंसा है। आत्मामें राग, द्वेषोंकी उत्पत्तिका न होना अहिंसा है और उनकी उत्पत्तिका नाम हिंसा है। वीर शासनमें अहिंसाके दर्जे ब दर्जे क्रमिक विकास का मौलिक रूप विद्यमान है जिसमें अहिंसाको जीवनमें उतारनेका बड़ा ही सरल तरीका बतलाया गया है। साथही उसकी व्यवहारिकता उपयोगिता और महत्ताका भी उल्लेख किया गया है। जिसपर चलनेसे जीवात्मा परमात्मा बन सकता है। भगवान महावीरने बतलाया कि संसारके सभी जीवोंको अपने प्राण प्यारे हैं कोई भी जीव मरना नहीं चाहता। सब सुख चाहते है और दुखसे डरते हैं। अतः हमें अपने जीवनमें ऐसा व्यवहार नहीं करना चाहिये जिससे दूसरोंको दुख या कष्ट पहुंचे। क्योंकि दुर्भावका नाम हिंसा है, क्रूरता है, पाप है। कायरता या बुजदिली हिंसाकी जननी है। अहिंसा जीवन प्रदायिनी शक्ति है उससे आत्मबलकी वृद्धि होती है। मानवताके साथ नैतिक चरित्रमें भी प्रतिष्ठा और बलका संचार होता है तथा मानव सत्यताकी ओर अग्रसर होने लगता है, उसके मनमें स्वार्थ-वासना और विषय लोलुपता जैसी दुर्भावनाएं बाधक नहीं हो सकतीं। गांधीजी महावीरकी अहिंसा और सत्यकी एक देश निष्ठासे ही महात्मा बने हैं। महावीरके बाद उन्होंने राजनीतिमें भी अहिंसाका प्रयोग करके जगतको उसकी महत्ताका पाठ पढ़ाया है। परन्तु जैनी अहिंसाका पालन कायर पुरुषसे नहीं हो सकता। आत्मनिर्भयी, इन्द्रियविजयी सदृष्टि मनुष्य ही उसका यथेष्ट रीत्या पालक हो सकता है। अहिंसा जीवका निज स्वभाव है, यदि वह जीवका निज स्वभाव न होता तो मानव समूहरूपमें हम एक स्थान पर बैठ भी नहीं सकते थे। कसाई हिंसक होते हुए भी अपने बच्चों और स्त्री आदिसे प्रेम करता ही है। इससे स्पष्ट है कि अहिंसा जीवनका निज स्वभाव है। और क्रोधादि परिणाम जीवके विभाव हैं हिंसाके जनक हैं।

अनेकान्त—दूसरा सिद्धान्त अनेकान्त है, जिसका अर्थ है। अनेक धर्मवाला पदार्थ। अन्त शब्दका अर्थ धर्म *या गुण है। प्रत्येक पदार्थमें अनेक धर्म रहते हैं।* उन सभी धर्मोका योग्य समन्वयके साथ अस्तित्व *प्रतिपादन करना ही अनेकान्त कहलाता है।* अनेकान्तकी यह खास विशेषता है कि वह दुनियावी विरोधों को पचा सकता है—उनका समन्वय कर सकता है तथा उनकी विषमता को दूर करता हुआ उनमें अभिनव मैत्रीका संचार भी कर सकता है अनेकान्त जीवनके प्रत्येक क्षणमें काम आने वाला सिद्धान्त है। इसके विना जीवनमें एक समय भी काम नहीं चल सकता। यदि इसे वास्तविक रीति से जीवनमें घटित कर लिया जाय, तो फिर हमारे दैनिक जीवनमें आनेवाली कठिनाइयों या विषमताका कभी अनुभव नहीं हो सकता। हमारा व्यवहार जबसे एकान्तिक हो जाता तब वह विषमता कारण बन जाता है, अतः हमें अपने व्यवहारको अनेकान्तकी सीमाके अन्दर रखते हुए प्रवृत्ति करनी चाहिये।

स्वतन्त्रता—वीर शासनका तीसरा सिद्धान्त स्वतन्त्रता है। भारतके दूसरे धर्मोमें जहाँ जीवको परतन्त्र माना जाता है—उसके सुखदुःखादि सभी कार्य ईश्वरके प्रयत्न एवं इच्छा से सम्पन्न होते बतलाए जाते हैं, वहां वीर शासनमें जीवको स्वतन्त्र माना है—वह सुखदुःख अच्छे या बुरे कार्योको अपनी इच्छासे करता और उनका फल भी स्वयं भोगता है। वीर शासनमें द्रव्यदृष्टिसे (जीवत्व की अपेक्षासे) सभी जीव समान हैं। परन्तु पर्याय दृष्टिसे उनमें राजा रंक आदि भेद हो जाते हैं। इस भेदका कारण जीवोंके द्वारा समुपार्जित स्वकीय पुण्य-पाप कर्म है। उसके अनुसार ही जीव अच्छी-बुरी पर्यायें प्राप्त करता है और उनमें अपने कर्मानुसार सुख-दुखका अनुभव करता है। जीवात्मा स्वयं ही अपनेको

उन्नत और अवनत बनाता है। तत्वदृष्टिसे आत्माका गुरु आत्मा ही है।

अपरिग्रह—परिग्रह परिमाण अथवा अपरिग्रहव्रत विश्वशांतिका अमोघ उपाय है। ममत्व परिणामका नाम ही परिग्रह है। परिग्रह रागद्वेषकी उत्पत्तिमें कारण है, और रागद्वेषका उत्पन्न होना हिंसा है परिग्रहसे हिंसा होती है। अतः अहिंसक जीवके लिए परिग्रहका परिमाण कर लेना श्रेयस्कर है, परन्तु जो मनुष्य परिग्रहका पूर्ण त्याग नहीं कर सकता वह गृहस्थ अवस्थामें रहकर न्यायसे धनादि सम्पत्तिका अर्जन एवं संग्रह करे। परन्तु उसके लिए उसे उतने ही प्रयत्नकी जरूरत है जितनेसे उसकी आवश्यकताओंकी पूर्ति आसानीसे हो सकती हो। अतः गृहस्थके लिए परिग्रहका प्रमाण करना आवश्यक है, उससे वह अनेक संघर्षोंसे अपनी रक्षा कर सकता है। मुनि चूंकि परिग्रह रहित होते हैं अत: उन्हें अपरिग्रही एवं अकिंचिन कहा जाता है। वास्तवमें यदि विचार कर देखा जाय तो संसारके सभी अनर्थोंका मूल कारण परिग्रह अथवा साम्राज्यवादकी लिप्सा है। इसके लिए एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको निगलने एवं हडपनेकी कोशिश करता है अन्यथा विभूतिके संग्रहकी अनुचित अभिलाषाके बिना रक्तपात होनेकी कोई सम्भावना हो नहीं है: क्योंकि अनर्थोंका मूलकारण लोभ अथवा स्त्री, राज्य और वैभवकी सम्प्राप्ति है। इनके लोभसे ही महाभारत जैसे काण्ड हुये हैं, आज भी विश्वकी अशांतिका कारण साम्राज्यवादकी लिप्सा, यश प्रतिष्ठादि हैं उसीके लिए परमाणुबम और उद्जन बम जैसे बमोंका और दूसरे अस्त्र-शस्त्रोंका निर्माण हो रहा है, जिनके भयसे दुनिया संत्रस्त है, भयभीत है। यदि दुनियाके लोग अपनी आशाओंको सीमित बना लें और साम्राज्यवादकी अनुचित अभिवृद्धिकी लोलुपताको कम कर लें, जिसकी चाह-दाहकी भीषण ज्वालासे संसारके मानव झुलस रहे हैं—परिग्रहकी अपार तृष्णामें जल रहे हैं और उसकी पूर्तिके लिये अनेक प्रयत्न किये जाते हैं और जिसकी अपूर्णता जीवनमें द्वंद मचा रही है, असंतुष्ट और अशांत बना रही है, वह सब अशान्ति परिग्रहका परिमाण करने अथवा अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण करनेसे जीवनमें होने वाली भारी अशान्तिसे सहज ही बच सकते हैं और परस्परकी विषमता भी दूर हो सकती है। भगवान महावीरका यह सुन्दर सिद्धान्त मानव जीवनके लिये कितना उपयोगी है और उससे जीवन कितना सुखी बन सकता है यह अनुभव और मनन करनेकी वस्तु है। यदि सभी देश महावीरके इस अपरिग्रह सिद्धान्तका उचित रीतिसे पालन करनेका व्रत करें तो फिर विश्वमें कभी अशान्ति हो नहीं सकती और न फिर उन अस्त्र-शस्त्रोंके निर्माणकी ही जरूरत रह जाती है। अतः समाजको भगवान महावीरके इन सुनहले सिद्धान्तों पर स्वयं अमल करना चाहिये। साथ ही संगठन सहन-शीलता तथा वात्सल्यका अनुसरण करते हुए उन सिद्धान्तोंका प्रचार व प्रसार करनेका प्रयत्न करना चाहिए।

Regd. No D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वर्धीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० शान्तिनाथजी कलकत्ता
१०१) बा० निर्मलकुमारजी कलकत्ता
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा० श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीराम बैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चद औषधालय, कानपुर
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) ला० रतनलाल जी कालका वाले, देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री दि० जैन लालमंदिर देहली। मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

अनेकान्त

फरवरी १९५५

विषय-सूची

१ समन्तभद्र भारती (देवागम) [युगवीर १९१
२ श्री हीराचन्दजी बोहराका नम्र निवेदन और कुछ शंकाएँ—[जुगलकिशोर मुख्तार १९३
३ अहोरात्रिकाचार [क्षु० सिद्धिसागर १९५
४ क्या सुख-दुःखका अनुभव शरीर करता है ? — [क्षु० सिद्धिसागर १९७
५ दीवान अमरचन्द— [परमानन्द जैन १९८
६ महापुराण-कलिकाकी अन्तिम प्रशस्ति— [२०२
७ मुनियों और श्रावकोंका शुद्धोपयोग— [पं० हीरालालजी जैन सि० शास्त्री २०४
८ हस्तिनागपुरका बड़ा जैन मन्दिर— [परमानन्द जैन शास्त्री २०५
९ जैन साहित्यका भाषा-विज्ञान-दृष्टिसे अध्ययन— [श्री माईदयाल जैन बी० ए० (आनर्स) बी. टी. २१०
१० अस्पृश्यता विधेयक और जैन-समाज— [श्री कोमलचन्दजी जैन एडवोकेट २१२
११ मौजमाबादके जैन-समाजको ध्यान देने योग्य— [परमानन्द जैन शास्त्री २१४

अनेकान्त वर्ष १३
किरण ८

स्वामी समन्तभद्रका

समीचीन-धर्मशास्त्र (रत्नकरण्ड)

मुख्तारश्री जुगलकिशोरके हिन्दी-भाष्य-सहित

छपकर तय्यार

सर्व साधारणको यह जान कर प्रसन्नता होगी कि श्रावक एवं गृहस्थाचार-विषयक जिस अति प्राचीन तथा समीचीन धर्मग्रन्थके हिन्दी भाष्य-सहित कुछ नमूनोंको 'समन्तभद्र-वचनामृत' जैसे शीर्षकोंके नीचे अनेकान्तमें प्रकाशित देख कर लोक-हृदयमें उस समूचे भाष्य ग्रन्थको पुस्तकाकार रूपमें देखने तथा पढ़नेकी उत्कण्ठा उत्पन्न हुई थी और जिसकी बड़ी उत्सुकताके साथ प्रतीक्षा की जा रही थी वह अब छपकर तैयार हो गया है, अनेक टाइपोंके सुन्दर अक्षरोंमें ३५ पौंडके ऐसे उत्तम कागज पर छपा है जिसमें २५ प्रतिशत रूई पड़ी हुई है। मूलग्रन्थ अपने विषयका एक बेजोड़ ग्रन्थ है, जो समन्तभद्र-भारतीमें ही नहीं किन्तु समूचे जैनसाहित्यमें अपना खास स्थान और महत्व रखता है। भाष्यमें, मूलकी सीमाके भीतर रह कर, ग्रन्थके मर्म तथा पद-वाक्योंकी दृष्टिको भले प्रकार स्पष्ट किया गया है, जिससे यथार्थ ज्ञानके साथ पद-पद पर नवीनताका दर्शन होकर एक नये ही रसका आस्वादन होता चला जाता है और भाष्यको पढ़नेकी इच्छा बराबर बनी रहती है—मन कहीं भी ऊबता नहीं। २०० पृष्ठके इस भाष्यके साथ मुख्तारश्रीकी १२८ पृष्ठकी प्रस्तावना, विषय सूचीके साथ, अपनी अलग ही छटाको लिये हुए है और पाठकोंके सामने खोज तथा विचारकी विपुल सामग्री प्रस्तुत करती हुई ग्रन्थके महत्वको ख्यापित करती है। यह ग्रंथ विद्यार्थियों तथा विद्वानों दोनोंके लिये समान रूपसे उपयोगी है, सम्यग्ज्ञान एवं विवेककी वृद्धिके साथ आचार-विचारको ऊँचा उठानेवाला और लोकमें सुख-शान्तिकी सच्ची प्रतिष्ठा करनेवाला है। लगभग ३५० पृष्ठके इस दलदार सुन्दर सजिल्द ग्रन्थकी न्योछावर ३) रु० रक्खी गई है। जिल्द-बँधाईका काम होकर एक महीनेके भीतर ग्रन्थ भेजा जा सकेगा। पठनेच्छुकों तथा पुस्तक-विक्रेताओं (बुकसेलरों) को शीघ्र ही अपने आर्डर बुक करा लेने चाहियें।

मैनेजर 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'

दि० जैन लालमन्दिर, चाँदनी चौक, देहली

अहिंसा-सम्मेलन

श्री जैनमिशनकी बिहार-प्रान्तीय शाखाकी ओरसे पारसनाथ (मधुवन) में फागुन सुदी ४ ता० ७ मार्चको एक विराट अहिंसा-सम्मेलन होगा। अच्छे-अच्छे विद्वान भी पहुँचेंगे। अहिंसा प्रेमियों को इस अवसर पर अवश्य पहुँचना चाहिए। संचालक

ताराचन्द जैन गंगवाल

'बिहारप्रान्तीय जैनमिशन'

माडम (हजारी बाग)

ॐ अर्हम्

वर्ष १३ किरण ८ | वीरसेवामन्दिर, C/o दि० जैन लालमन्दिर, चाँदनी चौक, देहली | माघ, वीरनिर्वाण-संवत् २४८१, विक्रम संवत २०११ | फर्वरी १९५५

समन्तभद्र-भारती

देवागम

नित्यत्वैकान्त-पक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते। प्रागेव कारकाऽभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलम् ॥३७॥

'यदि नित्यत्व एकान्तका पक्ष लिया जाय—यह माना जाय कि पदार्थ सर्वथा नित्य है, सदा अपने एक ही रूपमें स्थिर रहता है—तो विक्रियाकी उपपत्ति नहीं हो सकती—अवस्थासे अवस्थान्तर-रूप परिणाम, हलन-चलनरूप परिस्पन्द अथवा विकारात्मक कोई भी क्रिया पदार्थमें नहीं बन सकती; कारकोंका—कर्ता, कर्म करणादिका—अभाव पहले ही (कार्योत्पत्तिके पूर्व ही) होता है—जहाँ कोई अवस्था न बदले वहाँ उनका सद्भाव बनता ही नहीं—और जब कारकोंका अभाव है तब (प्रमाताका भी अभाव होनेसे) प्रमाण और प्रमाणका फल जो प्रमिति (सम्यग्ज्ञप्ति—यथार्थ जानकारी) ये दोनों कहाँ बन सकते हैं?—नहीं बन सकते। इनके तथा प्रमाताके अभावमें 'नित्यत्व एकान्तका पक्ष लेनेवाले सांख्योंके यहाँ जीवतत्त्वकी सिद्धि नहीं बनती और न दूसरे ही किसी तत्त्वकी व्यवस्था ठीक बैठती है।'

प्रमाण-कारकैर्व्यक्तं व्यक्तं चेन्द्रियाऽर्थवत्। ते च नित्ये विकार्यं किं साधोस्ते शासनाद्वहिः ॥३८॥

'(यदि सांख्यमत-वादियोंकी ओरसे यह कहा जाय कि कारणरूप जो अव्यक्त पदार्थ है वह सर्वथा नित्य है, कार्यरूप जो व्यक्त पदार्थ है वह नित्य नहीं, उसे तो हम अनित्य मानते हैं और इसलिए हमारे यहाँ विक्रिया बनती है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) इन्द्रियोंके द्वारा उनके विषयकी अभिव्यक्तिके समान जिन प्रमाणों तथा कारकोंके द्वारा अव्यक्तको व्यक्त हुआ बतलाया जाता है वे प्रमाण और कारक दोनों ही जब सर्वथा नित्य माने गये हैं तब उनके द्वारा विक्रिया बनती कौन सी है?—सर्वथा नित्यके द्वारा कोई भी विकाररूप क्रिया नहीं बन सकती और न कोई अनित्य कार्य ही घटित हो सकता है। हे साधो!—वीर भगवन्!—आपके शासनके बाह्य—आपके द्वारा अभिमत

अनेकान्तवादकी सीमाके बाहर—जो नित्यत्वका सर्वथा एकान्तवाद है उसमें विक्रियाके लिये कोई स्थान नहीं है—सर्वथा नित्य कारणोंसे अनित्य कार्योंकी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति बन ही नहीं सकती और इसलिये उक्त कल्पना भ्रम-मूलक है।'

यदि सत्सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति । परिणाम-प्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्त-बाधिनी ॥ ३९ ॥

'(यदि सांख्योंकी ओरसे यह कहा जाय कि हम तो कार्य-कारण-भावको मानते हैं—महदादि कार्य हैं और प्रधान उनका कारण है—इसलिए हमारे यहाँ विक्रियाके बननेमें कोई बाधा नहीं आती, तो यह कहना अनालोचित सिद्धान्तके रूपमें अविचारित है; क्योंकि कार्यकी सत् और असत् इन दो विकल्पोंके अतिरिक्त तीसरी कोई गति नहीं।) कार्यको यदि सर्वथा सत् माना जाय तो वह चैतन्य पुरुषकी तरह उत्पत्तिके योग्य नहीं ठहरता—कूटस्थ होनेसे उसमें उत्पत्ति-जैसी कोई बात नहीं बनती, जिस प्रकार कि पुरुषमें नहीं बनती। दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि जो सर्वथा सत् है उसके चैतन्यकी तरह कार्यत्व नहीं बनता, चैतन्य कार्य नहीं है अन्यथा चैतन्यरूप जो पुरुष माना गया है उसके भी कार्यत्वका प्रसंग आएगा। अतः जिस प्रकार सर्वथा सत्रूप होनेसे चैतन्य कार्य नहीं है उसी प्रकार महदादिकके भी कार्यत्व नहीं बनता। जब नई कार्योत्पत्ति ही नहीं तब विक्रिया कैसी? और कार्यको यदि सर्वथा असत् माना जाय तो उससे सिद्धान्त-विरोध घटित होता है, क्योंकि कार्य-कारण-भावकी कल्पना करनेवाले सांख्योंके यहाँ कार्यको सत् रूपमें ही माना है*—गगन-कुसुमके समान असत् रूपमें नहीं।)

'(यदि यह कहा जाय कि वस्तुमें अवस्थासे अवस्थान्तर होने रूप जो विवर्त है—परिणाम है—वही कार्य है तो इससे वस्तु परिणामी ठहरी) और वस्तुमें परिणामकी कल्पना ही नित्यत्वके एकान्तको बाधा पहुँचानेवाली है—सर्वथा नित्यत्वके एकान्तमें कोई प्रकारका परिणाम परिवर्तन अथवा अवस्थान्तर बनता ही नहीं।'

पुण्य-पाप-क्रिया न स्यात्प्रेत्यभावः फलं कुतः । बन्ध-मोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नाऽसि नायकः ॥४०॥

'(ऐसी स्थितिमें हे वीरजिन!) जिनके आप (अनेकान्तवादी) नायक (स्वामी) नहीं हैं उन सर्वथा नित्यत्वैकान्तवादियोंके यहाँ (मतमें) पुण्य-पापकी क्रिया—मन-वचन-कायकी शुभ या अशुभ प्रवृत्तिरूप अथवा उत्पाद-व्ययरूप कोई क्रिया—नहीं बनती, (क्रियाके अभावमें) परलोक-गमन भी नहीं बनता, (सुख-दुखरूप) फलप्राप्ति की तो बात ही कहांसे हो सकती है?—वह भी नहीं बन सकती—और न बन्ध तथा मोक्ष ही बन सकते हैं।—तब सर्वथा नित्यत्वके एकान्तपक्षमें कौन परीक्षावान किस लिए आदरवान् हो सकता है? उसमें सादर-प्रवृत्तिके लिये किसी भी परीक्षकके वास्ते एक भी आकर्षण अथवा कारण नहीं है।'

क्षणिकैकान्त-पक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसम्भवः । प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलम् ॥ ४१ ॥

'(नित्यत्वैकान्तमें दोष देख कर) यदि क्षणिक एकान्तका पक्ष लिया जाय—बौद्धोंके सर्वथा अनित्यत्वरूप एकान्तवादका आश्रय लेकर यह कहा जाय कि सर्व पदार्थ क्षणक्षणमें निरन्वय-विनाशको प्राप्त होते रहते हैं, कोई भी उनमें एक क्षणके लिये स्थिर नहीं है—तो भी प्रेत्यभावादिक असंभव ठहरते हैं—परलोकगमन और बन्ध तथा मोक्षादिक नहीं बन सकते। (इसके सिवाय प्रत्यभिज्ञान, स्मरण और अनुमानादि जैसे ज्ञान भी नहीं बन सकते) प्रत्यभिज्ञानादि-जैसे ज्ञानोंका अभाव होनेसे कार्यका आरम्भ नहीं बनता और जब कार्यका आरम्भ ही नहीं तब उसका (सुख-दुःखादिरूप अथवा पुण्य-पापादिरूप) फल तो कहांसे हो सकता है?—नहीं हो सकता। अतः सर्वथा क्षणिकैकान्त भी परीक्षावानोंके लिये आदरणीय नहीं है।

---

* 'असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात् । शक्तस्य (कार्यस्य) शक्यकरणात् कारणभावाच्चसत्कार्यम्" इति हि सांख्यानां सिद्धान्तः।—(अष्टसहस्री पृ० १८१)

श्रीहीराचन्दजी बोहराका नम्र निवेदन और कुछ शंकाएँ

(जुगलकिशोर मुख्तार)

[गत किरणसे आगे]

कानजीस्वामीके वाक्योंको उद्धृत करनेके अनन्तर श्री बोहराजीने मुझसे पूछा है कि "आत्मा एकान्ततः अबद्धस्पृष्ट है" यह वाक्य कानजीस्वामीके कौनसे प्रवचन या साहित्यमें मैंने देखा है। परन्तु यह बतलानेकी कृपा नहीं की कि मैंने अपने लेखमें किस स्थान पर यह लिखा है कि कानजी स्वामीने उक्त वाक्य कहा है, जिससे मेरे साथ उक्त प्रश्नका सम्बन्ध ठीक घटित होता। मैंने वैसा कुछ भी नहीं लिखा, जो कुछ लिखा है वह लोगोंकी आशंकाका उल्लेख करते हुए उनकी समझके रूपमें लिखा है; जैसा कि लेखके निम्न शब्दोंसे प्रकट है—

····'शुद्धात्मा तक पहुँचनेका मार्ग पासमें न होनेसे लोग 'इतो भ्रष्टास्ततो भ्रष्टाः' की दशाको प्राप्त होंगे; उन्हें अनाचारका डर नहीं रहेगा, वे समझेंगे कि जब आत्मा एकान्ततः अबद्धस्पृष्ट है—सर्व प्रकारके कर्मबन्धनोंसे रहित शुद्ध-बुद्ध है और उस पर वस्तुतः किसी भी कर्मका कोई असर नहीं होता, तब बन्धनसे छूटने तथा मुक्ति प्राप्त करनेका यत्न भी कैसा ?" इत्यादि।

ये शब्द कानजीस्वामीके किसी वाक्यके उद्धरणको लिये हुए नहीं है, इतना स्पष्ट है; और इनमें आध्यात्मिक एकान्तताके शिकार मिथ्यादृष्टि लोगोंकी जिस समझका उल्लेख है वह कानजीस्वामी तथा उनके अनुयायियोंकी प्रवृत्तियोंको देखकर फलित होनेवाली है ऐसा उक्त शब्द-वाक्योंके पूर्वसम्बन्धसे जाना जाता है—न कि एकमात्र कानजीस्वामीके किसी वाक्यविशेषसे अपनी उत्पत्तिको लिये हुए है। ऐसी स्थितिमें उक्त शब्दावलीमें प्रयुक्त "आत्मा एकान्ततः अबद्धस्पृष्ट है' इस वाक्यको मेरे द्वारा कानजीस्वामीका कहा हुआ बतलाना किसी तरह भी युक्तियुक्त एवं संगत नहीं कहा जा सकता—वह उक्त शब्दविन्यासको ठीक न समझनेके कारण किया गया मिथ्या आरोप है।

इसके सिवाय, यदि कोई दूसरा जन कानजीस्वामीके सम्बन्धमें अपनी समझको उक्त वाक्यके रूपमें चरितार्थ करे तो वह कोई अद्भुत या अनहोनी बात भी नहीं होगी, जिसके लिये किसीको आश्चर्यचकित होकर यह कहना पड़े कि हमारे देखने-सुननेमें तो वैसी बात आई नहीं; क्योंकि कानजी महाराज जब सम्यग्दृष्टिके शुभभावों तथा तज्जन्य पुण्यकर्मोंको मोक्षोपायके रूपमें नहीं मानते—मोक्षमार्गमें उनका निषेध करते हैं—तब वे आध्यात्मिक एकान्तकी ओर पूरी तौरसे ढले हुए हैं ऐसी कल्पना करने और तदनुकूल कहनेमें किसीको क्या संकोच हो सकता है? शुद्ध या निश्चयनयके एकान्तसे आत्मा अबद्धस्पृष्ट है ही। परन्तु वह सर्वथा अबद्धस्पृष्ट नहीं है, और यह वही कह सकता है जो दूसरे व्यवहारनयको भी साथमें लेकर चलता है—उसके वक्तव्यको मित्रके वक्तव्यकी दृष्टिसे देखता है शत्रुके वक्तव्यकी दृष्टिसे नहीं, और इसलिये उसका विरोध नहीं करता। जहाँ कोई एक नयके वक्तव्यको ही लेकर दूसरे नय-के वक्तव्यका विरोध करने लगता है वहीं वह एकान्तकी ओर चला जाता और उसमें ढल जाता है। कानजीस्वामीके ऐसे दूसरे भी अनेकानेक वाक्य हैं जो व्यवहारनयके वक्तव्यका विरोध करनेमें तुले हुए हैं, उनमेंसे कुछ वाक्य उनके उसी 'जिनशासन' शीर्षक प्रवचन-लेखसे यहाँ उद्धृत किये जाते हैं, जिसके विषयमें मेरी लेखमाला प्रारम्भ हुई थी:—

१. "आत्माको कर्मके सम्बन्धयुक्त देखना वह वास्तवमें जैनशासन नहीं परन्तु कर्मके सम्बन्धसे रहित शुद्ध देखना वह जैनशासन है।"

२. "आत्माको कर्मके सम्बन्ध वाला और विकारी देखना वह जैनशासन नहीं है।"

३. "जैनशासनमें कथित आत्मा जब विकाररहित और कर्मसम्बन्धरहित है तब फिर इस स्थूल शरीरके आकार वाला तो वह कहांसे हो सकता है ?"

४. "वास्तवमें भगवानकी वाणी कैसा आत्मा बतलाने-में निमित्त है ?—अबद्धस्पृष्ट एक शुद्ध आत्माको भगवानकी वाणी बतलाती है; और जो ऐसे आत्माको समझता है वही जिनवाणीको यथार्थतया समझा।"

५. "बाह्यमें जड शरीरकी क्रियाको आत्मा करता है और उसकी क्रियासे आत्माको धर्म होता है—ऐसा जो देखता है (मानता है) उसे तो जैनशासनकी गंध भी नहीं है। तथा कर्मके कारण आत्माको विकार होता है या विकार-

भावसे आत्माको धर्म होता है—यह बात भी जैनशासनमें नहीं है।"

६. "आत्मा शुद्ध विज्ञानघन है, वह बाह्यमें शरीर आदिकी क्रिया नहीं करता; शरीरकी क्रियासे उसे धर्म नहीं होता; कर्म उसे विकार नहीं कराता और न शुभ अशुभ विकारी भावोंसे उसे धर्म होता है। अपने शुद्ध विज्ञानघन स्वभावके आश्रयसे ही उसे वीतरागभावरूप धर्म होता है।"

इस प्रकारके स्पष्ट वाक्योंकी मौजूदगी में यदि कोई यह समझने लगे कि 'कानजीस्वामी आत्माको 'एकान्ततः अबद्धस्पृष्ट' बतलाते हैं तो इसमें उसकी समझको क्या दोष दिया जा सकता है? और कैसे उस समझका उल्लेख करनेवाले मेरे उक्त शब्दोंको आपत्तिके योग्य ठहराया जा सकता है? जिनमें आत्माके 'एकान्ततः अबद्धस्पृष्ट' का स्पष्टीकरण करते हुए डैश (—) के अनन्तर यह भी लिखा है कि वह "सर्व प्रकारके कर्मबन्धनोंसे रहित शुद्धबुद्ध है और उस पर वस्तुतः किसी भी कर्मका कोई असर नहीं होता।" कानजीस्वामी अपने उपर्युक्त वाक्योंमें आत्माके साथ कर्मसम्बन्धका और कर्मके सम्बन्धसे आत्माके विकारी होने अथवा उस पर कोई असर पड़नेका साफ़ निषेध कर रहे हैं और इस तरह आत्मामें आत्माकी विभावपरिणमन-रूप वैभाविकी शक्तिका ही अभाव नहीं बतला रहे बल्कि जिनशासनके उस सारे कथनका भी उत्थापन कर रहे और उसे मिथ्या ठहरा रहे हैं जो जीवात्माके विभाव-परिणमनको प्रदर्शित करनेके लिए गुणस्थानों जीवसमासों और मार्ग-णाओं आदिकी प्ररूपणाओंसे ओत-प्रोत है और जिससे हज़ारों जैनग्रन्थ भरे हुए हैं। श्रीकुन्दकुन्दाचार्य 'समयसार' तकमें आत्माके साथ कर्मके बन्धनकी चर्चाएँ करते हैं और एक जगह लिखते हैं कि 'जिस प्रकार जीवके परिणामका निमित्त पाकर पुद्गल कर्मरूप परिणमते हैं उसी प्रकार पुद्गलकर्मोंका निमित्त पाकर जीव भी परिणमन करता है'; और एक दूसरे स्थान पर ऐसा भाव व्यक्त करते हैं कि 'प्रकृतिके अर्थ चेतनात्मा उपजता विनशता है, प्रकृति भी चेतनके अर्थ उपजती विनशती है, इस तरह एक दूसरेके कारण दोनोंका बन्ध होता है। और इन दोनोंके संयोगसे ही संसार उत्पन्न होता है।' यथा—

"जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंते।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८॥"

"चेया उ पयडी अट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि य चेयट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥ ३१२ ॥
एवं बंधो उ दुण्हं वि अण्णोण्णपच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥ १३ ॥"

परन्तु कानजी महाराज अपने उक्त वाक्यों-द्वारा कर्मका आत्मा पर कोई असर ही नहीं मानते, आत्माको विकार और सम्बन्धसे रहित प्रतिपादन करते हैं और यह भी प्रति-पादन करते हैं कि भगवानकी वाणी अबद्धस्पृष्ट एक शुद्धात्माको बतलाती है (फलतः कर्मबन्धनसे युक्त अशुद्ध भी कोई आत्मा है इसका वह निर्देश ही नहीं करती)। साथ ही उनका यह भी विधान है कि आत्मा शुद्ध विज्ञान-घन है, वह शरीरादिकी (मन-वचन-कायकी) कोई क्रिया नहीं करता—अर्थात् उनके परिणमनमें कोई निमित्त नहीं होता और न मन-वचन-कायकी क्रियासे उसे किसी प्रकार धर्मकी प्राप्ति ही होती है। यह सब जैन आगमों अथवा महर्षियोंकी देशनाके विरुद्ध आत्माको एकान्ततः अबद्धस्पृष्ट प्रतिपादन करना नहीं तो और क्या है? आत्मा यदि सदा शुद्ध विज्ञानघन है तो फिर संसार-पर्याय कैसे बनेगी? संसार-पर्यायके अभावमें जीवोंके संसारी तथा मुक्त ये दो भेद नहीं बन सकेंगे, संसारी जीवोंके अभावमें मोक्षमार्गका उपदेश किसे? अतः वह भी न बन सकेगा और इस तरह सारे धर्मतीर्थके लोपका ही प्रसंग उपस्थित होगा। और आत्मा यदि सदा शुद्ध विज्ञानघनके रूपमें नहीं है तो फिर उसका शुद्ध विज्ञानघन होना किसी समय या अन्तसमयकी बात ठहरेगा उसके पूर्व उसे अशुद्ध तथा अज्ञानी मानना होगा, वैसा मानने पर उसकी अशुद्धि तथा अज्ञानताकी अवस्थाओं और उनके कारणोंको बतलाना होगा। साथ ही, उन उपायों—मार्गोंका भी निर्देश करना होगा जिनसे अशुद्धि आदि दूर होकर उसे शुद्ध विज्ञानघनत्वकी प्राप्ति हो सकेगी; तभी आत्मद्रव्यको यथार्थरूपमें जाना जा सकेगा। आत्माका सच्चा तथा पूरा बोध करानेके लिये जिनशासनमें यदि इन सब बातोंका वर्णन है तो फिर एकमात्र शुद्ध आत्माको 'जिनशासन' नाम देना नहीं बन सकेगा और न यह कहना ही बन सकेगा कि पूजादान-व्रतादिके शुभ भावों तथा व्रत-समिति-गुप्ति आदि रूप सरागचरित्रको जिनशासनमें कोई स्थान नहीं—वे मोक्षोपायके रूपमें धर्मका कोई अंग ही नहीं है। ऐसी हालत में कानजी महाराज पर घटित होने वाले आरोपोंके परिमार्जनका जो प्रयत्न श्रीबोहरा-जीने किया है वह समुचित प्रतीत नहीं होता। (क्रमशः)

अहोरात्रिकाचार

(क्षुल्लक सिद्धिसागर)

मौजमाबाद (जयपुर) के शास्त्र भण्डारमें पंडितप्रवर आशाधरजीके द्वारा विरचित 'अहोरात्रिकाचार' नामका एक संस्कृत ग्रन्थ ५१ श्लोक प्रमाण अनुष्टुप् वृत्तमें रचित पाया जाता है। इस ग्रन्थमें १४वां २५वां और २६वां श्लोक सोमदेवाचार्यके यशस्तिलकचम्पूसे लेकर 'उक्तं च' रूपसे उद्धृत किये गये हैं। श्रावकोंके द्वारा दिन और रात्रिमें करने योग्य सद्विचार और सदाचारका संक्षिप्त विवेचन इस ग्रन्थमें पाया जाता है। वह निम्न प्रकार से है—

(१) ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर पंच नमस्कार करके: मैं कौन हूँ—मेरा कर्तव्य या धर्म क्या है? मैंने कौनसा व्रत ग्रहण किया है? मुझे क्या करना है? इत्यादिक चिंतवन करे।

(२) मैं अनादिकालसे संसारमें भटक रहा हूँ—मैंने बड़ी कठिनाईसे इस श्रावकीय आर्हत् धर्मको प्राप्त कर लिया है तो मुझे इस धर्ममें उत्साह होना चाहिए?

(३) तल्पसे उठकर श्रावक पवित्र-मनसे एकाग्र होकर अरिहंत भगवानकी भावसे अष्टप्रकार पूजा रूप कृतिकर्मको करके—समाधि लगाकर शान्तिका यथाशक्ति अनुभव करके प्रत्याख्यान ग्रहण करे और जिनदेवको नमस्कार करे।

(४) समतामृतसे अपने अन्तरात्माको प्रक्षालन कर वह जिनके समान शांतमुद्राको धारण करे! दैवसे ऐश्वर्य और दुर्गति होती है ऐसा विचार करते हुए वह जिनालयको जावे! यथा विभव पूजाकी सामग्रीको लेकर आत्मोत्साहसे युक्त चलते हुए वह देशव्रती संयतके समान भावनाको करने वाला होता है।

(५) जगत्को बोध कराने वाले ज्योतिर्मय अरिहन्त-भास्करके दर्शन करके और जिन-मंदिरकी ध्वजाओंका स्मरण करते हुए वह प्रसन्नचित्त हो—वाद्यके शब्दसे और पूजादिक अनुष्ठानोंसे उत्साहित होकर 'निस्सही' शब्दका उच्चारण करे। मंदिरमें प्रविष्ट होकर आनन्दसे परिपूर्ण हो तीन प्रदक्षिणा देकर जिनदेवको नमस्कार करके पवित्र जिन-भगवानकी पुण्यस्तुति पढ़े।

(६) समवसरण सभामें स्थित ये वही जिन हैं और ये सभासद हैं'—इस प्रकार चिंतवन करते हुए वह धार्मिक पुरुषोंको भी प्रसन्न करे। ईर्यापथ शुद्धि पूर्वक जिनेश्वरको पूजनकर, गुणी आचार्यके सामने प्रत्याख्यानको प्रकाशित करे। यथायोग्य जिन-भक्तोंको संतुष्ट करे और अर्हतके वचनके व्याख्यान-एवं पठनसे अपनेमें बारबार उत्साहको उत्पन्न करे।

(६) अर्हद् रूपको धारण करने वाले महाव्रतीके प्रति 'नमोऽस्तु' इस विनय क्रियाको करे। क्षुल्लक परस्परमें इच्छाकार करें। स्वाध्यायको विधिवत् करना चाहिए। विपदमें पड़े हुए धार्मिकोंका उद्धार करना चाहिए! मोक्ष, ज्ञान और दयाके सात्मीभूत होने पर सब गुण सिद्धि कारक होते हैं जैसा कि निम्न पद्यसे स्पष्ट है—

> स्वाध्यायं विधिवत्कुर्यादुद्धरेच्च विपद्धतान् ।
> पक्वज्ञानदयस्यैव गुणाः सर्वेऽपि सिद्धिदाः ॥१५॥

(७) जिन-गृहमें हास्य, विलास, कुकथा, पापवार्ता, पाप, निन्द्रा, थूकना और चार प्रकारका अहार त्याज्य हैं—यह निम्नपद्यसे प्रकट है—

> मध्ये जिनगृहं हासं विलासं-दुःकथां कलिम् ।
> निन्द्रांनिष्ठ्यूतमाहारं चतुर्विधमपि त्यजेत् ॥१६॥

(८) गृहस्थको न्यायपूर्ण व्यवसाय करना चाहिए। पुरुषार्थके द्वारा अल्प फल होने पर या असफल होने पर भी धैर्य रखना चाहिए। हिंसकवृत्ति धारण नहीं करना चाहिए—उसे यह विचारना चाहिए कि मैं आरम्भादिकको छोड़कर कब माधुकरी अनगार वृत्तिको धारण करूँगा।

(९) यथालाभ उसको संतुष्ट रहना चाहिए और आजीविका चलाना चाहिए। उसे योग्य नीर, गोरस, धान्य, शाकादिक शुद्ध वनस्पतिको क्रय करके अविरुद्ध वृत्तिको लाघवरूपसे करना चाहिए।

(१०) उद्यानभोजन, जन्तुका योधन, कुसुमोच्चयन, जलक्रीड़ा, डोलनादिकका त्याग करना चाहिए। यह अभिप्राय निम्न पद्यसे अभिव्यक्त होता है—

> उद्यानभोजनं जंतुयोधनं कुसुमोच्चयम् ।
> जलक्रीडां दोलनादिश्च त्यजेदन्यच्च तादृशम् ॥२५॥

(११) अपवित्रताके अनुसार स्नान करके मध्याह्नके समय द्रव्यको धोकर निर्द्वंद होकर पापनाशक देवाधिदेवकी भक्ति करे। पीठका स्नानकर पीठिकेको शुद्धकर चार कुंभोंको चारों कोणोंमें स्थापन करे। श्रीकार लेखन करे इत्यादिक रूपसे स्नपनको करे। जल चंदनादिकसे पूजा करके नमस्कार और जिनदेवका स्मरण करे।

(१२) अथवा—

सम्यग्गुरूपदेशेन, सिद्धचक्रादिर्वार्चयेत् ।
श्रुतंच गुरुपादांश्च कोहि श्रेयसि तृप्यति ॥२६॥

(१३) श्रुतकी और गुरुके चरणोंकी पूजा करनी चाहिए। फिर पात्रोंको नवधा-भक्तिसे शक्तिके अनुसार तृप्त करके सब आश्रितोंको योग्य कालमें सात्म्य भोजन करावे और करे। सात्म्यका लक्षण निम्न पदसे प्रकट है—

पानाहारादयो यस्य विशुद्धा प्रकृतेरपि—
सुखित्वायावकल्पंते तत्सात्म्यमिति कथ्यते ॥२८॥

(१४) कहा भी है—

गुरुणामर्द्धसौहित्यं, लघूनां नातितृप्तता ।
मात्राप्रमाणनिर्दिष्टं, सुखं ताव तजीयेते ॥२६॥

(१५) दोनों लोकोंके अविरुद्ध द्रव्य वगैरहको प्राप्त करना चाहिए। रोग उत्पन्न न हो इसके लिए और इस व्याधिसे अच्छे होनेके लिए यत्न करे। चूंकि वह रोग वृत्तको भी नष्ट कर देता है। उक्त आशय निम्न पदसे प्रकट है—

लोकद्वयाविरोधीनि द्रव्यादीनि सदा लभेत् ।
यतेत व्याध्यनुत्पत्तिच्छेदयोः स हि वृत्तहा ॥३०॥

(१६) संध्याके समय आवश्यकको करके गुरुका स्मरण करे, योग्यकालमें रात्रिके समय अल्पशः शयन करे और शक्तिके अनुसार अब्रह्मका वर्जन करे ! निद्राके आने पर पुनः चित्तको निर्वेद रूपमें ही चिंतवन करे। चूंकि निर्वेदको सम्यग् प्रकारसे आने पर वह चेतन शीघ्र सच्चे सुखको प्राप्त करता है—दुःखके चक्रवालसे युक्त इस संसार समुद्रमें अन्यको आत्मबुद्धिमें माननेके कारण मेरे द्वारा कषायवश पुनः पुनः बद्ध अवस्था प्राप्त की गई—इससे पराधीन दुःखी बना रहा—अब मैं उस मोहका उच्छेद करनेके लिए नित्य उत्साहित होता हूँ—जब मोहक्षय हो जाएगा तब राग द्वेष भी शीघ्र नौ दो ग्यारह हो जावेंगे।

(१७) बंधसे देह होती है—उसमें इन्द्रियाँ होती हैं और इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होता है—उस राग द्वेष, सहित विषय ग्रहणके द्वारा बंध होता है। उससे पुनः देह इत्यादिका सम्बन्ध होता है—अतः मैं इस बंध और उसके कारणका ही संहार करता हूँ। उक्त कथन निम्न पदसे व्यक्त है—

बंधाद्देहोऽत्र करणान्येतैश्च विषयग्रहः ।
बंधश्च पुनरेवातस्तदेनं संहराम्यहम् ॥३६॥

(१८) जो असाध्य स्मर रिपु ज्ञानियोंकी संगति और ध्यानके द्वारा भी नहीं जीता जा सकता है—वह देह और आत्माके भेदविज्ञानसे उत्पन्न हुए वैराग्यके द्वारा अवश्य साध्य हो सकता है। 'वे धन्य हैं जो भेदज्ञानरूपी आयत नेत्रोंसे युक्त हैं और राज्यका परित्याग कर चुके हैं तथा मुझे धिक्कार है चूंकि मैं कलत्रकी इच्छा लिए गृहस्थ जालोंमें फंसा हूं।' इस प्रकार वह चिंतवन करे।

(१९) एक ओर श्रमश्रीसे युक्त चित्तकर्षक है क्या वह मुझको जीत सकता है? इसके उत्तरसे अज्ञात ही वह मोह-राजाकी चमू (सेना) इस लोकमें मेरे द्वारा जीतने योग्य है—

(२०) जिसने आत्मासे शरीरको भिन्न जाना था वह भी स्त्रीके जालमें फँस कर पुनः देह और आत्माको एक मानने लगता है।

(२१) यदि स्त्रीसे चित्त निवृत्त हो चुका है, तो वित्तकी इच्छा क्यों करना है? चूँकि स्त्रीकी इच्छा नहीं रखने वाला होकर धनका संचय करता है तो वह मृतकके मंडनके समान है - यह मन्तव्य निम्न पद्यसे प्रकट होता है—

स्त्रीतश्चित्तनिवृत्तं चेन्ननु वित्तं किमीहसे
मृतमंडनकल्पोहि स्त्रीनिरीहे धनग्रहः—४१

(२२) इस प्रकार उसे मुक्तिमार्गमें उद्योग करना चाहिये। मनोरथ रूप भी श्रेयरथ श्रेय करने वाले होते हैं। क्षण-क्षणमें आयु गल रही है। शरीरके सौष्टवका ह्रास हो रहा है और बुढ़ापा मृत्युरूपी सखीकी खोजमें है चूंकि वह कार्य सिद्ध करने वाली है। क्रियाके समभिहारसे सहित भी जिनधर्मका सेवन करना श्रेष्ठ है। विपदा हो या सम्पदा जिनदेवका कहा हुआ यह वचन मेरे लिए हितकारक है।

(२३) प्राप्त करने योग्य प्राप्त कर लिया है तो वह श्रामण्य महासागर है। उसे मथ कर समता रूपी पीयूषको पीवूँ जो कि परम दुर्लभ है—पुर हो या अरण्य, मणि हो या रेणु मित्र हो या शत्रु, सुख हो या दुःख, जीवित हो या मरण, मोक्ष हो या संसार इनमें मैं समाधीको—राग द्वेष रहित परिणामको—कब धारण करूँगा? मोक्षोन्मुख क्रिया-काण्डसे बाह्यजनोंको विस्मित करते हुए मैं समरस स्वादियों-की पंक्तिमें आरम दृष्टा हो र कब बैठूँगा—जब मैं ध्यानमें एक न हो जाऊँगा तब शरीरको स्थाणु समझ कर वे मृग उससे खाज खुजाएँगे उन दिनोंकी मैं बाट जोह रहा हूँ—वे जिनदत्त वगैरह गृहस्थ भी धन्य है जो कि उपसर्गोंके होने

पर भी धर्मसे विचलित नहीं हुए—

(२४) इस ग्रन्थका अन्तिम पद्य—

इत्यहोरात्रिकाचारचारिणि व्रतधारिणि ।
स्वर्गश्रीक्षिपते मोक्षशीर्षयेव वरस्रजम् ॥५०॥

इत्याशा धर विरचितमहोरात्रिकाचारः—

इस तरह यह ग्रन्थ श्रावकाचारकी उपयोगी बातोंको लिए हुए है। कृति संक्षिप्त और सरल है। और प्रकाशमें लानेके योग्य है।

नोट—यह ग्रन्थ कोई नया नहीं है किन्तु सागार धर्मामृतके छठे अध्यायका एक प्रकरणमात्र है। इसी तरह स्वयंभूके 'हरिवंशपुराण' से नेमिनाथके केवलज्ञानका एक प्रकरण मौजमाबादके भंडारमें अवलोकनमें आया है लोगोंने इन प्रकरणोंको अपनी ज्ञानवृद्धिके लिये अलग-अलग लिखवाये है, वे स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं। —परमानन्द

क्या सुखदुःखका अनुभव शरीर करता है ?

(क्षुल्लक सिद्धिसागर)

कुछ लोगोंका यह कहना है कि सुख-दुःख शरीरको होता है—जीवको नहीं होता है—यह मत भी विचित्र चार्वाकों जैसा है—चूंकि वे पुद्गलके या भूत चतुष्टयके विकसित मिश्रित रूपको चेतना मानते हैं। चार्वाक मतमें उस चेतनको ही सुखदुःख होता है उससे कल्पना की जाती है। भिन्नजीवकी सत्ताको वह स्वीकार नहीं करता, किन्तु ये विचित्र अध्यात्मिक शरीरको सुखदुःख होता है ऐसा कहते हुए—जीवकी सत्ताको अलग मानते हैं।

जब कि पुद्गलमें मूलरूपसे ही चेतनाशक्ति नहीं तब उसे सुखदु ख कैसे हो सकता है ? सुखदु.ख तो चेतना शक्ति-से युक्त उपयोगी जीवको हो होता है—बोतलमें शराब है किन्तु उसके होने पर भी अचेतन बोतल उन्मत्त नहीं होती है—उसी प्रकार शरीरमें रोगके उत्पन्न होने पर शरीर अचेतन होनेसे दुःखका अनुभव नहीं कर सकता है जैसे कि काँटोंकी शय्या पर पड़ा हुआ अचेतन शरीर दुःखका अनुभव नहीं करता है—

शरीरमें रोगके होने पर भी एक जीव उनसे उपयुक्त नहीं होता है तब तक किसी कार्यमें व्यस्त होने पर दुःखका या वेदनाका अनुभव नहीं करता है—दुःख का अनुभव जीव को तो हो सकता है पर अचेतन शरीरको कभी नहीं हो सकता।

मुर्देको कोमल शय्या पर बिठाने पर भी सुखका अनुभव नहीं होता है—ध्यानमें निमग्न शरीरमें अनुपयुक्त विशिष्ट ध्यान और संहनन वाला शरीरधारी कोमलशय्या पर लिटा दिया जाय तो भी शय्याके निमित्तसे उसे सुख नहीं होता है—उपयोग उस ओर जाने पर और इष्ट या अनिष्ट बुद्धिके होने पर ही दुःख या सुखका अनुभव हो सकता है—

किसी भी वस्तुको जानने मात्रसे सुख या दुःख नहीं होता है किंतु मोहके उदयसे युक्त कषाय सहित आत्मा इष्ट या अनिष्ट बुद्धिके होने पर ही सुख या दुःखका अनुभव करता है—उसमें साता या असाताका उदय भी निमित्त है। उक्त सुख भी सुखाभास है और अस्थिर है—

जो उपयोग इष्टानिष्ट परिणतिसे रहित है वह सच्चे सुखका अनुभव करता है जो बन्ध गुणस्थान और मार्गणा-स्थान, आदिके वर्णनको अनिष्ट और मोक्षके वर्णनको इष्ट-या शुद्ध आत्माके कथनको ही इष्ट मानते है—वे सच्चे सुखका अनुभव नहीं करते हैं—किन्तु जो जीव शुद्ध और अशुद्धको जानकर तटस्थ होता है—वहां नय-पक्ष कक्षसे अतीत मध्यस्थ-या समत्व युक्त आत्मा ज्ञान चेतनाके द्वारा वास्तविक सुखका अनुभव करता है या मूर्छा होता है। कर्म निमित्त जन्य सुःखको जीव ही अनुभव करता है अजीव नहीं—

इसमें सन्देह नहीं कि सुखदुःखका वेदना केवल जड शरीरको नहीं होता किन्तु शरीरस्थित जीवात्मा उपयुक्त होने पर ही करता है। अनुपयुक्त दशामें उसका अनुभव नहीं होता। क्योंकि वेदन या अनुभवन जीवका निजस्वभाव है पुद्गलका नहीं।

दीवान अमरचन्द

(पं० परमानन्द जैन)

राजपूतानेमें जैनसमाजमें ऐसे अनेक गौरवशाली महापुरुष हुए हैं जिन्होंने देश-जाति और धर्मकी सेवा ही नहीं की है किंतु उन्होंने नगर या देशकी रक्षार्थ अपना सर्वस्व होम दिया है। उनमेंसे आज हम अपने पाठकोंको एक ऐसे ही महापुरुषका संक्षिप्त जीवन-परिचय देना चाहते हैं जो केवल धर्मनिष्ठ और दयालु ही नहीं था, किन्तु जिसने अपने नगर की रक्षार्थ विना किसी अपराधके दयालुतासे द्रवित होकर खुशीसे अपने अमूल्य जीवनको बलिवेदी पर उत्सर्ग किया है। उनका नाम है अमरचन्द दीवान।

जयपुर राज्यकी सुरक्षा और श्री-वृद्धिमें वहांके जैनियोंका प्रमुख हाथ रहा है, अनेक जैन दीवानोंने अपने राज्यकी रक्षार्थ अनेक प्रयत्न किये और उसे मुसलमानोंके कब्जेसे छुड़ाया १। साथ ही स्टेट पर अंग्रेजों का भी अधिकार नहीं होने दिया। यद्यपि इन कार्योंमें उन्हें अपनी और सामर्थ्य के अनुसार अग्नि-परीक्षामें सफलता मिली, उन्होंने जयपुर और जोधपुर राज्यमें होने वाले मत-भेदोंको मिटाया, उनमें प्रेम और अभिनय मैत्रीका संचार किया। इसमें सन्देह नहीं है कि उन्होंने अपने कर्तव्यका दृढताके साथ पालन किया। और अनेक आपदाओंका स्वागत करते हुए भी अन्तमें जीवनको भी अर्पण कर दिया। अन्यथा उक्त राज्यने अपनी स्वतन्त्राताको सदाके लिए खो दिया होता।

%जयपुरके जैन दीवानोंमें रावकृपाराम, जो बादशाह दिल्लीके खंजाची भी थे, और रामचन्द्र छावड़ा, जिन्होंने आमेर और जोधपुरको मुसलमानोंके अधिकारसे संरक्षित किया था। इसी तरह और भी अनेक दीवान हुए हैं जिन्होंने अपनी अपनी योग्यतानुसार राज्यके संरक्षण और श्री वृद्धिमें सहयोग दिया है। उनमें अमरचन्दजी दीवानका नाम भी खास तौरसे उल्लेखनीय है। इनका जन्म सम्वत् १८४० में हुआ था। इनके पिता शिवजीलालजी थे, जो राज्यके दीवानपद पर आसीन थे। उनकी जाति खंडेलवाल और गोत्र पाटनी था। ये सम्वत १८४० में राजा प्रतापसिंहके राज्यकालमें दीवान जैसे उच्चपद पर प्रतिष्ठित थे। शिवजीलाल जी बड़े ही मिलनसार, सरलस्वभावी और धर्मात्मा थे। इन्होंने एक विशाल जैनमन्दिर मनिहारोंके रास्तेमें बनवाया था। कहा जाता है कि उसकी नींव जयपुर नरेश प्रतापसिंहजीने स्वयं अपने हाथोंसे रखी थी। इस मन्दिरमें किसी साम्प्रदायिक व्यक्तियोंने जैन मूर्तिको हटाकर शिवकी मूर्ति रखकर अपना अधिकार कर लिया था जिसका नमूना आज भी मौजूद है। आजकल उस मन्दिरकी बिल्डिंगमें जैनसंस्कृत कालेज चल रहा है, और राज्य सरकारकी ओरसे कालेज संचालनके लिए दी हुई है। बादमें सरकारसे अनुरोध करने पर सरकारने उसी मन्दिरकी बगलमें एक मन्दिर बनवा दिया था जो आज भी दीवानजी के नामसे ख्यात है। जयपुरके एक दरवाजे पर भी शिवजीलालजी दीवानका रास्ता। यह वाक्य लिखा हुआ मिलता है। अमरचन्द जो दीवानके पिता शिवजीलालजी की मृत्यु सम्वत् १८६७में हुई थी, उस समय जयपुरमें जगतसिंहजीका राज्य था और पंडित जयचन्दजी उस समय तक अनेक ग्रंथोंकी टीकाएं बना चुके थे।

साधर्मी वात्सल्य

दीवान अमरचन्द जी भी अपने पिताके समान सरलस्वभावी और विनयी थे। एक चित्रमें वे अपने पिताजीके सामने हाथ जोड़े खड़े हुए हैं। अमरचन्द जी शिक्षासम्पन्न विद्वान थे और राजा जगतसिंहजी के राज्यकालमें दीवानपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। उस समय कृपारामजी भी दीवान थे।

---

१ दीवान रामचन्द्रजी छावडाने आमेरसे सैयदों को भगाया, और जयसिंहजी का कब्जा पूर्ववत् कराया। पश्चात् जोधपुरसे भी मुसलमानों को भगाया। तथा जयपुर जोधपुर राजाओंने सांभरको यवनोंसे पुनः वापिस लेने पर आपसमें अधिकार सम्बन्धी जो विवाद उपस्थित हो गया था उसमें मध्यस्थता कर दोनों राज्योंमें बांटकर परस्पर प्रेमका संचालन किया।

% राजा प्रतापसिंहका राज्यकाल सं० १८४०से १८५८ तक तो निश्चित ही है, क्योंकि वि० सं० १८५८ में पुस्कर जोधपुर नरेश विजयसिंहजी के बड़े पुत्र फतहसिंहजी की कन्यासे प्रतापसिंहजी का और प्रतापसिंह की बहिनसे भीमसिंह जी का विवाह हुआ था—इसके बाद १ वर्ष और राज्य कर पाये थे कि संवत् १८५९ में उनका स्वर्गवास होगया। तथा स० १८९९में राजा जगतसिंहजी राज्यासीन हो गए थे। देखो, भारतके प्राचीनराज वंश भा० ३ पृ० २४५

जो बड़े ही प्रभावक, निर्भय और राजनीतिज्ञ थे। अमरचन्द-जीमें धर्मनिष्ठताके साथ २ धर्मवत्सलता और करुणाकी अपूर्व-धारा प्रवाहित थी, वे नगरमें स्वयं घूमते और अपने नौकरों-से अपने साधर्मी भाइयोंकी दयनीय एवं निर्धन स्थितिका पता लगवा कर उनके यहाँ लड्डुओंमें मुहरें या रुपया रख कर भिजवा देते थे। और जब वे लड्डू फोड़ते तब उसमेंसे मोहरें या रुपया निकालते, तब वे उन्हें वापिस ले जाकर दीवानजी को देने आते तब दीवानजी उनके स्वाभिमान-में किसी किस्मकी ठेस न पहुँचाते हुए समझा बुझा कर यह कहते कि यह सब आपका ही है, यह मेरा नहीं है। इस तरह उनके प्रति प्रेम और आदरभावको प्रकट करते थे। और दूसरोंके स्वाभिमानको भी संरक्षित रखते थे। इसी तरह जिन घरोंमें अनाज की कमी मालूम होती थी, तब उनका नामादि मालूम कर अपने नौकरोंके हाथ उनके घर अनाज उनके घरवालोंका नाम लेकर भिजवा देते और कहला देते कि उन्होंने बाजारसे भेजा है। इस तरह दीवानजी अपने साधर्मी भाइयोंके दुःखको दूर करनेका प्रयत्न करते थे।

इसी प्रकार वे समाजमें शिक्षाके प्रचारमें अपना वरद हाथ खोले हुए थे। उनकी आर्थिक सहायतासे कई विद्या-र्थियोंने उच्च शिक्षा प्राप्तकर अपनी २ रचनाओंमें दीवानजी का आभार मानते हुए *कृतज्ञता व्यक्त की है।*

जीवन-चर्या

आपकी जीवनचर्या गृहस्थोचित तो थी ही। उनका रहन-सहन और व्यवहार सादा धर्म भावनाको लिये हुए था। उनका विद्वानोंके प्रति बड़ा ही भद्र व्यवहार था। वे स्वयं प्रातःकाल सामायिकादि क्रियाओंसे निवृत्त होकर और स्नानकर शुद्ध वस्त्र पहनकर जिनमंदिरजीमें जाते थे। पूजन स्वाध्यायादि कर अपने कर्तव्यका पालन करते थे। उन्होंने अपने जीवनको सदा कर्तव्यनिष्ठ बनाया, प्रमाद या आलस्य तो उन्हें छू भी नहीं गया था। वे सदा जागरूक और कर्तव्य-शील बने रहे।

दीवान अमरचन्दजीने भी एक विशाल मंदिर बनवाया है, जो छोटे दीवानजीके मंदिरके नामसे प्रसिद्ध है। इस मंदिरके ऊपर एक विशाल कमरा है जिसमें दो-तीन हजार व्यक्ति बैठकर शास्त्र-श्रवणादि कार्य करते थे। इस हालमें यदि सरस्वति भण्डारको स्थापित किया जाय तो उस स्थानका उपयोग भी किया जा सकता है। दीवानजीका यह मंदिर गुमानपंथ आम्नायका कहा जाता है। इस मंदिरमें मूल-नायककी एक विशाल मूर्ति चन्द्रप्रभ भगवानकी बड़ी ही चित्ताकर्षक और कलापूर्ण है। इस मंदिरमें प्रविष्ट होकर माली गर्भालयमें स्थित वेदीकी सफाई आदिका कार्य नहीं कर सकता और न पूजनके बर्तन आदि ही मांजकर ठीक कर सकता है। कहा जाता है कि जब तक दीवन अमरचंद जी रहे, मंदिरके अन्दर गर्भालयमें स्वयं बुहारी देने आदिका कार्य करते थे और उनकी धर्मपत्नी पूजनके बर्तन प्रतिदिन साफ किया करती थी। एक बार कोई सज्जन उनसे मिलने के लिये आए, तब दीवानजी वेदीमें बुहारी दे रहे थे। उनकी इस क्रियाको देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतना बड़ा संभ्रात कुलका दीवान भी मंदिरजीमें स्वयं बुहारी देनेका कार्य करता है। दीवानजीको कभी उक्त कार्यसे संकोच अथवा लज्जाका अनुभव नहीं होता था, किन्तु वे उसे अपना कर्तव्य समझकर उस कार्यको करते थे।

दीवानजीके जीवन-सम्बन्धमें आजभी अनेक किंवद-न्तियाँ प्रसिद्ध हैं। वे यों ही प्रसिद्ध हो गई हों सो भी नहीं है किन्तु उनमें कुछ न कुछ रहस्य जरूर अन्तर्निहित है, इसीसे वे लोकमें उनका समादरके साथ यत्र-तत्र कही जाती हैं। उनमें से कुछका यहाँ निर्देश किया जाता है।

उनका प्रेम केवल साधर्मी जनोंसे ही नहीं था किन्तु *अन्य लोगोंके प्रति भी उनका वैसा ही प्रेम पाया जाता है।* कहा जाता है कि एक रंगरेज (मुसलमान), जो कपड़े रंगकर अपनी आजीविका चलाता था, उसे दीवानजीने पंचनमस्कार मंत्र दिया था, उसकी उस मंत्रपर बड़ी श्रद्धा थी, वह पहले उसका जाप करके ही अन्य कार्य करता था और यह भी सुनने में आता है कि वह उनके शास्त्रको भी जीनेमें बैठकर सुना करता था। एक दिन उसे किसी दूसरे ग्रामको कार्यवश जाना था। रास्तेमें उसे एक सेठजी मिले उन्हें भी किसी कामवश उसी ग्राम जाना था। चलते-चलते जब जयपुरसे बहुत दूर निकल गए, तब उन सज्जनको प्यासकी बाधा सताई और तब उन्हें याद आया कि मैं लोटा डोरी भूल आया हूँ, उन्हें अपनी भूल पर बड़ा भारी पछतावा हुआ। पर जब चलते-चलते प्यासने अपना अधिक जोर जमाया, और उधर सूर्यकी प्रखर किरणें भी अपना ताप बखेर रहीं थीं, अतः वह तृषाजन्य आकुलतासे उत्पीड़ित हो छटपटाने लगा, शरीर पसीने से तर हो गया और चलनेमें असमर्थताका अनुभव करने लगा और तब उसने उक्त रंगरेजसे कहा कि भाई अब मुझसे एक पग भी नहीं चला जाता, कंठ सूख

गया है और प्यासकी पीड़ा अपने उग्ररूपमें मुझे सता रही है। रंगरेजने कहा कि सेठजी घबड़ाओ मत, अब थोड़ी ही दूर पर एक गांव है उसके पास ही एक अच्छा कुंवा है, उसका मीठा और ठंडा पानी पीकर अपनी प्यास बुझाइये। पर सेठजी अधीर होकर बोले—'मैं जल्दी-जल्दीमें अपना लोटा डोरी भूल आया हूँ, इसीसे प्राण संकटमें आ गए। अब क्या करूँ'। तब वह रंगरेज उन सेठजीको जैसे-तैसे धीरे-धीरे उस गाँवके समीप तक ले गया और उन्हें एक वृक्षकी छायामें बैठा दिया और कहा सेठजी सामने कुआ है इसके पानीसे अपनी प्यास बुझाइये। सेठजीने जब कुआं देखा तो और भी घबराये, कुआ मिल गया तो क्या मेरा तो प्यासके मारे दम निकला जा रहा है। तब उस रंगरेजने कहा सेठजी धीरज रखिये अभी उपाय करता हूं और आपकी प्यास मिटाता हूँ। उसने गुन-गुनाते हुए कुछ कंकड़ उस कुएंमें डाले जिससे उस कुएंका पानी जमीनकी सतह तक आ गया और सेठजीसे कहा कि सेठजी अब आप प्यास बुझाइये। सेठजीने पानी छानकर अपनी प्यास बुझाई और कुछ देर आराम करनेके बाद जब चलने लगे तब रास्तेमें सेठजीने उस रंगरेजसे पूछा कि भाई तुम यह तो बताओ कि तुमने उस समय क्या जादू किया था जिससे पानी जमीनकी सतह तक आ गया था। आपने मेरा बड़ा उपकार किया, मेरे पर तुमने बड़ी मिहरबानी करी और मेरे प्राण बचाए। मैं तुम्हारा अहसान कभी नहीं भूलूंगा, पर तुम मुझे वह मंत्र अवश्य बतला दो, जिससे यह करिश्मा हुआ है। उसने कहाकि सेठजी मेरे गुरुने जब मंत्र दिया था तब यह कहा था कि इसे किसीको नहीं बतलाना। अतः मैं उसे किसीको नहीं बतला सकता। परन्तु सेठजीने उससे भारी आग्रह किया तब उसने 'णमो अरिहंताणं' कहा, उसका इतना उच्चारण करना था कि सेठजी झटसे बोल उठे कि यह मंत्र तो मेरे बच्चोंको भी याद है। पर उसने ऐसा करिश्मा तो कभी नहीं दिखाया। तब उस रंगरेजने कहा सेठजी बिना अपने एतक़ादके मंत्र क्या कर सकता है। आपको उसपर यकीन ही नहीं है फिर भला वह करिश्मा क्या दिखलाता? मुझे तो उस पर पूरा एतक़ाद है, मुझपर जब कभी कोई विपत्ति आती है तब वह उस मंत्रके प्रभावसे हट जाती है। वह मेरा बड़ा उपकारी है मैं उसका रोज जाप करता हूँ। अस्तु, वास्तवमें आत्म-विश्वासके बिना कोई भी वस्तु अपना प्रभाव नहीं दिखलाती। खेद है कि जैन समाजके कुछ लोगोंका अपने मंत्रादिपर कोई विश्वास नहीं, इसीलिये वह आवश्यकता पड़ने पर दूसरोंके मंत्र-तंत्र गंडा-तावीज आदि पर अपने ईमानको डिगाता है। इसीलिए वह दर-दरकी ठोकरें खाता है।

कहा जाता है कि एक बार वही रंगरेज शास्त्रसभाके बाद जब घर जा रहा था तब उसे कुछ चिन्तित सा देखकर दीवानजीने उससे चिन्ताका कारण पूछा, तब उसने कहा कि मुझे लोग काफिर कहते हैं, ईमान बदला हुआ बतलाते हैं, इसकी मैंने कभी परवाह नहीं की; किन्तु मेरी एक लड़की है उसका रिश्ता जिस लड़केके साथ तय हुआ था, अब उसने इंकार कर दिया है, उसके घर वाले कहते हैं कि हम उस काफिरकी लड़की नहीं लेंगे। इसीसे मैं परेशान हूँ। दीवानजीने उससे कहा चिन्ता छोड़ो सब ठीक हो जायेगा। अगले ही दिन दीवानजी ने उस लड़केको बुलवा कर समझाया तब उसने उस लड़कीसे शादी करना मंजूर कर लिया और उसे एक सोनेका जेवरभी भेंट कर दिया, दीवानजीके कहनेसे उस रंगरेजकी परेशानी दूर हो गई और वह लड़कीकी शादीकी चिन्तासे मुक्त हो गया। इस तरह दूसरोंके कार्यमें हाथ बटाना या उसे सहयोग प्रदान करना दीवानजी अपना कर्तव्य समझते थे।

एक बार किसीके सुझाने पर राजाने दीवानजीसे कहा कि आज आप शेरोंको भोजन कराइये, दीवानजीने स्वीकार कर लिया और एक हलवाईसे एक टोकरेभर जलेबी बनाकर देनेको कहा। जलेबीका टोकरा वहां लाया गया जहाँ शेर बैठा था, दीवानजीने पिंजरा खोल देनेको कहा, जब पिंजरा खोल दिया तब दीवानजी स्वयं सिंहके सामने गए और वहाँ बैठे हुए शेरसे कहा कि हे मृगराज! यदि आपका स्वभाव मांस खानेका है तो मैं सामने मौजूद हूँ और यदि आपको अपनी भूख मिटानी है तो जलेबीका टोकरा मौजूद है, तब शेरने जलेबी खाना शुरु कर दिया, यह सब देख लोग चकित रह गए। इससे दीवानजीकी धार्मिक दृढ़ता और आत्मविश्वासका पता चलता है।

एक बार राजा शिकारके लिये जंगलमें गया। साथमें दीवानजीसे भी चलनेको कहा। रास्तेमें हिरणोंका समूह सामनेसे गुजरता हुआ जा रहा था, राजाने अपना घोड़ा उनके पीछे दौड़ाया तब दीवानजीने उन हिरणोंको सम्बोधन करते हुए कहा कि अय जंगलके हिरणो! जब रक्षक ही तुम्हारा भक्षक है तब तुम किसकी शरणमें भागे जारहे हो

ठहर जाओ। हिरणोंका समूह खड़ा हो गया। तब दीवानजी ने राजासे कहा कि ये हिरणोंका समूह खड़ा है, अब आप इनकी रक्षा करें या विनाश। राजाने सोचा जरा-सी आहट पाकर चौकड़ी भर कर भागने वाला यह डरपोक जानवर अपने समूह सहित निर्भय खड़ा है यह कम आश्चर्यकी बात नहीं है। अतः शरणमें आए हुओं पर अस्त्र चलाना ठीक नहीं है। मैं आजसे शिकार नहीं खेलूंगा। दीवानजीने भी राजासे उसी बातको पुष्ट किया। दीवानजी जैनी थे, उनमें जैनधर्मकी आत्माका मूर्तरूप विद्यमान था, उनका आत्मबल बढ़ा हुआ था अतः वह पशुओं पर भी अपना प्रभाव अंकित करनेमें समर्थ हुए। दीवानजीके जीवनकी यह घटनाएँ अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

दीवान अमरचन्दजी केवल जिनपूजन, सामायिक, स्वाध्याय ही नहीं करते थे; किन्तु वे इन्द्रियजय और प्राणि संरक्षणकी ओर अधिक ध्यान देते थे। उन्हें जैन सिद्धान्तका भी अच्छा परिज्ञान था। अनेक ग्रन्थोंको भी उन्होंने लिखवाया है। और अनेक ग्रन्थोंकी टीकाएँ भी विद्वानोंको प्रेरित कर बनवाई हैं। इन सब कार्योंसे उनकी धर्मप्रियताका पता चल जाता है। वे जो कुछ भी करते थे उस पर पहले विचार कर लेते थे बादमें उसे कार्यमें परिणत करते थे। वे राजनीतिमें भी दक्ष थे। परन्तु उनका व्यवहार छल-कपटसे रहित था। जैन समाजमें शिक्षा प्रचारके लिये भी प्रयत्न करते रहते थे, और अपने आर्थिक सहयोग द्वारा गरीब विद्यार्थियोंको उनके पठन-पाठनमें सहायता देते। यही कारण है कि विद्वान लेखकोंने दीवानजीके आर्थिक सहयोगको स्वीकार किया है, और उनका आभार व्यक्त किया है।

दीवानजीने संवत् १८७१ में पं० सदासुखजी सांगाको साथमें ले जाकर हस्तिनापुरकी यात्रा की थी। यात्रासे लौटने पर दीवानजीको राजा जगतसिंहजीके कार्यसे ८-१० दिन तक दिल्लीमें ठहरना पड़ा। उन दिनों पं० सदासुखजीने शास्त्रसभामें अपना शास्त्र पढ़ा और अपनी रोचक कथन-शैली द्वारा श्रोताओंका चित्त आकर्षित किया था। तब ला० सुगनचन्दजीने पंडितजीसे 'चरित्रसार' नामक ग्रन्थकी हिन्दी टीका बनानेकी प्रेरणा की और पंडितजीने उक्त ग्रन्थ-की टीका चार महीनेमें ही बना कर दे दी थी।

उस समय अंग्रेज सरकार जयपुर पर कब्जा करना चाहती थी, उसके लिये अनेक षडयन्त्र रचे जारहे थे। सांगानेरमें अंग्रेजी छावनी रहती थी, और वहाँ पोलिटिकल एजेंट भी रहता था। किसी समय कारणवश एक अंग्रेजको किसी मुहल्लेकी जनताने मार दिया था, जिसकी वजहसे जयपुरको उड़ाने या खत्म करनेकी बात सामने आई। दीवानजीके पता लगाने पर भी मारनेवालोंका कोई पता न चला। फलतः दीवानजीके सामने एक ही प्रश्न था और वह यह कि जयपुरकी रक्षा कैसे हो। जब रक्षाका अन्य कोई साधन ही नहीं बन पड़ा, तब नगरकी रक्षार्थ दीवान-जीने स्वयं अपनेको पेश कर दिया, और कहा कि यह कार्य मेरी वजहसे हुआ है अतः जो चाहें सो दण्ड दीजिये। पर नगरको नुकसान न पहुँचाइये। उन्होंने दीवानजीको बहुत समझाया कि आप जैन श्रावक हैं, जैनी लोग ऐसा कभी नहीं कर सकते। परन्तु फिर भी दीवानजीने अपने अपराधकी स्वीकृतिसे इंकार नहीं किया। तब उनसे कहा गया कि जानते हो इस भारी अपराधका दण्ड मृत्यु होगा। चुनांचे उसका अदालतमें बाकायदा मुकदमा चला और दीवानजीको कैद कर लिया गया, और अदालतने उन्हें फाँसीका हुक्म दिया गया और उनको बहुमूल्य सम्पत्तिका भी अपहरण कर लिया गया।

सम्पत्तिका अपहरण करनेसे पूर्व उनके घर वालोंको इस बातका कोई पता नहीं था कि दीवानजीने जयपुरकी रक्षार्थ कोई ऐसा गुरुतर अपराध स्वीकार कर लिया है और उससे उन्हें फाँसीकी सजा दी जावेगी। जब उन्हें फाँसी दी जानेका समय आया, तब उनसे कहा गया कि आपको जिस किसीसे मिलना हो मिल लीजिये। परन्तु उन्होंने उत्तर दिया कि मैं किसीसे भी नहीं मिलना चाहता, मुझे एक घण्टा ध्यान रखनेको अनुमति दी जाय। चुनांचे आत्म-ध्यान करते हुए एक घण्टेके अन्दर उनके प्राण पखेरू बिना किसी बाधाके उड़ गए। और उनके निर्जीव ध्यानस्थ शवको फाँसीके तख्ते पर रख दिया गया। जयपुर नगरकी रक्षा तो हो गई परन्तु एक महापुरुषको अपनी बलि चढ़ानी पड़ी। धन्य है उस वीर साहसी आत्माको, जिसने निर्भय होकर नगरकी रक्षार्थ अपने प्राणोंका उत्सर्ग कर दिया। यही कारण है कि देहलीके धर्मपुराके नये मन्दिरके परमात्म-प्रकाश नामक ग्रन्थकी प्रतिके संस्कृत टिप्पणके अन्तमें निम्न दो दोहे मिलते हैं, जो बहुत ही अशुद्ध रूपमें लिखे गये हैं, पर उनसे उक्त बातका समर्थन अच्छी तरहसे होता है।

श्रीदिवाण अमरेशजू कियो स्वर्ग (स्वयं) यह काम।
पंचसरावग(परमपद)ध्यान धरि,पायो सुख महाधाम ॥१॥

यह पुस्तक परमात्मा कर्म अष्ट अरि त्याग।
भेंट भये अमरेश जू सुभग चाहियत भाग ? ॥२॥

यह घटना संभवतः संवत् १८६२ की है उस समय दीवानजीकी उम्र ५२ वर्षके लगभग थी। दीवानजीके पुत्र ज्ञानचन्दजी थे। और ज्ञानचन्द्रजीके पुत्र उदयलालजी हुए। जिन्होंने जयपुरमें अजमेरी दरवाजेके बाहर एक बहुत सुन्दर नशियांजीका निर्माण कराया था। उनके पुत्र फतेलालजीका करीब २५ वर्ष हुए तब स्वर्गवास हो गया था। सम्भवतः इस समय दीवानजीके परिवारमें फतेहलाल-जीके पुत्र ईश्वरलालजी विद्यमान हैं।

महापुराण कलिकाकी अन्तिम प्रशस्ति

(गत किरण ७ से आगे)

संवत् खिति आणि जो जगि जणि, मोलासइ पंचासइले।
छठमी सुदि माह अरु गुरु लाह रेवती नखत पवणभले॥
दुवई—किइ कवि महापुरिम गुण कलिका सुइ संबोह-सारणे।
भवि पवोहणाइ णिइ-बुद्धि पयडहु भुवणि कइवणे॥
साहि अकब्बर दिल्ली मंडले, हुमाऊं नंदन चकत्ता खंडले।
पुब्वा पच्छिम कूट दुहाइ, उत्तर दक्खिण सब अपणाइ।
घर खंडहु रसाल पहुँचावइ, मालुसम पइ सेवा आवइ।
महाराज सिरिमान मह पति, भगवंत सुबलवंत अवनि अति।
गढ आंबेर सहित रोहितगढ़, समदमीम सुप्रतापकरी दिढ।
लुवाइणि पुरी सुभग रुचि सुन्दरु, सोहा णयरि समान पुरंदरु।
महर-हट्ट-बहु वाडी वग्गइ, कूवा वाई वहंति तडागइ।
कूरमवंसु उवन्न सुलक्खणु, अखैराज सिरिराज वियक्खणु।
सेवइ मंडलीइ महि मंडलि, जसु जंपइ जाचक खिति खंडलि।
मूलसंघ महिमा मंडलि, सरसइगच्छ मुणखिति खंडलि।
नंदि मनाइ गहण जिमि चंदे, कुंदकुंद मुनि राजपवंदे।
पद्मनंदि तहुपट्ट भट्टारक, हुव सुभचंद सोहंश्रुतसारक।
तहु जिपट्टि जिनचन्द्र भट्टारक, पहाचंदु परिवादि विंदारक।
तासु पट्टि भूमं लि कीरति, जाणैखिति सुचाइ चंदुकीरति।
तासु मनाई सुदिक्खा सासनि, मंत्र महोच्छवविधि जिन शासनि
खंडेलवालखिति मंडलिसावक, देव-सत्थ-गुरुभत्ति जुभावक।
लोहादिया सुवंस शिरोमणि, साह जगत जिनदेव सुलक्खणु
घत्ता—तहुवंसिजु सारो, गुण-गणधारो साधूसाह विख्यातजणे।
नंदण दो तासु सुभाग सुभग साल्हा पाल्हा सुभगमणे।
पाल्हा पुत्र तीन सुविच्छणु खेमो सुबुद्धि भासणे।
बोहिथ केसराज सुन्दर छवि सज्जनमन उल्हासणे॥
दूहडौ—खेमा पुत्त पंच-पंच जगि जोधा रतनो पढम जानिये।
राजौ खिति खैपाल टील ·········बोलहु प्रमाणिये।
बोहिथ तणा पुत्त दो मंडलि नेमित नेगौ विदू खले।
बू दू बीयो सुणहु महिमडलि हुव सो सुभग लखै॥
द्रुवई—साल्हा साहु सुघरि सोहोनिधि, नवजू नाम मंडले।
पुत्ता पंच कुक्खि उवण्णा कुंती जेम खंडले॥४॥
पढम पुत्र परसिद्ध लोइ, बिउभइ नामाजगि प्रगटु भोइ।
जगि जालपुजाणहि जुगतिजाणि,
चाचौखितिचाय वहै सुवाणि।
खेतउ खिति मंडलि जुगतिजाणि सीतउ पंचम पुहई पमाणि।
पढमो जु साह बीभासु सुगेहि, बाली भज्जा बहुगुण समेहि।
छह पुत्र उवण्णा कुक्खितासु, दोदा गरु पढमजु चिति उल्हासु।
फलहू जीणो समरत्थ जुत्ति निरपुत्र सुभग सैंग्या सुचित्ति।
रणमल घरणि पोमावसिद्ध, संघनायक पंचजु पुत्तलद्ध।
भीवौ गोइद साया सुइण्ण, ईसर चांपौ सुन्दर सुमन्न।
समरत्थ पुत्त उपपन्न तीनि, सरवण फाल्हौ नल्है सुचीनि।
बाला घरितोय विख्यातसार, राइमल ऊंधासे गणति चार।
केसा घरि पुत्त उवन्न दोय, ऊदौ घानो जगि जुगति जोय।
सल्हा घरि मारै एक पुत्त, उपपन्न सुतासुत अति बहुत्त।
जालपुके नन्दन चार नाम सहसै नाथु वीले भवान।
चाचौ घरि राणी पुत्र तीन, मूलो कान्हो बोहिथ सुमीत।
सीहा धरि पुत्त उवन्न दोइ, खेतउ गूजर अगि जुगति जोइ।
तहुभज्ज साहु खेतउ सुदानि, रावल देवलिपुरु अधिक मानि।
तहु घरि सुभज्ज सीहा सुसीम, पतिव्रता सुवउ पालण सुनीम।
पोखण सुहि सज्जण जणाणदानि; पुरजन परिबारहुअधिकमानि।
घत्ता—घरि नारि अनूप सलहि भूप शील दानविधि लखणवर
तपत्याग अचार वउविधि सार साजु नाम जपोणुभर
दुवई—साकुक्खि पुत्र तहउवन्ना सुन्दर अथइ सुभत्तणो।
झाभू साहु बीयो जोखो जगि ठाकुर त्रितिइ सुभमणो
तहु कुक्खि उवन्ना तीनि पुत्त, तिन्नेव सकल लक्खण संजुत्त।
तहु पढम पुत्त झाभू विसाल, सो राजमानि बहु भागिभाल।

बलवंत सुभट पर भूमिसोह, रावल देवल जसु लिहहि लीह ।
तहु घर मंडन सोहा सुनारि, नामेण सुभग पूरा विचारि ।
सा सती सुलक्खण पयडलोइ, तहु उववण णंदण जुदोइ ।
पेमराज पढमगुण गण विसाल, सोहुवो विचक्खण धवलचाल
तहुभज्जा भागा भागवंति, तहु णंदण तीनि हुवा सुमंति ।
रुपसीसाहु सुन्दर अनूप, वनराज विचिक्खण सुभगरूप ।
पूरणमल पूरणचन्द्रभाल, उपपन्न विचक्खण तिंतियबाल ।
गिरिराज दुतिय नन्दन सुसाह, तसु भज्जा तेजी गुण अगाह
तहु नंदन होइ वियाणि चित्त, जूगर परमानन्द वे सुमत्त ।
खेतउ सुतनि वीवो जु पुत्त, जोखराज मुणो गुणकल-संजुत्त ।
दो भज्जा तहु घरि धम्मधीरि, मोली मोमा नामा वरु सरीरि
तितियो नंदनु जगि ठकुरसाह, विज्जा विणोइ सुइवहइवाहु
सो-देव-सत्थ गुरुभत्ति सन्तु, सज्जन-मनकमल-विकासुवंतु ।
पंडितजन पेमवहई सुचित, रुचिराग गानगुण वहण चित्ति ।
संगीय सत्थ लंकार छन्द, कवि कवित काल आनन्द कन्द ।
घरि भज्जा तहु सुभसील मालि, जति-मात्रय पोखण पुण्णपालि
सकुटुंब मानि तामहतचित्ति, जाचक जस जंपइ जगति कित्ति ।
जसु नाम रमाई सुभग सार, घरमंडण सा आचार सार ।
दो पुत्र उवन्ना कुक्खितास, मंगण जण जिह वहई आस ।
गोविन्ददास गरउ समुद्द, सज्जनजन पीड़ वहंति भद्द ।
सो सामिभत्त सुन्दर भिराम, सोहंति अवइतन कलित काम
घरि नारि नासु जगि जण भणंति, सा जाति विलाली उच्चरति ।
तहु कुक्खि उवण्णा पुत्त तिण्णि, जसवंतु सुजसुजगि महलचिण्णि
कलि केसवदास विचित्त लोइ, तीसर जुत किउ बलिभोइ ।
धम्महु रुचि बीयो धम्मदास मंगणजण जो पुरवंत आस ।
सो राजमानि श्रुतवंत सार, जो वहइ कुटुंवइ सयल भार ।
महिमा महंतु गुरु देवभत्त, नवसत्थसार सुमरण सुचित्त ।
धम्मदास हुघरि सुन्दर सुभज्ज, सोहाइमाणि सुन्दरि सुकज्ज
पढमा झाबू जायां विवेइ, दूजी बाल्हा सुन्दरि सुगेह ।
झाबू जुपुत्र जायां सुअंगि, णामेण साहुडगहु गुणगि ।
सो सयल कला सोहायमाण, अति बुधिविवेक बहुकल वंधाण
बीयोजु पुत्त उववन्नसार, सुन्दर सुदास गुण सुभगसार ।
घत्ता—जगिजाणि सुसाहु अवनिअगाहु ठाकुरनाम प्रसिद्धजयो

तिहि कियो सुसार चरित अपार कथा पुराणिक पुरसतयो
दुवई—किइवहुवो सुग्रन्थ जमकामहं जुत्तिगत सुभग सासयो ।
कलिका पुरुष सवजु गुणहत्तरि अम्बहु गुण पयासयो ॥
णंदउ जिन सासणि धम्मसारु, णंदउ सिरि गुरु पदाधिकारु ।
णंदउ भट्टारक चंदकित्ति, णंदउ.......... . ...॥
आइरिय पवर जतिवग्ग सार, णंदउ अज्जिका ब्रह्मचार ।
वाइ पांडे संघाट भित्ति, णंदउ मुनि अवर आचारमित्ति ।
मंडलि नंदउ जति नेमचन्द, णंदउ पंडित जग सार णरिंद ।
णंदउ सावय परमेट्ठिभत्त, णंदउसिंघासण राजथत्त
णंदउ तजा परजासुचित्त''' '' ।
णंदउ दिल्ली मंडलु सयल देस, पातिसाह अकबर नरेस ।
आगरो फतेपुर गढ़गुलेर, णंदो लहोर रुहितास गौर ।
पटणा हाजीपुर समद सीम, ढूंढाहड ढाढौ अधिक सीम ।
आंवेरी स-सागर चाल णइर, बुंदी नोडो गढ अज्जमइर ।
दोसालवणि मेवाड़ सहर, वइराट अलवर नारनउर ।
मानसिंघ महीपति सकल साज, आंवेरिपुरी राजाधिराज ।
लूडनि चौवाराइ सकल साज, णंदहु कूरम कलि अखैराज ।
णंदहु कुटुम्ब सखि पुत्त पउत्त, णंदहु सामंत पुरोहि मत्त ।
मन्त्री पहान पोहित सुभाइ, णंदउ योगीजन चित सुखाइ ।
सामंत संत णंदहु सुधीर, णंदउ कवि व्यास विख्यात वीर ।
णंदउ अंतेवर सुइण विंदु, णंदउ कुमार जस पयडुचंदु ।
णंदउ वुधेउ चउसंघ सार णंदउ साहेमि सुधम्म (फार)
णंदउ लूडणि पुरि सयल लोइ, णंदउ जिणसासण जण पमोइ
रायाहिराव सिरि अखैराज, णंदउ कुटुम्ब सखि सुइण साज ।
णंदउ णिम्मल कित्ति सुधार, गिरिविसाल गुरु जस अपार ।
णंदउ कलिका जग सासु लोह. णंदउ सुनाम कलि ठकुरसीहु
वरसहिं सुमेघ निपजो सुधान, सबतूय निपज्जहिं अति अमान
दुरभिक्ख पणासो रोय-हारि, मइ जइ.लोइहु चोर मारि ।
घत्ता—जिणसासणि धम्मु जोणिछम्मुससरहु पुण पवित फलो
कलिकासुपयासइ भवियण भावइ बढहु अंतरसुभगइबो
दुवई—सो अग्रयाणि धरौ अंगालगत्त अथहु छंद हीणयं ।
संवारहु सुविधि पंडितजन तुमतो जगि पमाणयं ॥७॥
॥ इति महापुराण कलिका समाप्त ॥

मुनियों और श्रावकोंका शुद्धोपयोग

(पं० हीरालाल जैन शास्त्री)

भगवती आराधनाकी 'विजयोदया' टीकामें टीकाकार श्रीअपराजितसूरिने शुद्धोपयोगके मुनि और गृहस्थकी अपेक्षा दो भेद किये हैं। आजकल सर्वसाधारणमें शुद्धोपयोगकी चर्चा अधिक है, पर वह मुनि और श्रावकोंके किस रूपमें होता है, इसके विषयमें लोगोंको जानकारी कम है। अतएव यहाँ पर उक्त टीकाका कुछ विवरण देना असंगत न होगा।

विजयोदया टीकाकारने गाथा नं० १८३४ की टीका करते हुए 'यतेः शुद्धोपयोगःइत्थम्भूतः जिन छह पद्योंको उद्धृत किया है, वे हिन्दी अनुवादके साथ इस प्रकार हैं:—

जीवान्नहन्यां न मृषा वदेयं,चौर्यंनकुर्यान्न भजेयभोगान्।
धनं न सेवेय न च त्तपामु भुंजीय कृच्छ्रेऽपि शरीरतापे
रोषेण मानेन च मायया च, लोभेन चाहं बहुदुःखकेन।
युंजेय नारंभ-परिग्रहैश्च, दीक्षां शुभामभ्युपगम्य भूयः।
यथानभायाच्चलमौलिमालो,भिक्षांचरन्कामुकबाणपाणिः
तथा न भायां यदि दीक्षितः सन् वहेय दोषानवहायलज्जां।
लिंगं गृहीत्वा महतामृषीणां, अंगंच विभ्रत्परिकर्महीनं।
भंगं व्रतानामविचिंत्यकष्टं,संगं कथं काम गुणेषुकुर्याम्।
चर्यामनार्यांचरितामधैर्या धैर्येणहीनाः कृपणत्वमेत्य।
कथं वृथामुण्डशिरश्चिरेण, लिंगी भवन्नंगविकारयुक्तः।
इत्येवमादिः शुभकर्मचिंता सिद्धार्हदाचार्यबहुश्रुतेषु।
चैत्येषु संघेजिनशासने च भक्तिर्विरक्तगुणरागिता च।

अर्थात्—मैं जीवोंको नहीं मारूंगा, असत्य नहीं बोलूँगा, चोरी नहीं करूंगा, भोगोंका नहीं भोगूंगा, धनको नहीं ग्रहण करूंगा, शरीरको अतिशय कष्ट होने पर भी रात में नहीं खाऊंगा। मैं पवित्र जिन दीक्षाको धारण करके क्रोध, मान, माया और लोभके वश बहु दुख देने वाले आरम्भ और परिग्रहसे अपनेको युक्त नहीं करूंगा। जैसे अपने मुकुटपर माला धारण करने वाले तथा हाथमें धनुष-बाणको लेकर घूमने वाले किसी तेजस्वी राज पुरुषका भीख मांगना योग्य नहीं है उसी प्रकार सिंहवृत्ति वाली जिन दीक्षाको धारण करके मेरा आरम्भ—परिग्रहादिकको ग्रहण करना भी योग्य नहीं है।

मैंने पूज्य महर्षियोंका लिंग (वेष) धारण किया है, अब यदि मैं उसे धारण करते हुए व्रतोंका भंग करूँगा और लज्जाको छोड़कर दोषोंका धारण करने वाला बनूंगा तो यह महान् कष्टकी बात होगी, दीक्षाको धारणकर मैं काम-विकारमें अपनी आसक्ति कैसे करूँ? धैर्यको छोड़कर चाहे जैसी प्रवृत्ति करना यह अनार्यपनेका सूचक है। धैर्य छोड़कर और हीन होकर नीच प्रवृत्ति करना योग्य नहीं है। यदि मेरे अंगमें विकार रहेगा तो व्यर्थ मस्तक मूंडकर यातका वेष धारण करना निरर्थक है। इस प्रकार आरम्भ-परिग्रहादिकसे विरक्त होकर शुभकर्मके चिन्तनमें अपने चित्तको लगाना सिद्ध, अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय, जिन चैत्य, संघ और जिनशासनकी भक्ति करना और इनके गुणोंमें अनुरागी होना तथा विषयोंसे विरक्त रहना यह मुनियोंका शुद्धोपयोग है।'

उक्त पद्योंके अनन्तर टीकाकारने लिखा है:—

'विनीतता, संयमोऽप्रमत्तता, मृदुता, क्षमा, आर्जवः सन्तोषः संज्ञाशल्यगौरवविजयः, उपसर्ग - परीषहाजयः, सम्यग्दर्शनं, ताद्विज्ञानं, सरागसंयमः, दशविधं धर्मध्यानं, जिनेन्द्रपूजा, पूजोपदेशः, निःशंकित्वादिगुणाष्टकं, प्रशस्त रागसमेता तपोभावना, पंचसमितयः,' तिस्रो गुप्तयः इत्येवमाद्याः शुद्ध प्रयोगाः।

अर्थात्—विनीत भाव रखना, संयम धारण करना, अप्रमत्तभाव रखना, मृदुता, क्षमा, आर्जव और सन्तोष रखना, आहार भय मैथुन परिग्रह इन चार संज्ञाओंको, माया मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्योंको, तथा रस, ऋद्धि और सात-गौरवोंको जीतना, उपसर्ग और परीषहों पर विजय प्राप्त करना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सराग-संयम धारण करना दश प्रकारके धर्मोंका चिन्तवन करना, जिनेन्द्र पूजन करना, पूजा करनेका उपदेश देना, निःशंकितादि आठ गुणोंको धारण करना, प्रशस्तरागसे युक्त तपकी भावना रखना, पाँचसमितियोंका पालना, और तीन गुप्तियों का धारण करना, इत्यादि ये सब मुनियोंका शुद्ध प्रयोग है।

इसके आगे गृहस्थोंका शुद्धोपयोग वर्णन करते हुए टीकाकार लिखते हैं:—

"गृहिणां शुद्धोपयोगः उच्यते—गृहीतव्रतानां धारण-पालनयोरिच्छा, क्षणमपि व्रतभंगोऽनिष्टः, अभीक्ष्णं यतिसंप्रयोगः अन्नादिदानं श्रद्धादिविधि पुरस्सरं, श्रमनोदनाय भोगान् भुक्त्वापि स्थगितशक्ति-विगर्हणं, सदा गृहप्रमोक्षप्रार्थना, धर्मश्रवणोपलंभात्म-मनजोऽति तुष्टिः। भक्त्या पंचगुरुस्तवनप्रणामेन

तत्पूजा, परेषां च स्थिरीकरणमुपबृंहणं, वात्सल्यं, जिनेन्द्रभक्तानामुपकारकरणं, जिनेन्द्रशास्त्राभिगमः, जिनशासनप्रभावना इत्यादिकः ॥

अर्थात्—ग्रहण किये हुए व्रतोंके धारण और पालन करनेकी इच्छा रखना, एक क्षणके लिए भी व्रत-भंगको अनिष्ट-कारक समझना, निरन्तर साधुजनोंकी संगति करना, श्रद्धा-भक्ति आदिके साथ विधिपूर्वक उन्हें आहारादि दान देना, श्रम या थकान दूर करनेके लिए भोगोंको भोग कर भी उनके परित्याग करनेमें अपनी असामर्थ्यको निन्दा करना, सदा घर-बारके त्याग करनेकी वांछा रखना, धर्मश्रवण करने पर अपने मनमें अति आनन्दित होना, भक्तिसे पंच परमेष्ठियोंकी स्तुति प्रणाम द्वारा पूजा करना, अन्य लोगोंको भी स्वधर्ममें स्थिर करना, उनके गुणोंको बढ़ाना और दोषोंका उपगूहन करना, साधर्मियों पर वात्सल्य रखना, जिनेन्द्रदेवके भक्तोंका उपकार करना, जिनेन्द्र शास्त्रोंका आदर-सत्कार-पूर्वक पठन-पाठन करना, और जिनशासनकी प्रभावना करना, इत्यादिक-गृहस्थोंका शुद्धोपयोग है।

उपर्युक्त विवेचनसे शुद्धोपयोगके कार्योंका और मुनियों तथा श्रावकोंके शुद्धोपयोगकी मर्यादाका कितना ही स्पष्टीकरण हो जाता है।

हस्तिनागपुरका बड़ा जैन मन्दिर

(परमानन्द जैन शास्त्री)

हस्तिनागपुर× नामका एक नगर प्राचीनकालमें अपनी समृद्धि, विशालता और वैभवके लिये प्रसिद्ध था। इस नगरमें अनेक वीर पराक्रमी राजा हो गए हैं जिनकी भौंहोंके विकारसे शत्रुदल कांपते थे। अकंपनादि मुनियोंपर बलिनामक ब्राह्मण द्वारा किये गये घोर उपसर्गोंका निवारण हस्तिनागपुरके राजा महापद्मके सुपुत्र महामुनि विष्णुकुमारके द्वारा हुआ था। उसी समयसे रक्षाबंधन नामका पर्व लोकमें प्रथित हुआ है। कहा जाता है कि इस नगरको सोमवंशी राजा हस्तिनने बसाया था॥। इस कारण बादमें इस नगरका नाम उन्हींके नामपर प्रसिद्धिको प्राप्त हुआ जान पड़ता है। यह राजा भगवान ऋषभदेवके पौत्र कुरुका वंशज था। सोमवंशी राजा श्रेयांसने भगवान ऋषभदेवको एक वर्षके बाद सबसे पहली पारणामें इक्षुरसका आहारदान वैशाख सुदि तीजके दिन दिया था। उसी समयसे वैशाख शुक्ला तृतियाका दिन अखी या अक्षयतृतियाके नामसे लोकमें विश्रुत है और राजा श्रेयांसके महादानी होनेकी प्रसिद्धि भी उसी समयसे हुई है। इससे यह नगर प्राचीन कालसे ही अनेक ऐतिहासिक घटनाओंका प्रधान केन्द्र रहा है।

जैनियोंके शांतिनाथ, कुन्थनाथ और अरहनाथ नामक तीन तीर्थंकरोंके गर्भ, जन्म और तप ये तीन २ कल्याणक× इसी नगरमें हुए हैं। ये तीनों ही तीर्थंकर चक्रवर्ती राजा भी रहे हैं।

यह नगर कुरुजाङ्गल देशके अन्तर्गत था। कौरव-पांडव भी इस नगरमें रहे हैं। पुरातन सरकारी कागजातोंमें भी इसका उल्लेख कौरव पाण्डव पट्टीके नामसे उल्लिखित मिलता है। महाभारतसे पूर्व इस नगरकी खूब प्रसिद्धि रही है। इस नगर पर शासन करने वाले नाग राजा भी हुए हैं। इस नगरको केवल राजधानी बननेका सौभाग्य ही प्राप्त नहीं हुआ किन्तु यह महामुनियोंकी तपोभूमि भी रहा है। उन नर पुंगव योगीन्द्रोंकी तपश्चर्या से इस नगरकी भूमि पवित्र हो गई थी। इसीसे इसे तीर्थभूमिके नामसे भी उल्लेखित किया जाता है।

× हस्तिनागपुर नगरका नामोल्लेख हरिषेण कथाकोशमें अनेक कथा-स्थलोंपर हुआ है और उसे कुरुजाङ्गलदेशमें स्थित होना बतलाया है। 'कुरुजाङ्गल देशोऽस्तिहस्तिनागपुरं परम्।' —देखो, हरिषेण कथाकोष, १२, ४७, ६४, ८३ नम्बरकी कथाएं।

॥ महाभारत तथा हिन्दू पुराणोंके अनुसार जिस राजा हस्तिनने इस नगरका नाम हस्तिनागपुर अंकित किया था, वह शकुन्तला पुत्र सर्वदमन भरतकी पांचवीं पीढीमें हुआ था, उसके बहुत पूर्व पुरुवंशी दुष्यन्त एवं भरतकी राजधानीका यही नगर बतलाया जाता है।

× शान्तिकुन्थ्वरतीर्थेशान जन्मनिष्क्रमणानि च।
वन्दनार्थं मिहायस स्वद्धिंच विलोकितुम् ॥२१॥
— हरिषेणकथाकोष पृ० १४७

हस्तिनागपुरके टीलेकी खुदाईमें अनेक प्राचीन मिट्टीके बर्तन आदि पुरातत्त्वकी सामग्री उपलब्ध हुई है। पर उसमें अभी जैन संस्कृतिके पुरातन अवशेष मिले यह कुछ ज्ञात नहीं होता। हो सकता है कि उस टीलेमें और उसके आस-पासकी भूमिमें नीचे दबे हुए जैन संस्कृतिके पुराने अवशेष उपलब्ध हो जांय। क्योंकि श्वेताम्बरोंने अपनी निसि (निषधा) जिस टीले पर बनाई थी उसकी नीव खोदते समय उसमें संवत् १२२३ की एक अखण्डित खड्गासन दिगम्बर प्रतिमा शान्तिनाथकी प्राप्त हुई थी ❀। जो आज भी मुख्य मन्दिरके पीछे बरामदेके कमरेमें विराजमान है। इससे स्पष्ट जाना जाता है कि यहाँ दिगम्बर जैन मन्दिर रहे हैं। पर वे कब और कैसे विनष्ट हुए यह इस समय बतलाना संभव नहीं है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जैन लोग प्राचीनकालसे इस नगरको अपना तीर्थ मानते आए हैं और उसकी पूजा वंदना करनेके लिए समय समय पर आते रहे हैं और अब भी आते हैं।

मालूम होता है गंगानदीके पूरके कारण इस नगरका विनाश हुआ है। इसीसे यह विशाल नगर अब खण्डहरके रूपमें विद्यमान है। परन्तु जैन यात्रियोंको यहाँ ठहरने आदिकी असुविधा होनेसे यात्रिगण सुबह बहसूमासे आते थे और शामको वापिस चले जाते थे। उस समय कोई जैन मन्दिर नहीं था और न ठहरनेके लिए जैन धर्मशाला ही थी, इसीसे हस्तिनागपुरमें जैनमन्दिरके बनवानेकी आवश्यकता महसूस की जा रही थी। जहाँ आज मन्दिर बना हुआ है वहाँ एक ऊँचा टीला था, और यात्री जन बहसूमासे आकर निसिकी यात्रा कर इसी टीले पर एक सामियाना लगवा देते थे, और उसके नीचे पंचायत हुआ करती थी। इस टीले पर यात्री जन जेठ वदी १४ के दिन यहाँ एकत्रित होते थे। और पंचायतमें विविध प्रकारके विचारोंका आदान-प्रदान होता था। और यहाँ मन्दिर बनानेकी चर्चा भी चलती थी पर कार्य रूपमें परिणत नहीं हो पाती थी। पंचायतमें देहली, मेरठ, बिजनौर, मुजफ्फर-नगर खतौली, शाहपुर और सहारनपुर तथा आस-पासके ग्रामोंकी जनता सम्मिलित होती थी। और शामका भोजन यहीं पर कर सब लोग बहसूमें चले जाते थे। मन्दिरके दरवाजेके बाहर जो कुवाँ बना हुआ है वह कुवाँ पुराना ही है उसीका पानी पिया जाता था। हस्तिनागपुरका यह सब इलाका तत्कालीन गूजर राजा नैनसिंहके आधीन था। पट्टी कौरवान और पट्टी पाण्डवानके नामसे वहाँकी भूमि मशहूर थी। वर्तमान दि० जैन मन्दिर पट्टी कौरवानमें है।

हस्तिनागपुरकी यात्राओंमें उस टीले पर जिन मन्दिर बनवानेकी अनेक बार चर्चा चली; परन्तु अभी तक कोई ऐसा सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ था जिससे वहाँ मन्दिरका निर्माण-कार्य होने लगता। चूंकि आस-पासके गूजर लोग इस बातके लिये राजी नहीं थे कि यहाँ जैन मन्दिर बने। यद्यपि जैनियोंका उनसे कोई विरोध भी नहीं था, फिर भी वे मन्दिर बननेके विरोधी थे, इसीसे मन्दिर बननेकी चर्चा उठ कर रह जाती थी। पर कोई ऐसा साहसी व्यक्ति सामने नहीं आता था जो उस पुनीत कार्य को सम्पन्न करादे।

संवत् १८५८ (सन् १८०१) में जेठ वदी चतुर्दशीके दिन जैनी लोग पिछले वर्षोंकी तरह यात्राको आए थे। बहसूमासे एक सामयाना लेजाकर उसी टीले पर लगाया गया और निसि यात्राके बाद पंचायत शुरू हुई। पंचायतमें मन्दिर बनवानेकी बात भी उठाई गई, और कहा गया कि प्रति वर्ष पंचायतमें यह मसला सामने जब यहाँ आते हैं ध्यानमें आता है परन्तु खेद है कि हम अब तक उसे कार्यमें परिणत नहीं कर सके। बहुत विचार-विनिमयके बाद दिल्ली निवासी राजा हरसुखरायजीने ❀ सब पंचोंके समक्ष यह प्रस्ताव रक्खा कि यहाँ मन्दिर जरूर बनना चाहिए और उस मन्दिरके निर्माणमें जिस कदर भी रुपया खर्च पड़े वह सब मैं भेजता रहूँगा। पंचायतमें उस समय शाहपुर जिला

❀ ला० हरसुखरायजी हिंसारके निवासी थे, इनके चार भाई और थे जिनका नाम तनसुखराय मोहनलाल आदि था। और वे हिसारसे बादशाहकी प्रेरणा पर देहली आए थे। बड़े ही धर्मात्मा और मिलनसार सज्जन थे। अग्रवाल वंशमें समुत्पन्न हुए थे। शाही खजांची थे, और राजाके खिताब अथवा उपाधिसे विभूषित थे। सरल स्वभावी और कर्तव्य निष्ठ थे। इनके पुत्रका नाम सुगनचन्द था जो गुणी और तेजस्वी तथा काम काजमें चतुर व्यक्ति थे। इन पर लक्ष्मीकी बड़ी कृपा थी, वैसे ही वह सच्चरित्र और प्रतिभा सम्पन्न थे। उनकी अनेक कोठियाँ थीं। जयपुर, अलवर, भरतपुर और आगरा। ला० हरसुखरायजीने देहली, हिंसार, पानीपत, करनाल, सुनपत, शाहदरा, सांगानेर और हस्तिनागपुर आदिमें अनेक जैन मन्दिरोंका निर्माण कराया था, उनमें लाखों रुपया खर्च करने पर भी उन्होंने कहीं पर भी अपना नाम

मुजफ्फरनगरके निवासी ला० जयकुमारमलजी भी उपस्थित थे। और जिनका खास सम्बन्ध बहसूमेके राजा नैनसिंहसे था। वे जब यात्राको आते थे तब राजा नैनसिंहके यहाँ ही ठहरते थे। उस समय भी वे उन्हींके यहाँ ठहरे हुए थे और पंचायतमें मौजूद थे। उनसे भी राजा हरसुखरायजीने प्रेरणा की, और कहा कि यह सब कार्य आपको सम्पन्न कराना है। उक्त राजा साहबने अपनी पगड़ी पंचायतमें रख दी और कहा कि मन्दिर निर्माणमें जितना भी रुपया लगे मैं दूंगा। आप मन्दिर बनवानेकी व्यवस्था कराइये। इस तरह विचार-विनिमयके बाद सब लोग खाना खाकर बहसूमे चले गये। बहसूमे पहुँच कर ला० जयकुमारमलजी× राजा नैनसिंहजीके यहाँ पहुँचे। यद्यपि राजा नैनसिंह ला० हरसुखरायजीसे परिचित ही थे और शाही खजांची होनेके कारण वे उनका आदर भी करते थे। राजा नैनसिंहके शाही रुपयेकी अदायगी राजा हरसुखरायजीने अपने पाससे एक लाख रुपया देकर कराई थी। इसीसे सन् १८७१ में लिखे जाने वाले मेरठके इतिहासकी एक पुस्तकमें हस्तिनागपुरके मन्दिर बनवानेके सम्बन्धमें निम्न पंक्तियां लिखी हुई हैं और वे इस प्रकार हैं:—

'तखमीनन साठ पैसठ बरस हुए कि यह डेरा बअहद नैनसिंहके इस तौर पर बना था कि राजा मौसूफको कुछ रुपया शाह देहलीका देना था और उसमें राजा साहब बमुकाम देहली थे। जब सबील अदाई रुपयेकी न बन आई तो लाला हरसुखराय नामी खजांची बादशाह देहलीने, जो वह जैन धर्मी था, बिल एवज राजा साहब मौसूफका रुपया इस शर्त पर अदा किया कि राजा साहब डेरा पारसनाथ बमुकाम हस्तिनापुर बनवा दें, किस वास्ते कि यह जगह बहुत पवित्तर समझी जाती है और जमींदारान् गनेशपुर इनको मानअ तामीर थे। चुनांचे राजा साहबकी दवाग़तसे मरावगी अपने मक़सदको पहुँचे।'

—देखो, जैनसिद्धांतभास्कर भा० ११—१

इससे स्पष्ट है कि राजा हरसुखरायजी हस्तिनापुरमें मन्दिर निर्माण करानेके लिए कितने उत्सुक थे और बराबर प्रयत्नमें लगे हुए थे, परन्तु गनेशपुरके जमींदारोंके भारी विरोधके बावजूद मन्दिर निर्माणका कार्य शुरू करानेमें वे संकोच कर रहे थे. कि व्यर्थमें झगड़ा क्यों मोल लिया जाय पुनीत कार्यको सरल तरीकेसे ही सम्पन्न करना उचित है। इसीसे ला० हरसुखरायजीने राजा नैनसिंहकी स्वीकृति प्राप्त करानेके लिए ला० जयकुमारमलजीको प्रेरित किया था; क्योंकि ये राजा नैनसिंहके घनिष्ठ मित्र थे।

उस समय जयकुमारमलजीके चेहरे पर कुछ उदासी छाई हुई थी राजा नैनसिंहजीने उन्हें देख कर पूछा कि

× लाला जयकुमारमलजी भी अग्रवाल कुलमें उत्पन्न हुए थे। और बाल ब्रह्मचारी थे। आपकी एक दुकान मेरठमें थी। एक बार राजा नैनसिंहजीको कुछ रुपयोंकी आवश्यकता पड़ी, तब ला० जयकुमारमलजीने मेरठ दुकानसे ५ हजार रुपया दे दिया था, बादमें वह रुपया राजा साहबने वापस भेज दिया था। राजा साहबसे उनकी घनिष्ट मित्रता थी। इसीसे वे उनके यहाँ ठहरते थे। वे राजाको समय-समय पर समुचित सलाह भी दिया करते थे। अतः राजाका उन पर प्रेम होना स्वाभाविक है। आपने मन्दिर निर्माणमें यथेष्ट कर्त्तव्यका पालन किया है। कहा जाता है कि उन्हीं दिनों शाहपुरमें भी मन्दिरका निर्माण कार्य भी शुरू हुआ था, उसका कार्य भार भी आप पर था। जयकुमारमलके भाई अभयकुमारजी थे। अभयकुमारके पुत्र शीदयालमल थे। जिन्होंने हस्तिनागपुर मन्दिरके बड़े दरवाजे बनानेमें सहयोग प्रदान किया था उनसे दो पीढ़ियाँ प्रारम्भ हुईं, मंगमलाल जयकुमारमलके पोते थे और संगमलालके प्रपौत्र ला० त्रिमलप्रसाद जी, जो तृतीय पीढ़ीके हैं इस समय शाहपुरमें मौजूद हैं और वहींके मन्दिरका प्रबन्ध करते हैं। उनकी दुकान (कसरेट) बर्तनोंकी है।

अंकित नहीं किया। उन्होंने नामके लिए मन्दिर नहीं बनवाए थे किन्तु धार्मिक भावनासे प्रेरित होकर ही सब कार्य किया था, आजकल जैसी यशोलिप्सा और नाम करनेका चाह उनमें नहीं थी। वे जैसे श्रीमान थे वैसे ही उदार और चरित्रनिष्ठ भी थे। उनकी प्रकृतिमें उदारता और भद्रता दोनों ही बातें सम्मिलित थीं। वे न्याय प्रिय व्यक्ति थे। उस समयमें उनकी धार्मिकवृत्ति स्पृहाकी वस्तु थी। ऐसा कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं था जिसमें वे भाग नहीं लेते हों। प्रतिदिन शास्त्र सभामें जाते थे। वे शुद्धाम्नायके प्रेमी थे तेरह पन्थके अभ्युदयमें उन्होंने अपना पूर्ण सहयोग दिया था और विद्वानोंसे उनका भारी प्रेम था, वे गुणीजनोंको श्रद्धा और आदरकी दृष्टिसे देखते थे। और गुणीजनोंमें भी उनका आदर पाया जाता था। इनके जीवन-परिचय पर फिर कभी यथोचित प्रकाश डाला जावेगा।

मित्र ! आज आप चिन्तित क्यों हैं ? क्या पंचायतमें कोई झगड़ा हुआ या अन्य कोई चिन्ताजनक बात हुई, जिससे आप सचिन्त दीख रहे हैं। तब जयकुमारमलजीने कहा राजा साहब ऐसी तो कोई बात नहीं हुई; किन्तु सब लोगोंने और खास कर राजा हरसुखरायजीने यह खास तौरसे आग्रह किया है कि उस टीले पर जैनमन्दिरका निर्माण करना है। और उसे आप करा सकते हैं। उन्होंने पंचोंमें मेरे सामने पगड़ी भी उतार कर रख दी थी। इसीसे चिन्तित हूँ कि यह विशाल कार्य कैसे सम्पन्न हो। तब राजा नैनसिंहजीने ला० हरसुखरायजी और जयकुमारमलजीकी बात रखते हुए कहा कि मित्र ! इसमें चिन्ताकी कोई बात नहीं है आप खुशीसे जहाँ चाहें वहाँ मन्दिर बनवाइये। जयकुमारमलजीने कहा कि आप कल सबेरे नींवमें पाँच ईंटें अपने हाथसे रख दीजिये। राजाने स्वीकृति दे दी और जयकुमारमलजीने राजा हरसुखराय तथा वहसूमे वालोंसे कहा कि कल सबेरे ही हस्तिनागपुरमें मन्दिरकी नीव रक्खी जावेगी। अतः राज मजदूर और सामान लेकर हस्तिनागपुर चलना है। चुनांचे सब लोग प्रातःकाल उस टीले पर गये और राजा नैनसिंहजीने ५ ईंटें उठाकर अपने हाथसे नींवमें रख दीं। इस तरहसे जिन मन्दिरके निर्माणका कार्य शुरू हो गया। जयपुरसे कारीगर भी आ गये और लगभग पाँच वर्षके परिश्रमके परिणामस्वरूप मन्दिरका विशाल शिखर बन कर तय्यार हो गया। इस मन्दिरके निर्माण कार्यकी देख-रेख ला० जयकुमारमलजी शाहपुर करते थे। यद्यपि राजा हरसुखरायजीकी ओरसे भी वहाँ आदमी नियुक्त था जो कार्यकी देख-भाल करता था, सामान लाकर मुहय्या करता था और रुपये पैसेका हिसाब भी रखता था। परन्तु कार्यका निर्देश जयकुमारमलजी करते थे, रुपया भी संभवतः उन्हींकी मार्फत आता था और वे प्रत्येक महीने शाहपुरसे हस्तिनागपुरके लिए आते थे और राजा नैनसिंहके यहाँ ठहरते थे और मन्दिरके निर्माण-कार्यका निरीक्षण कर आवश्यक कार्यकी सूचनाएँ करके वापिस चले जाते थे। यद्यपि बीचमें लाला हरसुखरायजी भी मन्दिरके निर्माणका कार्य देखनेके लिए जाते थे। और अपने गुमास्तेके जरिये सब बातें मालूम करते रहते थे। इस तरह हस्तिनापुर मन्दिरके विशाल शिखरका निर्माण ५ वर्षमें बन कर तय्यार हो गया। मन्दिरका यह शिखर बड़ा मजबूत बनाया गया है और आपत्काल आने पर उसमें सुरक्षाका भी ध्यान रखा गया है। मन्दिरके चारों ओर जो सिदरी बनी हुई हैं वे सब ला० हरसुखरायजीकी बनवाई हुई हैं। हाँ बाहरकी कुछ सिदरी ला० जयकुमारमलने स्वयं अपनी लागतसे अपने भाईके लडकेके लिये बनवाई थीं।

इस समय शिखरके दरवाजेमें जो किवाड़ोंकी जोड़ी लगी हुई है वह शाहपुर जिला मुजफ्फर नगरसे बन कर आई थी और जिसकी लागत दो हजार रुपया थी।

इस तरह मन्दिरके तय्यार हो जाने पर संवत १८६३ के फाल्गुन महीनेमें जब सब लोग बैठे तब ला० हरसुखरायजी ने कहा कि मन्दिर बन कर तय्यार हो गया है वेदी प्रतिष्ठा और कलशारोहणका कार्य सम्पन्न कराना है मेरी जितनी सामर्थ्य थी उतना किया, मन्दिर आप सबका है अतः इस कार्यमें अपना अपना सहयोग प्रदान करें। उस समय वहाँ जो लोग उपस्थित थे उनके सामने एक घड़ रक्खा गया और उसमें सब लोगोंने अपनी-अपनी मुट्ठीमें जो जिनिके पास था लेकर उस घड़ेमें डाला। अंतमें उस घड़ेको खोलकर देखा गया तो वह द्रव्य इतना अल्प था कि उससे दोनोंमेंसे कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता था। क्योंकि जनता मन्दिरमें रुपया पैसा ले जाकर नहीं बैठी थी। जो कुछ थोड़ा सा रुपया निकला, उससे राजा साहबको क्या करना था उनका तो एक मात्र आयोजन मन्दिरको सार्वजनिक बनाने और अपने अहंभावको दूर करनेके लिए था। चुनांचे प्रतिष्ठा और कलशारोहण जैसा विशाल कार्य राजा हरसुखरायजीने बड़े महोत्सवके साथ सम्पन्न कराया। उस समय इस मन्दिरमें भगवान पार्श्वनाथकी बिनाफणा वाली मूर्ति विराजमान की गई, जो ला० हरसुखरायजी देहलीसे लाये थे। हस्तिनागपुरमें बिम्ब प्रतिष्ठाका कोई कार्य सम्पन्न नहीं हुआ।

मन्दिर की प्रतिष्ठा हो जानेके ३०-३५ वर्ष बाद जहाँ मन्दिरजीके सामने विशाल दरवाजा बना हुआ है वहाँ बड़ का एक विशाल पेड था। गूजर लोग उस बड़के पेड़को कटवाने नहीं देते थे। अतः विशाल दरवाजेका निर्माण कैसे हो ? यह चिन्ता भी बराबर अपना घर किए हुए थी। एक बार ला० हरसुखरायजीके सुपुत्र ला० सुगनचन्दजीने जयपुरके किसी कारीगरसे कहा कि यहाँ विशाल दरवाजा बनाना है। और बड़के दरख्त काटे बिना दरवाजा बन नहीं सकता। तब उसने कहा कि मुझे १०० मजदूर दीजिए आपका दरवाजा बन जायगा और आप सब वहसूमे ठहरिये। अतः जयकुमारमलजी शाहपुरवालोंके पोते रयौदयालमलजीने १०० मजदूर दिये। तब उन्होंने रात्रिमें उस बड़को काटकर गंगामें

बहा दिया और गहरी विशाल नीव खोद कर रात्रिमें तय्यार की गई। प्रातःकाल गूजर लोग आ पहुँचे, जब कुछ कहा सुनी होने लगी तब जयपुरका वह राज नीवमें कूद गया, उसके कूदते ही गूजर लोग भाग गए और मन्दिरका विशाल दरवाजा बनकर तय्यार हो गया, जो मन्दिरकी शोभाको दुगुणित किए हुए है।

उस समय हस्तिनागपुरमें कुल तीन ही निसि या निषद्या थीं। परन्तु तीसरी निसि भ० अरहनाथकी बहुत दूर थी, वहां घना जंगल होने और हिंसक जानवरोंको आमद रफ्त के कारण उतनी दूर यात्रियोंका आना जाना सरल नहीं था, यात्रियोंका जीवन वहाँ अरक्षित था। इसीसे भगवान अरहनाथकी उस निसि (निषद्या) को भ० कुन्थुनाथकी निसिके बगलमें बनवा दिया गया है। फिर भी यात्रीलोग पुरानी निसिकी यात्राके लिए जाते रहते हैं। भगवान शान्तिनाथकी निसिके बगलमें जो कुंआ बना हुआ है उसे लाला संगमलालजी शाहपुरने बनवाया था।

सन १८५७ (वि० सं० १९१४) में जब गदर पड़ा, तब गूजर लोगोंने अवसर पाकर हस्तिनापुरके उस मन्दिरको लूटकर ले गए, वहां का वे सब सामान ही नहीं ले गए थे किन्तु भगवान पार्श्वनाथकी उस मूर्तिको भी उठाकर ले गए थे। बादमें शान्ति स्थापित हो जाने पर दिल्लीके धर्मपुराके नए मन्दिरजीसे भगवान शान्तिनाथकी सं० १५४८की भ० जिनचन्द्रद्वारा प्रतिष्ठित मूर्ति मूलनायकके रूपमें विराजमान की गई थी। तबसे यह मन्दिर शान्तिनाथके नामसे पुकारा जाने लगा है।

प्रयत्न करने पर भी यह मालूम नहीं हो सका, कि राजा हरसुखरामजीने इस मन्दिरके बनवानेमें कितना रुपया खर्च किया है। क्योंकि उनके वंशमें अब उस समयका कोई वहीखाता नहीं है जिसमें मन्दिर-निर्माणके खर्चका पूरा ब्योरा दिया गया हो। उन्होंने उसकालमें अनेक मन्दिरोंका निर्माण कराया था। इस कार्यमें उन्होंने बहुत रुपया खर्च किया था। जिसकी संख्या एक करोड़से कम नहीं थी। किन्तु उनकी यह सबसे बड़ी विशेषता थी कि मन्दिर बनवानेके बाद उन्होंने कहीं अपने नामका कोई पत्थर नहीं लगवाया। आजकल जैन समाजकी प्रवृत्ति नाम लिखवानेकी ओर अधिक बढ़ गई है। जिन लोगोंने उनके बनवाए हुए मन्दिरोंमें चार सौ पांच सौ रुपया खर्च करके थोड़ा सा संगमर्मरका फर्श लगवा दिया, वहीं अपना नाम भी अंकित करवा दिया है। यह प्रवृत्ति कुछ अच्छी नहीं जान पड़ती। आशा है समाज इस ओर अपना ध्यान देगी। और अपनेको अहंकार ममकारके बन्धनमें बन्धनेसे बचानेका यत्न करेगी।

दिगम्बर मन्दिर बन जानेके बहुत वर्षोंबाद श्वेताम्बरों ने भी अपना मन्दिर बनवा दिया। और दिगम्बर समाजके उसटीले पर जहां शान्तिनाथकी मूर्तिके निकलनेका उल्लेख किया गया है। अपनी निसी भी बनवाली है। कुछ दिनोंसे दोनोंमें साधारण कारणोंको लेकर कशमकश चल रही है। आजके असाम्प्रदायिकयुगमें दोनोंको चाहिए कि वे प्रेमसे रहना सीखें। अपनी धार्मिक परिणतिको कट्टर साम्प्रदायिकताकी ओर न जाने दें। साम्प्रदायिकता एक विष है जो कषायके संस्कारवश अपने व दूसरेका बिगाड़ करनेपर उतारू हो जाता है। उससे हानिके सिवाय कोई लाभ भी नहीं है। आशा है उभय समाजके व्यक्ति अपनी परिणति असाम्प्रदायिक बनानेकी ओर अग्रसर होंगे।

यह लेख पं० शीतलप्रसादजी शाहपुरवालोंकी प्रेरणासे लिखा गया है। इसके लिये मैं उनका आभारी हूं।

जैन साहित्यका भाषा-विज्ञान-दृष्टिमें अध्ययन

(बाबू माईदयाल जैन बी. ए. (आनर्स), बी. टी.)

प्राचीन साहित्यका अध्ययन भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे या भिन्न-भिन्न बातोंकी जानकारीके लिये किया जाता है। धार्मिक साहित्य बहुत करके धर्मलाभ या पुण्य प्राप्ति या धर्मज्ञान प्राप्तिके लिए पढ़ा जाता है। पर भिन्न-भिन्न विषयोंके जानकार या विशेषज्ञ उसे अपने-अपने उपयोग या म्योजोंके लिए पढ़ते हैं। प्राचीन साहित्यके अध्ययनकी एक और दृष्टि या उपयोग भाषा-विज्ञानकी दृष्टि है।

यों तो प्राचीन या मध्यकालीन जैनसाहित्य अभी ठीक तौर पर तथा पूरा प्रकाशित भी नहीं हुआ है, तब उसके भिन्न २ दृष्टियोंसे अध्ययनका प्रश्न पैदा ही नहीं होता, पर मौजूदा साहित्यका अभी उपयोग नहीं हो रहा है। प्राचीन इतिहास-की जानकारीके लिए जैन साहित्यका कुछ उपयोग जैन-अजैन विद्वानों द्वारा किया जाने लगा है, पर दूसरी दृष्टियोंसे उसका उपयोग होता दिखाई नहीं दे रहा है। भाषा-विज्ञान-की दृष्टिसे तो जैनसाहित्यका अध्ययन अभी जैन या अजैन विद्वानोंके द्वारा आरम्भ भी नहीं हुआ है। यह बहुत ही खेदकी बात है।

इस लेखमें जैन साहित्यके भाषा-विज्ञानकी दृष्टिसे अध्ययनकी आवश्यकता, महत्व, कार्य विधि और ढंग आदि-के बारेमें संक्षेपसे कुछ बताया जायगा।

भाषा विज्ञानका अभिप्राय भाषाका विश्लेषण करके उसका दिग्दर्शन कराना है। उसके मुख्य अंग निरुक्ति या शब्द-व्युत्पत्ति, वाक्य विज्ञान, पद-विज्ञान, ध्वनि विज्ञान और अर्थ-विज्ञान हैं। यों तो प्राचीनकालमें भी भाषाका अध्ययन होता था, पर उसका वैज्ञानिक ढंगसे अध्ययन अठारवीं शताब्दिमें हुआ और तबसे बढ़ते-बढ़ते यह विषय इतना बढ़ गया है, कि अब इसने भाषाओंके तुलनात्मक अध्ययनका विशाल क्षेत्र अपना लिया है।

यहां यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है कि जैनोंका प्राचीनतम या आदि-साहित्य प्राकृतभाषा में है। पर उन्होंने किसी भी भाषाविशेषका गुलाम न बनकर सभी भारतीय भाषाओंको अपनाया। अपभ्रंश, तामिल और कन्नड़ भाषाओंकी नींव डालने वाले भी जैन ही हैं। इन भाषाओंके अतिरिक्त संस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती, राजस्थानी आदि में भी जैन साहित्यकी खूब रचना हुई है और ज्ञान-विज्ञानका कोई ऐसा क्षेत्र नहीं, जिसमें जैन विद्वानों, आचार्यों और लेखकोंने गात न की हो इन भाषाओंमें भिन्न-भिन्न संवतोंमें लिखित जैन शास्त्रोंकी संख्या सहस्रों है और वे भाषा विज्ञानियोंकी राह देख रहे हैं। यह दुर्भाग्यकी बात है, कि भाषा विज्ञानियोंका ध्यान इस विपुल जैन-साहित्यकी ओर अभी नहीं गया। पर जब जैनोंका ही ध्यान इस ओर न हो, तब और किसीसे शिकायत या गिला क्या?

डा० ए० एन० उपाध्यायने एक स्थानपर ठीक ही लिखा है—'जैन ग्रन्थोंमें भाषा-विज्ञान सम्बन्धी उपलब्ध सामग्रीकी उपेक्षा करके राजस्थानी गुजराती और हिन्दीके विकासकी रचना करना असम्भव है +।'

भारतकी प्राचीन भाषाओं, आधुनिक आर्य-भाषाओं तथा दक्षिणी भाषाओंमें जैन पारिभाषिक शब्द तथा अर्ध पारिभाषिक शब्द सहस्रोंकी संख्यामें हैं, सामान्य शब्दोंका प्रयोगभी इन ग्रन्थोंमें है ही। यहां एक बात और उल्लेख-नीय है। वह यह कि जबकि सब जैन तीर्थंकर उत्तर भारतमें हुए, तब जैन समाजके विशेषकर प्रसिद्ध दिगम्बर जैन आचार्य दक्षिणमें हुए है। इस उल्लेखसे यह बात बतानी है कि जबकि प्राकृत या जैन संस्कृत पारिभाषिक शब्द जैन आचार्योंके द्वारा दक्षिणकी ओर गये होंगे, तब दक्षिणी भाषाओंके शब्द भी उनके द्वारा उत्तरकी ओर अवश्य आये होंगे। पर शब्दोंके इस विनिमयकी ओर आजतक किसने ध्यान दिया है? उदाहरणके तौरपर यहाँ यह बताना अनुचित न होगा कि फारसी भाषामें एक तिहाई अरबी भाषाके शब्द हैं, तुर्कीमें भी उनका बोलबाला है। ऐसे ही पिछले छः सात सौ वर्षोंमें अरबी फ़ारसी और हिन्दीके सहस्रों शब्द दक्षिणकी भाषाओं तामिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालममें पहुँच गये हैं और दक्षिणकी राह मराठी आदिके माध्यमसे पिछले चार सौ वर्षोंमें सौ सवा सौ पुर्तगाली शब्द हिन्दीमें पहुँच गये और हिन्दीमें रच पच गये। तब यह कैसे हो सकता है, कि जैनोंके द्वारा शब्दोंके लाने लेजानेका काम सब दिशाओंमें न हुआ हो। इतना ही नहीं, उनके रूपों, ध्वनियों, हिज्जे (SPellings) और अर्थोंमें भी कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य हुआ होगा। क्या किसीने इस ओर ध्यान दिया था। इन बातोंका पता लगानेके लिए जैन साहित्यका अध्ययन किया?

+ पुरातन जैन-वाक्य-सूचीकी भूमिका पृ० २।

यहां मैं एक दो उदाहरण देकर इस अध्ययनका महत्व बताना चाहता हूं। श्री कुंदकुंदाचार्य विक्रमकी पहली सदीके प्रसिद्ध आचार्य माने जाते हैं। उन्होंने बहुतसे जैन ग्रंथोंकी रचना की है। उनके एक ग्रन्थका नाम 'बारस अणुवेक्खा' है। इस बारससे ही 'स' का 'ह' होकर बारह बना है। इस प्रकार इस बारह शब्दकी जड़ें दो हजार वर्षसे भी अधिक पुरानी हैं। बारसका बारह कब हुआ क्या हिंदीके जानकारोंके लिए यह जानना आवश्यक नहीं है? इसी प्रकार 'बारस' में जो 'ब' है और जिसका अर्थ दो है, उससे ही बेला शब्द बना है, जिसका अर्थ दो दिनका उपवास है। यह शब्द आज भी जैन समाजमें—स्त्रियों तकमें—बोलनेमें आता है। पर हममें कितने जानते हैं, कि बेला शब्द पहले पहल कब किसने साहित्यमें प्रयुक्त किया? इसी प्रकार दूसरे सहस्रों शब्दोंकी बात है। हर एक पारिभाषिक शब्दका ही नहीं बल्कि दूसरे शब्दोंका भी इतिहास होता है, जिसका जानना भाषाविज्ञानकी दृष्टिसे जरूरी है।

जब शब्दोंकी व्युत्पत्ति, रूप परिवर्तन और अर्थ विकासकी बातें आ ही गईं और वे आनी अनिवार्य थीं, तब यहां संसारकी जीवित भाषा अंग्रेजीके बारेमें एक-दो बातें उदाहरणरूपसे लिखनेकी इच्छाको रोकना कठिन है। अंग्रेजीका प्रसिद्ध कोश 'आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी' है। अंग्रेजी शब्दोंकी संख्या छः लाख मानी जाती है। इस कोशमें हर एक शब्दकी व्युत्पत्ति, रूप परिवर्तनका काल और उदाहरण तथा समय सहित शब्दके अर्थमें परिवर्तन दिया हुआ है।

आज राष्ट्रभाषा हिन्दी अपने अभ्युदयके नये मोड और नई दिशापर चल रही है। वह अपने समुत्थानके लिए सब ओरसे प्रकाशशाली तथा राह पानेका प्रयत्न कर रही है। उसकी रूप-रेखा बदलनेके लिए खींचतान हो रही है। हिन्दीका शब्द भंडार अगले पांच-सात वर्षोंमें लाखोंकी संख्यामें पहुँच जायगा। इसके नये-नये कोष तैयार हो रहे हैं, नये-नये शब्द बन रहे हैं। आगे और भी कोष और शब्द बनेंगे। तब उसके बहुतसे शब्दोंके रूपों, व्युत्पत्तियों और अर्थ-परिवर्तनोंको जाननेके लिए जैन साहित्यमें मिलने वाली सामग्रीकी सहायताकी आवश्यकता पड़ेगी। नये शब्दोंकी रचनामें भी जैन साहित्यसे सहायता मिल सकती है। पर वह सामग्री हिन्दी जगतको कौन देगा? अवश्य ही यह काम जैनोंका है, अजैनोंको तो उसका पता भी नहीं।

स्वयं जैनग्रन्थोंके अर्थ समझनेके लिए जैन साहित्यका भाषा विज्ञानकी दृष्टिसे अध्ययन जरूरी है। भाषा विज्ञानके बिना उसका ठीक अर्थ करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

इससे साफ है कि जैन साहित्यका भाषा विज्ञानकी दृष्टिसे अध्ययन न केवल जैन समाजके लिए आवश्यक है तथा महत्वपूर्ण है, वरन् समस्त भारत और विशेषकर हिन्दी जगतके लिए अत्यन्त आवश्यक है। जैन समाजने अपने साहित्यकी उपेक्षा करके कई बार गलती की है। पर इस समय सबसे बड़ा आवश्यकता यह है कि जैनसाहित्यका भाषा विज्ञानकी दृष्टिसे अध्ययन किया जाय और उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाली बातें और निष्कर्ष विद्वानों और भाषाशास्त्रियोंके सामने रखे जायें, जिससे समय पर उसका ठीक उपयोग हो सके। और चूँकि उपयोगका समय दूर नहीं है, इसलिए इस कामको शीघ्र से शीघ्र हाथमें लेनेकी आवश्यकता है। यदि यह कहा जाय कि इसे आवश्यकता नम्बर एक माना जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

अब यह काम कैसे होना चाहिए। उसकी कार्य विधि और ढंग यहां बताये जाते हैं:—

(१) आगे प्रकाशित होने वाले हरएक महत्वपूर्ण ग्रन्थके अन्तमें पारिभाषिक अर्धपारिभाषिक शब्दोंकी अनुक्रमणिका होनी चाहिये। डा० हीरालालजीने सावयधम्म दोहा, दोहपाहुड और धवलग्रन्थके सब खण्डोंकेअन्तमें खास शब्दोंकी अनुक्रमणिकाएँ दी हैं। ऐसे ही पं० सुखलालजीने भी तत्वार्थसूत्रकी अपनी टीकामें शब्द सूची दी है। यशोधरचरित्र और वरांगचरित्र हिन्दीमें भी शब्द अनुक्रमणिकाएँ हैं। आगे भी यह काम होना चाहिये।

(२) द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और प्रथमानुयोग और प्रमाण-नयके ग्रंथोंके लेखक प्रसिद्ध-प्रसिद्ध आचार्योंके ग्रन्थों परसे उन आचार्योंकी शब्दावली तय्यारकी जानी चाहिये। उदाहरणके तौरपर अभी तुलसी-शब्दावली, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबादसे प्रकाशित हुई है। इसी ढंग पर समंतभद्र-शब्दावली, कुन्दकुन्द-शब्दावली, अकलंक-शब्दावली, सिद्धसेन-शब्दावली, बनारसी-शब्दावली आदि तैयार होनी चाहिये। इससे हर एक आचार्यके कालमें शब्दोंके जो रूप और अर्थ आदि तुलनात्मक ढंगसे विद्वानोंके सामने आजायेंगे। अंगरेज़ीमें अनुमान लगाया गया है कि शेक्सपीयरके सभी ग्रन्थोंमें कुल १५००० शब्द हैं, मिलटनके आठ हजारके लगभग और प्रसिद्ध यूनानी महाकवि होमरके

काव्योंमें कुल नौ हजार शब्द हैं। इस कामको करनेका यह तरीका है कि बारबार आने वाले एक शब्दको एक गिना जाय और यदि एक ग्रन्थकार बहु भाषा जानकार है, तो एक ही विचारको जताने वाले कई शब्दोंको एक माना जाय, बाकीको छोड़ देना चाहिए। हाँ, यदि कोई विदेशी शब्द नये विचार या अर्थको प्रकट करता हो तो उसे दूसरा शब्द गिना जाय।

(३) जैन-द्रव्यानुयोग शब्दकोश, करणानुयोग शब्दकोश, जैन प्रमाणनय शब्दकोश, आदि भी तैयार होने चाहियें।

(४) जैन-साहित्यमें आनेवाले व्यक्तियोंके नामों तथा स्थानोंके कोश अलग अलग तैयार होने चाहियें।

(५) प्रांतीय भाषाओंके जैन साहित्यके शब्दकोश अलग तैयार होने चाहियें।

(६) प्राकृत और अपभ्रंश भाषाके उन सभी शब्दोंकी सूचियाँ अर्थ सहित तैयार होनी चाहियें जो उत्तर भारत और दक्षिण भारतकी भाषाओंमें ज्यों के त्यों या कुछ रूप बदल कर चालू हैं। इससे उन शब्दोंकी सर्वव्यापकताका पता लग जायेगा और वे भावी भाषाके मूल शब्द मान लिये जाएँगे।

(७) यदि हर एक ग्रन्थके अन्तमें भाषा विज्ञानकी दृष्टिसे अध्ययन सम्बन्धी कोई परिशिष्ट हो, तो उससे भाषाके विकास पर बड़ा प्रकाश पड़ेगा। ऐसी एक उपयोगी भेंट डाक्टर हीरालालजी द्वारा सम्पादित सावयधम्मदोहाके अन्तमें मेरे देखनेमें आई है।

यह काम सभी सम्प्रदायोंके विद्वानों द्वारा शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिसे करने योग्य है। जैन समाजमें कई-कई भाषाओंके जानकार विद्वान बहुतसे हैं। डा० हीरालाल और मुनि श्री जिनविजयजी और डा० ए० एन० उपाध्याय, तो अखिल भारतीय ख्यातिके भाषा शास्त्री माने जाते हैं। पं० सुखलाल जी, पं० बेचरदास जी, पं० जुगलकिशोर मुख्तार, पं० नाथूरामजी प्रेमी और दूसरे कई विद्वान इस कामको अपने हाथोंमें लेकर इस कामको प्रगति दे सकते हैं। इस दिशामें किया हुआ प्रयत्न और लगा हुआ धन भविष्यमें बहुत लाभ देगा।

अस्पृश्यता विधेयक और जैन-समाज

(बाबू कोमलचन्दजी जैन एडवोकेट)

यह विधेयक जैनोंकी धार्मिक स्वतन्त्रताको प्रत्यक्ष रूपसे चुनौती है। जैन वैदिक-धर्मके किसी रूप या इसकी शाखाके मानने वाले नहीं है। जैन-धर्म प्राचीन और स्वतन्त्र धर्म है, यह सब स्वीकार करते हैं। राष्ट्रीय कार्योंके लिए जैनियोंने सदा अपना अंश दान दिया है और वे भारतीय मल्कके सदा राजनिष्ठ प्रजा रहे हैं।

विधेयक नं० १४ का उद्देश्य हरिजनोंका सामाजिक दर्जा ऊँचा करना है। जैनियोंको इससे कोई आपत्ति नहीं है, यदि इस पिछड़े समाजकी उन्नतिके लिए कोई कदम उठाया जाता है। जैन केवल इतना ही चाहते हैं कि ऐसा अनिश्चित और दण्डकारी कानून न बनाया जाय, जो अल्प संख्यक जैन समाजको सदा परेशान करने वाला सिद्ध हो।

भारतकी वर्तमान और पिछली मर्दुमशुमारीसे यह सिद्ध हो गया है कि 'जैन धर्मावलम्बियोंमें एक भी हरिजन नहीं है। इन अवस्थाओंमें यदि सब किसमकी जैन संस्थाओंमें उनको प्रवेश करने और उसका इस्तेमाल करनेका अधिकार देनेके लिए दण्डात्मक उपबन्ध बनाये जाते हैं, तो इससे जैनियोंको कितनी हानि पहुँचेगी, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। यह निश्चित है कि जैनमन्दिरों और जैन संस्थाओंमें हरिजनोंको भेजनेसे, जब कि वे जैनधर्मका अनुसरण नहीं करते—उनकी हालत नहीं सुधरेगी या उनका सामाजिक दर्जा ऊँचा न होगा।

इस विधेयक द्वारा जैन मन्दिरों और जैन धार्मिक संस्थाओंमें प्रवेश करने और उनका व्यवहार करनेका अधिकार प्रतिरोधक दण्डका प्रत्येक जैनके मनमें आतङ्क उत्पन्न कर दिया गया है। इस कारणसे वह अपने धार्मिक स्थानोंका दुरुपयोग होने पर भी किसी प्रकारकी आपत्ति उठानेका स्वप्न में भी विचार नहीं कर सकता। दण्डकी धाराओंकी शब्दावली इतनी अनिश्चित और लचकीली एवं व्यापक है कि हरेक जैन इसको जैसाका तैसा माननेको विवश कर दिया गया है। यदि कोई हरिजन किसी मजिस्ट्रेटके सामने किसी जैनके विरुद्ध कोई शिकायत करता है तो उस जैनको अपनी निर्दोषता साबित करनी होगी। दण्ड-विधानका पहला सिद्धान्त यह है कि अदालत द्वारा अभियुक्त उस समय तक

निर्दोष और निरपराध माना जाता है जब तक इसके विपरीत और उल्टा प्रमाणित न हो जाय। यह विधेयक इस सिद्धान्त के विरुद्ध है और यह अदालतको माननेके लिये अवसर देता है कि अभियुक्त उस समय तक अपराधी है, जब तक कि वह अपनी निर्दोषता प्रमाणित नहीं कर देता।

दण्डात्मक कानून एक कठोर उपाय है। इसको बड़ी सावधानीके साथ और निश्चित रूपमें बनाना चाहिये। यह इतना अधिक कठोर या प्रतिरोधक न होना चाहिए कि इसका उन लोगोंके विरुद्ध दुरुपयोग किया जा सके, जो इसके कारण भयत्रस्त हो गये हैं। दुर्भाग्यसे इस विधेयकमें ये सब खराबियाँ हैं। हरिजन जैनधर्मको मानने वाले नहीं हैं, इस कारण यह बहुत सम्भव है कि जैन मन्दिरों और जैन संस्थाओंमें वे इस ढंगसे प्रवेश करें, जिससे जैनियोंके हृदयको चोट पहुँचे। दुर्भाग्यसे विधेयकके अन्दर ऐसी स्थितिसे बचाव करनेके लिये कोई व्यवस्था नहीं की गई है। जैनियोंके दुश्मन और दोस्त दोनों हैं, यह विधेयक बदला लेनेके लिये उनके हाथमें एक अच्छा हथियार देता है।

जैन अत्यन्त अल्पसंख्यामें हैं। बहुसंख्यक समाज द्वारा जो भिन्न-धर्मावलम्बी है, उसको पूर्ण संरक्षण मिलना चाहिए, किन्तु जैन मन्दिरों और अन्य जैन धार्मिक संस्थाओंमें हरिजनोंको उन संस्थाओंमें प्रचलित प्रथाओं और विधियों एवं व्यवहारोंको माननेकी पाबन्दी लगाये-वगैरह प्रवेश करनेका अनुमति देनेका नतीजा यह होगा कि हर किस्मके अप्रतिष्ठा जनक और अनुचित कामोंकी खुली छुट्टी मिल जायगी जो कि संस्थाओंके पुजारियों, उपदेशकों, ध्यानस्थों, प्रबन्धकों अन्योंको विक्षुब्ध, उद्विग्न और परेशान करनेका कारण होंगे।

इस विधेयकको भारतीय संविधानका अविरोधी बनानेके विफल प्रयत्नमें पूजा स्थानकी परिभाषा बड़ी कल्पना और चतुराईसे की गई है। इस परिभाषाके सरसरी नजरसे देखनेसे भी यह मालूम हो जायेगा कि यह न केवल सार्वजनिक मन्दिरों पर ही, वरन निजी और वैयक्तिक मन्दिरों पर भी लागू होता है। कोई भी साम्प्रदायिक मन्दिर, जिसमें उस साम्प्रदायिक अनुयायियोंके सिवाय और कोई दूसरा व्यक्ति नहीं जा सकता, कैसे सार्वजनिक मन्दिर कहा जा सकता है? भारतीय संविधानका अनुच्छेद २६ एक ऐसा उपबन्ध है, जो विशेष रूपसे इस विषयके साथ सम्बन्धित है, और इस विषयमें संविधानके अन्य सब सामान्य अनुच्छेदोंसे सर्वोपरि है और यह अनुच्छेद केवल सार्वजनिक मन्दिरोंके लिये कानून बनानेका अधिकार देता है। 'सार्वजनिक पूजाका स्थान' इसकी परिभाषा इस विधेयकमें जिस रूपमें की गई है, उसमें वे सब मन्दिर आ गये हैं, जो कि किसी एक धर्मके अत्यन्त छोटे समुदायके हैं, या जिनका व्यवहार एक अत्यन्त छोटा वर्ग करता है, परन्तु किसी भी दृष्टिसे इस प्रकारके मन्दिर सार्वजनिक मन्दिर नहीं कहे जा सकते। जैन मन्दिर कुछ श्वेताम्बरोंके हैं और कुछ दिगम्बर जैनोंके हैं, पर दिगम्बर जैनोंके मन्दिरोंमें श्वेताम्बर और श्वेताम्बर जैनियोंके मन्दिरमें दिगम्बर जैन नहीं जा सकते। जिन जैन मन्दिरोंके सम्बन्धमें प्रवेश करने और उनका व्यवहार करनेके श्वेताम्बरों और दिगम्बर जैनियोंमें विवाद था, उनका फैसला अदालत द्वारा किया गया और प्रत्येक सम्प्रदाय द्वारा उनकी सतर्कतासे रक्षा की जाती है। क्या इस प्रकारके मन्दिर सार्वजनिक मंदिरोंमें शुमार किये जा सकते हैं? कानूनकी परिभाषाका शब्दकोष इस प्रकारकी इजाजत नहीं देता।

इस विधेयके दण्डात्मक उपबन्धोंमें कहा गया है कि किसी मन्दिर या धार्मिक संस्थामें हरिजनके प्रवेश करने या उसका व्यवहार करनेमें यदि कोई बाधा देगा तो उसको दण्ड मिलेगा। पर हरिजन कौन हैं, यह जाननेका कोई उपाय नहीं है। यह कैसे मालूम होगा, कि प्रवेशकी इच्छा रखने वाला हरिजन है? दण्डात्मक उपबन्ध कभी भी अनिश्चित न होने चाहिये।

जैनियोंकी ऐसी धार्मिक संस्थायें हैं जिनमें उच्चतर धार्मिक व्यवस्थाके विभिन्न दर्जोंके लोग जैनधर्मका पालन ठीक शास्त्रोक्त विधियोंके अनुसार करते हैं। विधेयक हरिजनों समेत सब गैर जैनियोंको संस्थाओंमें प्रवेश करने और इनका व्यवहार करनेका अधिकार देता है, यद्यपि वे जैनधर्मका अनुसरण करनेसे इन्कार करते हैं और जो कोई उनको रोकता है, उनको भारी दण्ड देनेकी व्यवस्था करता है। यह बहुत ही अनर्थकारी उपबन्ध है। इसका प्रभाव यह होगा कि शान्तिपूर्वक अपने कर्तव्य पालन करने वाले अल्पसंख्यक समाजको निरुद्देश्यरूपसे व्यर्थमें परेशान होना पड़ेगा।

संयुक्त प्रवर समितिने जिसको यह विधेयक भली प्रकार जांच करने और उचित संशोधन करनेके लिये दिया गया था, इस विधेयकके शरारत-भरे प्रभावोंपर ध्यान नहीं दिया। इसके दुरुपयोगके विरुद्ध आवश्यक बचावकी व्यवस्था करनेके बजाय उन्होंने इसको और भी अधिक उग्र बना दिया है।

यदि यह विधेयक इसी रूपमें जैसा कि इस समय है, कानून बन गया तो यह विभिन्न समाजों और समुदायोंके मध्य मैत्री और सौहार्द बढानेके बदले लड़ाई झगड़ोंका कारण होगा और कमजोर धार्मिक अल्पसंख्यकोंके विरुद्ध अन्दरूनी झगड़ों और मुकद्दमे करनेके लिये आम जनता उत्तेजित और भड़कानेका कारण होगा।

इस विधेयक ने 'अस्पृश्यता' क्या है, इसकी परिभाषा नहीं की और यह सर्वथा मौन है, जबकि अस्पृश्यताका प्रचार करना या व्यवहार दण्डनीय ठहराया गया है जबकि दीवानी अदालतोंको किसी ऐसी रीति-रिवाज या प्रथा या विधिको स्वीकार करनेसे रोका गया है, जो कि अस्पृश्यताको स्वीकार करती है, तब इस विधेयकके बनाने वालोंके लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे इसकी परिभाषा करते, विशेष स्थितियोंमें स्पृश्य भी अस्पृश्य हो जाते हैं। क्या डाक्टर जो कि प्रत्येक दर्शकको अपनेको छूनेसे रोकता है, दण्डित किया जायगा और जेल भेजा जायगा? यदि जैन धर्माचार्य अपनी महिला शिष्याओंको जब वे मासिकधर्मकी अवस्थामें हों मन्दिरमें जानेसे रोकेगा तो यह प्रस्तावित कानून उसको दण्ड देगा? हरिजन महिलायें भी जैन मन्दिरमें जाने देनेसे न रोकी जा सकेंगी, जबकि वे मासिक-धर्मकी अवस्थामें होंगी। परिवारमें जब कोई एक व्यक्ति मर जाता है तब उस परिवारके कुछ लोग अस्पृश्यताका पालन करते हैं जिसको कि सूतक कहते हैं। सूतकका पालन एक निश्चित अवधि तक किया जाता है। ये लोग और जो लोग इनको ऐसा करने की सलाह देंगे वे इस विधेयकके अधीन दण्डके पात्र होंगे।

विधेयक नं० १४ के विरुद्ध जैनोंकी शिकायत न्याय संगत और उचित है। प्रस्तावित कानूनसे उनको बाहर रखा जाय, इसके वे सब तरहसे पात्र हैं।

मौजमाबादके जैन समाजको ध्यान देने योग्य

मौजमाबाद जयपुरसे करीब ४५ मील दूर है। वह जयपुर राज्यका एक पुराना कसबा है जो आज भी तहसील-का एक मुकाम है। यह कसबा किसी समय खूब सम्पन्न रहा है। पर आज वहां अनेक विशाल मकान खण्डहरके रूपमें विद्यमान है। कहा जाता है कि वहाँ दो सौ घर जैनि-योंके थे। परन्तु आज ४०-४५ घर बतलाए जाते हैं। यहाँ का एक विशाल जैन मन्दिर सम्वत १६६४ से पहले बना है जो बड़ा ही मजबूत है, उसमें नीचे दो विशाल तल-घर बने हुए हैं जिनमें बड़ी बड़ी विशाल मूर्तियाँ विराजमान हैं। वे मूर्तियाँ छोटेसे जीनेसे किस तरह वहां विराजमान की गई, यह एक आश्चर्यका विषय है। वे अंधेरे स्थानमें विराज-मान हैं, जिनका दर्शन पूजन भी ठीक तरहसे नहीं होता है। इस विशाल मन्दिरमें संवत् १६६४ की प्रतिष्ठित २३२ सुन्दर मूर्तियाँ विराजमान हैं, परन्तु उनका प्रक्षालन ठीक ढंगसे न होनेके कारण सफेद पाषाणमें जगह जगह दाग लग गए हैं वे मलिन हो गई हैं, मालूम होता है कि उनका प्रक्षाल करते समय सावधानी न बर्तनेके कारण उनपर पानी-का अंश रह जाता है बादमें उनमें धूलिके कण चिपक गए हैं जिससे उनका अंग मलिन दिखाई देता है। इतनी अधिक सघन रूपमें रखी हुई मूर्तियोंका प्रक्षालभी ढंगसे नहीं हो पाता। और लोगोंमें पूजन प्रक्षालकी कोई रुचि भी नहीं ज्ञात होती।

इसी तरह दूसरे प्राचीन मन्दिरमें भी ८ मूर्तियाँ विराज-मान हैं। इसमें शास्त्रभण्डारकी जो दुर्दशा हुई है उसका बयान करते हुए लेखनी थर्राती है। वहां संस्कृत-प्राकृतभाषा-के अनेक ग्रन्थ थे, पुष्पदन्तके यशोधर चरित्रकी ४ सचित्र प्रतियाँ थी, किन्तु वे आज चारों ही खण्डित हैं, और उनके चित्रादि भी मिट गये हैं। उनमेंसे एक भी प्रति पूरी नहीं हो सकती। इसी तरह अन्य दूसरे ग्रन्थोंका हाल है। कहा तो उत्तर मिला, हम संस्कृत-प्राकृतको नहीं जानते, इसीसे इन ग्रन्थोंका यह हाल हुआ है। परन्तु क्षुल्लक सिद्धिसागर जीने श्रुत भक्तिवश रातदिन परिश्रम करके उन अपूर्ण एवं खंडित ग्रन्थोंकी सूची बनाई और उन्हें बेठनों में बांधा, उन पर ग्रंथोंका नामादि भी अंकित करदिया है। इतना कर देने-से उक्त भण्डारके कुछ ग्रंथ जानकारीमें अवश्य आगए हैं। परन्तु वे अधूरे ग्रन्थ ऐसी स्थितिमें सुरक्षित भी नहीं रह सकते। हाँ, हिन्दी-भाषा सहित ग्रन्थ प्रायः सुरक्षितरूपमें विद्यमान हैं। वहाँ लोगोंमें कोई धार्मिक प्रेम नहीं है। क्यों कि वहाँ क्षुल्लक सिद्धिसागरजी मौजूद हैं, जो उत्कृष्ठ-श्रावक होनेके साथ साथ निस्पृह और उदासीन वृत्तिको

लिये हुए हैं, बाल-ब्रह्मचारी हैं। वे रात दिन ज्ञानाभ्यास और आत्मध्यानमें लीन रहते हैं। ऐसे विद्वान क्षुल्लकके वहाँ रहने पर भी वहांकी जनता उनसे ज्ञानार्जनका लाभ नहीं उठाती। अस्तु समाजकी लापर्वाहीसे जो ग्रन्थ खण्डित हो गए हैं उनका पूर्ण होना कठिन है, अतः वहांकी समाजको चाहिए कि वह उक्त क्षुल्लकजीके निर्देशानुसार उन अपूर्ण ग्रन्थोंको जयपुर या वीरसेवा मन्दिर देहलीमें भिजवा दें, जिससे उनका संरक्षण हो सके। इस तरह समाजकी लापर्वाहीसे ग्रन्थ-भण्डारोंमें सहस्रों ग्रंथ नष्ट हो गए हैं। तेरा-बीस पंथके झगड़ों में भी मारोठका ग्रन्थभंडार विनष्ट हो गया है, जिसमें लगभग ३००० के ग्रन्थ थे। कुचामनके शास्त्र-भण्डारकी सूचीका कार्य भी आपसके मत-भेदके कारण स्थगित हो गया है। जैन समाजकी यह लापर्वाही जैन संस्कृतिके लिए अत्यन्त घातक है। आशा है समाज और समाजके नेतागण इस तरह श्रुत सम्पत्तिको विनष्ट होने से बचानेका यत्न करें। पर वहांके जैनियोंको इस श्रुत सम्पत्तिको विनष्ट हो जाने पर भी कोई खेद नहीं है। उन्हें समाजको इस श्रुतसम्पत्तिके नष्ट करनेका क्या हक था? इस संबन्धमें समाजके मान्य नेताओंने भी कुछ विचार नहीं किया।

—परमानन्द जैन

वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी ७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नागर एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानोंके लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द (जिसकी प्रस्तावनादिका मूल्य अलगसे पांच रुपये है) १५)

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द। ... ... ८)

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द। ... ... ५)

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठकी प्रस्तावनासे सुशोभित। ... ... २)

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनादिसे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... ... १॥)

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... १)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ॥)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'
वीरसेवामन्दिर, जैन लाल मन्दिर, चाँदनी चौक देहली।

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० शान्तिनाथजी कलकत्ता
१०१) बा० निर्मलकुमारजी कलकत्ता
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीरामबैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चद औषधालय, कानपुर
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) ला० रतनलाल जी कालका वाले, देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री दि० जैन लालमंदिर देहली। मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

अनेकान्त

जनवरी १९५५

अनेकान्त वर्ष १३
किरण ७

विषय-सूची

१ समन्तभद्र भारती (देवागम)— [युगवीर १६१
२ पं० जयचन्द और उनकी साहित्य-सेवा— [परमानन्द शास्त्री १६४
३ असंज्ञी जीवोंकी परम्परा— [डा० हीरालाल जैन एम० ए० १७५
४ भव्य मार्गोपदेश उपासकाध्ययन— [क्षु० सिद्धिसागर १७६
५ कुमुदचन्द्र भट्टारक— [पं० भुजबली शास्त्री १७८
६ पृथ्वी गोल नहीं चपटी है— [एक अमेरिकन विद्वान १७९
७ पार्श्व-जिन-जयमाल (निन्दा स्तुति) (कविता)— [स्व० पं० ऋषभदास चिलकानवी १८२
८ पं० दीपचन्दजी शाह और उनकी रचनाएँ (परिशिष्ट)—[परमानन्द जैन १८३
९ मुगल कालीन सरकारी कागज— [संग्रहालयमें सुरक्षित १८४
१० निश्चयनय व्यवहारनयका यथार्थ निर्देश —[क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी १८५
११ श्रावकोंका आचार-विचार—[क्षुल्लक सिद्धि सागर १८६
१२ श्री हीराचन्द्रजी बोहराका नम्र निवेदन और कुछ शंकाएँ—[जुगल किशोर मुख्तार १८७
१३ महापुराण-कलिका और कवि ठाकुर— ···[पं० परमानन्द शास्त्री १८९.

[श्री रामचन्द्रजी डाल्टनगंज वालोंका एक पत्र मुख्तार साहबके पास आया है जिसे नीचे ज्यों का त्यों दिया जा रहा है। इस पत्रके साथ एक शिलालेखकी नकल भी भेजी है जिसमें उतारते समय कुछ अक्षरोंकी गड़बड़ो हो गई है, इससे वह ठीक नहीं पढ़ा जा सका, उसका फोटो आने पर वह ठीक ढंगसे पढ़ा जा सकेगा। उस लेखमें मूर्तिको प्रतिष्ठित कराने वालेका उल्लेख है। और लेख एक हजार वर्षसे भी अधिक प्राचीन है। पत्र से ज्ञात होता है कि वहां पार्श्वनाथका प्राचीन मन्दिर रहा है। उस मन्दिरके पुरातन अवशेषोंकी खोज करनी चाहिये, सम्भव है वहां जैन संस्कृतिका कोई पुरातन अवशेष और उपलब्ध हो जाय।]

—परमानन्द जैन

श्रद्धेय श्री पं० जुगलकिशोर जी साहब,

करीब १० रोज हुए मैं अपने भतीजे चिरंजीव ज्ञानचन्दकी शादीमें रफीगंज गया था। रफीगंजसे करीब ३ मील दूर पर एक पहाड़ है। उस पहाड़ में एक गुफा है जिसमें श्री पार्श्वनाथ भगवानकी एक प्रतिमा विराजमान है। हम लोगोंने उस प्रतिमाके दर्शन करनेकी इच्छा प्रकट की तथा हमारे सम्बन्धी श्रीमान् चांदमल जी साहबने इक्केका तुरन्त प्रबन्ध कर दिया। हम लोग इक्केसे पहाड़की तलहटीमें बसे 'पंचार' नामक ग्राम तक गये। तथा वहांसे एक लड़केको लेकर मन्दिरकी ओर रवाना हुए। पहाड़की चढ़ाई कोई विशेष नहीं है। तथा प्राचीनकालमें वह मन्दिर एक बहुत विशाल मन्दिर रहा होगा। क्योंकि जितनी दूरकी चढ़ाई है, उतने दूरमें पत्थरोंके अलावा पुराने जमानेकी ईंटोंका ढेर पड़ा है। तथा कहीं कहीं तो ऐसा मालूम पड़ता है कि भीतर कोई पोलो जगह हो। गुफाका प्रवेश द्वार अभी तक ज्यों का त्यों खड़ा है। उसके खम्भों पर नकाशी इत्यादि बनी हुई है। अन्दर श्री पार्श्व प्रभुकी प्रतिमा विराजमान है। जो आसन तक जमीनमें धँस गई है। प्रतिमा पद्मासन अवस्थामें है। फन किसी विधर्मीने तोड़ दिये हैं। वहांके देहात वाले इस प्रतिमाको 'लङ्गा बीर' कह कर पूजते हैं। तथा प्रतिमा पर सिन्दूर वगैरह लगा दिया है। इसी गुफासे एक प्रतिमा रफीगंज के श्रावक ले गये थे जो वहांके मन्दिरजीमें विराजमान है।

उस गुफामें एक और प्रतिमा हम लोगोंके देखनेमें आई। इसमें एक पत्थरके ऊपर पांच अरहंत प्रतिमा उकेरी हुई हैं। तथा प्रतिमाओंके नीचे एक यक्षणीको मूर्ति है। तथा उसके नीचे पाली भाषाका एक शिलालेख है। एक ही पत्थर पर तीनों चीजें बनी हुई हैं। उस शिलालेखकी नकल आपके पास भेज रहे हैं। कृपया इसे आप 'अनेकान्त' में प्रकाशित करनेकी कोशिश करेंगे।

इस शिलालेख वाले पत्थरके लिये हमारे भतीजे चि० कमलकुमारने जिद की कि इसे हम लोग डालटनगंज ले चलेंगे। इसलिये हम तथा भाई गुलाबचन्द जी तथा धर्मचन्द और कमलकुमार बड़ी कोशिशके साथ पहाड़से इसे उतारकर रफीगंज तक लेते आये। लेकिन यहांके पंचोंको जब इसके बारेमें पता लगा तो वे झगड़ा करनेके लिये तैयार हो गये तथा लाचार होकर उस प्रतिमाको रफीगंजके पंचोंके ही हवाले कर दिया है।

सुननेमें आया है कि एक पाली भाषाका शिलालेख रफीगंजमें पंडित गोपालदासजी जैन शास्त्रोके पास भी है जिसमें सम्राट् श्रेणिक उल्लेख है। अगर ऐसी बात होगी तो हमारे समझसे यह शिलालेख भी २५०० वर्ष पहलेका होना चाहिये। आप इस विषय पर पूरा उल्लेख अपने पत्र 'अनेकान्त' में प्रकाशित करें ऐसी हमारी इच्छा है।

इस गुफामें घुसते वक्त दाहिने हाथकी ओर देवनागरी भाषाका एक लेख पत्थर पर उकेरा हुआ है। जिसमें नीचे लिखे वाक्य हैं:—

माणिकभद्र नमः.................श्री पार्श्वनाथ...............

डालटन गंज
ता० १६-१२-५४

आपका
रामचन्द्र जैन

ॐ अर्हम्

वर्ष १३ किरण ७ | वीरसेवामन्दिर, C/o दि० जैन लालमन्दिर, चाँदनी चौक, देहली
माघ, वीर नि० संवत २४८१, वि० संवत २०११ | जनवरी १९५५

समन्तभद्र-भारती

देवागम

अनपेक्षे पृथक्त्वैक्ये ह्यवस्तु द्वय हेतुतः । तदेवैक्यं पृथक्त्वं च स्वभेदैः साधनं यथा ॥ ३३ ॥

'एक दूसरेकी अपेक्षा न रखने वाले पृथक्त्व और एकत्व चूंकि हेतुद्वयसे अवस्तु हैं—एकत्व निरपेक्ष होनेसे पृथक्त्वका और पृथक्त्व-निरपेक्ष होनेसे एकत्वका कहीं कोई अस्तित्व नहीं बनता—अतः एकत्व और पृथक्त्व सापेक्षरूपमें विरोधको प्राप्त न होनेसे उसी प्रकार वस्तुत्वको प्राप्त हैं जिस प्रकार कि साधन (हेतु)—साधन अपने पक्षधर्मत्व, सपक्षमें सत्त्व और विपक्षसे व्यावृत्तिरूप भेदों तथा अन्वय-व्यतिरेकरूप भेदोंके साथ सापेक्षताके कारण विरोधको न रखते हुए वस्तुत्वको प्राप्त है।'

सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादि-भेदतः । भेदाऽभेद-विवक्षायामसाधारण-हेतुवत् ॥ ३४ ॥

'(यदि यह कहा जाय कि एकत्वके प्रत्यक्ष-बाधित होनेके कारण और पृथक्त्वके सदाद्यात्मकतासे बाधित होनेके कारण प्रतीतिका निर्विषयपना है तब सब पदार्थोंमें एकत्व और पृथक्त्वको कैसे अनुभूत किया जा सकता है? तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) सत्ता-अस्तित्वमें समानता होनेकी दृष्टिसे तो सब (जीवादि पदार्थ) एक हैं— इसलिये एकत्वकी प्रतीतिका विषय सत्सामान्य होनेसे वह निर्विषय नहीं है—और द्रव्यादिके भेदकी दृष्टिसे—द्रव्य, गुण और कर्मको अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी जुदी जुदी अपेक्षाको लेकर—सब (जीवादि पदार्थ) पृथक् हैं—इसलिये पृथक्त्वकी प्रतीतिका विषय द्रव्यादि भेद होनेसे वह निर्विषय नहीं है। जिस प्रकार असाधारण हेतु अभेदकी दृष्टिसे एक रूप और भेदकी दृष्टिसे अनेकरूप है उसी प्रकार सब पदार्थोंमें भेदकी विवक्षासे पृथक्त्व और अभेदकी विवक्षासे एकत्व सुघटित है।'

विवक्षा चाऽविवक्षा च विशेष्येऽनन्त-धर्मिणि । सतो विशेषणस्याऽत्र नाऽसतस्तैस्तदर्थिभिः ॥३५॥

'(यदि यह कहा जाय कि विवक्षा और अविवक्षाका विषय तो असत्‌रूप है तब उनके आधार पर तत्वकी व्यवस्था कैसे युक्त हो सकती है तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) अनन्तधर्मा विशेष्यमें विवक्षा तथा अविवक्षा जो की जाती है वह सत् विशेषणकी ही की जाती है असत्‌की नहीं और यह उनके द्वारा की जाती है जो उस विशेषणके अर्थी या अनर्थी हैं—अर्थी विवक्षा करता है और अनर्थी अविवक्षा । जो सर्वथा असत् है उसके विषयमें किसीका अर्थीपना या अनर्थीपना बनता ही नहीं—वह तो सकल अर्थक्रियासे शून्य होनेके कारण गधेके सींगके समान होता है।'

प्रमाण-गोचरौ सन्तौ भेदाऽभेदौ न संवृती । तावेकत्राऽविरुद्धौ ते गुण-मुख्य-विवक्षया ॥३६॥

'(हे वीर जिन !) भेद (पृथक्त्व) और अभेद (एकत्व-अद्वैत) दोनों (धर्म) सतरूप हैं—परमार्थभूत है—संवृतिके विषय नहीं—कल्पनारोपित अथवा उपचारमात्र नहीं हैं; क्योंकि दोनों प्रमाणके विषय हैं । (इसीसे) आपके मतमें वे दोनों एक वस्तुमें गौण और मुख्यकी विवक्षाको लिये हुए एकमात्र अविरोध रूपसे रहते हैं—फलतः जिनके मतमें भेद और अभेदको परस्पर निरपेक्ष माना है उनके यहाँ वे विरोधको प्राप्त होते हैं और बनते ही नहीं ।'

(ऐसी स्थितिमें (१) सर्वथा भेदवादी बौद्ध, जो पदार्थोंके भेदको ही परमार्थ सत्‌के रूपमें स्वीकार करते हैं—अभेदको नहीं, अभेदको संवृति (कल्पनारोपित) सत् बतलाते है और अन्यथा विरोधकी कल्पना करते हैं; (२) सर्वथा अभेदवादी ब्रह्माद्वैती आदि, जो पदार्थोंके अभेदको ही तात्विक मानते हैं—भेदको नहीं, भेदको कल्पनारोपित बतलाते हैं और अन्यथा दोनोंमें परस्पर विरोधकी कल्पना करते हैं; (३) सर्वथा शून्यवादी बौद्ध, जो भेद और अभेद दोनोंमेंसे किसीको भी परमार्थ सत्‌के रूपमें स्वीकार नहीं करते किन्तु उन्हें संवृति-कल्पनाका विषय बतलाते हैं; और (४) उभयवादी नैयायिक, जो भेद और अभेद दोनोंको सत् रूपमें मानते तो हैं परन्तु दोनोंको परस्पर निरपेक्ष बतलाते हैं, ये चारों ही यथार्थ वस्तु-तत्वका प्रतिपादन करनेवाले सत्यवादी नहीं हैं । इन सबकी दृष्टिसे इस कारिकाके अर्थका स्पष्टीकरण * निम्न प्रकार है:—)

'अभेद सत् स्वरूप ही है—संवृति (कल्पना) के विषयरूप नहीं; क्योंकि वह भेदकी तरह प्रमाणगोचर है । भेद सत् रूपही है—संवृतिरूप नहीं, प्रमाण गोचर होनेसे अभेदकी तरह । भेद और अभेद दोनों सत् रूप हैं—संवृतिके विषय रूप नहीं, प्रमाणगोचर होनेसे, अपने इष्ट तत्त्वकी तरह क्योंकि उन दोनोंको संवृतिरूप बतलाने वालों (शून्यवादियों) के यहाँ भी सकलधर्म-विधुरत्वरूप अनुमन्यभावका सद्भाव पाया जाता है । (यहाँ इन दोनों पक्षोंके अनुमानोंमें जो जो उदाहरण हैं वह साध्य-साधन धर्मसे विकल (रहित) नहीं हैं; क्योंकि भेद अभेद और अनुभय एकान्तोंके मानने वालोंमें उसकी प्रसिद्धि स्याद्वादियोंकी तरह पाई जाती है ।) इस तरह हे वीर भगवन् ! आपके यहाँ एक वस्तुमें भेद और अभेद दोनों धर्म परमार्थ सत्‌के रूपमें विरुद्ध नहीं हैं, मुख्य-गौणकी विवक्षाके कारण प्रमाणगोचर होनेसे अपने इष्टतत्वकी तरह । और इसलिये सामर्थ्यसे यह अनुमान भी फलित होता है कि जो भेद और अभेद परस्पर निरपेक्ष हैं वे विरुद्ध ही हैं, प्रमाणगोचर होनेसे भेदैकान्तादिकी तरह ।'

इति द्वितीयः परिच्छेदः।

---

* यह स्पष्टीकरण श्री विद्यानन्दाचार्यने अपनी अष्टसहस्री—टीकामें "इति कारिकायामर्थसंग्रहः" इस वाक्यके साथ दिया है ।

पं० जयचन्द और उनकी साहित्य-सेवा

(परमानन्द शास्त्री)

हिन्दी जैन-साहित्यके गद्य-पद्य लेखक विद्वानों और टीकाकारोंमें पं० जयचन्दजीका नाम भी उल्लेखनीय है। आप उस समयके हिन्दी टीकाकारोंमें सर्वश्रेष्ठ विद्वान थे। आपका प्राकृत और संस्कृत भाषा पर अच्छा अधिकार था, यही कारण है कि आप उनकी टीका करते हुए उन ग्रन्थोंके प्रतिपाद्य-विषय पर अच्छा प्रकाश डालनेमें समर्थ होसके हैं। जैनसिद्धान्तके साथ-साथ आपका अभ्यास दर्शन, काव्य, व्याकरण और छन्दादि विषयका भी अच्छा जान पड़ता है। आपका अध्ययन, अध्यापनसे विशेष प्रेम रहा है। आपके टीका-ग्रन्थोंमें विषयका स्पष्टीकरण और भाषाकी प्रांजलिता देखते ही बनती है। आपने तत्त्वार्थसूत्रपर लिखी जानेवाली देवनन्दी अपर नाम पूज्यपादकी तत्त्वार्थवृत्ति (सर्वार्थसिद्धि) की हिन्दी टीका समाप्त करते हुए अन्तिम प्रशस्तिमें अपना परिचय निम्न पद्योंमें व्यक्त किया है :—

'काल अनादि भ्रमत संसार, पायो नरभव मैं सुखकार।
जन्म फागई लयौ सुथानि, मोतीराम पिताकै आनि॥
पायो नाम तहां जयचन्द, यह परजाय तणूं मकरंद।
द्रव्यदृष्टि मैं देखूँ जबै, मेरा नाम आतमा कबै॥१२
गोत छावडा श्रावक धर्म, जामें भली क्रिया शुभ कर्म।
ग्यारह वर्ष अवस्था भई, तब जिन मारगकी सुधि लही॥१३
आन इष्टको ध्यान अयोगि, अपने इष्ट चलन शुभ जोगि।
तहां दूजो मंदिर जिनराज, तेरा पंथ पंथ तहां साज॥१४
देव-धर्म-गुरु सरधा कथा, होय जहां जन भाषैं यथा।
तब मो मन उमग्यो तहां चलो, जो अपनो करनो है भलो॥१५
जाय तहां श्रद्धा दृढ़ करी, मिथ्याबुद्धि सबै परिहरी।
निमित्त पाय जयपुरमें आय, बड़ी जु शैली देखी भाय॥१६
गुणी लोक साधर्मी भले, ज्ञानी पंडित बहुते मिले।
पहले थे बंशीधर नाम, धरै प्रभाव भाव शुभ ठाम॥१७
टोडरमल पंडित मति खरी, गोमटसार वचनिका करी।
ताकी महिमा सब जन करैं, वाचैं पढ़ै बुद्धि विस्तरैं॥१८
दौलतराम गुणी अधिकाय, पंडितराय राजमैं जाय।
ताकी बुद्धि लसै सब खरी, तीन पुराण वचनिका करी॥१९
रायमल्ल त्यागी गृह वास, महाराम व्रत शील निवास।
मैं हू इनकी संगति ठानि, बुधसारू जिनवाणी जानि॥२०

—सर्वार्थसिद्धि, नयामंदिरप्रति

इन परिचय-पद्योंसे मालूम होता है कि आप 'फागी' नामक ग्रामके निवासी थे। यह ग्राम जयपुरसे डिग्गीमालपुरा रोड पर ३० मीलकी दूरी पर बसा हुआ है। वहां आपके पिता मोतीरामजी 'पटवारी' का कार्य करते थे। इसीसे आपका वंश 'पटवारी नामसे प्रसिद्ध रहा है। दूसरे आपका घराना वहां प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित समझा जाता था। उक्त ग्राममें आपने ११ वर्षकी अपनी अवस्था व्यतीत हो जाने पर जैनधर्मकी ओर ध्यान दिया और उसीमें अपने हितको निहित समझकर आपने अपनी श्रद्धाको सुदृढ़ बनानेका यत्न किया। अतएव जैनधर्मके महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक ग्रंथोंका अभ्यास करनेका निश्चय किया; क्योंकि बिना किसी अध्ययन, मनन अथवा परिशीलनके वस्तुतत्त्वके अन्तःरहस्यका परिज्ञान होना अत्यन्त कठिन है। साथ ही, जैनधर्म-विषयक श्रद्धाके शैथल्य अथवा कमजोरीको, जो आत्महितमें बाधक थी, और जिससे संसार परिभ्रमणका अन्त होना संभव नहीं था, उसका परित्याग करदिया। उन्हीं दिनोंके लगभग सं० १८२१ में जयपुर नगरमें 'इन्द्रध्वजपूजामहोत्सव' का विशाल आयोजन किया गया था। उस समय यह उत्सव राजपूतानेमें सबसे महत्त्वपूर्ण और चित्ताकर्षक था। उत्सवमें दर्शनीय रचना आचार्य नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीके त्रिलोकसारके अनुसार बनाई गई थी और मण्डपको विविध उपकरणोंसे सजाया गया था। उक्त विशाल मण्डपमें पं० टोडरमल जी जैसे प्रखर विद्वान वक्ताके प्रवचन सुननेका खास आकर्षण जो था। इसीसे उक्त उत्सवमें दूर-दूरसे जन-समूह उमड़ पड़ा था। अतः उक्त उत्सवमें पं० जयचंद जी भी अवश्य ही पधारे होंगे और उस समय वहां जैन-धर्मका जो उद्योत हुआ उसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव उनके हृदय-पटलमें अवश्य अंकित हुआ होगा और उससे उन्हें जयपुर जैसी सुन्दर जगहमें रहकर अपने अभिमतको पूर्ण करनेकी प्रेरणा भी जरूर मिली होगी। और वे सम्भवतः उसके तीन-चार वर्ष बाद जयपुर अवश्य ही रहने लगे होंगे। क्योंकि उस समय जयपुरमें गुणीजनोंका सुयोग मिलना स्वाभाविक था। वहाँ उस समयसे पूर्व विद्वगोष्ठीका अच्छा जमाव था और जैनग्रन्थोंके पठन-पाठन तथा तत्त्वचर्चादि द्वारा धर्मके रहस्यको समझने तथा आत्महितकी ओर अग्रसर होनेका अवसर भी था, साधर्मीजनोंमें धर्मवत्सलता विद्य-

मान थी। यद्यपि उस समय उन्हें पं० टोडरमल जी नहीं मिले होंगे; क्योंकि उनका दुखद-वियोग सं० १८२४ में किसी समय हो गया था, जो जयपुरवासियोंके लिए ही नहीं किन्तु समस्त जैनसमाजके लिये दुर्भाग्यपूर्ण था; अस्तु, फिर भी जयपुरमें प० दौलतरामजी कासलीवाल, ब्रह्म रायमलजी और शीलव्रती महारामजी, आदि विद्वज्जन थे ही जिनका सत्सङ्ग बड़ा ही लाभदायक था, उनसे तत्त्वचर्चादि द्वारा वस्तुतत्त्वके अन्तः रहस्यको समझने या परिशीलनादि द्वारा उसके गुप्त मार्गके महत्त्वको प्रगटरूपमें जाननेका सुअवसर प्राप्त था। अतः पं० जयचन्द्रजीने जयपुरमें रह कर सैद्धान्तिक ग्रन्थोंके अध्ययन एवं मनन द्वारा अपने ज्ञानकी वृद्धि करनेका प्रयत्न किया और उक्त विद्वानोंकी गोष्ठीसे जो लाभ मिल सकता था उसका भी पूरा लाभ उठाया। और इस तरह अपनी ज्ञान-पिपासाको शान्त करनेका उपक्रम किया। और कुछ वर्षोंके सतत परिश्रम तथा अध्यवसाय द्वारा आपने जैन-सिद्धान्तके रहस्यका यथेष्ट परिज्ञान कर लिया। और वे अब समाजके शास्त्र-सभादि कार्योंमें भी यथेष्ट भाग लेने लगे थे। पं० जी के स्वभावमें जहां सरलता और उदारता थी, वहां उनका चारित्र भी अनुकरणीय था, उनका रहन-सहन वेष-भूषा सीधा-सादा और खान-पानादि व्यवहार श्रावकोचित था। वे विद्या-व्यसनी थे, अतः उनके मकान पर पढ़नेके इच्छुक विद्यार्थियोंका तांता लगा रहता था। उनके कई प्रमुख शिष्य थे, जिन्होंने पंडितजीसे अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। प० जी सद्गृहस्थ थे और अपने पद एवं कर्तव्यका सदा ध्यान रखते थे।

पुत्र ज्ञानचन्द्र

आपने अपने पुत्र ज्ञानचन्द्रको भी अच्छी तरह पढ़ा लिखा कर सुयोग्य विद्वान बना दिया था। और वह स्वयं पण्डित जी के साथ पठन-पाठनादि कार्योंमें सहयोग देने लगा था, और समाजमें धीरे-धीरे उसकी विद्वत्ताकी छाप जमने लगी थी। उसके ज्ञानका विकास इतना अच्छा हो गया था कि वह अपने प्रतिवादीसे कभी पराजित नहीं हो सकता था। वह उन धार्मिक-कार्योंमें केवल सहयोग ही नहीं देता था; किन्तु उनके द्वारा रचित टीका-ग्रन्थोंके संशोधन कार्योंमें भी अपना पूरा सहयोग प्रदान करता था। चुनांचे पण्डितजीने स्वयं ही अपने पुत्र द्वारा टीकाओंके संशोधनकी बात स्वीकार की है। और उसे गुणी एवं बड़ा प्रवीण पण्डित भी बतलाया है। उसने भी टीका-ग्रन्थोंके बनानेकी प्रेरणा की * इससे पण्डित ज्ञानचन्द्रजीकी विद्वत्ताका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। वास्तवमें पण्डितजीका पुत्र भी उन्हीं जैसा ठोस विद्वान था। और वह गो-वत्सके समान प्रेम रखकर बालकोंको विद्याध्ययन कराता था ×।

मन्नालाल, उदयचन्द और माणिकचन्द उनके प्रमुख शिष्य थे। जिनका परिचय फिर कभी कराया जायेगा।

पं० नन्दलालजीकी शास्त्रार्थमें विजय

पण्डित नन्दलालजीके सम्बन्धमें कहा जाता है कि एक बार एक बड़ा विद्वान जयपुरके विद्वानोंको पराजित करनेकी इच्छासे जयपुरमें आया। परन्तु नगरका कोई भी विद्वान् उससे शास्त्रार्थ करनेके लिये प्रस्तुत नहीं हुआ। अतएव जयपुरके विद्वानोंकी अकीर्ति न हो और राज्य-कीर्तिके साथ विद्वानोंकी विद्वत्ताकी छाप भी बनी रहे, इसके लिये कुछ राज्य-कर्मचारियों और विद्वान् पंचोंने पं० जयचन्दजीसे उक्त विद्वानसे शास्त्रार्थ करनेकी प्रेरणा की, और कहा कि आप ही विजय पा सकते हैं, और नगरकी प्रतिष्ठाको कायम रख सकते हैं। अतः शास्त्रार्थके लिये आप चलें अन्यथा नगरकी बड़ी तौहीन (बदनामी) होगी। क्योंकि इस नगरको एक विदेशी विद्वान पराजित कर चला जायगा, उससे इस नगरके विद्वानोंकी प्रतिष्ठाको भी धक्का लगेगा। तब पण्डितजीने उत्तर दिया कि मैं जयपराजयकी दृष्टिसे किसीसे शास्त्रार्थ करने नहीं जा सकता, किन्तु आप लोगोंका यदि ऐसा ही आग्रह है तो आप मेरे पुत्र नन्दलालको ले जाइये, वह उससे शास्त्रार्थ करेगा। इस पर उपस्थित लोग पं० नन्दलालजीको ले गये। शास्त्रार्थ हुआ और तब नन्दलालजीने उस विदेशी विद्वानको युक्ति बलसे पराजित कर दिया। उसके परिणाम स्वरूप राज्य तथा नगर पंचोंकी ओरसे पं० नन्दलालजीको कुछ उपाधि मिली थी।

---

* जैसा कि प्रमेयरत्नमाला प्रशस्तिके निम्न दोहे से प्रकट है—

लिखी यहै जयचन्दनैं सोधी सुतनन्दलाल।
बुधलखि भूलि जुशुद्धकरि बांचौ सिखैवो बाल ॥१६॥
नन्दलाल मेरा सुत गुनी बालपनेतैं विद्यासुनी।
पण्डित भयो बड़ौ परवीन, ताहू ने यह प्रेरणकीन ॥
—सर्वार्थसिद्धि प्रशस्ति

× तिनसम तिनके सुत भये बहुज्ञानी नन्दलाल।
गायवत्स जिम प्रेमकी बहुत पढ़ाये बाल ॥—मूला. प्र०

उसके सम्बन्धमें पं० जयचन्दजीने आवश्यक कर्तव्यमें प्रति फलस्वरूप उपाधि वगैरह का लेना उस कर्तव्य की महत्ता को कम करना है। इत्यादि वाक्य कहकर उस पदवीको वापिस करा दिया। इससे पाठक पं० नन्दलालजीकी योग्यताको समझ सकते हैं कि वे कितने ठोस विद्वान थे।

निष्काम कार्य करना ही मानव जीवनको महत्ता एवं आदर्श है। किसी दिन सुअवसर देखकर दीवान अमरचन्दजीने पं० नन्दलालजीसे कहा कि कालदोषसे जीवोंकी बुद्धि नित्य क्षीण होती जा रही है। अतः साधु-आचारको व्यक्त करने वाले ग्रन्थकी अब तक कोई भाषा टीका नहीं है। इसलिये यदि मूलाचार (आचारांग) की हिन्दी टीका बनाई जाय तो लोगोंका बहुत उपकार होगा। चुनांचे स्व-पर-हितकी भावना रखकर आपने मूलाचारकी हिन्दी टीका बनानेका उद्यम किया। टीकाके लिखनेका काम उन्होंने अपने प्रिय शिष्यों पर (मुन्नालाल उदयचन्द माणिकचन्द पर) सौंपा, आप बोलते जाते थे और वे लिखते जाते थे। इस तरह ५१६ गाथाओं तककी टीका हो पाई थी कि पं० नन्दलालजीका असमयमें ही देवलोक होगया*। उनके असमयमें वियोग होनेसे पण्डितजी और सभी साधर्मी भाइयोंको बड़ा दुख हुआ। बादमें उस टीकाको उनके सहपाठी शिष्य ऋषभदासजी निगोत्याने उसे पूरा किया। पण्डितजीके पुत्रका नाम घासीराम था, संभवतः वह भी अच्छे विद्वान् रहे होंगे। पर उनके सम्बन्धमें मुझे कुछ विशेष ज्ञान नहीं हो सका।

* तिनसौं निज परहेत लखि कही दीवान प्रवीन।
काल-दोषतैं नरनकी, होत बुद्धि नित खीन॥
साधुतणों आचारको, भाषा ग्रन्थ न कोय।
तातैं मूलाचारकी, भाषा जो अब होय॥
तब उद्यम भाषातणों, करन लगे नन्दलाल।
मन्नालाल अरु, उदयचन्द, माणिकचन्द जुबाल॥
नन्दलाल तिनसौं कही, भाषा लिखो बनाय।
कहीं अरथ टीका सहित, भिन्न भिन्न समझाय॥
पूरन षट् अधिकार कराय, पन्द्रह गाथा अरथ लिखाय।
सोलह अधिक पांचसैं सही, सब गाथा यह संख्या लही।
आयुष पूरन करि गये, ते परलोक सुजान।
विरह बचनिकामें भया, यह कलिकाल महान्॥
सब साधरमी लोककैं, भयो दुःख भरपूर।
अथिर लख्यो संसार जब, भयो शोक तब दूर॥

—मूलाचार प्रश०

पण्डितजीने जिन ग्रन्थोंका अध्ययन अपनी ज्ञान वृद्धिके लिये किया था उनके नामादिकोंका उल्लेख उन्होंने सर्वार्थसिद्धिकी टीका-प्रशस्तिमें कर दिया है। आपका शास्त्र ज्ञान अब विशेषरूपमें परिपक्व होगया—तभी आपने टीकाग्रन्थोंके रचनेका उपक्रम किया, उससे पूर्व वे उक्त ग्रन्थोंके अध्येता ही बने रहे।

ग्रन्थोंकी भाषा

आपके टीका-ग्रन्थोंकी भाषा परिमार्जित है और वह आधुनिक हिन्दी भाषाके अधिक निकट है, यद्यपि उसमें ढूंढाहड देशकी भाषाका भी कुछ प्रभाव लक्षित होता है फिर भी उसका विकसितरूप हिन्दीका ही समुज्वल रूप है। यदि उसमेंसे क्रियापदको बदल दिया जाता है तो उसका रूप आधुनिक हिन्दी भाषामें भी समाविष्ट हो जाता है। पं० जयचन्दजीके टीका ग्रन्थोंके दो उद्धरण नीचे दिये जारहे हैं जिनसे पाठक उनकी भाषासे परिचित हो सकेंगे।

"बहुरि वचन दोय प्रकार हैं, द्रव्यवचन, भाववचन। तहां वीर्यान्तराय मति श्रुतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम होतैं अंगोपांगनामा नामकर्मके उदयतैं आत्माके बोलनेकी सामर्थ्य होय, सो तौ भाववचन है। सो पुद्गलकर्मके निमित्ततैं भया तातैं पुद्गलका कहिये। बहुरि तिस बोलनेकी सामर्थ्य सहित आत्माकरि कंठ तालु वा जीभ आदि स्थाननिकरि प्रेरे जे पुद्गल, ते वचन रूप परिणये ते पुद्गल ही है। ते श्रोत्र इन्द्रियके विषय है, और इन्द्रियके ग्रहण योग्य नाहीं हैं। जैसैं घ्राणइन्द्रियका विषय गंध द्रव्य है, तिस घ्राणके रसादिक ग्रहण योग्य नाहीं है तैसें।"—सर्वार्थसिद्धिटीका ५-१६

"जैसे इस लोकविर्षे सुवर्ण अर रूपाकूं गालि एक किये एक पिंडका व्यवहार होय है, तैसें आत्माके अर शरीरके परस्पर एक क्षेत्रावगाहकी अवस्था होतैं, एक पणाका व्यवहार है, ऐसैं व्यवहारमात्र ही करि आत्मा अर शरीरका एकपणा है। बहुरि निश्चयतैं एकपणा नाहीं है, जातैं पीला अर पांडुर है स्वभाव जिनिका ऐसा सुवर्ण अर रूपा है, तिनकै जैसैं निश्चय विचारिये तब अत्यन्त भिन्नपणा करि एक एक पदार्थपणाकी अनुपपत्ति है, तातैं नानापना ही है। तैसैं ही आत्मा अर शरीर उपयोग अनुपयोग स्वभाव हैं। तिनिकै अत्यन्त भिन्नपणातैं एक पदार्थपणाकी प्राप्ति नाहीं तातैं नानापणा ही है। ऐसा प्रगट नय विभाग है।"

—समयसार २८

इन दो उद्धरणोंसे पण्डितजीकी हिन्दी गद्यभाषाका

परिचय मिल जाता है। आपकी रचनाओंमें आदि अन्त मङ्गलके साथ ग्रन्थमें प्रत्येक अध्यायके अन्तमें वर्णित विषयका सार खींचते हुए जो सवैया या दोहा कवित्त आदि पद्य दिये हुए हैं उनके भी दो तीन नमूने नीचे दिये जारहे हैं जिनसे उनकी पद्य-रचनाका भी आभास मिल जाता है।

पण्डितजीने अपनी सर्वार्थसिद्धि टीकाके ९ वें अध्यायके शुरूमें निम्न मङ्गल-दोहा दिया है।

आस्रव रोकि विधानतैं, गहि संवर सुखरूप।
पूर्वबन्धकी निर्जरा, करी नमूँ जिनभूप ॥१॥

अध्यायकी समाप्तिके बादका निम्न इकतीसा सवैया भी पढ़िये जिसमें उक्त अध्यायमें चर्चित होनेवाले, संवर-निर्जरा, गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रका स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है। और उनके स्वरूप निर्देशके साथ उनके स्वामित्वादि विषयका संक्षिप्त सार दिया हुआ है—

आस्रव निरोधरीति संवर सुबाधनीति कारण विबोधगीत जानिये सुज्ञानतैं। गुपति समिति धर्म जानूं अनुप्रेक्षा मर्म, सहन परीषह परीस्या श्रम ठानिये उठानतैं ॥ संयम सँभारि करौ तप अविकार धरो उत्तम विचारि ध्यान धारिये विधानतैं। नवमां अध्याय मांहि भाषे विधिरूप ताहि जानि धारि कर्मटारि पावौ शिवमानतैं ॥१॥

इसी तरह आपके सभी टीका ग्रन्थोंमें उक्त रीतिसे पद्योंमें सार खींचकर रखनेका उपक्रम पाया जाता है जिससे उनकी कविता करनेकी प्रवृत्तिका भी सहज ही बोध हो जाता है। यद्यपि पदसंग्रहको छोड़कर उनका कोई स्वतंत्र पद्यात्मक ग्रन्थ जो किसी ग्रन्थके अनुवाद रूपमें प्रस्तुत न किया गया हो रचा हुआ मालूम नहीं पड़ता। और रचा भी गया हो तो वह मेरे सामने नहीं हैं। फिर भी समयसार टीकाके मङ्गल पद्यका चतुर्थ 'छप्पय' छन्द ध्यान देने योग्य हैं जिसमें 'समय' शब्दके अर्थ और नामोंका बोध कराते हुए समयमें सार भूत जीव पदार्थको सुननेकी प्रेरणा की गई है और जिस कर्म मलसे रहित शुद्ध जीव रूप सारको शुद्धनय कहता है उसीका कथन उक्त समयसार नामक ग्रन्थमें किया गया है जिसे बुधजन ग्रहण करते हैं। वह छप्पय इस प्रकार है:—

'शब्द अर्थ अरुज्ञान समयत्रय आगम गाये।
मत सिद्धान्त अरु काल-भेदत्रय नाम बताये॥
इनहिं आदि शुभअर्थ समय वचके सुनिये बहु।
अर्थ समयमें जीव नामं है सार सुनहु सहु॥
तातैं जु सार विन कर्ममल शुद्धजीव शुधनय कहैं।
इस ग्रन्थमांहिकथनीसबै, समयसार बुधजनगहैं॥

इसी तरह ज्ञानार्णव ग्रन्थकी टीका करते हुए उसके अन्तमें निम्न पद्य दिया है जिसमें ज्ञानार्णवग्रन्थकी महत्ताका उल्लेख करते हुए लिखा है कि जो व्यक्ति ज्ञान समुद्रका विचार करता है वह संसार-समुद्रसे पार हो जाता है। जैसा कि उनके निम्न सवैयासे स्पष्ट है:—

'ज्ञानसमुद्र जहां सुखनीर पदारथ पंकतिरत्न विचारो.
राग-विरोध-विमोह कुजंतु मलीन करो तिनदूर विदारो।
शक्ति सभार करो अवगाहन निर्मलहोय सुतत्त्व उधारो,
ठानक्रिया निजनेम सबै गुन भोजनभोगन मोक्षपधारो॥'

ज्ञानार्णवके छठवें अधिकारके अन्तमें एक छप्पय छन्दमें उक्त अधिकारमें चर्चित विषयका सार कितने सुन्दर शब्दोंमें व्यक्त किया है:—

सप्ततत्त्व षट्द्रव्य, पदारथ नव मुनि भाखे।
अस्तिकाय सम्यक्त्व, विषय नीके मन राखे॥
तिनको सांचे जान, आप-पर भेद पिछानहु।
उपादेय है आप, आन सब हेय बखानहु॥
यह सरधा साँची धारकै मिथ्याभाव निवारिये।
तब सम्यग्दर्शन पायकैं थिर ह्वै मोक्ष पधारिये॥१

इस तरह प्रायः सभी ग्रन्थोंके अधिकारान्तमें दिये हुए तद्गत ग्रन्थके विवेच्य विषयका सार छंदसे पद्यमें बड़ी खूबीके साथ अंकित करनेका प्रयत्न किया गया है। इन सब उद्धरणोंसे पाठक पंडितजीकी काव्य-प्रतिभाका सहज ही अनुमान कर सकते हैं। वे हिन्दीकी तरह संस्कृत भाषामें भी अच्छे पद्योंकी रचना कर सकते थे।

पंडित जयचन्द्रजीके इन टीका-ग्रन्थोंका अध्ययन करके सैकड़ों व्यक्तियोंने लाभ उठाया है और उठा रहे हैं। इससे पंडितजी द्वारा महा उपकारकी बात और कौन सी हो सकती है?

जीवनचर्या और परिणति

पंडितजी गृही जीवनसे सदा उदास और जिनवाणीकी सेवामें अनुरक्त रहे हैं। पंडितजीकी जीवन-चर्याका उल्लेख करते हुए उनके शिष्य श्री ऋषभदासजी निगोत्याने मूलाचार प्रशस्तिमें निम्न पद्य दिये हैं जिनसे पंडितजीकी परिणतिका सच्चा आभास मिल जाता है:—

'तिनकी मति निरपक्ष विशाल,
जिनमत ग्रन्थ लखे गुणमाल।

विषय-भोगसौं रहैं उदास,
जिन आगम को करैं अभ्यास ॥
न्याय छंद व्याकरण अरु, अलंकार साहित्य।
मतकूं नीकै जानिकैं, कहैं वैन जे सत्य ॥
न्याय अध्यातम ग्रन्थकी, कथनी करी रसाल।
टीका भाषामय करी, जामैं समझैं बाल ॥

भव-भोगोंके प्रति वे केवल उदासीन ही नहीं रहे; किन्तु उनकी दृष्टि इन्द्रिय-जयके साथ आन्तरिक रागादिक शत्रुओंके जयकी ओर रही है। वे सांसारिक कार्योंसे परान्मुख रहकर घरमें जल-पंकवत् अलिप्त एवं निस्पृह रहे हैं। उनकी आत्म-परिणति अत्यन्त निर्मल थी और वह विभाव-भावोंकी सरिताको शोषण करनेकी ओर रही है। आध्यात्मिकता तो उनके जीवनका अंग ही बन गई थी वे वस्तुतत्त्वका कथन करते हुए आत्म-विभोर हो जाते थे। और समयसार की सरस वाणीमें सराबोर हो उठते थे। वे इस बातका सदैव ध्यान रखते थे कि मेरी किसी परिणति अथवा व्यवहारसे किसी दूसरे साधर्मी या मानवको बाधा न पहुँचे। यही कारण है कि उस समय तेरा-बीस पंथकी चल रही कशमकश रूप कर्दमके असहिष्णु तीव्र प्रवाहमें वे नहीं बहे, वे सदा वस्तुस्थितिका विवेचन करते हुए विवादसे कोसों दूर रहे। उसके प्रति उनकी भारी उपेक्षा ही तेरा बीस-पंथ-भेद-सम्बन्धी कटुताको कम करनेमें सहायक हुई है। यद्यपि दूसरे लोगोंने अपने पंथके व्यामोहवश अकल्पित एवं अकरणीय अनर्थोंके करानेमें जरा भी हिचकिचाहट नहीं की। परन्तु उस विषम परिस्थितिमें भी तेरा-पंथके अनुयायियोंने बड़ी शान्ति और सहिष्णुताका परिचय दिया। यही कारण है कि वे उत्तरोत्तर वृद्धि पाते गए। और उनकी रचनाएँ भी उभय पंथमें लोकप्रिय होती गईं। इससे विरोधाग्निकी धधकती हुई वह भीषण ज्वाला बिना किसी प्रयासके शान्त हो गई। यद्यपि उसके लिये कितनोंको अपने जीवनकी होली में झुलसना पड़ा। परन्तु उत्तरकालमें शान्तिके सरस एवं सुखद वातावरणने उसे सदाके लिये भुला दिया।

आपके द्वारा विनिर्मित 'प्रमेयरत्नमाला' आदि दार्शनिक टीका-ग्रन्थोंको देखकर पं० भागचन्दजी जैसे विद्वानोंको भी साहित्यिक कार्य करनेकी प्रेरणा मिली है—और दूसरे विद्वानों को भी गति-दान मिला है। पं० भागचन्दजीने तो उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए जो पद्य दिये हैं वे इस प्रकार हैं:—

जयचन्द्र इति ख्यातो जयपुर्यामभूत्सुधीः।
दृष्ट्वा यस्याक्षरन्यासं मादृशोऽपीदृशी मतिः ॥१
यया प्रमाण-शास्त्रस्य संस्वाद्य रसमुल्वणं।
नैयायिकादिसमया भासन्ते सुष्ठु नीरसाः ॥२

—प्रमाणपरीक्षा टीका

यहाँ यह बात विचारने योग्य है कि जब पं० जयचन्द्रजी अपना उदासीन जीवन विताते हुए समाज-सेवाके साथ जिनवाणीके उद्धार एवं प्रचारकार्यमें संलग्न थे, तब उनके गृहस्थ-सम्बन्धि खर्चकी पूर्ति कैसे होती होगी? इस प्रश्नका उठना स्वाभाविक ही है; परन्तु इस प्रश्नका समाधान कारक वाक्य भी उपलब्ध है जिससे इस प्रश्नको कोई महत्व नहीं दिया जा सकता। यद्यपि पं० जी अत्यन्त मितव्ययी और बड़े ही निस्पृह विद्वान थे। उनमें याचकजनों जैसी दीनवृत्तिका सर्वथा अभाव था, उनका व्यक्तित्व महान और चरित उदार था। मालूम होता है कि जयपुरमें उस समय अनेक समृद्ध जैनी थे। जो बड़े ही धर्मनिष्ठ उदार और राजकार्यमें दक्ष थे। यह बात खास तौरसे ध्यान देने लायक है कि उस समय जयपुरमें राजा जगतसिंहजीका राज्य था, और कई जैनी राज्यकीय दीवान (आमात्य) जैसे उच्च पदोंपर आसीन थे। उन्हीं दिनों दीवान बालचन्दजी छावड़ाके सुपुत्र रायचन्द्रजी चावड़ा दीवान पद पर प्रतिष्ठित थे। और अमरचन्दजी दीवान भी अपने पिता शिवजीलालजी दीवानके पद पर प्रतिष्ठित थे, जो बड़े ही धर्मात्मा, विद्वान, उदार और दयालु थे। उनके आर्थिक सहयोगसे कई बालक विद्या अध्ययन करते थे। इतना ही नहीं; किन्तु वे दीन दुखियोंकी हमेशा सहायता किया करते थे। इसी तरह रायचन्द्रजी छावड़ा भी धर्मवत्सलतामें कम न थे। इन्होंने सं० १८६१ में एक जिनमन्दिर बनवाया था और उसमें चन्द्रप्रभु भगवानकी मूर्ति प्रतिष्ठित की थी। कहा जाता है कि उक्त दीवानजीके साथ पंडितजीकी घनिष्ठ मित्रता थी। बहुत सम्भव है कि पंडित जीको उनसे कुछ आर्थिक सहयोग मिलता हो, क्योंकि पंडित जयचन्दजीने स्वयं ही सर्वार्थसिद्धिकी टीकाप्रशस्तिमें लिखा है कि उन रायचन्द्रजी छावड़ाके द्वारा स्थिरता प्राप्त कर हमने यह वचनिका लिखी है। यथा—

"नृपके मंत्री सब मतिमन्त, राजनीतिमें निपुण पुराण।
सबही नृपके हितकों चहैं, ईति-भीति टारैं सुख लहैं ॥४
तिनमें रायचन्द गुण धरै, तापरि कृपा भूप अति करै।
ताकै जैन धर्मकी लाग, सब जैननिसूं अति अनुराग ॥

करो प्रतिष्ठा मंदिर नयौ, चन्द्रप्रभजिन थापन थयौ।
ताकरि पुण्य बढौ यश भयौ सब जैनिनकौ मन हरखयौ॥
ताके ढिग हम थिरता पाय, करी वचनिका यह मन लाय।

इस रेखांकित पंक्तिसे स्पष्ट ध्वनित होता है कि पंडितजी-की आर्थिक स्थिरताके कारण दीवान रायचन्द्रजी थे। इसीसे निश्चिन्त होकर वे टीकाका कार्य करनेमें प्रवृत्त हो सके हैं। अस्तु।

टीका कार्य

पंडित जयचन्दजीने अनेक ग्रन्थोंकी टीकाएँ बनाई हैं। जिनका रचनाकाल सं० १८६१ से सं० १८७० तक पाया जाता है। इन दश वर्षोंके भीतर पंडितजीने अपनी संचित ज्ञानराशिके अनुभवको इन टीकाग्रन्थोंमें बडे भारी परिश्रम-के साथ रखनेका उपक्रम किया है। इन सब टीकाग्रन्थोंमें सबसे पहली टीका सर्वार्थसिद्धि की है जो देवनन्दी अपरनाम पूज्यपादकी 'तत्त्वार्थवृत्ति' की है। इस संस्कृत भाषकी संक्षिप्त, गूढ एवं गम्भीर वृत्तिका केवल अनुवाद ही नहीं किया; किन्तु उसमें चर्चित विषयोंके स्पष्टीकरणार्थ तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक आदि महान ग्रन्थों परसे आवश्यक सामग्रीको दे दिया है जिससे जिज्ञासुओंको वस्तु तत्त्वका यथार्थ बोध हो सके। इस टीकाको उन्होंने वि० सं० १८६१ में चैत्रसुदि पंचमीके दिन समाप्त किया है। जैसा कि उनके निम्न दोहेसे स्पष्ट है:—

संवत्सर विक्रमतणूं, शिखि रस-गज शशि अंक
चैत शुक्ल तिथि पंचमी, पूरण पाठ निशंक ॥ ३७॥

दूसरी टीका प्रमेयरत्नमालाकी है जो आचार्य माणिक्य-नन्दिके 'परीक्षामुख' नामक ग्रन्थकी टीका है और जिसके कर्ता लघुअनन्तवीर्य हैं, जिसे उन्होंने बदरीपाल वंशके सूर्य वैजेय और नाणाम्बाके पुत्र हीरपके अनुरोधसे बनाई थी। यह टीका भी न्यायशास्त्रके प्रथम अभ्यासियोंके लिये उपयोगी है। इस टीकाको उन्होंने वि० सं० १८६३ में आषाढ सुदि चतुर्थी बुधवारको बनाकर समाप्त किया है *।

तीसरी टीका 'द्रव्यसंग्रहकी है, जिसके कर्ता नेमिचन्द्रा-चार्य हैं इस ग्रन्थमें छह द्रव्योंका सुन्दर कथन दिया हुआ है। इस ग्रन्थकी टीका भी उन्होंने वि० सं० १८६३ में समाप्त की है १। इस ग्रन्थका दोहामय, पद्यानुवाद भी उपलब्ध है जो अभी तक अप्रकाशित है।

चौथी टीका 'स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' की है, इसके कर्त्ता स्वामिकुमार हैं। यह ग्रन्थ भी प्राकृत भाषाका है, इस ग्रन्थमें बारह भावनाओंका सविस्तार वर्णन है। यह टीका भी सं० १८६३ में बनी है २।

पांचवीं टीका 'समयसार मूल और आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति नामक संस्कृत टीकाकी वचनिका है। यह टीका कितनी सुन्दर और विषयका स्पष्ट विवेचन करती है। टीकाकारने मूल और टीकाके अभिप्रायको भावार्थ आदि द्वारा खोलनेका प्रयत्न किया है। ग्रन्थान्तमें टीका समाप्तिका काल सं० १८६४ दिया हुआ है।-

संवत्सर विक्रमतणूं अष्टादश शत और।
चौसठि कातिक वदि दशौं, पूरण ग्रन्थ सुठौर ॥३

छठवीं टीका 'देवागम' स्तोत्र या आप्तमीमांसा की है। जिसे पंडितजीने बडे ही परिश्रमसे अष्टसहस्री आदि महान् तर्क ग्रन्थोंका सार लेकर सं० १८६६ में बना है।

सातवीं टीका आचार्य कुन्दकुन्दके अष्टपाहुड नामक ग्रन्थ की है जिसके कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द हैं। इनमें षट् पाहुडकी संस्कृत टीका श्रुतसागर सूरिकी थी उसके अनुसार और शेष दो पाहुड ग्रन्थोंकी—लिंगपाहुड और शील-पाहुडोंकी—विना किसी टिप्पणके स्वयं ही की है। और अन्तमें अपनी लघुता व्यक्त करते हुए विद्वानोंसे संशोधनकी प्रेरणा की है। आपने यह टीका वि० सं० १८६७ भादों सुदि १३ को बना कर समाप्त की है यथा—

संवत्सर दश आठ सत सतसाठ विक्रम राय।
मास भाद्रपद शुक्ल तिथि तेरसि पूरन थाय॥ ११॥

आठवीं टीका 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थकी है जिसके कर्ता आचार्य शुभचन्द्र हैं। यह योगका बड़ा ही सुन्दर एवं सरस ग्रन्थ है। इस ग्रन्थकी वचनिका सं०१८६९ में बनाई गई है।

नौमी टीका भक्तामरस्तोत्रकी है जिसे उन्होंने सं० १८७० में पूर्ण किया है।

---

* अष्टादशशत साठि त्रय, विक्रम संवत माहिं।
सुकल असाढ सुचौथि बुध, पूरण करी सुचाहि।

१—संवत्सर विक्रमतणूं, अठदश शतत्रय साठ।
श्रावणवदि चौदसि दिवस, पूरण भयो सुपाठ॥ ४॥

२—संवत्सर विक्रमतणूं, अष्टादश शत जानि।
त्रेसठि सावण तीजवदि, पूरण भयो सुमानि॥ १२॥
—स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा

इनके सिवाय, सामायिक पाठ (संस्कृत प्राकृत) यह ग्रंथ भी अनंतकीर्ति ग्रंथमाला बम्बईसे मुद्रित हो चुका है। शेष निम्न ग्रन्थ अभी अप्रकाशित ही हैं। पत्र-परीक्षा, चन्द्रप्रभचरित्रके द्वितीय न्यायविषयकसर्गकी टीका बनाई हैं। पं० जयचन्द्रजीके पदोंकी पुस्तकका भी उल्लेख मिलता है। तथा उसका रचनाकाल सूचीमें १८७४ दिया हुआ है। पर उसे सूचीमें अपूर्ण बतलाया है।

इन सब टीका ग्रन्थोंसे पंडित जयचन्दजीकी साहित्य-सेवाका अनुमान लगाया जा सकता है। और उससे समाजको क्या कुछ लाभ मिला या मिल रहा है यह बात उन ग्रन्थोंकी स्वाध्याय करने वाले सज्जनोंसे छिपी हुई नहीं है।

नोटः—इस लेखमें पृष्ठ १७० के प्रथम कालममें पुत्र नन्दलालकी जगह ज्ञानचन्द छप गया है कृपया उसे सुधार कर पढ़ें

—:X:—

असंज्ञी जीवोंकी परम्परा

(डा० हीरालाल जैन एम० ए०)

(गत किरण ४-५-से आगे)

विशेषावश्यक भाष्य (जिनभद्रगणि कृत ७वीं शताब्दि) में एकेन्द्रियादि जीवोंके अल्प मनका सद्भाव सुस्पष्ट ही स्वीकार किया गया है व द्वीन्द्रियादि जीवोंमें उसका तरतमभाव कहा गया है। इसके लिये निम्न गाथाएँ ध्यान देने योग्य हैं—

जइ सण्णासंबंधेण सण्णिणो तेण सण्णिणो सव्वे
एगिंदियाइयाणवि जे सण्णा दसविहा भणिया ॥५०८॥
थोवा न सोहणाऽविय जं सा तो नाहिकीरए इहइं।
करिसावणेण धणवं न रूववं मुत्तिमेत्तेणं ॥ ५०९ ॥
जइ बहुदव्वो धणवं पसत्थरूवो य रूववं होइ।
महईए सोहणाए य तह सण्णी नाणसण्णाए ॥५१०॥
अविसुद्धचक्खुणो जह णाइपयासम्मि रूवविण्णाणं
असण्णिणो तहऽत्थे थोवमणोदव्वलद्धिमओ ॥५१४॥
जह मुच्छियाइयाणं अव्वत्तं सव्वविसयविण्णाणं
एगिंदियाण एवं सुद्धयरं बे इंदियाईणं ॥ ५१५ ॥
तुल्ले छेयगभावे जं सामत्थं तु चक्करयणस्स।
तं तु जहक्कमहीणं न होइ सरपत्तमाईणं ॥ ५१६ ॥
इय मणोविसईणं जा पडुया होई उग्गहाईसु।
तुल्ले चेयणभावे अस्सण्णीणं न सा होइ ॥ ५१७ ॥
जे पुण संचितेउं इट्ठाणिट्ठेसु विसयवत्थूसुं।
वट्टंति णियट्टंति य सदेहपरिपालणाहेउं ॥ ५१८ ॥

'अर्थात् यदि संज्ञाका सम्बन्ध होनेसे ही जीव संज्ञी कहे जावें तो समस्त जीव संज्ञी होंगे, क्योंकि, एकेन्द्रियादिक जीवोंके भी दश प्रकारकी संज्ञा (आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, ओघ और लोक) कही गई है। किन्तु संज्ञी जीवोंमें इस थोड़ी सी विशेषता रहित संज्ञाकी प्रधानता नहीं दी गई, क्योंकि जिसके पास एक पैसा रूप धन हो उसे धनवान् नहीं कहते और न मूर्त शरीर होने मात्रसे किसीको रूपवान् कहते। जिसके पास खूब द्रव्य हो उसे ही धनवान् कहा जाता है और रूपवान् भी वही कहलाता है जिसका रूप प्रशंसनीय होता है। इसी प्रकार जिस जीवके महती और 'शोभना' अर्थात् सुविकसित और विशेषतायुक्त संज्ञा होती है वही जीव ज्ञान संज्ञाकी अपेक्षा संज्ञी माना गया है। जैसे—जिसकी आंखें खूब साफ न हों और प्रकाश भी कुछ मन्द हो तो उसे रूपका अर्थात् वस्तुके रंग आदिका साफ-साफ ज्ञान नहीं हो सकता, उसी प्रकार जिसको थोड़ीसी ही मनोद्रव्यलब्धि प्राप्त है ऐसे असंज्ञी जीवको वस्तुका अस्पष्ट बोध होता है। तथा जिस प्रकार मूर्छित अर्थात् बेहोश हुए संज्ञी जीवोंके सब विषयोंका विशेष ज्ञान अव्यक्त होता है, उसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवोंके जानना चाहिये। उनसे कुछ शुद्धतर ज्ञान द्वीन्द्रिय जीवोंके पाया जाता है और इसी क्रमसे वह ऊपरके जीवोंके बढ़ता हुआ पाया जाता है।'

इन गाथाओंमें आगम, युक्ति और दृष्टान्तों द्वारा न केवल एकेन्द्रिय जीवोंमें भी अल्पसंज्ञाका सद्भाव स्वीकार किया गया है, किन्तु स्पष्ट रूपसे उनके "थोवमणोदव्वलद्धी" अर्थात् थोड़े द्रव्य मनका अस्तित्व भी माना गया है।

भव्य मार्गोपदेश उपासकाध्ययन

(क्षुल्लक सिद्धिसागर)

मौजमाबाद (जयपुर) के शास्त्र भण्डारमें कवि जिनदेव द्वारा रचित 'मार्गोपदेश उपासकाध्ययन' नामका एक संस्कृत ग्रन्थ अपूर्णरूपसे उपलब्ध है, क्योंकि उसका ११वां और १५वां पत्र उपलब्ध नहीं है और प्रति अत्यन्त जीर्णदशामें है। १४ पत्र तक ही प्राप्त हैं। इस ग्रन्थमें ७ परिच्छेद या अध्याय उपलब्ध हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं:—

व्यसन परित्याग, सप्ततत्त्वनिरूपण, दर्शनाचार, व्रत-निर्देश, सामायिक व ध्यानपद्धति विचार, एकादशप्रतिमा वर्णन और ग्रंथकार व गुरु वंशपरिचयादि। इन परिच्छेदोंमें अधिकारक्रमसे विषयका कथन संक्षिप्तरूपमें दिया हुआ है। ग्रन्थका आदि मंगल पद्य इस प्रकार है —

'नत्वा वीरं त्रिभुवनगुरुं देवराजाधिवंद्यं,
कर्मारातिं जगति सकलां मूलसंघे दयालु।
ज्ञानैः कृत्वा निखिलजगतां तत्त्वमादीपु वेत्ता,
धर्माधर्मं कथयति इह भारते तीर्थराजः ॥

ग्रन्थके छटवें अध्याय या परिच्छेदका अन्तिम पुष्पिका-वाक्य निम्न प्रकार है :—

'इति भव्यमार्गोपदेशे उपासकाध्ययने भट्टारक श्री जिन-चन्द्रनामाङ्किते जिनदेव विरचिते धर्मशास्त्रे एकादश प्रतिमा विधानकथनं नाम षष्ठमः परिच्छेदः ॥

इस ग्रन्थके कर्ता कवि जिनदेव हैं, जो नागदेवके पुत्र थे। और जो दक्षिणापथके 'पल्ल' नामक देशमें स्थित आमर्दकपुरके निवासी थे। वह नगर बहुत ऊँचे-ऊंचे ध्वज प्रासादों और उत्तुङ्ग जिनमन्दिरोंसे सुशोभित था, और गम्भीर चंचल लहरों वाले विशाल तालाबोंसे अलंकृत था×। उस नगरका राजा बल्लाल नामका था। कवि जिनदेवने संसारके देहभोगोंसे विरक्त होकर सज्जनोंके लिये इस ग्रंथकी रचना की है। कविने यह ग्रंथ यशोधर श्रेष्ठीके प्रसादसे बनाया है।

× भरतक्षेत्रे मध्यस्थं, देशं तु दक्षिणापथं।
विषयं विधं पल्लाख्यं आमर्दकपुरं ततः ॥१२॥
× × × ×
उत्तुंगैर्बहुभिश्चैव प्रासादैर्धवलैगृहैः।
शोभितं हट्टमार्गेषु बल्लालनृपरक्षितां ॥१४॥
तत्रैवाम्मर्दके रम्ये जिनदेवो वणिग्वरः।
वर्द्धमानवरे गोत्रे नागदेवांगसंभवः ॥१५॥

ग्रन्थ कर्ताने उक्त यशोधर कविके सान्निध्यसे सिद्धान्त, आगम, पुराण चरित आदि ग्रन्थोंका अध्ययन किया था। अपने ज्ञानकी वृद्धि की थी इससे स्पष्ट है कि जिनदेवके विद्या गुरु यशोधर कवि थे*। और कविने अपने बनाये हुए ग्रंथको मुनियों और भव्योंके द्वारा शोधनीय बतलाया है। जैसा कि उसके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

एतानि अन्यानि मया श्रुतानि यशोधरश्रेष्ठिमुदाहृतानि।
तद्बोधबुद्धेनकृतंमयायं तं शोधनीयं मुनिभिश्चभव्यैः ॥

कविके गुरु यशोधरका वंश परिचय

यशोधरके वंशका शांति-कुन्थु और अरहनाथ तीर्थंकर चक्र-वर्ती राजाओंके वंशके साथ कुछ सम्बन्ध रहा है। उस वंशमें वर्द्धमान नामका एक राजा हुआ जिसने अपमानित एवं दुखी होकर अपने देश ग्राम और राज्यादिका परित्यागकर और कुटुम्बियों, मित्रों, सेनापतियों और मंत्रिगणोंसे क्षमा मांगी, और उन सबको उसने भी क्षमा किया। और कहा कि मैं जंगलमें जिन दीक्षा लेने जा रहा हूँ।

यह सब समाचार जानकर कुछ लोगोंने कहा कि आपने योग्य विचार नहीं किया है। क्योंकि भिक्षा वृत्तिसे मान भंग होगा। और घरमें रहकर भी व्रतोंका अनुष्ठान किया जा सकता है और उसके फलसे स्वर्गादिककी प्राप्ति भी की जा सकती है।

अनन्तर वर्द्धमान अपने देशकी वृद्धिके लिये, सौराष्ट्र देशकी बलभी नगरीमें पहुंचे, और वहां वणिक् वृत्तिसे तथा चक्रेश्वरी देवीके वर प्रसादसे विपुलधन उपार्जन किया और जिन मंदिर बनवाया, और उसमें शांतिनाथकी मूर्ति स्थापित की। परंतु वहांके राजा पृथ्वीराजने कहा कि मंदिरादिके निर्माण-का तुम्हारा यह यश ध्रुव नहीं हो सकता—वह पुरुषको नहीं

* लीलया यशोधेन व्याख्यानं कथितं जने।
तेन बोधेन बुद्धयानां कवित्वं च प्रजायते ॥ २७४ ॥
तस्य प्रसादेन महापुराणं रामायणं भारत-वीर काव्यं।
सुदर्शनं सुन्दर काव्य युक्तं, यशोधरं नागकुमार काव्यं ॥
चरित्रं वसुपालस्य चन्द्रप्रभु जिनस्य च।
चक्रिणः शान्तिनाथस्य वर्द्धमानप्रभस्य च ॥ २६७ ॥
चरित्रं च वरांगस्य आगमं ज्ञानमर्णवम्।
आत्मानुशासनं नाम समाधिशतकं तथा ॥ २७७ ॥
पाहुडत्रय विख्यातं संग्रह द्रव्य-भावयोः।

दे सकता, और तुम उसे छोड़कर बनमें चले जाओगे। इसके पश्चात् वर्द्धमानने क्रुद्ध होकर कहा कि राजा लोग धनश्री के मदमें चूर रहते हैं। परन्तु मैं इस तरहका अहंकारी नहीं हूं। और उस शहरमें अपना रहना अयोग्य समझकर अपने बन्धुओंके लिये स्वतन्त्र नगर बसानेका निश्चय किया। और वह क्रुद्ध होकर वहां से अपने पूर्वजोंके साथ निकल पड़ा। और मालव देशमें स्थित धारानगरीमें पहुँचा। वहांके राजा गजेन्द्रसिंहने उनका सन्मान किया और वहां उसने अपने नामसे 'वर्द्धमान' नामका एक नगर बसाया। उसी वंशमें दुर्गसिंह, उग्रादित्य, देवपाल, जो वहांके प्रसिद्ध श्रेष्ठी कहलाते थे। देवपालके तीन पुत्र थे, धनश पोमण और लाखण। इनमें लाखण श्रेष्ठी इन्द्रके समान वैभवशाली था। और उसका पुत्र यशोधर उक्त कवि हुआ है! जैसा कि ग्रन्थ गत उनके निम्न पद्योंसे प्रकट है :—

तद्वंशजातो वरवर्द्धमान, सनिर्जितो बन्धुजनैरुदार:
तेन स्वयं लज्जितमानसेन, त्यक्तं स्वराज्यं पुरदेशयुक्तं
स्वगोत्र-मित्रैर्नवभिः शतैश्च द्विगुणैश्चसेनापति,मंत्रिवर्गैः
सर्वे क्षमंतु क्षमयामि सर्वं, अहं वने प्रव्रजितो भवामि
तत्सर्वमाकर्ण्य तपाभवं ये,स्वलज्जया स्नेहवशाच्च केचित
सर्वे मिलित्वा भणितं अयोग्यं,तत्पंचभिक्षाटनमानभंगात्
त्वया सह प्रव्रजिता भवंति,स्वगोत्र मित्रा गुरु बन्धुवर्गाः
तदा च देशे प्रसरेतिवार्ता,अशक्तभावाच्च तपो वनस्थाः
गृहस्थनैर्लेबितमात्मतत्त्वैः, सम्यक्त्वशीलव्रतसंयुतैश्च
स्वर्गोऽपि मोक्षो भवति क्रमेण,निःसंशय पूर्वजिनोक्तमेतत्
निज वंशोद्धरणार्थं च वणिग्वृत्तिश्च तैर्वृता
शरावस्रं इति ज्ञात्वा प्राप्ता सौराष्ट्र मंडलम्
सौराष्ट्रे वलभीनगर्यां वाणिज्यरूप कृतमादरेण
चक्रेश्वरी देविवर-प्रसादात् सुसाधको सिद्धरसोऽपि सिद्धे
द्रव्येणैव जिनेन्द्र-मन्दिरवरं स्थापितं सुन्दरम्।
तं दृष्ट्वा खरवैरि दर्पमथना पृथ्वीश्वरा जल्पते।
यत्पुण्यं वर शांतिदेव तिलकाज्जातं तदेवाध्रुवम्।
पुण्यं नैव ददाति यास्यसि वनं त्यक्त्वा च देश पुरम्॥
तं ज्ञात्वा वरवर्द्धमानवणिको, क्रुद्धोप्यं जल्पते।
राजन-राजकुले धनश्रियमदे तिष्ठामि नोहं सदा।
कर्त्तव्यं निजनामसुन्दर पुरमाज्ञाश्वगोत्रान्वितम्।
उद्वासं सम मिश्रितेन भवने देशं मदीयं पुरम् ॥२८६
इति क्रुद्धो तदाकाले निःसृतो पूर्वजैः सह।
प्राप्तो मालवं देशं रसधामपुरान्वितम् ॥ २६० ॥

धारा नगर्यां वर राजवंशे वीरालयालंकृत वीरभद्रं।
ज्ञात्वा-गजेन्द्राख्यपुराधिपोऽयं सपूजितो मानधनैश्चरत्नैः॥
निजनामांकितं तत्र पुरगोत्रज्ञयान्वितम्।
कृतं तं वर्ततेऽद्यापि वर्द्धमान पुरं महत् ॥ २६२ ॥
तस्मिन् वंशे महाशुद्धे दुर्गसिंहनरोत्तमः
उग्रादित्योहितज्जातस्तत सूनो देवपालकः ॥२६३॥
देवपालसुतो जातः स्थानपैः श्रेष्ठिरुच्यते।
तत् प्रसूता त्रयो पुत्रा धनशो पोमणस्तथा ॥ २६४ ॥
लाखण श्रेष्ठि विख्यातो इन्द्रो शीलंयुतान्वित।
तत् सुनोहि महाप्राज्ञः यशोधर········· ॥२६५॥

उक्त यशोधर श्रेष्ठी बड़ा भारी विद्वान्, राजमान्य वक्ता कवि और वैद्यनाथ था—वह जैनागमका तत्त्ववेत्ता और शास्त्रदान अभयदानका देनेवाला था। उसने सप्ततत्त्व निरूपण' नामका एक ग्रन्थ भी बनाया था, जो अभी तक अनुपलब्ध है। और जिसकी खोज होनेकी जरूरत है। जैसाकि ग्रन्थके निम्न पद्योंसे प्रकट है :—

भव्यः पितृव्यो वरभव्यबन्धुर्भव्येश्वरो भव्यगणाग्रणीयः
इंद्रत्वये इंद्रतरो विविज्ञः आमर्दक श्रेष्ठ यशोधराख्यः॥
स एव वक्ता सच राजपूज्यः स एव वैद्यः सच वैद्यनाथः
स एव जैनागमतत्त्ववेत्ता, स एव शास्त्राभय दानदाता॥
यशोधरकवेः सत (शुद्ध) सप्ततत्त्वनिरूपणम्।
वसंततिलका प्रोक्त दृष्ट्वा तं पि कृतं मया॥

ग्रन्थका चूंकि अन्तिम १४वां पत्र उपलब्ध नहीं है। संभव है उसमें उसका रचनाकाल भी दिया हुआ हो, परन्तु उसके अभावमें यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जासकता कि यह ग्रन्थ अमुक समयमें रचा गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ कवि जिनदेवने भट्टारक जिनचन्द्रके नामांकित किया है। जिससे ज्ञात होता है कि भट्टारक जिनचन्द्र कविके दीक्षागुरु रहे हों। और उनके उपकारसे उपकृत होनेके लिये यह ग्रंथ उनके नामांकित किया गया हो। सं० १२२६ के बिजोलियाके शिलालेखमें भट्टारक जिनचन्द्रका उल्लेख किया गया है।

हां, ग्रन्थमें आमर्दकपुरके राजा बल्लालका नामोल्लेख जरूर किया गया है। यदि प्रस्तुत राजा बल्लाल मालवाका राजा है, जिसकी मृत्यु सन् ११५१ वि० सं० १२०८ से पूर्व हुई थी। तब यह ग्रन्थ १२वीं शताब्दीके अन्तिम समय में और १३वीं शताब्दीके प्रारम्भमें रचा हुआ हो सकता है और यदि आमर्दकपुरके राजा बल्लाल कोई दूसरे ही हैं

तब इस ग्रथका रचनाकाल विचारणीय है।

इसी तरहके अनेक ग्रन्थ अभी ग्रन्थ भण्डारमें पड़े हुए हैं, जिनके उद्धारार्थ समाजका कोई लक्ष्य नहीं है। उसे ईंट चूना और पत्थर आदि अन्य कामोंमें रुपया लगानेसे अवकाश भी नहीं है, फिर वह ग्रन्थोद्धार जैसे महान् कार्यमें कैसे खर्च करे। समाजकी लापरवाहीसे बहुतसा बहुमूल्य साहित्य विनष्ट हो चुका है। अतः समाजको चाहिए कि वह अपनी गाढ़निद्राका परित्याग करे और जिनवाणीके संरक्षण एवं जैन-ग्रंथोंके उद्धारार्थ अपनी शक्त्यनुसार धनका सदुपयोग करे।

कुमुदचन्द्र भट्टारक

(के० भुजबली शास्त्री)

'अनेकान्त' वर्ष १३, किरण ४ (४-५ संयुक्त किरण) से 'चन्देल युगका एक नवीन जैन प्रतिमालेख' शीर्षकसे प्रो० ज्योतिप्रसाद जैन, एम ए०, एल० एल० बी०, लखनऊ का एक लेख प्रकाशित हुआ है। इस लेखमें आपने विन्ध्य प्रदेशान्तर्गत अजयगढ़के अजयपाल सरोवरके पश्चिमी तट पर बने हुए ईंटोंके एक ध्वस घेरेके भीतर लखनऊ विश्वविद्यालयके इतिहास प्राध्यापक डा० आर० के० दीक्षितको लगभग तीन वर्ष पूर्व प्राप्त एक खण्डित तीर्थंकरकी प्रतिमाके आसन पर वि० सं० १३३१ ई० १२७४ के एक लेख पर विचार किया है। प्रस्तुत लेखमें प्रो० साहबने लेखान्तर्गत प्रतिष्ठा कार्यसे सम्बन्धित आचार्य धनकीर्ति और आचार्य कुमुदचन्द्र इन दोमेंसे आचार्य कुमुदचन्द्रको ढूँढ निकालनेका प्रयत्न करते हुए पाँच कुमुदचन्द्रोंका संक्षिप्त परिचय 'अनेकान्त' के पाठकोंके समक्ष जो रखा है उन पांचोंमेंसे पांचवें कुमुदचन्द्रके सम्बन्धमें आपका यह मत है।

'पांचवें कुमुदचन्द्र भट्टारकदेव सम्भवतया कारकलके भट्टारक थे। वे मूलसंघ कानूरगणके आचार्य थे और भानुकीर्ति मलधारीदेवके प्रधान शिष्य थे। इनके द्वारा निर्मित शान्तिनाथ बसदि नामक जिनालयको कारकलके सान्तर नरेश लोकनायरसके राज्यकालमें सन् १३३४ ई० में राजाकी दो बहिनों द्वारा दान किये जानेका उल्लेख एक शिलालेखमें मिलता है।'

प्रो० साहबकी उपर्युक्त पंक्तियोंमें जो त्रुटियां रह गई हैं उन त्रुटियोंको सहृदयभावसे बताना ही मेरी निम्नलिखित पंक्तियोंका एकमात्र उद्देश है। आशा है कि मान्य प्रो० साहब इससे असन्तुष्ट नहीं होंगे। मेरा अभिप्राय, कुमुदचन्द्र भट्टारकदेव कारकलके भट्टारक नहीं थे। क्योंकि कारकलमें उस समय भट्टारककी गद्दी ही स्थापित नहीं हुई थी। वहाँ पर गद्दी सन् १४६२ में (हिरिय भैरवदेवके शासन कालमें) स्थापित हुई। साथ ही साथ कारकल गद्दीका स्थायी नाम ललितकीर्ति है। दूसरी बात है कि उक्त शान्तिनाथ जिनालय आचार्य कुमुदचन्द्रके द्वारा निर्मित नहीं हुआ था। किन्तु स्थानीय श्रावकोंके द्वारा। यह शान्तिनाथ देवालय जिसके शासनकालमें निर्मित हुआ था, वह लोकनायरस नहीं; परन्तु लोकनाथ अरस और इसका वंश सान्तार नहीं; किन्तु सांतर था। यह सांतर वंश लगभग ७वीं शताब्दीसे ही हुंबुजमें शासन करने लगा था।

एक विशिष्ट बात यह है कि कारकलमें हिरियगडिके हातेके भीतर बायीं ओर दक्षिण दिशामें आदिनाथ अनन्तनाथ और धर्म-शान्ति-कुंथु तीर्थंकरोंके तीन मन्दिर हैं। अन्तिम मन्दिरके बगलमें बहुत छोटा एक और मन्दिर है। इसमें क्रमशः निम्नलिखित व्यक्तियोंकी मूर्तियां और उन मूर्तियोंके नीचे नाम दिये गये है। मूर्तियाँ इस प्रकार हैं—(१) कुमुदचन्द्र भट्टारक (२ हेमचन्द्र भट्टारक (३) चारुकीर्ति पण्डितदेव (४) श्रुतमुनि (५) धर्मभूषण भट्टारक (६) पूज्यपाद स्वामी। नीचेकी पङ्क्तिमें क्रमशः (१) विमलसूरि भट्टारक (२) श्रीकीर्ति भट्टारक (३) सिद्धान्तदेव (४) चारुकीर्तिदेव (५) महाकीर्ति (६) महेन्द्रकीर्ति।

इस प्रकार उपर्युक्त इन व्यक्तियोंकी मूर्तियाँ छह-छह के हिसाबसे तीन-तीन युगलके रूपमें बारह मूर्तियाँ खुदी मिलती हैं। इन बारह मूर्तियोंमें प्रथम मूर्ति ही प्रो० साहबके द्वारा 'अनेकान्त' में प्रतिपादित कुमुदचन्द्र भट्टारककी मालूम होती है।

—:०:—

एक अमेरिकन विद्वान्‌की खोज—

पृथ्वी गोल नहीं चपटी है

हम पृथ्वीकी गोलाईसे इतने अधिक परिचित हो गये हैं कि इसके विरुद्ध कही जाने वाली किसी भी बात पर हम सहसा विश्वास नहीं कर सकते। इस कारण कन्दुकाकार पृथ्वीको चपटी कहकर एक अर्वाचीन सिद्धांतने सचमुच हमें आश्चर्यमें डाल दिया है। हो सकता है, भविष्यमें किसी दिन पृथ्वी 'रकाबी' आकारकी बताई जाने लगे। "श्री जे० मेकडोनाल्ड नामक अमेरिकन वैज्ञानिक" ने अपने एक लेख-में अनेक दृढ प्रमाण देकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि पृथ्वी नारंगीके समान गोल नहीं है।

उसने कहा है कि यदि पृथ्वीको अन्य ग्रहोंकी भांति एक ग्रह माना जाय, तो निश्चय ही जो सिद्धान्त दूसरे नक्षत्रों एवं ग्रहोंके अध्ययन स्वीकृत किये गये हैं; वे हमारी पृथ्वी पर भी लागू होंगे। ऐसी दशामें जिन आधारों पर इस सिद्धान्तको स्थापना की गई है, वे सब अकाट्य और अप्रत्यक्ष हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यह खोज निकट भविष्य में समस्त वैज्ञानिक जगतमें उथल-पुथल मचा देगी। पाठकों-के मनोरंजनार्थ कुछ चुने हुए प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—

प्रत्येक आधुनिक वैज्ञानिक इस बातको स्वीकार करता है कि चन्द्रमा और अन्य ग्रहोंका एक ही मुख सदैव पृथ्वी-की ओर रहता है। यदि ये ग्रह कंदुकाकार होते और अपनी धुरीपर घूमते तो निश्चय ही प्रत्येक दिवस अथवा प्रत्येक मास या प्रत्येक सालमें उनके भिन्न-भिन्न धरातल पृथ्वीकी ओर होते। इससे सिद्ध है कि चन्द्रमा और अन्य ग्रह रकाबीकी भांति हैं, जिनके किनारे केन्द्रकी अपेक्षा कुछ ऊंचे उठे हैं। यदि सचमुच पृथ्वी भी एक ग्रह है तो अवश्य ही उसका आकार इस रकाबीके समान है।

यदि पृथ्वी गोल होती तो सनातन हिमश्रेणियोंकी ऊँचाई भूमध्य रेखासे दक्षिणमें उतनी ही होती जितनी कि उत्तर में। दक्षिणी अमेरीकामें सनातन हिमश्रेणियोंकी ऊँचाई १६००० फुट है और जैसे हम उत्तरकी ओर बढ़ते जाते हैं, यह ऊँचाई क्रमशः कम होती जाती है; यहां तक कि अला-स्का पहुंचने पर यह केवल २००० फुट ही रह जाती है।

अधिक उत्तरकी ओर जाने पर यह ऊँचाई समुद्र तलसे केवल ४०० फुट नापी गई है। पृथ्वी गोल होती तो उत्तरी ध्रुवके समीप जैसी बनस्पतियां उत्पन्न होती हैं, वैसे ही दक्षिणी ध्रुवमें भी होती। "वास्तवमें उत्तरी ध्रुवके इर्दगिर्द २०० मीलके भीतर कई प्रकारकी वनस्पतियां पाई गई हैं।

ग्रीनलैंड, आइसलैंड, साइबेरिया आदि उत्तरी शीत-कटिबंधके निकटस्थ प्रदेशमें आलू, जई, मटर, जौ, तथा चनेकी फसलें तैयार होती हैं। इसके विपरीत दक्षिणमें ७० अक्षांश पर ओरकेनी, शेटलैंण्ड आदि टापुओंपर एक भी जीव नहीं पाया जाता।

यदि पृथ्वी गोल होती तो उत्तरमें जिस अक्षांश पर जितने समय तक उषःकाल रहता है; उतने ही अक्षांश पर दक्षिणमें भी उतनी ही देर उषःकाल रहता। किन्तु वास्तव-में ऐसा नहीं है। उत्तरमें ४० अक्षांश पर ६० मिनट तक उषःकाल रहता है और सालके उसी समय भूमध्य रेखा पर केवल १५ मिनट और दक्षिणमें ४० अक्षांश पर तो केवल ५ ही मिनट। मेलबोर्न, ऑस्ट्रेलिया आदि प्रदेश दक्षिणमें उसी अक्षांशपर हैं, जिनपर उत्तरमें फ़िलाडेल्फिया है।

यहांके एक पादरी फादर जोन्सटनने इन दक्षिण अक्षांशोंकी यात्राके सिलसिलेमें लिखा है कि—"यहां उषः काल और सन्ध्याकाल केवल ५ या ६ मिनटके लिये होते हैं। जब सूर्य क्षितिजके ऊपर ही रहता है, तभी हम रातका सारा प्रबन्ध कर लेते हैं। क्योंकि जैसेही सूर्य डूबता है, तुरन्त रात हो जाती है।" इस कथनसे सिद्ध है कि यदि पृथ्वी गोल होती तो भूमध्य रेखाके उत्तरी-दक्षिणी भागोंमें उषःकाल अवश्य समान होता।

केप्टन जे० राम सन् १८३८ ई० में केप्टन क्रोशियरके साथ यात्रा करते हुए जितने अधिक दक्षिणकी ओर अटलां-टिक (एंटार्शटिक) सरकिल तक जा सके, गये। उनके वर्णनसे ज्ञात होता है कि उन्होंने वहां पहाड़ोंकी ऊँचाई १०,००० से लेकर १३,००० तक नापी और ४५० फुटसे लेकर १००० फुट तक ऊँची एक पक्की बर्फीली दीवार खोज निकाली।

इस दीवारका ऊपरी भाग चौरस था और उस पर किसी प्रकारकी दरार या गड्ढा न था। यहांसे पृथ्वीके चारों ओर चक्कर लगानेमें चार वर्षका समय लगा। और ४०,००० मीलकी यात्रा हुई। किन्तु दीवारका कहीं अन्त न हुआ। यदि पृथ्वी गोल होती, तो इसी अक्षांश पर पृथ्वीकी परिधि केवल

१०,८०० मील होती, अर्थात् ४०,००० मीलके बजाय केवल १०,८०० मीलकी यात्रा पर्याप्त होती।

यदि उपर्युक्त सिद्धांत ठीक है तो भूमध्यरेखा निश्चय ही भू की मध्यरेखा ही है; क्योंकि भूमध्यरेखा दक्षिणमें समस्त देशांतर रेखायें उत्तरी भागके समान सँकरी न होकर चौड़ाईमें बढ़ती ही जाती हैं। यहां कोई काल्पनिक आधार नहीं, किन्तु अवलोकनीय सत्य है। कर्करेखा (२३॥ अंश उत्तर, का एक अंश ४० मीलके लगभग है, किन्तु इसके विपरीत मकर रेखा २३॥ अंश दक्षिण) पर वही अंश ७५ मीलके लगभग होता है। यही नहीं, दक्षिणकी एटलांटिक सरकिल पर तो यह माप बढ़कर १०३ मील हो जाता है।

उत्तरी ध्रुवका समुद्र १०,००० से लेकर १३००० फुट तक गहरा है, किन्तु पृथ्वी तल कहीं भी ५०० फुटसे ऊँचा नहीं है। यदि केप्टन रासके वर्णनसे इसकी तुलना की जाय तो ज्ञात होगा कि दक्षिणी ध्रुवके पहाड़ १०,००० से १६,००० फुट तक ऊँचे हैं और समुद्रकी गहराई ४२३ फुट है। इस प्रमाणसे सिद्ध होता है कि पृथ्वी मध्यकी अपेक्षा उसका किनारा अधिक उन्नत है, पृथ्वीकी तुलना रकाबीसे की जाती है।

इन्हीं सब बातों पर विचार करनेसे भूगर्भशास्त्रियोंने नाशपाती (पीयर) से पृथ्वीकी उपमा दी है। क्योंकि उन्होंने जान लिया है कि यह उत्तरी ध्रुव पर चिपटी है और दक्षिण ध्रुवकी ओर खिंची हुई है। वे लोग स्पष्टतः क्यों नहीं कहते कि पृथ्वीका आकार रकाबीके समान है।

पृथ्वीके चपटेपनका एक और प्रमाण सूर्यग्रहण है। उदाहरणार्थ ३० अगस्त सन् १९०५ ई० का ही ग्रहण लीजिये। यह पश्चिमी और उत्तरी अफ्रीका, उत्तरी अन्ध-महासागर, ग्रीनलेण्ड, आइसलेण्ड, उत्तरी एशिया (साइ-बेरिया) और ब्रिटिश अमेरिकाके पूर्ण भागोंमें स्पष्ट दिखाई पड़ा था। यदि पृथ्वी गोल होती तो अमेरिका और एशिया-में कभी एक साथ यह ग्रहण दिखाई न पड़ता। पृथ्वीका गोला लेकर इस सरल समस्या पर स्वयं ही विचार किया जाता है या जाना जा सकता है। और देखिये—

प्रयोगोंसे सिद्ध है कि ज्यों-ज्यों हम उत्तरी ध्रुवकी ओर बढ़ते त्यों-त्यों पृथ्वीकी आकर्षण शक्ति भी उत्तरोत्तर बढ़ती प्रतीत होती है। उत्तरी ध्रुवके अन्वेषकोंका यह कहना है कि वे वहां कठिनतासे १०० पौंडका भार उठा सकते थे, किन्तु दक्षिणी ध्रुवके अन्वेषक इसके विपरीत यह कह सकते हैं कि उन्होंने वहां ३०० पौंडसे ४०० पौंड तक-का भार सरलतासे उठाया है। यदि पृथ्वी गोल होती तो दक्षिणी ध्रुव भी उत्तरी ध्रुवके समान ही प्रबल होता।

समुद्रादिमें लोहचुम्बक पहाड़ ऐसे हैं कि होकायंत्रकी चुम्बक सूईके भरोसेमें हम भ्रममें रहकर पृथ्वी गोल होनेका भ्रम और इतनी करीब ८००० मील होनेका मान लिया है। हमारी पृथ्वीको बहुत बड़ा चुम्बक माना गया है और इसीको चुम्बक शक्तिसे प्रभावित होकर चुम्बक सूई उत्तर ध्रुवके आकृष्ट होती है।

ऐसी दशामें यदि पृथ्वी गोल हो तो भूमध्य रेखाके दक्षिणमें जाने पर चुम्बककी सूईको दक्षिणी ध्रुवकी ओर घूम जाना चाहिये, पर ऐसा नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि पृथ्वी अवश्य चपटी है, क्योंकि चुम्बककी सूई कहीं भी रहे, मध्य मार्गका निर्देश करती रहती है। साथ ही साथ यह भी कह देना उचित होगा कि पृथ्वीके गोलेकी सबसे बड़ी परिधि भूमध्यरेखाके नीचे है और सबसे छोटी उत्तरी ध्रुव पर।

यदि पृथ्वीको गोल माने और उसकी परिधि २४,००० मील माने तो २४ घंटेके हिसाबसे उसे अपनी धुरी पर एक घंटेमें १००० मील घूम जाना चाहिये, किंतु यह तीव्र गति इतनी प्रबल है कि धरातलकी प्रत्येक वस्तु चिथड़े होकर छितरा जायगी।

यदि यह कहा जाय कि पृथ्वीकी आकर्षण शक्ति ऐसा नहीं करने देती तो न्यूयार्कसे शिकागो तक (लगभग १००० मील) कोई भी मनुष्य बैलूनमें घण्टेभर भी यात्रा कर सकता है। इसी प्रकार दो-तीन घंटेमें शिकागोसे सान्फ्रांसिसको तक यात्रा कर सकता है जो नितांत असम्भव है।

पृथ्वी घूमती हो तो पृथ्वीमेंसे अमुक स्थानसे सीधी ऊर्ध्व एक मील तक बन्दूक द्वारा गोली छोड़ी। गोली एक मिनट बाद नीचे पड़े, तो पृथ्वीकी गति ८ मील चली गई माना है; तो गोली उसी स्थान पर क्यों गिरती है?

अब उदाहरणके लिये 'ऐरिक' नामक नहरको ही लीजिये। यह नहर लौकपोर्टसे रोचेटर तक ६० मील लम्बी है। 'पृथ्वी गोल है' इस सिद्धान्तके अनुसार इस नहरके उभारकी गोलाई, ६१० फुट होनी चाहिये। सिरोंकी अपेक्षा मध्यका उठाव २५६ फुट होना चाहिये; किन्तु स्टेट इंजीनियरकी रिपोर्ट अनुकूल या अनुसार यह ऊँचाई ३ फुटसे भी कम है।

स्वेजकी नहर लीजिये दोनों ओर समुद्र है, लेवल समान क्यों ? यदि पृथ्वी गोल है तो उसकी स्वाभाविक गोलाईमें किनारोंकी अपेक्षा बीचका भाग १६६६ फुट ऊँचा होना चाहिये। इसे दृष्टिमें रखकर यदि 'लाल सागर' से भूमध्यसागरकी तुलना करें तो भूमध्यसागर लालसागरसे केवल ६ इंच ऊँचा होगा।

पाठशालाओंमें पृथ्वीके गोल होनेका सबसे लोकप्रिय उदाहरण समुद्रमें दूर जाते हुए जहाजसे दिया जाता है। इस उदाहरणमें जहाजके क्षितिजके पार छिपते जानेसे और केवल मस्तूलके ऊपरका भाग दिखाई देनेसे पृथ्वीकी गोलाई प्रमाणित की जाती है, किन्तु यह सचमुच दृष्टिभ्रम है। अपनी आँखें गोल होनेसे दूरकी वस्तु कुछ विपरीत ही दिखती हैं।

दृष्टभ्रमके कई उदाहरण हैं जिसे 'पर्सपेक्टिव' कहते हैं। रेलकी पटरियां आगे आगे मिली हुई देखकर क्या कोई अनुमान कर सकता है कि वे क्षितिजके पार जाकर मुड़ गई हैं। वास्तवमें यह बिन्दु जो दोनों पटरियोंको जोड़ता है, इतना सूक्ष्म होता है कि हमारी साधारण दृष्टि उसके पार नहीं पहुँच सकती।

इस कारण यदि शक्तिशाली दूरवीक्षण यन्त्रसे देखा जाय तो निश्चय ही पूरा जहाज दिखाई देगा। क्या पानीकी सतह गोल होने पर ऐसा दृष्टिगत होता ? यदि पृथ्वी गोल होती तो भूमध्यरेखाके नीचेके भागोंमें ध्रुवतारा कदापि दिखाई न देता परन्तु दक्षिणमें ३० अक्षांशतक ध्रुवतारा सरलतापूर्वक देखा गया है। यदि पृथ्वी गोल होती तो आर्कटिक और एटलांटिक सर्कलमें समान रूपसे तीन महीनेकी रात और तीन महीनेका दिन होता। किन्तु वॉशिंगटनके 'ब्यूरो आव नेविगेशन' द्वारा प्रकाशित 'नॉटिकल-एलमैनक' नामक पंचांगके अनुसार दक्षिणमें ७० अक्षांश पर स्थित 'शेटलैंड' टापू पर सबसे बड़ा दिन १६ घण्टे ५३ मिनटका होता है। उत्तरकी ओर नार्वेमें ७० अक्षांश पर 'हैमरफास्ट' नामक स्थानमें पूरे तीन महीनेका सबसे बड़ा दिन होता है।

यदि पृथ्वी गोल होती तो उत्तरी तथा दक्षिणी ध्रुवोंमें व्यक्तिविषयक भिन्नता न होती। 'एटार्कटिक' प्रदेशमें पिस्तौलकी साधारण आवाज तोपकी आवाजके समान गूंजती है और चट्टान टूटनेकी आवाज तो प्रलयनादसे भी भयंकर होती है। इसके विपरीत उत्तरके आर्कटिक प्रदेशमें ऐसा नहीं है।

केप्टन हाल नामक अन्वेषकका कहना है कि वहां बंदूककी आवाज २० फुटकी दूरी पर मुश्किलसे सुनी जा सकती है। केप्टन मिल एक स्थान पर अपनी यात्राके प्रसंगमें लिखते हैं कि अटार्कटिक प्रदेशमें ४० मील अधिकसे साधारण मनुष्यकी दृष्टि नहीं पहुँच सकती। उत्तरी ध्रुवके अन्वेषक इसके विपरीत कहते हैं कि वे १५० से २०० मील तक आर्कटिक प्रदेशोंमें सरलतासे देख सकते थे।

एक अमेरिकन साप्ताहिक पत्र 'हारपर्स वीकली' के २० वीं अक्टूबर सन् १८९४ ई० के अङ्कमें सरकारी विषयके अन्वेषणोंके विषयमें लिखा है कि उत्तरमें 'कोलोरेडो इलेक्शेन' से माऊँट उनकम्प्रेगी (१४४१८ फुट) से 'माउन्ट एलेन' (१४४१० फुट) तक अर्थात् १८३, मीलकी दूरी पर वे लोग हेलयोग्राफ (पालिश चढ़ाये शीशे) की सहायतासे समाचार भेजनेमें सफल हुए।

यदि पृथ्वी गोल होती तो उपर्युक्त प्रयोग मिथ्या होता; क्योंकि १८३ मीलकी दूरीमें मध्य भागसे पृथ्वीकी ऊँचाई (गोलाईके कारण) २२३०६ फुट हो जाती, जो सर्वथा असम्भव है। यदि पृथ्वी गोल होती तो इंगलिश चैनलके बीचमें खड़े हुए जहाजकी छत परसे फ्रांसीसी तटके और ब्रिटिश तटके प्रकाशस्तम्भ (लाइट हाउस) दोनों ही स्पष्ट दिखाई न देते। इसी प्रकार बैलूनमें बैठे हुए मनुष्यको पृथ्वी उन्नतोदर दिखाई पड़ती, किन्तु इसके विपरीत वह पृथ्वीको रकाबीकी भांति समान देखता है।

सच पूछिये तो अब तक जितने मानचित्र बनाये गये हैं उनमें कोई न कोई दोष अवश्य है और उनकी प्रणालियां भी अपूर्ण हैं।

(१) मर्केटर प्रोजेक्शन—यह काफमेन नामक जर्मन द्वारा आविष्कृत प्रणाली है। इसमें उत्तरी भाग अपने वास्तविक आकारसे बहुत बड़े हो जाते हैं।

(२) पोलवीड प्रणाली—यह प्रणाली मार्केटरसे बिलकुल उलटी है। इसमें भिन्न-भिन्न भागोंका क्षेत्रफल तो दिखाई पड़ता है किन्तु आकार बदल जाते हैं।

(३) कोनीकल प्रोजेक्शन—इससे ध्रुवके निकटवर्ती ऊँचे अक्षांशोंका ठीक नकशा नहीं बन पाता और ध्रुवको बिन्दु रूपमें नहीं दिखलाया जा सकता। लोनप्रणालीमें भी यह दोष है कि ध्रुवके समीप पृथ्वीके भाग परस्पर निकट

हो जाते हैं और भूमध्य रेखा पर बहुत दूर।

(४) आर्थोग्राफिक प्रोजेक्शन—इसमें कक्शोके बीचका भाग तो ठीक बनता है, किन्तु किनारेके भाग घने हो जाते हैं। ऊपर नीचेके भागोंमें भी त्रुटि रहती है।

(५) स्टोरिओग्राफिक प्रोजेक्शन—इसमें किनारोंका क्षेत्रफल असली क्षेत्रफलसे बहुत बढ़ जाता है।

इनके अतिरिक्त पोलीकोनिक और सेन्सन फ्लेमन्टीडके भी प्रोजेक्शन प्रसिद्ध हैं किन्तु वे सब भी दोषपूर्ण हैं। किसीमें क्षेत्रफल, किसीमें आकार और किसीमें स्थिति ही गलत है। ऐसी दशामें पृथ्वी नारंगीके समान गोल है यह कहना कहाँ तक युक्तसंगत है? जो कुछ भी हो 'श्री जे. मेकड नाल्डकी वह नयी खोज (जो जैनधर्मानुसार है शीघ्र ही वैज्ञानिक जगतमें उथल पुथल पैदा करेगी।

—'जीवन' से।

पार्श्व जिन-जयमाल

(निन्दा-स्तुति)

(स्व० पं० ऋषभदास चिलकानवी)

[यह जयमाल उसी 'पंचबालयति पूजा पाठ' के अन्तर्गत पार्श्वनाथ पूजाकी जयमाल है जिसका एक '*पूजा विषयक शंका समाधान' अंश पिछली किरणमें प्रकाशित किया जा चुका है। यह अंश प्राय. निन्दामें* स्तुतिके अलंकारकी छटाको लिये हुए है और स्व० पं० ऋषभदास जीके रचना कौशलका है।]

—जुगलकिशोर मुख्तार

दोहा—

मणि-दीपन हरि-सुर जजैं, पारस-नख झलकांहि।
नख प्रति जड़े मणि प्रचुर, इम निभूंषण प्रभु नांहि ॥१

त्रोटक छन्द—

जय प्रभु गुणगणपति कह न सकें,हम अल्पबुद्धि बस भक्ति बकें।
जय प्रभु असमान सरागी हैं, सहु जन्तु दया चित जागी हैं॥
फुन अद्वितीय जिन द्वेष धरैं, निज अघनासे भविपाप हरैं।
अज्ञानी हैं इम जानपरी, तज छता अगम-सुख आस करी॥
इन्द्रीय दरससे हीने हैं, सुख कहाँ परिश्रम कीने हैं।
नहिं भोगसकैं कोई वस्तु छती,कृतकृतको मिस नहिंसक्ति रती
फुन प्रभु अपूर्व ही क्रोध धरा, वय बालहि मन्मथ दूर करा।
प्रभु मानी अति छद्मस्थपने, निज अनुभवसिद्ध-समान बने॥
मायावी हू प्रभु मुखिया हैं, बने बाह दुखी हिय सुखिया हैं।
लोभी तृष्णा अत्यन्त धरी, हूँ त्रिभुवनपति यह चाह करी॥
अति तुष्ट कुदेवन निन्द रहे, सब हास्य-कषाय-विशेष गहे।
रति सहजानन्दमें ठानी है, कर अरति हेय तिय मानी है॥
अति भुक्त अमणका शोककिया,विधि-बन्धनसों भयो भीतहिया
जिन आस्रव रोके संवरसे, अरु अनुपजुगुप्सा अम्बरसे॥
कामी वल्लभ शिवनारि अती, यह अचरज है तोउ बाल-यती
ऐसे कषाय अति धारक हैं, तउ इन्द्र जजैं दुख-हारक हैं॥
प्रभु विषयी त्रिभुवन-विषयनके, तोउ, स्वामि कहावैं ऋषियनके
त्यागेस बहु ऐश्वर्य गह्यो, व्रत-भंगको दोष जिनेन्द्र लह्यो
मह-पापिन हूं को मंगलदा, यातें अन्यायी भी हैं महा।
फुन अनौपम्य प्रभु हिंसक है, रिपुकर्म अनन्त विध्वंसक हैं
निर्बाध वचन जो है जिनको, तातें अति दुःख ह्वै वादिनको।
दुखदावच असत कहावत है, प्रभुमें इम सतहुन मावत है॥
सुर-नर-पशु-चित हर हो चोरा, है नाम मनोहर ही तोरा।
सब ज्ञेय त्रिकाल-त्रिलोक लखो, ब्रह्मचर्य हूं तातें नांहि रखो॥
कछु कहन-गम्य जिनराज नहीं, समवसृत आदि समाज सही
बस येही कहीं भगवान बने, जिन परिग्रह हैं अत्यन्त घने॥
ऐसे पण पाप सुहावत है, चारित्रको हद कहावत है।
सुर-असुर-खगाधिपै आदि जजैं, चक्री हरि-प्रतिहरि काम भजैं
महा पुरुषनके इम दोष सबैं, गुणगणतैं दिव्य विशेष फबैं।
ज्यों कालिम निन्द्य है स्वच्छनमें, पर अति सोहै वह अञ्जनमें
गज-व्याघ्र कपी तोहे वन्द तिरे, अब बार मेरी हम भक्त निरे
संवरसे मदमत तारे हैं, हम हूं बहु भ्रमते हारे हैं॥
तो विरद निकृष्ट उधारन है, अब ढील करी को कारन है।
निज पास मुझे अब ले लीजै, अविचल थल झटपट दे दीजै
मैं भक्त नमूँ तुम चरणनको, नहीं पार मिलै गुण-वर्णन को
अब पार करो को खटका है, प्रभु दास ऋषभ बहु भटका है॥

दोहा—

सुनियत है प्रभु तुम कियो, राग द्वेषको नास।
तातें तारो दाव मोहि, तोहि सम दुर्जन दास॥ २०॥

पं० दीपचन्द जी शाह और उनकी रचनाएं
परिशिष्ट

अनेकान्तकी गत किरण ४-५ में पंडित दीपचन्दजी शाह नामका एक परिचय लेख प्रकाशित किया गया था। उसमें उनके जीवन-परिचयके साथ उनकी उपलब्ध रचनाओं-का परिचय भी दिया गया था। उस समय तक मुझे उनका 'भावदीपिका' नामका कोई ग्रन्थ देखनेमें नहीं आया था, अन्यथा उसका परिचय भी दे दिया जाता; किन्तु पं० मिलापचन्दजी कटारिया केकड़ीके पत्र गत संकेतानुसार धर्मपुराके नये मन्दिरजीसे भावदीपिका लाया और उसका परिचय परिशिष्टके रूपमें यहाँ दिया जा रहा है। यह ग्रन्थ उदासीनाश्रम इन्दौरसे प्रकाशित भी हो चुका है।

इस ग्रन्थका नाम 'भावदीपिका' है। इसमें स्वभाव-भाव, विभाव भाव, और शुद्धभावोंका विवेचन किया गया है। इसीसे इसका 'भावदीपिका' नाम सार्थक जान पड़ता है। ग्रन्थकर्ताने इसी अभिप्रायको स्वयं निम्न दोहेमें व्यक्त किया है।

स्व-परभाव-विभावकों शुद्धभाव जुत सोय।
करि प्रकाश परगट किया भावदीप यह सोय॥

इतना ही नहीं; किन्तु उन्होंने स्वयं इस ग्रन्थकी महत्ताको निम्न पद्यमें व्यक्त किया है जिससे ग्रन्थकी महत्ता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

भावदीपको शरण ले, ज्ञान खडग गहि धीर।
कर्म-शत्रुकों क्षय करें जे जोधा वर वीर॥

इससे प्रकट है कि यह ग्रन्थ मिथ्यात्वरूप अज्ञान अन्धकारका विनाश कर शुद्ध आत्मीय भावोंके प्रकट कराने-में समर्थ है। ग्रन्थमें जीवोंके भावोंकी संख्या, प्रवृत्ति, कार्य, फल और उनकी हेयोपादेयताका सुन्दर विवेचन किया गया है। जीवके त्रेपन भावोंमेंसे कौन भाव हेय हैं और कौन भाव उपादेय हैं, किन-किन भावोंके अवलम्बनसे यह जीवात्मा अपना विकास करनेमें समर्थ हो सकता है। स्वभाव भाव और विभाव भाव कौन हैं और शुद्ध भावोंकी प्राप्ति कब और कैसे हो सकती है? यही इस ग्रन्थका विषय है जिसका इसमें आठ अध्यायों द्वारा सुन्दर विवेचन किया गया है। भावोंका स्वरूप निर्देश करते हुए ग्रन्थकारने यह बताया है कि इक्कीस औदयिक भाव, और कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि इन तीन क्षयोपशमभावोंको मिलाकर कुल २४ भाव हो जाते हैं। ये सभी कर्मज भाव हेय हैं—त्यागने योग्य हैं। उक्त तीन क्षयोपशमभावोंको छोड़ कर अवशिष्ट १५ भाव, दो उपशमभाव, क्षायिक सम्यक्त्व, और क्षायिक-चारित्र ये उन्नीस भाव उपादेय हैं—ग्रहण करने योग्य हैं। क्योंकि आत्मा अनादि कालसे कर्मजन्य रूप विभाव भावोंकी प्रवृत्ति द्वारा अपनेको संसारका पात्र बनाता हुआ चतुर्गतिके दुःखभारसे अत्यन्त सन्तप्त रहा है। यह जीव कर्मफल-चेतना, और कर्मचेतनाके संस्कारों द्वारा स्वकीय उपार्जित शुभाशुभ कर्मोंके परिपाकका भोक्ता रहा है। कर्मफलका उपभोग करता हुआ एकेन्द्रियादिकी हीन पर्यायमें अनन्त-काल अशक्तिवश रहते हुए हेयोपादेयके विज्ञानसे शून्य रहा है; क्योंकि उनमें अपनी शक्तिको विकसित करने और दुःखों-को दूर करनेकी सामर्थ्यका अभाव है, इसीसे वे उपदेशके भी अपात्र हैं। किन्तु कर्मचेतनाके धारक दो इन्द्रियजीवोंको आदि लेकर पंचेन्द्रिय संज्ञी पर्यन्त जो जीव हैं वे सांसारिक सुखोंके कारण जुटाने और दुःखोंके दूर करनेके प्रयत्नकी क्षमताको प्राप्त हैं; परन्तु वे भी चाह-दाहकी भीषण ज्वाला-में अपनेको भस्मसात् किये हुए हैं, उनमें हेयोपादेयका विवेक करनेकी सामर्थ्य है, यदि वे कदाचित् अपनी ओर ध्यान दें तो भव-दुःखका कारण परात्मबुद्धिको छोड़कर—बहिरात्मावस्थाका परित्याग कर—अपने अन्दर ज्ञानचेतनाको जागृत कर सकते हैं और अन्तरात्मा बनकर भव-दुःखके मेटनेमें समर्थ हो सकते हैं। ज्ञानचेतनाका जागरण होने पर आत्मा अपने स्वरूपको पिछान करनेका प्रयत्न करता है। और वह अपनेमें ज्ञानचेतनाका पूर्ण विकास करनेमें समर्थ हो सकता है। पर विभाव-भावोंकी होली जलाये बिना स्वरूपमें स्थिरता पाना कठिन है। ज्ञानचेतनाका पूर्ण विकास सयोग-अयोग केवलीके होता है, और उसका पूर्ण विकास करना ही इस जीवात्माका प्रधान लक्ष्य है। इन्हीं सब भावोंका इसमें कथन किया गया है।

ग्रन्थके अन्तमें कर्ताने अपनी लघुताको व्यक्त करते हुए लिखा है कि यदि मेरेसे प्रमाद वश कोई अशुद्धि रह गई हो। या अन्यथा (आलाप विरुद्ध) लिखा गया हो तो विद्वज्जन उसे शुद्ध करलें। मुद्रितसंस्करण अशुद्धियोंसे भरा हुआ है।

ग्रन्थकर्ताने ग्रन्थमें कहीं भी अपने नाम और रचना-कालादिका कोई उल्लेख नहीं किया, भले ही श्लेषरूपसे दीप-चन्दजीको उक्त ग्रन्थका कर्ता समझ लिया जाय, पर ग्रन्थ-संदर्भकी दृष्टिसे भी यह ग्रन्थ उन्हींकी रचना जान पड़ती है।

—परमानन्द जैन

मुगलकालीन सरकारी कागज संग्रहालयमें सुरक्षित

डा० जी० एन० सालेतोरने हालमें 'इंडियन आरकाईव्ज' पत्रमें मुगलोंके जमानेके कागजातके बारेमें एक लेख प्रकाशित किया है मुगलोंके जमानेमें सभी सरकारी कार्रवाई कागजों पर लिखी जाती थी और उनकी जिल्द बंधवाकर केन्द्र तथा सूबोंके संग्रहालयोंमें रखवा दी जाती थी। सभी कागज विधिवत गिनकर क्रमसे लगाकर, बंडलोंमें रखे जाते थे। कागजोंको नत्थी करके, बंडलोंके दोनों तरफ लकड़ीकी तख्ती लगा दी जाती थी। फिर उन्हें कपड़ोंके बस्तोंमें लपेटकर रख दिया जाता था। इन सब कागजोंसे बादशाही व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

मुगल अभिलेख

मुगल बादशाहोंके अभिलेख संग्रहमें सरकारी कार्रवाईके अभिलेख, सरकारी चिट्ठी-पत्री, माल, फौज और अदालतोंके कागजात तथा हुक्म, दरबारके फरमान और सूचनाएं, सरकारी वकिया नवीसोंकी भेजी खबरें तथा हिसाब-किताब सम्बन्धी अन्य फुटकर आलेख, वसीयतनामे आदि कागजात सुरक्षित हैं। इन अभिलेखोंमें खास तरहकी स्याही और कागजात इस्तेमाल किये गये हैं। इनका आकार प्रकार, लिखावट मुहर और लिफाफे भी खास किस्मके हैं। मुगल बादशाह इन अभिलेखोंको अपने पास ही रखते थे। अकबरने जब काबुल पर चढ़ाई की तो अपने साथ कागजात भी ले गया था। सन् १६६२ में काश्मीर पर चढ़ाई करते समय औरंगजेब ने भी ऐसा ही किया।

अभिलेखोंके दफ्तर

दफ्तरखानेकी व्यवस्था एक दरोगाके अधीन रहती थी, जो दीवान ए-आला (वजीर) की खास मातहतोंमें रहता था। कभी-कभी दफ्तर खाना वजीरके महलमें ही रखा जाता था। सूबोंके कागजात इसी प्रकार सूबोंके दीवानोंके अधीन रहते थे।

कभी कभी दूसरे देशोंके कागजोंकी प्रतियां भी मुगल दफ्तरखानोंमें रखी जाती थी। ऐसे ही कागजातोंमें अकबरके आगरा स्थित संग्रहालयमें ईरानके शाह ताहमस्पके ८ मार्च १५४४ के एक फरमानकी प्रति भी हैं।

सूचना प्रणाली

सूबेकी सभी खबरें वकिया-नवीस, खुफिया नवीस और हरकारोंके जरिये बादशाहके पास पहुँचती थी। बादशाह स्वयं अखबार नवीसोंकी नियुक्ति करता था। ये अखबार नवीस किसी वजीरके मातहत नहीं होते थे। सूबोंके शासनकी सारी खबर बादशाहके पास पहुँचाई जाती थीं। हफ्ते में दो बार सवाना निगार, और हफ्तेवारी खबर वाक्या नवीस लिखकर भेजते थे। महीनेवारी रिपोर्टको "अखबार" कहा जाता था और उन्हें "हरकारे" तैयार करते थे।

वकिया-नवीस या वकिया-निगार शासनके सरकारी सम्वाददाता होते थे। ये हर फौज हर बड़े नगर और हर सूबेमें तैनात किये जाते थे। इनके आदमी परगने और अफसरोंकी खबरें इन्हें रोज देते थे। विदेश-स्थित दूतावासोंमें वकिया-नवीस और खुफिया-नवीस भेजे जाते थे। कभी-कभी एक ही व्यक्ति बक्शी और वकिया-नवीस होता था।

सवाने-निगार या खुफिया-नवीस गुप्त भेषमें रहते थे। महत्वपूर्ण मामलोंमें ये विशेष अफसरका काम करते थे और ये वकिया-नवीसके गुप्तचरका काम भी करते थे।

वकिया नवीसके नीचे, कुछ उसी तरहका पदाधिकारी हरकारा होता था। हरकारेके अखबारमें कहा-सुनी या हुई सभी बातें झूठी या सच्ची, कामकी चाहे बेकार, सब दर्ज की जाती थीं। वह खबरोंको मुलायम कलमसे लिखता था। हरकारेसे ऊँचा अफसर दरोगा ए-हरकारा होता था।

डाकखाने

दरबारको सब खबर डाकखानेके अध्यक्ष, दरोगा ए-डाक-चौकीके मार्फत भेजी जाती थी। बाबरने १५२८में यामों (डाकघरों) की व्यवस्था की थी, जहाँ घोड़े और हरकारे रखे जाते थे। अकबरके १००० डाक मेवरा थे। खफी खां के अनुसार ऐसे डाकिये सब जगह नियुक्त थे।

विदेशी यात्री पेलसर्टके कथनानुसार १६२७ में हर ४-५ कोसके बाद ऐसे डाकिये थे जो हाथों हाथ

निश्चयनय व्यवहार नयका यथार्थ निर्देश

(श्री क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी)

निश्चयनय और व्यवहारनय क्या है, इनका क्या स्वरूप है, और उनकी क्या दृष्टि है तथा पदार्थके मनन या अनुभव करनेमें उनसे क्या कुछ सहायता मिलती है। वे हमारे जीवनके लिये कितने उपयोगी हैं, साथही, उनका हमारी जीवन प्रवृत्तिसे क्या कुछ खास सम्बन्ध है या नहीं, आदि सब बातें विचारणीय हैं। वास्तवमें निश्चय नय वस्तुके यथार्थ स्वरूपका ग्राहक है, वस्तुका वास्तविक स्वरूप उससे ही ज्ञात होता है। निश्चयनय वस्तुके स्वरूपको अभेद, शुद्ध निर्लिप्त तथा निरपेक्षदृष्टिसे कहता है। किन्तु व्यवहारनय उसमें भेद कल्पना कर उपचारसे कथन करता है। इस तरह आत्म-ज्ञान-प्राप्तिके लिये दोनों नयोंका यथार्थ परिज्ञान होना अत्यन्त जरूरी है। अनादि कालसे यह संसारी प्राणी व्यवहारमें मग्न है। अतः इनको अपने स्वरूपका कुछ भी बोध नहीं है। आचार्य कहते हैं कि जब तक यह प्राणी निश्चयनयका आश्रय नहीं लेता, तब तक वह मोक्षका अधिकारी नहीं होता। समयसारमें कहा है:—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थ मस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥

व्यवहार नय अभूतार्थ है—असत्यार्थ है और शुद्ध नय भूतार्थ है—सत्यार्थ है। अतः जो शुद्ध नयाश्रित है वह निश्चय सम्यग्दृष्टि है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'शुद्ध नय' क्या है? इसी बातका स्पष्टीकरण अग्रिम गाथा द्वारा आचार्य करते हैं:—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि॥

जो नय इस आत्माको अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्यनिश्चल, अविशेष तथा दूसरेके संयोगसे रहित देखता है उसे ही शुद्ध नय कहते हैं।

यहां पर आचार्यको शुद्ध निश्चय नयका ज्ञान कराना है। और वह व्यवहारका अवलम्बन लेकर ही होगा। जैसे कोई तुम्हारे पास यदि देहाती पुरुष आवे और वह सौदा करने लग जाय तो जब तक तुम उससे देहाती न बोलोगे तब तक तुमसे पट नहीं सकता। अंग्रेजी भाषा भाषीसे अंग्रेजीमें ही बोलना पड़ेगा अन्यथा उसका पटना दुस्तर है। उसी प्रकार जब तक इन व्यवहारिक जनोंको व्यवहार नय द्वारा नहीं समझाया जायगा तब तक वे उस शुद्ध आत्म तत्त्वको नहीं समझ सकते। यही कारण है कि व्यवहार नयसे उस अभेदात्मक तत्त्वमें भेद-कल्पना की गई है। अतः निश्चनयका ज्ञान अनिवार्य है। विना निश्चयका अवलम्बन लिये केवल व्यवहार कार्यकारी नहीं है। जिस प्रकार किसी मनुष्यको मार्गमें लुटा हुआ देखकर लोग कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है। परन्तु विचारो, कहीं मार्गभी लुटा करता है। उस मार्ग परसे चलने वाले यात्री लोग लुटा करते हैं किन्तु व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि यह मार्ग लुटता है। उसी तरह जीव वर्णादिवान् है ऐसा व्यवहार होने पर भी जीवनमें वर्णादि नहीं हैं। वह तो केवल ज्ञान धन ही है। इस प्रकार दोनों नयोंको यथार्थ समझ लेना सम्यक्त्व है। और सर्वथा एक नयावलम्बी हो जाना मिथ्यात्व है।

यदि हम इन दोनों नयोंकी यथार्थ दृष्टिका उपयोगकर अपनी श्रद्धाको तदनुकूल बनालें तो भइया अपना कल्याण होना कोई बड़ी बात नहीं है। किन्तु हम एकका अवलम्बन कर दूसरे को बिल्कुल ही छोड़ बैठते हैं, इससे हमारी दृष्टि दूषित हो जाती है—वह एकान्तकी तरफ चली जाती है। और हम आत्महितसे वंचित रह जाते हैं। अत. हमें केवल एक नयका ही आश्रय लेना उचित नहीं; किंतु उभयनयोंका यथार्थ परिज्ञान कर वर्तना आत्महितका साधक है। यही श्रद्धा जीवनमें उपयोगनीय है। —(दिल्ली प्रवचनसे)

---

८० कोस तक चौबीस घण्टेमें फरमान पहुंचा देते थे। ओविंगटनके कथानुसार ये पैदल या पट्टामार डाकिये' राज्यके कौने-कौने तक डाक पहुँचाते थे। ऐसा उल्लेख है कि जहांगीरके समयमें एक स्थानसे दूसरे स्थानको डाक भेजनेमें कबूतरोंका प्रयोग किया जाता था, इन्हें 'कबूतर नाम बार' कहते थे और मण्डसे बरहानपुर तक वर्षामें ये कबूतर डेढ़से ढाई पहरमें पहुँच जाते थे। वैसे साफ मौसम में एक पहर या चार घड़ीमें ही पहुँच जाते थे।

—(नवभारतसे)

श्रावकोंका आचार-विचार

(क्षुल्लक सिद्धिसागर)

जो दर्शन मोहादिकको गलाता है, और सदृष्टिको प्राप्त कर आत्मस्वरूपकी प्रतीति करता है, विश्वास करता है वह श्रावक कहलाता है—अथवा जो श्रद्धापूर्वक गुरुओंसे धर्मो-सुनता है वह श्रावक कहलाता है। और वह अल्प सावद्य-आर्य और सावद्य आर्यके भेदसे दो प्रकारका है—जब तक वह देश संयम या देश व्रत ग्रहण नहीं करता है, तब तक वह सम्यग्दृष्टि हिंसाको हेय समझते हुए भी सावद्य आर्य नामका श्रावक कहलाता है किन्तु जब वह सागरधर्मको दर्शन प्रतिमादिकके रूपमें धारण करता है। तब वह अल्प सावद्य आर्य नामके श्रावकोंमें परिलक्षित होता है—चूँकि वह संकल्पी हिंसाका जन्म भरके लिए नव कोटसे परित्यागकर देता है—वह इरादतन त्रस जीवोंकी हिंसा नहीं करता और व्यर्थ स्थावर जीवोंका भी वध नहीं करता है—जब तक वस्त्रादिक का त्याग नहीं होता है तब तक वह श्रावक-धर्म या ससंग सागार या विकल आचारवान या देशव्रती होता है या असंयमी किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करनेका पक्ष प्रत्येक श्रावकको होता है किन्तु संकल्पी या इरादतन हिंसा और व्यर्थ स्थावर हिंसाको छोड़कर शेष हिंसासे वह चर्यामें बच नहीं पाता। यद्यपि उससे वह बचना भी चाहता है और बचनेके लिए यथा शक्य प्रयत्न भी करता है—किसी भी प्राणीको दुःख देने या संताने जैसा परिणाम वह नहीं करता; किन्तु आरम्भ समारम्भमें होने वाली अनिवार्य हिंसासे वह बच भी नहीं पाता। उसके तो जैनधर्मकी ही पक्ष होती है इसीसे वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है। परन्तु नैष्ठिक श्रावक अपनी निष्ठामें सुदृढ़ रहता है और व्रतोंका निष्ठा पूर्वक अनुष्ठान करता है—उनका निर्दोष पालन करता हुआ अपना जीवन यापन करता है वह नैष्ठिक श्रावक या अल्प सावद्य आर्य भी कहा जाता है।

आर्य श्रावक धार्मिक विचारके अधीन या अनुसार गृहस्थ आचरणको अहिंसामय बनानेका प्रयत्न करता है—विचार-का सुधार ग़लत विश्वासके हटानेसे होता है—जो पदार्थ जैसे अवस्थित है उसे वैसे मान लेने पर वह निरस्ताग्रह सम्यग्दृष्टिसे युक्त होनेके कारण अपने विचारको सुधार लेता है तब सम्यग्ज्ञानी या सुधारक कहा जाता है।

जो हिंसामें धर्म मानता है—उसमें हितकी कल्पना करता है और सदोष रागी द्वेषी अज्ञानीको आप्त (देव) मानता है या सग्रन्थको धर्म गुरु मानता है—वह वास्तवमें श्रावक नहीं है—चूँकि दर्शनमोहादिकको नहीं जलाने वाला या नहीं बहाने वाला श्रावक नहीं है—सम्यग्दर्शनादिकसे युक्त ही वास्तवमें श्रावक हैं शेष तो नाम मात्रसे या श्रावक धर्मोन्मुख उपचरित श्रावक हैं—यदि वे सचाईकी ओर या अहिंसाकी ओर झुकना चाहते हैं—तो उन्हें हिंसादि जैसे पाप कर्मोंका छोड़ना आवश्यक है। और अपनी श्रद्धा या विश्वासको आगमानुकूल बनाना भी जरूरी है। बिना इसके वे श्रावक नहीं कहला सकते।

श्रावक धर्मका विवेचन सबसे पहले हमें गौतम स्वामी के प्रतिक्रमणसूत्रमें मिलता है—इससे यह पता चलता है कि प्रचलित श्रावकधर्म कुछ हेर-फेरके साथमें अक्षुण्ण रूपसे चला आ रहा है—वह संहननके अनुकूल भी है—दिगम्बर दर्शनके अनुसार श्रावकके आचार-विचार १२ व्रत ११ प्रतिमा इत्यादिक रूपसे कुछ नामोंके हेर-फेरसे ज्यों का त्यों बतलाया गया है—श्रावकके मूलधर्ममें अहिंसाका आशय ज्यों त्यों के रूपमें अक्षुण्ण बना हुआ है स्वामी समन्तभद्रका श्रावकाचार जो वि. कौलगभग दूसरी तीसरी शताब्दीके प्रारंभ की रचना है बेजोड़ ग्रंथ हैं—वह अपनी शानी नहीं रखता है—यद्यपि आशयमें शेष श्रावकाचारभी उसी आशयके अनुकूल हैं—कोई भी श्रावकाचार अहिंसाचार और सम्यग्ज्ञानके विरुद्ध नहीं है। फिर भी कथनकी दृष्टिसे जो मौलिकता, प्रौढता गम्भीरता रत्नकरण्डमें झलकती है। वह अन्य श्रावकाचारोंमें लक्षित नहीं होती, फिर भी उनमें चर्चित विषय अपनी-अपनी विशेषताओंके कारण मौलिक रूपमें मानना अनुचित नहीं है। वे अपने देश कालकी अपेक्षासे श्रावकाचार पर विशद प्रकाश डालते ही हैं। इससे स्पष्ट है कि आचार-विचारसे शुद्ध आर्यको श्रावक कहा जाता है—यह आचार-विचार किसी न किसी क्षेत्रमें अवश्य अनादिकालसे अक्षुण्ण बना हुआ है जैसे कि सूर्य-चांद अनादिसे पाये जाते हैं भले ही वे कहीं अप्रकट भी रहें।

ढाई हजार वर्षके बीचमें भी श्रावक धर्मका प्रभाव क्रूर विचारों और दुराचारको चोट पहुँचाता रहा। अब भी वह जीता जागता किसी न किसी उत्तम रूपमें हम लोगोंके दृष्टि गत हो रहा है—यदि श्रावक धर्म न होता तो भारतकी सभ्यताकी रक्षा वास्तवमें न होती यह श्रमणोंके निर्ग्रन्थधर्मका उपासक धर्म है—इसे श्रावक धर्म भी कहते हैं—

श्री हीराचन्दजी बोहराका नम्रनिवेदन और कुछ शंकाएँ

(जुगलकिशोर मुख्तार)

[गत किरणसे आगे]

श्री बोहराजीने कानजीस्वामीके कुछ वाक्योंको भी (आत्मधर्म वर्ष ७ के ४ थे अंकसे) प्रमाणरूपमें उपस्थित किया है और अपने इस उपस्थितीकरणका यह हेतु दिया है कि इससे मेरी तथा मेरे समान अन्य विद्वानोंकी धारणा कानजीस्वामीके सम्बन्धमें ठीक तौर पर हो सकेगी। अतः मैंने आपकी प्रेरणाको पाकर आपके द्वारा उद्धृत कानजी-स्वामीके वाक्योंको कई बार ध्यानसे पढ़ा परन्तु खेद है कि वे मेरी धारणाको बदलनेमें कुछ भी सहायक नहीं हो सके; प्रत्युत इसके, वे भी प्रायः असंगत और प्रकृत-विषयके साथ असम्बद्ध जान पड़े। इन वाक्योंको भी श्रीबोहराजीने डबल इन्वर्टेड कामाज़ "——" के भीतर रक्खा है। और वैसा करके यह सूचित किया तथा विश्वास दिलाया है कि वह कानजीस्वामीके उन वाक्योंका पूरा रूप है जो आत्म-धर्मके उक्त अंकमें पृष्ठ १४१-१४२ पर मुद्रित हुए हैं—उसमें कोई घटा-बढ़ी नहीं की गई है। परन्तु जाँचनेसे यहाँ भी वस्तुस्थिति अन्यथा पाई गई, अर्थात् यह मालूम हुआ कि कानजीस्वामीके वाक्योंको भी कुछ काट-छाँट कर रक्खा गया है—कहीं 'तो' शब्दको निकाला तो कहीं 'भी', 'ही' तथा 'और' शब्दोंको अलग किया, कहीं शब्दोंको आगे-पीछे किया तो कहीं कुछ शब्दोंको बदल दिया, कहीं डैश (—) को हटाया तो कहीं उसे बढ़ाया; इस तरह एक पेजके उद्धरण में १५-१६ जगह काट-छाँटकी कलम लगाई गई। हो सकता है कि काट-छाँटका यह कार्य कानजीस्वामीके साहित्यको कुछ सुधार कर रखनेकी दृष्टिसे किया गया हो; जब कि वैसा करनेका लेखकजीको कोई अधिकार नहीं था; क्योंकि उससे उद्धरणकी प्रामाणिकताको बाधा पहुँचती है। कुछ भी हो, इस काट-छाँटके चक्करमें पड़ कर उद्धरणका अन्तिम वाक्य सुधारकी जगह उलटा विकारग्रस्त हो गया है, जिसका उद्धृत रूप इस प्रकार है—

"जीवको पापसे छुड़ा कर मात्र पुण्यमें नहीं लगा देना है किंतु पाप और पुण्य इन दोनोंसे रहित धर्म—उन सबका स्वरूप जानना चाहिए।"

जब कि कानजीस्वामीके उक्त लेखमें वह निम्न प्रकारसे पाया जाता है—

"जीवको पापसे छुड़ा कर मात्र पुण्यमें नहीं लगा देना है, किन्तु पाप और पुण्य दोनोंसे रहित ज्ञायकस्वभाव बतलाना है। इसलिये पुण्य-पाप और उन दोनोंसे रहित धर्म,—उन सबका स्वरूप जानना चाहिए।"

इस वाक्यसे रेखाङ्कित शब्दोंके निकल जानेके कारण बोहराजीके द्वारा उद्धृत वाक्य कितना बेढंगा बन गया है, इसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं रहती। अस्तु; अब मैं कानजी-स्वामीके वाक्यों पर एक नज़र डालता हुआ यह बतलाना चाहता हूँ कि प्रकृत-विषयके साथ वे कहाँ तक संगत हैं और कानजीस्वामीकी ऐसी कौनसी नई एवं समीचीन-विचार-धाराको उनके द्वारा सामने लाया गया है जो कि विद्वानोंकी धारणाको उनके सम्बन्धमें बदलनेके लिये समर्थ हो सके।

अपना प्रकृत-विषय जिनशासन अथवा जैनधर्मके स्वरूपका और उसमें यह देखनेका है कि पूजा-दान व्रतादिके शुभभावोंको अथवा सम्यग्दृष्टिके सरागचारित्रको वहां धर्मरूपसे कोई स्थान प्राप्त है या कि नहीं। श्री कुन्दकुन्द और स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योंके ऐसे वाक्यों-को प्रमाणमें उपस्थित किया गया था जो साफ तौर पर पूजा-दान व्रतादिके भावों एवं सम्यग्दृष्टिके सरागचारित्रको 'धर्म' प्रतिपादन कर रहे हैं, उन पर तो श्री बोहराजीने दृष्टि नहीं डाली अथवा उन्हें यों ही नज़रसे ओझल कर दिया—और कानजीस्वामीके ऐसे वाक्योंको उद्धृत करने बैठे हैं जिनसे उनकी कोई सफ़ाई भी नहीं होती। और इससे ऐसा मालूम होता है कि आप उक्त महान् आचार्योंके वाक्यों पर कानजी स्वामीके वाक्योंको बिना किसी हेतुके ही महत्व देना चाहते हैं। यह श्रद्धा-भक्तिकी अति है और ऐसी ही भक्तिके वश कुछ भक्तजन यहाँ तक कहने लगे हैं कि 'भगवान् महा-वीरके बाद एक कानजीस्वामी ही धर्मकी सच्ची देशना करनेवाले पैदा हुए हैं, ऐसा सुना जाता है, मालूम नहीं यह कहाँ तक ठीक है। यदि ठीक है तो ऐसे भक्तजन, उत्तर-वर्ती केवलियों श्रुतकेवलियों तथा दूसरे ऋद्धिधारी एवं भाव-लिंगी महान् आचार्योंकी अवहेलनाके अपराधी हैं। अस्तु; कानजीस्वामीके जिन वाक्योंको उद्धृत किया गया है वे पुण्य, पाप और धर्मके विवेकसे सम्बन्ध रखते हैं। उनमें

वही एक राग अलापा गया है कि पुण्यकर्म किसी प्रकार धर्म नहीं होता, धर्मका साधन भी नहीं, बन्धन होनेसे मोक्ष-मार्गमें उसका निषेध है, पुण्य और पाप दोनोंसे जो रहित है वह धर्म है। कानजीस्वामीने एक वाक्यमें व्यवहारसे पुण्यका निषेध न करनेकी बात तो कहदी; परन्तु उसे 'धर्म' कहकर या मानकर नहीं दिया, ऐसी एकांत धारणा समाई है! जब कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, जिन्हें वे अपना आराध्य गुरुदेव बतलाते हैं, उसे धर्म भी प्रतिपादन करते हैं अर्थात् पूजा-दान-व्रतादिके वैसे शुभ भावोंको पुण्य और धर्म दोनों नामों-से उल्लेखित करते हैं, जिसका स्पष्टीकरण पहले उस लेखमें किया जा चुका है जिसके विरोधमें ही बोहराजीके विचार-प्रस्तुत लेखका अवतार हुआ है और जिसे उनकी इच्छा-नुसार अनेकान्तकी गत किरण ५में प्रकाशित किया जा चुका है। वह वाक्य इस प्रकार है—

"पुण्य बंधन है इसलिये मोक्षमार्गमें उसका निषेध है—यह बात ठीक है; किन्तु व्यवहारसे भी उसका निषेध करके पापमार्गमें प्रवृत्ति करे तो वह पाप तो कालकूट विषके समान है; अकेले पापसे तो नरक-निगोदमें जायेगा।'

यहाँ यह प्रश्न पैदा होता है कि इस वाक्यमें जिस विषयका प्रतिपादन किया गया है वह प्रतिपाद्य वस्तु कानजी स्वामीकी अपनी निजी है या किसी अन्य मतसे ली गई है अथवा जिन-शासनका अंग होनेसे जैनधर्मके अन्तर्गत है? यदि यह कहा जाय कि वह कानजीस्वामीकी अपनी निजी वस्तु है तो एक तो उसका यहाँ विचारमें प्रस्तुत करना असं-गत है; क्योंकि प्रस्तुत विचार जिनशासनके विषयमें सम्बन्ध रखता है, न कि कानजीस्वामीकी किसी निजी मान्यतासे। दूसरे, कानजीस्वामीके सर्वज्ञादिरूप कोई विशिष्ट ज्ञानी न होनेसे उनके द्वारा नरक-निगोदमें जानेके फतवेकी बात भी माथमें कुछ बनती नहीं—निराधार ठहरती है। तीसरे, पुण्य-रूप विकारकार्य इस तरह करने योग्य होजाता है और कानजी-स्वामीका यह कहना है कि 'विकारका कार्य करने योग्य है—ऐसा मानने वाला जीव विकारको नहीं हटा सकता।" तब फिर ऐसे विकार-कार्यका विधान क्यों जिससे कभी छुटकारा न हो सके? यह उनके विरुद्ध एक नई आपत्ति खड़ी होती है। यदि उसे अन्यमतकी वस्तु बतलाया जाय तो भी यह उसका प्रस्तुतीकरण असंगत है; साथही जैनधर्म एवं जिनशासनसे बाह्य ऐसी वस्तुके प्रतिपादनका उन पर आरोप आता है जिसे वे मिथ्या और अभूतार्थ समझते हैं। और यदि यह कहा जाय कि वह जिनशासनकी ही प्रतिपाद्य वस्तु है तो फिर कानजीस्वामीके द्वारा यह कहना कैसे संगत हो सकता है कि पूजा-दान-व्रतादिके रूपमें शुभभाव जैनधर्म नहीं है?—दोनों बातें परस्पर विरुद्ध पड़ती हैं। इसके सिवाय, कानजी स्वामीका मोक्षमार्गमें पुण्यका निषेध बतलाना और उसे धर्मका साधन भी न मानना जैनागमोंके विरुद्ध जाता है; क्योंकि जैनागमोंमें मोक्षके उपाय अथवा साधन-रूपमें उसका विधान पाया जाता है, जिसके दो नमूने यहां दिये जाते हैं—

(१) असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
सविपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः॥२११
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

इसमें श्री अमृतचन्द्राचार्यने बतलाया है कि 'रत्नत्रयकी विकल रूपसे (एक देश या आंशिक) आराधना करनेवालेके जो शुभभावजन्य पुण्यकर्मका बन्ध होता है वह मोक्षकी साधनामें सहायक होनेसे मोक्षोपाय (मोक्षमार्ग) के रूपमें ही परिगणित है, बन्धनोपायके रूपमें नहीं।'

श्री अमृतचन्द्राचार्य-जैसे परम आध्यात्मिक विद्वान् भी जब सम्यग्दृष्टिके पुण्य-बन्धक शुभभावोंको मोक्षोपायके रूप-में मानते तथा प्रतिपादन करते हैं तब कानजीस्वामीका वैसा माननेसे इनकार करना और यह प्रतिपादन करना कि 'जो कोई शुभभावमय पुण्य कर्मको धर्मका साधन माने उसके भी भवचक्र कम नहीं होंगे' उनकी आध्यात्मिक एका-न्तताका यदि सूचक समझा जाय तो शायद कुछ भी अनु-चित नहीं होगा।

(२) मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चय-व्यवहारतः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम्॥२८
—तत्त्वानुशासन

इसमें श्रीरामसेनाचार्यने यह निर्दिष्ट किया है कि मोक्ष-मार्ग दो भेदोंमें विभक्त है—एक निश्चय-मोक्षमार्ग और दूसरा व्यवहार-मोक्षमार्ग। निश्चय-मोक्षमार्ग साध्यरूपमें स्थित है और व्यवहार-मोक्षमार्ग उसका साधन है। साधन साध्यका विरोधी नहीं होता, दोनोंमें परस्पर अविनाभाव-संबंध रहता है और इसलिये एकको दूसरेसे अलग नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थितिमें निश्चय-मोक्षमार्ग यदि जिनशासनका अंग है तो व्यवहार-मोक्षमार्ग भी उसीका अंग है, और इसलिए जिन-शासनका यह लक्षण नहीं किया जा सकता कि 'जो शुद्ध-आत्मा वह जिनशासन है' और न यही कहा जा सकता कि 'पूजा-दान व्रतादिके शुभभाव जैनधर्म नहीं हैं। ऐसा विधान

और प्रतिपादन दृष्टिविकारको लिए हुए एकान्तका द्योतक है; क्योंकि व्यवहार-मोक्षमार्गमें जिस सम्यक्चारित्रका ग्रहण है वह अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्तिको लिए हुए प्रायः अहिंसादि-व्रतों, ईर्यादि-समितियों और सम्यग्योग-निग्रह-लक्षण-गुप्तियोंके रूपमें होता है ※; जैसा कि द्रव्यसंग्रहकी निम्न गाथासे जाना जाता है—

असुहादो विनिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वद-समिदि-गुत्तिरूवं व्यवहारणया दु जिणभणियं ४५

इस गाथामें स्पष्ट रूपसे यह भी बतलाया गया है कि चारित्रका यह स्वरूप व्यवहारनयकी दृष्टिसे जिनेंद्र भगवानने कहा है; जब जिनेन्द्रका कहा हुआ है तब जिनशासनसे उसे अलग कैसे किया जा सकता है? अतः कानजी स्वामीके ऐसे वचनोंको प्रमाणमें उद्धृत करनेसे क्या नतीजा, जो जिन-शासनकी दृष्टिसे बाह्य एकान्तके पोषक हैं अथवा अनेकान्ता-भासके रूपमें स्थित हैं और साथही कानजीस्वामी पर घटित होने वाले आरोपोंकी कोई सफ़ाई नहीं करते। (क्रमशः)

※ इस सम्यक्चारित्रको 'सरागचारित्र' भी कहते हैं और यह निश्चयमोक्षमार्गमें परिगृहीत 'वीतरागचारित्र' का उसी प्रकार साधन है जिस प्रकार कांटेको कांटेसे निकाला जाता अथवा विषको विषसे मारा जाता है। सरागचारित्रकी भूमिकामें पहुँचे बिना वीतरागचारित्र तक कोई पहुँच भी नहीं सकता। वीतरागचारित्र यदि मोक्षका साक्षात् साधक है तो सरागचारित्र परम्परा साधक है; जैसा कि द्रव्यसंग्रहके टीकाकार ब्रह्मदेवके निम्न वाक्यसे भी प्रकट है—

"स्वशुद्धात्मानुभूतिरूप-शुद्धोपयोगलक्षण-वीतरागचारित्र-स्य पारम्पर्येण साधकं सरागचारित्रम्।"

महापुराण-कलिका और कवि ठाकुर

(परमानन्द जैन शास्त्री)

हिन्दी जैन साहित्यमें अनेक कवि हुए हैं। परन्तु अभी तक उनका एक मुकम्मिल परिचयात्मक कोई इतिहास नहीं लिखा जा सका, जो कुछ लिखा गया है वह बहुत कुछ अपूर्ण और अनेक स्थूल भूलोंको लिये हुए है। उसमें कितने ही हिन्दी के गद्य-पद्य लेखक विद्वानों और कवियोंके नाम छूटे हुए हैं। जिनके सम्बन्धमें विद्वानोंको अभी कोई जानकारी नहीं है। आज ऐसे ही एक ग्रन्थ और ग्रन्थकारका परिचय नीचे दिया जा रहा है। आशा है अन्वेषक विद्वान अन्य विद्वान कवियोंका परिचय खोज कर प्रकाशमें लानेका प्रयत्न करेंगे।

प्रस्तुत ग्रन्थका नाम 'महापुराण कलिका' वा 'उपदेश-रत्न माला' है जिसके कर्ता कवि शाह ठाकुर हैं जो मूलसंघ सरस्वतिगच्छके भट्टारक प्रभाचन्द्र पद्मनन्दी, शुभचन्द्र जिन-चन्द्र, प्रभाचन्द्र, चन्द्रकीर्ति और विशालकीर्तिके शिष्य थे। इनमेंसे भ० जिनचन्द्रका पट्टाभिषेक सं० १५०७ में दिल्लीमें हुआ था। ये बड़े प्रभावशाली और विद्वान थे। इनके द्वारा प्रतिष्ठित अनेक मूर्तियां सं० १५४१, १५४२ और संवत्-१५४८ की मौजूद मिलती हैं। उनके पट्टपर प्रभाचन्द्र प्रतिष्ठित हुए थे। जो षट्तर्कमें निपुण तथा कर्कश वाग्गिराके द्वारा अनेक कवियोंके विजेता थे। और जिनका पट्टाभिषेक सम्मेद शिखर पर सुवर्ण कलशोंसे किया गया था। इन्हीं प्रभाचन्द्र के पट्टधर भ० चन्द्रकीर्ति थे इनका पट्टाभिषेक भी सम्मेद शिखर पर हुआ था ※। और उन्हींके समसामयिक भ० विशालकीर्ति थे, जिनका कविने गुरु रूपसे उल्लेखित किया

※ तत्पट्टोदयभूधरेऽजनि मुनिः श्रीमत्प्रभेन्दुर्वशी,
हेयादेयविचारणैकचतुरो देवागमालंकृतौ।
मेयाम्भोज-दिवाकरादिविविधे तर्के च चक्षुश्रवो,
जैनेन्द्रादिकलक्षणप्रथायने दक्षोऽनुयोगेषु च ॥३२
त्यक्त्वा सांसारिकीं भूतिं किंपाकफलसन्निभाम्।
चिन्तारत्ननिभां जैनीं दीक्षां संप्राप्य तत्त्ववित् ॥३३
शब्दब्रह्मसरित्पतिं स्मृतिबालदुस्तीर्य यो लीलया,
षट्तर्कागममार्ककर्कशगिरा जित्वाखिलान-वादिनः।
प्राच्यां दिग्विजयी भव बव विभुर्जैनप्रतिष्ठां कृते,
श्रीसम्मेदगिरौ सुवर्णकलशैः पट्टाभिषेकः कृतः ॥३४
श्रीमत्प्रभाचन्द्रगणीन्द्रपट्टे भट्टारकश्रीमुनिचंद्रकीर्तिः।
संस्थापितो योऽवनिनाथवृन्दैः सम्मेदनाम्नीह गिरीन्द्र मूर्ध्नि ॥
—मूलसंघ द्वितीय पट्टावली भास्कर भाग १, कि. ३-४,

है। विशालकीर्ति नामके कई भट्टारक हो गये हैं। उनमेंसे ये कौनसे विशालकीर्ति हैं यह जानना आवश्यक है। ग्रन्थकारने अपनी प्रशस्तिमें विशालकीर्तिके साथ एक नेमिचन्द्र यतिका भी नामोल्लेख किया है जो विशालकीर्तिके शिष्य जान पड़ते हैं उनमें प्रथम भ० विशालकीर्ति वे हैं जिनका उल्लेख भट्टारक शुभचन्द्रकी गुर्वावलीमें ८० वें नम्बर पर पाया जाता है और जो वसन्तकीर्तिके शिष्य प्रख्यातकीर्तिके पद पर प्रतिष्ठित हुए थे, त्रिविद्याधीश्वर और वादीन्द्र थे और शुभकीर्तिके गुरु थे ⊛।

दूसरे विशालकीर्ति भट्टारक वे हैं जो भट्टारक पद्मनन्दी-के पट्टधर थे, और जिनके द्वारा सं० १४७० में प्रतिष्ठित २६ मूर्तियाँ ज्येष्ठ सुदि एकादशीको टोंकमें प्राप्त हुई थीं और जिनमेंसे अधिकांश मूर्तियों पर लेख भी उत्कीर्णित थे।

तीसरे विशालकीर्ति वे हैं जिनका उल्लेख नागौरके भट्टारकोंकी नामावलीमें किया हुआ है और जो धर्मकीर्तिके पट्टधर थे। जिनका पट्टाभिषेक सं० १६०१ में हुआ था × इनमेंसे प्रथमके दो विशालकीर्ति शाह ठाकुरके गुरु रहे हों। या ये कोई जुदे ही विशालकीर्ति हों।

शाह ठाकुरने महापुराण कलिका नामक ग्रन्थकी संधियों-में जो संस्कृत पद्य दिये हुए हैं, उनमेंसे कई पद्योंमें विशाल-कीर्ति, और एक पद्यमें नेमिचन्द्रका आदर पूर्वक स्मरण किया है। जैसा कि २३वीं संधिके २ प्रारम्भिक पद्योंसे स्पष्ट है:—

'कल्याणं कीर्तिलोके जसुभवतिजगे मंडलाचार्यपट्टे,
नंद्याम्नाये सुगच्छे सुभगश्रुतमते भारतीकारमूर्ते।
मान्यो श्रीमूलसंघे प्रभवतु भुवनो सार सौख्याधिकारी,
सोऽयं मे वैद्यवंशे ठकुरगुरुयते कीर्तिनामा विशालो॥"
"पट्टे श्री भुविनाधिकारि भुवनो कीर्तिर्विशालायते,
तस्याम्नायमहीतले सुयतिना चारित्रचूडामणे।
पालइ पंच महाव्रतं समितियो पंचैव गुप्तित्रयो,
मूलं मूलगुणा सुसाधनपरो श्रीनेमिचन्द्रो जयो॥"

इस ग्रन्थमें २७ संधियां हैं, उनमेंसे अन्तिम संधिमें कविने अपनी वंश परिचयात्मिका विस्तृत प्रशस्ति दी है जिसमें वंश परिचयके साथ-साथ उस समयकी परिस्थिति और राज्यादिके समयका उल्लेख करते हुए तत्कालीन कुछ नगरोंके नामोंका—आगरा, फतेपुर-गढगुलेर, रुहितासगढ, पटना-हाजीपुर, ढुंढाहड, आंबेर, बूंदी, टोडा, अजमेर, दौसा, मेवति, वैराट, अलवर, और नारनौर आदिका—उल्लेख किया है। इन नगरोंमें अधिकांश नगर राजपूताना (राज-स्थान) में पाये जाते हैं।

उक्त कलिका ग्रन्थका महत्व बतलाते हुए कविने ५वीं संधिके शुरूमें निम्न संस्कृत पद्य दिया है जिससे ग्रन्थमें चर्चित कथाको—त्रैसठ शलाका पुरुषोंकी पुराण कथाको—अज्ञानका नाशक, शुभकारी और पवित्र उद्घोषित किया है।

या जन्माभवछेदनिर्णयकरी, या ब्रह्मब्रह्मेश्वरी,
या संसारविभावभावनपरा, या धर्मकामा परी।
अज्ञानादथ ध्वंसिनी शुभकरी, ज्ञेयासदा पावनी,
या तेसट्ठिपुराणउत्तमकथा भव्या सदा पातु नः॥"

ग्रन्थमें जैनियोंके प्रथम तीर्थंकर ऋषभ देवका तो सांगों-पांग परिचय दिया हुआ है, उसमें उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत, जिनके नामसे इस देशका नाम भारतवर्ष पड़ा है, उनका और उनके सेनापति जयकुमार और उनकी धर्मपत्नी सुलो-चना तथा भरतके लघुभ्राता बाहुबलीके साथ होने वाली युद्ध-घटना और उसमें विजय लाभके अनन्तर दीक्षा लेकर कठोर तपश्चर्या करनेका सुन्दर कथानक दिया हुआ है। किन्तु अवशिष्ट तेईस तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों, नारायणों, बलभद्रों और प्रतिनारायणों उनके नगर ग्राम, माता पिता, राज्य काल और तपश्चरणादिका भी संक्षिप्त परिचय अंकित किया गया है। सम्भव है इस ग्रन्थमें पुष्पदन्त कविके महा-पुराणसे कुछ कथानक लिया गया हो, दोनों ग्रन्थोंके मिलान करने पर यह जाना जा सकेगा।

कवि ठाकुर शाहने ग्रन्थके अन्तमें अपने वंशका परिचय देते हुए लिखा है कि उनकी जाति खंडेलवाल और गोत्र लुहाडिया था, यह वंश राजसम्मान्य रहा है शाह ठाकुर सीहा-के प्रपुत्र और साहू खेताके पुत्र थे जो देव-शास्त्र-गुरुके भक्त और विद्या विनोदी थे। उनका विद्वानोंसे विशेष प्रेम था,

(शेष टाइटिल पृष्ठ ३ पर)

⊛ तस्य श्रीवनवासिनस्त्रिभुवन प्रख्यातकीर्तेरभूत्।
शिष्योऽनेकगुणालयः समयमध्याता प्रगासागरः।
वादीन्द्रः परवादि-वारणगण-प्रागल्भ-विद्रावणः
सिंहः श्रीमति मल्लयेति विदितस्त्रैविद्यविद्यास्पदम्॥
विशालकीर्ति ....॥
—शुभचन्द्र गुर्वावली

× इंडियन एंटिक्वेरीमें प्रकाशित नन्दिसंघके आचार्यों की नामावली।

(पृष्ठ ११० का शेषांश)

संगीत, शास्त्र, छन्द, अलंकार आदिमें निपुण थे और कविता करनेमें उन्हें आनन्द आता था। उनकी पत्नी यति और श्रावकोंका पोषण करनेमें सावधान थी। याचक जन उसकी कीर्तिका गुण गान किया करते थे। उससे दो पुत्र उत्पन्न हुए थे, गोविन्ददास और धर्मदास। उनके भी पुत्रादिक थे, इस तरह शाह ठाकुरका परिवार एक सम्पन्न परिवार था। इनमें धर्मदास विशेष धर्मज्ञ और सम्पूर्ण कुटुम्बके भारका वहन करने वाला विनयी और गुरु भक्त था। कविने प्रशस्तिमें अखैराज नामके एक व्यक्तिका भी उल्लेख किया है जो कूरमवंशके थे। अखयराज नामके एक विद्वान कई ग्रन्थोंके कर्ता भी हुए हैं क्या वे यही हैं या इनसे भिन्न यह अन्वेषणीय है।

शाह ठाकुरने अपने इस ग्रन्थको संवत् १६५० में राजा मानसिंह, जो उस समय आमेर (जयपुर) के शासक थे। और चकत्तावंशके हुमायूँ के पुत्र अकबर बादशाहके शासन कालमें बनाकर समाप्त किया था। कविकी बनाई हुई अन्य क्या रचनाएं हैं, यह कुछ ज्ञात नहीं हुआ। ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्ति अगले अंकमें दी जावेगी।

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी
१०१) बा० शान्तिनाथजी कलकत्ता
१०१) बा० निर्मलकुमारजी कलकत्ता
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथ जी, ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीराम बैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१ बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चद औषधालय, कानपुर
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) ला० रतनलाल जी कालका वाले, देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री दि० जैन लालमंदिर देहली । मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

दिसम्बर १९५४

अनेकान्त वर्ष १३
किरण ६

विषय-सूची

१ समन्तभद्रभारती (देवागम) ··· ··· [युगवीर १४५
२ अपभ्रंशभाषाका जम्बूस्वामी चरिउ और महाकवि वीर— [परमानन्द जैन शास्त्री १४६
३ भरतकी राजधानीमें जयधवल महाधवल ग्रन्थराजोंका अपूर्व स्वागत— ··· ··· [परमानन्द जैन १५८
४ रोपड़की खुदाईमें महत्वपूर्ण ऐतिहासिक वस्तुओंकी उपलब्धि ··· ··· १५६
५ अतिशय क्षेत्र खजुराहा— ··· [परमानन्द जैन १६०
६ श्री हीराचन्दजी बोहराका नम्रनिवेदन और कुछ शंकाएँ— ··· ··· [जुगलकिशोर मुख्तार १६२
७ पूजाराग समाज तातैं जैनिनयोग किम ? (कविता)— [··· ··· [स्व० पं० ऋषभदासजी]—

मुख्तार श्री जुगलकिशोरजीकी ७८वीं वर्षगाँठ

प्रीति-भोजके साथ सम्पन्न

जैन समाजके सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान और सबसे पुराने साहित्य-तपस्वी आचार्य श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार की आयुके ७७ वर्ष पूरे होजाने पर गत मंगशिर सुदी एकादशी संवत् २०११, ता० ६ दिसम्बर सन् १९५४ को उनकी ७८वीं वर्षगांठ दि० जैन लालमन्दिर-स्थित वीरसेवामन्दिरमें सानन्द मनाई गई, जिसमें प्रीतिभोजको भी सुन्दर आयोजन किया गया था। प्रीतिभोजके लिये देहलीके प्रायः सभी गण्यमान जैन बन्धुओंको आमन्त्रित किया गया था, जिनमेंसे अधिकांश बन्धुओंने प्रेमके साथ भोजमें भाग लिया। अनेक सज्जन फूलोंकी सुन्दर मालाएं लेकर आए थे और उन्हें मुख्तारश्री के गलेमें डालकर उन्होंने उनके शतायु होनेकी कामना की थी। इस अवसरपर मुख्तारश्री ने अपने लिये सुरक्षित रखे हुए देहली क्लॉथ मिलके शेयर्समें से ३० शेयर अपने तीनों भतीजों—डा० श्रीचन्द बा० रिखबचन्द और बा० प्रद्युम्नकुमारको और ५० शेयर्स बहन जयवन्तीको दिये। और इस तरह अपने वर्तमान परिग्रहमेंसे तीन हजारसे ऊपरके परिग्रहको कम किया। साथ ही, ४०) रुपये निम्न प्रकारसे पत्रादिकोंको प्रदान किये —

५) श्री दिगम्बर जैन लालमन्दिर, ११) अंग्रेजी जैनगजट, ११) अनेकान्त, ५) अहिंसावाणी और वॉइस आफ अहिंसा, २) अहिंसा (जयपुर), २) जैनमित्र, २) जैनसन्देश, २) पक्षियोंके अस्पताल को।

—परमानन्द जैन

आचार्यश्री का दीक्षादिवस

आचार्य श्री नमिसागरजीका ३०वां दीक्षा समारोह जैन कालेज बड़ौत (मेरठ) की ओरसे सानन्द सम्पन्न होगया। आचार्य नमिसागर जी चिरजीवी हों यही हमारी हार्दिक कामना है।

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश

वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित जिस 'समाधितन्त्र' ग्रन्थके लिये जनता अर्सेसे लालायित थी वह ग्रन्थ इष्टोपदेशके साथ इसी सितम्बर महीनेमें प्रकाशित हो चुका है। आचार्य पूज्यपादकी ये दोनों ही आध्यात्मिक कृतियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। दोनों ग्रन्थ संस्कृत टीकाओं और पं० परमानन्दजी शास्त्रीके हिन्दी अनुवाद तथा मुख्तार जुगलकिशोरजीकी खोजपूर्ण प्रस्तावनाके साथ प्रकाशित हो चुका है। अध्यात्म प्रेमियों और स्वाध्याय प्रेमियोंके लिये यह ग्रन्थ पठनीय है। ३५० पेजकी सजिल्द प्रतिका मूल्य ३) रुपया है।

दुःखद वियोग !!

यह लिखते हुए अत्यन्त दुःख होता है कि लाला जुगलकिशोर जी फर्म धूमीमलधर्मदास जी कागजी चावड़ी बाजार के ज्येष्ठभ्राता दरोगामल जी का ता० १८ दिसम्बर को सवेरे बिना किसी खास बीमारी के स्वर्गवास होगया। यद्यपि उनके दिमागमें कुछ अर्सेसे खराबी थी परन्तु वे बहुत ही मिलनसार थे। और सबसे प्रति उनका प्रेमभाव था। वे अपने पीछे अच्छा परिवार छोड़ गए हैं। अनेकान्त परिवारकी हार्दिक भावना है कि दिवंगत आत्मा परलोकमें सुख-शान्ति प्राप्त करे और कुटुम्बीजनोंको इष्टवियोग जन्य दुःख सहनेकी शक्ति एवं सामर्थ्य प्राप्त हो।

—परमानन्द जैन

ॐ अर्हम्

वर्ष १३ किरण ६ | वीरसेवामन्दिर, C/o दि० जैन लालमन्दिर, चाँदनी चौक, देहली | दिसम्बर
पौष, वीर नि० संवत् २४८१, वि० संवत् २०११ | १९५४

समन्तभद्र-भारती

देवागम

हेतोरद्वैत-सिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्धेतु-साध्ययोः । हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥२६॥

'(इसके सिवाय यह प्रश्न पैदा होता है कि अद्वैतकी सिद्धि किसी हेतुसे की जाती है या विना किसी हेतुके वचनमात्रसे ही ? उत्तरमें) यदि यह कहा जाय कि अद्वैतकी सिद्धि हेतुसे की जाती है तो हेतु (साधन) और साध्य दोकी मान्यता होनेसे द्वैतापत्ति खड़ी होती है—सर्वथा अद्वैतका एकांत नहीं रहता—और यदि विना किसी हेतुके ही सिद्धि कही जाती है तो क्या वचनमात्रसे द्वैतापत्ति नहीं होती ?—साध्य अद्वैत और वचन, जिसके द्वारा साध्यकी सिद्धिको घोषित किया जाता है, दोनोंके अस्तित्वसे अद्वैतता स्थिर नहीं रहती। और यह बात तो बनती ही नहीं कि जिसका स्वयं अस्तित्व न हो उसके द्वारा किसी दूसरेके अस्तित्वको सिद्ध किया जाय अथवा उसकी सिद्धिकी घोषणा की जाय। अतः अद्वैत एकांतकी किसी तरह भी सिद्धि नहीं बनती, वह कल्पनामात्र ही रह जाता है।'

अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना । संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥२७॥

'(एक बात और भी बतला देनेकी है और वह यह कि) द्वैतके विना अद्वैत उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कि हेतुके विना अहेतु नहीं होता; क्योंकि कहीं भी संज्ञीका—नामवालेका—प्रतिषेध प्रतिषेध्यके विना—जिसका निषेध किया जाय उसके अस्तित्व-विना नहीं बनता। द्वैत शब्द एक संज्ञी है और इसलिये उसके निषेधरूप जो अद्वैत शब्द है वह द्वैतके अस्तित्वकी मान्यता-विना नहीं बनता।'—

[इस प्रकार अद्वैत एकांतका पक्ष लेनेवाले ब्रह्माद्वैत, संवेदनाद्वैत और शब्दाद्वैत जैसे मत सदोष एवं बाधित ठहरते हैं।]

पृथक्त्वैकान्त-पक्षेऽपि पृथक्त्वादपृथक्तु तौ । पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थो ह्यसौ गुणः ॥२८॥

'(अद्वैत एकांतमें दोष देखकर) यदि पृथकपनका एकांत पक्ष लिया जाय—यह माना जाय कि वस्तुतत्त्व एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न है—तो इसमें भी दोष आता है और प्रश्न पैदा होता है कि पृथक्त्व गुणसे द्रव्य और

मुख्तार श्री जुगलकिशोरजीकी ७८वीं वर्षगाँठ
प्रीति-भोजके साथ सम्पन्न

जैन समाजके सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान और सबसे पुराने साहित्य-तपस्वी आचार्य श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार की आयुके ७७ वर्ष पूरे होजाने पर गत मंगशिर सुदी एकादशी संवत २०११, ता० ६ दिसम्बर सन् १९५४ को उनकी ७८वीं वर्षगांठ दि० जैन लालमन्दिर-स्थित वीरसेवामन्दिरमें सानन्द मनाई गई, जिसमें प्रीतिभोजका भी सुन्दर आयोजन किया गया था। प्रीतिभोजके लिये देहलीके प्रायः सभी गण्यमान जैन बन्धुओंको आमन्त्रित किया गया था, जिनमेंसे अधिकांश बन्धुओंने प्रेमके साथ भोजमें भाग लिया। अनेक सज्जन फूलोंकी सुन्दर मालाएं लेकर आए थे और उन्हें मुख्तारश्री के गलेमें डालकर उन्होंने उनके शतायु होनेकी कामना की थी। इस अवसरपर मुख्तारश्री ने अपने लिये सुरक्षित रखे हुए देहली क्लॉथ मिलके शेयर्समें से ३० शेयर अपने तीनों भतीजों—डा० श्रीचन्द बा० रिखबचन्द और बा० प्रद्युम्नकुमारको और ४० शेयर्स बहन जयवन्तीको दिये। और इस तरह अपने वर्तमान परिग्रहमेंसे तीन हजारसे ऊपरके परिग्रहको कम किया। साथ ही, ४०) रुपये निम्न प्रकारसे पत्रादिकोंको प्रदान किये —

५) श्री दिगम्बर जैन लालमन्दिर, ११) अंग्रेजी जैनगजट, ११) अनेकान्त, ५) अहिंसावाणी और वॉइस आफ अहिंसा, २) अहिंसा (जयपुर), २) जैनमित्र, २) जैनसन्देश, २) पक्षियोंके अस्पताल को।

—परमानन्द जैन

आचार्यश्री का दीक्षादिवस

आचार्य श्री नमिसागरजीका ३०वां दीक्षा समारोह जैन कालेज बडौत (मेरठ) की ओरसे सानन्द सम्पन्न होगया। आचार्य नमिसागर जी चिरजीवी हों यही हमारी हार्दिक कामना है।

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश

वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित जिस 'समाधितन्त्र' ग्रन्थके लिये जनता अर्सेसे लालायित थी वह ग्रन्थ इष्टोपदेशके साथ इसी सितम्बर महीनेमें प्रकाशित हो चुका है। आचार्य पूज्यपादकी ये दोनों ही आध्यात्मिक कृतियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। दोनों ग्रन्थ संस्कृत टीकाओं और पं० परमानन्दजी शास्त्रीके हिन्दी अनुवाद तथा मुख्तार जुगलकिशोरजीकी खोजपूर्ण प्रस्तावनाके साथ प्रकाशित हो चुका है। अध्यात्म प्रेमियों और स्वाध्याय प्रेमियोंके लिये यह ग्रन्थ पठनीय है। ३५० पेजकी सजिल्द प्रतिका मूल्य ३) रुपया है।

दुःखद वियोग !!

यह लिखते हुए अत्यन्त दुःख होता है कि लाला जुगलकिशोर जी फर्म धूमीमलधर्मदास जी कागजी चावड़ी बाजार के ज्येष्ठभ्राता दरोगामल जी का ता० १८ दिसम्बर को सवेरे बिना किसी खास बीमारी के स्वर्गवास होगया। यद्यपि उनके दिमागमें कुछ अर्सेसे खराबी थी परन्तु वे बहुत ही मिलनसार थे। और सबसे प्रति उनका प्रेमभाव था। वे अपने पीछे अच्छा परिवार छोड़ गए हैं। अनेकान्त परिवारकी हार्दिक भावना है कि दिवंगत आत्मा परलोकमें सुख-शान्ति प्राप्त करे और कुटुम्बीजनोंको इष्टवियोग जन्य दुःख सहनेकी शक्ति एवं सामर्थ्य प्राप्त हो।

—परमानन्द जैन

ॐ अर्हम्

वर्ष १३ किरण ६	वीरसेवामन्दिर, C/o दि० जैन लालमन्दिर, चाँदनी चौक, देहली पौष, वीर नि० संवत् २४८१, वि० संवत् २०११	दिसम्बर १९५४

समन्तभद्र-भारती

देवागम

हेतोरद्वैत-सिद्धिश्चेद्द्वैतं स्याद्धेतु-साध्ययोः । हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥२६॥

'(इसके सिवाय यह प्रश्न पैदा होता है कि अद्वैतकी सिद्धि किसी हेतुसे की जाती है या विना किसी हेतुके वचनमात्रसे ही ? उत्तरमें) यदि यह कहा जाय कि अद्वैतकी सिद्धि हेतुसे की जाती है तो हेतु (साधन) और साध्य दोकी मान्यता होनेसे द्वैतापत्ति खड़ी होती है—सर्वथा अद्वैतका एकांत नहीं रहता—और यदि विना किसी हेतुके ही सिद्धि कही जाती है तो क्या वचनमात्रसे द्वैतापत्ति नहीं होती ?—साध्य अद्वैत और वचन, जिसके द्वारा साध्यकी सिद्धिको घोषित किया जाता है, दोनोंके अस्तित्वसे अद्वैतता स्थिर नहीं रहती। और यह बात तो बनती ही नहीं कि जिसका स्वयं अस्तित्व न हो उसके द्वारा किसी दूसरेके अस्तित्वको सिद्ध किया जाय अथवा उसकी सिद्धिकी घोषणा की जाय। अतः अद्वैत एकांतकी किसी तरह भी सिद्धि नहीं बनती, वह कल्पनामात्र ही रह जाता है।'

अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना । संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥२७॥

'(एक बात और भी बतला देनेकी है और वह यह कि) द्वैतके विना अद्वैत उसी प्रकार नहीं होता जिस प्रकार कि हेतुके विना अहेतु नहीं होता; क्योंकि कहीं भी संज्ञीका—नामवालेका—प्रतिषेध प्रतिषेध्यके विना—जिसका निषेध किया जाय उसके अस्तित्व-विना नहीं बनता। द्वैत शब्द एक संज्ञी है और इसलिये उसके निषेधरूप जो अद्वैत शब्द है वह द्वैतके अस्तित्वकी मान्यता-विना नहीं बनता।'—

[इस प्रकार अद्वैत एकांतका पक्ष लेनेवाले ब्रह्माद्वैत, संवेदनाद्वैत और शब्दाद्वैत जैसे मत सदोष एवं बाधित ठहरते हैं।]

पृथक्त्वैकान्त-पक्षेऽपि पृथक्त्वादपृथक्तु तौ । पृथक्त्वे न पृथक्त्वं स्यादनेकस्थो ह्यसौ गुणः ॥२८॥

'(अद्वैत एकांतमें दोष देखकर) यदि पृथक्पनका एकांत पक्ष लिया जाय—यह माना जाय कि वस्तुतत्त्व एक दूसरेसे सर्वथा भिन्न है—तो इसमें भी दोष आता है और प्रश्न पैदा होता है कि पृथक्त्व गुणसे द्रव्य और

गुण पृथक हैं या अपृथक ? यदि अप्रथक् हैं तब तो पृथक्त्वका एकांत ही न रहा—वह बाधित हो गया। और यदि प्रथक् है तो पृथक्त्व नामका कोई गुण ही नहीं बनता (जिसे वैशेषिकोंने गुणोंकी २४ संख्यामें अलगसे गिनाया है,) क्योंकि वह एक होते हुए भी अनेकोंमें स्थित माना गया है और इससे उसकी कोई पृथग्गति नहीं है—पृथक् रूपमें उसकी स्थिति न तो इष्ट है और न स्वीकृत है अतः पृथक् कहने पर उसका अभाव ही कहना होगा।'

[यह कारिका वैशेषिकों तथा नैयायिकोंके पृथक्त्वैकांत पक्षको लक्ष्य करके कही गई है, जो क्रमशः ६ तथा १६ पदार्थ मानते हैं और उन्हें सर्वथा एक दूसरेसे पृथक् बतलाते हैं। अगली कारिकामें क्षणिकैकान्तवादी बौद्धोंके पृथक्त्वैकांत-पक्षको सदोष बतलाया जाता है।]

संतानः समुदायश्च साधर्म्यञ्च निरंकुशः। प्रेत्य-भावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्व-निन्हवे ॥२९॥

'यदि एकत्वका सर्वथा लोप किया जाय—सामान्य, सादृश्य, तादात्म्य अथवा सभी पर्यायोंमें रहने वाले द्रव्यत्वको न माना जाय—तो जो संतान, समुदाय और साधर्म्य तथा प्रेत्यभाव (मर कर परलोकगमन) निरंकुश है—निर्बाध रूपसे माना जाता है—वह सब नहीं बनता—अर्थात् क्रमभावी पर्यायोंमें जो उत्तरोत्तर परिणाम-प्रवाहरूप अन्वय है वह घटित नहीं होता, रूप-रसादि जैसे सहभावी धर्मोंमें जो युगपत् उत्पाद-व्ययको लिये हुए एकत्र अवस्थानरूप समुदाय है वह भी नहीं बनता, सहधर्मियोंमें समान परिणामकी जो एकता है वह भी नहीं बनती और न मरकर परलोकमें जाना अथवा एक ही जीवका दूसराभव या शरीर धारण करना ही बनता है। इसी तरह बाल-युवा-वृद्धादि अवस्थाओंमें एक ही जीवका रहना नहीं बनता और (चकार से) प्रत्यभिज्ञान जैसे सादृश्य तथा एकत्वके जोडरूप ज्ञान भी नहीं बनते।'

सदात्मना च भिन्नं चेज्ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाऽप्यसत्। ज्ञानाऽभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम् ॥३०॥

'(इसी तरह) ज्ञानको (जो कि अपने चैतन्यरूपसे ज्ञेय-प्रमेयसे पृथक है) यदि सत्स्वरूपसे भी ज्ञेयसे पृथक् माना जाय—अस्तित्वहीन स्वीकार किया जाय—तो ज्ञान और ज्ञेय दोनोंका ही अभाव ठहरता है—ज्ञानका अभाव तो उसके अस्तित्व-विहीन होनेसे हो गया और ज्ञेयका अभाव—ज्ञानाभावके कारण बन गया; क्योंकि ज्ञानका जो विषय हो उसे ही ज्ञेय कहते हैं—ज्ञानके अभावमें बाह्य तथा अंतरंग किसी भी ज्ञेयका अस्तित्व (हे वीर जिन !) आपसे द्वेष रखनेवालोंके यहाँ—सर्वथा पृथक्त्वैकांतवादी वैशेषकादिकोंके मतमें—कैसे बन सकता है ?—उनके मतमें उसकी कोई भी समीचीन व्यवस्था नहीं बन सकती।

सामान्याऽर्था गिरोऽन्येषां विशेषो नाऽभिलप्यते। सामान्याऽभावतस्तेषां मृषैव सकला गिरः ॥३१॥

'दूसरों के यहाँ—बौद्धोंके मतमें—वचन सामान्यार्थक हैं; क्योंकि उनके द्वारा (उनकी मान्यतानुसार) विशेषका—याथात्म्यरूप स्वलक्षणका—कथन नहीं बनता है। (वचनोंके मात्र सामान्यार्थक होनेसे वे कोई वस्तु नहीं रहते—बौद्धोंके यहाँ उन्हें वस्तु माना भी नहीं गया—और विशेषके अभावमें सामान्यका भी कहीं कोई अस्तित्व नहीं बनता ऐसी हालतमें सामान्यके भी अभावका प्रसंग उपस्थित होता है) सामान्यका अवस्तुरूप अभाव होनेसे उन (बौद्धों) के सम्पूर्ण वचन मिथ्या ही ठहरते हैं—वे वचन भी सत्य नहीं रहते जिन्हें वे सत्यरूपसे प्रतिपादन करते हैं।'

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्याय-विद्विषाम्। अवाच्यतैकांतेऽप्युक्तिर्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥३२॥

'(अद्वैत और पृथक्त्व दोनों एकांतोंकी अलग-अलग मान्यतामें दोष देखकर) यदि अद्वैत (एकत्व) और पृथक्त्व दोनोंका एकात्म्य (एकांत) माना जाय तो स्याद्वाद-न्यायके विद्वेषियोंके यहाँ—उन लोगोंके मतमें जो अद्वैत पृथक्त्वादि सप्रतिपक्ष धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षाको न मानकर उन्हें स्वतंत्र धर्मोंके रूपमें स्वीकार करते हैं और इस तरह स्याद्वाद-न्यायके शत्रु बने हुए हैं—वह एकात्म नहीं बनता (उसी प्रकार जिस प्रकार कि अस्तित्व-नास्तित्वका एकात्म नहीं बनता); क्योंकि उससे (वन्ध्या पुत्रकी तरह) विरोध दोष आता है—अद्वैतैकांत पृथक्त्वैकांतका और पृथक्त्वैकांत अद्वैतैकांतका सर्वथा विरोधी होनेसे दोनोंमें एकात्मता घटित नहीं हो सकती।'

'(अद्वैत, पृथक्त्व और उभय तीनों एकांतोंकी मान्यतामें दोष देखकर) यदि अवाच्यता (अवक्तव्यता) एकांतको माना जाय—यह कहा जाय कि वस्तुतत्त्व एकत्व या पृथक्त्वके रूपमें सर्वथा अवाच्य (अनिर्वचनीय या अवक्तव्य) है—तो 'वस्तुतत्त्व 'अवाच्य है' ऐसा कहना भी नहीं बनता—इस कहनेसे ही वह 'वाच्य' हो जाता है, अवाच्य नहीं रहता; क्योंकि सर्वथा 'अवाच्य' की मान्यतामें कोई वचन व्यवहार घटित ही नहीं हो सकता।' —'युगवीर'

अपभ्रंश भाषाका जंबूसामिचरिउ और महाकवि वीर

(परमानन्द जैन शास्त्री)

भारतीय साहित्यमें जैन-वाङ्मय अपनी खास विशेषता रखता है। जैनियोंका साहित्य भारतकी विभिन्न भाषाओंमें देखा जाता है। संस्कृत, प्राकृत, अर्धमागधी शौरसैनी, महाराष्ट्री, अपभ्रंश, तामिल, तेलगू, कनाड़ी, हिन्दी, मराठी, गुजराती, राजस्थानी और बंगला आदि विविध भाषाओंमें ऐसी कोई प्राचीन भाषा अवशिष्ट नहीं है जिसमें जैन-साहित्यकी सृष्टि न की गई हो। इतना ही नहीं; अपितु दर्शन, सिद्धान्त, व्याकरण, काव्य, कोष, वैद्यक, ज्योतिष, छन्द, अलंकार, पुराण, चरित तथा मंत्र तंत्रादि सभी विषयों पर विपुल जैन साहित्य उपलब्ध होता है। यद्यपि राजविप्लवादिके कारण बहुतसा प्राचीन साहित्य विनष्ट हो गया है फिर भी जो कुछ ग्रन्थभंडारोंमें दीमकादिसे अवशिष्ट रह गया है उसकी महानता और विशालता स्पष्ट है। जैनियोंके पुराण चरित एवं कथाग्रन्थोंका निर्माण अधिकतर अपभ्रंश भाषामें हुआ है। यहाँ अपभ्रंश भाषाके ११वीं शताब्दीके एक चरित ग्रन्थका उसके कर्तादिके साथ परिचय देना ही इस लेखका प्रमुख विषय है। इस भाषाका अभी तक कोई इतिहास नहीं लिखा गया, जिससे इस विषयमें निश्चितरूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। पर यह कहनेमें संकोच भी नहीं होता कि इस भाषाका साहित्य विक्रमकी छठी शताब्दीसे १७वीं शताब्दी तक निर्मित होता रहा है। परन्तु जिस समय इस ग्रन्थकी रचना हुई है वह इस भाषाका मध्यान्हकाल था। मुझे इस भाषाके अनेक ग्रन्थोंके देखनेका सुअवसर मिला है। उससे स्पष्ट फलित होता है कि उस कालमें और उसके पश्चाद्वर्ती समयमें विविध ग्रन्थ रचे गए हैं जिनका साहित्य-संसारमें विशिष्ट स्थान है और साहित्यिक जगतमें उनके सम्मानित होनेका स्पष्ट संकेत भी मिलता है। भाषामें मधुरता सौष्ठवता, सरसता, अर्थ-गौरवता और पदलालित्यकी कमी नहीं है। यही इसकी लोकप्रियताके निर्देशक हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थका नाम 'जंबूसामिचरिउ' जम्बूस्वामी चरित है। इसमें जैनियोंके अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीरके बाद होने वाले अन्तिम केवली श्रीजम्बूस्वामीके जीवनचरितका अच्छा चित्रण किया गया है। यह ग्रन्थ उपलब्ध साहित्यमें अपभ्रंश भाषाका सबसे प्राचीन चरितग्रन्थ है। अब तक इससे पुरातन कोई चरित ग्रन्थ, जिसका स्वतन्त्ररूपमें निर्माण हुआ हो, देखनेमें नहीं आया। हां, आचार्य गुणभद्र और महाकवि पुष्पदन्तके उत्तरपुराणमें जंबूस्वामीके चरित्रपर संक्षिप्त प्रकाश डाला गया है। श्वेताम्बरीय सम्प्रदायमें भी जंबूस्वामीके जीवनपरिचायक ग्रन्थ लिखे गए हैं। जैन 'ग्रंथावली' से मालूम होता है कि उक्त सम्प्रदायमें 'जम्बूपयन्ना' नामका एक ग्रन्थ है जो डेक्कन कालेज पूनाके भण्डारमें विद्यमान है। आचार्य हेमचन्द्रने अपने परिशिष्ट पर्वमें जंबूस्वामीके चरितका संक्षिप्त चित्रण किया है और १२वीं शताब्दीके विद्वान् जयशेखसूरिने ७२१ पद्योंमें जंबूस्वामीके चरित्रका निर्माण किया है, इसके सिवाय पद्मसुन्दर आदि विद्वानोंने भी उसपर प्रकाश डाला है इनमें 'जंबूपयन्ना' का काल अनिश्चित है और वह ग्रन्थ अभी तक भी प्रकाशमें नहीं आया है। इसके सिवाय, शेष सब ग्रन्थ प्रस्तुत जंबूस्वामी चरितसे अर्वाचीन हैं—बादकी रचनाएं हैं। उभय सम्प्रदायके इन चरितग्रन्थोंमें वर्णित कथामें परस्पर कुछ भेद जरूर पाया जाता है जिसपर यहां प्रकाश डालना उचित नहीं है।

ग्रन्थका विशेष परिचय—

इस ग्रन्थका दूसरा नाम 'शृंगारवीर महाकाव्य' भी है। कविने स्वयं ग्रन्थकी प्रत्येक सन्धि-पुष्पिकाओंमें उक्तनाम व्यक्त किया है*। और साथ ही इस काव्यको 'महाकाव्य' भी सूचित किया है जो उसके अध्ययनसे सहज ही परिलक्षित होता है। ग्रन्थमें ११ संधियाँ अथवा अध्याय हैं जिनमें उक्त चरितका निर्देश किया गया है। इस चरितग्रन्थके चित्रणमें कविने महाकाव्योंमें विहित रस, अलंकारोंका बहु सरस वर्णन करके ग्रन्थको अत्यन्त आकर्षक और पठनीय बना दिया है। कथाके पात्र भी उत्तम हैं जिनके जीवन-परिचयसे ग्रन्थकी उपयोगिताकी अभिवृद्धि हुई है। शृंगार, वीररस और शान्तरसका यत्र-तत्र विवेचन दिया हुआ है, कहीं-कहीं शृंगारमूलक वीर रस है। ग्रन्थमें अलंकारोंका प्रयोग भी दो प्रकारका पाया जाता है एक चमत्कारिक दूसरा स्वाभाविक। प्रथमका उद्धरण निम्न प्रकार है :—

---

*इय जंबू सामिचरिए सिंगारवीरे महाकव्वे महाकइ देवयत्तसुय 'वीर' विरइए सामि उप्पत्ती कुमार-विजय नाम चउत्थो संधी समत्तो।

"भारह-रण-भूमिव स-रहभीम१,हरिअज्जुण रणउलसिहंडिदीस
गुरु३ आसत्थाम कलिंगचार, गयगजिर४ ससर महीससार।
लंकाणयरी व स-रावणीय५, चंदणपहि६ चार कलहावणीय।'
सपलास७ सकंचण अक्खघट्ट,स विहीसण८कइकुल फल रसट्ट।

इन पद्योंमें विंध्याटवीका वर्णन करते हुए श्लेष प्रयोगमें दो अर्थ ध्वनित होते हैं—स-रह—रथ सहित और एक भयानक-जीव हरि—कृष्ण और सिंह, अर्जुन और वृक्ष, नहुल और नकुल जीव, शिखंडि और मयूर आदि।

ग्रन्थकी इस पांचवीं संधिसे श्रृंगार मूलक वीररसका प्रारम्भ होता है। केरलनरेश मृगांककी पुत्री विलासवतीको रत्नशेखर विद्याधरसे संरक्षित करनेके लिए जंबूकुमार अकेले ही युद्ध करने जाते हैं। युद्ध वर्णनमें कविने वीरके स्थायीभाव 'उत्साह' का अच्छा चित्रण किया है। पीछे मगधके शासक श्रेणिक या बिम्बसारकी सेना भी सजधजके साथ युद्धस्थलमें पहुँच जाती है, किन्तु जम्बूकुमार अपनी निर्भय प्रकृति और असाधारण धैर्यके साथ रत्नशेखरके साथ युद्ध करनेको प्रोत्तेजन देनेवाली वीरोक्तियाँ भी कहते हैं तथा अनेक उदात्त भावनाओंके साथ सैनिकोंकी पत्नियां भी युद्धमें जानेके लिये उन्हें प्रेरित करती हैं। युद्धका वर्णन कविके शब्दोंमें यों पढ़िए।

'अक्क मियंक सक्ककंपावणु,
हा मुय सीयहं कारणे रावणु।
दलियदप्प दप्पिय मइमोहणु,
कवणु अणत्थु पत्तु दोज्जाहणु।
तुज्झु ण दोसु दइव किउ धावइ.
अणउ करंतु महावइ पावइ।
जिह जिह दंड करंविउ जंपइ,
तिह तिह खेयरू रोसहिं कंपइ।
घट्ट कंठसिरजालु पलित्तउ,
चंडगंड पासेय पसित्तउ।
दट्ठाहरु गुंजज्जलुलोयणु,
पुरु दुरतणासउड भयावणु।
पेक्खेवि पहु सरोसु सएणामहि,
वुत्तु वओहरू मंतिहिं तामहि।
अहोअहा हूयहूय सासस गिर,
जंपइ चावि उद्दण्ड गब्भिउ किर।
अएणहो जीहएह कहो वग्गए,
खयर वि सरिस णरेस हो अग्गए।
भणइ कुमारू एहु रइ-लुद्धउ,
वसण महण्णवि तुम्हहि छुद्धउ।
रोसंते रिउहि यच्छु वि ण सुणइ,
कज्जाकज्ज बलाबलु ण मुणइ।'

युद्धमें रोषाविष्ट होनेके कारण योद्धा कभी कार्य-अकार्यका विवेक नहीं करता, रोषकी तीव्र गरिमासे विवेक जोलुस हो जाता है। इस तरह युद्ध भयंकर होता है और विद्याधर विद्याबलसे माया युद्ध करता है, कभी झंझावायु चलती है कभी प्रलय जल वरसता है, और रत्नशेखर विद्याधर राजा मृगांकको अपना बन्दी बना लेता है, परन्तु जम्बूकुमार युद्ध करते हुए मृगांकको बन्धनसे मुक्त कर लेता है, विद्याधरोंको पराजित कर भगा देता है। इस तरह जम्बूकुमारकी वीरता और पराक्रमको देखकर आनन्दातिरेकसे नारद नाचने लगता है।

इतनेमें विद्याधर गगनगति प्रकट होता है और वह राजा मृगांकसे कुमारका परिचय कराता है। इस तरह इस सन्धिमें वीररसके निर्देशानन्तर ही श्रृंगार रसका अवतरण हो जाता है। अर्थात् राजा मृगांक कुमारको केरल नगरी दिखाता है, नगरकी नारियाँ कुमारको देखकर विलासवतीके जीवनको धन्य मानती हैं, और कुमारका विलासवतीके साथ

---

१ रथसमन्विता भीमा भयानका, विंध्याटवीपक्षे सरभैरष्टापदैर्भयानका। २ वासुदेवादयः दृश्याः, विंध्याटव्यां हरिः सिंहः, अर्जुनो वृक्षविशेषः वकुलः प्रसिद्धः सिखंडी मयूरः। ३ भारतरण-भूमौ गुरुः द्रोणाचार्यः तत्पुत्रः अश्वत्थामा, कलिंगा कलिंगदेशाधिपतिः राजा एतेषां चारा श्रेष्ठाः विंध्याटव्यां गुरुः महान्, अश्वत्थः पिप्पलः आमः आम्रः कलिंगवत्सचारः वृक्षविशेषाः। ४ भारतरणभूमौ गजगर्जित-ससरबाणसमन्विताः महीसाः राजानः तैः साराः भवंति, विंध्याटव्यां तु गजगर्जिराः ससरा सरोवरसमन्विताः महीससाः महिषा सारा यस्यां। ५ रावणसहिता पक्षे रयणवृक्षसहिता ६ लंकानगरी चन्द्रनखा चारेण चेष्टाविशेषेण कलहकारिणीपक्षे चन्दनवृक्षविशेषैः मनोज्ञलघुहस्तिभिर्युक्ता। ७ पलासैः राक्षसैः युक्ता सकांचन अक्षयकुमारो रावणपुत्र तेन युक्ता, पक्षे पलाशवृक्ष सकांचन मदनवृक्ष अक्ष बिभीतकवृक्षा ते तद्धा यत्र। ८ लंकानगरी विभीषणेन कपीनां बानराणां कुलैः समन्विता, फलानि रसाढ्यानि यत्र-नानाभयानकानां बानराणां संघातैः फलरसाढ्या च।

विवाह भी हो जाता है। इस तरह ४वीं६वीं संधियोंमें युद्धादिका वर्णन किया गया है, जो काव्यकी दृष्टिसे अत्युत्तम है।

कविने ग्रन्थमें केवल जम्बूस्वामीका ही जीवन परिचय नहीं दिया है किन्तु विद्युच्चर चोरका भी संक्षिप्त जीवन परिचय देते हुए उसका जम्बूस्वामीके साथ अपने पांचसौ साथियों सहित दीक्षा लेने द्वादश भावनाओंको भाने और यथेष्ट मुनिधर्मका आचरण करते हुए तपश्चर्या करनेका उल्लेख भी किया है और उसके फलसे उसे सर्वार्थसिद्धिको प्राप्त करना बतलाया है। और तपश्चर्याके समयकी एक खास घटनाका* उल्लेख भी किया है जो इस प्रकार है :—

सुधर्मस्वामीके निर्वाण और जम्बूस्वामीको केवलज्ञान तथा परिनिर्वाणके अनन्तर ग्यारह अंगधारी विद्युच्चरससंघ विहार करता हुआ ताम्रलिप्ति[1] में पहुँचा और नगरके समीप उद्यानमें ठहरा, सूर्यास्त हो चुका था, इतनेमें वहां कंकालधारी कंचायण भद्रभारी नामक एक पिशाच आया और उसने विद्युच्चरसे कहा कि आजसे पांच दिन तक यहां मेरी यात्राका महोत्सव होगा, उसमें भूत समूह आवेंगे और उपद्रव करेंगे अतः आप कहीं नगरमें अन्यत्र चले जांय, यहां यह कहना उचित नहीं है. विद्युच्चरने अन्य साधुओंसे पूछा, साधुओंने कहा कि सूर्यास्तके समय हम कहीं नहीं जासकते, उपसर्ग सहन करना साधुओंका कर्तव्य है। और सब साधुगण निश्चल वृत्ति हो वहां स्थिर होकर तपश्चर्यामें उद्यत हो गए। रात्रिमें वहाँ भयंकर उपसर्ग हुए—भयानक रूपधारी भूतपिशाचोंने घोर उपसर्ग किये, वेदनाएं पहुंचाई, उन साधुगणोंने दंशमसकादिकी उन असहनीय वेदनाओंको सहते हुए चार प्रकारके सन्यास द्वारा निस्पृह वृत्तिसे शरीर छोड़े। विद्युच्चर सर्वार्थसिद्धि गये और अन्य साधुओंने भी अपने अपने परिणामानुसार गति प्राप्त की। उस समय विद्युच्चरने अनित्यादि बारह भावनाओंका चिन्तन किया, कविने उनका बहुत ही × संक्षिप्त स्वरूप दिया है और बताया है कि गिरनदीके पूर और पके हुए फलके समान यह मानव जीवन शीघ्र ही टूटने वाला है। अंजुलिजलके समान जीवन अनित्य है आत्मा अजर अमर है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र अपनी निधि हैं, उन्हींकी प्रगतिका उद्यम करना चाहिए। जिस तरह हरिणको सिंह मार देता है उसी तरह जीवन कालके द्वारा कवलित हो जाता है। जितना जिसका आयुकर्म है वह उतने समयतक भोग भोगता और दुख उठाता रहता है, परन्तु संसारसे तरनेका उपाय नहीं करता, जिनशासन ही शरण है और वही जीवको उससे पार कर सकता है। अतः हमें जिनशासनकी शरण लेकर आत्मकल्याण करना चाहिए। इस तरह उनका विवेचन किया है वह सब लेख वृद्धिके भयसे नहीं दिया जा रहा है। उपसर्गादिका वर्णन कविके निम्न उल्लेखसे स्पष्ट है:—

घत्ता—

अह सवणसंघ सजुउ पवरु एयारसंगधर विज्जुचरु।
विहरंतु तवेण विराइउ पुरे तामलित्ति संपराइयउ॥२४

नयराउनियडे रिसिसंघे थक्के,
अत्थवणहो ढुक्कए सूरे चक्के
अह आय ताम कंकालधारि,
कंचायणनामें भद्दमारि।
आहासय सिविणय दिवस पञ्च,
महु जत्त हवेसइ सप्पवंच।
आवंतिय भूयावलि रउद्द,
उवसग्गकरेसइ तुम्ह खुद्द।

* इस घटनाका उल्लेख पांडे राजमल्लजीने मथुरामें होना सूचित किया है। उन्हें इसका क्या आधार मिला था। यह कुछ ज्ञात नहीं होता, बुध हरिषेणने अपने कथा कोषमें वीरकविके समान इस घटनाके ताम्रलिप्तिमें घटित होनेका उल्लेख किया है। (देखो० श्लोक ६६ से ७२)।

1 ब्रह्म नेमिदत्तके कहे अनुसार ताम्रलिप्ति नामका एक प्राचीन नगर गौडदेशमें था। यह नगर बंगदेशके व्यापारका मुख्य केन्द्र बना हुआ था। यह प्रसिद्ध बन्दरगाह था। यह जैनसंस्कृतिका महत्वपूर्णकेन्द्र रहा है। आचार्य हरिषेणने अपने कथाकोषमें इसका कई स्थलों पर उल्लेख किया है। उससे भी यह जैनसंस्कृतिका केन्द्रस्थल ज्ञात पड़ता है विद्युच्चर महामुनिने अपने पांचसौ साथियोंके साथ इसी नगरके उद्यानमें भूत-पिशाचोंके भयानक दंशमशकादि उपद्रवोंको सहकर उत्तमस्थानकी प्राप्ति की थी। यह नगर कब और कैसे विनष्ट हुआ, इसका इतिवृत्त प्रकाशमें लाना चाहिए। वर्तमानमें मेदिनीपुर जिलेका हीलमुलक नामक स्थान ताम्रलिप्ति कहा जाता है।

× अथविद्युच्चरो नाम्ना पर्यटन्नह सन्मुनिः।
एकादशांग विद्यायामधीती विदधत्तपः॥१२५
अथान्येद्युः स निःसंगो मुनिपंचशतैर्वृतः।
मथुरायां महोद्यानप्रदेशेष्वगमन्मुदा॥१२६
जम्बूस्वामीचरित

इय कज्जें अएणहि कहिमि ताम,
पुरिमेल्लिवि गच्छहु जत्त जाम।
गय एम कहे वि तो जयवरेण,
मुणि भणिय एम वि ज्जुच्चरेण।
लइ जाहु पमेल्लहु एह यत्ति,
तो तेहि चविउ परिगलिउ रत्ति।
वीहतइ कोकिर धम्मलाहु,
उवसग्ग सहणु साहूण साहु।
इय वयणु दिढव सव्वे वि थक्क,
निक्कंपिर निवमु करिवि थक्कु।

घत्ता—

संजाय रयणि मसिकसण पह, अंधारिय दसदिसि कूरगह
गयणंगणुयहिएक्कहिमिलइ, खयकालसरिसु जगुतमुगिलइ
समुद्धाइया ताम भिउडी कराला,
कपालेसु पसरंत कीलाललीला।
समुल्ला लवंता महा मासखंडा
स-धूमग्गि पमुक्क फेक्कार चंडा।
गलाबद्ध कंकालवेयाल-भूया।
कयाणेय दुप्पिच्छ वीहत्थरूपा।
थिया केवि मसिया लहुं वडवमाणा,
तहा मंकुणा केवि कुक्कड पमाणा।
रिसीणं सरीराण खाउं पउत्ता,
सहंताण तं वेयणं जोयचत्ता।
पयं पंति दुक्खं सहेउं गरिट्ठं,
अहो तप्फलं केण कत्थेव दिट्ठं।
अधीरातओ केवि मुणिणो अयाणा,
तणु कुंडयं ताव राया पलाणा।
सरे केवि कूवम्मि वीया हु वासि,
विवएणा पडेऊण तरुवेल्लियासि।
ठिओ नवर विज्जुच्चरो जो बलीणो,
महाघोर उवसग्ग सग्गे अदीणो।

घत्ता—

सएणासु चउव्विहु संगहे विवयखग्गे मोहवइरिवहेवि।
संठिउ आराहण सुद्धमणु एक्कल्ल वीरु इंदियदवणु॥२६
(संधि १०)

इस घोर उपसर्गको सहकर विद्युच्चर महामुनि समाधि मरण द्वारा सर्वार्थ सिद्धिको प्राप्त करते हैं।

परन्तु हरिषेण कथाकोशके निम्न पद्यमें उनका निर्वाण होना बतलाया है। जो विचारणीय है।

नाना दंशोपसर्गं तं सहित्वा मेरुनिश्चलः।
विद्युच्चरः समाधानान्निर्वाणमगमद्द्रुतम्॥७३॥

परन्तु अपने जम्बूस्वामिचरितमें कवि राजमलजीने सर्वार्थसिद्धिमें जाने का ही उल्लेख किया है।

इस चरित्रग्रन्थकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जम्बू स्वामीकी नवपरिणीता चारों पत्नियां—कमलश्री, कनकश्री, विनयश्री, और रूपश्री, कथा प्रसंगसे भी जम्बू-स्वामीको राग उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकीं, और इसमें आधी रातका समय व्यतीत हो गया। नगरमें घूमता हुआ विद्युच्चर चोर जम्बूस्वामीके घर पहुंचता है, जम्बू कुमारकी माता शिवदेवी उस समय तक सोई नहीं थीं। उसने विद्युच्चरसे जम्बूके वैराग्यकी बात कही, तब विद्युच्चर-ने उसके सामने यह प्रतिज्ञा की कि वह या तो जम्बूकुमारके हृदयमें विषय-रति उत्पन्न कर देगा, और नहीं तो स्वयं उसके साथ दीक्षा ले लेगा। जैसा कि उसके निम्न वाक्यसे प्रकट है :—

बहु वयण-कमल-रसलंपुड भमरु कुमारु ण जइ करमि।
आएण समाणु विहाणए तो तव चरणु हउं विसरमि॥१६

अर्थात् वधूओंके वदन कमलमें कुमारको रस लंपट-भ्रमर यदि नहीं करूं तो मैं भी इसीके समान प्रातःकाल तपश्चरण ग्रहण करूंगा।

ग्रन्थकी दशवीं सन्धीमें जम्बू और विद्युच्चरके कई मनोहर आख्यान हुए हैं, परन्तु उनसे भी जम्बूकुमारके वैराग्यपूर्ण हृदयमें रागका-प्रभाव अंकित नहीं हो सका है। उसमें जम्बूने विषय-भोगोंको निःसार बतलाया और विद्युच्चरने वैराग्यको निरर्थक बतलानेका भारी साहस किया है पर वह जम्बूको अपने कथनसे आकर्षित करनेमें किसी तरह भी समर्थ नहीं हो सका, और उसके साथ ही दीक्षा लेनेके लिये विवश हुआ। इस तरह ग्रन्थका चर्चित कथन बड़ाही मार्मिक और अत्यन्त रोचक बन पड़ा है, यह कविकी आन्तरिक विशुद्धताका ही प्रभाव है।

ग्रन्थ रचनाकी महत्ता—

ग्रन्थकी रचना किसी भी भाषामें क्यों न की गई हो, परन्तु उस भाषाका प्रौढ विद्वान कवि अपनी आन्तरिक

विशुद्धता, क्षयोपशमकी विशेषता और कवित्व शक्तिसे उस ग्रन्थको इतना आकर्षक बना देता है कि पढ़ने वाले व्यक्तिके हृदयमें उस ग्रन्थ और उसके निर्माता कविके प्रति आदर भाव उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। ग्रन्थको सरस और सालंकार बनानेमें कविकी प्रतिभा और आन्तरिक चित्त-शुद्धि ही प्रधान कारण है।

'जिन कवियोंका सम्पूर्ण शब्दसन्दोहरूप चन्द्रमा मतिरूप स्फटिकमें प्रतिबिम्बित होता है उन कवियोंसे भी ऊपर किसी ही कविकी बुद्धि क्या अदृष्ट अपूर्व अर्थमें स्फुरित नहीं होती है? जरूर होती है' ※।

स कोप्यंतर्वेद्यो वचनपरिपाटीं गमयतः
कवेः कस्याप्यर्थः स्फुरति हृदि वाचामविषयः।
सरस्वत्यप्यर्थान्निगदनविधौ यस्य विषमा-
मनात्मीयां चेष्टामनुभवति कष्टं च मनुते ॥

अर्थात् काव्यके विषम अर्थको कहनेमें सरस्वति भी अनात्मीय चेष्टाका अनुभव करती है और कष्ट मानती है। किंतु वचनकी परिपाटीको जनाने वाले अन्तर्वेदी किसी कविके हृदयमें ही किसी-किसी पद्य या वाक्यका अर्थ स्फुरायमान होता है, जो वचनका विषय नहीं है। लेकिन जिनकी भारती (वाणी) लोकमें स्पष्ट रसभावका उद्भावन तो करती है परन्तु महान प्रबन्धके निर्माणमें स्पष्ट रूपसे विस्तृत नहीं होती, ग्रन्थकारकी दृष्टिमें, वे कवीन्द्र ही नहीं हैं +।

प्रस्तुत ग्रन्थकी भाषा बहुत प्राञ्जल, सुबोध, सरस और गम्भीर अर्थकी प्रतिपादक है और इसमें पुष्पदन्तादि महाकवियोंके काव्य-ग्रन्थोंकी भाषाके समान ही प्रौढता और अर्थगौरवकी छटा यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होती है।

जम्बूस्वामी अन्तिम केवली हैं। इसे दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदाय निर्विवाद रूपसे मानते हैं और भगवान महावीरके निर्वाणसे जम्बूस्वामीके निर्वाणतककी परम्परा भी उभय सम्प्रदायोंमें प्रायः एक-सी है, किन्तु उसके बाद दोनोंमें मतभेद पाया जाता है ×। जम्बूस्वामी अपने समयके ऐतिहासिक महापुरुष हुए हैं। वे कामके असाधारण विजेता थे। उनके लोकोत्तर जीवनकी पावन झाँकी ही चरित्र-निष्ठाका एक महान् आदर्श रूप जगतको प्रदान करती है। इनके पवित्रतम उपदेशको पाकर ही विद्युच्चर जैसा महान् चोर भी अपने चौरकर्मादि दुष्कर्मोंका परित्यागकर अपने पांचसौ योद्धाओंके साथ महान् तपस्वियोंमें अग्रगणीय तपस्वी हो जाता है और व्यंतरादि कृत महान् उपसर्गोंको ससंघ साम्यभावसे सहकर सहिष्णुताका एक महान् आदर्श उपस्थित करता है।

उस समय मगध देशका शासक राजा श्रेणिक था, जिसे बिम्बसार भी कहते हैं। उसकी राजधानी 'रायगिह' (राजगृह) कहलाती थी, जिसे वर्तमानमें लोग राजगिरके नामसे पुकारते हैं। ग्रन्थकर्ताने मगधदेश और राजगृहका वर्णन करते हुए, और वहाँके राजा श्रेणिकका परिचय देते हुए, उसके प्रतापादिका जो संक्षिप्त वर्णन किया है, उसके तीन पद्य यहाँ दिये जाते हैं—

'चंड भुजदंड खंडिय पयंडमंडलियमंडली वि सइढें।
धारा खंडण भीयव्व जयसिरी वसइ जस्स खग्गंके ॥१॥
रे रे पलाह कायर मुहइं पेक्खइ न संगरे सामी।
इय जस्स पयावघोसणाए विहडंति वइरिणो दूरे ॥२॥
जस्स रक्खिय गोमडलस्स पुरुसुत्तमस्स पद्धाए।
के के मया न जाया समरे गय पहरणा रिउणो ॥ ३ ॥

अर्थात् जिनके प्रचंड भुजदंडके द्वारा प्रचंड मांडलिक राजाओंका समूह खंडित हो गया है, (जिसने अपनी भुजाओंके बलसे मांडलिक राजाओंको जीत लिया है) और धारा-खंडनके भयसे ही मानो जयश्री जिसके खड्गाङ्कमें बसती है।

राजा श्रेणिक संग्राममें युद्धसे संत्रस्त कायर पुरुषोंका मुख नहीं देखते, रे, रे कायर पुरुषो! भाग जाओ'—इस

※ 'जाणं समग्गसंदोह व्वेंदु उरमइ मइ फडक्कंमि।
ताणं पि हु उवरिल्ला कस्स व बुद्धी न परिप्फुरइ ॥'

+ 'मा होंतु ते कइंदा गरुयपबंधे विजाण निव्वूढा।
रसभावमुग्गिरंती वित्थरइ न भारई भुवणे ॥'

—जम्बूस्वामी-चरित संधि १

× दिगम्बर परम्परामें जम्बूस्वामीके पश्चात् विष्णु, नन्दी-मित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली माने जाते हैं किन्तु श्वेताम्बरीय परम्परामें प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र, आर्यसंभूतिविजय, और भद्रबाहु इन पांच श्रुतकेवलियोंका नामोल्लेख पाया जाता है। इनमें भद्रबाहुको छोड़कर चार नाम एक दूसरेसे बिल्कुल भिन्न हैं।

प्रकार जिसके प्रताप वर्णनसे ही शत्रु दूर भाग जाते हैं। गोमंडल (गायोंका समूह) जिस तरह पुरुषोत्तम विष्णुके द्वारा रक्षित रहता है, उसी तरह यह पृथ्वीमंडल भी पुरुषोंमें उत्तम राजा श्रेणिकके द्वारा रक्षित रहता है। राजा श्रेणिकके समक्ष युद्धमें ऐसे कौन शत्रु-सुभट हैं, जो मृत्युको प्राप्त नहीं हुए, अथवा जिन्होंने केशव (विष्णु) के आगे आयुध रहित होकर आत्म-समर्पण नहीं किया।'

ग्रन्थका कथा भाग बहुत ही सुन्दर, सरस और मनोरंजक है और कविने उसे काव्योचित सभी गुणोंका ध्यान रखते हुए उसे पठनीय बनानेका यत्न किया है. उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है—

कथासार

जम्बूद्वीपके भरत-क्षेत्रमें मगध नामका देश है। उसमें श्रेणिक नामका राजा राज्य करता था। एक दिन राजा श्रेणिक अपनी सभामें बैठे हुए थे कि वनमालीने आकर विपुलाचल पर्वत पर महावीर स्वामीके समवसरण आनेकी सूचना दी। श्रेणिक सुन कर हर्षित हुआ और उसने सेना आदि वैभवके साथ भगवानका दर्शन करनेके लिये प्रयाण किया। श्रेणिकने समवसरणमें पहुंचनेसे पूर्व ही अपने समस्त वैभवको छोड़ कर पैदल समवसरणमें प्रवेश किया और वर्द्धमान भगवानको प्रणाम कर धर्मोपदेश सुननेकी जिज्ञासा प्रकट की, और धर्मोपदेश सुना। इसी समय एक तेजस्वी देव आकाशमार्गसे आता हुआ दिखाई दिया। राजा श्रेणिक द्वारा इस देवके विषयमें पूछे जाने पर गौतम स्वामीने बतलाया कि इसका नाम विद्युन्माली है और यह अपनी चार देवांगनाओंके साथ यहाँ वन्दना करनेके लिये आया है। यह आजसे ७वें दिन स्वर्गसे चयकर मध्यलोकमें उत्पन्न होकर उसी मनुष्य भवसे मोक्ष प्राप्त करेगा। राजा श्रेणिकने इस देवके विषयमें विशेष जाननेकी अभिलाषा व्यक्त की, तब गौतम स्वामीने कहा कि—'इस देशमें वर्द्धमान नामका एक नगर है। उसमें वेदघोष करने वाले, यज्ञमें पशु बलि देने वाले, सोमपान करने वाले, परस्पर कटु वचनोंका व्यवहार करने वाले अनेक ब्राह्मण रहते थे। उसमें अत्यन्त गुणज्ञ एक ब्राह्मण-दम्पति श्रुतकण्ठ आर्यवसु रहता था। उसकी पत्नीका नाम-सोमशर्मा था। उनसे दो पुत्र हुए थे भवदत्त और भवदेव। जब दोनोंकी आयु क्रमशः १८ और १२ वर्षकी हुई, तब आर्यवसु पूर्वोपार्जित पापकर्मके फल-स्वरूप कुष्ट रोगसे पीड़ित हो गया और जीवनसे निराश होकर चिता बनाकर अग्निमें जल मरा। सोमशर्मा भी अपने प्रिय विरहसे दुःखित होकर चितामें प्रवेश कर परलोकवासिनी हो गई। कुछ दिन बीतनेके पश्चात् उस नगरमें 'सुधर्म' मुनिका आगमन हुआ। मुनिने धर्मका उपदेश दिया, भवदत्तने धर्मका स्वरूप शान्तभावसे सुना भवदत्तका मन संसारमें अनुरक्त नहीं होता था, अतः उसने आरम्भ परिग्रह से रहित दिगम्बर मुनि बननेकी अपनी अभिलाषा व्यक्त की। और वह दिगम्बर मुनि हो गया। और द्वादशवर्ष पर्यन्त तपश्चरण करनेके पश्चात् भवदत्त एक बार संघके साथ अपने ग्रामके समीप पहुँचा। और अपने कनिष्ठ भ्राता भवदेवको संघमें दीक्षित करनेके लिए उक्त वर्धमानग्राममें आया। उस समय भवदेवका दुर्मर्षण और नागदेवीकी पुत्री नागवसुसे विवाह हो रहा था। भाईके आगमनका समाचार पाकर भवदेव उससे मिलने आया, और स्नेहपूर्ण मिलनके पश्चात् उसे भोजनके लिये घरमें ले जाना चाहता था परन्तु भवदत्त भवदेवको अपने संघमें लेगया और वहाँ मुनिवरसे साधु दीक्षा लेनेको कहा। भवदेव असमंजसमें पड़ गया; क्योंकि उसे विवाह कार्य सम्पन्न करके विषय-सुखोंका आकर्षण जो था, किन्तु भाईकी उस सदिच्छाका अपमान करनेका उसे साहस न हुआ। और उपायान्तर न देख प्रव्रज्या (दीक्षा) लेकर भाईके मनोरथको पूर्ण किया, और मुनि होनेके पश्चात् १२ वर्ष तक संघके साथ देश-विदेशोंमें भ्रमण करता रहा। एक दिन अपने ग्रामके पाससे निकला। उसे विषय चाहने आकर्षित किया, और वह अपनी स्त्रीका स्मरण करता हुआ एक जिनालयमें पहुँचा, वहाँ उसने एक अर्जिकाको देखा, उससे उन्होंने अपनी स्त्रीके विषयमें कुशल वार्ता पूछी। अर्जिकाने मुनिके चित्तको चलायमान देखकर उन्हें धर्ममें स्थिर किया और कहा कि वह आपकी पत्नी मैं ही हूँ। आपके दीक्षा समाचार मिलने पर मैं भी दीक्षित हो गई थी। भवदेव पुनः छेदोपस्थापना पूर्वक संयमका अनुष्ठान करने लगा। अन्तमें दोनों भाई मरकर सनत्कुमार नामक स्वर्गमें देव हुए। और सात सागरकी आयु तक वहाँ वास किया।

भवदत्त स्वर्गसे चय कर पुण्डरीकिनी नगरीमें वज्रदन्त राजाके घर सागरचन्द्र नामका और भवदेव वीतशोका नगरीके राजा महापद्म चक्रवर्तीकी वनमाला रानीके शिवकुमार नामका पुत्र हुआ। शिवकुमारका १०५ कन्याओंसे

विवाह हुआ, और करोड़ों उनके अंगरक्षक थे, जो उन्हें बाहर नहीं जाने देते थे। पुण्डरीकिनी नगरीमें चारण मुनियोंसे अपने पूर्व जन्मका वृत्तान्त सुनकर देह-भोगोंसे विरक्त हो मुनि दीक्षा ले ली। और त्रयोदश प्रकारके चारित्रका अनुष्ठान करते हुए वे भाईको सम्बोधित करने वीतशोका नगरीमें पधारे। शिवकुमारने अपने महलोंके ऊपरसे मुनियोंको देखा, उसे पूर्वजन्मका स्मरण हो आया, उसके मनमें देह-भोगोंसे विरक्तताका भाव उत्पन्न हुआ उससे राजप्रासादमें कोलाहल मच गया। और उसने अपने माता-पितासे दीक्षा लेनेकी अनुमति माँगी। पिताने बहुत समझाया और कहा कि घरमें ही तप और व्रतोंका अनुष्ठान हो सकता है, दीक्षा लेनेकी आवश्यकता नहीं, पिताके अनुरोधवश कुमारने तरुणीजनोंके मध्यमें रहते हुए भी विरक्त भावसे नव प्रकारसे ब्रह्मचर्यव्रतका अनुष्ठान किया। और दूसरोंसे भिक्षा लेकर तपका आचरण किया। और आयुके अन्तमें वह विद्युन्माली नामका देव हुआ। वहां दस सागरकी आयु तक चार देवांगनाओंके साथ सुख भोगता रहा। अब वही विद्युन्माली यहाँ आया था जो सातवें दिन मनुष्य रूपसे अवतरित होगा। राजा श्रेणिकने विद्युन्मालीकी उन चार देवांगनाओंके विषयमें भी पूछा। तब गौतम स्वामीने बताया कि चंपानगरीमें सूरसेन नामक सेठकी चार स्त्रियाँ थीं जिनके नाम थे जयभद्रा, सुभद्रा धारिणी और यशोमती। वह सेठ पूर्वसंचित पापके उदयसे कुष्टरोगसे पीड़ित होकर मर गया, उसकी चारों स्त्रियाँ अर्जिकाएँ हो गईं और तपके प्रभावसे वे स्वर्गमें विद्युन्मालीकी चार देवियाँ हुईं।

पश्चात् राजा श्रेणिकने विद्युच्चरके विषयमें जाननेकी इच्छा व्यक्त की। तब गौतम स्वामीने कहा कि मगध देशमें हस्तिनापुर नामक नगरके राजा विसन्धर और श्रीसेनारानीका पुत्र विद्युच्चर नामका था। वह सब विद्याओं और कलाओंमें पारंगत था एक चौर विद्या ही ऐसी रह गई थी जिसे उसने न सीखा था। राजाने विद्युच्चरको बहुत समझाया, पर उसने चोरी करना नहीं छोड़ा। वह अपने पिताके घरमें ही पहुँच कर चोरी कर लेता था और राजाको सुषुप्त करके उसके कटिहार आदि आभूषण उतार लेता था। और विद्याबलसे चोरी किया करता था। अब वह अपने राज्यको छोड़कर राजगृह नगरमें आ गया, और वहाँ कामलता नामक वेश्याके साथ रमण करता हुआ समय व्यतीत करने लगा। गौतम गणधरने बतलाया कि उक्त विद्युन्माली देव राजगृह नगरमें अर्हद्दास नाम श्रेष्ठिका पुत्र होगा जो उसी भवसे मोक्ष प्राप्त करेगा।

यह कथन हो ही रहा था कि इतनेमें एक यक्ष वहाँ आकर नृत्य करने लगा। राजा श्रेणिकने उस यक्षके नृत्य करनेका कारण पूछा। तब गौतम स्वामीने बतलाया कि यह यक्ष अर्हद्दास सेठका लघु भ्राता था। यह सप्तव्यसनमें रत था। एक दिन जुएमें सब द्रव्य हार गया और उस द्रव्यको न दे सकनेके कारण दूसरे जुआरियोंने उसे मार मार कर अधमरा कर दिया। सेठ अर्हद्दासने उसे अन्त समय नमस्कार मन्त्र सुनाया, जिसके प्रभावसे वह मर कर यक्ष हुआ। यक्ष यह सुन कर हर्षसे नृत्य कर रहा है कि उसके भाई सेठ अर्हद्दासके अन्तिम केवलीका जन्म होगा।

ग्रन्थ-निर्माणमें प्रेरक

इस ग्रन्थकी रचनामें जिनकी प्रेरणाको पाकर कवि प्रवृत्त हुआ है, उनका परिचय ग्रंथकारने निम्न रूपसे दिया है :—

मालवदेशमें धक्कड या धर्कट १वंशके तिलक महासूदनके पुत्र तक्खडु श्रेष्ठी रहते थे। यह ग्रन्थकारके पिता महाकवि देवदत्तके परम मित्र थे। इन्होंने ही वीर कविसे जंबूस्वामीचरितके निर्माण करने प्रेरणा की थी और तक्खडु श्रेष्ठीके कनिष्ठ भ्राता भरतने उसे अधिक संक्षिप्त और अधिक रूपसे न कहकर सामान्य कथा वस्तुको ही कहनेका आग्रह अथवा अनुरोध किया था और तक्खडु श्रेष्ठीने भरतके कथनका समर्थन किया और इस तरह ग्रन्थकर्ताने ग्रन्थ बनानेका उद्यम किया।

ग्रन्थकार

इस ग्रन्थके कर्ता महाकवि वीर हैं, जो विनयशील

१यह वंश १०वीं ११वीं और १२वीं १३वीं शताब्दियोंमें खूब प्रसिद्ध रहा। इस वंशमें दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही संप्रदायोंकी मान्यता वाले लोग थे। दिगम्बर सम्प्रदायके कई दिगम्बर विद्वान् ग्रंथकार इस वंशमें हुए हैं जैसे भविष्यदत्त पञ्चमीकथाके कर्ता कवि धनपाल, और धर्मपरीक्षाके कर्ता हरिषेणने अपनी धर्मपरीक्षा वि० सं० १०४४में बनाकर समाप्त की थी। अतः यह धर्कट या धक्कड वंश इससे भी प्राचीन जान पड़ता है। देलवाडाके वि० सं० १२८७ के तेजपाल वाले शिलालेखमें भी धर्कट या धक्कड जातिका उल्लेख है।

विद्वान और कवि थे। इनकी चार स्त्रियाँ थीं। जिनवती, पोमावती, लीलावती और जयादेवी तथा नेमचन्द्र नामका एक पुत्र भी था२। महाकवि वीर विद्वान और कवि होनेके साथ-साथ गुणग्राही न्याय-प्रिय और समुदार व्यक्ति थे। उनकी गुण-ग्राहकताका स्पष्ट उल्लेख ग्रन्थकी चतुर्थ सन्धिके प्रारम्भमें पाये जाने वाले निम्न पद्यसे मिलता है :—

अगुणा ण मुणंति गुणं गुणिणो न सहंति परगुणे दट्ठुं।
वल्लहगुणा वि गुणिणो विरलाकइ वीर-सारिच्छा ॥

अर्थात्—"अगुण अथवा निर्गुण पुरुष गुणोंको नहीं जानता और गुणीजन दूसरेके गुणोंको भी नहीं देखते—उन्हें सहन भी नहीं कर सकते, परन्तु वीरकविके सदृश कवि विरले हैं, जो दूसरे गुणोंको समादरकी दृष्टिसे देखते हैं।'

कविने अपनी लघुता व्यक्त करते हुए लिखा है कि—"सुकवित्त करणमणवावडेण"—१-३। इसमें कविने अपनेको काव्य बनानेके अयोग्य बतलाया है। फिर भी कविने अपनी सामर्थ्यानुसार काव्यको सरस और सालंकार बनानेका यत्न किया है। और कवि उसमें सफल हुआ है।

कविका वंश और माता-पिता

कविवर वीरके पिता गुडखेडदेशके निवासी थे और इनका वंश अथवा गोत्र 'लालबागड' था। यह वंश काष्ठासंघकी एक शाखा है ❀। इस वंशमें अनेक दिगम्बराचार्य और भट्टारक हुए हैं, जैसे जयसेन, गुणाकरसेन, और महासेन× तथा सं० ११४५के दूबकुण्ड वाले शिलालेखमें उल्लिखित देवसेन आदि। इससे इस वंशकी प्रतिष्ठाका अनुमान किया जा सकता है। इनके पिताका नाम देवदत्त था। यह 'महाकवि' विशेषणसे भूषित थे और सम्यक्त्वादि गुणोंसे अलंकृत थे। और उन्हें सरस्वति देवीका वर प्राप्त था। उन्होंने पद्धडिया छन्दमें 'वरांग-चरित' का उद्धार किया था। और कवि-गुणोंको अनुरंजित करनेवाली वीरकथा, तथा 'अम्बादेवी-रास' नाम की रचना बनाई थी, जो ताल और लयके साथ गाई जाती थी, और जिनचरणोंके समीप नृत्य किया जाता था। जैसा कि कविके निम्न वाक्योंसे प्रकट है :—

"सिरिलाडवग्गुतहिविमलजसु, कइदेवयत्तुनिव्वुड्ढकसु
बहुभावहिं जें वरंगचरिउ, पद्धडिया बंधे उद्धरिउ।
कविगुण-रस-रंजिय विउससह, वित्थारिय सुद्दयवीरकह
तच्चरिय बंधि विरइउ सरसु, गाइज्जइ संतिउ तारू जसु
नच्चिज्जइ जिणपयसेवयहिं किउ रासउ अंबादेवयहिं।
सम्मत्त महाभरधुरधरहो, तहो सरसइदेवि-लद्धवरहो ॥"

कविवर देवदत्तकी ये सब कृतियां इस समय अनुपलब्ध हैं, यदि किसी शास्त्रभंडारमें इनके अस्तित्वका पता चल जाय, तो उससे कई ऐतिहासिक गुत्थियोंके सुलझनेकी आशा है कविवर देवदत्तकी ये सब कृतियाँ संभवतः १०५० या इसके आस-पास रची गई होंगी, क्योंकि उनके पुत्र वीर कवि सं० १०७६के ग्रन्थमें उनका उल्लेख कर रहे हैं। अतः इनकी खोजका प्रयत्न होना चाहिए, सम्भव है प्रयत्न करने पर किसी शास्त्रभण्डारमें उपलब्ध हो जांय। वीरकविकी माताका नाम 'सन्तु' अथवा 'सन्तुव' था, जो शीलगुणसे अलंकृत थी। इनके तीन लघुसहोदर और थे जो बड़े ही बुद्धिमान् थे और जिनके नाम 'सीहल्ल' लक्खणंक, और जसई थे, जैसा कि प्रशस्तिके निम्नपद्योंसे प्रकट है :—

जस्स कइ-देवयत्तो जणयो सच्चरियलद्धमाहप्पो।
सुहसीलसुद्धवंसो जणणी सिरि संतुआ भणिया ॥६॥
जस्स य पसण्णवयणा लहुणो सुमइ ससहोयरा तिण्णि।
सीहल्ल लक्खणंका जसइ णामेत्ति विक्खाया ॥७॥

चूंकि कविवर वीरका बहुतसा समय राज्यकार्य, धर्म, अर्थ और कामकी गोष्टीमें व्यतीत होता था, इस लिए इन्हें इस जम्बूस्वामी चरित नामक ग्रंथके निर्माण करनेमें पूरा एक वर्षका समय लग गया था १। कवि 'वीर' केवल कवि ही

२ जाया जस्स मणिट्ठा जिणवइ पोमावइ पुणो बीया।
लीलावइत्ति तईया पच्छिम भज्जा जयादेवी ॥ ८ ॥
पढमकलत्तं गरुहो संताण कयत्त विडवि पा रोहो।
विणयगुणमणिणिहाणो तणओ तह णेमिचन्दो त्ति ॥९॥
—जंबूस्वामीचरित प्रशस्ति

❀काष्ठासंघो भुवि ख्यातो जानन्ति नृसुरासुराः।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुता क्षितौ ॥
श्रीनन्दितटसंज्ञश्च माथुरावागडाभिधः।
लाड वागड इत्येते विख्याता क्षितिमण्डले ॥
—पट्टावली भ० सुरेन्द्र कीर्ति।

× देखो, महासेन प्रद्युम्नचरित प्रशस्ति जैनग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह प्रथम भाग वीरसेवा मन्दिरसे प्रकाशित।

१ बहुरायकज्जधम्मत्थकाम गोट्ठी विहत्तसमयस्स।
वीरस्स चरियकरणे इक्को संवच्छरो लग्गो ॥५॥
जंबू० च० प्र०

नहीं थे, बल्कि भक्तिरसके भी प्रेमी थे इन्होंने मेघवन१ में पत्थरका एक विशाल जिनमन्दिर बनवाया था और उसी मेघवन पट्टणमें वर्द्धमान जिनकी विशाल प्रतिमाकी प्रतिष्ठा भी की थी२। कविने प्रशस्तिमें मन्दिर-निर्माण और प्रतिमा-प्रतिष्ठाके संवतादिका कोई उल्लेख नहीं किया। फिरभी इतनातो निश्चित ही है कि जम्बू-स्वामि-चरित ग्रंथकी रचना से पूर्वही उक्त दोनों कार्य सम्पन्न हो चुके थे।

पूर्ववर्ती विद्वानोंका उल्लेख

ग्रन्थमें कविने अपनेसे पूर्ववर्ती निम्न विद्वान कवियोंका उल्लेख किया है, शान्तिकवि३ होते हुए भी वादीन्द्र थे और जयकवि४ जिनका पूरा नाम जयदेव मालूम होता है, जिनकी वाणी अदृष्ट अपर्व अर्थमें स्फुरित होती है।

यह जयकवि वही मालूम होते हैं, जिनका उल्लेख जयकीर्तिने अपने छन्दानुशासनमें किया है५। इनके सिवाय, स्वयंभूदेव, पुष्पदन्त और देवदत्तका भी उल्लेख किया है६।

ग्रन्थका रचनाकाल

भगवान महावीरके निर्वाणके ४७० वर्ष पश्चात विक्रम-कालकी उत्पत्ति होती है और विक्रमकालके १०७६ वर्ष व्यतीत होने पर माघ शुक्ला दशमीके दिन इस जम्बूस्वामी चरित्रका आचार्य परम्परासे सुने हुए बहुलार्थक प्रशस्त पदोंमें संकलित कर उद्धार किया गया है। जैसा कि ग्रन्थ-प्रशस्तिके निम्न पद्यसे प्रकट है:—

वरिसाण सयचउक्के सत्तरिजुत्ते जिणेंदवीरस्स।
णिव्वाणा उववण्णा विक्कमकालस्स उप्पत्ती ॥ १ ॥
विक्कमणिवकालाओ छाहत्तर दससएसु वरिसाणं।
माहम्मि सुद्धपक्खे दसमी दिवसम्मि संतम्मि ॥ २ ॥
सुणियं आयरिय परंपराए वीरेण वीरणिद्दिट्ठं।
बहुलत्थ पसत्थपयं पवरमिणं चरियमुद्धरियं ॥ ३ ॥

इस प्रकार यह ग्रन्थ जीवन-परिचयके साथ-साथ अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक व्यक्तियोंके उल्लेखों और उनके सामान्य परिचयोंसे परिपूर्ण है। इससे भगवान महावीर और उनके समकालीन व्यक्तियोंका परिचय उपलब्ध होता है, जो इतिहासज्ञों और अन्वेषण-कर्ताओंके लिये बड़ा ही उपयोगी होगा।

ग्रन्थका लिपि समय

यह ग्रन्थ-प्रति भट्टारक महेन्द्रकीर्ति अम्बेर या आमेर (जयपुर) के शास्त्रभंडार की है, जो पहले किसी समय जयपुर राज्यकी राजधानी थी। इस प्रतिकी लेखक-प्रशस्तिके तीन ही पद्य उपलब्ध हैं; क्योंकि ७६वें पत्रसे आगेका ७७वां पत्र उपलब्ध नहीं है। उन पद्योंमेंसे प्रथम व द्वितीय पद्यमें प्रतिलिपिके स्थानका नाम-निर्देश करते हुए 'झुंझुना' के उत्तुंग जिन-मन्दिरोंका भी उल्लेख किया है और तृतीय पद्यमें उसका लिपि समय विक्रम संवत् १५१६ मगसिर शुक्ला त्रयोदशी बतलाया है, जिससे यह प्रति पांच सौ वर्षके लगभग पुरानी जान पड़ती है। इस ग्रन्थ प्रति पर एक छोटा सा टिप्पण भी उपलब्ध है जिसमें उसका मध्य-भाग कुछ छूटा हुआ है *।

---

१ प्रयत्न करने परभी 'मेघवन' का कोई विशेष परिचय उपलब्ध नहीं हो सका।

२ सो जयउ कई वीरो वीरजिणंदस्स कारियं जेण।
पाहाणमयं भवणं विहुरुद्देसेण मेहवणे ॥१०॥
इत्थेवदिणे मेहवणपट्टणे वड्ढमाण जिणपडिमा।
तेण वि महाकइणा वीरेण पयट्ठिया पवरा ॥४॥
जंबूस्वामि चरित प्र०

३ संति कई वाई विहु वण्णुक्करिसेसु फुरियविण्णाणो।
रस-सिद्धि संचियत्थो विरलो वाई कई एक्को ॥३॥

४ विजयन्तु जए कइणो जाणंवाणं अइट्ठ पुव्वत्थे।
उज्जोइय धरणियलो साहइ वट्टिव्व णिव्ववडइ ॥४॥
जम्बूस्वामी-चरित प्रशस्ति

५ माण्डव्य-पिंगल-जनाश्रय-सेतवाख्य,
श्रीपूज्यपाद-जयदेव बुधादिकानाम्।
छन्दांसि वीक्ष्य विविधानपि सत्प्रयोगान्
छंदोनुशासनमिदं जयकीर्तिनोक्तम् ॥
—*जैसलमेर-भण्डार ग्रन्थसूची*

६ संते सयंभू एए वे एक्को कइत्ति विन्नि पुणु भणिया।
जायम्मि पुप्फयंते तिण्णि तहा देवयत्तम्मि ॥
—देखो, जंबूस्वामि चरित, संधि ५ का आदिभाग।

* मन्ये वयं पुण्यपुरी बभाति, सा झुंझुणेति प्रकटी बभूव।
प्रोत्तुंगतन्मंडन-चैत्यगेहाः सोपानवद्दृश्यति नाकलोके ॥१॥
पुरस्मराराम जलप्रकूपा हर्म्याणि तत्रास्ति रतीव रम्याः।
दृश्यन्ति लोका घनपुण्यभाजो ददातिदानस्य विशालशाला ॥२
श्री विक्रमार्केन गते शताब्दे षडेक पंचैक सुमार्गशीर्षे।
त्रयोदशीया तिथिसर्वशुद्धाः श्री जंबूस्वामीति च पुस्तकोऽयं ॥३

भारतकी राजधानीमें जयधवल महाधवल ग्रन्थराजोंका अपूर्व स्वागत

श्री जयधवल महाधवल ग्रन्थराजोंकी मूल ताड़-पत्रीय प्रतियां जो तुलु या तौलव देशमें स्थित मूडबिद्रीके मठसे कहीं बाहर नहीं जाती थीं और जिन्हें श्रीअण्णा श्रेष्ठी तथा श्रीमती मल्लिकादेवी द्वारा अपने पंचमी व्रतके उद्यापनार्थ लिखवाकर श्री मेघचन्द्रव्रतीके शिष्य श्री माघनन्दी आचार्यको समर्पित किये गये थे और जो हजार वर्षके लगभग समयसे वहां सुरक्षित थीं उन्हें वीरसेवामन्दिरके अध्यक्ष श्रीबाबू छोटेलाल जी कलकत्ताकी सत्प्रेरणा एवं अनुरोधसे उनका जीर्णोद्धार करानेके लिए देहली लाया गया, जो ता० ८ दिसम्बर की रातको जनता एक्सप्रैससे दिल्ली पहुँचीं। उस समय देहलीके रेल्वे स्टेशनपर स्थानीय प्रतिष्ठित सज्जनों ने उनका स्वागत किया, मालाएं पहिनाई। उक्त जनता एक्सप्रेसके ३॥ घण्टे लेट हो जानेके कारण जुलूस आदि की सब योजना रोक देनी पड़ी और उन ग्रन्थराजोंको श्री धर्मसाम्राज्यजीके साथ कारमें लाकर श्री दि० जैन लाल मंदिर स्थित वीरसेवामन्दिरमें विराजमान किया।

भारतकी राजधानी दिल्लीमें पौषवदी दोयज रविवार ता० १२ दिसम्बर को जैनियोंके वार्षिक रथोत्सवके पुनीत अवसरपर एक विशाल ठेलेपर जिसका संचालन ट्रैक्टरके द्वारा होना है, उसपर प्राचीन कारीगिरी को लक्ष्यमें रखते हुए एक नवीन सरस्वती मन्दिर-का निर्माण किया गया था और उसे विविध प्रकारसे सुसज्जित किया गया था। सरस्वती मन्दिरके मुख्य द्वारपर एक सुन्दर बोर्ड लगा हुआ था, जिसपर भगवान महावीरका दिव्य सन्देश 'जिओ और जीने दो' अंकित था। इस मन्दिरमें दोनों ओर सोने-चाँदीकी सुन्दर दो वेदियाँ विराजमान की गई थी। ऊपरके सफेद चंदोयेके नीचे मनोहर जरीदोज चंदोयेके मध्यमें सुवर्णके बड़े तीन छत्र फिर रहे थे और बगलोंमें इन्द्रचमर ढोल रहे थे। चंदोयेके ठीक मध्यमें नीचे सुन्दर ग्लास केशमें विराजमान उक्त ग्रंथराज दूरसे ही दृष्टिगोचर होते थे। उक्त ग्लासकेशके अंदर और बाहर चारों ओर नया मंदिर धर्मपुरा और पंचायती मंदिरके शास्त्र भंडारोंके अन्य सचित्र, सुवर्णाङ्कित ग्रन्थोंको भी विराजमान किया गया था जो दर्शकोंके हृदयमें आनन्द और उत्साहकी लहर उद्भावित कर रहे थे। ग्लास केशके दोनों ओर सामने चाँदीके सुन्दर अष्ट मंगल द्रव्य रक्खे गये थे और चाँदीके बड़े गुलदस्ते जिनमें विविध प्रकारके फूल खिल रहे थे। मन्दिरके चारों ओर सुन्दर पुष्प मालाएं लटक रही थीं और चार घंटे भी बंधे हुए थे जो अपनी आवाजसे दर्शकों-को अपनी ओर केवल आकर्षित ही नहीं करते थे अपितु उनका आह्वानन भी कर रहे थे। सरस्वती मन्दिरकी यह शोभा देखते ही बनती थी। यह सब उन ग्रन्थराजोंका ही महात्म्य एवं प्रभाव था इस रथोत्सवमें सबकी दृष्टि इस नूतन बने हुए सरस्वती मन्दिरकी ओर जाती थी, जो दर्शकोंके लिये अभिनव या अपूर्व वस्तु थी। जयधवल और महाधवल ग्रन्थराजोंकी जय-ध्वनिसे अम्बर गूँज रहा था। उक्त मन्दिरके दोनों ओर अगल बगलमें एक तरफ श्री धर्मसाम्राज्य जी और पं० मक्खनलालजी प्रचारक तथा दूसरी ओर प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान पं० जुगलकिशोर जी पं० परमानन्द शास्त्री और उनका लघु पुत्र गुलाबचन्द भी बठा हुआ था। पं० मक्खनलाल जी, मुख्तार सा० और मैं, वारी २ से उक्त जयधवलादि इन ग्रन्थोंका परिचय भी कराते जाते थे।

ग्रन्थ परिचय में इन ग्रन्थराजोंकी उत्पत्ति कब और कैसे हुई ? इनके रचयिता कौन थे, इनकी भाषा और लिपि क्या है, इनका रचनाकाल क्या है और इनमें किन-किन विषयोंका कथन दिया हुआ है और इन ग्रन्थोंके अध्ययनसे हमें क्या लाभ है ? आदि प्रश्नोंका संक्षिप्त एवं सरल रूपसे विवेचन लाउड स्पीकर द्वारा किया जा रहा था।

जिनेन्द्र भगवानका अश्वारोही रथ भी अपनी अनुपम छटा दिखा रहा था और दर्शकजन नमस्कार कर अपने कर्तव्यको जाननेके मार्गमें लग रहे थे।

रथोत्सवमें अजमेरकी प्रसिद्ध भजन मण्डली भी बुलाई गई थी जो नृत्य वादित्रादिके साथ जिनेन्द्रके गुणगान कर रही थी। श्री जैनयुवकमण्डल सेठके कूचाकी नाटक मंडलीने भी अपनी अभिनय रुचिके साथ ठेलेको सजाया था और उसके अन्दर ड्रामाका अभिनय दर्शनीय रूपमें किया जा रहा था। कहा जाता है कि रथोत्सवमें इतनी अधिक भीड़ पहले कभी नहीं हुई।

दिल्ली रथोत्सवमें नवनिर्मित सरस्वती-मन्दिरका भव्य दृश्य

(पीछेका दृश्य)

बीचमें रत्नाकशमें श्री जयधवल-महाधवलग्रन्थ तथा अन्य सुवर्णाङ्कित सचित्र ग्रन्थ विराजमान हैं। तीन इन्द्र चमर ढोल रहे हैं। श्री धर्मसाम्राज्यजी, पं० मक्खनलालजी, आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तार और पं० परमानन्द शास्त्री अपने नवपत्रको गोदीमें लिये बैठे हैं।

दिल्ली रथोत्सवमें नवनिर्मित सरस्वती-मन्दिरका भव्य दृश्य

(आगेका दृश्य)

२ - इस चित्रमें सरस्वती-मन्दिरके भव्य चित्रके साथ रथोत्सवका [illegible] सुहावना दृश्य अंकित है ।

जैन अनाथाश्रमकी ओरसे भी कई दर्शनीय वस्तुओंका आयोजन किया गया था, सब छात्र भी शामिल थे। उत्सवमें कई बैंडबाजे भी अपनी स्वर-लहरी बखेर रहे थे। उक्त रथोत्सव ठीक ८ बजेसे प्रारम्भ हो गया था और एक बजेके लगभग पहाड़ी पहुँचा। दरीबासे लेकर पहाड़ी धीरज तक जनताका अपूर्व समारोह था, रविवारकी छुट्टी पड़ जानेसे जनता और भी अधिकाधिक रूपमें उपस्थित थी। अनुमानतः सरस्वती मन्दिरमें विराज ग्रन्थराजोंका दर्शन दो लाख जनताने किया होगा। इसी तरह रथोत्सव पहाड़ीसे वापिस आनेमें भी जनताका पूर्ववत् उत्साह बना रहा और सारा कार्य व्यवस्थित और सुन्दर रहा।

सरस्वती मन्दिरका सारा आयोजन, उसका निर्माण और सजाना आदि सब कार्य लाला रघुवीरसिंह जी जैनावाचकी स्वाभाविक कल्पनाका परिणाम है, उनका उत्साह और लगन प्रशंसनीय है। रथोत्सव कमेटीकी व्यवस्था भी सराहनीय थी।

—परमानन्द जैन, शास्त्री

रोपड़की खुदाईमें महत्वपूर्ण ऐतिहासिक वस्तुओंकी उपलब्धि

पंजाबमें सतलजके ऊपरकी ओर रोपड़में भारत सरकारके पुरातत्व विभाग द्वारा हुई खुदाईसे हड़प्पा सभ्यता तथा बौद्धकालके बीचके अंध युगपर निश्चित रूपसे प्रकाश पड़ा है।

इस खुदाईसे ईसासे २ सहस्राब्दी पूर्वसे लगभग आज तकके सारे राज्याधिकारोंमें तारतम्य स्थापित हो गया है तथा उत्तरी भारतमें सभ्यताकी विकास श्रृंखलाकी मोटी रूप रेखा तैयार हो गई है। अब पुरातत्व विभाग उन ब्यौरोंपर विचार कर रहा है।

कहते हैं सिन्धु लिपिमें लिखी हुई एक छोटीसी मुहरके मिलनेसे इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहा है कि सांस्कृतिक रूपसे बलूचिस्तानसे ऊपरी सतलज तकका प्रदेश एक था। हड़प्पा निवासियोंके आरम्भिक मकान कंकड़ी तथा कच्ची ईंटोंसे बनते थे, पर उसके कुछ समय बाद ही पकाई हुई ईंटें काममें लाई जाने लगीं।

ईसासे पूर्व दूसरी सहस्राब्दीके अन्तमें हड़प्पा निवासियोंके विनाशके बाद ईसासे पूर्व पहली सहस्राब्दीके आरंभमें एक नयी सभ्यताके लोग यहां आकर बसे। काली रेखाओं तथा बिन्दुओंसे चित्रित भूरे रंगके मिट्टीके बर्तन इस सभ्यताके अवशेष हैं। सम्भवतः ये लोग आर्य थे। तथा ३००-४०० वर्ष तक ये रोपड़में रहे भी हैं परन्तु आश्चर्य यह है कि अभी तक इनके द्वारा बनाया हुआ कोई भवन नहीं मिला है।

कुछ समय बाद बुद्धकालमें रोपड़में एक नयी सभ्यता उदित हुई जो ईसाके बाद दूसरी सदी तक वर्तमान रही। इस समय तक लोहा काममें आने लगा था परंतु इस समय का मुख्य उद्योग एक प्रकारके चमकदार बर्तन होते थे तथा पुरातत्ववेत्ता जिन्हें उत्तरी काले पालिशके बर्तन कहते हैं।

विशेष प्रकारके बर्तन

ये बर्तन पंजाब और उत्तरप्रदेशके प्राचीन ऐतिहासिक स्थानोंमें प्राप्त हुए हैं और कुछ अंशोंमें पूर्वमें बंगालमें स्थित गौड़ तक तथा दक्षिणमें अमरावती तक पाये गये हैं। इस स्तर पर छेद वाले सिक्के बहुतायतसे मिलते हैं। शुंग, कुशन तथा गुप्त कालीन कलाका प्रभाव यहांके सिक्कों तथा बर्तनों पर ही नहीं २०० ईसा पूर्वसे ६०० ईस्वी तक के सुन्दर देश कोटा पर भी अवलोकित होता है।

खुदाई करने वालोंको यहां बहुतसे भारत-यूनानी तथा कबायली सिक्के ६०० कुशन कालके तांबेके सिक्के तथा एक चन्द्रगुप्तकी स्वर्ण मुद्रा भी मिली है।

ऐसा जान पड़ता है कि मध्यकालके आरंभमें बस्ती इस स्थान पर एक जगहसे दूसरी जगह हटती रही है; क्योंकि वर्तमान नगरके स्थान पर ऐसे मिट्टीके बर्तन तथा ईंटोंके मकान निकले हैं जो आठवीं तथा दसवीं ईस्वीके हैं। यहां मुगलकालकी मुद्राएं भी प्राप्त हुई हैं।

कहा जाता है कि पुरातत्व विभाग कुछ समयसे सतलज के ऊपरी भाग पर अधिक ध्यान दे रहा है। इन खोजोंसे रूपड़के अतिरिक्त और भी हड़प्पा युगके स्थानोंका पता लगा है। शिवालिकमें कुछ स्थानों पर तो पत्थरके औजार आदि भी मिले हैं। ये ऐतिहासिक युगसे पूर्वके जान पड़ते हैं परन्तु इनका गम्भीर अध्ययन एवं मननके पश्चात् ही किसी निश्चित परिणाम पर पहुंचा जा सकेगा।

भारतमें अनेक स्थानों पर ऊँचे टीले विद्यमान हैं जिनके नीचे बहुत ही मूल्य चौतीस ऐतिहासिक अवशेष दबे पड़े हैं। आशा है भारत कोई बालक बीमार देगी। —(नव भारतसे)

अतिशय क्षेत्र खजुराहा

भारतीय पुरातत्त्वमें 'खजुराहा'का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वहां जानेके झांसीसे दो मार्ग हैं एक मार्ग झांसी मानिकपुर रेलवे लाइन पर हरपालपुर या महोबासे छतरपुर जाना पड़ता है, और दूसरा मार्ग झांसीसे बीना-सागर होते हुए मोटर द्वारा छतपुर जाया जाता है। और छतरपुरसे सतना वाली सड़कपरसे बीस मील दूर बमीठामें एक पुलिस थाना है वहाँसे राजनगरको जो दशमील मार्ग जाताहै उसके ७वें मील पर खजुराहा अवस्थित है। मोटर हरपालपुरसे तीस मील छतरपुर और वहांसे खजुराहा होती हुई राजनगर जाती है। इस स्थानका प्राचीन नाम 'खजूर' पुर था। महोबा छतरपुर राज्यकी राजधानी थी, महोबाका प्राचीन नाम 'जेजाहूति' जेजाभुक्ति' जुझौति या जुझाउती कहा जाता है। यह नाम क्यों और कब पड़ा? यह विचारणीय है। चीनीयात्री हुएनसांगने भी अपनी यात्रा विवरणमें इसका उल्लेख किया है।

महोबा भी किसी समय जैन संस्कृतिका केन्द्र रहा है। फलस्वरूप वहाँ अनेक प्राचीन जैन मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं *। धंग, गंड, जयवर्मा, मदनवर्मा और परमाल या परमार्दिदेव इन पांच चन्देलवंशी राजाओंके राज्यकालमें निर्मित मन्दिर और अनेक प्रतिष्ठित मूर्तियां खण्डित-अखण्डित दशा-

* महोबा या महोत्सवपुरमें २०फुट ऊँचा एक टीला है वहां से अनेक खण्डित जैन मूर्तियाँ मिली हैं। महोबाके आस-पास ग्रामों व नगरोंमें अनेक ध्वंस जैनमन्दिर और मूर्तियाँ पाई जाती हैं। महोबामें उपलब्ध खण्डित जैनमूर्तियोंके आसनोंपर छोटेछोटे बहुतसे उत्कीर्ण हुये लेख मिलते हैं। उनमें से कुछका सार निम्नप्रकार है :—

१—संवत् ११६१ राजा जयवर्मा, २—संवत् १२०३, ३—श्रीमन मदनवर्मादिवराज्ये, सम्वत् १२११ अषाढ सुदि ३ गुरौ। ४—सम्वत् १२२० जेठसुदी ८ रवौ साधु देवगण तस्य पुत्ररत्नपाल प्रणमति नित्यम्। ६—पुत्राः साधु श्री रत्नपाल तथा वस्तुपाल तथा त्रिभुवनपाल जिननाथाय प्रणमति नित्यम्। ७—सं० १२२४ आषाढ सुदी २ रवौ, काल आराधियोति श्रीमत् परमार्द्धिदेवपाद नाम प्रवर्द्धमान कल्याण विजय राज्ये ····। इस लेखमें चन्देलवंशी राजाओंके नाम भयसमयादिके अंकित हैं, जिन्हें ··· वृद्धिके भयसे यहां नहीं दिया है।

में वर्तमानमें पाई जाती है जिनसे पता चलता है कि इसकालमें खजुराहा और उसके आस-पासवर्ती प्रदेशोंमें जैनधर्म अपनी ज्योतिचमका रहा था।

खजुराहा और महोबामें चन्देलवंशी राज्यकालीन उत्कृष्ट शिल्प कलासे परिपूर्ण मन्दिर मिलते हैं। खजुराहा किसी समय जेजाहूति की राजधानी था। यह नाम राजा गंडके सं० १०५६के लेखमें उपलब्ध होता है।

इस क्षेत्रका 'खजूर पुर' नाम होनेका कारण वहां खजूरके वृक्षोंका पाया जाना है। भारतकी उत्कर्ष संस्कृति स्थापत्य और वस्तुकलाके क्षेत्रमें चन्देलसमयकी देदीप्यमान कला अपना स्थिर प्रभाव अंकित किये हुये है। चन्देल राजाओंकी भारतको यह असाधारण देन है। इनराजाओंके समयमें हिन्दू संस्कृतिके साथ जैनसंस्कृतिको भी फलने फूलनेका पर्याप्त अवसर मिला है। उसकालमें संस्कृति, कला और साहित्यके विकासको प्रश्रय मिला जान पड़ता है। यही कारण है कि उसकालके कला-प्रतीकोंका यदि संकलन किया जाय, जो यत्र तत्र विखरा हुआ पड़ा है, उससे न केवल प्राचीन कलाकी ही रक्षा होगी बल्कि उस कालकी कलाके महत्व पर भी प्रकाश पड़ेगा। और प्राचीन कलाके प्रति जनताका अभिनव आकर्षण भी होगा। क्योंकि कला कलकारके जीवनका सजीव चित्रण है उसकी श्रम-साधना और कठोर छैनी तत्त्वरूपके निखारनेका दायित्व हा उसको कर्तव्य निष्ठा एवं एकाग्रताका प्रतीक है। उसके भावोंकी अभिव्यंजना ही कलाकारके जीवनका मौलिक रूप है, उससे ही जीवनमें स्फूर्ति और आकर्षक शक्तिकी जागृति होती है। उच्चतम कलाका विकास आत्म-साधनका विशिष्ट रूप है। उसके विकाससे तत्कालीन इतिहासके निर्माणमें पर्याप्त सहायता मिल सकती है।

बुन्देलखण्डमें चन्देल कलचूरि आदि राजवंशोंके शासन कालमें जैनधर्मका प्रभाव सर्वत्र व्याप्त रहा है और उस समय अनेक कलापूर्ण मूर्तियां तथा सैकड़ों मन्दिरोंका निर्माणभी हुआ है। खजुराहेकी कला तो इतिहासमें अपना विशिष्ट स्थान रखती ही है। यद्यपि खजुराहामें कितनी ही खण्डित मूर्तियाँ पाई जाती हैं, जो साम्प्रदायिक विद्वेषका परिणाम जान पड़ती हैं।

यहाँ मन्दिरोंके तीन विभाग हैं, पश्चिमीय समूह शिव-विष्णु मन्दिरोंका है। इनमें महादेवका मन्दिरही सबसे प्रधान है। और उत्तरीय समूह में भी विष्णुके छोटे बड़े मन्दिर हैं;

दक्षिण पूर्वीयभाग जैनमन्दिरोंकेसमूहसे अलंकृत है। यहाँ महादेवजीकी एक विशालमूर्ति ८ फुट ऊँची और ३ फुटसे अधिक मोटी होगी। वराह अवतार भी सुन्दर है उसकी ऊँचाई सम्भवतः ३ हाथ होगी। घंटेश्वरका मन्दिर भी सुन्दर और उन्नत है कालीका मन्दिर भी रमणीय है, पर मूर्तिमें माँकी ममताका: अभाव दृष्टिगत होता है। उसे भयंकरतासे आच्छादित जो कर दिया है जिससे उसमें जगदम्बाकी कल्पनाका वह मातृत्व रूप नहीं रहा। और न दया समता ही को कोई स्थान प्राप्त है, जो मानवजीवनके खास अंग हैं। यहाँके हिन्दू मन्दिर पर जो निरावरण देवियोंके चित्र उत्कीर्णित देखे जाते हैं उनसे ज्ञात होता है कि उस समय विलास प्रियताका अत्यधिक प्रवाह वह रहा था, इसीसे शिल्पियोंकी कलामें भी उसे, यथेष्ट प्रश्रय मिला है। खजुराहेके नन्दीकी मूर्ति दक्षिणके मन्दिरोंमें अंकित नन्दी मूर्तियोंसे बहुत कुछ साम्य रखती है। यद्यपि दक्षिणकी मूर्तियाँ आकार-प्रकारमें उससे कहीं बड़ी हैं।

वर्तमानमें यहां तीन हिन्दू मन्दिर और तीन ही जैन-मन्दिरोंमें सबसे प्रथम मंदिर घण्टाई का है। यह मन्दिर खजुराहा ग्रामकी ओर दक्षिण-पूर्व की ओर अवस्थित है इसके स्तम्भोंमें घण्टियोंकी बेल बनी हुई है। इसीसे यह घंटाईका मन्दिर कहा जाता है। इस मन्दिरकी शोभा अपूर्व है। दूसरा मन्दिर आदिनाथ का है यह मन्दिर घण्टाई मन्दिरके हाते में दक्षिण उत्तर पूर्वकी ओर स्थित है। यह मन्दिर भी दर्शनीय और रमणीय है। इस मन्दिरमें मूल नायककी जो मूर्ति स्थापित थी वह कहां गई, यह कुछ ज्ञात नहीं होता। तीसरा मन्दिर पार्श्वनाथका है। यह मन्दिर सब मन्दिरोंसे विशाल है, इस मन्दिरमें पहले आदिनाथकी मूर्ति स्थापित था, उसके गायब हो जानेपर इसमें पार्श्वनाथकी मूर्ति स्थापित की गई है। इस मन्दिरकी दीवालोंके अलंकरणोंमें वैदिक देवी-देवताओंकी मूर्तियां भी उत्कीर्णित की गई हैं। यह मन्दिर अत्यन्त दर्शनीय है। और सम्भवतः दशवीं शताब्दीका बना हुआ है। इसके पास ही शान्तिनाथका मन्दिर है। इन सभी मन्दिरोंके शिखर नागर शैलीके बने हुए हैं। और भी जहाँ तहाँ बुन्देलखण्डके मन्दिरोंके शिखरभी नागर-शैलीके बने हुए मिलते हैं। ये मन्दिर अपनी स्थापत्य कला नूतनता और विचित्रताके कारण आकर्षक बने हुए हैं। यहांकी मूर्ति-कला अलंकरण और अतुलरूप-राशि मानवकल्पनाको आश्चर्यमें डाल देती है, इन अलंकरण और स्थापत्य-कलाके नमूनोंमें मन्दिरोंका बाह्य और अन्तर्भाग विभूषित है। जहां कल्पनामें सजीवता, भावनामें विचित्रता तथा सूक्ष्म-विचारोंका चित्रण इन तीनोंका एकत्र संचित समूह ही मूर्तिकलाके आदर्शका नमूना है। जिननाथ मन्दिरके बाएं द्वार पर सम्वत् १०११ का एक शिलालेख अंकित है जिससे ज्ञात होता है कि यह मन्दिर राजा धंगके राज्यकालसे पूर्व बना है। उस समय मुनि वासवचन्द्रके समयमें पाहिलवंशके एक व्यक्ति पाहिलने जो धंग राजाके द्वारा मान्य था उसने मन्दिरको एक बाग भेंट किया था, जिसमें अनेक वाटिकाएं बनी हुई थीं। वह लेख निम्न प्रकार है :—

१ ओं [।।X] संवत् १०११ समये।।निजकुल धवलोयंदि
२ व्यमूर्तिस्वसी (शी) ल म (श) मदमगुणयुक्तसर्व—
३ सत्वा (त्वा) नुकंपो [।X]स्वजनिततोषो धांगराजेन
४ मान्यः प्रणमति जिननाथों यं भव्य पाहिल (ल्ल)
५ नामा। (।।) १।। पाहिल वाटिका १ चन्द्रवाटिका
६ लघुचन्द्रवाटिका ३ स (शं) करवाटिका ४ पंचाइ—
७ तलवाटिका ५ आम्रवाटिका ६ ध(धं)गवाडी ७ [।।X]
८ पाहिलवंसे(शे)तु क्षये क्षीणे अपरवेसो (शो) यःकोपि
९ तिष्ठिति[।X]तस्य दासस्य दासायं ममदत्तिस्तु पाल-
१० येत्॥ महाराज गुरु स्त्री (श्री) वासवचन्द्र [।।X]
वैप (शा) प (ख) सुदि ७ सोमदिने ।।

शान्तिनाथका मन्दिर—इस मन्दिरमें एक विशाल मूर्ति जैनियोंके १६वें तीर्थकर भगवान शान्तिनाथ की है, जो १४ फुट ऊंची है। यह मूर्ति शान्तिका प्रतीक है, इसकी कला देखते ही बनती है। मूर्ति सांगोपांग अपने दिव्य रूपमें स्थित है। और ऐसा ज्ञात होता है कि शिल्पीने उसे अभी बनाकर तैयार किया हो। मूर्ति कितनी चित्ताकर्षक है यह लेखनीसे परेकी बात है। दर्शक उसे देख कर चकित हुआ अपनी ओर देखनेका इंगित प्राप्त करता है। अगल-बगलमें अनेक सुन्दर मूर्तियाँ विराजित हैं जिनकी संख्या अनुमानतः २५ से कम नहीं जान पड़ती। यहाँ सहस्त्रों मूर्तियाँ खण्डित हैं। सहस्त्रकूट चैत्यालयका निर्माण बहुत ही बारीकीके साथ किया गया है। इस मन्दिरके दरवाजे पर एक चौंतीसा यन्त्र है जिसमें सब तरफसे अंकोंको जोड़ने पर उनका योग चौंतीस होता है। यह यन्त्र बड़ा ही उपयोगी है। जब कोई बालक बीमार होता है तब उस

यन्त्रको उसके गलेमें बांध दिया जाता है ऐसी प्रसिद्धि है। भगवान शान्तिनाथकी इस मूर्तिके नीचे निम्न लेख अंकित है जिससे स्पष्ट है कि यह मूर्ति विक्रमकी ११ वीं शताब्दी के अन्तिम चरण की है:—

'सं० १०८५ श्रीमान् आचार्य पुत्र श्री ठाकुर देवधर सुत सुत श्री शिवि श्रीचन्द्रेय देवाः श्री शान्तिनाथस्य प्रतिमाकारितेति।

खजुराहे की खण्डित मूर्तियों में से कुछ के लेख निम्न प्रकार हैं—१ सं० ११४२ श्री आदिनाथ प्रतिष्ठाकारक श्रेष्ठी वीवनशाह भार्या सेठानी पद्मावती।

चौथे नं० की वेदीमें कृष्ण पाषाणकी हथेली और नासिकासे खंडित जैनियोंके बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रतनाथ की एक मूर्ति है उसके लेखसे मालूम होता है कि यह मूर्ति विक्रमकी १३ वी शताब्दीके शुरूमें प्रतिष्ठित हुई है। लेखमें मूलसंघ देशीय गणके पण्डित नागनन्दीके शिष्य पं० भानुकीर्ति और आर्यिका मेरुश्री द्वारा प्रतिष्ठित कराये जाने का उल्लेख किया गया है। वह लेख इस प्रकार है—

'सं: १२१५ माघसुदि ५ रवो देशीयगणे पंडितः नाग (ग) नन्दी तच्छिष्यः पंडित श्रीभानुकीर्ति आर्यिका मेरुश्री प्रतिनन्दतु।

इस तरह खजुराहा अतिशय क्षेत्र स्थापत्यकलाकी दृष्टिसे अत्यन्त दर्शनीय है। परन्तु जनताका ध्यान इस क्षेत्रकी व्यवस्थाकी ओर बहुत कम है। जबकि भारतके दूसरे क्षेत्रोंमें तीर्थक्षेत्रोंकी तरक्की हुई है, उनमें सुविधानुसार विकास और हुआ है। तब बुन्देलखण्डका यह क्षेत्र अत्यन्त दयनीय स्थितिमें पड़ा हुआ है। यहांके मन्दिर कलापूर्ण और लाखों-की लागतके होते हुए भी वर्तमानमें उनका बन सकना सम्भव नहीं है। अतः समाजका कर्तव्य है कि इस क्षेत्र की व्यवस्था सुचारु रूपसे होनी चाहिए। और ऐसा प्रयत्न होना चाहिये जिससे जनताका उधर आकर्षण रहे। यदि हम अपने पूर्वजोंकी कीर्तिका संरक्षण नहीं कर सके तो जनता हमारी अयोग्यताका उपहास करेगी। आशा है धर्मप्रेमी सज्जन इस ओर विशेष ध्यान देनेकी कृपा करेंगे।

—परमानन्द जैन

श्रीहीराचन्दजी बोहराका नम्र निवेदन और कुछ शंकाएँ

(जुगलकिशोर मुख्तार)

गत किरणसे आगे

पं० टोडरमलजी-कृत मोक्षमार्गप्रकाशकके जो वाक्य प्रमाणरूपमें उपस्थित किए गए हैं वे प्रायः सब अप्रासंगिक असंगत अथवा प्रकृत-विषयके साथ सम्बन्ध न रखनेवाले हैं; क्योंकि वे द्रव्यलिंगी मुनियों तथा मिथ्यादृष्टि-जैनियोंको लक्ष्य करके कहे गये हैं, जबकि प्रस्तुत पूजा-दान-व्रतादिरूप सराग-चरित्र एवं शुभ-भावोंका विषय सम्यक्चरित्रका अंग होनेसे वैसे मुनियों तथा जैनियोंसे सम्बन्ध नहीं रखता, बल्कि उन मुनियों तथा जैनश्रावकोंसे सम्बन्ध रखता है जो सम्यग्दृष्टि होते हैं। इसीसे पंचमादि-गुणस्थानवर्ति-जीवोंके लिये उन पूजा-दान व्रतादिका सविशेष रूपसे विधान है। स्वामी समन्तभद्रने, सम्यक्चारित्रके वर्णनमें उन्हें योग्य स्थान देते हुए, *उनकी दृष्टिको निम्न वाक्यके द्वारा पहले ही स्पष्ट* करदिया है—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
राग-द्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥

इसमें बतलाया है कि मोहान्धकाररूप अज्ञानमय मिथ्यात्वका अपहरण होने पर-उपशम, क्षय या क्षयोपशकी दशाको प्राप्त होने पर-सम्यग्दर्शनकी-निर्विकार दृष्टिकी-प्राप्ति होती है, और उस दृष्टिकी प्राप्तिसे सम्यग्ज्ञानको प्राप्त हुआ जो साधु-पुरुष है वह राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए सम्यक्चारित्रका अनुष्ठान करता है। इससे स्पष्ट है कि जिस चारित्रका उक्त-ग्रन्थमें आगे विधान किया जा रहा है वह सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान-पूर्वक होता है—उनके विना अथवा उनसे शून्य नहीं होता—और उसका लक्ष्य है राग-द्वेषकी निवृत्ति। अर्थात् राग-द्वेषकी निवृत्ति साध्य है और व्रतादिका आचरण, जिसमें पूजा-दान भी शामिल हैं, उसका साधन है। जबतक *साध्यकी सिद्धि नहीं होती तबतक साधनको अलग नहीं किया* जासकता–उसकी उपादेयता बराबर बनी रहती है। सिद्धत्व-की प्राप्ति होने पर रगधनकी कोई आवश्यकता नहीं रहती और इस दृष्टिसे वह हेय ठहरता है। जैसे कोठेकी छत पर पहुंचने

पर यदि फिर उतरना न हो तो सीढ़ी (निसेनी) बेकार हो जाती है अथवा अभिमत स्थानपर पहुँच जानेपर यदि फिर लौटना न हो तो मार्ग बेकार होजाता है; परन्तु उससे पूर्व अथवा अन्यथा नहीं। कुछ लोग एकमात्र साधनोंको ही साध्य समझ लेते हैं—असली साध्यकी ओर उनकी दृष्टि ही नहीं होती—ऐसे साधकोंको लक्ष्य करके भी पं० टोडरमल जीने कुछ वाक्य कहे हैं; परन्तु वे लोग दृष्टिविकारके कारण चूंकि मिथ्यादृष्टि होते हैं अतः उन्हें लक्ष्य करके कहे गये वाक्य भी अपने विषयसे सम्बन्ध नहीं रखते और इसलिये वे प्रमाण कोटिमें नहीं लिये जासते—उन्हें भी प्रमाणबाह्य अथवा प्रमाणाभास समझना चाहिये। और उनसे भी कुछ भोले भाई ही ठगाये जा सकते हैं—दृष्टिविकारसे रहित आगमके ज्ञाता व्युत्पन्न पुरुष नहीं।

पं टोडरमल्लजीके वाक्य जिन रागादिके सर्वथा निषेधको लिये हुए हैं वे प्रायः वे रागादिक हैं जो दृष्टिविकारके शिकार हैं तथा जो समयसारकी उपर्युल्लिखित गाथा नं० २०१, २०२ में विवक्षित हैं और जिनका स्पष्टीकरण स्वामी समन्तभद्रके युक्त्यनुशासनकी 'एकान्तधर्माभिनिवेशमूला रागदयोऽहंकृतिजा जनानाम्' इत्यादि कारिकाके आधार पर पिछले लेखमें, कानजीस्वामी पर आनेवाले एक आरोपका परिमार्जन करते हुए, प्रस्तुत किया गया था—वे रागादिक नहीं हैं जो कि एकान्तधर्माभिनिवेशरूप मिथ्यादर्शनके अभावमें चारित्रमोहके उदयवश होते हैं और जो ज्ञानमय होनेसे न तो जीवादिकके परिज्ञानमें बाधक है और न समता-वीतरागकी साधनामें ही बाधक होते। इसीसे जिनशासनमें सरागचारित्रकी उपादेयताको अंगीकार किया गया है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है और वह यह कि जब सम्यक्चारित्रका लक्ष्य 'रागद्वेषकी निवृत्ति' है, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, तब सरागचारित्र उसमें सहायक कैसे हो सकता है? वह तो रागसहित होनेके कारण लक्ष्यकी सिद्धिमें उल्टा बाधक पड़ेगा। परन्तु बात ऐसी नहीं है, इसके लिये 'कंटकोन्मूल' सिद्धान्तको लक्ष्यमें लेना चाहिये। जिस प्रकार पैरमें चुभे हुए और भारी वेदना उत्पन्न करने वाले कांटेको हाथमें दूसरा अल्पवेदनाकारक एवं अपने कन्ट्रोलमें रहनेवाला कांटा लेकर और उसे पैरमें चुभाकर, उसके सहारेसे, निकाला जाता है उसी प्रकार अल्पहानिकारक एक शत्रुको उपकारादिके द्वारा अपनाकर उसके सहारेसे दूसरे महाहानिकारक प्रबल शत्रुका उन्मूलन (विनाश) किया जाता है। राग-द्वेष और मोह ये तीनों ही आत्माके शत्रु हैं, जिनमें राग शुभ और अशुभके भेदसे दो प्रकार है और अपने स्वामियों सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टिके भेदसे और भी भेदरूप-हो जाता है। सम्यग्दृष्टिका राग -पूजा-दान-व्रतादिरूप शुभ भावोंके जालमें बँधा हुआ है और इससे वह अल्पहानिकारक शत्रुके रूपमें स्थित है, उसे प्रेमपूर्वक अपनानेसे अशुभराग तथा द्वेष और मोहका सम्पर्क छूट जाता है, उनका सम्पर्क छूटनेसे आत्माका बल बढ़ता है और तब सम्यग्दृष्टि उस शुभरागका भी त्याग करनेमें समर्थ हो जाता है और उसे वह उसी प्रकार त्याग देता है जिस प्रकार कि पैरका कांटा निकल जाने पर हाथके कांटेको त्याग दिया जाता अथवा इस आशंकासे दूर फेंक दिया जाता है कि कहीं कालान्तरमें वह भी पैरमें न चुभ जाय; क्योंकि उस शुभरागसे उसका प्रेम कार्यार्थी होता है, वह वस्तुतः उसे अपना सगा अथवा मित्र नहीं मानता और इसलिए कार्य होजाने पर उसे अपनेसे दूर कर देना ही श्रेयकर समझता है। प्रत्युत इसके, मिथ्यादृष्टिके रागकी दशा दूसरी होती है, वह उसे शत्रुके रूपमें न देख कर मित्रके रूपमें देखता है, उससे कार्यार्थी प्रेम न करके सच्चा प्रेम करने लगता है और इसी भ्रमके कारण उसे दूर करनेमें समर्थ नहीं होता। यही सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिके शुभरागमें परस्पर अन्तर है—एक रागद्वेषकी निवृत्ति अथवा बन्धनसे मुक्तिमें सहायक है तो दूसरा उसमें बाधक है। इसी दृष्टिको लेकर सम्यग्दृष्टिके सरागचारित्रको मोक्षमार्गमें परिगणित किया गया है और उसे वीतरागचारित्रका साधन माना गया है। जो लोग एकमात्र वीतराग अथवा यथाख्यातचारित्रको ही सम्यक्चारित्र मानते हैं उनकी दशा उस मनुष्य जैसी है जो एकमात्र ऊपरके डंडेको ही सीढ़ी अथवा भूमिके उस निकटतम भागको ही मार्ग समझता है जिससे अगला कदम कोठेकी छत पर अथवा अभिमत स्थान पर पड़ता है, और इस तरह बीचका मार्ग कट जानेसे जिस प्रकार वह मनुष्य ऊपरके डंडे या कोठेकी छत पर नहीं पहुँच सकता और न निकटतम अभिमत स्थानको ही प्राप्त कर सकता है उसी प्रकार वे लोग भी न तो यथाख्यातचारित्रको ही प्राप्त होते हैं और न मुक्तिको ही प्राप्त कर

सकते हैं। ऐसे लोग वास्तवमें जिनशासनको जानने-समझने और उसके अनुकूल आचरण करनेवाले नहीं कहे जा सकते, बल्कि उसके दूषक विघातक एवं लोपक ठहरते हैं; क्योंकि जिनशासन निश्चय और व्यवहार दोनों मूलनयोंके कथनको साथ लेकर चलता है और किसी एक ही नयके वक्तव्यका एकान्त पक्षपाती नहीं होता। पं० टोडरमलजीने दोनों नयोंकी दृष्टिको साथमें रक्खा है और इसलिये किसी शब्दछलके द्वारा उसे अन्यथा नहीं किया जा सकता। हाँ, जहाँ कहीं वे चूके हों वहां श्री कुन्दकुन्द और स्वामी समन्तभद्र-जैसे महान् आचार्योंके वचनोंसे ही उसका समाधान हो सकता है। पं० टोडरमलजीने मोक्षमार्गप्रकाशकके ७वें अधिकारमें ही यह साफ लिखा है कि—

"सो महाव्रतादि भए ही वीतरागचारित्र हो है ऐसा सम्बन्ध जानि महाव्रतादिविषै चारित्रका उपचार (व्यवहार) किया है।'

"शुभोपयोग भए शुद्धोपयोगका यत्न करे तो (शुद्धोपयोग) होय जाय बहुरि जो शुभोपयोगही को भला जानि ताका साधन किया करे तो शुद्धोपयोग कैसे होय।"

इन वाक्योंमें वीतरागचारित्र के लिए महाव्रतादिके पूर्व अनुष्ठानका और शुद्धोपयोगके लिए शुभोपयोग रूप पूर्व परिणतिके महत्वको स्थापित किया गया है।

ऐसी स्थितिमें जिस प्रयोजनको लेकर पं० टोडरमलजीके जिन वाक्योंको उद्धृत किया गया है उनसे उसकी सिद्धि नहीं होती।

यहाँ पर मैं इतना और प्रकट कर देना चाहता हूँ कि श्रीबोहराजीने प० टोडरमल्लजीके वाक्योंको भी डबल इन्वर्टेड कामाज़ "—" के भीतर रक्खा है और वैसा करके यह सूचित किया तथा विश्वास दिलाया है कि वह उनके वाक्योंका पूरा रूप है—उसमें कोई पद-वाक्य छोड़ा या घटाया-बढ़ाया गया नहीं है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी मालूम नहीं होती—वाक्योंके उद्धृत करनेमें घटा-बढ़ी की गई है, जिसका एक उदाहरण यहां प्रस्तुत किया जाता है। बोहराजी का वह उद्धरण, जो मिश्र-भावोंके वर्णनसे सबंध रखता है, निम्न प्रकार है -

"जे अंश वीतराग भए तिनकरि संवर है ही—अर जे अंश सराग रहे तिनकरि पुण्यबन्ध है—एकप्रशस्त रागहीतैं पुण्यास्रव भी मानना और संवर निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। सम्यग्दृष्टि अवशेष सरागताको हेय श्रद्दहे है, मिथ्यादृष्टि सरागभावविषै संवरका भ्रम करि प्रशस्तराग रूप कर्मनिको उपादेय श्रद्दहे है।"

इस उद्धरणका रूप पं० टोडरमल्लजी की स्वहस्तलिखित प्रति परसे संशोधितकर छपाये गये सस्ती ग्रन्थमालाके संस्करणमें निम्न प्रकार दिया है—

"जे अंश वीतराग भए तिनकरि संवर है अर जे अंश सराग रहे तिनकरि बंध है। सो एक भावतैं तौ दोयकार्य बनैं परन्तु एक प्रशस्त रागहीतैं पुण्यास्रव भी मानना और संवर निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। मिश्रभाव विषै भी यह सरागता है, यह वीतरागता है ऐसी पहचानि सम्यग्दृष्टि हीके होय तातैं अवशेष सरागताको हेय श्रद्दहे है मिथ्यादृष्टीके ऐसी पहचानि नाहीं तातैं सरागभाव विषै संवरका भ्रम करि प्रशस्तरागरूप कार्यनिकौं उपादेय श्रद्दहै है।"

श्रीबोहराजीके उद्धरणकी जब इस उद्धरणसे तुलना की जाती है तो मालूम होता है कि उन्होंने अपने उद्धरण में उन पद-वाक्यों को छोड़दिया है जिन्हें यहाँ रेखाङ्कित किया गया है और जो सम्यग्दृष्टि तथा मिथ्यादृष्टिकी वैसी श्रद्धाके सम्बन्धमें हेतुके उल्लेखको लिये हुए हैं। उनमेंसे द्वितीय तथा तृतीय रेखाङ्कित वाक्योंके स्थान पर क्रमशः सम्यग्दृष्टि' तथा 'मिथ्यादृष्टि' पदोंका प्रयोग किया गया है और उद्धारणकी पहली पङ्क्तिमें 'संवर है' के आगे 'ही' और दूसरी पंक्तिमें 'बन्ध' के पूर्व 'पुण्य' शब्दको बढ़ाया गया है। और इस तरह दूसरेके वाक्योंमें मनमानी काट-छाँट कर उन्हें असली वाक्योंके रूपमे प्रस्तुत किया गया है, जो कि एक बड़े ही खेदका विषय है! जो लोग जिज्ञासुकी दृष्टिसे इधर तो अपनी शंकाओंका समाधान चाहें अथवा वस्तुतत्त्वका ठीक निर्णय करनेके इच्छुक बनें और उधर जान-बूझकर प्रमाणोंको गलत रूपमें प्रस्तुत करें, यह उनके लिये शोभास्पद नहीं है। इससे तो यह जिज्ञासा तथा निर्णयबुद्धिकी कोई बात नहीं रहती, बल्कि एक विषयकी अनुचित वकालत ठहरती है, जिसमें झूठे-सच्चे जाली और बनावटी सब साधनोंसे काम लिया जाता है।

—(क्रमशः)

पूजा राग-समाज, तातैं जैनिन योग किम ?

(पूजा-विषयक रोचक शंका-समाधान)

[स्व० पं० ऋषभदासजी चिलकानवी]

[यह कविता उस 'पंचबालयतिपूजापाठ' का एक अंश है जिसे चिलकाना जिला सहारनपुर निवासी पं० ऋषभदासजी अग्रवाल जैनने, अपने पिता कवि मंगलसेनजी और बाबा सुखदेव तथा विबुध सन्तलालजी की आज्ञानुसार लिखा था और जो उनके प्राथमिक जीवनकी कृति है तथा मधुशुक्ला अष्टमी विक्रम सं० १९४३को बनकर समाप्त हुई थी। आप उर्दू-फार्सी भाषाके बहुत बड़े विद्वान थे और बादको आपने उर्दू में मिथ्यात्वनाशक नाटक' नामका एक बड़ा ही सुन्दर मनोरंजक एवं ज्ञानवर्धक ग्रन्थ लिखा है, जिसके कुछ भाग प्रकट हुए थे परन्तु वह पूरा ग्रन्थ अभीतक प्रकट नहीं हो पाया*। उस ग्रन्थसे आपकी सूझबूझ और प्रतिभाका बहुत कुछ पता चलता है। खेद है कि आपका २४-२५ वर्ष की युवावस्थामें ही स्वर्गवास हो गया था। अन्यथा आपके द्वारा समाजका बहुत बड़ा काम होता। —जुगलकिशोर मुख्तार]

सोरठा—जो यह शंकै कोय, जिह तिह जिन-सूत्रन-विषैं।
राग-द्वेष ये दोय, बन्ध-मूल तजने कहे॥ १॥

पूजा राग-समाज, है बाहुल्यपने सही।
सो करि होय काज, तातैं जैनिन योग किम॥२॥

तिनको उत्तर-रूप, कहूँ प्रथम दृष्टान्त यह।
जिनमत परम अनूप, अनेकान्त सत्यार्थ है॥ ३॥

(समाधानात्मक कथा)—

अडिल्ल—इक द्रुमतल वनमांहि, एक मूसक रहै।
छीरधदरसी विज्ञ, विचक्षण, गुण गहै॥
बिलतैं निसरो दैवयोग सो एकदा।
भोजन-हेरन-काज फिरत थो जिम सदा॥४॥

आगे लख मंजार चकित-चित हो फिरो।
पीछैं देखो नकुल निजासामें निरो॥
ऊपर वायस देख मरण निश्चय किया।
लाग्यो करन विचार बचै अब किम जिया॥ ५॥

जो आगे पग धरूँ बिलाई भखत है,
हटत नकुल उत टलै न मम दिस लखत है।
अरु जो ठैरूँ यहीं काक छोड़ै नहीं।
हाय! सरण-थल दृष्टि परत कोउ ना कहीं॥६॥

इम सोचत टुक दृष्टि चतुर्दिस धारतो।
लख्यो अहेरी-जाल-बँध्यो मंजार तो॥
चतुराईसों धैर्य धार ता ढिंग गयो।
पूछो तिनकरि हर्ष केम आवन भयो॥ ७॥

बोल्यो सुन मंजार! बँध्या तोहि जानकै।
यद्यपि नटतो सरस हरस चित ठानकै॥
तद्यपि काटूँ बन्ध आज सबै मैं तेरे।
पर जो हों स्वीकार वचन तोकों मेरे॥ ८॥

मम अरि वायस नकुल तकैं मम ओर हो।
तिनसे लेहु बचाय आपहूँ छोर ही॥
मार्जार कहि मीत चतुर! सो विध कहो।
है मोहि सब स्वीकार वचन सच सर्द हो॥ ९॥

मूसक बोल्यो यार! आऊँ जब तो कने।
तू कीजो सम्मान वचन* हितके घने॥
तब वे तज मम आस भजैं वायस-नकुल।
मम हिय पुलकित होय जेम अम्बुज-बकुल॥ १०॥
तब काटूँ सब बन्ध तेरे विश्वास गह।
है दोउनके प्राण-वचनका यतन यह॥

---

* इस ग्रन्थको हिन्दीमें अनुवादित कर 'अनेकान्त' में निकालने का विचार हो रहा है।

सुन बिलाव स्वीकार कियो इम चिन्तियो।
मूसक बिन जीतव्य दृष्टि आवै गयो ॥ ११ ॥
ढिंग बुलाय सन्मान कियो बहु प्रेमसों।
काक-नकुल भज गये मूस रह्यौ क्षेमसों ॥
पुन निजवच-अनुसार बँध काटन लग्यो।
पर निज रक्षण संक फेर इम हिय जग्यो ॥ १२ ॥

मम दारुण अरि जाति-विरोधी यह सही।
किम छोड़ेगो छुटत एम चिन्ता लही ॥
मार्जार कहि मीत! सिथल कैसे भये।
कहा द्रोहकी ठई बिसर निजवच गये ॥ १३ ॥

मूस कही मंजार! अनल वारिज जनै।
तद्यपि ठानूँ द्रोह करें यह ना बनै ॥
तोतैं उपजै संक सिथल तातैं रहूँ।
पर काटूँ सब बन्ध धीर रख सच कहूँ ॥ १४ ॥

कहि बिलाव सौं खाय गही मैं मित्रता।
तो चिततैं तोऊ नाहिं गई यह चित्रना ॥
किम काटेगो बन्ध चित्त संकित रहे।
अविश्वास तज मान वचन नीके कहे ॥ १५ ॥

मूस कही कार्यार्थि प्रेम हमने किया।
निश्चय तू मम जाति-विरोधी निर्दया ॥
सो कार्यार्थी प्रीति कार्य-परिमित हनी।
तातैं मोहे कर्तव्य है रक्षा निज तनी ॥ १५ ॥

फुन निजवचन-निर्वाह हु मोहे करना सही।
दोउ विषमता बनी चिंति यह विधि लही ॥
एक कठिन बँध छार और काटूँ सभी।
जब तोहे पकड़न वधिक यहाँ आवै अभी ॥ १७ ॥
तू मोहे विसरै व्याकुल मोहे अति कष्ट है।
तब वह बन्धहु काटूँ भजैं दुख नष्ट है॥
पुन ऐसा ही कियो मूस धीधारने।
है प्रसन्न स्वीकार, कियो मंजारने ॥ १८ ॥

दोहा— एते आयो बाधक तिंह, ओतु देखि हर्षाय।
कार्य-सिद्धिको देखिकै, सबको चित उमगाय ॥ १६ ॥

पकड़न आयो निपट ढिंग, व्याकुल भयो बिलाव।
मूसक उत बँध काटियो, भागे लख निज दाव ॥२०॥

भो भव्य! विचारहु ज्यों सब निवरै भ्रान्त।
तिस ही प्रश्नको समझिये उत्तर यह दृष्टान्त ॥२१॥

भाव-अर्थ यह यद्यपि रिपु सब तजने योग।
तद्यपि बहु मैं एककौ पक्ष गहै सुमनोग ॥ २२ ॥
कार्य भये सोहू तजै, पर कर प्रति-उपकार।
निज-रक्षा रख मुख्य जिम मूस तज्यो मंजार ॥२३॥
फुन विशेष कछु कहत हूँ, सुनन-योग्य मतिमान।
वाद-बुद्धि तज भ्रम मिटै, खोज-बुद्धि चित आन ॥२४

अडिल्ल—मूल ममफ जिय, जगत महाबिल जानियै।
नकुल द्वेष अरु काग, मोहको मानियै ॥
राग महा मंजार, बँध्यो वृष-जालमें।
पूजा अरु दानादि, बन्ध-विकरालमें ॥ २५ ॥
जिय सुख-भोजन-काज मनुष-गति नीसरो।
दो रिपुतें डर मिल्यो बँध्यो लख तीसरो ॥
पूजन-राग-प्रभाव द्वेष-मोह क्षय भये।
इत्यादिक दुख दोष शेष अरि सब गये ॥ २६ ॥
फुन जिय मोचो याका हू विश्वास जो।
गहूँ न छाडै अधिक करै भव-वास को ॥
अर मोहे निश्चय करना प्रति-उपकार भी।
पर न सकै जब मोहि ये भवमें डार भी ॥ २७ ॥
इम विधि चिन्तत दाव तकत निस-दिन रह्यो।
बल सुख दृग अर ज्ञान अखिल जब जिय लह्यो ॥
तब सब आरज देस विहर उपदेसियो।
जिन-पूजन-प्रस्ताव सातिशय जग कियो ॥ २८ ॥
जो हैं व्युत्पन्न मोक्षपद ते लहैं।
सठमति राग-द्वेष-मोह-सुखमें रहैं ॥
जो जिन-अरचन-राग-सरण नाहीं गहैं।
ममफ न किम भव-मांहि शत्रु-कृत दुख सहैं ॥२९॥

दोहा— तातें जिनपूजा जिया, नित करनी जुत चाव।
नरगति श्रावक-कुल मिल्या, नहीं चूकना दाव ॥३०॥

लघु-धी-सम उत्तर कहा, संसय रहै जु शेष।
ऋषभदास जिनशास्त्र बहु, देखहु भव्य विशेष ॥३१

卐

वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी ७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नागर एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानोंके लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द (जिसकी प्रस्तावनादिका मूल्य अलगसे पांच रुपये है) ... १५)

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द। ... ... ८)

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द। ... ... ५)

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठकी प्रस्तावनासे सुशोभित। ... ... २)

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनादिसे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... ... १॥)

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... १।)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ।॥)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ।॥)

(१० सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बाद के २१ महान् आचार्योंके १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(११) विवाह-समुद्देश्य—मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्त्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस-लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ़ गम्भीर विषयको अतती सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। ... ... ।)

(१३) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ... ।)

(१५) श्रवणबेलगोल और दक्षिणके अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र—ला० राजकृष्ण जैनकी सुन्दर सचित्र रचना भारतीय पुरातत्व विभागके डिप्टी डायरेक्टर जनरल डा०टी०एन० रामचन्द्रनकी महत्व पूर्ण प्रस्तावनासे अलंकृत १)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालोंको ३८॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'
वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी „
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू „
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी „
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन „
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी „
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी „
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी „
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल „
२५१) सेठ सुआलालजी जैन „
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी „
२५१) सेठ मांगीलालजी „
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन „
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी „
१०१) बा० शान्तिनाथजी कलकत्ता
१०१) बा० निर्मलकुमारजी कलकत्ता
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, „
१०१) बा० काशीनाथजी, ... „
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी „
१०१) बा० धनंजयकुमारजी „
१०१) बा० जीतमलजी जैन „
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी „
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीरामबैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) ला० रतनलाल जी कालका वाले, देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री दि० जैन लालमंदिर देहली। मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

अनेकान्त

अक्टूबर—नवम्बर १९५४

अनेकान्त वर्ष १३

किरण ४-५

विषय-सूची

१ समन्तभारती (देवागम)··· ··· [युगवीर ९८

२ चन्देल युगका एक नवीन जैन प्रतिमा लेख—

[प्रो० ज्योतिप्रसादजी जैन एम० ए० ९८

३ हिन्दी भाषाके कुछ ग्रन्थोंकी नई खोज— [परमानन्द जैन १०१

४ किसकी जीत (कविता)— ··· नेमिचन्द्र जैन 'विनम्र' १०६

५ वादीचन्द्र रचित अम्बिका कथासार—श्री अगरचन्द नाहटा १०७

६ मलयकीर्ति और मूलाचार— ··· ··· परमानन्द जैन १०९

७ बागड़ प्रान्तके दो दिगम्बरजैन मन्दिर— [परमानन्द जैन ११२

८ पं० दीपचन्दजी शाह और उनकी रचनाएँ— [परमानन्द शास्त्री ११३

९ सम्यग्दृष्टि और उसका व्यवहार — [क्षुल्लक सिद्धिसागर ११७

१० पोमहराम और भ० ज्ञानभूषण— ··· [परमानन्द जैन ११९

११ मुक्तिगान (कविता)— ··· [श्री 'मनु ज्ञानार्थी' १२०

किरण ५—

१२ समन्तभद्र-भारती (देवागम) ··· [युगवीर १२१

१३ श्रीवीर जिनपूजाष्टक (कविता)—[जुगलकिशोर मुख्तार १२९

१४ हुबंड या हूमड वंश और उसके महत्वपूर्ण कार्य—

[परमानन्द जैन शास्त्री १२३

१५ पंडित और पंडित-पुत्रोंका कर्तव्य—[क्षुल्लक सिद्धिसागर १२८

१६ अस्गी जीवोंकी परम्परा - [डा० हीरालालजी एम० ए० १२९

१७ साहित्य-परिचय और समालोचन— [परमानन्द जैन १३२

१८ अभिनन्दन पत्र— १३४

१९ श्री धवल ग्रंथराजके दर्शनोंका अपूर्व आयोजन—परमानन्द जैन १३५

२० श्री हीराचन्द बोहराका नम्रनिवेदन और कुछ शंकाएँ— १३६

[जुगलकिशोर मुख्तार

२१ श्री० प० मुख्तार सा० से नम्र निवेदन—

[श्री० हीराचन्द बोहरा बी० ए० १४२

जन्म-जयन्ती

जैन समाजके सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार, अपने जीवन के ७७वें वर्षको पूरा कर, मंगशिर शुक्ला एकादशी दिन सोमवार ता० ६ दिसम्बर को ७८वें वर्षमें प्रवेश कर रहे हैं। हमारी हार्दिक कामना है कि मुख्तार साहब शतवर्ष जीवी हों।

परमानन्द जैन—

समाधितन्त्र और इष्टोपदेश

वीरसेवामन्दिरसे प्रकाशित जिस 'समाधितन्त्र' ग्रन्थके लिये जनता अर्सेसे लालायित थी वह ग्रन्थ इष्टोपदेशके साथ इसी सितम्बर महीनेमें प्रकाशित हो चुका है। आचार्य पूज्यपादकी ये दोनों ही आध्यात्मिक कृतियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। दोनों ग्रन्थ संस्कृत टीकाओं और पं० परमानन्दजी शास्त्रीके हिन्दी अनुवाद तथा मुख्तार जुगलकिशोरजीकी खोजपूर्ण प्रस्तावनाके साथ प्रकाशित हो चुका है। अध्यात्म प्रेमियों और स्वाध्याय प्रेमियोंके लिये यह ग्रन्थ पठनीय है। ३५० पेजकी सजिल्द प्रतिका मूल्य ३) रुपया है।

अनेकान्तकी सहायताके सात मार्ग

(१) अनेकान्तके 'संरक्षक'-तथा 'सहायक' बनना और बनाना।

(२) स्वयं अनेकान्तके ग्राहक बनना तथा दूसरों को बनाना।

(३) विवाह-शादी आदि दानके अवसरों पर अनेकान्तको अच्छी सहायता भेजना तथा भिजवाना।

(४) अपनी ओर से दूसरोंको अनेकान्त भेंट-स्वरूकर अथवा फ्री भिजवाना; जैसे विद्या-संस्थाओं लायब्रेरियों, सभा-सोसाइटियों और जैन-अजैन विद्वानों।

(५) विद्यार्थियों आदिको अनेकान्त अर्ध मूल्यमें देनेके लिये २५), ५०) आदिकी सहायता भेजना। २५ की सहायतामें १० को अनेकान्त अर्धमूल्यमें भेजा जा सकेगा।

(६) अनेकान्तके ग्राहकोंको अच्छे ग्रन्थ उपहारमें देना तथा दिलाना।

(७) लोकहितकी साधनामें सहायक अच्छे सुन्दर लेख लिखकर भेजना तथा चित्रादि सामग्रीको प्रकाशनार्थ जुटाना।

नोट—दस ग्राहक बनानेवाले सहायकोंको 'अनेकान्त' एक वर्ष तक भेंट-स्वरूप भेजा जायगा।

सहायतादि भेजने तथा पत्रव्यवहारका पता:—
मैनेजर 'अनेकान्त'
वीरसेवामन्दिर, १, दरियागंज, देहली।

समन्तभद्र विचार-दीपिका, सेवाधर्म और परिग्रहका प्रायश्चित इन तीनों पुस्तकोंमें से प्रथम पुस्तक बाँटनेके लिये १४) सैकड़ा और दूसरी दोनों पुस्तकें ७) सैकड़ा पर दी जाती हैं।

मैनेजर—वीरसेवामन्दिर

ॐ अर्हम्
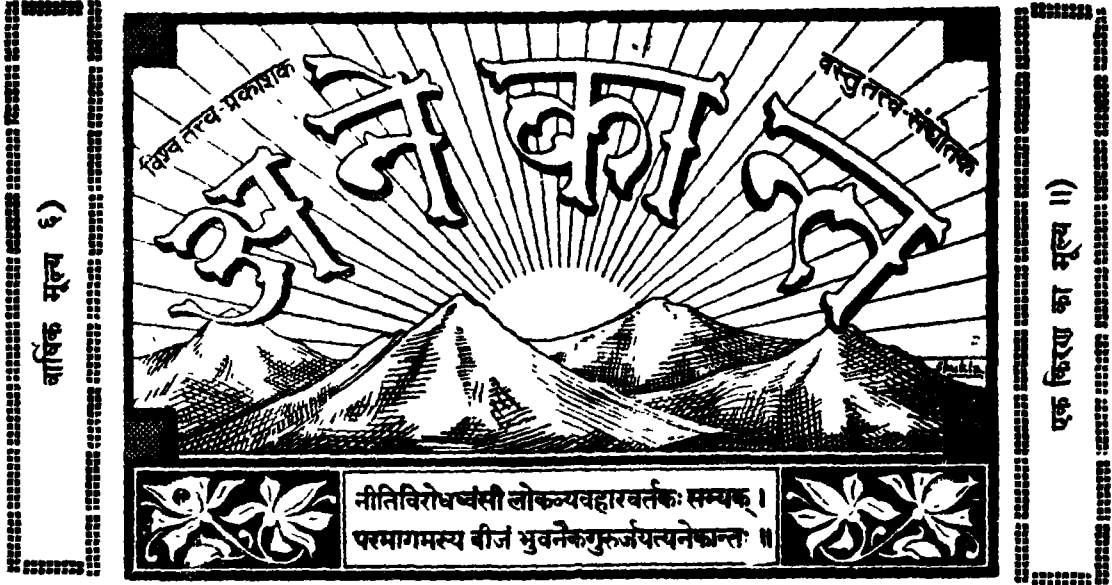
वर्ष १३ किरण ४ | वीरसेवामन्दिर, दरियागंज, देहली | अक्तूबर
कार्तिक वीर नि० संवत् २४८०, वि० संवत् २०११ | १९५४

समन्तभद्र-भारती

देवागम

नास्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽविनाभाव्येक धर्मिणि ।
विशेषणत्वाद्वैधर्म्यं यथाऽभेद-विवक्षया ॥१८॥

(इसी तरह) एक धर्ममें नास्तित्व धर्म अपने प्रतिषेध्य (अस्तित्व) धर्म के साथ अविनाभावी है—अस्तित्व धर्मके बिना वह नहीं बनता—क्योंकि वह विशेषण है—जो विशेषण होता है वह अपने प्रतिषेध्य (प्रतिपक्ष) धर्मके साथ अविनाभावी होता है—जैसे कि (हेतु प्रयोगमें) वैधर्म्य (व्यतिरेक हेतु) अभेद-विवक्षा (साधर्म्य या अन्वय हेतु) के साथ अविनाभाव सम्बन्धको लिए रहता है—अन्वय (साधर्म्य) के बिना व्यतिरेक (वैधर्म्य) और व्यतिरेक के बिना अन्वय घटित ही नहीं होता।'

विधेयप्रतिषेध्यात्मा विशेष्यः शब्दगोचरः ।
साध्यधर्मो यथा हेतुरहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥१९॥

'जो विशेष (धर्मी या पक्ष) होता है वह विधेय तथा प्रतिषेध्य-स्वरूप होता है—विधिरूप अस्तित्व धर्म-और निषेधरूप नास्तित्वधर्म दोनोंको अपना विषय किए रहता है; क्योंकि वह शब्दका विषय होता है—जो जो शब्दका विषय होता है वह सब विशेषण विधेय-प्रतिषेध्यात्मक हुआ करता है। जैसेकि साध्यका जो धर्म (एक) विवक्षा से हेतु (साधन) रूप होता है वह (दूसरी विवक्षासे अहेतु (असाधन) रूप भी होता है। उदाहरणके लिये साध्य जब अग्निमान है तो धूम उसका साधन—अनुमान-द्वारा उसे सिद्ध करनेमें समर्थ—होता है और साध्य जब जलवान् है तो धूम उसका असाधन—अनुमान-द्वारा उसे सिद्ध करनेमें असमर्थ—होता है। इस तरह धूममें जिस प्रकार हेतुत्व और अहेतुत्व दोनों धर्म हैं उसी प्रकार जो कोई भी शब्दगोचर विशेष्य है वह सब अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मोंको साथमें लिए हुए होता है।'

शेष भंगाश्च नेतव्या यथोक्त-नय-योगतः ।
न च कश्चिद्विरोधोऽस्ति मुनीन्द्र! तव शासने ।२०।

'शेष भंग जो अवक्तव्य, अस्त्यवक्तव्य, नास्त्यवक्तव्य

और अस्ति-नास्त्यवक्तव्य हैं वे भी यथोक्तनयके योगसे नेतव्य हैं—पहले तीन भंगोंको जिस प्रकार विशेषणत्वात् हेतुसे अपने प्रतिपक्षीके साथ अविनाभाव सम्बन्धको लिए हुए उदाहरण-सहित बतलाया गया है उसी प्रकार ये शेष भंग भी जानने अथवा योजना किये जाने के योग्य हैं। (इन भंगोंकी व्यवस्था) हे मुनीन्द्रः—जीवादि तत्वोंके याथात्म्यका मनन करनेवाले मुनियोंके स्वामी वीरजिनेन्द्र ! —आपके शासन (मत) में कोई भी विरोध घटित नहीं होता है—क्योंकि वस्तु अनेकान्तात्मक है।'

एवं विधि-निषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत् ।
नेति चेन्न यथा कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः ॥२१॥

'इस प्रकार विधि-निषेधमें जो वस्तु अवस्थित (अवधारित) नहीं है—सर्वथा अस्तित्वरूप या सर्वथा नास्तित्वरूपसे निर्धारित एवं परिगृहीत नहीं है—वह अर्थ-क्रियाकी करनेवाली होती है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो बाह्य और अन्तरंग कारणोंसे कार्यका निष्पन्न होना जो माना गया है वह नहीं बनता—सर्वथा सत्‌रूप या सर्वथा असत्‌रूप वस्तु अर्थक्रिया करनेमें असमर्थ है, चाहे कितने भी कारण क्यों न मिलें, और अर्थ-क्रियाके अभावमें वस्तुतः वस्तुत्व बनता ही नहीं।'

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्त-धर्मणः ।
अङ्गित्वेऽन्यतमांतस्य शेषांतानां तद(दा)ङ्गता॥२२

'अनन्तधर्मा धर्मीके धर्म-धर्ममें अन्य ही अर्थ संनिहित है—धर्मीका प्रत्येक धर्म एक जुदे ही प्रयोजनको लिए हुए है। उन धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मके अङ्गी (प्रधान) होने पर शेष धर्मोंकी उसके अथवा उस समय अंगता (अप्रधानता) हो जाती है—परिशेष सब धर्म उसके अङ्ग अथवा उस समय अप्रधान रूपसे विवक्षित होते हैं।

एकाऽनेक-विकल्पादावुत्तरत्राऽपि योजयेत् ।
प्रक्रियां भङ्गिनीमेनां नयैर्नय-विशारदः ॥२३॥

'जो नय-निपुण है वह (विधि-निषेधमें प्रयुक्त) इस भंगवती (सप्त भङ्गवती) प्रक्रियाको आगे भी एक अनेक जैसे विकल्पादिकमें नयोंके साथ योजित करे—जैसे सम्पूर्ण वस्तुतत्त्व कथंचित् एकरूप है, कथंचित् अनेक रूप है, कथंचित् एकाऽनेकरूप है, कथंचित् अवक्तव्यरूप है, कथंचित् एकावक्तव्यरूप है, कथंचिदनेकावक्तव्यरूप है और कथंचिदेकाऽनेकाऽवक्तव्यरूप है। एकत्वका अनेकत्वके साथ, और अनेकत्वका एकत्वके साथ अविनाभावसम्बन्ध है और इसलिये एकत्वके बिना अनेकत्व और अनेकत्वके बिना एकत्व नहीं बनता; न वस्तुतत्त्व सर्वथा एकरूपमें या सर्वथा अनेक-रूपमें व्यवस्थित ही होता है, दोनोंमें वह अनवस्थित है और तब ही अर्थक्रियाका कर्ता है; एकत्वादि किसी एकधर्मके प्रधान होने पर दूसरा धर्म अप्रधान हो जाता है।'

[इसके आगे अद्वैतादि एकान्तपक्षोंको लेकर, उनमें दोष दिखलाते हुए, वस्तु-व्यवस्थाके अनुकूल विषयका स्पष्टी-करण किया जायगा।]

इति प्रथमः परिच्छेदः।

—'युगवीर'

चन्देलयुगका एक नवीन जैन-प्रतिमालेख

(सं०—प्रो० ज्योति प्रसाद जैन एम. ए. एल. एल. बी., लखनऊ)

विन्ध्य प्रदेश में अजयगढ़ एक प्राचीन नगर है। इसे राजा अजयपालने बसाया था। पर्वतके शिखर पर एक सुदृढ़ कोट युक्त दुर्ग बना हुआ है। इस दुर्गमें प्रवेश करनेके लिये एक के बाद एक, पांच फाटक पार करने पड़ते हैं। क़िलेके भीतर, पहाड़को काटकर दो कुण्ड बने हुए हैं, जिन्हें गंगा और यमुना कहते हैं। इनमेंसे एक अजयपाल सरोवरके नामसे प्रसिद्ध है।

अजयगढ़के इस अजयपालसरोवरके पश्चिमीतट पर बने हुए ईंटोंके एक ध्वंस घेरेके भीतर लखनऊ विश्वविद्यालयके इति-हास प्राध्यापक डा० आर० के० दीक्षितको लगभग तीन वर्ष हुए, प्रस्तुत लेख एक खण्डित तीर्थङ्कर प्रतिमाके आसन पर अङ्कित मिला था। प्रतिमाका ऊपरी भाग गायब था, खंडित अधोभाग एवं आसन ही अवशिष्ट था। आसन पर लेखके मध्य एक पक्षीका चिन्ह बना हुआ था। चौबीस तीर्थंकरोंमें से पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथका ही लाञ्छन एक पक्षी-अर्थात् चक्रवाक् है। अतः यह प्रतिमा तीर्थंकर सुमतिनाथको ही

अनुमानित की जाती है।

लाञ्छनके साथ ही तीन पंक्तियोंका जो संक्षिप्त लेख अङ्कित है वह निम्न है:—

प्रथम पंक्ति—"ॐ सम्वत् १३३१ वर्षे फाल्गुणवदि ११ बुधे श्री मूलसंघे प्रथित ···

द्वितीय पंक्ति—मुनि कुन्दकुन्दाः श्रीमद् वीरवर्मदेव राज्ये आचार्य धनकीर्त्तिः

तृतीय पंक्ति—आचार्य कुमुदचन्द्रेण प्रतिष्ठाका······"

लेख नागरी लिपि तथा संस्कृत भाषाका है, संक्षिप्त और त्रुटित है। किन्तु इससे इतना स्पष्ट है कि विक्रम सम्वत् १३३१ (सन् १२७४ ई०) को फाल्गुणवदि ११ बुधवारको उपरोक्त जिनेन्द्र प्रतिमाकी प्रतिष्ठा, संभवतः अजयगढ़में ही, मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वयके आचार्योंने वीर वर्मदेवके राज्यमें कराई थी। प्रतिष्ठाकार्यसे सम्बंधित जिन दो आचार्योंका नाम लेखमें पढ़ा जाता है वे आचार्य धनकीर्त्ति और आचार्य कुमुदचन्द्र हैं।

अजयगढ़ विन्ध्यभूमि—वर्तमान बुन्देलखण्डके जिस भागमें अवस्थित है वह उस कालमें जेजाकभुक्तिके नामसे प्रसिद्ध था। वर्तमान जुझौति या जुझौत उसीका अपभ्रंश है। जेजाकभुक्ति प्रदेश पर उसकालमें चन्देलवंशका राज्य था। चन्देलोंकी राजधानी खजुराहो (खर्जूरपुर) अपनी सुन्दरता, समृद्धि तथा अपने अभूतपूर्व, विशाल एवं उत्कृष्ट मनोरम कलापूर्ण जैन शैव और वैष्णव देवालयोंके लिये सर्वत्र प्रसिद्ध थी। इस वंशकी नींव ९वीं शताब्दी ईस्वीके पूर्वार्धमें (अनुमानतः ८३१ ई० में) नन्नुक नामक चन्देल वीरने डाली थी। चन्देल अनुश्रुतिके अनुसार चन्देले राजपूत चन्द्रात्रेय ऋषिकी सन्तान थे और चन्द्रब्रह्म उनका पूर्व पुरुष था। कन्नौजके गुर्जरप्रतिहारोंकी अवनतिसे लाभ उठाकर चन्देलोंने विन्ध्य प्रदेश पर अपना राज्य स्थापित किया था। इस वंशमें अनेक प्रतापी नरेश हुए और दशवीं शताब्दी ईस्वीके उत्तरार्ध में जेजाकभुक्तिकी चन्देलशक्ति उत्तरीभारतकी सर्वाधिक शक्तिशाली एवं सम्पन्न राज्य सत्ता थी। चंदेल नरेश जहाँ विजयी वीर और कुशलशासक थे वहां वे कला-कौशल के भी भारी आश्रयदाता थे। खजुराहो आदिके तत्कालीन अत्यंत भव्य, विशाल एवं कलापूर्ण जैन अजैन मंदिरोंके भग्नावशेषोंको देखकर आजभी कलाविशेषज्ञ चंदेल शिल्पियोंके अपूर्व कलाकौशलकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं, और यह कहाजाता है कि चंदेलकलाके ये नमूने उस युगकी भारतीय कलाके सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि हैं जबकि वह—हिन्दू जैन कला अपने चरमोत्कर्ष पर थी।

साथ ही यद्यपि अधिकांश चंदेल नरेश शैव या वैष्णव थे तथापि खजुराहो, अहार, देवगढ़, पपौरा और अजयगढ़ आदिके तत्कालीन जैन अवशेषोंकी बहुलता, उत्कृष्ट कलापूर्णता एवं विशालता यह सूचित करती है कि जैनधर्मके प्रति वे अत्यन्त सहिष्णु थे, राज्यवंशके अनेक व्यक्ति जैनधर्मानुयायी भी रहे हों तो कुछ आश्चर्य नहीं, कमसे कम चंदेलराज्यमें जैनोंकी संख्या समृद्धि एवं प्रभाव तो अवश्य अत्यधिक रहे प्रतीत होते हैं। खजुराहोसे प्राप्त विक्रम सम्वत १०१२ (सन् ९५५ ई० के एक शिलालेखमें (देखिये इपि-इंडि. १, १३५-६) चंदेल-नरेश धंग द्वारा सन्मानित पाहिल नामक एक दानशील धर्मात्मा जैन सज्जन द्वारा तत्स्थानीय जिनमंदिरके लिये अनेकों दान दिये जाने उल्लेख हैं। खोज करने पर ऐसे और भी अनेक शिलालेख प्राप्त हो सकते हैं।

इस वंशमें लगभग २२ या २३ नरेशोंके होनेका अब तक पता चला है। उपरोक्त धंग इस वंशका सातवाँ राजा था और पृथ्वीराज चौहानका समकालीन प्रसिद्ध (चंदेल नरेश परमर्द्धिदेव) जिसके राज्यकालमें अहारकी प्रसिद्ध विशाल काय शान्तिनाथ प्रतिमाकी संवत् १२३७ (सन् ११८० ई०) में प्रतिष्ठा हुई थी, वह इस वंशका सोलहवाँ राजा था। उसके पश्चात् त्रैलोक्यवर्मदेव सिंहासन पर बैठा। वीरवर्मदेव चंदेल इस वंशका बीसवाँ राजा था। इसके शिलालेख संवत् १३११ से १३४२ (सन् १२५४ से १२८५ तकके मिलते हैं। प्रस्तुत प्रतिमा लेखमें उल्लेखित श्रीमद् वीरवर्मदेव था इसमें सन्देह नहीं।

अहार आदि स्थानों से प्राप्त चन्देलकालके अनगिनित जैन प्रतिमालेखोंमें (देखिये अनेकान्त वर्ष १०, किरण १से४) सम्भवतया यही अबतकके उपलब्ध लेखोंमें एक ऐसा लेख है जिसमें मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय के उल्लेख सहित और आचार्य विशेषणसे युक्त जैन गुरुओंका उल्लेख है। अधि-कांश लेखोंमें तो मात्र प्रतिष्ठा करानेवाले गृहस्थ स्त्री पुरुषों के नाम, जाति, वंश आदिका परिचय है। कुछ लेखोंमें कतिपय आर्यिकाओंके तथा कुछमें ऋषि विशेषणयुक्त कतिपय गुरुओंके नाम हैं, जिनकी प्रेरणासे उक्त मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कराई गई थीं। इन गुरुओंके संघ, गण, गच्छ आदिका कुछ पता नहीं चलता, न यही मालूम होता है कि वे निर्ग्रन्थ

साधु थे अथवा भट्टारक थे अथवा त्यागी श्रावक—ऐल्लक क्षुल्लक आदि थे। किन्तु इस शिलालेखमें दक्षिणात्य शैली-के अनुरूप ही संघ, अन्वयकी सूचना सहित प्रतिष्ठाकारक आचार्योंका नामोल्लेख हुआ है।

जिन धनकीर्ति और कुमुदचन्द्र नामक दो आचार्योंका उल्लेख हुआ है उनमें भी परस्पर क्या सम्बन्ध था, यह लेखके त्रुटित होनेके कारण जान नहीं पड़ता। आचार्य धनकीर्तिका नाम तो अपरिचित सा लगता है, किन्तु कुमुद-चन्द्र नाम परिचित है। इस नामके कई आचार्योंके होनेके उल्लेख मिलते हैं।

एक कुमुदचंद्र तो प्रसिद्ध कल्याणमन्दिर स्तोत्रके कर्त्ता-के रूपमें विख्यात हैं। वे दसवीं और तेरहवीं शताब्दीके मध्य ही किसी समय हुए प्रतीत होते हैं।

दूसरे दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र वे हैं जो श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रके समकालीन थे और जिन्होंने अन्हिलपुर पट्टनके सोलंकी नरेश सिद्धराज जयसिंहकी राज-सभामें जाकर श्वेताम्बराचार्योंके साथ शास्त्रार्थ किया था कहा जाता है। किन्तु यह घटना १२वीं शताब्दीके मध्यके लगभग की है। सम्भव है उक्त दोनों कुमुदचन्द्र अभिन्न हों।

तीसरे कुमुदचन्द्र आचार्य माघनन्दि सिद्धान्तदेवके गुरु थे। द्वार समुद्रके होयसल नरेश नरसिंह तृतीयके हल-बीड नामक स्थानसे प्राप्त सन् १२६५ ई० के बेन्नेगुड्डे शिलालेख (M.A.R. for 1911, p. 49, Mad. J. pp. 84-85) के अनुसार उक्त होयसल नरेशने अपने गुरु माघनन्दी सिद्धान्तदेवको दान दिया था। ये आचार्य मूलसंघ बलात्कारगणके थे और इनके गुरुका नाम कुमु-देन्दु योगी था। कुमुदेन्दु और कुमुदचन्द्र पर्यायवाची हैं, और इस प्रकार पर्यायवाची नामोंका एक ही गुरुके लिये बहुधा उपयोग हुआ है।

इन्हीं माघनन्दी सिद्धान्तदेवके प्रधान शिष्य भी एक कुमुदचन्द्र पंडित थे जो चतुर्विध ज्ञानके स्वामी और भारी वाग्मी एवं वाद-विजेता बताये गये हैं। (देखिये वही शि० लेख) ये चौथे कुमुदचन्द्र हैं।

पांचवें कुमुदचन्द्र भट्टारकदेव सम्भवतया कारकलके भट्टारक थे। वे मूलसंघ कानूरगणके आचार्य थे और भानु-कीर्ति मलधारीदेवके प्रधान शिष्य थे। इनके द्वारा निर्मित शान्तिनाथ वसदि नामक जिनालयको कारकलके साम्रार नरेश लोकनायरसके राज्यकालमें, सन् १३३४ ई० में, राजाकी दो बहिनों द्वारा दान दिये जानेका उल्लेख एक शिलालेखमें मिलता है। (M. J., p.361, S. I. I. vii, 247, pp. 124-125; 71 of 1901) लेखसे यह पता नहीं चलता कि ये कुमुदचन्द्र तत्कालीन भट्टारक थे और उक्त दानके समय विद्यमान थे अथवा उसके कुछ समय पूर्व ही हो चुके थे।

ये पाँचों ही कुमुदचन्द्र मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वयके आचार्य थे इनमेंसे प्रथम चारमें कोई भी दो या तीन तक अभिन्न भी हो सकते हैं किन्तु सन् १२७४ ई० में वीरवर्म-देव चन्देलेके राज्यान्तर्गत उत्तर भारतमें स्थित अजयगढ़में सुमतिनाथ तीर्थंकरकी प्रतिमाकी प्रतिष्ठा करानेवाले इनमेंसे चौथे अथवा पाँचवें कुमुदचन्द्र ही हो सकते हैं। कारकलके भट्टारकके गुरु भानुकीर्ति भी कीर्तिनामांत थे अतः सम्भव है धनकीर्ति इन कुमुदचन्द्र भट्टारकदेवके कोई गुरुभाई रहे हों। निर्ग्रन्थ मुनियोंकी अपेक्षा सवस्त्र भट्टारकोंका जो गृह-स्थाचार्य जैसे होते थे और प्रतिष्ठा आदि कार्योंमें अधिक भाग लेते थे सुदूर प्रदेशोंमें गमनागमन भी अधिक सहज था। किन्तु यदि वे सन् १३३४ में जीवित थे तो प्रस्तुत प्रतिष्ठाकार्यमें उनका योग देना असम्भव सा लगता है। इसके अतिरिक्त, माघनन्दि सिद्धान्तदेवके शिष्य कुमुदचन्द्र पंडितका भारी विद्वान एवं वादप्रिय होनेके कारण सुदूर उत्तरमें विहार करना और प्रतिष्ठाकार्य सम्पादन करना भी नितान्त सम्भव प्रतीत होता है, विशेषकर स्वसमयकी दृष्टि-से वही एक ऐसे कुमुदचन्द्र हैं जो सन् १२७४ ई० में अवश्य ही विद्यमान रहे होंगे।

मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वयके अन्तर्गत नन्दिसंघ, बलात्कार-गण, सरस्वतीगच्छके भट्टारकोंकी गद्दियोंका उज्जयनि, भेलसा, ग्वालियर, बारा, कुण्डलपुर और स्वयं बुन्देलखण्ड-के चन्देरी नामक स्थानमें भी इस कालमें स्थापित हो जाना पाया जाता है, किन्तु समस्त स्थानोंकी पट्टावलियोंमें १३वीं शताब्दी ई० में और उसके आगे पीछे भी पर्याप्त समय तक कुमुदचन्द्र या धनकीर्ति नामके किसी गुरुका होना नहीं पाया जाता।

यदि किसी विद्वानको इस सम्बन्धमें कुछ विशेष जान-कारी हो तो प्रकाश डालनेकी कृपा करेंगे।

हिन्दी-भाषाके कुछ ग्रन्थोंकी नई खोज

भारतीय वाङ्मयमें जैनसाहित्यकी प्रचुरता और विशालता उसकी महत्ताकी द्योतक है। संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश, मराठी, गुजराती, राजस्थानी कनाडी, बंगाली तामिल आदि विविध भाषाओंमें जैनसाहित्यकी रचना की गई है। व्याकरण, छन्द काव्य कोष, अलंकार, आयुर्वेद ज्योतिष, सिद्धान्त, साहित्य, दर्शन, कथा, पुराण चरित्र इतिहास और धातु-रत्न-मुद्रादि विषयों पर जैनसाहित्य प्रचुर मात्रामें लिखा गया है। कितना ही साहित्य राज्य विप्लव और साम्प्रदायिक विद्वेष आदिके कारण विनष्ट हो गया है। फिर भी जो कुछ किसी तरह अवशिष्ट रह गया है वह विविध शास्त्रभंडारों में छितरा पड़ा हुआ अपने जीवनकी सिसकियाँ ले रहा है। यदि उनसे उसका समुद्धार नहीं किया गया, तो फिर हमें उसके अस्तित्वसे सदा के लिए वंचित रहना पड़ेगा। संस्कृत प्राकृतादिके साहित्यको छोड़कर हिन्दी भाषाका बहुतसा साहित्य अभीतक विद्वानोंकी दृष्टिसे ओझल पड़ा हुआ है, जिसके प्रकाशमें लानेका कोई ठोस प्रयत्न नहीं हो रहा है। खासकर गुच्छक ग्रन्थोंमें प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और हिंदी की अनेकों अश्रुतपूर्व रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। हिन्दी भाषादिकी ऐसी कुछ अज्ञात रचनाओंका परिचय देना ही इस लेखका प्रमुख विषय है। आशा है विद्वान् इस प्रकारके नूतन अज्ञात एवं अप्रकाशित साहित्यको प्रकाशमें लानेका यत्न करेंगे।

षट् प्राभृत पद्य—

आचार्य कुन्दकुन्द बहुश्रुत विद्वान थे। उनकी उपलब्ध रचनाओंमें षट्पाहुड ग्रन्थ अपनी खास विशेषता रखता है। षट् पाहुडपर ब्रह्मश्रुतसागरकी संस्कृत टीका भी मुद्रित हो चुकी है और पं० जयचंदजी कृत हिन्दी टीका भी प्रकाशित है। देहलीके पंचायती मन्दिरमें उसका हिन्दी दोहा पद्यानुवाद उपलब्ध हुआ है जिसकी पत्रसंख्या ३५ है। और प्रतिलिपि सम्वत् १८५६ कार्तिक शुक्ला द्वितियाकी लिखी हुई है। जिसका परिचय नीचे दिया जाता है—जिससे पाठक पद्यानुवादके रहस्यसे सहज ही परिचित हो सकेंगे।

इस पद्यानुवादके रचयिता जिनदासके पुत्र देवीसिंह थे जिनका दूसरा नाम चिन्तामनि था। इनके भाईका नाम नवलसिंह था। और तुलसाबाई नामकी एक बहिन भी थी जिसने शास्त्रोंका अच्छा अभ्यास किया था और जिनपूजादिमें रत रहती थी। चिन्तामनकी जाति खंडेलवाल थी और गोत्र था 'सावड़ा'। इन्होंने इस ग्रंथकी रचना विक्रम संवत् १८०१ में कूरमवंशके राजा गजसिंहके पुत्र छत्रसिंघके राज्यमें की है*। पद्यानुवादके कुछ दोहे मूल गाथाओंके साथ दिये जा रहे हैं।

दंसणमूलो धम्मो उवइट्ठो जिणवेरहिं सिस्साणं।
तं सोऊणसकरणे दंसणहीणो ण वंदिव्वो ॥१॥
मूल धम्म दंसन अमल, सुनो भव्य निज कान।
दंसन हीन न वंदिए, भाष्यो श्रीभगवान ॥२॥
दंसण भट्टा भट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरिय भट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति ॥३॥
दंसन भ्रष्ट सुभ्रष्ट है, ताकों मुकति न होइ।
तिरे भ्रष्टचारित्र फिर दंसण भ्रष्ट न कोइ ॥ ३ ॥
सम्मत्तरयण भट्टा जाणंता बहुविहाइं सत्थाइं।
आराहणा विरहिया भमंति तत्थेव तत्थेव ॥ ४ ॥
सत्य-रतन आराधना इनसौं जे नर भ्रष्ट।
जद्यपि बहु विधि-श्रुत पढ़ैं तिनकौ भवभव नष्ट

× × × ×

हरिहर तुल्लो वि णरो सग्गं गच्छेइ एइ भवकोडी।
तह वि ण वावदू सिद्धिं संसारत्थो पुणो भणिदो ॥८॥
हरिहरसम नर स्वर्ग प्रति फिरिफिरि आवैं जाइ।
लहैं न शिव भवकोटिलौं संसारी अधिकाय ॥
णिच्चेल पाणिपत्तं उवइट्ठं परम जिणवरिंदेहिं।
एक्को वि मोक्खमग्गो सेसा य अमग्गया सव्वे ॥१०॥

---

* जिनसेवक जिनदास सुत, देवीसींघ सुजान।
गोत सावड़ा प्रकट है, खंडेल वाल सुख धाम ॥
कवित्तछन्द—जिनपदनमों चिंतामनि ममनाम।
भाषैं देवी सींघ सब रूदनाम जगकाम ॥
नवलसिंघ भाई भलौ जिनचरणनिकौ दास।
बाई तुलसा बहिननें कीनों श्रुत अभ्यास ॥
जिन पूजाश्रुत दयामय उभय पढ़त दिन रैन।
भाषा षट्पाहुड सुनैं धरैं सुउरमें चैन ॥
छत्रसिंघ नरवर पती राजत कूरमवंश।
बुद्धिवान गजसिंघ सुत, निजकुल को अवतंश ॥

पाणिपात्र ताको कह्यो जो नागो सरवंग ।
यही एक मारग मुकत और अमारग संग ।।

× × × ×

बालग्गि कोडिमत्तं परिगह गहणं ण होइ साहूणं ।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिएणएणं इक्कठाणम्मि ।।१७।।

बालअग्र सम वस्तुको, साधु ना राखत पास ।
दिनमें भोजन बार इक, पानि-पात्र विधि तास ।।

× × × ×

संजमसंजुत्तस्स य सुज्झाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स ।
णाणेण लहदि लक्खं तम्हा णाणं च णायव्वं ।।२०।।

बोध पा.

संजम सम्यक् ध्यानके साधे मुकतिकौ पंथ ।
इनकौ कारण ज्ञान है साधत गुरु निर्ग्रन्थ ।।

× × × ×

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर ।
अत्तावणेण जादो वाहुबली कित्तियं काले ।।४४

भाव पा०

देह आदि सब संग्रह तज्यौ छूट्यो मान कषाय ।
बाहूबलि कछु काल तक लियो न ज्ञान अघाय ।।
महुपिंगो णाम मुणी देहाहारादि चत्त वावारो ।
सवणत्तणं ण पत्तो णियाणमित्तेण भवियणुव ।।४५

भा० पा०

मधुपिंग मुनिने तजि दिये तनु आहार व्यापार ।
श्रमण भावना विन सतो भटक्यौ भव संसार ।।

ऊपर जिन पद्योंका दोहानुवाद बतौर नमूनेके दिया गया है उससे पाठक दोहानुवादके पद्योंकी भाषादिका परिज्ञान सहज कर सकते हैं। इस तरहके गद्य पद्य रूप अनेक ग्रंथ अभी ग्रन्थ भंडारोंमें उपलब्ध होते हैं ।

दिल्लीके पंचायती मन्दिरके शास्त्र भंडारका अवलोकन करते हुए एक गुटकेमें जिसकी पत्र संख्या १६६ है, गुटकेकी मरम्मत करके जिल्द बंधाई गई है। गुटकेमें १६६ पत्रके दूसरी लिपिसे अपभ्रंश भाषाकी एक रचना खण्डित पाई जाती है। इस गुटकेमें ५८ ग्रन्थोंका संग्रह पाया जाता है जिनमें से प्रायः आधी रचनाएं नई हैं। इनमेंसे यहाँ कुछ रचनाओंका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है और शेष रचनाओंका केवल नामोल्लेख किया गया है। इसी तरह अन्य अनेक ज्ञानभंडारोंमें उपलब्ध गुच्छकोंमें सैकड़ों अज्ञात एवं अप्रकाशित ग्रन्थ मिल सकते हैं। जिनमें बहुमूल्य सामग्री पाई जाती है।

देहलीके इसी गुच्छकमें विक्रमकी १५वीं शताब्दीके उत्तरार्ध और १६वीं शताब्दीके पूर्वार्धके कवि रइधूकी 'सोहं' नामकी एक सुन्दर निम्न रचना प्राप्त हुई है जिसे ज्यों की त्यों नीचे दी जाती है :—

मोऽहं सोऽहं सोऽहं अण्ण न बीयउ कोई ।
पापु न पुण्ण न माणु न माया अलख निरंजणु सोई ।
सिद्धोऽहं स-विसुद्धोऽहं हो परमानन्द सहाउ ।
देहा भिण्णउ णाणमओहं णिम्मलु सासय भाउ ।
दंसण-णाणु-चरित्तणिवासो फेडिय भव-भव-पासो ।।
केवलणाणु गुणेहिं अखंडो, लोयालोयपयासो ।
रूप ण फासु ण गंधु ण सद्दो चेयण लक्खणु णिच्चो ।
पुरिस ण णारि ण बालुण बूढउ जम्म णु जासु ण मिच्चो ।।
काय वसंतु वि काय विहीणउ, भुजंता वि णभुंजइ ।
सामि ण किंकरु ईसु न रको कं भुवि एहु निवज्जइ ।
जणणी जणणु जि पुत्तु जि मित्त् भामिणि सयलकुडंबो
कोइ न दीसइ तुज्झ सहाई एहु जि मोहविडंबो ।।
हउं संकप्प-वियप्प-विवज्जिउ सहजसरूपसलीणउ ।
परम अतींदिय सम-सुख-मंदिरु सयल विभाउ-विहीणउ ।
सिद्धहं मज्झिजि कोइ म अंतरु णिच्छयणय जियजाणी
ववहारें बहुभाव मुणिज्जइ इम मणि झावहु णाणी ।
चित्तणिरोहति इंदिय जं तउ झावहि अंतरि अप्पा ।
'रइधू' अक्खइ कम्मदलणिणु जिमि तुझु होहि परमप्पा

सोहं नामकी एक दूसरी जयमाला भी गुटकेमें अङ्कित है जिसके कर्ताका नामादिक उपलब्ध नहीं है। रचना साधारण है।

स्वप्नावली (रासा)—इस ग्रन्थका विषय उसके

रासा अथवा रास परम्परा बहुत पुरानी है। जैन समाजमें रासा साहित्य अधिक तादादमें पाया जाता है। नृत्य वादित्र, ताल और उच्च लयके साथ जो गाया जाता था उसे रास अथवा रासक कहा जाता है विक्रमकी १०वीं सदीमें दिगम्बर कवि देवदत्त ने जो वीर कविके पिता थे 'अम्बा देवीरास' नामकी रचना रची थी जिसका उल्लेख सं० १०७६ में निर्माण होने वाले 'जम्बूसामीचरिउ' में वीर कविने किया है। विक्रमकी १२वीं तथा १३वीं से १६वीं तक रासाका बहुत प्रचार रहा है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें १२वीं शताब्दीसे

नामसे स्पष्ट है। इसमें भगवान आदिनाथकी माता मरुदेवी को दिखाई देने वाले सोलह स्वप्नोंका नाम और उनके फल-का कथन किया गया है। इसके रचयिता मुनि प्रतापचन्द्र हैं। प्रतापचन्द्रने इस ग्रन्थकी रचना कब की, यह ग्रन्थ परसे कुछ भी ज्ञात नहीं होता। चूंकि यह गुच्छक सं० १५०० के बाद लिखा गया है। अतः उसका रचनाकाल उससे पूर्व का होना ही चाहिये। ग्रन्थकी रचना सामान्य है। उसका आदि अन्त भाग निम्न प्रकार है —

आदि भाग :—

नाभिरायहं घरेमरुदेवी राणी तुंग तालंग सोतालिमतले
नीदभरे सोवंत सुपिनडे देखइ पछिमरयणिहि विगय-मले

अन्त भाग :—

यह जो गावइ सो मणि भावइ, एकुचित्त इकमणि जो सुणइ
सो णरु अविचलु सिव-सुहु-पावइ इम प्रतापचंदु मुनि भणइ

दूसरी रचना 'नेमिनाथ रासा' है— यह नौ पद्योंकी एक छोटी-सी रासा रचना है। जिसके कर्ता काष्ठासंघी मुनि कुमुदचन्द्र हैं, जो विमल मुनिके शिष्य थे। उक्तकृतिमें भी गुरु परम्परा और रचनाकालका कोई उल्लेख नहीं है। रचना का आदि अन्त भाग निम्न प्रकार है :—

तप जपु संजमु लोचणु सोसणु लंवण आइ णिरुत्तें।
होइ न मोक्खहं कारण वातू जामण पेखइ अप्पें ॥

इनकी तीसरी कृति 'आदिनाथ वीनती' है जिसमें आदि ब्रह्मा आदि जिनकी स्तुति की गई है। उसके एक पद्यमें कविने अपना नाम निम्न शब्दोंमें व्यक्त किया है। उसका आदि और नाम वाला वह पद्य निम्न प्रकार है :—

पणविवि आदि जिणेन्दु त्रिभुवण तारण जगतगुरु।
इन्द्र नरेन्द्र नमंति पाव पणासण सुख करण ॥
तुहु कइलासइ राउ कम्मं कलंकहं अवहरिउ।
मुक्ति वरंगण णाह, मयण महाभट मारियउ।

× × × ×

काष्ठ संघ मुणिसार कुमुदचंदु जति इम भणइ।
मामउ भाव धरेवि आगर जिनवर वीनतिय ॥

मनमोरा—नामकी एक चार छन्दों वाली छोटीसी रचना है जिसमें आत्मा को पराधीन एवं पतित करने वाले कषाय विषय, हिंसा और निष्ठुरता आदि दोषोंसे बचा कर अमतनरूपी सरोवरमें सोते हुए आत्माको जगानेका उपक्रम किया गया है। इसके रचयिता कवि पंडित जिनदास हैं। इस नामके अनेक विद्वान व्यक्ति हो गए हैं उनमेंसे यह कौन हैं और इनकी गुरु परम्परा क्या है यह रचना परसे कुछ ज्ञात नहीं होता। इनकी दूसरी कृति 'इन्द्र चन्द्र गीत' नाम की है जिसमें भगवान आदिनाथके जन्मोत्सवका कथन दिया हुआ है। रचनाका अन्तिम भाग इस प्रकार है :—

जिन कुणइ पाय न पासु घल्लहि चित्त पुरिस तणुकरे।
सातहु विसनहु चूरि खिउकरि रयणतिरिण समुधरे।
संतोष करि दय-धम्मु संजम, दुगइ णिवारणु तुहु वरु
हरि-कन्हु बंभु-जिणिंद सातुहु मोरु अत्थि कलायरु ॥

जिनवररास—इस रासके कर्ता ब्रह्मचारी 'ऊदू' हैं। प्रस्तुत रासमें ४० पद्य अङ्कित हैं उनमें ३२वें पद्यमें कविने अपने नामका उल्लेख किया है और छन्दकी अधिक हीणता होने पर कविजनोंसे उसे जोड़ने अथवा शुद्ध करनेकी प्रेरणा-भी की है।[१] रचना साधारण है ब्रह्मचारि ऊदू किसके शिष्य थे, यह अभी अज्ञात है :—

रचनाका आदि अन्त भाग इस प्रकार है :—

आदि भाग—

जिणु नवहु जिणुथुव जिणु मोर हियइ समाइ
दोस अठारह रहियउ ताकइ लाग उपाइ ॥१
सुरनर जा कहु सेवहि, मुनिगण सेव कराहिं।
दानव सेवहि पग नवहि, पातग झडि करि जाहिं ॥२

पूर्वका कोई रासा देखनेमें नहीं आया। कविवर देवदत्तका उक्त अम्बादेवी रास' अभी अनुपलब्ध है। खोज करने पर सम्भव है वह मिल जाय। उनके अन्य कई ग्रन्थभी अभी अप्राप्य हैं जो अपभ्रंश भाषामें लिखे गए हैं, जैसे वरांग चरित्र आदि।

श्री अगरचंदजी नाहटा १२वीं १३वीं शताब्दीके अपने उपलब्ध रासा साहित्यको प्राचीन बतलाते हैं परंतु जब सं० १०७६ के ग्रन्थमें 'अम्बादेवीरास' का उल्लेख मिलता है तब दिगम्बर सम्प्रदायमें उससेभी पूर्व रासपरम्पराके होनेकी सूचना मिलती है। डा० वासुदेवशरणजी अग्रवालने 'वाग्भट्ट' के द्वारा 'रासा' का उल्लेख करना बतलाया है। अत रास परम्परा प्राचीन जान पड़ती है।

---

[१] बंभचारि कव ऊदू जिनगुण नाहीं अतु।
सिद्ध वधू जिण रातउ विलसइ सरसु वसतु ॥३२

× × × ×

यहु रासउ जइ गायउ हम जिन दीजहु खोडि।
अधिक होणु जइ कीयउ कइयण लीजहु जोडि ॥३६

अन्त भाग—

जइ दुज्जण मुंह वंका, तो हम एहु सहाउ।
जे जिण सासण लीणा, ते हम करहु पसाउ ॥४०

इनकी दूसरी कृति 'बारह मासा' है जिसका आदि अंत भाग निम्न प्रकार है :—

आदि भाग—

पलिगिवई जेठ दुइजण करहिं मणोहर बाता।
चइतिहिं चित्तु उमाहिउ पिय चालहु जिण जाता ॥

अन्त भाग—

धनि जननी धनि बापु जेण सुह लक्खण जाइ।
धणि कणि पुराहं आगली धनि जिनलाइ ॥१२
वोल्हणदे गुण आगली फागुण पूनी आसा।
बंभयारि कवि ऊदू गाए बारह मासा ॥१३॥

सरणावली—यह एक छोटी सी रचना है जिसमें चतुर्विंशतितीर्थंकरोंकी स्तुति की गई है। इसके कर्ता कवि साहणपाल हैं। उक्त कृति परसे इनका कोई परिचय उपलब्ध नहीं होता। इसका आदि अन्त भाग निम्न प्रकार है—

'सरणुसरणुसिरिरिसहजिणिंदा, मरुदेवी नाभिनरेसरनंदा
अजितसरण महु तेरे पाय पइपहु जीते विषम कषाय।
संभवसामि सदा तव सरणु, हउं आयउ तइ मारिउ मरणु
अभिनंदन सरणागत राखे मुज्झहिं मुकतितियको मुहु दावहिं ॥

अन्तभाग—

अणुदिणु भणहु भवियधरि आउ यह हइ भयभंजणउ-उप्पाउ।
साहणपालभणइकरजोडि, भवियहं सरणु वहोडि वहोडि
अह-निसु सरणु रहहु हो आइ, यह कीरति गुणकीरति-पाई।

यशोधर पाथड़ी—इस पाथड़ी का रचयिता कौन है यह रचना पर से ज्ञात नहीं होता। इसमें सिर्फ दो कडवक हैं, यह रचना अपभ्रंश भाषा की है।

नेमिनाथरासा—इस रचनाके कर्ता कुमुदचन्द्र काष्ठासंघी हैं। इसमें भगवान नेमिनाथका गुन गान रासेमें किया गया है। उसका आदि अन्त भाग निम्न प्रकार है :—

आदि भाग :—

पहले पणमउ नेमिनाहु सरस घणिहि वासो,
सामल वरण सरीरु तासु बहु गुणह सहासो।
सोरठ देसु सुहावणउ बहु मंगल सादो,
घरि घरि गावइ कामिणी णं कोमल नादो।

अन्त भाग :—

काठसंघ मुणि कुमदचंदु इहु रासु पयासइ,
भणतहं गुणतहं भवियणह धरि संपइ होसइ।
णेमिणाथ कउ रासु एहु जो परिकरि गावइ,
जाण तणउ फलु होइ तासु जो जिणवर भावइ।

इनकी दूसरी कृति 'जोगी आर्या' नाम की है जिसका आदि अन्त भाग इसप्रकार है :—

आदि भाग :—

हउ जोगी जिनमारग जोगी सुभगुरु 'विमल मणिंदू,
माथुर संघह तिमिरु विहंडइ भविय कुमुदसिरिचंदू ॥१
ज्ञान-खडग करि रइवरु जीता पंच महाव्रत लीता,
पंच मारि दिढुआसणु कीना, सील-कछोटा कीता ॥२॥

अन्त भाग :—

सम्यग्दर्शन पाथडी—इसका आदि अंत भाग निम्न है :—

आदि भाग घत्ता—

भव-भय णिण्णासणो सिवपय सासणो कुणय विणासणु सुहकरणो। दंसण सुपवित्तउ, मलसु चयत्तउ तजि एकु दीसइ सरणो ॥

सम्मादंसणु सुह सम निहाणु, सम्मादंसणु अह तिमिरभाणु। सम्मा दंसणु तव-वय-पहाणु, सम्मादंसणु भव-उवहि जाणु ॥

× × × ×

अन्त भाग :—

ण एयहिं तित्तिकयाइं वि जाय, जिणेसर ण्वहि तुम्हह पाय। णियत्थि विमरिणउ अप्पउ धरणु, चउगइ दुक्खह षाणिउ दिण्णु। जगत्तय सामिय दुल्लह बोहि, दुहक्खउ उत्तम देहि समाहि ॥ घत्ता—पइवंदहि अप्पउ णिंदहिं, जे णरवियलिय भव-दुहए। दुरिय डमंतो हंसु समब्भइं, कणयकित्ति सासुय सुहइं ॥२

आणंदा विधि—इसके कर्ता कवि महानन्दिदेव जान पड़ते हैं। इस रचनामें ४३ पद्य दिये हैं जो आत्मसम्बोधनकी स्प्रिट को लिये हुए हैं। उसका आदि अन्त भाग इस प्रकार है :—

आदि भाग—

चिदाणंदु साणंदु जिणु सयल सरीरह सोइ।
महाणंदि सो पूजियइ आणंदा गगन मंडलु थिरु होइ

अप्पु णिरंजणु अप्पु जिउ, अप्पा परमाणंदु ।
मूढ कुदेव न पूजियइ आणंदा गुरु विणु भूलउ अंधु ॥

अन्त भाग :—

सद्गुरु वारणि जाउ हउं भणइ महाणंदी देउ ।
आणंदा जाणिउ णाणियहं करमि चिदानंद सेउ ॥

मे मे दोहा—

इस कृतिका कर्ता कौन है, यह रचना परसे कुछ ज्ञात नहीं होता। इसमें चालीस दोहे दिये हुए हैं जो आत्म-सम्बोधनकी भावनाको लिये हुए हैं और जिनमें पापोंसे छूटनेकी प्रेरणा की गई है। रचना सामान्य होने परभी कोई २ दोहा मिष्ठाम्द और चुभता हुआ सा है जो हृदयमें आत्म कल्याणकी एक टीस जागृत करता है। पाठकोंकी जानकारीके लिये आदि अन्तके कुछ दोहे नीचे दिये जाते हैं :—

आदि भाग :—

मे मे करते जगु भमिउ, तेरउ किछू न अत्थि ।
पापु कियउ धनु संचियउ, किछू न चालिउ सत्थ ॥१
हउंकौं करतें जगु फिरिउ, लखि चउरासी जोणि ।
समकित विणु किमु पाइयउ, उत्तम माणुस जोणि ॥२॥
दया विहूणउ जीउ तुहु, बोलहि झूठ अपारु ।
इहु संसारु अगंधु जिया, किमि लंघहि भव पारु ॥३॥

अन्त भाग :—

गय ते जीव निगोद तुहु, सहियो दुक्ख महंतु ।
जामण मरणु करंत यह, कलि महि आदि न अंतु ॥४

सप्ततत्त्वभावना गीत—इस रचनामें २० पद्य दिये हुए हैं। इसका कर्ता कौन है यह रचना परसे मालूम नहीं होता। यहां बतौर नमूनेके आदि अंतका एक-एक पद्य दिया जाता है :—

आदि भाग :—

फिरत-फिरत संसारमाहि जिया दुहुको हो, दुहुकौं भेदु न जाणियोरे ।
जीव तत्त्व अजीउ न जाणियउ, चेयणहो, छोडिउ जड़ तइ माणियोरे ॥१॥

अन्त भाग :—

जो नरु इसु कहु पढइ पढावइ तिसु कहु हो, दुरिउ न आवइ एक खिणु। जो नरु सप्त तत्त्व मन भावइ सो नरु शिवपुर पावइ छोडि तणु ॥२०॥

पंचपापसंभाल गीत—इस छोटीसी कृतिका कर्ता भी अज्ञात है।

आदि भाग :—

पांचउ पाप संभालरे जिया, इनसम अवरु न दुख कोई ।
जइ सुहु लोडहि जीव तुहुं, इन तहिं विरचहिं सुख होई ॥१
हिंसा, पाप, झूठ, दुसु, दाता, चोरी, संचछु दुखइ ।
जोरु कुशील कलंक संज्ञातउ परिगह नरक पठावइ ॥२॥

अन्त भाग :—

परिगह मोहिउ आपु न जाणइ हित किसकहु कारीजइ
जो परु सो अप्पाणउ जाणइ नरक जंतु किन वारीजइ ॥६

इनके अतिरिक्त, यशोधर पाथड़ी, आर्जवपाथड़ी, गण-धर आरती, रत्नत्रयपाथड़ी, मायंगतुरुजयमाल, बउ-तीसिया पाथड़ो, फूलणा गीत, जियदा हो जगतके राव गीत, नेमीश्वर रासा आदि रचनाएं हैं। जिनका कोई भी कर्ता ज्ञात नहीं होता, रचनाएं भी अत्यन्त साधारण हैं।

आशा है विद्वद् गण दूसरे भंडारोंसे भी हिन्दी भाषा-की अन्य रचनाओंको प्रकाशमें लानेका यत्न करेंगे।

परमानन्द जैन शास्त्री

संशोधन—पेज नं० १०३ की १६ वीं पंक्तिके बादका मैटर पेज नं० १०४ के पहले कालमके नीचे भूलसे दिया गया है।

किसकी जीत

[अहिंसा और हिंसाका द्वन्द]

(नेमिचन्द्र जैन 'विनम्र')

एक दिन आंधीके मन बीच, जगा निज बलका प्रबल प्रमाद।
दिखाऊँ प्रतिद्विन्द्वनको आज, असीमित विक्रमका प्रासाद ॥१॥

सोच यह, अट्टहास कर घोर, चली वह लहरों पर आसीन।
मिली वासंतिक पवन सुशीघ्र, दिखी जो मधुर धुनोंमें लीन ॥२

मृदुलता, मंजुलता औ सौम्य, किये थे मुख-सरोजको भव्य।
प्राप्त हो जिसे आत्म-संतोष, उसे कब डिगा सके मद द्रव्य ? ॥३

प्रगटकर अपना चिर अभिमान, मदांधा बोली कर तिरस्कार।
'न चाहे क्यां तू बल मुझ तुल्य, रही क्यों नमनशीलता धार ॥४

मौनही रही बसंती वायु, न मुखसे बोली कोई बात।
देख चुप, फिरसे कहा सक्रोध, 'सुनो तुम मेरा बल वृत्तांत ॥५

फैल जाता भयका साम्राज्य, उठा करती हूँ मैं जिस काल।
पलकमें रचक, कर संकेत, चतुर्दिक में कह देते हाल ॥६॥

वृहत जलयानोंके मस्तूल, गिरा देती तिनकों सा तोड़।
भला मेरे पौरुष समकक्ष, लगा सकते क्या पलभर होड़ ? ॥७

सिंधुकी भी अगाध जलराशि, पूजती मेरे चरण कठोर।
लगाते ही ठोकर बस एक, चीखतीं गिरतीं करतीं शोर ॥८॥

उठा ऊँचे देती जब पटक, प्रलय सा करतीं हाहाकार।
अबाधित मेरा तांडव नृत्य, सदा छाई है विजय बहार ॥९॥

जहाजोंको कर देती ध्वस्त, एकही करके तीक्ष्ण प्रहार।
और फिर वे टुकड़े जय-चिन्ह, बना बिखरा देती हर बार ॥१०

आगमन मेरा लख जी छोड़, घरोंमें छिपते मानव शूर !!
बचा लेने को अपने प्राण, भागते पशु-पक्षी भय-चूर ॥११॥

मकानोंके छप्पर भी, सुनो, उड़ा ले जाती मीलों दूर।
भव्यतम महलोंके भी मुकुट, गिरा देती भूपर बन क्रूर ॥१२

सांससे करती यष्ट्र विनष्ट, असीमित मेरी गौरव-शान।
रहीहूँ 'विश्व-विजयनि' मान्य, कौन है मुझसा शौर्य-प्रधान ॥१३

कि गूँजे तेरे भी जय-गीत, नहीं क्या अब भी इच्छावान ?
धार ले मुझसा हिंसक रूप, तान दे निज आतङ्क वितान'' ॥१४

न मुखसे बोली कोई बात. हुई चुप चलनेको तैयार।
'साथ चलने का' कर संकेत, बसंती वायु चली सुकुमार ॥१५॥

देखकर उसका शांत स्वरूप, गये उपवन मस्ती में डूब।
झूमने लगे खेत जी खोल, भला क्या इससे सकते ऊब ? ॥१६॥

प्रफुल्लित हो लहरें अविराम, उछलने लगीं गगनकी ओर।
नृत्य करती थीं वे मुद मग्न, हर्षसे थी निस्सीम विभोर ॥१७॥

काननों में बहारका साज, पलकमें दिखने लगा विशाल।
महकने लगे पुष्प मद मस्त, बिछ गया सौरभका मधु जाल ॥१८

भ्रमर-दल कलि-प्रेयसिगण संग, किलोलें करने लगे अबाध।
छेड़कर मधुगीतोंकी तान, मिटाती कोयल निज उर साध ॥१९

किया शिखियोंने मनहर नृत्य, हुआ अधरों पर शोभित हास।
जहां छाया था भयका राज्य, वहां पर छाया हर्ष-विलास ॥२०

खगोंने कलरव ध्वनि कर शीघ्र, किया था मधुसमीर जय गान।
प्रकृति भी हो सुषुमा सम्पन्न, भेंटती थी आशीश महान ॥२१

इन्दु करता उसका अभिषेक, पुष्पसे पूजन करते कुञ्ज।
सूर्य सी कब बरसाती ताप ? अहो! थी वह शीतलता-पुंज ॥२२

'तुम्हारा अभिनंदन, हे देवि, हमारे करते व्याकुल प्राण।
दानवी आंधीके आघात, तुम्हींसे बस पाते हैं त्राण' ॥२३

हुई आंधी लज्जानत घोर, हुआ खण्डित उसका अभिमान।
प्रेमसे गल जाते पाषाण, शक्तिसे तनता कुयश वितान ॥२४

'हमेशा शासकसे बलवान, गिना जाता आता जग - बीच।
एक है निर्मल सरिता-धार, दूसरा उत्पीड़क जल-कीच' ॥२५

वादीचन्द्र रचित अम्बिका कथासार

(श्री अगरचन्द्रजी नाहटा)

जैन तीर्थंकरोंके साथ शासनदेव देवियोंका अधिष्ठायकके रूपमें कबसे सम्बन्ध स्थापित हुआ, निश्चिततया नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इस सम्बन्धमें जैसी चाहिए शोध नहीं हुई है। प्राचीन जैनआगमोंमें तो इसका कहीं उल्लेख देखनेमें नहीं आया। अतएव यह देवी देवियोंका सम्बन्ध अवश्यही पीछेसे जोड़ा गया है। अधिष्ठायक शासनदेवीके रूपमें जिन देवियोंका सम्बन्ध है उनमें सबसे प्राचीन शायद अम्बिका देवी है। पीछेसे तो इसे नेमीनाथकी अधिष्ठायक देवी मानली गई है पर प्राचीन मूर्तियोंके अध्ययनसे वह सभी तीर्थंकरोंकी भक्तदेवी प्रतीत होती है। इस देवीकी स्वतन्त्र प्रतिमाएं भी काफी मिलती हैं और स्तुति स्तोत्र भी अम्बिका देवीके बहुतसे पाये जाते हैं।

श्वेताम्बर जैन जातियोंमें से प्राग्वाट—पोरवाड़ जातिकी कुल देवी ही अम्बिका है। विमलवसईमें इस देवीकी देव कुलिका है ही, पर अम्माजीके नामसे जो प्रसिद्ध सर्व साधारण तीर्थ है वह भी आबूसे दूर नहीं है। पोरवाड़ जातिकी घनी बस्ती भी इसी प्रदेशके आस-पास रही है। अतः उस जातिकी कुलदेवी अम्बिकाका होना सकारण है।

श्वेताम्बर साहित्यमें तो अम्बिकाका जीवनचरित्र कई ग्रन्थोंमें पाया जाता है। सुप्रसिद्ध प्रभावक चरित्रके विजयसिंह सूरि चरित्रमें अम्बिकाकी कथा प्रसंगवश दी गई है। इस ग्रन्थकी रचना सम्वत् १३३४ में हुई है। पुरातन प्रबन्ध-संग्रह में भी ऐसा प्रबन्ध मिलता है।

लोक भाषा—प्राचीन राजस्थानीमें रचित १४वीं शताब्दीकी एक अम्बिका देवी चौपई भी मुझे १५वीं शताब्दी-की पूर्वार्द्धकी लिखित प्रतिमें प्राप्त हुई है। अतः उसका मध्यका एक पत्र नहीं मिलनेसे रचना त्रुटित हो गई है।

दिगम्बर समाजमें अभी तक अम्बिकाकी कथा संबंधी कोई स्वतन्त्र रचना ज्ञात न थी। दो वर्ष हुए मेरा भतीजा भँवरलाल देहलीसे बीकानेर आ रहा था, तब लखनऊके श्रीपूज्यजी विजयसेनसूरि और यति रामपालजीके पास अम्बिका कथाकी प्रति उसके देखनेमें आई। ये कथा संस्कृत भाषामें १ से ३ श्लोकोंमें दी हुई है। संवत् १६५१के श्रावन मासमें वादीचन्द्रने इस कथाकी रचना की है। इसके छ पत्रोंकी प्रति जो रचना समयकी ही प्रतीत होती है। भट्टारक मेरुचन्द्र शिष्य ब्रह्म कीर्तिसागरके द्वारा प्रति लिखित है।

> एक पंच षडेकांक, वर्षे नभसि मासके।
> मुद्दारूफाणी कथां मेनां, वादीचन्द्रो विदांवर ॥
>
> १ से ३ इति श्री अम्बिका कथा समाप्त

उपर्युक्त अम्बिका कथाका सार इस प्रकार है :—

भारतके सौराष्ट्र प्रान्तके जूनागढ़के राजा भूपाल थे। उनकी रानीका नाम कनकावती था। इस नगरीमें राज्य पुरोहित सोमशर्मा रहता था। जो कुलीन होने पर मिथ्या-दृष्टि था इसकी अग्निला नामकी बुद्धि मति पत्नी थी, वह जैनधर्मानुयायी थी। पति शैव और स्त्री जैन। इस धार्मिक भेदके कारण कुछ वैमनस्य रहना स्वाभाविक था

एक बार पितृ श्राध्यके दिन सोमने ब्राह्मणोंको निमन्त्रित किया संयोगवश ब्राह्मणोंके आनेसे पूर्वही जैन मुनि ज्ञान सागर जी उसके घर भिक्षार्थ पधारे, अग्निलाने हर्ष पूर्वक उन्हें प्रासुक अहार दिया। मुनि अहारकर रैवताचलकी गुफामें धर्म साधन करने लगे। इधर किसी ईर्ष्यालु ब्राह्मणने अग्निलाको मुनिको अहार देते देखा था उसने निमंत्रित ब्राह्मणोंके समक्ष द्वेष बुद्धिसे उसे अनौचित्यपूर्ण बतलाया। ब्राह्मणोंके भोजनसे पूर्व मुनिको अहार दिया गया। इसलिए ब्राह्मण बिना भोजन किये ही गाली देते हुए चले गये। सोमशर्मा निमन्त्रित ब्राह्मणोंको इस तरह भूखे जाते देख अग्निला पर कुपित हुआ। वह उसे मारने को दौड़ा इससे भयभीत होकर अग्निला अपने शुभंकर विभंकर दोनों पुत्रों को एक कमर में और एक को हृदय में लेकर रैवताचल को चली। वहां ज्ञानसागर मुनि विराज रहे थे। उन्हें नमस्कार कर बैठ गई। मुनिने उससे भय-भीत होने का कारण पूछा पर बतलाने पर कुछ न पतिकी निन्दा होगी जानकर कुछ भी न कहा।

इधर उसके पुत्र क्षुधावश रोने लगे। वहाँ वह उन्हें क्या दे बड़ी चिन्ता हुई। पर इसी समय मुनि दानके पुण्य प्रसादसे निकटवर्ती आम्र वृक्ष अकालमें ही फलोंसे परिपूर्ण हो गया। उसकी लुम्बिकाएँ नीचे लटकने लगी। जिनमें पके

हुए फल थे। अग्निलाने उन आम्रोंसे पुत्रोंकी भूख शांत की। श्लोक ३१। इधर कुपित भूखे ब्राह्मणोंने अपने घर जाकर पत्नियोंसे भोजन मांगा। पर उन्होंने निमन्त्रणके कारण भोजन नहीं बनाया था अतः कहा ठहरिये—भोजन अभी बना देती हैं। संयोगवश इसी समय आग लगी और क्षण भरमें अग्निलाके घरको छोड़ नगरके सब घर जल गये। तब वे ब्राह्मण धनधान्य व घरसे हीन होकर भूखे और थके हुए सोमके वापिस पहुँचे। उन्होंने सोमसे कहा कि तुम्हारी भार्या धन्य है और उसकी प्राप्तिसे तुम भी धन्य हो। मुनिदानके प्रभावसे तुम्हारा घर बच गया। यदि भोजन तैयार हो तो हमें दो। सोमने आगत सब ब्राह्मणोंको भर पेट भोजन कराया। फिर भी वह अक्षय भण्डार हो गया (श्लोक ४३)

सोम शर्मा अपनी गुणवती पत्नीके सत्कार्यको याद कर अब उसे मनाने को रैवताचलकी ओर चला। अग्निलाने उसे रैवताचलकी ओर आते देख कि वह मारनेको आरहा है—अब क्या करूँ। उसके हाथसे मारे जानेकी अपेक्षा स्वयं मर जाना अच्छा है। वह झटसे ऊँचे शिखर पर चढ़कर नेमिनाथका ध्यान करते हुए कूद पड़ी। जिनेश्वरके शुभ ध्यानसे मरकर वह अम्बिका नामक नेमिनाथकी यक्षिणी हुई। जिसके स्मरणसे आज भी विघ्न दूर होते हैं।

(श्लोक ४८)

उसका पति ढूँढता हुआ वहां पहुँचा और उसे मरा हुआ देख विषाद करने लगा। इतनेमें अग्निला देवीके रूपमें पुत्रोंको लिए हुए दिखाई दी। सोमने कहा—घर चलो अग्निला ने कहा—कि मैं तुम्हारी पत्नि नहीं देवी हूं सोम पत्निके विरहसे दुःखी होकर झम्पापात करके मर गया और मर कर सिंह रूप देवीका वाहन हो गया। अम्बिका उस पर बैठ कर घूमती है।

सोमशर्माका भाई शिवशर्मा वहां आया तो देवीने अपने दोनों पुत्रोंको धनके साथ सौंप दिया। पर पुत्र मन्द-बुद्धि वाले थे। इसलिये पढ़नेका प्रयत्न करने पर विद्वान् नहीं बन सके। वे दुखित होकर पहाड़ पर पहुंचे और अम्बिकाको याद किया तो अम्बिकाने उन्हें शारदा मन्त्र दिया और भादवा सुदी १ से ११ तक उपवास सहित जाप करनेसे बुद्धिमान बनोगे कहा उन्होंने वैसा ही किया और विद्वान् हो गये। सुभंकरने द्वारिकामें बौद्ध पण्डितको जीता। ज्ञानप्रभाव देख कामदेव (प्रद्युम्न) ने कन्याओं द्वारा उनकी पूजा की।

कुछ काल बाद नेमिनाथ वहां पधारे उनसे वह जानकर की द्वारिकाका विनाश होने वाला है। प्रद्युम्न आदिने दीक्षा ली। शुभंकर और विभंकरने भी दीक्षा लेकर परम पद प्राप्त किया।

वादीचन्द्रकी अम्बिका कथाका सार यहाँ समाप्त होता है। अब तुलनात्मक अध्ययनके लिए प्रभावक चरित्र की कथाका सार दिया जा रहा है।

कणाद मुनिके स्थापित काशहिद नगरके सर्वदेव ब्राह्मण की देवी सत्यदेवी थी। उसकी पुत्री अम्बा कोटिनगरके सोमभट्टको विवाही गई। विभाकर और शुभंकर दो पुत्र हुए।

एक समय नेमिनाथके शिष्य सुधर्मसूरिके आज्ञावर्ती दो मुनि अम्बिकाके घर पधारे, अम्बिकाने उन्हें आहार कराया। इतनेमें ही सोमभट आ पहुंचा और उसने बिना महादेवके भोग लगाये भोजनका स्पर्श क्यों किया गया कहा। और आक्रोशवश उसे मारा व दोनों पुत्रोंको एक गोदमें और एक अंगुली पकड़ कर रैवताचल पहुँची। नेमिनाथको वन्दन कर आम्रवृक्षके नीचे विश्राम किया। भूखे बच्चोंको आम्रफल देकर पुत्रों सहित शिखर पर झम्पापात किया। नेमिनाथके स्मरणसे देवी हुई।

इधर विप्रका क्रोध शान्त हुआ। वह भी रैवताचलको आया। और उन्हें मरा देख पश्चाताप करता हुआ स्वयं भी कुण्डमें पड़ कर मर गया ' व्यंतर होकर देवीका वाहन सिंह बना। अम्बादेवी अब भी गिरी पर नेमिनाथके भक्तोंको सहाय करती है।

पुरातनप्रबन्धसंग्रहका प्रबन्ध संक्षिप्तमें यही कथा बतलाता है। उपर्युक्त दिगम्बर और श्वेताम्बर कथाएँ एक सी ही हैं प्राचीन आधार अन्वेषणीय है।

अम्बिकाकी प्राप्त मूर्तियोंमें दो बच्चे और सिंह है ही। इसलिये अब कथाका मिलान खूब बैठ जाता है।

जैनेतर समाजमें भी अंबिकाकी मान्यता काफी है इसलिये उनके ग्रन्थोंमें भी अवश्य ही कुछ जीवनचरित्र होगा उसकी खोज कर तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिये।

अम्बिकाकी प्राप्त मूर्तियोंमें सबसे प्राचीन कौन सी और कहाँ प्राप्त है और वह कितनी पुरानी है। इन सब बातोंकी जानकारी भी ज्ञानवर्द्धक होगी।

मलयकीर्ति और मूलाचार प्रशस्ति

मलयकीर्ति नामके अनेक विद्वान होगए हैं। उनमें से प्रस्तुत मलयकीर्ति भिन्न ही जान पड़ते हैं। इनका समय विक्रमकी १५वीं शताब्दीका अन्तिम चरण है। इनके गुरु धर्मकीर्ति थे, जो त्रिभुवनकीर्तिके शिष्य और धर्म, दर्शन साहित्य, व्याकरण और काव्य-कला आदिमें दक्ष थे। ये विद्वान होनेके साथ-साथ उग्र तपस्वी भी थे। इन्होंने विक्रम संवत १४३१ में केशरियाजीके मन्दिरका जीर्णोद्धार कराया था, जो खेलामण्डपमें लगे हुए शिलालेखसे स्पष्ट है।

सं० १४६३ में योगिनीपुर (देहली) के पास दिल्लीके बादशाह फ़िरोजशाह तुगलक द्वारा बसाये गए, फेरोजाबाद नगरमें, जो उस समय जन धन, वापी, कूप, तडाग, उद्यान आदिसे विभूषित था, उसमें अग्रवाल वंशी गर्गगोत्री साहू लाम्बू निवास करते थे। उनकी प्रेमवती नामकी एक धर्मपत्नी थी, जो पातिव्रत्यादि गुणोंसे अलंकृत थी। इनके दो पुत्र थे साहू खेतल और मदन। खेतलकी धर्मपत्नीका नाम सरो था जो सम्पत्ति संयुक्त तथा दानशीला थी। खेतल और सरोसे फेरू पल्हू और वीधा नामके पुत्र थे और इन तीनोंकी काकलेही माल्हाही और हरीचन्दही नामकी क्रमशः तीन धर्म पत्नियाँ थीं। खेतलके द्वितीय पुत्र मदनकी धर्मपत्नीका नाम रतो था, उससे हरषू नामका पुत्र हुआ था और उसकी स्त्री का नाम मन्दोदरी था। खेतल के द्वितीय पुत्र पल्हूके मडन, जाल्हा, घिरीया और हरिश्चन्द्र नामके चार पुत्र थे। इस सारे ही परिवारके लोग विधिवत जैनधर्म का पालन करते थे, और आहार, औषध, अभय और ज्ञान दानादि चारों दानोंका उपयोग करते थे। साहू खेतलने गिरनारका यात्रोत्सव किया था। वह अपनी धर्मपत्नी काकलेहीके साथ योगिनीपुर (दिल्ली) में आया था। कुछ समय सुख पूर्वक व्यतीत होने पर साहू फेरूकी धर्मपत्नीने कहा कि स्वामिन्! श्रुत पञ्चमीका उद्यापन कराइये। इसे सुनकर फेरू अत्यन्त हर्षित हुए, तब साहू फेरूने मूलाचार नामका ग्रंथ श्रुत पञ्चमीके निमित्त लिखाकर मुनि धर्मकीर्तिके लिये अर्पित किया। उन धर्मकीर्तिके स्वर्ग चले जाने पर उक्त ग्रंथ यम-नियममें निरत तपस्वी मलयकीर्तिको सम्मान पूर्वक अर्पित किया गया। पाठकोंकी जानकारीके लिये मलयकीर्ति द्वारा लिखी गई उक्त ग्रन्थ प्रशस्ति ऐतिहासिक अनुसन्धाता विद्वानोंके लिये बड़ी ही उपयोगी है, यही जानकर उसे यहां ज्यों की त्यों रूप में नीचे दी जाती है। यह प्रशस्ति संवत १४६३ की है, जो मलयकीर्तिके पट्टधर गुरु धर्मकीर्तिके स्वर्गवासके बादमें लिखी गई है। इस प्रशस्तिमें अंग-पूर्वादिके पाठी विद्वानोंका उल्लेख करनेके अनंतर अपनेसे पूर्ववर्ती कुछ विद्वानोंके नामोंका समुल्लेख किया गया है जिनका सम्बन्ध वागड संघकी पट्टावलीसे है, इसी वागडान्वयमें अर्हद्बली आदि श्रुतपारग विद्वानोंका उल्लेख किया गया है। किन्तु उसमें कितने ही महत्वके विद्वानोंको छोड़ दिया गया है जिन्हें वागड संघका विद्वान नहीं समझा गया। हां, इसमें धरसेन, भूतवली पुष्पदन्त जिनपालित और समन्तभद्रादि दूसरे खास विद्वानोंका नाम वागड संघकी पट्टावलीमें गिना दिया गया है, जो विचारणीय है। उक्त विद्वानोंके नाम इस प्रकार है—धरसेन, भूतबली, पुष्पदन्त, योगीराज जिनपालित, समन्तभद्र, सिद्धसेन, देवसूरि, वज्रसूरि, महासेन, रविषेण, कुमारसेन, प्रभाचंद्र, अकलंक, वीरसेन, अमितसेन, जिनसेन, वासवसेन, रामसेन, माधवसेन, धर्मसेन, विजयसेन, संभवसेन, दायसेन, वशवसेन, चरित्रसेन, महेन्द्रसेन अनन्तकीर्ति, विजयसेन, जयसेन, केशवसेन हुए। उनके पट्टधर पद्मसेन हुए। पद्मसेनके पट्टधर त्रिभुवन कीर्ति हुए, और उनके पट्टधर अनेक विरुदावली विभूषित धर्मकीर्ति हुए। इनके शिष्य प्रस्तुत मलयकीर्ति हैं, हेमकीर्ति और उनसे छोटे सहस्रकीर्ति हैं, ये तीनों ही यति गुर्जर देशका शासन उस समय कर रहे थे अर्थात् भट्टारकीय गद्दी पर आसीन थे। उक्त प्रशस्ति निम्न प्रकार है :—

प्रशस्ति

प्रणम्य वीरं सर्वज्ञं वागीशं सर्वदर्शिनां।
मयाभिधास्यते रम्यां सुप्रशस्तां प्रशस्तिकाम् ॥१॥

स्वस्ति रवींदु धात्रीसुतबुधसुरगुरुभार्गवच्छायातनय विधंतुदकेत्वादि नवग्रहोद्दद प्रौढ पंचास्यासनं अष्टमहाप्रातिहार्योपेतद्वादशकोष्ठकरम्यं रमणीयताविराजमान समवसरणोपविष्ट निर्ग्रन्थ कल्पांगनार्याभ भौमोरुगवनिताभवनभौम मकल्पनिलिंपमनुजतीर्थककुतस्तत्सपरंपरानंदित शुभजगत्रयानिवासिजनं अष्टादशदोष वनिमुक्तं भव्यजनप्रबोधन वितीर्णानन्तसुक्तं अतन्दुमुदं श्रीवीरजिनेन्द्रं प्रणुत्या न्यासेन भव्यजन लिखापित्तं श्रीमूलाचार पुस्तकस्य प्रशस्तिं चकार मलयकीर्तिः ॥

एकांगधारी योगीशो लोहाचार्य श्रियं क्रियात्।
युष्माकं दानिना मृद्धयारिद्धमादानुसारया ॥२॥

एवं श्रीसिद्धार्थक्षोणीशतनूजस्य दुष्टद्विष्टनिकृष्टाष्टाभिः कर्मभिर्निरस्तशर्मभिरहतस्य सिद्धस्वरूपप्राप्तेरजस्यानघवतो भगवतः श्रीमहावीरस्य धीरस्य वामचरणकनिष्टिकापीडनात् नमस्कारं प्रतिपाद्य दातॄणां श्रोतॄणां पात्राणां च मंगलाय येऽभिमतकार्यसिद्धये स्वस्वगोत्रवृद्धये च त्रिषु केवलिषु पंचसु चतुर्दशपूर्विषु एकादशसु दशपूर्विषु पंचसु दशांगधारकेषु त्रिष्वे-कांगधारकेषु इन्द्रभूति-सुधर्मजम्बू - विष्णुनंदि-मित्रापरा-जितगोवर्द्धनभद्रबाहुविशाखप्रोष्ठिलक्षत्रियजयनागसिद्धार्थधृति - षेण-विजयबुद्धिलगंगदेव-धर्मसेन - नक्षत्र - यशःपाल - पाण्डु-ध्रुवसेनकंसाचार्यसुभद्रयशोभद्रभद्रबाहुष्वातीतेषु मुक्तिं गते श्रीवर्द्धमानजिनेश्वरे चैकांगधारकेषु चतुर्थेन भगवता लोहा-चार्येण समुद्भूतं भगवच्छासनं यतस्ततोस्याशीर्वादमकार्षं ॥

शासन शब्देन गृहीता वक्रग्रीवगृद्धपिच्छाचार्य्य लोहाचा-र्यादयो विनयंधरः श्रीदत्त अर्हद्दत्तारचत्वारः । पूर्वांगदेश-धराः ऋषयः तेन परमभट्टारकेश्वरेण यत्कृतं तदित्याह—

चतुष्पयोधिपर्यन्तां धात्रीं विहरता सता ।
भूमीशानपि भव्यांश्च जग्मे संबोध्यमुत्तरम् ॥३॥
यतिना येन तेनास्मिंश्चक्रे च वटपद्रकं ।
वागडाख्यां दधाने स्वं संघं वागडसंज्ञकम् ॥४॥
तस्यान्वये यतीशानास्तपतर्जितचित्तजाः ।
अर्हद्बल्लादयोऽभूवन् श्रुतसागरपारगाः ॥५॥
तेषां नामानि वक्ष्मीतः शृणु भद्र महान्वय ।
भद्रो भद्रस्वभावश्च धरसेनो यतीश्वरः ॥६
भूतबली पुष्पदन्ता जिनपालितयोगिराट ।
समन्तभद्रो धीधर्मा सिद्धसेनो गणाग्रणी ॥७
देवसूरिः वज्रसूरिर्महासेनो मुनीश्वरः ।
रविषेणो गुणाधारः षडंगांगोपदेशकः ॥८
कुमारेशः प्रभाचन्द्रोऽकलङ्को यमिनां विभुः ।
सिंहनिष्क्रीडितं तेपे तपः कल्मषसूदनम् ॥९
वीरसेनामितसेनौ जिनसेनो दयार्द्रधीः ।
मुनींद्र-वासवसेनश्च रामसेनो यशोधनः ॥१०
मुनिर्माधवसेनश्च धर्मसेनो जितेन्द्रियः ।
यतीन्द्रोविजयसेनस्तु जयसेनोऽत्र तत्त्ववित् ॥११
सिद्धान्तनीरधेः पारं प्राप्तो दिग्वाससां पतिः ।
सिद्धसेनो गणींद्रेशो धृतसद्व्रतकौशलः ॥१२
ततो विजयसेनोऽपि लाडवागडसंघपः ।
ख्यातः संभवसेनोऽभूद्दामसेनो दयापरः ॥१३
केशवचरित्रसेनौ त्रैलोक्यस्थितिदेशकौ ।
ततो महेन्द्रसेनोपि विख्यातस्तपसां निधिः ॥१४
मुनीन्द्रोऽनंतकीर्तिस्तु धुर्यो विजयसेनकः ।
जयसेनो गणाध्यक्षो वादिशुन्डालकेशरी ॥१५
प्रमाण-नय-निक्षेपै र्हेत्वाभासादिभिः परैः ।
विजेता वादिवृन्दस्य सेनः केशवपूर्वकः ॥१६
चरित्रसेनः कुशलो मीमांसावनितापतिः ।
वेद-वेदांगतत्त्वज्ञो योगी योगविदांवरः ॥१७
तस्य पट्टे बभूव श्रीपद्मसेनो जितांगभूः ।
स्मश्रुयुक्तसरस्वत्या विरुदं यस्य भासते ॥१८
तत्पट्टे व्योमतारेशः संसृतेर्घर्मनाशकृत् ।
तपसा सूर्यवर्चस्को यमिनां पदमुत्तमम् ॥१९
प्राप्तः करोत्वेते त्रिभुवनोत्तरकीर्तिभाक् ।
कल्याणं सम्पदः सर्व्वाः सर्व्वामरनमस्कृताः ॥२०
श्रीधर्मकीर्तिर्भुवने प्रसिद्धिस्तत्पट्टरत्नाकरचंद्ररोचिः ।
षटतर्कवेत्ता गतमानमायक्रोधारिलोभोऽभवदत्रपुण्यः॥२१
तस्य पादसरोजालिगुणमूर्तिर्विचक्षणः ।
मलयोत्तरकीर्तिर्वा मुदं कुर्याद्दिगम्बरः ॥२२
हेमकीर्तिगुणज्येष्ठो ज्येष्ठो मत्तः कुशाग्रधीः ।
धर्मध्यानरतः शान्तो दान्तः सूनृतवाग्यमी ॥२३
ततोऽनुजो मुनींद्रस्तु सहस्रोत्तरकीर्तियुक् ।
गुर्जरीं जगतीं शस्तो द्वौ यती महिमोदयौ ॥२४
वयं त्रयोऽपि धीमन्तः साधीयांसो निरेनसः ।
धर्मकीर्तेर्भगवतः शिष्या इव रवेः करः ॥२५

एते ध्यानाग्निप्रदग्धकर्मकांतारा: संबोधितानेकक्ष्मापाल-निकुरंबकृतसेवावतारा: तर्कव्याकरणेतिहासच्छंदोलंकारागम-वाग्नदीप्रौढप्रवाहोच्छलितमिलिनसूक्ष्मसीकरसेकसुखितगात्राः - अनवरतसप्ततत्त्वविचारामृतास्वादालोकनाल्लब्धस्वर्गमोक्षलक्ष्मी-दत्तवनिताकरावलंबनाश्लेषसम्मानितसौख्यातिशायितपुण्यपवि-त्राः अव्याजधर्मोपदेशदातारो चोरवत् संसृतेस्त्रातारः संग्रामाशु-शुक्षणिनद्री दायताप्टमहामयमृगतिरिक्तचित्रकायव्याघ्रारिगा-जराऽनेकोपसय(प)त्नं पश्यतो हरारिमारिविषाभिचारकरटितुरं-गमगोमहिषनिरस्ताशस्तभया भव्यजनोपरि विहितकृपा समु-दयाः मंगलयशः श्रेयः सौभाग्यमूर्तयोऽर्हद्बल्लादयः श्रीधर्म-कीर्त्यंता मुनिपाः सकृपा ॥

ग्रन्थदातृप्रशस्ति—

अथ दातॄणामन्वयः सह नगरवर्णनेन व्याख्यायते । अनेक-गौड-गुर्जर-मालव-महाराष्ट्र-द्वारसमुद्र-तिलंगांगवगकालिंग- पं-चाल-मगधांध्र-वत्स-लाट- कर्णाटक - जनपदायातभू-भृद्वृन्द-

भूत्यानीतपूर्वोत्तर - दक्षिणपश्चिमदिग्नागतुरंगमवाहनाद्यनन्त-दुकूलमुक्तागलन्मणिहेमरौप्यप्रभृतिसमस्तप्राभृतावलोकनरंजित पौरवनितामीयमानसौंदर्यगुणेषुयुनिवहहेषारवद्विगुणितहरिण - लोचनकुलांगनागानगजेंद्गमनमहाराजाधिराज-श्रीसुरत्राणश्री-पेरोजशाहिशकराप्रयाणदुन्दुभिस्वनश्रवणभीतकृतांतसेवकगणे करटिकपोलहिमवाक्षिसृतमदजलसुरवाहिनीप्रवाहप्लावितरथ्या-मरवनितानिवहेभ्योमकषानेकनिष्कदुर्वर्णमणिमयजिनप्रासाद - पंक्तिक्रोद्यु च्छ्रितवैजयंतीप्रगुणगणतर्जितान्यदेशजयगोमिनीनि - कायोल्लसद्हद्राहेवापीकूपतडागोद्यानावश्रमितानिमिषवल्लभा-सहसम्मिलितविचित्राभरणभूषितपौरयुवनीपुअकृतगीतनृत्यवा-द्यरवश्रवणायाततदपितविहितपरम्परसंभाषणालापरंजितसर्वदि-गा - ातपांथसार्थैछन्दोलंकारातिहासतर्कव्याकरणागमज्योतिपवै - द्यकविद्विवुधजनविवर्ण्यमानसम्यगर्थसार्थे यत्र च दोषाकरत्वं चद्रमसि नान्येषु चतुर्विधदाननिरतेषु जिनपूजा पुरुहूतेषु प्राण-भृत्सु, दोषाभिलाषो घूकेषु नान्येषु द्यूतादि सप्तव्यसनरहितेषु मन्सु, अकुलीनता तारागणेषु नान्येषु गुरुपितृचरणाराधन-तत्परेषु मनुजेषु, वृत्तभंगः काव्येषु न द्वादशव्रतभूषितेषु श्रावकेषु, रोधो व्यसनाभिभूतानां शत्रूणां च द्वारे न कीर्ति-पात्रेषु याचकजनेषु, दंडो जिन प्रसाद वैजयंतीषु नान्येतरेपु-नृपाज्ञाप्रतिपालकेषु साधुषु, पटहेषु मृदंगेषु च बंधः, न शिष्टाचारप्रवृत्तेषु मूलामात्येषु, हाव-भाव-विलास-युक्तानां रभो-रूणां, केशकलापेषु भंग न समस्तकरवितारिषु ग्रामदेशेपु, विरोधः पंजरेषु न कुलजातेषु मानवेषु, कुटिलत्वयोगश्चाहिषु न मततत्त्वविचारतत्परेषु भव्येषु, भीरूशब्दः करभोरूणां समा-जेषु न नान्यप्रवृत्तेषु सौंडीरक्षत्रियपुञ्जेषु।

अन्यच्च —यद्वर्णनासु बृहस्पतिरपि नवचक्षात्रायते तस्मि-न्नमरपुरप्रख्ये श्रीयोगिनीपुरनिकटनिवासि श्रीपेरोजाबादाख्ये वरे नगरे निवसद्भिरेतैः।

गर्गगोत्रनभश्चन्द्रो व्यंके यद्वारिमाणिके।
दानैर्न्यक्कृतनागेशो धीशो लक्ष्म्यास्तु विष्णुवन् ॥
अग्रोत्कान्वये साधुः साधूनामग्रणीगुणी।
पूर्णो यशोभिरव्यग्रैर्लाग्वू धीमानभूद् भुवि॥ ७
तस्य प्रेमवती साध्वी पत्नी 'वीरो' गरीयसी।
स्त्रैणैगुणैरभूत्ख्याता पौलोमीव ? शतक्रतोः ॥२८
अनयोरनंतभोगां कुर्वन्तो क्रमशः सुतौ।
खेतलो मदनो जातौ भारतीतनयाविव ॥२९
खेतलो दयिता नाम्ना सरो संपत्समन्विता।
दानशीलगुणाढ्या वा बभूवेता च रोहिणी ॥३०
पुण्यैर्भोगैगुणौणां च पादपूजाभिरन्वहं।
कालं गमयतोरेवमनयोः कुलमंडनम् ।३१
बभूवुः क्रमतः फेरू-पाल्हू- बीधाख्यमांगजाः।
शौचाचारविदां मान्या मार्तंडकिरणा इव ॥३२
काकलेही च माल्हाही क्रमतो हरिचन्दही।
तेषां ता जानयो नृणां विभांति गृहमेधिनाम् ॥३३
मदनेन रतो कांतोपनीता सर्वसुन्दरी।
विभाति पुण्यमान् धीमान् हरभूतनयोऽनयोः ॥३४
मंदोदरी वधूटी च रावणस्यास्य भूभुजः।
जाता मंदोदरी जानिर्देकुंदेवेडिवांगजः ॥३५
पाल्हू सुतो मंडननामधेयो, जाल्हा द्वितीयो घिरीया तृतीय
तुर्यो हरिचंद्र इमे प्रसिद्धा धर्मार्थकामा इव भांति भासः।३६

समाचरितानि पुण्यकार्याणि तथा च—स्वर्गापवर्गप्राप-कानि लक्ष्मीतनयतनूजापरिणयनाभ्युदय-चितारकाणिसर्वसुज-नमनःपोषकानि घृतदुग्धदधिशर्करासोडवारुद्राक्षाम्बराजातन-कादलत्रपुत्रत्रयुषवायन-नारंग-जंबीरलकुचबीजपूरककवटकमंड-कमोदकोदनसूपपूपपक्वान्नखज्जकमांडीमरूकीघेवर - माठी मुंहाली दधिददीधिगर्भितान्याहारदानानि शुंठीमागधिका-भयाजमोद्-हरिद्राजीरक-मरिचविभीतकधात्रीफलर्तितणीक - भूनिंबनिंब-विडंग-पुष्करजटाप्रभृतीन्यौषधदानानितर्कव्याकरण-च्छंदोलंकारेतिहासागमाचार - भरत-वैद्यकज्योतिषादीनि - पुस्तकदानानि एकेंद्रियादिपंचेन्द्रियप्रभृति-स्वजनदुर्जनोपसर्ग-भयदानानि दुकूलक्षौमकोशेयकार्पासिकचीनमहाचीनाद्यानि वस्त्रदानानि चमरचन्द्रोपक-कमंडलु-कुंडिकादीनि यत्युपकर-णानि सयत्रपूगानि सलवणानि सोपस्काराणि सकृपानि सबहु-मानानियच्छन्यथायोग्यमेवमादीनिदानानिबंदिद्जनयाचकजनेभ्यो मुद्रिकादानानि कंकण-केयूर-सुवर्णरूप्यप्रभृतिकं यच्छन् कृतश्री-शत्रुंजयरैवतकयात्रोत्सवः साध्वाचारप्रवृत्तया सुशीलया निर-स्तपापाचारया देवशास्त्रगुरूभक्तितत्परया रत्या काम इव रुक्मिण्या विष्णुरिव भवान्या शंभुरिव शच्या पुरुहूत इव प्रभया तपन इव रोहिण्या विधुरिव संपदा नय इव च नया पुण्यवत्या काकलेहीति स्वं नाम दधत्या संप्राप्तः श्रीयोगिनी-पुरं नाम नगर, सुखेन यातेषु केषुचिद्दिवसेषु संजातश्रेयोधि षण्यासत्कर्मनिपुणया विज्ञप्तोदयतः साधुफेरू स्ववचोभिरिति स्वामिन् विधीयते श्रीश्रुतपंचम्या उद्यापनमितीरित श्रुत्वा

सप्रमोदः 'श्रीधर्मकीर्तिमुनिपाय' तन्निमित्तं श्रीमूलाचारपुस्तकं लेखयांचकार, पश्चात् तस्मिन्मुनिपतौ नाकलोकं प्राप्ते सति तच्छिष्याय यम-नियम-स्वाध्यायध्यानाध्ययननिरताय-तपोधन श्रीमलयकीर्तिये तत्सबहुमानं सोत्सवं सविनयमर्पयत् ।

आचंद्रार्कं स्थिरं स्थेयात्पुस्तकं भुवने परं ।
यशः पुण्यवतां शुभ्रं गुणिनामिव दुर्लभम् ॥
इदं मूलाचार पुस्तकं । सं० १४१३ ।

परमानन्द जैन

वागड प्रान्तके दो दिगम्बर जैन-मन्दिर

(परमानन्द जैन)

राजपूतानेका वागडप्रान्त भी किसी समय समृद्ध और शक्तिशाली प्रान्त रहा है। वागडको वाग्वर भी कहा जाता है, डूंगरपुर और बांसवाड़ाके आस-पासका क्षेत्र प्रायः वागड नामसे प्रख्यात है। वागड प्रान्तमें दिगम्बर सम्प्रदायकी अच्छी ख्याति रही है, उक्त स्थानोंके मन्दिर और ग्रंथ रचनाओंसे ज्ञात होता है कि विक्रमकी १५वीं १६वीं शताब्दीमें वहां जैनियोंका खास महत्त्व रहा है। यहां तक कि वहांके राजा महाराजा भी भट्टारकीय प्रभावसे अछूते नहीं रहे हैं। यही कारण है कि राज्योंसे भट्टारकोंकी गद्दीके लिये भी सरकारसे कुछ आर्थिक सहयोग मिलता रहा है। इस लेखमें दो जैन मंदिरोंका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है। आशा है विद्वान उधरके मन्दिरों और भंडारोंका परिचय भिजवा कर अपनी कर्तव्य निष्ठाका परिचय देंगे।

नोगामा—यह एक पुराना गांव है जो बांसवाड़ेसे १३ मील दक्षिण पश्चिममें बसा हुआ है। शिलालेखोंमें इसका नाम 'नूतनपुर' उल्लिखित मिलता है। यहां शान्तिनाथका एक बड़ा दिगम्बर जैनमन्दिर है जिसे वागड (डूंगरपुरके राजा महारावल उदयसिंहके राज्यकाल) में मूलसंघ सरस्वतिगच्छ बलात्कारगणके भट्टारक आचार्यविजयकीर्ति* के उपदेश से हूंबडजातिके खैरज गोत्री दोशी चांपाके वंशजोंने बनवाकर विक्रम सम्वत् १५७१ कार्तिक शुक्ला दोयजके दिन प्रतिष्ठा कराई थी×।

कालिंजर—यह नगर बांसवाड़े से १६ मील दक्षिण पश्चिम में हारन नदीके किनारे बसा हुआ है यहां विशाल शिखर बंध पूर्वाभिमुख एक जैन मंदिर है इस मन्दिरके दोनों पार्श्वमें और पीछे एक एक मन्दिर और भी बना हुआ है और उसके चारों ओर देवकुलिकाएं बनी हुई हैं, यह मंदिर भी दिगम्बर जैनोंका है। और ऋषभदेवके नामसे प्रसिद्ध है। इस मन्दिरमें छोटी बड़ी अनेक तीर्थंकर मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। एक मन्दिरमें खड्गासन भगवान पार्श्वनाथकी सुन्दरमूर्ति प्रतिष्ठित है जिसके आसन पर सम्वत् १५५८ फाल्गुणसुदी ५ का एक लेख उत्कीर्णित है। पार्श्वनाथकी एक दूसरी मूर्ति पद्मासन विराजमान है जिस पर सं० १६६० असन्त श्रावणवदि १०मीका एक लेख अंकित है। निज मंदिरमें मुख्यमूर्ति आदिनाथ की है जो पीछेसे अर्थात् वि० सं० १८६१ वैशाखसुदी ३ की प्रतिष्ठित है। इसका परिकर पुराना है जिस पर सम्वत् १६१७ अमांत माघवदि २ का एक लेख उत्कीर्णित है नीचेका आसन भी पुराना है जिसपर सम्वत १५५८ फाल्गुन सुदी ५ अंकित है।

निज मन्दिरके सामनेके मंडपमें पाषाण और पीतलकी छोटी छोटी मूर्तियाँ हैं जिनमें सबसे पुरानी मूर्ति सं० १२३५ वैशाख सुदी ८ की प्रतिष्ठत है। और दूसरी मूर्ति वि० सं० १४४५ वैशाखसुदी ५ की है! जान पड़ता है कि इस मंदिर का समय समय पर जीर्णोद्धार भी किया जाता रहा है।

---

* प्रस्तुत विजयकीर्ति भट्टारक सकलकीर्तिकी परम्परामें होने वाले भट्टारक भुवनकीर्तिके प्रशिष्य और ज्ञानभूषणके शिष्य थे। यह भट्टारक शुभचन्द्रके गुरू थे। इनका समय विक्रमकी सोलहवीं शताब्दी है इन्होंने अनेक जैन मन्दिरोंका निर्माण कराया और सैकड़ों मूर्तियोंकी प्रतिष्ठा भी कराई थी। इनका कोई ग्रन्थ अभी तक मेरे देखनेमें नहीं आया।

× देखो राजपूतानेका इतिहास बांसवाड़ा पृ० २२

पं० दीपचन्दजी शाह और उनकी रचनाएँ

(परमानन्द शास्त्री)

दीपचन्दजी शाह विक्रमकी १८ वीं शताब्दीके प्रतिभा सम्पन्न विद्वान और कवि थे। उनकी परिणतिमें सरलता और व्यवहारमें भद्रता थी, उनका स्वभाव भोला था, परन्तु अध्यात्म-चर्चामें वे अत्यन्त कुशल थे। उनकी आत्मा अध्यात्मरूप सुधामृतसे सराबोर रहती थी, वे आत्मानुभूतिके पुजारी थे। उसीके रसिक थे, और एकान्तमें उसीके रसमें निमग्न होने की चेष्टा करते थे। वे अध्यात्मकी चर्चा करते हुए उसीमें ओत-प्रोत होकर अपनी सुध-बुध भूल जाते थे वे जनसम्पर्कमें कम आते थे. परंतु उनका अधिकांश समय आत्म-चिन्तन, आत्म-निरीक्षण, आत्म-निन्दा, गर्हा तथा अपने अनुभवको कविता रूप परिणत करनेमें व्यतीत होता था। आपकी जाति खंडेलवाल, और गोत्र था कासलीवाल। आप पहले सांगानेरके निवासी थे किन्तु पीछेसे जयपुरकी राजधानी आमेरमें आ बसे थे। आपने अपनी कृतियोंमें इससे अधिक परिचय देनेकी कृपा नहीं की। अतः उनके जीवन-परिचय, माता-पिता तथा गुरु परम्पराके सम्बन्धमें प्रकाश डालना संभव नहीं है। खोज करने पर भी उस सम्बन्धमें कोई विशेष जानकारी नहीं मिली। पर इतना अवश्य ज्ञात होता है कि आपका वेष-भूषा और रहन-सहन अत्यन्त सादा था। आप तेरह पंथके अनुयायी थे। यद्यपि उस समय तेरह और बीसपंथका उदय हो चुका था, परन्तु अभी उसमें कलुषताकी विशेष अभिवृद्धि नहीं हुई थी किन्तु साधारणसी बातों पर कभी कभी खींचतान हो जाया करती थी। परन्तु एक दूसरेके मध्यमें उत्तभेद मूलक दीवार जरूर खड़ी होगई थी।

पं० दीपचन्दजी शाहका उस ओर कोई खास लक्ष्य नहीं था, उनका एक मात्र लक्ष्य सदृष्टि बनना, स्व-स्वरूपको पिछान कर अनादिकालीन अपनी भूलको मेंटना था, इसीसे वे उससे प्रायः उदासीन रहकर स्वानुभवकी ओर विशेष लक्ष्य देते थे। परन्तु उस समय परस्परमें कलुषताकी गहरी पुट जम नहीं पाई थी। जैसी कि भविष्यमें तनातनी बढ़ी, उक्त पंथोंके व्यामोह वश अनेक काण्ड और समस्याएँ वहां घटित हुईं, जिनके कारण दोनोंको हानिके सिवाय कोई लाभ नहीं हुआ। परन्तु इतना जरूर हुआ कि भट्टारकीय तानाशाहीके बावजूद भी तेरहपंथ विशेषरूपसे प्रगति पाता गया, और अनुयायियोंकी संख्यामें अभिवृद्धि होती गई। यदि उस समय इस पंथका जन्म न होता तो सिद्धान्त और तत्त्वचर्चासे जनसमूह आजभी शून्य होता। उसे अपने धर्मका यथार्थ परिज्ञान भी नहीं हो पाता। इससे सबसे अधिक लाभ तो यह हुआ, कि जैनशास्त्रोंका अध्ययन एवं पठन-पाठन जो एक अर्सेसे रुकसा गया था, पुनः चालू हो गया। और आज जैनशास्त्रोंके मर्मज्ञ जो विद्वान देखनेमें आरहे है यह सब उसीका प्रतिफल है। इस पन्थका श्रेय जयपुरके उन विद्वानोंको प्राप्त है जिन्होंने अपनी निस्वार्थ-सेवा एवं कर्तव्यनिष्ठा द्वारा इसे पल्लवित किया है।

शाहजी की रचनाओंका अध्ययन करनेसे स्पष्ट मालूम होता है कि आपके पावन हृदयमें संसारी जीवोंकी विपरीताभिनिवेश मय परिणतिको देखकर अत्यन्त दुःख होता था, और वे चाहते थे कि संसारके सभी प्राणी-स्त्री-पुत्र-मित्र धन-धान्यादि वाह्यपदार्थोंमें आत्म बुद्धि न करें,—उन्हें भ्रम-वश अपने न मानें, उन्हें कर्मोदयसे प्राप्त समझें तथा उनमें कर्तृत्वबुद्धिसे समुत्पन्न अहंकार-ममकार रूप परिणति न होने दें। ऐसा करनेसे ही वे जीव अपने जीवनको आदर्श, सन्तोषी एवं सुखी बना सकते हैं। सुखका मार्ग परके ग्रहणसे नहीं है किन्तु उनके त्यागमें अथवा उनसे उपेक्षा धारण करनेमें है। यही कारण है कि आपने अपनी आध्यात्मिक गद्य-पद्य-रचनाओंमें भव्यजीवोंको पर-पदार्थोंमें आत्म-बुद्धि न करनेकी प्रेरणा की है और उससे होने वाले दुर्विपाकको भी दिखलानेका प्रयत्न किया है। उनकी ऐसी भावना ही ग्रन्थ-रचनाका कारण जान पड़ता है, इसीसे उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें जीवकी उस भूलको सुधारनेकी बार बार प्रेरणा की है।

रचनाएँ और उनका परिचय

इस समय आपकी गद्य-पद्य रूप निम्न रचनाएँ उपलब्ध है। अनुभवप्रकाश, चिद्विलास, आत्मावलोकन, परमात्म-पुराण, उपदेशरत्नमाला, ज्ञानदर्पण, स्वरूपानन्द और सवैया टीका। आपकी ये सभी कृतियाँ आध्यात्मिक रससे ओत-प्रोत हैं और उनमें जीवात्माको वस्तुतत्त्वका आध्यात्मिक दृष्टिसे बोध करानेका खासा प्रयत्न किया गया है। इन रचनाओंमें ज्ञानदर्पण, स्वरूपानन्द, उपदेशसिद्धान्त रत्नमाला इन तीनोंको छोड़कर शेष सभी रचनाएं हिंदी गद्यमें हैं जो ढूंढारी भाषाको लिये हुए हैं जैसा कि अनुभवप्रकाशके निम्न अंशसे प्रकट है:—

"महामुनिजन निरन्तर स्वरूप सेवन करें हैं तातें अपना

त्रैलोक्यपूज्य सबतें उच्चपद अवलोकि कार्य करना है। कर्म-घटामें मेरा स्वरूप-सूर्य छिपा है। कछु मेरा स्वरूप सूर्यका प्रकाश कर्म-घटा करि हएया न जाय, आवरया है—ढका हुआ है—घटाका जोर है (सो) मेरे स्वरूप कूं हणि न सकै। चेतनतैं अचेतन न करिसकै मेरी ही भूल भई, स्वपदभूला, भूलि मेटी जब ही मेरा स्वपद ज्योंका त्यों बना है।" पृष्ठ १२

×　　　×　　　×

'जघन्यज्ञानी कैसैं प्रतिति करें? तो कहिए है—मेरा दर्शन ज्ञानका प्रकाश मेरे प्रदेशतैं उठै है। जानपना मेरा मैं हौं ऐसी प्रतीति करना आनन्द होय सो निर्विकल्पसुख है। ज्ञान उपयोग आवरणमें गुप्त है। ज्ञानमें आवरण नहीं। वहाँ जेता अंश आवरण गया, तेता ज्ञान भया तातैं ज्ञान आवरणतैं न्यारा है, सो अपना स्वभाव है। जेता ज्ञान प्रगट्या तेता अपना स्वभाव खुल्या, सो आपा है।'

पृष्ठ १७

यह भाषा अठारहवीं सदीके अन्तिम चरण की है, क्योंकि पं० दीपचन्दजीने अपना 'चिद्विलास' नामका ग्रंथ वि० सं० १७७१ में बनाकर समाप्त किया है। इससे यह भाषा उस समयकी हिन्दी गद्य है, बादको इसमें काफी परिवर्तन और विकास हुआ है और उसका विकसितरूप आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजीके 'मोक्षमार्ग प्रकाश' आदि ग्रन्थोंकी भाषासे स्पष्ट है। यह भाषा ढूंढारी और ब्रजभाषा मिश्रित है; परन्तु यह भाषा उस समय बड़ी ही लोकप्रिय समझी जाती थी। आज भी जब हम उसका अध्ययन करते है तब हमें उसकी सरसता और सरलताका पदपद पर अनुभव होता है। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थकर्ताकी भाषा उतनी परिमार्जित नहीं है जितना कि परिमार्जित रूप पं० टोडरमलजी की और पं० जयचन्दजी आदि विद्वानोंके टीकाग्रंथोंकी भाषामें पाया जाता है। फिर भी, उसकी लोकप्रियता और माधुर्यमें कोई कमी नहीं हुई। इस भाषा-का साहित्य भी प्रायः दिगम्बर जैनियोंका अधिक जान पड़ता है।

अब आपकी रचनाओंका यथाक्रमसे परिचय दिया जा रहा है जिससे पाठक उनके विषयसे परिचित हो सकें।

१ अनुभव प्रकाश—इसका विषय उसके नामसे ही प्रगट है। ग्रन्थकी भाषाका उद्धरण पहले दिया जा चुका है, उससे ग्रन्थकी भाषा और उसमें चर्चित आध्यात्मिक विषयका दिग्दर्शन हो जाता है। ग्रन्थमें जीवात्माकी अनादि-कालसे परकी संगतिसे होने वाली विकार परिणति और तज्जन्य दुःखोंका अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा स्वरूप बतलाया गया और पद-पद पर जीवकी भूलसे होने वाली बन्ध परिणिति, तथा उससे छूटनेका और स्व-पर स्वरूपके पिछाननेके उपायका निरूपण किया गया है।

बहिरात्माकी दशाका चित्रण करते हुए उसकी परिणति-का भी उल्लेख किया है और बतलाया है कि जब यह आत्मा परमें आत्मकल्पना करता है—जड़ शरीरादिको आत्मा मानता है, उस समय यदि शरीरका कोई अंग सड़ जाता, गल जाता या विनष्ट हो जाता है। तब यह कितना विलाप करता है, रोता है जिस तरह बन्दरको कोई कंकर पत्थर मारे तो वह भी रोता है, ठीक उसी प्रकार यह भी रोता-चिल्लाता है, हाय हाय, मैं मरा, मेरा यह अंग भंग हुआ है। इस दुखका कारण जड-शरीरमें आत्माकी कल्पना करना है परको झूठही अपना मानकर दुखी हो रहा है। फिर भी जड़की संगतिमें सुखकी कल्पना करता है। अपनी शिव नगरीका राज्य भूला हुआ है जो गुरु उपदेशानुसार अपने स्वरूपकी संभाल करे तो शिवनगरीका स्वयं राजा होकर अविनाशी राज्य करे। जैसा कि ग्रंथकी निम्न पंक्तियोंसे प्रकट है:—

'जैसें बानर एक कांकराके पडे रोवै, तैसैं याके देहका एक अंग भी छीजै तो बहुतेरा रोवै। ये मेरे और मैं इनका झूठ ही ऐसैं जडनके सेवनतें सुख मानै। अपनी शिवनगरी-का राज्य भूल्या, जो श्री गुरुके कहे शिवपुरीकौं संभालै, तौ वहांका आप चेतन राजा अविनाशी राज्य करै।'

इस तरह यह ग्रन्थ मुमुक्षुओंके लिए बड़ा ही उपयोगी है—

२ चिद्विलास—इस ग्रंथमें भी अध्यात्मदृष्टिसे चैत-न्यके विलासका वर्णन किया गया है, उसमें द्रव्यगुण पर्यायका स्वरूप दिखलाते हुए, सत्ताके स्वरूपका निरूपण किया है। और प्रभुत्व-विभुत्व आदि शक्तियोंका विवेचन करते हुए समाधि-के १३ भेदों द्वारा परमात्मपदके साधनका उपाय बतलाया है जिन्हें परमात्मपदके अनुभवकी इच्छा हो वे इस ग्रन्थका मनन एवं अवधारणकर परमात्म पद प्राप्त करनेका प्रयत्न करें। इस ग्रंथको शाहजीने सं० १७७१में फाल्गुन बदि पंचमीको आमेरमें बनाकर समाप्त किया है।

३ आत्मावलोकन—इस ग्रंथका विषयभी उसके नामसे स्पष्ट है इसमें पहले देव-गुरु-धर्मका निरूपण करते हुए हेय-उपादेयरूप तत्त्वका विवेचन किया है और सात तत्त्वोंका

निर्देश करते हुए सम्यक्‌दर्शन, ज्ञान और चारित्रका स्वरूप दिया है और बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मारूप अवस्थाओंका विवेचन करते हुए अन्तरात्माकी अवस्थामें ज्ञान, दर्शन सम्यक्त्वाचरण और चारित्राचरणकी रीति निर्दिष्ट की है उसका अपने परिणामोंसे संतुलन करते हुए अपने स्वरूप-की ओर दृष्टि करनेका स्पष्ट संकेत किया है। अर्थात ज्ञानी-को आत्मावलोकनकी ओर प्रेरित किया है। क्योंकि सदृष्टिमें ही आत्मालोकन होता है, स्वानुभव प्रत्यक्षके द्वारा ही उस अचिन्त्य महिमावाले टंकोत्कीर्ण ज्ञायकभावरूप आत्माके दर्शन होते हैं। उसीको करानेका विशुद्ध लक्ष्य ग्रंथ कर्ताका है।

४ परमात्मपुराण—इस ग्रंथमें शाहजीने आध्यात्मिक दृष्टिसे अनन्तमहिमायुक्त शिव (मोक्ष) को एक द्वीपसंज्ञा प्रदान कर उसमें आत्मप्रदेशरूप असंख्य देशोंकी कल्पना की है जिसमें एक एक देशको अनन्त गुण-पुरुषोंके द्वारा व्याप्त बतलाते हुए उन गुण-पुरुषोंकी गुणपरिणति नामक नारीका नामोल्लेख किया है। उस शिवद्वीपका राजा परमात्मा, चेतना परिणति रानी, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन मंत्री सम्यक्त्व फौजदार (सेनापति) और स्वदेशोंके परिणाम-को कोटवाल संज्ञा दी गई है। परमात्मराजाके अनन्त उमराव (सरदार) हैं उनके प्रभुत्व, विभुत्व, तत्त्वनाम आदि कतिपय नामोंका भी उल्लेख किया है और उन सबके कार्योंका जुदा जुदा कथन दिया हुआ है। आत्मप्रदेशरूप देशोंमें अवस्थित गुण-पुरुषोंको ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ गृहस्थ, साधु, ऋषि मुनि और यति कहनेका सकारण उल्लेख किया है। और इस तरह शिवद्वीपके शासक परमात्मा, चितपरिणति रानी, आत्मप्रदेशवासी गुण-पुरुषों, गुण परिणतिरूप पत्नियों, उनके संयोगसे 'आनन्द' नामक पुत्रकी उत्पत्ति, दर्शनादि मंत्रियों, सम्यक्त्वरूप सेनापति और परिणाम कोटपाल द्वारा देशकी रक्षाका अलंकारिक रूपमें सुन्दर चित्रण किया है और उनके कार्योंका दिग्दर्शन कराते हुए परमात्मराजाके राज्यको शाश्वत बतलाया गया है। दूसरे शब्दोंमें इसे इस रूपमें कहा जा सकता है कि शाहजीने बड़ी चतुराईसे परमात्मा और चेतना परिणतिरूप रानीके कार्योंका दिग्दर्शन कराते हुए उनकी 'स्वरसप्रवृत्ति' रूप क्रियाका भी उल्लेख किया है। उनकी इस अपूर्व कल्पनाका गुणीजन सदा आदर करेंगे और उसके अर्थका विचार करते हुए उस आत्मसारको हृदयंगम करेंगे, वही अपने चिदानन्द भूपको पहिचाननेमें समर्थ हो सकेंगे। अन्तमें निम्न ३१वां सवैया और एक दोहा देकर इस ग्रन्थका परिचय समप्त किया जाता है जिसमें भगवान परमात्माके प्रति रुचि उत्पन्न करनेकी प्रेरणा की है।

परम पुराण लखे पुरुष पुराण पाले सही है,
स्वज्ञान जाकी महिमा अपार है।
ताके किये धारण उधारणास्वरूप का ह्वै
ह्वै है निसतारणा सो लहै भवपार है।
राजा परमत्माको करत बखाण महा
दीपको सुजस बढै सदा अविकार है।
अमल अनूप चिद्‌रूप चिदानन्दभूप, तुरत ही
जानै करै अरथ विचार है ॥१।
परम पुरुष परमात्मा, परम गुणनको थान।
ताकी रुचि नित कीजिये पावै पद भगवान ॥

इनके अतिरिक्त आपकी तीन पद्य रचनाएँ ज्ञानदर्पण, उपदेशरत्नमाला और स्वरूपानन्द—उपलब्ध हैं जो आध्यात्मिक होनेके साथ साथ बड़ी ही सुन्दर और भावपूर्ण जान पड़ती हैं। उनके अवलोकनसे आपकी कवित्वशक्तिका सहज ही अनुमान हो जाता है, कविता सरल और मनमोहक हैं। यद्यपि जैन समाजमें कविवर बनारसीदास भगवतीदास, भूधरदास, द्यानतराय, दौलतराम आदि अनेक प्रसिद्ध कवि हुए हैं, जिनकी काव्य-कला अनुपम है, उनकी रचनाएँ हिन्दी-साहित्यकी अपूर्व देन हैं, उनकी कविताओंमें जो साहजिक सरसता और मधुरता है वह इनमें प्रस्फुरित नहीं है। फिर भी शाहजीकी कविता भी मध्यम दर्जेकी है; और वह कविता भी आन्तरिकप्रतिभाका प्रतीक है।

ज्ञानदर्पण—पाठकोंकी जानकारीके लिए उक्त ज्ञानदर्पण नामक रचनाके दो चार पद्य उद्धृत किए जाते हैं—

अलख अरूपी अज आतम अमित तेज, एक अविकार-
सार पद त्रिभुवनमें। चिरलौं सुभाव जाको समै हू सम्हारो
नांहि, परपद आपो मानि भम्यो भव वनमें। करम
कलोलनिमें मिल्यो है निशङ्क महा, पद-पद प्रतिरागी
भयो तन तन में, ऐसी चिरकालकी बहु विपति विलाय
जाय नैक हू निहार देखो आप निजधनमें ॥४६॥

निहचै निहारत ही आत्मा अनादिसिद्ध, आप निज-
भूल ही तैं भयो विवहारी है, ज्ञायक सकति यथाविधि
सो तो गोप्य दई, प्रगट अज्ञानभाव दशा विसतारी है।
अपनों न रूपजानै और ही सौं और मानै, ठानै
भव-खेद निज रीति न सँभारी है। ऐसे ही अनादि

कहो कहा सिद्धभई, अब नैकहू निहारौ निधिचेतना तुम्हारी है ॥४७॥

इन पद्योंमें बतलाया गया है कि—'एक आत्मा ही संसारके पदार्थोंमें सारभूत है, वह अलख है, अरूपी, अज, और अमित तेजवाला है; परन्तु इस जीवने कभी भी उसकी संभाल नहीं की, अतएव परमें अपनी कल्पना कर भव-वनमें भटकता रहा है। कर्मरूपी कल्लोलोंमें निश्शंक डोलता हुआ पदपदमें रागी हुआ है—कर्मोदयसे प्राप्त शरीरोंमें आसक्त रहा है। यदि यह जीव अपने स्वरूपका भान करने लग जाय तो क्षणमात्रमें चिरकालकी बड़ी भारी विपत्ति भी दूर हो सकती है। स्वका अवलोकन करते ही अनादि सिद्ध आत्माका साक्षात अनुभव होने लगता है; परन्तु यह जीव अपनी भूलसे ही व्यवहारी हुआ है। इसने अपनी ज्ञायक (जाननेकी) शक्तिको गुप्त कर अज्ञानावस्थाको विस्तृत किया है। यह अपने चैतन्यस्वरूपको नहीं जानता किन्तु अन्यमें अन्यकी कल्पना करता रहता है। अतएव खेद खिन्न होता हुआ भी अपनी रीतिको नहीं संभालता है। इस तरह करते हुए इस जीवको अनादिकाल व्यतीत हो गया; परन्तु स्वात्मलब्धिकी प्राप्ति नहीं हुई। कविवर कहते हैं कि हे आत्मन ! तू अब भी परपदार्थोंमें आत्मत्वबुद्धिका परित्याग कर, अपने स्वरूपकी ओर देख, अवलोकन करते ही साक्षात् चेतनाका पिंड एक अखण्ड ज्ञान-दर्शन-स्वरूप आत्माका अनुभव होगा वही तेरी आत्म-निधि है।

कविने अनुभवकी महत्ताका गुणगान करते हुए बतलाया है कि—अनुभवरस रूपी अखण्ड धाराधर (मेघ) जहां जाग्रत हो जाता है वहां दुःखरूपी दावानल रंचमात्र भी नहीं रहता। वह कर्मनिवासरूपी भव-वास-घटाको दूर करनेके लिए प्रचण्ड पवन है ऐसा मुनिजन कहते हैं। इस अनुभवरसके पीनेके बाद अन्य रसके पीनेकी कभी इच्छा भी नहीं होती। यहीरस जगमें सुखदाता है। यही आनन्दका स्थान है और सन्त पुरुषोंके लिए अभिराम है, इसके धारक शाश्वतपद प्राप्त करते हैं, जैसा कि उनके निम्न पद्यसे प्रकट है—

अनुभौ अखण्डरस धाराधर जग्यौ जहां तहां,दुःखदावानल रंच न रहतु है। करमनिवास भववास-घटा भानवेकौं, परम प्रचण्ड पौन मुनिजन कहतु हैं। याकौ रसपिये फिरि काहूकी न इच्छा होय, यह सुखदानी सदा जगमें महत् हैं। आनंदकौ धाम अभिराम यह संतनकौ याहीके धरैया पद सासतौ लहतु हैं ॥१२७॥

गुण अनंतके रस सबै अनुभौरसके मांहि।
यातैं अनुभवसारिखौ और दूसरो नांहि ॥१२८॥

कविवरने इन पद्योंमें कितना मार्मिक उपदेश दिया है, इसे बतलानेकी आवश्यकता नहीं, अध्यात्मरसके रसिक मुमुक्षुजन उससे भलीभांति परिचित है। इस तरह यह सारा ही ग्रंथ उपदेशात्मक अनेकभावपूर्ण सरस पद्योंसे ओत-प्रोत है। इस ग्रन्थका रसास्वादन करते हुए यह पद पद पर अनुभव होता है कि कविकी आन्तरिकभावना कितनी विशुद्ध है और वह आत्मतत्त्वके अनुभवसे विहीन जीवोंको उसका सहज ही पथिक बनानेका प्रयत्न करती है।

उपदेशरत्नमाला—इस ग्रन्थमें भी कविने सैद्धान्तिक उपदेशोंको पद्योंमें अंकित कर जीवात्माको भववासकी कीचड़से निकालनेका प्रयत्न किया है, साथ ही, आत्मतत्त्वको परखने उसकी प्रतीति करनेकी प्रेरणा की है। जान पड़ता है कविको जीवोंकी परपरिणतिसे होने वाली दुखदा अवस्थाका भान है, उन्हें परपरणतिमें निमग्न जीवोंकी दुखपरम्परा असह्य हो रही है इसी कारण उसके दूर करने की बारम्बार चेतावनी दी है—जीवात्माकी भूल सुझानेका उपक्रम किया है जैसा कि ग्रन्थके निम्नपद्यों से प्रकट है—

अतुल अविद्या वसि परे, धरैं न आतमज्ञान।
पर परिणति में पगि रहे, कैसे ह्वै निरवान ॥५॥

मानि पर आपो प्रेम करत शरीरसेती, कामिनी कनक मांहिकरै मोह भावना। लोकलाज लागि मूढ आपनौ अकाज करै, जानैं नहीं जे जे दुख परगति पावना। परिवार प्यार करि बांधैं भव-भार महा, बिनु ही विवेक करै काल का गमावना। कहै गुरुज्ञान नावबैठ भव-सिन्धुतरि, शिवथान पाय सदा अचल रहावना ॥६॥

स्वरूपानन्द—इसमें अचल, अनुपम, अज, ज्ञानानन्द, आत्माके चितस्वरूपका अनुभव करनेमें जो निर्विकल्प आनन्द आता है, उसीमें रत रहने, विकारी भावोंको छोड़ कर निज स्वरूपमें स्थिर होनेकी प्रेरणा करते हुए उसका फल शिवपद बतलाया गया है। जैसा कि ग्रन्थके निम्न दोहे से प्रकट है—

अचल अखण्डित ज्ञानमय, आनन्दघन गुणधाम।
अनुभौ ताकौ कीजिये, शिवपद ह्वै अभिराम ॥७६॥

अन्तिम ग्रन्थ 'एक सवैया' की विस्तृत टीका है। जिसमें

वस्तुके स्वरूपका विस्तृत विवेचन किया गया है और नट तथा उसकी कलाके दृष्टान्त द्वारा विषयका स्पष्टी करण किया गया है।

ग्रन्थ कर्ताकी अन्य क्या कृतियां हैं। यह कुछ ज्ञात नहीं होता। प्राप्त होने पर उनका भी परिचय बादको दिया जावेगा।

सम्यग्दृष्टि और उसका व्यवहार

(क्षुल्लक सिद्धिसागर जी)

नेत्रमें पीडा वगैरहके रहने पर जैसे दृष्टि ठीक नहीं होती है वैसे ही जीवकी श्रद्धा जब तक निरपेक्षवादके रोगसे युक्त होती तब तक वह श्रद्धा वास्तविक श्रद्धा नहीं होती है किन्तु जब वह उससे रहित स्याद्वादसे युक्त होती है तब वही दृष्टि सम्यग्दृष्टि हो जाती है। उस सापेक्षवादसे युक्त श्रद्धा आत्मासे कथञ्चित अभिन्न है अतः वह आत्मा भी सम्यग्दृष्टि कहलाती है। दुरभिनिवेशके कारण जीव तीव्रतम अनंतानुबन्धी कषायसे सहित होता है उससे उसके मनमें असमत्व रूप पीडा रहती है - वह पीडा उसकी श्रद्धारूप दृष्टि ज्ञान और आचरणको मिथ्या बना देती है - किन्तु उस दुरभिनिवेशके दूर होने पर मनको समत्व[१] होता है, पीडा दूर हो जाती, दृष्टिमें समीचीनता आ जाती है। ज्ञान सच्चा ज्ञान हो जाता है, और आचरण अपने योग्य सदाचारमें परिणत हो जाता है।

कोई जीव निश्चयको भूतार्थ और व्यवहारको अभूतार्थ मानता है किन्तु दुरभिनिवेशके होनेसे वह भूतार्थको—यथार्थ वस्तुस्थितिको—नहीं मानता है अतः प्रायः वह संसार युक्त है - मिथ्यादृष्टि है २।

व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकारके समीचीन नयोंको अकलङ्क निश्चय-आत्मक बतलाते हैं - इस विषयमें न्याय-कुमुदचन्द्रका नय-सम्बन्धी विवेचन मनन करने योग्य है।

भगवान् कुन्दकुन्दने समयसारकी ग्यारहवीं गाथामें जो 'दु' शब्दका प्रयोग किया है वह दुरभिनिवेशके निषेध-करनेके लिए भी दिया है - वे कहते हैं कि :—व्यवहार अभूतार्थ है और निश्चय भूतार्थ है इस प्रकारका दुरभिनिवेश नहीं रखना चाहिए चूंकि यथार्थ बोध या स्याद्वादका आश्रय करनेवाला जीव ही मिथ्यादृष्टिसे सम्यग्दृष्टि हो सकता है—अथवा अभूतार्थको अभूतार्थ और भूतार्थको भूतार्थ मानने वाला सम्यग्दृष्टि है ऐसा अर्थ लेने पर वह 'दु' शब्द संयोजक भी है३। अभिनिवेशसे युक्त व्यवहार अभूतार्थ है तथा शुद्धनय - सम्यग्नय - दुरभिनिवेशरहितनय-सापेक्षनय सापेक्षयुक्ति या सापेक्षन्याय भूतार्थ है - इस प्रकारसे॰ प्रमाण-नयात्मक युक्तिका या भूतार्थका आश्रय करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

सम्यग्दृष्टिको दुर्गतिका भय नहीं होता चूंकि वह सम्यक्त्वकी अवस्थामें दुर्गतिका बन्ध नहीं करता है किन्तु सम्यक्त्वरूपी मूल धनका संरक्षण हो वैसे प्रयत्न करता है - चूंकि उसके छूटने पर दुर्गतिका बन्ध भी हो सकता है - वह इन्द्रिय नोइन्द्रियके विषयों और त्रस-स्थावरकी हिंसासे विरक्त नहीं है और न उसमें प्रवृत्त ही होता है॥ वह विषयासक्त भी होता है सदा आरंभमें भी लगा रहता है तो भी वह उनको हेय मानता है - अतः न्यायोचित विषयासक्ति और आरंभमें हेय बुद्धि होनेसे अन्याय और अभक्ष्य को भी सेवन नहीं करता है और उन्हें हेय मानता है"४। यह अर्थ जीवकाण्ड५ की २९वीं गाथाके अपि शब्दसे

(१) एकान्तधर्माभिनिवेशमूला रागादयोऽहंकृतिजा जनानाम्
एकान्तहानाच्च स यत्तदेव, स्वाभाविकत्वाच्च समंमनस्ते॥
—युक्त्यनुशासने, स्वामिसमन्तभद्रः

(२) निश्चयमिहभूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थं।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाये अमृतचन्द्रः

(३) ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥११॥

॰ प्रमाणनयात्मिका युक्तिर्या यः शुद्धनयः।

(४) णो इंदियेसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो॥२९॥
गो. जीवकाण्ड

(५) विसयासत्तोवि. सया सव्वारंभेसु वट्टमाणो वि,
(इट्ठि) सव्वं हेयं मरणादे, एसो मोहविलासो इदि।

व्यक्त होती है—सम्यग्दृष्टि पापके कारणों और धूर्ततासे भी१ रहित होता है इसलिए त्याग न होते हुए भी मद्य, मांस, मधु और उदु बर फलोंका भक्षण नहीं करता है दुरितायतनके२ बर्जन करनेसे वह जैनधर्मकी देशनाका पात्र होता है।

सम्यग्दृष्टि यदि व्रत रहित है तो भी वह देव इन्द्र और नरेंद्रोंके द्वारा वन्दनीय होता है और स्वर्गके सुखको पाता है। —(कार्तिकेय द्वादश-अनुप्रेक्षा गा. ३२६)।

वह रत्नोंमें सम्यक्त्वको महारत्न, योगोंमें उत्तमयोग, रिद्धियोंमें महारिद्धि और सम्पूर्ण सिद्धियोंको करनेवाला मानता है। —का. अनु. गा. ३२५

द्रव्य थे, हैं और रहेंगे इस मान्यतासे वह सात प्रकारके भयोंसे रहित होता है चूंकि किसी भी द्रव्यको निर्मूलध्वंस करनेकी योग्यता किसीभी द्रव्य या पर्यायमें नहीं है।

सर्वज्ञ सर्वद्रव्यों और उनकी पर्यायोंको सर्व प्रकारसे विधिवत जानते हैं इस प्रकार वह आगमके द्वारा सब द्रव्य और पर्यायोंको संक्षिप्तमें जान लेता है—अविश्वास नहीं करता है वह सद्दृष्टि है भले ही प्रत्यक्ष रूपसे सर्व द्रव्योंकी पर्यायोंको उसने न जाना हो३।

यदि व्यंतर देव ही लक्ष्मी देता है तो धर्म क्यों किया जावे ? वह तो विचार करता है कि अपने शुभ या अशुभ परिणाम रूप अपराधसे जो इसने पुण्य या पाप संचित किया है उसके उदयानुसार या पुरुषार्थसे बुद्धिपूर्वक यह अपना उपकार या अपकार करता है—

सम्यग्दृष्टि उत्तमगुणानुरक्त, उत्तमसाधुओंका भक्त और साधर्मीका अनुरागी है वह उत्तम सम्यग्दृष्टि है—(का. अनु.)

सम्यग्दृष्टि यह विश्वास करता है कि उपशम और क्षयोपशम सम्यक्त्व असंख्यातवार भी हो सकता है—पं० बनारसीदासके दृष्टान्तानुसार वह लुहारकी संडासीके समान है—चूंकि लुहारकी सन्डासी क्षणमें आगमें गिरती है तो क्षण में पानीमें वैसे ही उपशम या क्षयोपशम सम्यक्त्व भी कभी मिथ्यात्वरूप और कभी सम्यक्त्वरूप हो सकते हैं—उसके अन्तःकरणमें यह तीव्र अहंकार नहीं है—कि शरीरसे प्रेम ही नहीं होता है या कोई भय होता ही नहीं है भले ही सम्यग्दृष्टिके शरीर आदिक परवस्तु पर अनंतानुबन्धीसे सम्बन्धित भय ममत्वादिक न रहें—किन्तु शेष २१ कषायोंका किसीरूपमें सद्भाव हो भी सकता है और नहीं भी।

जो जीव सम्यक्त्वसे रिक्त होता है व्यर्थ अत्यन्त आग्रही होता है किन्तु सम्यग्दृष्टिके * युक्ताहार विहार आदिक होनेसे बाह्य प्रकृतिमें बड़ा भारी अन्तर पड़ जाता है—अपूर्व आत्मिक प्रसन्नता और अनाकुलता पर प्रेम भी उसका अनूठा ही होता है वन उपवन सुन्दर दृश्य और शहरोंमें सुख या शान्ति नहीं है किन्तु जो आत्माके प्रदेशोंमें अपने ज्ञानादिक गुणोंको अनुभव करते हुए यथाशक्य सम्पूर्ण इच्छाओंसे रहित रहनेमें सुख मानता है—पहले अशुभ परिणामका त्याग कर पुनः शुभ परिणामका यद्यपि वे दोनों युगपद हेय है—अशुभसे निवृत्त होना और शुभमें प्रवृत्त होना क्रमको रखता है—अतः व्रत समिति और गुप्तिकी प्रवृत्तिको प्राप्त होनेवाला पापसे निवृत्त होता है पुनः शुभसे भी संयमी ध्यानी आत्मसात होते हुए शुद्ध निरपराध—रत्नत्रयरूप परिणत होते हुए—सहकारी कारणके पूर्ण होने पर मुक्त होता है—(१०) क्रमके बिना शुद्धोपयोग और मुक्त अवस्थाको आत्मा नहीं पा सकता है।

(१) अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनानि अमूनि परिवर्ज्य
जिनधर्मदेशनायाः भवन्ति पात्राणि शुद्धधिया ॥
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाये अमृतचन्द्रः

(२) सुरा-मत्स्यान् पशोर्मांसम् , द्विजातीनां बलिस्तथा
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतत् , नैतद् वेदेषु विद्यते ॥
महाभारत शांतिपर्वमें पितामह भीष्म धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते है—

(३) एवं जो णिच्चयदो, जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए ।
सोसद्दिट्ठी सुद्धो, जो संकदि सोहु कुद्दिट्ठी ॥३२३॥
सुहजोगेसु पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धवजोगेण संभवदि ॥६३॥
—कुन्दकुन्द द्वादशानुप्रेक्षा

*न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीःइत्यादि सागारधर्मामृत

पोसहरास और भ० ज्ञानभूषण

(परमानन्द जैन)

इस ग्रन्थ का आदि अन्त भाग श्री क्षुल्लक सिद्धिसागर-जीने मोजमाबाद (जयपुर) के शास्त्रभंडारसे भेजा है जिसके लिये मैं उनका आभारी हूँ। ग्रन्थमें प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास करनेका उल्लेख किया गया है। ग्रन्थका आदि अन्त भाग निम्न प्रकार हैं।

आदि भाग—

सरसति चरण युगल प्रणमी सहित गुरूमनि आणु।
बारह वरत महि साग्वरत, पोसह वरत बखाणु ॥ १ ॥
अट्ठमी चउदसनीसहित, नित पोसह लीजइ।
उत्तम मध्यम अधम भेद, तिहुविधि जाणिजइ ॥ २ ॥

अन्त भाग—

वरइ रमणी मुकतीजस नाम,
अनुपम सुख अनुभव इह ठाम।
पुन रपि न आवइ नेह वउ-फलु,
जस गमइ ते नर पोसह कारन भावइ।
दोहा—राणी परिपोसहु धरहु, जे नर नारि सुजाण।
श्रीज्ञानभूषण गुरु इम भणइ, ते नर करउ बखाण ॥

इस प्रोषधरासके कर्ता भ० ज्ञानभूषण हैं। ग्रन्थोंमें ज्ञानभूषण नामके दो विद्वान भट्टारकोंका उल्लेख मिलता है। जिनका समय, गुरु शिष्य परम्परा भी भिन्न-भिन्न है, जिस पर किसी विद्वानने अब तक कोई प्रकाश डाला ज्ञात नहीं होता। अभी तक ज्ञानभूषणके नामसे एक विद्वानका ही उल्लेख बराबर देखनेमें आता है। जैन ग्रन्थप्रशस्ति-संग्रहकी प्रस्तावना लिखते समय मेरा ध्यान भी उस ओर नहीं गया, किन्तु अब उस पर दृष्टि जाते ही उन दोनोंकी पृथकताका आभास सहज ही हो गया। इन दोनों ज्ञान-भूषणोंमेंसे प्रथम ज्ञानभूषण वे हैं जो भ० सकलकीर्तिके पट्टधर शिष्य भुवनकीर्तिके शिष्य थे। और दूसरे ज्ञानभूषण वे हैं जो भ० देवेन्द्रकीर्तिकी परम्पराओंमें होने वाले भट्टारक लक्ष्मीचन्द्रके प्रशिष्य और वीरचन्द्रके पट्टधर शिष्य थे। यही कारण है कि प्रस्तुत ज्ञानभूषणने भ० लक्ष्मीचन्द्र और वीरचन्द्रका अपने टीका-ग्रन्थोंमें स्मरण किया है जैसा कि जिनचन्द्रके सिद्धान्तसारभाष्यके मंगल पद्यसे स्पष्ट है:—

श्री सर्वज्ञं प्रणम्यादौ लक्ष्मी-वीरेन्दुसेवितम्।
भाष्यं सिद्धान्तसारस्य वक्ष्ये ज्ञानसुभूषणम् ॥ ११ ॥

वीरचन्द्रके शिष्य ज्ञानभूषणको कर्मकाण्ड (कर्म प्रकृति) टीकाका अन्तिम प्रशस्तिमें सुमतिकीर्तिने वीरचन्द्रका अन्वयी और मूलसंघका विद्वान सूचित किया है।

'मूलसंघे महासाधुर्लक्ष्मीचन्द्रो यतीश्वरः।
तस्य पट्टे च वीरेन्दु विबुधो विश्ववंदितः ॥ १ ॥
तदन्वये दयाम्भोधिर्ज्ञानभूषो गुणाकरः।'

चूँकि भुवनकीर्तिके शिष्य ज्ञानभूषणने वि० सं० १५६० में तत्त्वज्ञानतरंगिणी बनाकर समाप्त की है। इनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तिलेखोंमें इनका समय वि० सं० १५३४ से १५६० तक पाया जाता है। जिससे वे विक्रमकी १६ वीं शताब्दीके मध्यवर्ती विद्वान जान पड़ते हैं। किन्तु द्वितीय ज्ञानभूषणका समय इससे कुछ बादका है; क्योंकि भट्टारक लक्ष्मीचन्द्रके गुरु मल्लिभूषणका समय सं० १५३० से १५५० के लगभग है उससे कमसे कम ३० वर्षके बादका समय भ० ज्ञानभूषणका होना चाहिये। यद्यपि ३० वर्षका यह समय दोनों विद्वानोंका अधिक नहीं है। अर्थात् द्वितीय ज्ञानभूषण सं० १५८०के बादके विद्वान जानना चाहिये। साथ ही जिन ग्रन्थोंमें उन्हें लक्ष्मीचन्द्र वीरचन्द्रका शिष्य सूचित किया गया है वे सब रचनाएँ द्वितीय ज्ञानभूषणकी मानना चाहिए। इन्होंने कुछ ग्रन्थोंकी टीकाएँ अपने प्रशिष्य और भ० प्रभाचन्द्रके शिष्य भ० सुमतिकीर्तिके साथ भी बनाई हैं। उदाहरणके लिये कम्मपयडी (कर्मकाण्ड) टीका जिसे ज्ञानभूषणके नामांकित भी किया गया है। सुमतिकीर्तिके साथ बनाई गई है।

इस सब विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानभूषण नामके दोनों विद्वान उक्त दोनों परम्पराओंमें हुए हैं, जिनका समयादिक सब भिन्न है। इनमेंसे प्रथम ज्ञानभूषणकी निम्न कृतियोंका पता चला है जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१ तत्त्वज्ञान तरंगिणी स्वो० टीका युक्त, २ आदिनाथ फाग, ३ नेमिनिर्वाणकाव्य पंजिका, ४ परमार्थोपदेश, ५ सरस्वती स्तवन, ६ आत्म-सम्बोधन।

दूसरे ज्ञानभूषणकी निम्न रचनाएँ हैं—

१ जीवंधररास २ सिद्धान्तसारभाष्य ३ कम्मपयडी टीका (कर्मकाण्ड टीका)

इन तीन कृतियोंके अतिरिक्त प्रस्तुत 'पोसह रास' (प्रोषधरास) भी इन्हींकी कृति जान पड़ती है। अन्य क्या क्या रचनाएँ इन दोनों विद्वानों द्वारा यथा समय रची गई हैं उनकी खोज ग्रन्थ-भण्डारोंसे करनेकी जरूरत है। आशा है विद्वद्गण इस ओर भी ध्यान देनेकी कृपा करेंगे।

मुक्ति-गान
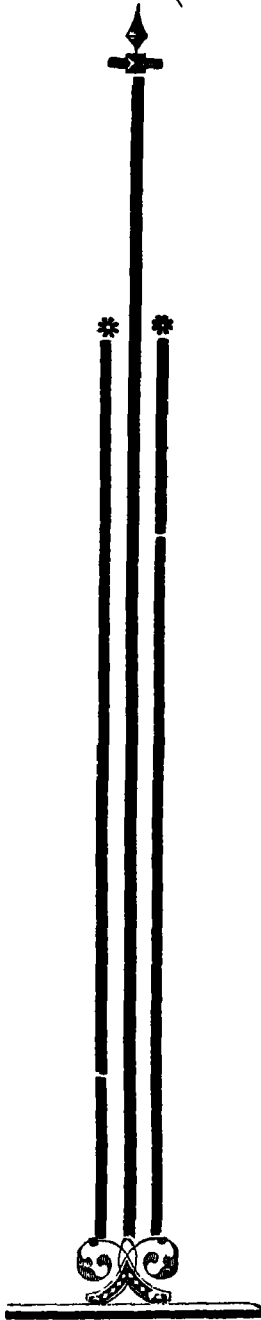
राही ! तू अभिशापों को वरदान बनाता चल ।

जीवन है; उत्थान-पतन तो होते हैं पल-पल में ;
सागर है; इसमें ज्वार-भाट तो उठते हैं क्षण-क्षण में ;
यहां प्रणय में सदा विरह की पीर छुपी रहती है ;
और सुखों के निर्झर से भी व्यथा-सरित् बहती है ;
यह सुख-दुख का घटी-यन्त्र चलता है; तू भी चल ;
राही ! तू अभिशापों को वरदान बनाता चल ।

मान और अपमान यहाँ की रीति यही निश्चल ;
दुर्बल को पद-घात; सबल को होता है पद-दान यहां पर ;
यहां व्यक्ति की प्रगति; व्यक्ति में द्वेष-भाव जनती है ;
यहां व्यक्ति की शक्ति कुचलती श्रान्त पथिक के पर है ;
जग के छल को नमस्कार कर; निश्छल बनता चल ;
राही ! तू अभिशापों को वरदान बनाता चल ।

जग की उलझन युग-युग से चलती आयी है यों ही ;
स्वार्थ व्यक्ति में जगा रहा है 'अहं' सदा से यों ही ;
तू अपना पथ देख; जन्म के बाद बालपन आता ;
चल-यौवन; फिर शुभ्र-केश; फिर मृत्यु बुलावा आता ;
ओ नौजवान ! अनमिल यौवन का मोल चुकाता चल ;
राही ! तू अभिशापों को वरदान बनाता चल ।

आज तुझे दृग-ज्ञान-चरण की नाव मिली सागर में ;
मनन और चिन्तन के दृढ़ पतवार मिले ज्वारों में ;
कर्म-बन्ध को खोल; तोड़ झकझोर, अरे ! तू शक्तिमान है;
चल दे आत्म-विभोर; पन्थ का पास अरे ! अवसान है ;
अगम पन्थ को सुगम बना; शिव-नगरी में पद धर ;
राही ! तू अभिशापों को वरदान बनाता चल ।

मनु 'ज्ञानार्थी'
'साहित्य-रत्न'

ॐ अर्हम्

वर्ष १३ किरण ५ | वीरसेवामन्दिर, C/o दि० जैन लालमन्दिर, चाँदनी चौक, देहली मार्गशीर्ष, वीर नि० संवत २४८१, वि० संवत २०११ | नवम्बर १९५४

समन्तभद्र-भारती

देवागम

अद्वैतैकान्त-पक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरुध्यते । कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात्प्रजायते ॥ २४ ॥

'यदि अद्वैत एकान्तका पक्ष लिया जाय—यह माना जाय कि वस्तुतत्त्व सर्वथा दुई (द्वितीयता) से रहित एक ही रूप है —तो कारकों और क्रियाओंका जो भेद (नानापन) प्रत्यक्ष प्रमाणसे जाना जाता अथवा स्पष्ट दिखाई देनेवाला लोकप्रसिद्ध (सत्य) है वह विरोधको प्राप्त होता (मिथ्या ठहरता) है—कर्ता, कर्म, करणादि रूपमें जो सात कारक अपने असंख्य तथा अनन्त भेदोंको लिये हुए हैं उनका वह भेद-प्रभेद नहीं बनता और न क्रियाओंका चलना-ठहरना, उपजना-विनशना, पचाना-जलाना, सकोड़ना-पसारना, खाना-पीना और देखना-जानना आदि रूप कोई विकल्प ही बनता है: फलतः सारा लोक-व्यवहार बिगड़ जाता है । (यदि यह कहा जाय कि जो एक है वही विभिन्न कारकों तथा क्रियाओंके रूपमें परिणत होता है तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि) जो कोई एक है—सर्वथा अकेला एवं असहाय है—वह अपनेसे ही उत्पन्न नहीं होता ।—उसका उस रूपमें जनक और जन्मका कारणादिक दूसरा ही होता है, दूसरेके अस्तित्व एवं निमित्तके बिना वह स्वयं विभिन्न कारकों तथा क्रियाओंके रूपमें परिणत नहीं हो सकता ।

कर्म-द्वैतं फल-द्वैतं लोक-द्वैतं च नो भवेत् । विद्याऽविद्या-द्वयं न स्याद्बन्ध मोक्ष-द्वयं तथा ॥ २५ ॥

'(सर्वथा अद्वैत सिद्धान्तके माननेपर) कर्म-द्वैत-शुभ-अशुभ कर्मका जोड़ा, फल-द्वैत-पुण्य-पापरूप अच्छे-बुरे फलका जोड़ा और लोक-द्वैत—फल भोगनेके स्थानरूप इहलोक-परलोकका जोड़ा नहीं बनता । (इसी तरह) विद्या-अविद्याका द्वैत (जोड़ा) तथा बन्ध-मोक्षका द्वैत (जोड़ा) भी नहीं बनता । इन द्वैतों (जोड़ों) मेंसे किसी भी द्वैतके माननेपर सर्वथा अद्वैतका एकान्त बाधित होता है । और यदि प्रत्येक जोड़ेकी किसी एक वस्तुका लोप कर दूसरी वस्तुका ही ग्रहण किया जाय तो उस दूसरी वस्तुके भी लोपका प्रसंग आता है; क्योंकि एकके बिना दूसरीका अस्तित्व नहीं बनता, और इस तरह भी सारे व्यवहारका लोप ठहरता है ।'

श्रीवीर-जिन-पूजाष्टक

(जुगलकिशोर युगवीर)

वीर-वन्दना

शुद्धि-शक्तिकी पराकाष्ठा, को अतुलित-प्रशांतिके साथ ।
पा, सत्तीर्थ प्रवृत्त किया जिन, नमूँ वीरप्रभु साऽञ्जलि-माथ ॥१॥

पूजन-प्रतिज्ञा

आज वीरप्रभु पूजा करने, आया हूँ तज कर सब काम;
मूर्ति सातिशय अनुपम तेरी, राजत है सम्मुख अभिराम ।
उसके द्वारा ध्यान लगाकर, आराधूँ मैं अपना राम;
आओ तिष्ठो हृद् मन्दिरमें, खुला द्वार है हे गुण धाम ॥२॥

पूजाऽष्टक

जल मलहारी विख्यात, अन्तर्मल न हरे; हो वह समता-रस प्राप्त, कर्म-कलंक धुले ।
समता-रस-धर श्रीवीर, मंगल-दायक हैं; जय केवल-ज्योति-स्वरूप, त्रिभुवन-नायक हैं ॥१॥
चन्दन शीतल पर नाहिं अन्तर्दाह हरे; प्रगटे अकषाय-स्वभाव, भव-आताप टरे ।
भव-दुख-हारी श्रीवीर, मंगल-दायक हैं; जय केवल-ज्योति-स्वरूप, त्रिभुवन-नायक हैं ॥२॥
अक्षत सेवत दिन-रात, अक्षय गुण न करें; हो गुण-विकास बलवान, अक्षय-पद प्रगटे ।
अक्षय-गुण-प्राप्त सुवीर, मंगल-दायक हैं; जय केवल-ज्योति-स्वरूप, त्रिभुवन-नायक हैं ॥३॥
प्रभु, कुसुम-शरोंकी मार, मनको व्यथित करे; हो अनुभव-शक्ति प्रदीप्त, मन्मथ दूर भगे ।
मन्मथ-विजयी जिन वीर, मंगल-दायक हैं; जय केवल ज्योति-स्वरूप, त्रिभुवन-नायक हैं ॥४॥
नाना-विध खाद्य पदार्थ, खाते हम हारे; नहिं क्षुधा हुई निर्मूल, आए तुम द्वारे ।
क्षुत्तृड्-नाशक श्रीवीर, मंगल-दायक हैं; जय केवल-ज्योति-स्वरूप, त्रिभुवन-नायक हैं ॥५॥
दीपक तम-हर सुप्रसिद्ध, अन्ततम न हरे; मैं खोजूँ आत्म-स्वरूप, ज्ञान-शिखा प्रगटे ।
अज्ञान-तिमिर-हर वीर, मंगल-दायक हैं; जय केवल ज्योति-स्वरूप, त्रिभुवन-नायक हैं ॥६॥
अग्नीन्धन धूप अनूप, नहि निज काज सरे; कर्मेन्धन-दाहन-हेत, योगाऽनल प्रजरे ।
योगेश्वर वीर सुधीर, मंगल-दायक हैं; जय केवल-ज्योति-स्वरूप, त्रिभुवन-नायक हैं ॥७॥
फल पाए भोगे खूब, पर परतन्त्र रहे; हो शिव-फल-प्राप्ति अनूप, निज स्वातन्त्र्य लहें ।
शिव-मय स्वतन्त्र श्रीवीर, मंगल-दायक हैं; जय केवल-ज्योति स्वरूप, त्रिभुवन-नायक हैं ॥८॥
इन जल-फलादिसे नाथ, पूजत युग बीते; नहिं हुए विमल 'युगवीर', अब तुम ढिग आए ।
मल-दोष-रहित श्रीवीर, मंगल-दायक हैं; जय केवल-ज्योति-स्वरूप, त्रिभुवन-नायक हैं ॥९॥

आशीर्वाद

मंगलमय जिन वीरको, जो ध्यावें युग-वीर ।
सब दुख-संकट पार कर, लहें भवोदधि-तीर ॥१॥

हुंबड या हूमडवंश और उसके महत्वपूर्ण कार्य

(परमानन्द जैन शास्त्री)

जैनसमाजमें खंडेलवाल, अग्रवाल जैसवाल, पद्मावती-पुरवाल, बघेरवाल परवार और गोलापूर्व आदि ८४ उप जातियोंका उल्लेख मिलता है। इन जातियोंमें कुछ जातियाँ ऐसी भी हैं जिनमें जैनधर्म और वैष्णवधर्मकी मान्यता है, ये जातियां किसी समय जैनधर्मसे ही विभूषित थी; किन्तु परिस्थितिवश वे आज हमसे दूर पड़ी हुई हैं। बुन्देलखण्डमें फूलमालाकी बोली बोलते समय एक जयमाला पढ़ी जाती है जिसे 'फूलमाल पच्चीसी' कहा जाता है, उसमें जैनियोंकी उन चौरासी उपजातियोंके नामोंका उल्लेख किया गया है। इन जातियोंका क्या इतिवृत्त है और वे कब और कैसे उदय को प्राप्त हुई? इसका कोई इतिहास नहीं मिलता। इन्हीं जातियोंमें एक जाति 'हुम्बड' या 'हूमड' कहलाती है। इस जातिका उदय कब और कैसे हुआ और उसका 'हुम्बड' या 'हूमड' नाम लोकमें कैसे प्रथित हुआ इसका प्राचीनतम कोई प्रामाणिक उल्लेख मेरे देखनेमें नहीं आया। हो सकता है कि जिस तरह खण्डेलवाल, जैसवाल, आदि जातियोंका नामकरण ग्राम और नगरोंके आधार पर हुआ है। उसी तरह हुम्बड जातिका नाम-करण भी किसी ग्राम या नगरके कारण हुआ हो। अतः सामग्रीके अभावसे उसके सम्बन्धमें विशेष विचार करना इस समय संभव नहीं है।

इस जातिका निवासस्थान गुजरात और बम्बई प्रान्त रहा है किन्तु ईडरमें मुसलमानों के आ जाने और राज्यसत्ता राष्ट्रकूटों (राठोरों) के पाससे चली जाने पर हूमडवंशके प्रतिष्ठित जन वहांसे बागड़ प्रान्त और राजस्थानमें भी बस गए थे। प्रतापगढमें इनकी संख्या अधिक है। यह जाति दो विभागोंमें बटी हुई है दस्सा और बीसा। यह दस्सा बीसा भेद केवल हुम्बड जातिमें नहीं है किन्तु अग्र-वालोंमें भी उसका प्रचार है। इस जातिमें इन दोनों नाम वाले विभागोंका कब प्रचलन हुआ, यह विचारणीय है। इस जातिमें अनेक प्रतिष्ठित और धर्मनिष्ठ व्यक्ति हुए हैं और उन्होंने राजनीतिमें भाग लेकर अनेक राज्याश्रयोंको प्राप्त कर महामात्य और कोषाध्यक्ष आदिक उच्चतम पदोंको पाकर जनताकी सेवा की है×। यह धन-जनसे जैसे सम्पन्न रहे हैं वैसे ही वे उदार भी रहे हैं। इनके द्वारा प्रतिष्ठित एवं सम्पन्न धार्मिक कार्योंको देखकर इनकी महत्ताके और उनके बाद राज्य गद्दी पर आसीन हुए थे। इनके दो पुत्र हुए थे सूरजमल और भीमसिंह। इन्होंने सम्वत् १५०२ से १५५२ तक राज्य किया है। इनके राज्यसमयमें हुबंड-वंशी भोजराज उनके महामात्य थे, उनकी पत्नीका नाम विनयदेवी था, उससे चार पुत्र उत्पन्न हुए थे, कर्मसिंह, कुलभूषण, श्रीघोपर और गङ्ग। इनकी एक बहिन भी थी, जो सीताके समान शीलवती थी। उसने ब्रह्म श्रुतसागरके साथ गजपंथ और तुंगीगिरकी यात्रा की थी। जैसा कि पल्ल विधान कथाके निम्न पद्योंसे स्पष्ट है:—

श्रीभानुभूपतिभुजाऽसि जलप्रवाह
निर्मग्नशत्रु-कुलजात ततः प्रभावः।
सद्वृद्धहुम्बडकुले बृहतीलदुर्गे
श्री भोजराज इति मंत्रिवरो बभूव ॥४४॥
भार्याऽस्य सा विनयदेव्यभिधा सुधोप-
सोद्गारवाक्कमलकांतमुखी सखीव।
लक्ष्म्याः प्रभोर्जिनवरस्य पदाब्जभृंगी,
सार्ध्वीपतिव्रतगुणा मणिवन्महार्घ्या ॥४५॥
साऽसूत भूरिगुणरत्नविभूपितांगं
श्री कर्मसिंहमिति पुत्रमनूकरत्नम्।
कालं च शत्रु-कुल-कालमनूनपुण्यं
श्री घोपरं घनतराघगिरींद्रवज्रम् ॥४६॥
गंगाजलप्रविमलोच्चमनोनिकेतं
तुर्य च वर्यतरमंगजमत्र गंगम्।
जातापुरस्तदनु पुत्तलिकास्वमेषां
वक्त्रेपु सज्जिनवरस्य सरस्वतीव ॥ ४७ ॥
सम्यक्त्ववदाढ्यर्यकलिता किल रेवतीव
सीतेव शीलसलिलोक्षितभूरिभूमिः।
राजीमतीव सुभगा गुणरत्नराशि-
र्वेलासरस्वति इवांचति पत्तलीह ॥ ४८ ॥
यात्रां चकार गजपन्थ गिरौ ससंघा-
ह्यतत्तपो विदधती सुदृढव्रता सा।
सच्छान्तिकं गणसमर्चनमर्हदीशं
नित्यार्चनं सकलसंघमदत्तदानम् ॥ ४९ ॥
(देखो जैनग्रंथप्रशस्ति संग्रह पृ० २१६)

× ईडरके राठौर राजा भानुभूपति (रावभाण जी) जो राव-पुंजोजीके प्रथमपुत्र और राव नारायणदासके भाई थे।

सम्बन्धमें कोई सन्देह नहीं रहता। इनके द्वारा निर्मित विशाल मन्दिर-मूर्तियाँ और शास्त्रभण्डार इनकी धर्म-प्रियताके ज्वलन्त उदाहरण हैं। बागड़ प्रान्तमें तीन जातियोंके अस्तित्वका पता चलता है, नरसिंहपुरा, नागदा और हुम्बड। हुम्बड़ोंमें काष्ठासंघी और मूलसंघी पाये जाते हैं। परन्तु मूलसंघियों की संख्या कम पाई जाती है। नागदा जिसे नागद्रह भी कहा जाता है और जो 'नन्दियड' का अपभ्रंश है। हूमडोंमें शाखा और गच्छ भी पाये जाते हैं। इनमें लघुशाखा, बृहत्शाखा और वर्षावतशाखा आदिके उल्लेख भी मिलते हैं। परन्तु गच्छ सबका प्रायः 'सरस्वति' कहा जाता है। इनमें १८ गोत्र प्रचलित हैं※। परन्तु उनमें मंत्रेश्वर, कमलेश्वर, बुद्धेश्वर और काकडेश्वर आदि गोत्र वाले अधिक संख्यामें पाए जाते हैं। कारोबारके अनुसार इन्हें कोटड़िया, शाह और गांधी आदि नामोंसे भी पुकारा जाता है। दस्सा हूमड़ोंका बीसा हूमडोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इनके १८ गोत्रोंके नाम इस प्रकार हैं—

१. खेरजू, २. कमलेश्वर, ३. काकडेश्वर, ४. उत्तरेश्वर, ५. मंत्रेश्वर, ६. भीमेश्वर, ७. भद्रेश्वर, ८. गंगेश्वर, ९. विश्वेश्वर, १०. संखेश्वर, ११. आम्बेश्वर, १२. चाचनेश्वर, १३. सोमेश्वर, १४. राजियानो, १५. ललितेश्वर, १६. काशवेश्वर, १७. बुद्धेश्वर और १८. संघेश्वर।

इन गोत्रोंके अलावा एक 'वजीयान' गोत्रका उल्लेख और भी पाया जाता है। इस गोत्रधारी बाई हीरोने, जो भट्टारक सकलचन्द्रके द्वारा दीक्षित थी, उसने संवत् १६६८ में सागपत्तन (सागवाडा) में उक्त सकलचन्द्रके उपदेशसे भ० सकलकीर्तिके वर्धमानपुराणकी प्रति लिखवा कर उन्हीं सकलचन्द्रको भेंट की थी†।

हूमडवंश द्वारा निर्मित मन्दिरोंमें सबसे प्राचीन मन्दिर झालावाडस्टेटमें निर्मित झालरापाटनका प्रसिद्ध वह शान्तिनाथका मन्दिर है जिसे हूमडवंशी शाहपीपाने बनवाया था और जिसकी प्रतिष्ठा विक्रम सम्वत् ११०३में भावदेवसूरिके द्वारा सम्पन्न हुई थी। यह मन्दिर बहुत विशाल है और नौ सौ वर्षका समय व्यतीत हो जाने पर भी दर्शकोंके हृदयमें धर्म सेवनकी भावनाको उल्लासित कर रहा है। इस मन्दिर-में जो मूलनायककी मूर्ति है वह बड़ी ही चित्ताकर्षक है। कहा जाता है कि साहू पीपाने इस मन्दिरके निर्माण करनेमें विपुल द्रव्य खर्च किया था। और उसकी प्रतिष्ठामें तो उससे भी अधिक व्यय हुआ था। शाहपीपा जितने वैभवशाली थे उतने ही वे धर्मनिष्ठ और उदारमना भी थे। इनकी समाधि उसी मन्दिरके पासके अहातेमें बनी हुई है।

इस मंदिरमें एक पुराना शास्त्रभण्डार है जिसमें एक हजार हस्तलिखित ग्रन्थोंका अच्छा संग्रह पाया जाता है। चूंकि यह मन्दिर नौ सौ वर्ष जितना प्राचीन है अतः हुम्बड जातिका अस्तित्व भी नौ सौ वर्षसे पूर्वका है कितने पूर्वका यह अभी विचारणीय है। पर सम्भवतः उसकी सीमा १०० वर्ष तो और है ही। हूमडवंश द्वारा प्रतिष्ठित मन्दिर और मूर्तियाँ बागड प्रान्त और गुजरातमें पाई जाती हैं। सुप्रसिद्ध

※ हूमड़ोंकी वर्षावत शाखाका उद्गम वर्षाशाहके नामसे हुआ जान पड़ता है। वर्षाशाह महारावल हरिसिंहके समय उनका मन्त्री था। उसने महारावलकी आज्ञानुसार एक हजार हूमड कुटुम्बोंको सागवाडासे लाकर कांठलमें आबाद किया था यह बात शिलालेखों, दान-पत्रों और पुस्तकोंसे ज्ञात होती है। वर्षाशाहने धर्मभावनासे प्रेरित होकर देवलियामें एक दिगम्बरमन्दिर बनवाना प्रारम्भ किया था जो उसकी मृत्युके बाद पूर्ण हुआ और उसकी प्रतिष्ठाका कार्य उसके पुत्र वर्द्धमान और पौत्र दयालने सं० १७७४ माघ सुदी १३ को सम्पन्न किया था। वर्द्धमान और उसका छोटा भाई उदयभान प्रतापसिंहके समय मन्त्री थे। बादमें उदयभानने मन्त्री पद छोड दिया था किन्तु वर्द्धमान महारावत पृथ्वीसिंहके समय तक प्रधान मन्त्री पद पर रहा था।

(देखो प्रतापगढका इतिहास पृ० ३८३)

† संवत १६६८ वर्षे भाद्रपदमासे शुक्लपक्षे द्वादश्यां रविवासरे श्रीमद्बागडमहादेशे श्रीसागपत्तने श्रीमूलसंघे आचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्रीपद्मनन्दिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्रीसकलकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीभुवनकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भट्टारक श्रीज्ञानभूषणदेवास्तत्पट्टे मण्डलाचार्य श्रीज्ञानकीर्तिदेवास्तत्पट्टे मण्डलाचार्य श्रीरत्नकीर्तिदेवास्तत्पट्टे मण्डलाचार्य श्रीयशःकीर्तिदेवास्तत्पट्टे मण्डलाचार्य श्री-श्रीगुणचन्द्रदेवास्तत्पट्टे मण्डलाचार्यजिनचन्द्रदेवास्तत्पट्टे मण्डलाचार्य श्रीसकलचन्द्रदेवोपदेशात् हुम्बडजातीय वजीयाण-गोत्रे पासडोतसाह जीवा भार्या जीवादे सुत शाह नाका भार्या बाई श्रीतहनायके तया इदं शास्त्रं (वर्द्धमानपुराणं) स्वज्ञानावरणी कर्मक्षयाय सत्पात्राय श्रीसकलचन्द्राय तद्दीक्षिता बाई हीरा लिखाप्य दत्तं।

केशरियाजीके आदिनाथ मन्दिरका जीर्णोद्धार भी उक्तवंशके प्रतिष्ठित सज्जनों द्वारा हुआ है। यह वहांके लेखों परसे प्रकट है। हो सकता है कि सम्वत् ११०३से भी पुरातन मन्दिर हूमड वंशके द्वारा निर्मित रहे हों, पर इस समय इससे पुरातनमन्दिरका उल्लेख मेरी जानकारीमें नहीं है। क्योंकि उक्त मन्दिरके निर्माता पांपा साहूका कुटुम्ब ११वीं शताब्दीका था।

हूमडवंशके द्वारा प्रतिष्ठित अनेक मन्दिर और मूर्तियां बागड और गुजरातमें पाई जाती हैं। इस वंशमें अनेक वैभव सम्पन्न पुरुष हुए हैं जिन्होंने उपार्जित धनको धार्मिक कार्योंमें लगाया है। हूमडवंशने केवल मन्दिर और मूर्तियोंका ही निर्माण नहीं कराया किन्तु अनेक ग्रन्थोंका निर्माण और उनकी प्रतियां लिखा-लिखाकर मुनियों भट्टारकों और विद्वानोंको भेंट दी हैं। जिनके अनेक प्रशस्ति-उल्लेख आज भी पाये जाते हैं। इनके द्वारा लिखाये गये ग्रंथोंमें सबसे पुरातन प्रति 'धर्मशर्माभ्युदय'की कंभाके द्वारा लिखित प्रति संघवीपाडाके श्वेताम्बरीय भंडारमें पाई जाती है। यद्यपि उसमें उसका लिपिकाल दिया हुआ नहीं है किन्तु उसमें कुन्द-कुन्दके वंशमें होने वाले मुनिरामचन्द्र उनके शिष्य शुभकीर्ति और शुभकीर्तिके शिष्य विशालकीर्तिका और उनके शिष्य विजय सिंहका उल्लेख किया गया है। ये मुनिरामचन्द्र वे ही प्रतीत होते हैं जिनका उल्लेख 'चूलगिरी' के सम्वत् १२२३के लेखमें किया गया है×। इससे शुभकीर्ति और विशालकीर्तिका समय यदि ४० वर्ष मानलिया जाय तो भी विशालकीर्तिका अस्तित्व सं० १२७२ या १२८४में पाया जाना असम्भव नहीं है। इससे उक्त प्रति सं० १२८४के लगभगकी लिखी हुई होना चाहिए। दूसरी प्रति सं० १२८७की लिखी हुई उक्त भण्डारमें मौजूद ही है।

इस जातिमें अनेक विद्वान और भट्टारक भी हो गए हैं। यह जाति काष्ठासंघ मूल संघ दोनोंकी अनुगामी रही है। सरस्वति गच्छ दोनोंमें पाया जाता है। विक्रम की १७वीं शताब्दीसे पूर्वका कोई ग्रन्थकार इनमें हुआ हो ऐसा मुझे ज्ञात नहीं हुआ। हां, सत्रहवीं शताब्दीके दो तीन ग्रन्थकर्ताओंका संक्षिप्त परिचय यहां दिया जाता है।

१—ब्रह्म रायमल हूमडवंशके भूषण थे। इनके पिताका नाम 'मह्य' और माताका नाम चम्पा था। यह जिन-चरणोंके उपासक थे। इन्होंने महासागरके तटभागमें समाश्रित 'ग्रीवापुर' के चन्द्रप्रभजिनालयमें वर्णी कर्मसीके वचनोंसे भक्तामरस्तोत्र वृत्तिकी रचना वि० सं० १६६७में आषाढ शुक्ला पंचमीके दिन की थी। ब्रह्म रायमल मुनि अनन्तकीर्तिके शिष्य थे जो रत्नकीर्ति पट्टधर थे। भक्तामरस्तोत्रवृत्तिके अतिरिक्त इनकी निम्न रचानाएँ और उपलब्ध हैं। नेमिश्वररास (सम्वत १६१५), हनुवन्तकथा (१६१६) प्रद्युम्नचरित (१६२८), सुदर्शनरास (१६२९), श्रीपालरास (१६३०) और भविष्यदत्तकथा (१६३३)में बनाकर समाप्त किये है। ये सब रचनाएं हिन्दी गुजराती भाषाको लिए हुए हैं।

२—भट्टारकरत्नचन्द्र हुंबडजातिके महीपाल वैश्य और चम्पादेवीके पुत्र थे। यह मूलसंघ सरस्वतिगच्छके भट्टारक पद्मनन्दीके अन्वयमें होनेवाले सकलचन्द्र भट्टारकके शिष्य थे। इन्होंने सम्वत १६८३में 'सुभौमचक्रिचरित' की रचना बुध तेजपालकी सहायता से की थी।

३—भट्टारक गुणचन्द्र मूलसंघ सरस्वती गच्छ बलात्कारगणके भट्टारक रत्नकीर्तिके प्रशिष्य और उन्हींके द्वारा दीक्षित यशःकीर्तिके शिष्य थे। इन्होंने सागवाडा निवासी हूमडवंशी सेठ हरखचन्द दुर्गादासकी प्रेरणासे अनन्तव्रतके उद्यापनार्थ सं०१६३३में 'अनन्तजिन पूजा'की रचना की थी।

इन सब उल्लेखोंसे हुम्बड जातिकी समृद्धिका संक्षिप्त दिग्दर्शन हो जाता है। हूमडोंमें कुछ श्वेताम्बर सम्प्रदायके भी अनुयायी रहे हैं। यहां उनके द्वारा प्रतिष्ठित कुछ मूर्तिलेखोंका उल्लेख किया जाता है। यद्यपि उनके द्वारा प्रतिष्ठित मूर्तियोंकी संख्या सहस्रों है, फिर भी यहां पाठकोंकी जानकारीके लिए कुछ मूर्ति-लेखों तथा पुस्तक प्रशस्ति लेखोंका दिया जाता है—

मूर्तिलेख—

'संवत् १३०४ वर्षे चैत्र सुदी ८ रवौ सूरततीर्थवास्तव्य हुम्बडज्ञातीय आल्हाशाहका जूरा······सेगल······ प्रमादी कर्तव्या।'

यह लेख धातुकी पद्मावतीकी मूर्ति सूरतका है।

'सम्वत १३६० वर्षे माघ सुदी १३ सोमे श्री काष्ठासंघे श्री लाडवागड गणे श्रीमत् आचार्यसिंहु (च) त्रकीर्ति गुरूपदेशे हुम्बडज्ञातीय व्या० बाहड भार्या लच्छी, सुत व्या। वीमा भार्या राजूदेवी श्रेयोर्थं सुत दिवा भार्या सम्भवदेवी नित्यं प्रणमंति॥' —जैनलेखसंग्रह ॥११३५॥

× देखो, अनेकान्त वर्ष १२ किरणमें प्रकाशित 'हमारी तीर्थयात्राके संस्मरण' नामका लेख पृ० १६२

'सं० १४७२ वर्षे फाल्गुनवदी २ शुक्रे श्रीमूलसंघे हुंबडज्ञातीय उत्तरेश्वर गोत्रे ठ० असपाल भा० स्याणी सुत आजड विजड, आजड भार्या मेघूकी जा भा० वानू श्री पार्श्वनाथ बिम्बं कारितं आत्मश्रेयसे श्रीपद्मनंदि उपदेशेन ।'

— मनावर

सं० १४७२ वर्षे फाल्गुन वदि १ शुक्रवासरे हुंबड ज्ञातीय श्रेष्ठी मलखमा भार्या सलखमादे सुत श्रे० उदयसी भार्या सागरादे पुत्र आपा भार्या साणी पूर्वज श्रेयोऽर्थं श्री शान्तिनाथबिंबं कारितं श्रीमूलसंघे मुनिपद्मनन्दि शिष्य नेमचन्द ।

'सम्वत् १४८० वर्षे माघवदि ४ गुरौ श्रीमूलसंघे नन्दिसंघे सरस्वतिगच्छे कुन्दकुन्दाचार्य सन्ताने भट्टारक श्री पद्मनन्दी तत्पट्टे श्री······ उपदेशात् हुंबडज्ञाति श्रे० नाना भा० हारिल सु० तरसा भा० सुहव सु० पुराभ्रातृ अर्जुन भा० मही पद्मप्रभ प्रतिमा कारापिता ।

—मुनि कान्तिसागर डायरीसे

'सम्वत् १४९० वैशाख सुदि ९ शनौ श्रीमूलसंघे नंदिसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारक श्री पद्मनन्दिदेवास्तत्पट्टे भ० शुभचन्द्रस्तस्यभ्राता जगत्रय विख्यात मुनि श्री सकलकीर्ति उपदेशात हुंबडजातीय ठा० नरबद भार्या बलातयोः पुत्राः ठा० देवपाल अर्जुन, भीमा, कृपा तथा चांपाकाह्वा श्री आदिनाथ प्रतिमेयं कारिता ।'

'सं० १४९७ मूल संघे श्रीसकलकीर्ति हुंबडज्ञातीय शाह कर्णा भार्या भोली सुता सोमा भ्रात्री मोदी भार्या पार्मा आदिनाथं प्रणमति ,'

सं० १४९२ वर्षे वैशाखवदी १ सोमे सूरत श्री मूलसंघे भ० श्रीपद्मनन्दिदेवास्तत्पटे भ० सकलकीर्ति हूमड जातीय·········।

सं० १४९० वर्षे माघ वदि १२ गुरौ भ० श्रीसकलकीर्तिदेव हूमड दोषी प्रेघा श्रेष्ठी अर्चति ।

—झालरा पाटन

सं० १४८७ आषाढ़ वदि ६ श्री मूलसंघे भट्टारक सकलकीर्ति हुंबडज्ञातीय गांधी गोविन्दकी माता श्रीमाला प्रतिष्ठित।

यह लेख गिरनारकी यात्रासे लौटते हुए आबूके दिगम्बर मन्दिरकी मूर्तिपरसे नोट किया था ।

सं० १४९९ वर्षे वैशाख वदी ४ गुरुवारे काष्टासंघे··· गणे हुंबड वंशाख्यं सं० जगपाल भा० संति सुत नरपालेन श्रीपार्श्वनाथ बिम्बं करापितं ।

सं० १५२५ वर्षे फाल्गुण सुदि ७ शनौ श्रीमूलसंघे सरस्वती गच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्रीपद्मनंदिदेवास्तत्पट्टे भ० श्री सकलकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० श्री विमलेन्द्रकीर्तिगुरूपदेशात श्री शान्तिनाथ, हुंबड ज्ञातीय साह वाटू भार्या ऊमल सुत सा०कान्हा भा० सुमति सुत लखराज भा० अजी, भ्रा० जैसङ्ग, भा० जसमादे भ्रा० गांगेज भा० पद्मा सुत श्रीराज·········नित्यं प्रणमंति ।

—जैन लेख संग्रह, भा० १. पृ० १६३

सं० १४९२ वर्षे चैत्र वदी १ श्रीमूलसंघे भ० श्रीपद्मनन्दि भ० श्रीसकलकीर्त्युपदेशात् हुंबडज्ञातीय श्रे० चांपा भार्या साहू सुत लखमसी भी० लगु श्रीशान्तिनाथं नित्यं प्रणमति ।

संवत् १५३७ वैशाख शुदी १२ भ० देवेन्द्रकीर्ति स्तत्पट्टे भ० विद्यानन्दि हूमड ज्ञातीय श्रेष्ठीचांपा······।

सं० १५१३ वर्षे वैशाख सुदी १० बुधे श्रीमूलसंघे आचार्य श्रीविद्यानन्दी गुरुपदेशात् हुंबडज्ञातीय दोशी डुंगर भा० मोनी देवलदे सुत दोशी शंखा भार्या वासुदिवी द्वि० भा० भटका तेनदं श्री जिनबिम्बं कारिता । (यह लेख पंच परमेष्ठीकी धातुप्रतिमाका है)

सम्वत १५४४ वर्षे वैशाख सुदी ३ सोमे श्री मूलसंघे भ० श्री भुवनकीर्तिस्तत्पट्टे भ० श्री ज्ञानभूषण गुरुपदेशात् हुंबड शाह रामा भार्या कर्मीसुत कर्णा भार्या सासीसुत मना एते नित्यं प्रणमंति श्री महावीर जिनम् ।

सम्वत् १५१८ वर्षे श्रीमूलसंघे आचार्य श्री विद्यानंदी गुरोपदेशात् हुंबड वंशे दोशी साइया भार्या अहीवदे तयोः पुत्राः हुया बिम्बं रत्नत्रयं सदा प्रणमंति । —सूरत

(*यह रत्नत्रयका मन्त्र है)

संवत १४९९ वर्षे वैशाख वदी २ सोमे श्री मूलसंघे सरस्वतिगच्छे मुनि देवेन्द्रकीर्तितच्छिष्य श्री विद्यानन्दी देवगुरूपदेशात् श्री हुंबडवंश शाह खेता भार्या रूढ़ी तयोपुत्र शाह राजा भार्या गौरी द्वितीय गणो तयोः सुत अदाबदां राजा भार्या राणी श्रेया चतुर्विंशतिका करापिता ।'

(यह चौबीसी मूर्ति धातु की है ।)

संवत् १६२१ वर्षे माघवदि ४ सोमे श्री मूलसंघे श्री भट्टारक गुणकीर्तिस्तत्पट्टे भट्टारक श्री वादिभूषण गुरूपदेशात् ईडर वास्तव्य हूमड दोशी आसा भार्या लक्ष्मी सुता बाई फिला श्री नेमिनाथं प्रतिष्ठितं नितं प्रणमंति ।

सं० १६६१ वर्षे वैशाखवदि ५ बुधे शाके १५७१ प्रवर्तमाने मूलसंघे सरस्वतिगच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० सकलकीर्तितत्पट्टे श्री भुवनकीर्ति तत्पट्टे भ०श्री ज्ञानभूषण तत्पट्टे भ० विजयकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री शुभचंद्रदेव तत्पट्टे सुमतिकीर्ति भ० श्री गुणकीर्ति तत्पट्टे भ० श्रीभूषण तत्पट्टे भ० रामकीर्ति तत्पट्टे भ० पद्मनंदि गुरुउपदेशात् शाह श्री शाहजहां विजयराज्ये श्री गुर्जरदेशे अहमदाबाद नगरे श्री हुंबड ज्ञातीय वृहच्छाखीय वागवरदेशान्तरीय नगर नौतन सुसाोद्धरणनाम्ना सं० सोजा भा० सं० लकु सुत ब्रह्मच ब्रत पालनेन पवित्रीकृत निजांगमप्तक्षेत्रारोपि स्वकीयवित्त सं० लक्खण सं० भा० ललितादे तयोः सुत निजकुल कमल दिवाकरनैकसूर्यावतार दानगुणेन नृपति श्रेयांससमः श्री जिनबिंब प्रतिष्ठाता यात्रादिकरणोत्सुक चित्तसंघपति श्री रत्नसये श्री भा० सं० घनीरूपादे द्वितीया भा० सं० मोहणदे तृतीय भार्या नवरङ्गदे द्वितीय सुत सङ्घवी रामजी भा० सं० ममतादे ···············।

सम्वत् १८६३ वर्षे माघ सुदि २ वार चन्द्रवासरे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वति गच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री पद्मनन्दिदेवास्तत्पट्टे भ० श्रीदेवेन्द्रकीर्तिस्तत्पट्टे भ० विद्यानन्दि तत्पट्टे भ० मल्लिभूषण तत्पट्टे भ० लक्ष्मीचन्द्र तत्पट्टे भ० श्री वीरचन्द्र तत्पट्टे भ० श्री ज्ञानभूषण तत्पट्टे भ० प्रभाचन्द्र तत्पट्टे भ० वादिचन्द्र तत्पट्टे भ० महीचन्द्र तत्पट्टे भ० मेरुचन्द्र तत्पट्टे भ० जिनचन्द्र तत्पट्टे भ० विद्यानन्दि तत्पट्टे भ० श्री विद्यानन्दि तत्पट्टे भ० श्री देवेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री विद्याभूषण उपदेशेन संघवी धनजी तत्पुत्र नन्ददास तत्पुत्र गुलाबचन्द्र तत्भार्या खुशलवउ प्रतिष्टतं ज्ञाति हुबड विरयजुवरराजि भ० श्री धर्मचन्द्र प्रणमति।

ये दोनों लेख तीर्थ यात्राके समय शत्रुंजयके दिगम्बर मन्दिरकी मूर्तियों परसे नोट किए गये हैं।

१—सम्वत् १७६४ चैत्रवदि ५ वार चंद्रे श्रीमन् काष्ठासंघे नन्दि तटगच्छे विद्यागणे भट्टारकश्री।

२—रामसेनान्वये तदनुक्रमेण भट्टारक श्रीरजयकीर्ति तदनुक्रमेण भट्टारक सुमतिकीर्ति तत्।

३—अनुक्रमेण हुंबड ज्ञातिय बुध (बुद्धेश्वर) गोत्र संघवी श्री ५ सायजी भार्या सिंदूरदे धर्मार्थे श्री शान्तिनाथ बिम्बं। ४—आचार्य श्री प्रतापकीर्ति स्वहस्तेन प्रतिष्ठितम्।

१—संवत् १७४६ वर्षे फागुणसुदि ५ सोमे श्री मूलसंघे सरस्वतिगच्छे बलात्कारगणे श्री कुन्दकुन्दाचार्यन्वये भ० श्री २ सकलकीर्तिस्तत्पट्टे भ० पद्मनन्दी तत्पट्टे भ० सुरेन्द्रकीर्ति तत्पट्टे भ० श्री क्षेमकीर्ति गुरुपदेशात् सरथवास हुंबडज्ञातो सं० दिगलदास सं० माणक जी सं० नेमिदास सं० अनन्तदास सं० सामूदास सं० रतन जी एते श्री शान्तिनाथं नित्यं प्रणमति।

(दोनों लेख तीर्थ यात्रामें केसरियाजीके मन्दिरसे नोट किए गए थे। इस जातिके और भी कितने ही लेख मेरे पास हैं, पर उन्हें लेख वृद्धिके भयसे छोड़ा जाता है।)

पुस्तक-प्रशस्ति

अथास्ति गुजरो देशो विख्यातो भुवनत्रये।
धर्मचक्रभृतां तीर्थैर्धनाढ्यै र्मानवैरपि॥ १॥
विद्यापुरं पुर तत्र विद्याविभवसंभवम्।
पद्मःशर्करयाख्यातः कुले हुंबडसंज्ञके॥ २॥
तस्मिन् वंशे दादनामा प्रसिद्धो
भ्राता जातो निर्मलाख्यस्तदीयः।
सर्वज्ञेभ्यो यो ददौ सुप्रतिष्ठां
तंदातारं को भवेत्स्तोतुमीशः॥ ३॥
दादस्य पत्नी भुवि मापलाख्या
शीलाम्बुराशेः शुचिचन्द्ररेखा।
तन्नंदनश्चाहनि देवि भक्ता
देपाल नामा महिमैक धामा॥ ४॥
ताभ्यां प्रसूतो नयनाभिरामो
भंभाकनामा तनयो विनीतः।
श्री जैनधर्मेण पवित्रदेहो
दानेन लक्ष्मी सफलां करोति॥ ५
हामूःजामलसंज्ञकेऽस्य सुभगे भार्ये भवेतां द्वये,
मिथ्यात्वद्रुमदाहपावकशिखे सद्धर्ममार्गे रते।
मागाऽन्तरलग्नैक निपुणे रत्नत्रयोद्भासके,
रुद्रस्येव नभोनदी-गिरिसुते लावण्य लीलामृते॥ ६
श्री कुंदकुंदस्य बभूव वंशे श्रीरामचन्द्रः प्रथितःप्रभावः।
शिष्यस्तदीयः शुभकीर्तिनामा तपोऽङ्गनावक्षसिहारभूतः
प्रशान्तते संप्रति तस्य पट्टे विद्याप्रभावेण विशालकीर्तिः
शिष्यैरनेकै रुपसेव्यमानःएकांतवादाद्रि विनाशवज्रम्।
जयति विजयसिंहः श्री विशालस्य शिष्यो,
जिनगुणमणिमाला यस्य कंठे सदैव।
अमित महिमराशे धर्मनाथस्य कण्ठे,
निजसुकृत निमित्तं तेन तस्मै वितीर्णम्॥ ६

तैलाद्रक्ष जलाद्रक्ष रक्ष शिथिल बंधनात् ।
परहृ तगतां रक्ष एवं वदति पुस्तिका ॥ १०
भग्न पृष्टि कटिग्रीवा एक दृष्टि रधोमुखम् ।
कष्टेन लिखितं शास्त्रं यत्नेन परिपालयेत ॥ ११
यादृशं पुस्तके दृष्टं तादृशं लिखित मया ।
यदि शुद्धमशुद्ध वा ममदोषो न दीयते ॥ १२ ॥

—पटन भण्डारस्थित धर्मशर्माभ्युदयलिखित प्रशस्ति

२ सम्वत् १५६० स्वस्ति श्री मत्स्वसमयपरसमयसकल विद्याकोविदवादिवृन्दारिकवेदितः पदद्वन्द्व श्रीमत् कुन्दकुन्दाचार्यवर्यान्वये श्री सरस्वतिगच्छे बलात्कारगणे भट्टारक श्री ज्ञानभूषणदेवाः तच्छिष्याचार्यवर्य श्रीनिर्गन्थविशालकीर्तिदेवाः तच्छिष्या लघुविशालकीर्तयः श्री मज्जिनधर्मध्यान धनधान्यादिभिरतिसुन्दरे गन्धारमन्दिरे हुंबडवंशे श्रावक सरभाइया कीका तस्य भार्या बाऊ तयोः पुत्री माणिकबाई तस्या पुत्री चगाई तत्र प्रशस्त सम्यक्त्वधारी दयाकर्ता समस्तजीवेषु सुकुलजाति सुन्दरी दानादिक स्वद्रुमतानुकारिणी माणिक्यबाई वरवृत्तिधारिणी तया सद्भावनापूर्वं लेखयित्वेदमुत्तमं गोमटसार पंजिका पुस्तकं मुदादत्तं लघुविशालकीर्तिभ्यः कर्म्मच्छित्तए, प्राप्तये मुक्ति सम्पतेः सुखखानेः पुनः स्फुटमिति ॥

३ सम्वत १६११ वर्षे भादवा वदि ३ शुक्रे श्रीमूलसङ्घे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ० श्री सकलकीर्तिदेवास्तदन्वये भ० वादिभूषणदेवास्तत्पट्टे भ० रामकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ० पद्मनन्दितदाम्नाये श्री गुर्जरदेशे श्रीसूरत बन्दरे श्री वासुपूज्यचैत्यालये हुंबडज्ञातीय साह श्री सन्तोषी भ्रातः साह जीवराज तयोः जननी आर्यिका बाई करमा तया स्थविराचार्य श्री नरेन्द्रकीर्तिस्तच्छिष्य ब्रह्म श्री लाड्यका तच्छिष्य अर्माकामराज जयपुरणं लिखाप्य दत्तं ।

इन प्रशस्तियोंके अतिरिक्त अन्य अनेक प्रशस्तियां हुंबड जाति द्वारा प्रतिलिपि कराए गए ग्रंथोंकी मौजूद हैं जिन्हें यहाँ लेख वृद्धिके भयसे छोड़ा जाता है उन्हें फिर किसी अवसर पर प्रकट किया जाएगा ।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी हुंबड वंशकी अवस्थिति रही हैं। यद्यपि उनकी संख्या अल्प भले ही हो। पर उनके यहाँ मन्दिरमूर्तियोंके निर्माणकर्ता और ग्रंथ लिखानेके रूपमें प्रसिद्धि रही है। सम्वत ११६२ में हुम्बड वंशी ईलक श्रावकने सवृत्तिकावश्यकसूत्रको लिखवाया था। और जिसे मह्नराजने लिखा था। यह ग्रन्थ पाटनके सङ्घवी पाडा ज्ञानभंडारमें सुरक्षित है।

पण्डित और पण्डित-पुत्रोंका कर्तव्य

(श्री क्षुल्लक सिद्धिसागर)

जैन पण्डितोंके पास जैन भण्डार या अन्यत्रसे प्राप्त जैन शास्त्र (हस्त लिखित) भी रहते हैं। पिता पण्डित होते हैं तो पुत्र पण्डित नहीं भी होते हैं। जो अप्रकाशित अमूल्य ग्रन्थ घरमें रहते हैं प्रायः असावधानी होने पर नष्ट हो जाते हैं । अच्छा तो यह है कि वे उन अप्रकाशित ग्रन्थोंको जैन सरस्वती भण्डारमें या जैन मन्दिरमें विराजमान करदें। जिससे कि वे सुरक्षित रह सकें । पिता जिसकी अमूल्य समझ सग्रह करता है पुत्र उसके महत्वको न समझ कर मोहके कारण उसे नष्ट होने देता है या प्रकाशमे नहीं आने देता है या उसका सद् उपयोग नहीं करता है या उसे रद्दीमें या अन्यको बेंच देता है तो यह श्रुतके प्रति अन्याय है। अल्प-लाभके लोभमें पड़ कर ग्रन्थको नष्ट होने देना उचित नहीं है। पण्डितोंको चाहिये कि वे अपने दिवंगत होनेसे पहिले उनकी व्यवस्था करदें या मन्दिरमें विराजमान कर दें। यदि अप्रकाशित कोई ग्रन्थ उनके पास हो तो वे उसकी सूचना सरस्वती भवन या अन्य किसी संस्थाको भेजदें कि अमुक-अमुक ग्रन्थ हमारे पास हैं। अप्रकाशित साहित्य नष्ट न हो इसके लिये सुव्यवस्था शीघ्र करें । बहुत, सा साहित्य अप्रकाशित और जीर्ण होना जा रहा है।

मूल ग्रन्थोंके गुच्छक यदि प्रकाशित हो जावें तो थोड़े खर्च में अनेक ग्रन्थोंका संरक्षण हो सकेगा और अपूर्व सामग्री भी अध्ययनको प्राप्त होगी । इस योजनाको सफल बनानेके लिये पण्डित गण और धनिक वर्ग समर्थ है। विलम्ब करने पर अनेक ग्रन्थ नष्ट हो जावेंगे फिर उन पंक्तियोंको निर्माण न कर सकेंगे। मंदिर या मूर्तिके नष्ट हो जाने पर उसका निर्माण हो सकता है किन्तु जो आर्ष वाक्य नष्ट हो जाते हैं उनका बनाना आर्ष के बिना संभव कैसे हो सकता है ? दुर्लभ बाह्य वस्तु आर्ष है उसकी पाहले रक्षा करें पुनः शेष की ।

असंज्ञी जीवोंकी परम्परा *

(डा० हीरालाल जैन एम० ए०, नागपुर)

जैनसिद्धान्तानुसार जीवोंका विभाजन संज्ञी और असंज्ञी इन दो विभागोंमें भी किया गया है जैसा कि निम्न प्रामाणिक उल्लेखोंसे स्पष्ट है—

१ सण्णियाणुवादेण अत्थि सण्णी असण्णी।
(षट्खंडागम १, १, १७२)

१ समनस्काऽमनस्काः। (तत्त्वार्थसूत्र १, ११)

अब हमें इस बातकी खोज करना है कि इन जीव जातियोंमें किस प्रकारके ज्ञानका होना संभव है। इस संबंधमें षट्खण्डागम सत्प्ररूपणाके निम्नलिखित सूत्र ध्यान देने योग्य हैं—

मदि अण्णाणी सुद-अण्णाणी एइंदियप्पहुदि जाव सासणसम्माइट्ठि त्ति ॥ ११६ ॥

विभंगणाणं सण्णिमिच्छाइट्ठीणं वा सासणसम्माइट्ठीण वा ॥ ११७ ॥

आभिणिबोहियणाणं सुदणाणं ओहिणाणमसंजदसम्माइट्ठिप्पहुडि जाव खीणकसाय-वीदराग छदुमत्था त्ति ॥ १२० ॥

मणपज्जवणाणी पमत्तसंजदप्पहुडि जाव खीणकसाय-वीदराग-छदुमत्था त्ति ॥ १२१ ॥

केवलणाणी तिसु ट्ठाणेसु सजोगिकेवली अजोगिकेवली सिद्धा चेदि ॥ १२२ ॥

संक्षेपतः इन सूत्रोंमें व्यवस्थित रूपसे यह बतलाया गया है कि जैनसिद्धान्तमें जो आठ प्रकारके ज्ञान माने गये हैं उनमेंसे प्रथम दो अर्थात् मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर पंचेन्द्रिय तकके असंज्ञी जीवोंमें होते हैं, और शेष सब ज्ञान केवल संज्ञी जीवोंमें ही सम्भव हैं। यहां यह बात ध्यानमें रखने योग्य है कि मति अज्ञान और श्रुत अज्ञानसे तात्पर्य मति और श्रुत ज्ञानके अभावसे नहीं, किन्तु उनके सद्भावसे ही है, केवल उनमें सम्यक्त्वका अभाव पाया जाता है। इसका स्पष्टीकरण षट्खंडागमके टीकाकारके शब्दोंमें इस प्रकार है—

"भूतार्थप्रकाशकं ज्ञानम्। मिथ्यादृष्टीनां कथं भूतार्थप्रकाशकमिति चेन्न, सम्यङ्-मिथ्यादृष्टीनां प्रकाशस्य समानतोपलम्भात्। कथं पुनस्तेऽज्ञानिन इति चेन्न, मिथ्यात्वोदयात्पतिभासितेऽपि वस्तुनि संशय-विपर्ययानध्यवसाय्यानिवृत्तितस्तेषामज्ञानितोक्तेः
(भा० १ पृ० १४२)

इस प्रकार हम देखते हैं कि मति और श्रुत ये दोनों ज्ञान सम्यक्त्वके अभाव सहित, असंज्ञी जीवोंमें व उनकी निम्नतम श्रेणिके निगोदिया जीवोंमें भी स्वीकार किये गये हैं। यह बात गोम्मटसार जीवकाण्डमें इस प्रकार स्पष्ट कर दी गई है—

सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि
फासिंदियमदिपुव्वं सुदणाणं लद्धिअक्खरयं
॥ गो० जी० ३२१ ॥

यहां हमारे सम्मुख यह एक प्रश्न उपस्थित होता है कि असंज्ञी जीवोंमें मनके बिना मति और श्रुतज्ञान कैसे सम्भव हैं? इन दोनों ज्ञानोंका जो स्वरूप बतलाया गया है और तत्सम्बन्धी जो उल्लेख शास्त्रोंमें पाये जाते हैं उनसे निःसंदेह उन ज्ञानोंकी प्राप्तिमें मनकी सहायता अनिवार्य सिद्ध होती है। जैसे—मतिज्ञानके चार अंग हैं। प्रथमतः किसी एक इंद्रियके अपने विषयभूत पदार्थके सम्पर्कमें आने पर वस्तुकी सामान्य सत्ताका ग्रहण होता है। यह मतिज्ञानका प्रथम अंग है जिसे अवग्रह कहते हैं। तत्पश्चात् प्रस्तुत पदार्थके विषयमें जाननेकी इच्छा होती है जिसे ईहा कहते हैं। यह ईहा मानसिक क्रिया ही हो सकती है। इसके पश्चात् पदार्थका निश्चय होता है जो अवाय कहलाता है और जो पुनः मन द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि, इसमें पदार्थके गुण-धर्मोंका ग्रहण व निषेध किया जाता है। अन्ततः पदार्थकी कालान्तरमें स्मृतिकी अवस्था आती है जिसे धारणा कहते हैं। इसीके द्वारा जीवमें अनुकूल या प्रतिकूल प्रतिक्रिया होती है जिसे उसकी हिताहित प्रवृत्ति कहते हैं :—

मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्।
तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। अवग्रहेहावायधारणाः।
(तत्त्वार्थसूत्र १-१३-१५)

विषय-विषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति। तदनन्तरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः। यथा चक्षुषा शुक्लं रूपमिति ग्रहणमवग्रहः। अवग्रहगृहीतेऽर्थे तद्विशेषाकांक्षणमीहा

---

* अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलनके १६ वें अधिवेशनके समय लखनऊमें प्राकृत और जैनधर्म विभागमें पढ़ा गया निबन्ध। मूल निबन्ध अंग्रेजीमें है और अभी प्रकाशित नहीं हुआ।

यथा शुक्लं रूपं किं बलाका पताका वेति । विशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः । उत्पतन-निपतन-पक्षविक्षेपादिभिर्बलाकैवेयं न पताकेति । अवेतस्य कालान्तरे अविस्मरणं धारणा । यथा सैवेयं बलाका पूर्वाह्ने यामहमद्राक्षमिति । एषामवग्रहादीनामुपन्यासक्रम-उत्पत्तिक्रमकृतः । (सर्वार्थसिद्धि टीका)

अब हम श्रुतज्ञान पर आते हैं तब वह तो पूर्णतः मनःसाध्य ही माना गया है, क्योंकि वह, द्वारा ग्रहण किये गये पदार्थसे प्रारम्भ होकर लिंग-लिंगिव्यवहारसे अनुमान द्वारा एक अन्य ही पदार्थका बोध कराता है। इस सम्बन्धमें निम्न उल्लेख ध्यान देने योग्य है—

श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेक-द्वादशभेदम् ।
श्रुतमनिन्द्रियस्य । (तत्वार्थसूत्र १-२०,२-२१)
श्रुतज्ञानविषयोऽर्थः श्रुतम् । स विषयोऽनिन्द्रियस्य । परिप्राप्त-श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमस्यात्मनः श्रुतस्यार्थेऽनिन्द्रियावलम्बनज्ञानप्रवृत्तेः । अथवा श्रुतज्ञानं श्रुतं तदनिन्द्रियस्यार्थः प्रयोजनमिति यावत् । स्वातन्त्र्यसाध्यमिदं प्रयोजनमनिन्द्रियस्य ।

(सर्वार्थसिद्धि टीका)

श्रुतं श्रोत्रेन्द्रियस्य विषय इति चेन्न, श्रोत्रेन्द्रियग्रहणे श्रुतस्य मतिज्ञानव्यपदेशात् ·········यदा हि श्रोत्रेण गृह्यते तदा तन्मतिज्ञानमवग्रहादि व्याख्यातम् , तत उत्तरकालं यत्तत्पूर्वकं जीवादिपदार्थस्वरूपं तच्छ्रुतमनिन्द्रियस्येत्यवसेयम् । (तत्त्वार्थराजवार्तिक)

सुदणाणं णाम मदिपुव्वं मदिणाणपडिगहियमत्थं मोत्तूणण्णत्थम्हि वावदं सुदणाणावरणीयक्खयोवसमजणिदं । (धवला भा० १ पृ० ९३)

इस प्रकार वस्तुस्थितिपरसे एक असमंजसता उत्पन्न होती है । जैनागममें मति और श्रुत-ज्ञानके जो लक्षण बतलाये गए हैं उनसे उनके उत्पन्न होनेमें मनकी सहायता अनिवार्य पाई जाती है । अतः जिनके मन नहीं माना गया ऐसे असंज्ञी जीवोंमें उनका सद्भाव नहीं माना जाना चाहिए । किन्तु यदि असंज्ञी जीवोंमें मति और श्रुत ज्ञानका सद्भाव स्वीकार किया जाता है तो फिर यह कहना अयुक्त-असंगत होगा कि उनके मन नहीं है । षट्खंडागमकी धवला टीकाके विद्वान् लेखकको इस असामञ्जस्यका प्रतिभास था तभी तो उन्होंने श्रुतज्ञानके स्वरूपको समझाते हुए यह प्रश्नोत्तर किया है कि—

कथमेकेन्द्रियाणां श्रुतज्ञानमिति चेत्कथं च न भवति ? श्रोत्राभावान्न शब्दावगतिस्तदभावान्नशब्दार्थावगम इति ? नैष दोषः, यतोनायमेकान्तोऽस्ति शब्दार्थावबोध एव श्रुतमिति । अपि तु अशब्दरूपादपि लिंगाल्लिंगिज्ञानमपि श्रुतमिति । अमनस्कानां तदपि कथमिति चेन्न, मनोऽन्तरेण वनस्पतिषु हिताहितप्रवृत्ति-निवृत्त्युपलम्भतोऽनेकान्तात् ॥

(षट्खंडागम टीका १,१,११६ पृ० १, ३६१)

यहां स्वामी वीरसेनने दो प्रश्न उठाकर उनका उत्तर देनेका प्रयत्न किया है । एक तो उन्होंने यह पूछा है कि जब एकेन्द्रिय जीवोंके श्रोत्रेन्द्रिय ही नहीं होती तब उनके श्रुतज्ञान कैसे हो सकता है ? इसका उन्होंने यह समुचित उत्तर दिया कि श्रुतज्ञान श्रोत्रेन्द्रियसे ग्रहण किए गए पदार्थ द्वारा ही उत्पन्न हो, ऐसा कोई नियम नहीं है; किंतु किसी भी इन्द्रिय द्वारा ग्रहण किए गए पदार्थके आश्रयसे पदार्थान्तरके बोधरूप श्रुतज्ञान उत्पन्न हो सकता है । दूसरा प्रश्न प्रकृत विषयके लिए बहुत महत्त्व पूर्ण है । वह प्रश्न है—"लिङ्गसे लिङ्गीके बोधरूप श्रुतज्ञान मनरहित जीवोंके किस प्रकार होगा ?" इस प्रश्नका उत्तर स्वामी वीरसेनने केवल यह दिया है—

"नहीं, क्योंकि वनस्पतियोंमें भी मनके बिना हितकी ओर प्रवृत्ति और अहितकी ओरसे निवृत्ति देखी जाती है, अतएव यह एकान्तनियम नहीं है कि मनसे ही श्रुतज्ञानकी उत्पत्ति हो ।' यही प्रश्न धवलाकारके मनमें संज्ञी और असंज्ञी जीवोंके स्वरूपका विचार करते समय उत्पन्न हुआ था । सूत्र १,१,३५की टीका करते हुए वे कहते हैं—

अथ स्यादर्थालोक-मनस्कार-चक्षुर्भ्यः सम्प्रवर्तमाने रूपज्ञानं समनस्केपूपलभ्यते, तस्य कथममनस्केष्वाविर्भाव इति ? नैष दोषः, भिन्नजातित्वात् ।

(षट् खं० १ पृ० २६४)

अर्थात् 'पदार्थ, प्रकाश मन और चक्षु इस सबके संयोगसे उत्पन्न रूपका ज्ञान मन सहित प्राणियोंमें तो पाया ही जाता है, किंतु मन रहित जीवोंमें वह किस प्रकार सम्भव हो सकता है ?' इसका वे उत्तर देते हैं कि 'इसमें कोई दोष नहीं है । क्योंकि असंज्ञी जीवों द्वारा ग्रहण किया गया रूपका ज्ञान एक भिन्न जातिका होता है ।'

यहाँ धवलाकारने असंज्ञी जीवोंके मति और श्रुतज्ञानका सद्भाव स्वीकार करनेमें उत्पन्न होनेवाली कठिनाईका अनुभव

करके उसका जो समाधान किया वह विचार करने योग्य है। श्रुतज्ञानके लिए उन्होंने मनके सद्भावको अनिवार्य स्वीकार नहीं किया। किन्तु यह बात सिद्ध नहीं होती, क्योंकि, श्रुतज्ञान तो मानसिक व्यापार माना जाता है, जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है। शास्त्रमें श्रुतज्ञानको मनका ही विषय कहा है—'श्रुतमनिन्द्रियस्य' (तत्त्वार्थसूत्र २-२१)। हम ऊपर यह भी देख चुके हैं कि मतिज्ञानकी विविध दशायें मनोव्यापारके बिना सिद्ध नहीं हो सकतीं। धवलाकारका यह समाधान कि असंज्ञी जीवोंका मतिज्ञान एक भिन्न जातिका होता है, उक्त कठिनाईको हल नहीं करता क्योंकि यदि यह भिन्न जाति मतिज्ञानके शास्त्रोक्त प्रकारोंमें ही समाविष्ट होती हैं, तब तो उसके लिये मनकी सहायता भी आवश्यक सिद्ध है। और यदि वह उक्त भेदोंमें समाविष्ट नहीं होती तो या तो उसके अन्तर्भाव योग्य मतिज्ञानका क्षेत्र विस्तृत किया जाना चाहिये। अथवा एक और पृथक् ज्ञानका सद्भाव स्वीकार करके उसका स्वरूप भी निर्धारित होना चाहिए। जब तक ऐसा नहीं किया जाता तब तक उक्त कठिनाईका समाधान करनेके लिए किए गए पूर्वोक्त प्रयत्न असफल सिद्ध होते हैं।

अब हमारे सन्मुख प्रश्न यह है कि उक्त शास्त्रीय असामञ्जस्यको किस प्रकार सुलझाया जाय? जो भी समाधान किया जाय उसमें दो बातोंका सामञ्जस्य होना आवश्यक है। एक तो असंज्ञी जीवोंकी सत्ता और दूसरी उनमें मति और श्रुतज्ञानकी योग्यता। मेरी दृष्टिमें इसका केवल एक ही हल दिखाई देता है। वह यह कि असंज्ञी व अमनस्कका अर्थ 'मनरहित' न 'करके अल्प मनसहित' किया जाय। इस अर्थके लिए हम 'अ' उपसर्गको निषेधवाची न मानकर अल्पतावाची ग्रहण कर सकते हैं। 'अ' उपसर्ग 'न' का अवशिष्ट रूप है, और 'न' का अल्पतावाची अर्थ संस्कृत कोषकारों द्वारा स्पष्टतः स्वीकार किया गया है, जैसा कि निम्न श्लोकसे सिद्ध है—

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट्प्रकीर्तिताः॥

'न' व 'अ' उपसर्गका यह अर्थ जैन शास्त्रकारोंको अपरिचित नहीं, क्योंकि, उन्होंने उसका इसी अर्थमें अपने अनेक पारिभाषिक शब्दोंमें प्रयोग किया है। ऐसे प्रयोगके यहां कुछ उदारण उपस्थित कर देना उचित होगा।

(१) मनके लिए अनेक वार अनिन्द्रिय शब्दका उपयोग किया है। जैसे—

तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्। (त० सू० १-१४)
न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम्। (त० सू० १-१९)
श्रुतमनिन्द्रियस्य। (त० सू० २-२१)

तत्त्वार्थसूत्र १, १४में प्रयुक्त हुए अनिंद्रिय शब्दका अर्थ समझाते हुए सर्वार्थसिद्धि टीकाके कर्त्ता पूज्यपाद देवनंदि आचार्य लिखते हैं—

अनिन्द्रियं मनः अन्तःकरणमित्यनर्थान्तरम्। कथं पुनरिन्द्रियप्रतिषेधेन इन्द्रलिङ्गे एव मनसि अनिन्द्रियशब्दस्य प्रवृत्तिः? ईषदर्थस्य नञः प्रयोगाद् ईषदिन्द्रियमनिन्द्रियमिति। यथा अनुदरा कन्याइति। कथमीषदर्थः? इमानीन्द्रियाणि प्रतिनियत् देशविषयाणि कालान्तरावस्थायीनि च, न तथा मनः।

अर्थात् अनिंद्रिय, मन और अन्तःकरण ये पर्यायवाची शब्द हैं। यदि कहा जाय कि इंद्रके चिह्न मनके लिए इन्द्रिय प्रतिषेधवाची अनिंद्रिय शब्दका प्रयोग क्यों किया गया है? तो इसका उत्तर यह है कि यहाँ 'नञ्' का प्रयोग 'ईषद्' अर्थात् अल्पके अर्थमें किया गया है—'ईषदिंद्रियमनिंद्रियमिति। जैसे कन्या 'अनुदरा' कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि उसके उदर ही न हो, किंतु उसका अर्थ अल्पोदरा समझना चाहिये मनको भी ईषदिन्द्रिय कहनेका अभिप्राय यह है कि वह इंद्रिय होते हुए भी जिस प्रकार अन्य इंद्रियां प्रतिनियत देशविषयात्मक हैं तथा कालांतरमें स्थित रहती हैं वैसा मन नहीं है।

(२) तत्त्वार्थ सूत्र ८, ९ में अकषाय शब्दका प्रयोग हुआ है—

'दर्शन-चारित्रमोहनीयाकषाय - कषाय-वेदनीय ....' आदि।

इस सूत्रमें 'अकषाय'का अर्थ समझाते हुए पूज्यपादचार्य कहते हैं—चारित्रमोहनीयं द्विधा अकषाय-कषाय भेदात्। ईषदर्थे नञः प्रयोगाद् ईषत्कषायोऽकषायः।

अर्थात् चारित्रमोहनीय कर्मके दो भेद हैं—अकषाय और कषाय। यहां अकषायमें नञ्का प्रयोग 'ईषद्' अल्पके अर्थमें होनेसे उसका अभिप्राय है 'ईषत्कषाय' या अल्प कषाय।

(३) यही बात 'अप्रत्याख्यान' शब्दके सम्बन्धमें है। अप्रत्याख्यानावरण कषायका क्षयोपशम पांचवें गुणस्थानमें

होकर जीवमें जो अप्रत्याख्यान रूप परिणाम उत्पन्न होते हैं उनमें प्रत्याखानका अभाव नहीं, किंतु उसकी संयमासंयम रूप अल्पता पायी जाती है, जिसके कारण पाँचवाँ गुणस्थान प्रत्याख्यानाभावरूप चौथे गुणस्थान तथा पूर्ण प्रत्याख्यानरूप छठे गुणस्थानसे पृथक् माना गया है।

इस प्रकार एक ओर मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके स्वरूप तथा दूसरी ओर असंज्ञी जीवोंके स्वभावपर विचार करनेसे 'अमनस्क' व 'असंज्ञी' शब्दोंमें 'अ' का अर्थ 'ईषद्' व 'अल्प' करना ही उचित दिखाई देता है जिससे इन संज्ञाओंका तात्पर्य उन जीवोंसे हो सकता है जिनका मन अल्प व अपूर्ण विकसित है, तथापि जिसके द्वारा उन्हें प्रथम दो प्रकारका ज्ञान होना सम्भव है? किन्तु इन जीवोंमें मनका संज्ञी जीवोंके समान इतना विकास नहीं होता कि जिसके द्वारा उन्हें शिक्षा, क्रिया, आलाप व उपदेशका ग्रहण हो सके। इस विषयपर धवलाकारका निम्न-निम्न स्पष्टीकरण ध्यान देने योग्य है :—

सम्यगजानातीति संज्ञं मनः, तदस्यास्तीति संज्ञी। नैकेन्द्रियादिनातिप्रसंगः, तस्य मनसोऽभावात्। अथवा शिक्षाक्रियोपदेशालापग्राही संज्ञी। उक्तंच—

सिक्खा-किरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंवेण।
जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीदो असण्णी दु॥
(षट्खं० १ पृ० १५२)

यहाँ स्वामी वीरसेनने 'संज्ञा' का अर्थ किया है वह इन्द्रिय, जिसके द्वारा भले प्रकार जानकारी हो सके, अर्थात मनः और वह संज्ञा इन्द्रिय जिसके हो वह संज्ञी। किन्तु इस व्युत्पत्तिसे एकेन्द्रिय आदि जीवोंमें भी संज्ञित्वका प्रसंग उपस्थित होता हुआ देखकर उन्होंने कह दिया 'नहीं' एकेन्द्रिय जीव संज्ञी नहीं हो सकते, क्योंकि उनके मनका अभाव होता है। इस परस्पर विरोधी व्याख्यानकी अयुक्तिसंगतताको मिटानेके लिए उन्होंने संज्ञीकी दूसरी परिभाषा दी। वह यह कि जो जीव शिक्षा, क्रिया, आलाप और उपदेशको ग्रहण कर सके वह संज्ञी। तथा इसके समर्थनमें उन्होंने एक पुरानी गाथा भी उपस्थित कर दी।

इस व्याख्यानसे सुस्पष्ट है कि उक्त चार प्रकारकी मानसिक क्रियाके अतिरिक्त अन्य हीन प्रकारका मानसिक व्यापार असंज्ञी जीवोंमें भी होता है।

इसी प्रकार तत्वार्थसूत्र २, २४ (संज्ञिनः समनस्काः) पर श्रुतसागरकृत टीका ध्यान देने योग्य है। वहां कहा गया है—

संज्ञिनां शिक्षालापग्रहणादि लक्षणा क्रिया भवति। असंज्ञिनां शिक्षालापग्रहणादिकं न भवति। असंज्ञिनामपि अनादिकालविषयानुभवनाभ्यास दार्ढ्यादाहार-भय-मैथुन-परिग्रहलक्षणोपलक्षिताश्चतस्रः संज्ञाः अभिलाषप्रवृत्यादिकश्च संगच्छत एव, किन्तु शिक्षालापग्रहणादिकं न घटते।

अर्थात संज्ञी जीवोंमें शिक्षा, आलाप आदिके ग्रहण रूप क्रिया होती है, असंज्ञी जीवोंमें वह क्रिया नहीं होती। तथापि अनादिकालसे जो उन्हें विषयोंका अनुभवन होता चला आया है उसके अभ्यासकी दृढ़ताके कारण उनके भी आहार, भय, मैथुन व परिग्रह रूप चार संज्ञाएं तथा अभिलाष और प्रवृत्ति आदि होती हैं। किन्तु उनके शिक्षा व अलापका ग्रहण आदि क्रिया घटित नहीं होती।

टीकाकारोंके इस प्रकार व्याख्यानोंसे सिद्ध होता है कि निम्नतम श्रेणिके जीवोंमें भी मति व श्रुत ज्ञानके लिए अनिवार्य कुछ मानसिक व्यापार अवश्य होता है। तो भी उन्हें असंज्ञी कहनेका अभिप्राय यही है कि उनका मानसिक विकास इतना नहीं होता जितना शिक्षा, क्रिया, आलाप व उपदेशके ग्रहण करनेके लिये आवश्यक है। इस प्रकार असंज्ञी जीवोंमें मनके सर्वथा अभावकी मान्यता घटित नहीं होती, और यह स्वीकार किये बिना गति नहीं है कि असंज्ञी जीवोंमें भी मति और श्रुत-ज्ञानके योग्य व्यापार करने वाले मनका सद्भाव होता ही है।

[शेष अगले अङ्क में]

साहित्य परिचय और समालोचन

१. समायिक पाठादिसंग्रह (विधिसहित)—संकलयता और अनुवादक पं० दीपचन्द जी जैन पाण्ड्या, साहित्य-शास्त्री, केकड़ी। प्रकाशक कुँवर मिश्रीलाल कटारिया, श्री दि० जैन युवकसंघ, केकड़ी (अजमेर)। पृष्ठ संख्या सब मिला कर १३८ मूल्य दस आना।

प्रस्तुत पुस्तकका विषय उसके नामसे ही स्पष्ट है—

इसमें जैन परम्परा सम्मत सामायिकका स्वरूप, वह कब और कैसे की जाती है, सामायिकके कितने दोष हैं उन्हें किस तरह टालना चाहिए आदिका संक्षिप्त विवेचन दिया हुआ है। आलोचना, वन्दना प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कृति-कर्म आदि क्रियाओंका स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए उनके करने का यथास्थान निर्देश किया गया है। कुछ स्तोत्र और भक्ति पाठ आदिका हिन्दीमें अनुवाद भी दे दिया गया है। जिससे पुस्तक उपयोगी बन पड़ी है। इसके संकलन और प्रकाशन-का एक ही अभिप्राय ज्ञात होता है और वह यह कि गृहस्थ जैनोंमें विस्मृत हुई सामायिककी वास्तविक विधिका प्रचार हो, वे उसकी महत्ता और आवश्यकताका अनुभव करें। क्योंकि सामायिक ही ऐसी वस्तु है जिसका समुचित आचरण करने पर आत्मा अपने स्वरूपको पिछाननेका उपक्रम करता हुआ अपनेको कर्म-कलंकसे बचानेका उपाय करता है, वैर, विरोध दूर करने वाला तथा मैत्री और निर्भयताका ससूचक है, शम-सुखमें मग्न करने वाला इसके बिना अन्य साधन नहीं हैं।

जाप जपना, या माला फेरना सामायिक नहीं है। सामायिक करने वालोंको आर्त-रौद्ररूप कुध्यानोंके परित्यागपूर्वक आत्मामें समताभावोंके लाने और बाह्यअभ्यन्तर जल्पों द्वारा विचलित होने वाली मनः परिणतिको सुस्थित करनेका उपक्रम करना है। इसीलिए सामायिक करनेवाले सद्‌गृहस्थको साम्य-भावमें निष्ठ रहनेकी ओर विशेष ध्यान दिया गया है। इस उपयोगी पुस्तकका घरघरमें प्रचार होना चाहिए। इसके लिए संग्राहक महानुभाव धन्यवादार्ह हैं।

२. भगवानऋषभदेव—लेखक पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, आचार्य स्याद्वादमहाविद्यालय, बनारस, प्रकाशक भारतवर्षीय दि० जैन सङ्घ। पृष्ठ संख्या १४२ मूल्य सजिल्द प्रतिका सवा रुपया।

इस पुस्तकके विद्वानलेखकसे जैन समाज भली भांति परिचित है। प्रस्तुत पुस्तकका विषय उसके नामसे प्रकट है। इसमें जैनियोंके प्रथम तीर्थंकर श्री आदि ब्रह्मा ऋषभदेवका जीवन-परिचय दिया हुआ है। जिसमें उनकी जीवन घटनाओंके साथ उनके पुत्र भरतकी दिग्विजय, जीवन-घटनाओं, भरत बाहुबली युद्ध, बाहुबलीका वैराग्य, तपश्चर्या और केवल ज्ञान तथा आदिनाथके अन्तिम दो कल्याणकोंका सुन्दर विवेचन दिया है। ग्रन्थकी भाषा सरल और मुहावरेदार है। अन्तमें भागवतमें उपलब्ध ऋषभ चरितको भी दे दिया गया है। जिससे पुस्तक उपयोगी हो गई है। यदि इस ग्रंथकी प्रस्तावना भी ऐतिहासिक दृष्टिसे लिखी जाती, तो पुस्तकमें चार चांद लग जाते। अस्तु, इस उत्तम प्रयासके लिये लेखक महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं।

३—बनारसी विलास—लेखक, कविवर बनारसीदास, सम्पादक पं० भंवरलाल न्यायतीर्थ, और पं० कस्तूरचन्द्रजी कासलीवाल एम. ए.। प्रकाशक—केशरलाल बख्शी मंत्री नानू स्मारक ग्रन्थमाला न्यू कालोनी, जयपुर। पृष्ठ संख्या सब मिलाकर ३१७, मूल्य सवा रुपया।

इस ग्रन्थमें कविवर बनारसीदास द्वारा समय-समय पर रची गई फुटकर कविताओंका एकत्र संग्रह है। जिसे 'बनारसी विलास' नामसे उल्लेखित किया जाता है। कविवर बनारसीदास उच्चकोटिके आध्यात्मिक कवि थे। उनमें कविताका प्रवाह स्वाभाविक था। यही कारण है कि उनकी कविता उच्चकोटि की होते हुए भी सर्व साधारणके लिये प्रिय बनी हुई है। वे तुलसीदासके समकक्ष कवि थे। इनकी कविताओं में अध्यात्मवादकी पुटके साथ रहस्यवादका मौलिक रूप भी अन्तर्निहित है। जिस पर प्रस्तावनामें विशेष प्रकाश डालने की आवश्यकता थी।

प्रारम्भमें ४६ पृष्ठोंकी प्रस्तावनामें कस्तूरचन्द्रजी ने कविवर की कृतियोंका सामान्य परिचय कराते हुए उनका संक्षिप्त जीवन-परिचय भी दे दिया है। इस संस्करण की यदि कोई विशेषता है तो वह यह है कि अन्तमें कठिन शब्दोंका संक्षिप्त अर्थ भी परिशिष्टके रूपमें दे दिया है। किन्तु छपाई साधारण है। ऐसी महत्वपूर्ण कृतिमें न्यूज-प्रन्ट जैसा घटिया कागज लगाया गया है, जो उस ग्रन्थके योग्य नहीं है। प्रस्तावनामें अन्य लेखकोंकी भांति स्वयंभूको प्रथम कवि लिखा गया है जबकि उनसे पूर्ववर्ती कवि 'चउमुह' हुए हैं। जिनकी कृतियोंका उल्लेख स्वयंभूने स्वयं किया है। अस्तु, ग्रन्थ उत्तम है, और इसके लिये सम्पादक-प्रकाशक महानुभाव धन्यवादके पात्र हैं।

—परमानन्द जैन

श्रीमान राजकुलदीपक जिनवाणीभक्त धर्मनिष्ठ श्रीधर्मसाम्राज्यजी मूडबिद्री

के करकमलोंमें

अभिनन्दन-पत्र

श्रीमन्महोदय अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान महावीरके विश्वहितङ्कर वाङ्मयको सुदीर्घ काल-तक सुरक्षित रखनेके लिये लोकहितकारी सद्भावनासे श्रीधरसेनाचार्यने परममेधावी श्रीपुष्पदन्त तथा भूतबली आचार्यको सिद्धान्तग्रन्थ पढ़ाया और उन दोनों आचार्योंने उस सिद्धान्तको षट्खण्डागमके रूपमें ग्रथित किया तथा श्रीगुणधर आचार्यने श्री कषायपाहुड़की रचना की, उन्हीं आगम ग्रंथों पर श्रीवीरसेनाचार्य ने क्रमशः धवला, जयधवला नामक विशाल टीकाएँ लिखीं, और महाबन्धका, जिसे महाधवलभी कहा जाता है, सत्कर्मनामक पंजिकाके साथ सुरक्षित रखा। तीनों आगमग्रन्थ मूडबिद्री-स्थित गुरुगल सिद्धान्तवसदिमें लगभग एक हजार वर्षसे सुरक्षित रहे हैं उस सिद्धान्तभण्डारके आप प्रमुख ट्रष्टी हैं. अतः इन सिद्धान्त ग्रन्थोंकी सुरक्षामें आपका प्रमुख हाथ रहा है इसके लिये आपको कोटिशः धन्यवाद है।

जिनधर्मप्रभावक! श्री वीरसेवामन्दिरकी ओरसे उसके अध्यक्ष श्री बा० छोटेलालजी कलकत्तानिवासीकी प्रमुखतामें जब आपकी सेवामें दिल्ली से एक शिष्टमण्डल पहुँचा तब आपने बाबू छोटेलालजी की विशेष प्रेरणाको पाकर उक्त तीनों सिद्धान्तग्रंथोंका फोटो लेनेकी अनुमति प्रदान कर उक्त ग्रंथोंका मूलरूप दीर्घकालके लिए सुरक्षित बना दिया। और धवलग्रंथका आधुनिक ढंगसे जीर्णोद्धार करानेकी कृपा की, यह आपकी जिनवाणी भक्तिका उच्च आदर्श है।

राजकुल दीपक! आप मूडबिद्रीके शासक राजकुलके वर्तमान उत्तराधिकारी है। जिस प्रकार आपके पूर्व वंशधर शासकोंने मूडबिद्रीके रत्नमय जिनबिम्बों तथा सिद्धान्तग्रन्थोंकी सुरक्षा में उत्कट धर्मभावनासे प्रेरित हो योग दिया तदनुसार ही आप भी अपने जीवनमें करते रहें।

धर्मप्रिय श्रेष्ठिन्! आपका वंश परम्परासे परम धार्मिक रहा है। आपकी मातेश्वरी श्रीमती चौट्ट (पद्मावता देवी) प्रतिदिन सिद्धान्तग्रंथोंकी नियमसे पूजा करती हैं। आपकी स्वर्गीया धर्मपत्नी श्रीमती लक्ष्मीमती भी ऐसी ही धर्मपरायणा थीं, उनकी सदिच्छानुसार आपने धवलग्रंथका जीर्णोद्धार कराया है, जो उनकी श्रुतभक्तिका परिचायक है। इस प्रकार आपका समस्त परिवार धर्मप्रेमी एवं जिनवाणी भक्त है।

आज आपका अभिनन्दन करते हुए हमें अपार आनन्द हो रहा है। आप दीर्घ समय तक प्रसन्न जीवनके साथ धर्म-सेवा करते रहें, ऐसी हमारी भावना है।

मंगसिर वदि ११,
वीर नि० सं० २४८१

२१-११-५४

आपका गुणानुरागी
वीरसेवा-मन्दिर
दि० जैन लालमन्दिर, दिल्ली

प्रथम चित्रमें—लालमन्दिरजी के हालमें चाँदीकी सुन्दर वेदीमें सिंहासन पर जीर्णोधारित धवलग्रन्थराज-की प्रतिके कुछ पत्र रखे हुए हैं। और वेदीके सामने शो-केशमें शेष ग्रन्थ चाँदीकी चौकियों पर विराजित हैं। और उनका सोत्साह पूजन हो रहा है

बैठे हुए बाएँ से दायें पं० दरबारीलाल, पं० जुगलकिशोर मुख्तार, धर्मसाम्राज्य (धवलग्रन्थको लिए हुए) वैद्य महावीर प्रसाद, ला० जुगलकिशोर कागजी।

खडे हुए—पं० जयकुमार, दलीपसिंह, बांकेलाल, प्रेमचन्द, पं० परमानन्द, पन्नालाल और प्रेमचन्द
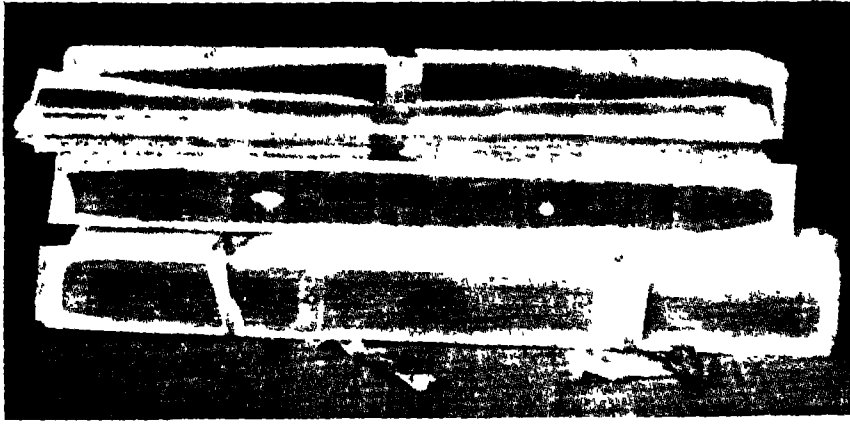
चित्रमें—श्री धवलग्रन्थराजकी समुद्धारित (Revising) प्रतिके पत्र हैं। उन ताडपत्रोंके चारों ओर पारदर्शी सफेद कपड़ा चमक रहा है जो उक्त ताडपत्रोंके दोनों ओर लगाया गया है।

श्री धवलग्रन्थराजके दर्शनोंका सफल आयोजन

श्री दि० जैन लाल मन्दिरमें ता० २१ रविवारके दिन जीर्णोद्धारको प्राप्त हुए श्री धवल ग्रन्थके दर्शनोंका वीर सेवा-मन्दिरकी ओरसे आयोजन किया गया था। ग्रन्थराजको लालमन्दिरके विशाल हालमें शोकेशके अन्दर चांदीकी चौकियों पर विराजमान किया गया था। और ग्रन्थका कुछ भाग चांदीकी सुन्दर वेदीमें खचित कमल पर रक्खे हुए रजतमय सिंहासन पर विराजमान किया था। इस ग्रन्थराजके दर्शनों के लिए जनता उमड़ पड़ी,—प्रातःकालसे लेकर रात्रिको ८ बजे तक जनताने बड़ी भक्ति और श्रद्धाके साथ दर्शन किये और समारोहके साथ पूजा भी की।

धवल ग्रन्थराजकी यह प्राचीन ताडपत्रीय प्रति तुलु या तौलव देशमें स्थित मूडबिद्री नगरके गुरु गल सिद्धान्त-वस्ति नामक जिन मन्दिरमें हजार वर्षके करीब समय-से सुरक्षित रही है। इसके साथ ही उक्त वस्तिमें कषाय प्राभृतकी टीका 'जयधवला' और महाबन्ध भी सत्कर्म पंजिकाके साथ सुरक्षित रहे हैं। इन ग्रन्थराजोंकी ये बहु मूल्य प्रतियाँ अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हो गई थीं, अनेक पत्र त्रुटित हो गये थे और महाबन्धके तो कितनेक पत्र भी अस्त-व्यस्त होकर अप्राप्त हो गए हैं। ऐसी स्थितिमें इन ग्रन्थोंके जीर्णोद्धार होनेकी बड़ी जरूरत थी। उनमें धवलके सिवाय शेष ग्रन्थोंका जीर्णोद्धार होना अभी बाकी हैं जो जल्दी ही सम्पन्न होगा। अतः कलकत्ता निवासी बा० छोटेलालजी अध्यक्ष वीरसेवा मन्दिरकी प्रमुखतामें एक शिष्टमण्डल इन ग्रन्थराजोंके फोटोकार्यके लिये मूडबिद्री गया था और उनकी प्रेरणाके फलस्वरूप वहांके पचों और भट्टारक जीकी स्वीकृति से फोटोका कार्य सानन्द सम्पन्न हुआ था। उसी समय इन ग्रन्थराजोंके जीर्णोद्धार करानेके लिये भी प्रेरणा की गई थी परिणाम स्वरूप वहाँके ट्रस्टीगण और भट्टारक जीके आदेशा-नुसार धवलग्रन्थकी उक्त प्राचीन प्रति दिल्ली लाई गई और भारत सरकारके National Archives of India, ग्रन्थरक्षागार नामक विभागके डायरेक्टर जनरल डा० भास्करा-नन्द सालेतूर पी०एच०डी० की सुरक्षामें उसका जीर्णोद्धारका कार्य बहुत ही सुन्दर तरीके पर सम्पन्न हुआ है।

इस ग्रन्थराजके जीर्णोद्धाका कुल खर्च मूडबिद्रीके उक्त गुरुगल सिद्धान्तवस्तिके ट्रस्टी और बाबू छोटेलाल जीके अनन्य मित्र श्री धर्मसाम्राज्यजीने अपनी स्वर्गीया धर्मपत्नी श्रीमती लक्ष्मीमती राणीके सुदृढ संकल्पानुसार उठाया है जिसके लिये वे धन्यवादके पात्र हैं।

रात्रिको ८ बजे वीर सेवामन्दिरकी ओरसे लाल मन्दिर जीके विशाल हालमें एक सभाका आयोजन किया गया, जो ला० जुगलकिशोरजी कागजी फर्म ला० धूमीमल धर्मदास चावड़ी बाजार दिल्लीकी अध्यक्षतामें सानंद सम्पन्न हुआ। प्रथम ही वयोवृद्ध साहित्य तपस्वी पं० जुगलकिशोरजीने षट्खण्डा-गमकी उत्पत्ति और धवलाटीकाके निर्माणका इतिवृत्त बतलाते हुये ग्रन्थराजकी महत्ता पर प्रकाश डाला और दूसरे महाबन्धादि सिद्धान्त ग्रन्थोंके समुद्धारकी भावना व्यक्त की। पश्चात पं० अजितकुमारजी शास्त्रीने भी उक्त सिद्धान्त ग्रन्थकी महत्ताका उल्लेख करते हुए उनके समुद्धार कार्यको आवश्यक और प्रशंसनीय बतलाया। अनंतर वयोवृद्ध पं० मक्खनलाल जी प्रचारकने भी ग्रन्थोंके जीर्णोद्धाके जरूरी प्रकट करते हुए धवलग्रन्थके जीर्णोद्धार कार्यकी प्रशंसा की। पश्चात् पं० दरबारीलाल जी कोठया न्यायाचार्यने बतलाया कि जिनवाणी और जिनदेवमें कोई अन्तर नहीं है अतएव जिनदेवके समान ही हमें उसकी पूजा उपासनाके साथ उनकी सुरक्षाका समुचित प्रयत्न करना चाहिये। इस तरह सबही भाषण महत्वपूर्ण हुए। भाषणोंके अनन्तर निम्न तीन प्रस्ताव सर्वसम्मतिसे पास हुए, उसके बाद पं० परमानन्द शास्त्रीने वीर-सेवा-मन्दिरकी ओरसे एक अभिनन्दन पत्र पढ़कर सुनाया और उसे श्री धर्मसाम्राज्यजीको सादर समर्पित किया। अनन्तर पं० मक्खनलाल जी प्रचारकने अपनी यह भावना व्यक्त की, कि दिल्लीको वार्षिक रथयात्रा पोष वदि दोयज ता० १५ दिसम्बरको होने वाली है मेरी इच्छा है कि यदि इस ग्रन्थराजको रथमें विराजमान किया जाय तब तक श्री धर्मसाम्राज्यजी यहाँ ही ठहरें, पंडित जीकी इस भावनाका समर्थन ला० प्रेमचन्द्र जी जैनावाच कम्पनीने किया। उत्तरमें श्री धर्मसाम्राज्यजीने कहा कि मुझे घरसे चले हुए करीब १५ दिनका समय हो गया है अब और अधिक ठहरना यहाँ सम्भव नहीं है। हाँ उस समय तक मैं 'जयधवल' यहां लानेका प्रयत्न करूँगा। उस समय दिल्ली समाजकी ओरसे उसका जीर्णोद्धार करानेकी घोषणा की गई। अर्थात् उसके जीर्णोद्धारका कुल खर्च दिल्ली समाजकी ओरसे किया जायगा। इसके बाद अध्यक्ष श्री जुगलकिशोर-

जीका आध्यात्मिक धार्मिक भाषण हुआ। और भगवान महावीर और जिनवाणीकी जयध्वनि पूर्वक सभा समाप्त हुई। —परमानन्द जैन

उक्त तीनों प्रस्ताव निम्न प्रकार हैं—

प्रस्ताव नं० १

देहली जैन समाजको यह सभा मूडबिद्रीके पंचों और श्री भट्टारक चारुकीर्तिजीको हार्दिक धन्यवाद देती है, जिनके समयानुकूल उदार विचारके फलस्वरूप श्री धवल ग्रन्थराजजी देहली आ सके, उनका जीर्णोद्धार हो सका। और देहली वासियोंको उनके पावन दर्शनोंकी प्राप्ति हो सकी। साथ ही, यह निवेदन भी करती है कि वे दूसरे प्राचीन जयधवलादि सिद्धांत ग्रंथोंकी जीर्ण-शीर्ण प्रतियोंको भी शीघ्र दिल्ली भिजवाकर उनका जीर्णोद्धार करानेकी कृपा करें। श्रीधवलकी जीर्णोद्धारित प्रतिको देख कर बड़ा हर्ष होता है कि इस जीर्णोद्धार कार्यसे ग्रन्थराजकी आयु बढ गई है और वे अब सैकड़ों वर्ष तक हमें अपने दर्शनोंसे अनुप्राणित करते रहेंगे।

प्रस्तावक—ला० प्रेमचन्द्र जी

समर्थक—ला० जुगलकिशोरकागजी अध्यक्ष

अनुमोदक—पं० अजितकुमार, पं० मक्खनलालजी प्रचारक

प्रस्ताव नं० २

दिल्ली जैन समाजके अनेक महानुभावों की यह इच्छा थी कि श्री धवलग्रंथराजके जीर्णोद्धारमें जो खर्च हुआ है उसको वे स्वयं उठावें; परन्तु मूडबिद्री गुरुगलवस्तिके ट्रस्टी श्रीधर्मसाम्राज्यजीका यह दृढ संकल्प मालूम करके कि इस खर्चको वे अपनी स्वर्गीया धर्मपत्नी श्री लक्ष्मीमती गट्टेमारकी प्रबल इच्छाके अनुसार स्वयं उठा रहे हैं, उन्हें अपनी इच्छाओंका संवरण करना पड़ा। अतः दिल्लीके जैनियोंकी यह सभा श्री धर्मसाम्राज्यजी और उनकी धर्मपत्नीके इस शुभ संकल्पके लिये उन्हें हार्दिक धन्यवाद भेंट करती है और श्रीधर्मसाम्राज्यजीने वृद्धावस्था में दोबार इतनी लम्बी यात्रा करके जो कष्ट उठाया है तथा वीरसेवा-मन्दिरको इस ग्रंथराजकी Negative and Positive दोनों फिल्में प्रदान की हैं उसके लिये उनके सेवामय सत्साहसकी प्रशंसा करती हुई उन्हें विशेष धन्यवाद अर्पण करती है और साथ ही आशा करती है कि वे भविष्यमें दूसरे जयधवलादि सिद्धान्त ग्रंथोंको भी शीघ्र देहली भिजवाकर उनके जीर्णोद्धार जैसे पुण्यकार्यमें वीरसेवामन्दिर एवं दिल्ली जैन समाजको हाथ बटानेका अवसर प्रदान करेंगे।

प्रस्तावक—जुगलकिशोर मुख्तार

समर्थक—ला० महावीरप्रसाद वैद्य

अनुमोदक—श्री वनवारीलाल

प्रस्ताव नं० ३

श्रीमान् डाक्टर भास्कर आनन्द सालेतूर डायरेक्टर Natial Archives of India देहलीने भी श्रीधवल ग्रंथराजकी इस अति प्राचीन बहुमूल्य प्रतिका जीर्णोद्धार बहुत ही सावधानीसे निजी तत्त्वावधानमें सम्पन्न कराया है। अतः देहलीके जैनियोंकी यह सभा डा० साहबको इस पवित्र सेवा कार्यके लिये हार्दिक धन्यवाद देती है और उनसे निवेदन करती है कि वे सिद्धांत ग्रन्थोंकी अन्य प्राचीन प्रतियोंका भी जीर्णोद्धार इसी उत्तमताके साथ सम्पन्न करायें। साथ ही, भारत सरकारका भी ऐसे उपयोगी विभागके लिये धन्यवाद करती है।

प्रस्तावक—ला० रघुवीरसिंह जैना वाच क०

समर्थक—पं० दरबारीलाल कोठिया

अनुमोदक—पं० मन्नूलाल, पं० सुमेरचंद, पं० मक्खनलाल

श्रीहीराचन्दजी बोहराका नम्र निवेदन और कुछ शंकाएँ

(जुगलकिशोर मुख्तार)

'समयसारकी १५ वीं गाथा और श्रीकानजी स्वामी' नामक मेरे लेखके तृतीय भागको लेकर बा० हीराचन्दजी बोहरा बी० ए० विशारद अजमेरने 'श्री पं० मुख्तार सा० से नम्र निवेदन' नामका एक लेख अनेकान्तमें प्रकाशनार्थ भेजा है, जो उनकी इच्छानुसार 'अविकल रूपसे * इसी किरणमें अन्यत्र प्रकाशित किया जा रहा है। लेखपरसे ऐसा मालूम होता है कि बोहराजीने मेरे पिछले दो लेखों—लेखके पूर्ववर्ती दो भागों—को नहीं देखा या पूरा नहीं देखा, देखा होता तो वे मेरे समूचे लेखकी दृष्टिको अनुभव करते और तब उन्हें इस लेखके लिखनेकी ज़रूरत ही पैदा न होती। मेरा समग्र लेख प्रायः जिनशासनके स्वरूप-विषयक विचारसे सम्बन्ध रखता है और कानजी स्वामीके 'जिन-शासन' शीर्षक प्रवचन-लेखको लेकर लिखा गया है, जो 'आत्मधर्म' के अतिरिक्त 'अनेकान्त' के गत वर्षकी किरण ६ में भी प्रकाशित हुआ है। जिनशासन' को जिनवाणीकी तरह जिनप्रवचन, जिनागम-शास्त्र, जिनमत, जिनदर्शन, जिनतीर्थ, जिनधर्म और जिनोपदेश भी कहा जाता है—जैनशासन, जैनदर्शन और जैनधर्म भी उसीके नामान्तर हैं, जिनका प्रयोग स्वामीजीने अपने प्रवचन-लेखमें जिनशासनके स्थान पर उसी तरह किया है जिस तरह कि 'जिनवाणी' और 'भगवानकी वाणी' जैसे शब्दोंका किया है। इससे जिन भगवानने अपनी दिव्य वाणीमें जो कुछ कहा है और जो तदनुकूल बने हुए सूत्रों—शास्त्रोंमें निबद्ध है वह सब जिन-शासनका-अंग है, इसे खूब ध्यानमें रखना चाहिये।" ऐसी स्पष्ट सूचना भी मेरी ओरसे प्रथम लेखमें की जा चुकी है, जो अनेकान्तके गत वर्षकी उसी छठी किरणमें प्रकाशित हुआ है। और इस सूचनाके अनन्तर श्री कुन्दकुन्दाचार्य-प्रणीत समयसारके शब्दोंमें यह भी बतलाया जा चुका है कि 'एकमात्र शुद्धात्मा जिनशासन नहीं है'; जैसा कि कानजी स्वामी "जो शुद्ध आत्मा वह जिनशासन है" इन शब्दों-द्वारा दोनोंका एकत्व प्रतिपादन कर रहे हैं। शुद्धात्मा जिनशासनका एक विषय प्रसिद्ध है वह स्वयं जिनशासन अथवा समग्र जिन-शासन नहीं है। जिनशासनके और भी अनेकानेक विषय हैं। अशुद्धात्मा भी उसका विषय है, पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल नामके शेष पाँच द्रव्य भी उसके अन्तर्गत हैं। वह सप्ततत्त्वों, नवपदार्थों, चौदह गुणस्थानों चतुर्दशादि जीवसमासों, षट्पर्याप्तियों, दस प्राणों, चार संज्ञाओं चौदह मार्गणाओं, द्विविध-चतुर्विध्यादि उपयोगों और नयों तथा प्रमाणोंकी भारी चर्चाओं एवं प्ररूपणाओंको आत्मसात् किये अथवा अपने अंक (गोद) में लिए हुए स्थित है। साथ ही मोक्षमार्गकी देशना करता हुआ रत्नत्रयादि धर्मविधानों, कुमार्गमथनों और कर्मप्रकृतियोंके कथनोपकथनसे भरपूर है। संक्षेपमें जिनशासन जिनवाणीका रूप है, जिसके द्वादश अंग और चौदह पूर्व अपार विस्तारको लिए हुए प्रसिद्ध हैं।" इस कथनकी पुष्टिमें समयसारकी जो गाथाएँ उद्धृत की जा चुकी हैं उनके नम्बर हैं—४६, ४८, ५६, ५६, ६०, ६७ ७०, १०७, १४१, १६१ १६२, १६३, १६१, १६८, २५१. २६२, २७३. ३५३, ४१४। इन गाथाओंको उद्धृत करनेके बाद प्रथम लेखमें लिखा था—

"इन सब उद्धरणोंसे तथा श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने अपनेप्रव-चनसारमें जिनशासनके साररूपमें जिन जिन बातोंका उल्लेख अथवा संसूचन किया है उन सबको देखनेसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि "एकमात्र शुद्धात्मा जिनशासन नहीं है। जिनशासन निश्चय और व्यवहार दोनों नयों तथा उपनयोंके कथनको साथ-साथ लिए हुए ज्ञान, ज्ञेय और चारित्ररूप सारे अर्थसमूहको उसकी सब अवस्थाओं-सहित अपना विषय किये हुए है।"

साथ ही यह भी बतलाया था कि "यदि शुद्ध आत्माको ही जिनशासन कहा जाय तो शुद्धात्माके जो पांच विशेषण अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त कहे जाते हैं वे जिनशासनको भी प्राप्त होंगे, और फिर यह स्पष्ट किया गया था कि जिनशासन उक्त विशेषणोंके रूपमें परि-लक्षित नहीं होता वे उसके साथ घटित नहीं होते अथवा संगत नहीं बैठते और इसलिए दोनोंकी एकता बन नहीं

---

*अविकल रूपसे प्रकाशित करनेमें बोहराजीके लेखमें कितनी ही गलत उल्लेखादिके रूपमें ऐसी मोटी भूलें स्थान पा गई हैं जिन्हें अन्यथा (सम्पादित होकर प्रकाशनकी दशामें) स्थान न मिलता; जैसे 'क्या शुभ भाव जैनधर्म नहीं ?' इसके स्थान पर 'क्या शुभभाव धर्म नहीं ?' इसे मेरे लेखका शीर्षक बतलाना।

सकती। इस स्पष्टीकरणमें स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन और अकलंकदेव जैसे महान् आचार्योंके कुछ वाक्योंको भी उद्धृत किया गया था, जिनसे जिनशासनका बहुत कुछ मूल स्वरूप सामने आजाता है, और फिर फलितार्थरूपमें 'विज्ञपाठकोंसे यह निवेदन किया गया था कि—

"स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन और अकलंकदेव जैसे महान् जैनाचार्योंके उपयुक्त वाक्योंसे जिनशासनकी विशेषताओं या उसके सविशेषरूपका ही पता नहीं चलता बल्कि उस शासनका बहुत कुछ मूल स्वरूप मूर्तिमान होकर सामने आजाता है। परन्तु इस स्वरूप-कथनमें कहीं भी शुद्धात्माको जिनशासन नहीं बतलाया गया, यह देखकर यदि कोई सज्जन उक्त महान् आचार्योंको, जो कि जिनशासनके स्तम्भ-स्वरूप माने जाते हैं, 'लौकिजन' या 'अन्यमती' कहने लगे और यह भी कहने लगे कि 'उन्होंने जिनशासनको जाना या समझा तक नहीं' तो विज्ञ पाठक उसे क्या कहेंगे, किन शब्दोंसे पुकारेंगे और उसके ज्ञानकी कितनी सराहना करेंगे (इत्यादि)"

कानजी स्वामीका उक्त प्रवचन-लेख जाने-अनजाने ऐसे महान् आचार्योंके प्रति वैसे शब्दोंके संकेतको लिए हुए है, जो मुझे बहुत ही असह्य जान पड़े और इसलिए अपने पास समय न होते हुए भी मुझे उक्त लेख लिखनेके लिए विवश होना पड़ा, जिसकी सूचना भी प्रथम लेख में निम्न शब्दों द्वारा की जाचुकी है—

" जिनशासनके रूपविषयमें जो कुछ कहा गया है वह बहुत ही विचित्र तथा अविचारितरम्य जान पड़ता है। सारा प्रवचन आध्यात्मिक एकान्तकी ओर ढला हुआ है, प्रायः एकान्तमिथ्यात्वको पुष्ट करता है और जिन-शासनके स्वरूप-विषयमें लोगोंको गुमराह करनेवाला है। इसके सिवा जिनशासनके कुछ महान् स्तम्भोंको भी इसमें "लौकिकजन" तथा "अन्यमती" जैसे शब्दों से याद किया है और प्रकारान्तरसे यहां तक कह डाला है कि उन्होंने जिनशासनको ठीक समझा नहीं, यह सब असह्य जान पड़ता है। ऐसी स्थितिमें समयाभावके होते हुए भी मेरे लिये यह आवश्यक हो गया है कि मैं इस प्रवचनलेख पर अपने विचार व्यक्त करूँ (इत्यादि)"

कानजी स्वामीके व्यक्तित्वके प्रति मेरा कोई विरोध नहीं है, मैं उन्हें आदरकी दृष्टिसे देखता हूं; चुनांचे अपने लेखके दूसरे भागमें मैंने यह व्यक्त भी किया था कि—"आपके व्यक्तित्वके प्रति मेरा बहुमान है—आदर है और मैं आपके सत्संगको अच्छा समझता हूं; परन्तु फिर भी सत्यके अनुरोधसे मुझे यह मानने तथा कहनेके लिये बाध्य होना पड़ता है कि आपके प्रवचन बहुधा एकान्तकी ओर ढले होते हैं—उनमें जाने-अनजाने वचनानयका दोष बना रहता है। जो वचन-व्यवहार 'समीचीननय-विवक्षाको साथमें लेकर नहीं होता अथवा निरपेक्षनय या नयोंका अवलम्बन लेकर प्रवृत्त किया जाता है वह वचनानयके दोषसे दूषित कहलाता है।"

साथ ही यह भी प्रकट किया था कि—"श्री कानजी-स्वामी अपने वचनों पर यदि कड़ा अंकुश रक्खें, उन्हें निरपेक्ष निश्चय नयके एकान्तकी ओर ढलने न दें, उनमें निश्चय-व्यवहार दोनों नयोंका समन्वय करते हुए उनके वक्तव्योंका सामंजस्य स्थापित करें, एक दूसरेके वक्तव्यको परस्पर उपकारी मित्रोंके वक्तव्यकी तरह चित्रित करें—न कि स्व-परप्रणाशी-शत्रुओंके वक्तव्यकी तरह—और साथ ही कुन्दकुन्दाचार्यके 'ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे' इस वाक्यको खास तौरसे ध्यानमें रखते हुए उन लोगोंको जो कि अपरमभावमें स्थित हैं—वीतराग चारित्रकी सीमातक न पहुँच कर साधक-अवस्थामें स्थित हुए मुनिधर्म या श्रावकधर्मका पालन कर रहे हैं—व्यवहारनयके द्वारा उस व्यवहारधर्मका उपदेश दिया करें जिसे तरणोंपायके रूपमें 'तीर्थ' कहा जाता है, तो उनके द्वारा जिनशासनकी अच्छी सेवा हो सकती है और जिनधर्मका प्रचार भी काफी हो सकता है। अन्यथा, एकान्तकी ओर ढलजानेसे तो जिनशासनका विरोध और तीर्थका लोप ही घटित होगा।"

इसके सिवा समयसारकी दो गाथाओं नं० २०१, २०२ को लेकर जब यह समस्या खड़ी हुई थी कि इन गाथाओंके अनुसार जिसके परमाणुमात्र भी रागादिक विद्यमान हैं वह आत्मा अनात्मा (जीव-जीव) को नहीं जानता और जो आत्मा अनात्माको नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता। कानजी स्वामी चूंकि राग-रहित वीतराग नहीं और उनके उपदेशादि कार्य भी रागसहित पाये जाते हैं, तब क्या रागादिकके सद्भावके कारण यह कहना होगा कि वे आत्मा-अनात्माको नहीं जानते और इस लिए सम्यग्दृष्टि नहीं हैं? इस समस्याको हल करते हुए मैंने लिखा था कि 'नहीं कहना चाहिए' और फिर स्वामी समन्तभद्रके एक वाक्यकी सहायतासे उन रागादिकको स्पष्ट करके बतलाया था जो कुन्दकुन्दाचार्यकी उक्त गाथाओंमें विवक्षित हैं—अर्थात् यह प्रकट

किया था कि मिथ्यादृष्टिजीवोंके मिथ्यात्वके उदयमें जो अहंकार-ममकारके परिणाम होते हैं उन परिणामोंसे उत्पन्न रागादिक यहाँ विवक्षित हैं—जो कि मिथ्यात्वके कारण 'अज्ञानमय' होते एवं समतामें बाधक पड़ते हैं। वे रागादिक यहां विवक्षित नहीं हैं जोकि एकान्तधर्माभिनिवेशरूप मिथ्यादर्शनके अभावमें चारित्रमोहके उदय-वश होते हैं और जो ज्ञानमय तथा स्वाभाविक होने से न तो जीवादिकके परिज्ञानमें बाधक हैं और न समता—वीतरागताकी साधनामें ही बाधक होते हैं। और इस तरह कानजी स्वामीपर घटित होनेवाले आरोपका परिमार्जन किया था।

इन सब बातोंसे तथा इस बात से भी कि कानजीस्वामीके चित्रोंको अनेकान्तमें गौरवके साथ प्रकाशित किया गया है यह बिल्कुल स्पष्ट है कि कानजी स्वामीके व्यक्तित्वके प्रति अपनी कोई बुरी भावना नहीं, उनकी वाक्परिणति एवं वचनपद्धति सदोष जान पड़ती है, उसीको सुधारने तथा ग़लतफहमीको न फैलने देनेके लिये ही सद्भावनापूर्वक उक्त लेख लिखनेका प्रयत्न किया गया था। उसी सद्भावनाको लेकर लेखके पिछले (तृतीय भाग) में इस बातको स्पष्ट करके बतलाते हुए कि श्री कुन्दकुन्द और स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् आचार्योंने पूजा-दान-व्रतादिरूप सदाचार (सम्यक्चारित्र) को—तद्विषयक शुभभावोंको—धर्म बतलाया है—जैनधर्म अथवा जिनशासनके अंगरूपमें प्रतिपादन किया है। अतः उनका विरोध (उन्हें जिनशासनसे बाह्यकी वस्तु एवं अधर्म प्रतिपादन करना) जिनशासनका विरोध है, उन महान् आचार्योंका भी विरोध है और साथ ही अपनी उन धर्मप्रवृत्तियोंके भी वह विरुद्ध पड़ता है, जिनमें शुभभावोंका प्राचुर्य पाया जाता है, कानजी स्वामीके सामने एक समस्या हल करनेके लिये रक्खी थी और उसके शीघ्र हल होनेकी जरूरत व्यक्त की गई थी, जिससे उनकी कथनी और करणी में जो स्पष्ट अन्तर पाया जाता है उसका सामंजस्य किसी तरह बिठलाया जा सके। साथ ही, उन पर यह प्रकट किया था कि उन्होंने जो ये शब्द कहे हैं कि "जो जीव पूजादिके शुभरागको धर्म मानते हैं उन्हें 'लौकिक जन' और 'अन्यमती' कहा है" उनकी लपेट में, जाने-अनजाने, श्री कुन्दकुद, समन्तभद्र, उमास्वाति, सिद्धसेन, पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्दादि सभी महान् आचार्य आ जाते हैं; क्योंकि उनमेंसे किसीने भी शुभभावोंका जैनधर्म (जिनशासन) में निषेध नहीं किया है, प्रत्युत इसके अनेक प्रकारसे उनका विधान किया है और इससे उनपर (कानजी स्वामीपर) यह आरोप आता है कि उन्होंने ऐसे चोटीके महान् जैनाचार्योंको 'लौकिकजन' तथा 'अन्यमती' कह कर अपराध किया है, जिसका उन्हें स्वयं प्रायश्चित्त करना चाहिये।

इसके सिवा, उनपर यह भी प्रकट किया गया था "कि अनेक विद्वानोंका आपके विषयमें अब यह मत हो चला है कि आप वास्तवमें कुन्दकुन्दाचार्यको नहीं मानते और न स्वामी समन्तभद्रजैसे दूसरे महान् जैन आचार्योंको ही वस्तुतः मान्य करते हैं—यों ही उनके नामका उपयोग अपनी किसी कार्यसिद्धिके लिए उसी प्रकार कर रहे हैं जिस प्रकार कि सरकार अक्सर गांधीजीके नामका करती है और उनके सिद्धान्तों को मानकर नहीं देती; और इस तरह दूसरे बड़े आरोप की सूचना की गई थी। साथ ही अपने परिचयमें आए कुछ लोगोंकी उस आशंकाको भी व्यक्त किया गया था जो कानजी स्वामी और उनके अनुयाइयोंकी प्रवृत्तियोंको देखकर लोकहृदयोंमें उठने लगी हैं और उनके मुखसे ऐसे शब्द निकलने लगे हैं कि 'कहीं जैन समाजमें यह चौथा सम्प्रदाय तो कायम होने नहीं जा रहा है, जो दिगम्बर श्वेताम्बर और स्थानक वासी सम्प्रदायों की कुछ-कुछ ऊपरी बातों को लेकर तीनोंके मूलमें ही कुठाराघात करेगा' (इत्यादि)। और उसके बाद यह निवेदन किया गया था :—

"यदि यह आशंका ठीक हुई तो निःसन्देह भारी चिन्ताका विषय है और इस लिए कानजी स्वामीको अपनी पोज़ीशन और भी स्पष्ट कर देनेकी ज़रूरत है। जहां तक मैं समझता हूं कानजी महाराजका ऐसा कोई आमाशय नहीं होगा जो उक्त चौथा जैन साम्प्रदायके जन्मका कारण हो। परन्तु उनकी प्रवचन-शैलीका जो रुख चलरहा है और उनके अनुयायियोंकी जो मिशनरी प्रवृत्तियां प्रारम्भ हो गई हैं उनसे वैसी आशंकाका होना अस्वाभाविक नहीं है और न भविष्यमें वैसे सम्प्रदायकी सृष्टिको ही अस्वाभाविक कहा जा सकता है। अतः कानजी महाराजकी इच्छा यदि सचमुच चौथे सम्प्रदायको जन्म देने की नहीं है, तो उन्हें अपने प्रवचनोंके विषयमें बहुत ही सतर्क एवं सावधान होने की जरूरत है—उन्हें केवल वचनों-द्वारा ही अपनी पोजीशनको स्पष्ट करनेकी जरूरत नहीं है, बल्कि व्यवहारादिकके द्वारा भी ऐसा सुदृढ प्रयत्न करने की जरूरत है जिससे उनके निमित्तको पाकर वैसा चतुर्थ सम्प्रदाय भविष्यमें खड़ा न होने पावे, साथ ही लोक-

हृदयमें जो आशंका उत्पन्न हुई है वह दूर हो जाय और जिन विद्वानोंका विचार उनके विषयमें कुछ दूसरा हो चला है वह भी बदल जाय। आशा है अपने एकप्रवचनके कुछ अंशों पर सद्भावनाको लेकर लिखे गये इस आलोचनात्मक लेखपर कानजी महाराज सविशेष रूपसे ध्यान देनेकी कृपा करेंगे और उसका सत्फल उनके स्पष्टीकरणात्मक वक्तव्य एवं प्रवचन-शैली की समुचित तब्दीलीके रूपमें शीघ्र ही दृष्टिगोचर होगा।"

मेरे इस निवेदन को पाँच महीनेका समय बीत गया; परन्तु खेद है कि अभीतक कानजीस्वामीकी ओरसे उनका कोई वक्तव्य मुझे देखनेको नहीं मिला, जिससे अन्य बातोंको छोड़कर कमसे कम इतना तो मालूम पड़ता कि उन्होंने अपनी पोजीशन का क्या कुछ स्पष्टीकरण किया है, उस समस्याका क्या हल निकाला है जो उनके सामने रखी गई है, उन आरोपोंका किसरूपमें परिमार्जन किया है जो उन पर लगाये गये हैं, और लोकहृदयमें उठी एवं मुंह पर आई हुई आशंका को निमूल करनेके लिए क्या कुछ प्रयत्न किया है। मैं बराबर श्रीकानजी महाराजके उत्तर तथा वक्तव्यकी प्रतीक्षा करता रहा हूँ और एक दो बार श्री हीराचन्द जी बोहराको भी लिखा चुका हूं कि वे उन्हें प्रेरणा करके उनका वक्तव्यादि शीघ्र भिजवाएँ, जिससे लगे हाथों उसपर भी विचार किया जाय और अपनेसे यदि कोई गलती हुई हो तो उसे सुधार दिया जाय; परन्तु अन्तमें बोहराजीके एक पत्रको पढ़कर मुझे निराश हो जाना पड़ा। जान पड़ता है कानजीस्वामी सब कुछ पी गये हैं—इतने गुरुतर आरोपों की भी अवांछनीय उपेक्षा कर गये हैं - और कोई प्रत्युत्तर, स्पष्टीकरण या वक्तव्य देना नहीं चाहते। वे जिस पदमें स्थित हैं उसकी दृष्टिसे उनकी यह नीति बड़ी ही घातक जान पड़ती है। जब वे उपदेश देते हैं और उसमें दूसरोंका खण्डन-मण्डन भी करते हैं तब मेरे उक्त लेखके विषयमें कुछ कहने अथवा अपना स्पष्टीकरण प्रस्तुत करने के लिये उन्हें कौन रोक सकता था? वक्तव्य तो गलतियों-गलतफहमियोंको दूर करने के लिये अथवा दूसरोंके समाधान की दृष्टिसे बड़ेबड़े मन्त्रियों, सेनानायकों, राजेमहाराजों, राष्ट्रपतियों और धर्म-ध्वजियों तक को देने पड़ते हैं तब एक ब्रह्मचारी श्रावकके पदमें स्थित कानजी स्वामीके लिये ऐसी कौन बात उसमें बाधक है यह कुछ समझमें नहीं आता! वक्तव्य न देनेसे उल्टा उनके अहंकारका द्योतन होता है और दूसरी भी कुछ कल्पनाओंको अवसर मिलता है। अस्तु उनका इस विषयमें यह मौन कुछ अच्छा मालूम नहीं देता—उससे भविष्यमें हानि होनेकी भारी संभावना है। भविष्यमें यदि वैसा कोई चौथा सम्प्रदाय स्थापित होने को हो तो स्वामीजीके शिष्य-प्रशिष्य कह सकते हैं कि यदि स्वामीजी को यह सम्प्रदाय इष्ट न होता तो वे पहले ही इसका विरोध करते जब उन्हें इसकी कुछ सूचना मिली थी; परन्तु वे उस समय मौन रहे हैं अतः 'मौनं सम्मति-लक्षणं' की नीतिके अनुसार वे इस चौथे सम्प्रदायकी स्थापनासे सहमत थे, ऐसा समझना चाहिए। साथ ही किसी विषयमें परस्पर मत-भेद होने पर उन्हें यह भी कहने का अवसर मिल सकेगा कि स्वामीजी कुन्दकुन्दादि आचार्योंका गुणगान करते हुए भी उन्हें वस्तुतः जैनधर्मी नहीं मानते थे—'लौकिक जन' तथा, 'अन्यमती' समझते थे, इसीसे जब उनपर उन महान् आचार्यों को वैसा कहनेका आरोप लगाया गया था तो वे मौन हो रहे थे—उन्होंने उसका कोई विरोध नहीं किया था।

ऐसी वर्तमान और सम्भाव्य वस्तु-स्थितिमें मेरे समूचे लेखकी दृष्टिको ध्यानमें रखते हुए यद्यपि श्रीबोहराजीके लिये प्रस्तुत लेख लिखने अथवा उसके छापने का आग्रह करनेके लिए कोई माकूल वजह नहीं थी फिर भी उन्होंने उसको लिखकर जल्दी अनेकान्त छापनेका जो आग्रह किया है वह एक प्रकारसे 'मुद्दई सुस्त और गवाह चुस्त' की नीतिको चरितार्थ करता है।

लेखके शुरूमें कुछ शंकाओंको उठाकर मुझसे उनका समाधान चाहा गया है और फिर सबूतके रूपमें कतिपय प्रमाणोंको—अष्टपाहुडके टीकाकार पं० जयचन्दजी और मोक्षमार्गके रचयिता पं० टोडरमलजीके वाक्योंको साथ ही कुछ कानजी स्वामीके वाक्योंको भी उपस्थित किया गया है, जिससे मैं शंकाओंका समाधान करते हुए कहीं कुछ विचलित न हो जाऊँ; इस कृपाके लिए मैं श्री बोहरा जी का आभारी हूँ। उनकी शंकाओंका समाधान आगे चल कर किया जायगा, यहाँ पहले उनके प्रमाणों पर एक दृष्टि डाल लेना और यह मालूम करना उचित जान पड़ता है कि वे कहां तक उनके अभिमत विषयके समर्थक होकर प्रमाण कोटिमें ग्रहण किये जासकते हैं।

श्रीकुन्दकुन्दके भावपाहुडकी ८३वीं गाथाके पं० जयचन्दजीकृत 'भावार्थ' को डबल इन्वर्टेडकामाज़ "———"

के भीतर इस ढंगसे उद्धृत किया गया है जिससे यह मालूम होता है कि वह उक्त गाथाका पूरा भावार्थ है – उसमें कुछ घटा-बढी नहीं हुई अथवा नहीं की गई है। परन्तु जाँचसे वस्तु-स्थिति कुछ दूसरी ही जान पड़ी। उद्धृत भावार्थका प्रारम्भ निम्न शब्दोंमें होता है—

"लौकिकजन तथा अन्यमती केई कहैं है जो पूजा आदिक शुभ क्रिया तिनिविषै अर व्रतक्रियासहित है सो जिनधर्म है सो ऐसा नांही है। जिनमतमें जिनभगवान ऐसा कह्या है जो पूजादिक विषै अरव्रत सहित होय सो तो पुण्य है।"

इस अंश पर दृष्टि डालते ही मुझे यहाँ धर्मका 'जिन' विशेषण अन्यमतीका कथन होनेसे कुछ खटका तथा असंगत जान पड़ा, और इसलिये मैंने इस टीकाग्रन्थकी प्राचीन प्रति-को देखना चाहा। खोज करते समय दैवयोगसे देहलीके नये मन्दिरमें एक अति सुन्दर प्राचीन प्रति मिल गई जो टीकाके निर्माणसे सवा दो वर्षबाद (सं० १८६६ पौष वदी २ को) लिखकर समाप्त हुई है। इस टीका-प्रतिसे बोहरा जीके उद्धरणका मिलान करते समय स्पष्ट मालूम हो गया कि वहां धर्मके साथ 'जिन' या कोई दूसरा विशेषण लगा हुआ नहीं है। साथ ही यह भी पता चला कि मोह-क्षोभसे रहित आत्माके निज परिणामको धर्म बतलाते हुए भावार्थका जो अन्तिम भाग "तथा एकदेश मोहके क्षोभकी हानि होय है तातें शुभ परिणामकूँ भी उपचारसे धर्म कहिये है" इस वाक्यसे प्रारम्भ होता है उसके पूर्वमें निम्न दो वाक्य छूट गये अथवा छोड दिए गये हैं—

"ऐसे धर्मका स्वरूप कह्या है। अर शुभ परिणाम होय तब या धर्मकी प्राप्तिका भी अवसर होय है।"

इस भावार्थमें पं० जयचन्दजीने दो दृष्टियोंसे धर्मकी बातको रक्खा है—एक कुछ लौकिकजनों तथा अन्यमतियों के कथनको दृष्टिसे और दूसरी जिनमत (जैनशासन) की अनेकांतदृष्टिसे। अनेकान्तदृष्टिसे धर्म निश्चय और व्यवहार दोनों रूपमें स्थित है। व्यवहारके बिना निश्चयधर्म बन नहीं सकता, इसी बातको पं० जयचन्दजी ने "अर शुभ परिणाम (भाव) होय तो या धर्मकी प्राप्तिका भी अवसर होय है" इन शब्दोंके द्वारा व्यक्त किया है। जब शुभ भावके बिना शुद्ध-भावरूप निश्चयधर्मकी प्राप्तिका अवसर ही प्राप्त नहीं हो सकता तब धर्मकी देशनामें शुभभावोंको जिनशासनसे अलग कैसे किया जा सकता है और कैसे यह कहा जा सकता है कि शुभभाव जैनधर्म या जिनशासनका कोई अंग नहीं, इसे साधारण पाठक भी सहज ही समझ सकते हैं।

इसके सिवा पं० जयचन्दजी ने उक्त भावार्थमें यह कहीं भी नहीं लिखा और न उनके किसी वाक्यसे यह फलित होता है कि "जो जीव पूजादिके शुभरागको धर्म मानते हैं उन्हें "लौकिकजन" और "अन्यमती" कहा है।" लौकिक-जन और अन्यमतीके इस लक्षणको यदि कोई भावार्थके उक्त प्रारम्भिक शब्दों परसे फलित करने लगे तो वह उसकी कोरी नासमझीका ही द्योतक होगा; क्योंकि वहाँ 'लौकिक-जन' तथा "अन्यमती" ये दोनों पद प्रथम तो लक्ष्यरूपमें प्रयुक्त नहीं हुए हैं दूसरे इनके साथ 'केई' विशेषण लगा हुआ है जिसके स्थान पर कानजी स्वामीके वाक्यमें 'कोई कोई' विशेषणका प्रयोग पाया जाता है, जिसका अर्थ है कि कुछ थोड़ेसे लौकिकजन तथा अन्यमती ऐसा कहते हैं—सब नहीं कहते; तब जो नहीं कहते उनपर वह लक्षण उनके लौकिक जन तथा अन्यमती होते हुए भी कैसे घटित हो सकता है? नहीं हो सकता, और इस लिए कानजीस्वामीका उक्त लक्षण अव्याप्ति दोषसे दूषित ठहरता है और चूँकि उसकी गति उन महान् पुरुषों तक भी पाई जाती है जिन्होंने सराग-चारित्र तथा शुभभावोंको भी जैनधर्म तथा जिनशासनका अंग बतलाया है और जो न तो लौकिकजन है और न अन्यमती, इसलिए उक्त लक्षण अतिव्याप्तिके कलंकसे भी कलंकित है? साथ ही उसमें 'धर्मके स्थान पर 'जैनधर्म' का गलत प्रयोग किया गया है। अतः उक्त 'भावर्थ'में 'लौकि-जन' तथा अन्यमती' शब्दोंके प्रयोगमात्रसे यह नहीं कहा जा सकता कि "जो वाक्य श्रीकानजी स्वामीने लखे हैं वे इनके नहीं अपितु श्री पं० जयचंदजीके हैं।" श्रीबोहराजीने यह अन्यथा वाक्य लिखकर जो कानजी स्वामीकी वकालत करनी चाही है और उन्हें गुरुतर आरोपसे मुक्त करनेकी चेष्टा का है वह वकालत की अति है और उनजैसे विचारकोंको शोभा नहीं देती। ऐसी स्थितिमें उक्त वाक्यके अनन्तर मेरे ऊपर जो निम्न शब्दोंकी कृपावृष्टि की गई है उनका आभार किन शब्दोंमें व्यक्त करूँ यह मुझे कुछ सूझ नहीं पड़ता—विज्ञ पाठक तथा स्वयं बोहराजी इस विषयमें मेरी असमर्थता को अनुभवकर सकेंगे, ऐसी आशा है। वे शब्द इस प्रकार हैं—

"तो क्या मुख्तार सा० की दृष्टिमें श्री पं० जयचन्द्रजी भी उन्हीं विशेषणोंके पात्र हैं जो पण्डितजीने इन्हीं शब्दोंके कारण श्रीकानजी स्वामीके लिये खुले दिलसे प्रयोग किये

हैं। यदि नहीं तो ऐसी भूलके लिए खेद प्रकट शीघ्र किया जाना चाहिए।"

"हाँ यहाँ पर मैं इतना जरूर कहूंगा कि श्रीकानजी स्वामी पर जो यह आरोप लगाया गया था कि उन्होंने अपने उक्त वाक्य-द्वारा जाने-अनजाने श्रीकुन्दकुन्दाचार्य, स्वामी समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंकदेव और विद्यानन्दादि-जैसे महान् आचार्योंको "लौकिकजन" और "अन्यमती" बतला कर भारी अपराध किया है, जिसका उन्हें स्वयं प्रायश्चित्त करना चाहिए, उसका श्रीबोहराजीके उक्त प्रमाणसे कोई परिमार्जन नहीं होता—वह ज्योंका त्यों खड़ा रहता है; और इसलिए उनका यह प्रमाण कोई प्रमाण नहीं, किन्तु प्रमाणाभासकी कोटिमें स्थित है, जिससे कुछ भोले भाई ही ठगाये जा सकते हैं। (क्रमशः)

श्री पं० मुख्तार सा० से नम्र निवेदन

(श्री हीराचन्द बोहरा बी० ए० विशारद अजमेर)

अनेकान्त वर्ष १३ किरण १ (जुलाई ५४) में 'समयसार की १५वीं गाथा और श्रीकानजी स्वामी' शीर्षक लेख जो समाजके प्रसिद्ध साहित्य सेवी एवं वयोवृद्ध विद्वान् श्री प० जुगलकिशोर जी सा० मुख्तार द्वारा लिखा गया है, उसके सम्बन्ध में मैं उनकी सेवामें उनके नम्र विचारार्थ अपने हृदयोद्गार उपस्थित करनेका साहस कर रहा हूँ। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रद्धेय श्री मुख्तार सा० ने जैन साहित्यकी अभूतपूर्व सेवा की है और इसीलिये उनके प्रति मेरे हृदयमें भी पूर्ण आदर भाव है, लेकिन प्रस्तुत लेखमें जिस तर्कको लेकर श्री कानजी स्वामीके सम्बन्धमें जो कुछ लिखा गया है वह हृदयको खटक गया है। इसीलिए यहाँ मैं अपने अल्प शास्त्रीय ज्ञानका आधार बनाते हुए अपनी भावनाओंको व्यक्त कर रहा हूं। आशा है, विद्वान् बन्धु एवं पाठक गण इस पर गंभीरता पूर्वक विचार करने को कृपा करेंगे और यदि मेरे अभिप्रायमें आगमदृष्टिसे विरोध आता हो तो मुझे सम्यक् मार्ग प्रदर्शित करनेकी कृपा करेंगे। ताकि मैं भी अपनी मान्यताकी भूल (यदि वास्तवमें भूल हो तो) ठीक कर सकूँ।

श्री मुख्तार सा० ने 'क्या शुभभाव धर्म नहीं?' शीर्षक के अंतर्गत यह लिखा है कि "धर्म दो प्रकारका होता है, एक वह जो शुभभावोंके द्वारा पुण्यका प्रसाधक है, और दूसरा वह जो शुद्धभावोंके द्वारा अच्छे या बुरे किसी भी प्रकारके कर्मास्रवका कारण नहीं होता।" आगे यह भी लिखा है कि "पूजा तथा दानादिक धर्मके अंग है, वे मात्र अभ्युदय अथवा पुण्यफलको फलनेकी वजहसे धर्मकी कोटिसे नहीं निकल जाते।" 'शुभभावोंका जैनधर्ममें निषेध नहीं किया गया है।' —'जैनधर्म या जिनशासनसे शुभभावोंको अलग नहीं किया जा सकता और न मुनियों तथा श्रावकोंके सरागचारित्रको ही उससे पृथक् किया जा सकता है। ये सब उसके अंग हैं अंगोंसे हीन अंगी अधूरा या लंडूरा कहलाता है।' "शुभमें अटकनेसे डरनेकी भी कोई बात नहीं है" आदि द्वारा यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि शुभभाव जैनधर्म है।

उपरोक्त लेख श्रीकानजी स्वामीके निम्न शब्दोंको लेकर लिखा गया है—"कोई कोई लौकिक जन तथा अन्यमती कहते हैं कि पूजादिक तथा व्रत क्रिया सहित हो वह जैनधर्म है परन्तु ऐसा नहीं है। देखो, जो जीव पूजादिके शुभरागको धर्म मानते हैं उन्हें 'लौकिक जन' तथा 'अन्यमती' कहा है।'

इसी प्रकरणको लेकर श्रीकानजी स्वामीके शब्दोंको असंगत, वस्तु स्थितिके विरुद्ध, अविचारित, बेतुकी वचनावली बतलाते हुए उनके कृत्यको धृष्टतापूर्ण तथा दुस्साहस पूर्ण ठहराया गया है तथा उनके द्वारा दिगम्बर जैनमन्दिरों मूर्तियोंके निर्माण, पूजा प्रतिष्ठादि विधानोंमें योग देनेके कृत्यमें श्री मुख्तार सा० को मत विशेषके प्रचारकी भावना अथवा तमाशा दिखलानेकी भावनाकी गंध आई है, इसीलिए "उपसंहार और चेतावनी" शीर्षकमें अपनी उपरोक्त भावनाओंको और भी स्पष्ट कर डाला है। समाचारपत्रोंमें इस प्रकारकी आशंकाओंके प्रकट किए जानेका मनोवैज्ञानिक रूपसे कितना विपरीत प्रभाव पड़ सकता है—यदि इस पर गंभीरतापूर्वक थोड़ा बहुत भी विचार किये जानेका कष्ट किया जाता तो सम्भवतः मुख्तार सा० सदृश उच्च कोटिके विद्वान्को अपने पत्रमें ऐसी बातें लिखनेकी आवश्यकता नहीं होती, इनकी परिमार्जित एवं अनुभवशील लेखनीसे इस प्रकारके

लेखको पढ़ कर कमसे कम मेरे हृदयको तो काफी चोट पहुंची है क्योंकि इन बातोंका असर व्यापक एवं गम्भीर हो सकता है। काश निष्पक्ष, मध्यस्थ, शान्त हृदयसे तथा दूरदर्शिताकी दृष्टिसे इस पहलू पर विचार करनेका प्रयत्न किया जाता तो कितना सुन्दर रहता! अस्तु

उपरोक्त लेखको पढ़कर मेरे हृदयमें जो शंकाएं उठ खड़ी हुई हैं, जिज्ञासुकी दृष्टिसे उनका समाधान करनेका श्री० मुख्तार साहबसे मेरा नम्र निवेदन है। आशा है श्री मुख्तार साहब अपने इसी पत्रमें इनका उत्तर प्रकाशित करनेकी कृपा करेंगे।

१—दान, पूजा, भक्ति शील, संयम, महाव्रत, अणुव्रत आदिके परिणामोंसे कर्मोंका आस्रव बंध होता है या संवर निर्जरा?

२—यदि इन शुभभावोंसे कर्मोंकी संवर निर्जरा होती है तो शुद्धभाव (वीतराग भाव) क्या कार्यकारी रहे? यदि कार्यकारी नहीं तो उनका महत्व शास्त्रोंमें कैसे वर्णित हुवा?

३—जिन शुभभावोंसे कर्मोंका आस्रव होकर बंध होता है क्या उन्हीं शुभभावोंसे मुक्ति भी हो सकती है? क्या एक ही परिणाम जो बंधके भी कारण हैं, वे ही मुक्तिका कारण भी हो सकते हैं। यदि ये परिणाम बंधके ही कारण हैं तो इन्हें धर्म (जो मुक्तिका देने वाला है) कैसे माना जाय?

४—उत्कृष्ट द्रव्यलिंगी मुनि शुभोपयोगरूप उच्चतम निर्दोष क्रियाओंका परिपालन करते हुए भी (यहां तककि अनंतवार मुनिव्रत धारण करके भी) मिथ्यात्व गुणास्थानमें ही क्यों पड़ा रह जाता है? आपके लेखानुसार तो वह शुद्धत्वके निकट (मुक्तिके निकट) होना चाहिये। फिर शास्त्रकारोंने उसे असंयमी सम्यकदृष्टिसे भी हीन क्यों माना है?

५—यदि शुभभावोंमें अटके रहनेमें डरनेकी कोई बात नहीं है तो संसारी जीवको अभीतक मुक्ति क्यों नहीं मिली? अनादिकालसे जीवका परिभ्रमण क्यों हो रहा है? क्या वह अनादिकालसे केवल पापभाव ही करता आया है? यदि नहीं तो उसके भव भ्रमणमें पापके ही समान पुण्य भी कारण है या नहीं? यदि पुण्यभाव भी बंध भाव होनेसे भव-भ्रमणमें कारण है तो उसमें अटके रहनेमें हानि हुई या लाभ?

६—यदि शुभमें अटके रहनेमें कोई हानि नहीं है तो फिर शुद्धत्वके लिए पुरुषार्थ करनेकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है? क्योंकि आपके लेखानुसार अब इनसे हानि नहीं तो जीव इन्हें छोड़नेका उद्यम ही क्यों करे? क्या आपके लिखनेका यह तात्पर्य नहीं हुवा कि इसमें अटके रहनेसे कभी न कभी तो संसार परिभ्रमण रुक जावेगा? शुभ क्रिया करते २ मुक्ति मिल जायेगी, ऐसा आपका अभिप्राय हो तो कृपया शास्त्रीय प्रमाण द्वारा इसे और स्पष्ट कर देनेकी कृपा करें।

७—यदि पुण्य और धर्म एक ही वस्तु हैं तो शास्त्रकारोंने पुण्यको भिन्न संज्ञा क्यों दी?

८—यदि पुण्य भी धर्म है तो सम्यक्दृष्टि श्रद्धामें पुण्यको दंडवत क्यों मानता है? —मोक्षमार्ग-अध्याय ७

९—यदि शुभभाव जैनधर्म है तो अन्यमती जो दान, पूजा, भक्ति आदिको धर्म मानकर उसीका उपदेश देते हैं, हैं क्या वे भी जैनधर्मके समान हैं? उनमें और जैनधर्ममें क्या अन्तर रहा?

१०—धर्म दो प्रकारका है—ऐसा जो आपने लिखा है तो उसका तात्पर्य तो यह हुआ कि यदि कोई जीव दोनोंमेंसे किसी एकका भी आचरण करे तो वह मुक्तिका पात्र हो जाना चाहिए क्योंकि धर्मका लक्षण आचार्य समंतभद्रस्वामीने यही किया है कि जो उत्तम अविनाशी सुखको प्राप्त करावे, वही धर्म है तो फिर द्रव्यलिंगी मुनि मुक्तिका पात्र क्यों नहीं हुआ? उसे मिथ्यात्व-गुण स्थान ही कैसे रहा? आपके लेखानुसार तो उसे मुक्तिकी प्राप्ति हो जानी चाहिए थी।

११—धर्म मोक्षमार्ग है या संसारमार्ग? यदि शुभभाव भी मोक्षमार्ग है तो क्या मोक्षमार्ग दो हैं।

आशा है श्री मुख्तार साहब शास्त्रीय प्रमाण देकर उपरोक्त शंकाओंका समाधान करनेकी कृपा करेंगे ताकि मेरे ही समान यदि अन्यकी भी ऐसी मान्यता हो तो गलत सिद्ध होने पर वह सुधारी जा सके।

अष्टपाहुडजीका उद्धरण (श्री कुंदकुंदाचार्य रचित)

मेरी अब तक की थोड़ी बहुत स्वाध्यायमें निम्न प्रकरण मेरे देखनेमें आए हैं और इनमें तथा श्री मुख्तार साहबने जो बातें लिखी हैं उनमें स्पष्ट विरोध है।

भावपाहुड—गाथा ८३—पं० जयचंदजी भाषा वचनिका पूयादिसु ·························· अप्पणो धम्मो

अर्थ :—जिन शासनविषैं जिनेन्द्रदेव ऐसा कह्या है जो पूजा आदिके विषैं अर व्रतसहित होय सो तो पुण्य है। बहुरि मोहके क्षोभकरिरहित जो आत्माका परिणाम है सो धर्म है।

भावार्थ :—(प० जयचंदजी द्वारा)—

"लौकिकजन तथा अन्यमती केई कहैं हैं जो पूजा आदिक शुभक्रिया तिनिविषै अर व्रत क्रिया सहित है सो जिनधर्म है सो ऐसा नांही है। जिनमतमें जिन भगवान ऐसा कह्या है जो पूजादिक विषैं अर व्रत-सहित होय सो तो पुण्य है—तह पूजा अर आदि शब्द करि भक्ति वंदना वैयावृत्य आदिक लेना यह तो देवगुरु शास्त्र के अर्थि होय है। बहुरि उपवास आदिक व्रत है सो शुभक्रिया है। इनि मैं आत्माका राग सहित शुभ परिणाम है ताकरि पुण्य-कर्म निपजै है तातैं इनिकूं पुण्य कहै हैं, याका फल स्वर्गादिक भोगकी प्राप्ति है। बहुरि मोहका क्षोभ रहित आत्माके परिणाम लेने तहाँ मिथ्यात्व तो अतत्वार्थ श्रद्धान है बहुरि क्रोध-मान, अरति शोक भय, जुगुप्सा ये छह तो द्वेष प्रकृति है बहुरि माया, लोभ, हास्य, रति पुरुष स्त्री नपुंसक ये तीन विकार ऐसे ७प्रकृति रागरूप हैं. तिनिकै निमित्ततैं आत्माका ज्ञान दर्शन स्वभाव विकार सहित क्षोभरूप चलाचल व्याकुल होय है यातैं इनिका विकारनितैं रहित होय तब शुद्ध दर्शन ज्ञान रूप निश्चल होय, सो आत्माका धर्म है। इस धर्मतैं आत्माके आगामी कर्मका तो आस्रवरुकि संवर होय है और पूर्वे बंधे कर्म तिनिकी निर्जरा होय है—सम्पूर्ण निर्जरा होय तब मोक्ष होय है; तथा एक देश मोहके क्षोभकी हानि होय है। तातैं शुभ परिणाम कूं भी उपचार करि धर्म कहिए है अर जे शुभ परिणाम ही कूं धर्म मानि सन्तुष्ट हैं तिनिकै धर्मकी प्राप्ति नांही है, यह जिनमत का उपदेश।'

गाथा ८४ में कहा है कि 'शुभ क्रियारूप पुण्य कूं धर्मजाणि याका श्रद्धान ज्ञान आचरण करै है ताकै पुण्यकर्म-का बंध होय है—ताकरि कर्मका क्षय रूप संवर निर्जरा मोक्ष न होय।'

गथा ८५-८६ में कहा गया है कि 'आत्माका स्वभाव-रूप धर्म है सो ही मोक्षका कारण है। आत्मिक धर्म धारण बिना सर्व प्रकारका पुण्य आचरण करै तो भी संसार ही में रहै है।'

आचार्य श्री कुन्दकुन्दस्वामीने पुण्य और धर्मके भेदको इन गाथाओंमें अत्यन्त स्पष्टरूपसे व्यक्त किया है। श्री पं० जयचन्दजीने स्वयं 'लौकिकजन तथा अन्यमती' शब्दोंका प्रयोग किया है और जो वाक्य श्रीकानजी स्वामीने लिखे हैं, वे उनके नहीं अपितु श्री पं० जयचन्दजीके हैं। तो क्या मुख्तार सा० की दृष्टिसे श्री पं० जयचन्दजी भी उन्हीं विशेषणोंके पात्र हैं जो श्री पण्डितजीने इन्ही शब्दोंके कारण श्री कानजी स्वामीके लिए खुले दिलसे प्रयोग किये हैं। यदि नहीं तो ऐसी भूलके लिए खेद प्रकट शीघ्र किया जाना चाहिए।

श्री आचार्यकल्प पं० टोडरमलजीने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थमें इसी विषयको अध्याय ७में स्थान-स्थान पर इतना स्पष्ट किया है कि शंकाको गुंजाइश ही नहीं रह जाती।

निश्चयाभासी व्यवहाराभासी जैनोंके प्रकरणमें द्रव्य-लिंगीकी आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष तत्वकी भूल बतलाते हुए इन्होंने स्पष्ट लिखा है कि 'भक्ति तो राग-रूप है—रागतैं बन्ध है, तातैं मोक्षका कारण नाहीं' 'हिंसा-दिक अहिंसादिक को भी बन्धका कारण जानि हेय ही मानना' 'प्रशस्तराग बंधका कारण है—हेय है—श्रद्धानविषैं जो याको मोक्षमार्ग माने सो मिथ्यादृष्टि ही है।' 'संवरतत्व विषै अहिंसादि विषैं पुण्याश्रव भाव तिनको संवर जाने है सो एक कारणतैं पुण्य बंध भी माने और संवर भी मानैं सो बनै नांही।'

मुनीश्वरोंके मिश्रभावोंका वर्णन करते हुए लिखा है—'जे अंश वीतराग भए, तिनकरि संवर है ही—अर जे अश सराग रहे तिनकरि पुण्यबन्ध है एक प्रशस्तराग ही तैं पुण्या-स्रव भी मानना और संवर निर्जरा भी मानना सो भ्रम है। सम्यक्दृष्टि अवशेष सरागताको हेय श्रद्धै है, मिथ्यादृष्टि सरागभाव विषै संवरका भ्रमकरि प्रशस्तरागरूप कर्मनिको उपादेय श्रद्धै है।"

इसी प्रकरणमें द्रव्य लिंगीकी तत्वोंको भूल बावत् लिखते हैं—'बहुरि वह हिंसादि सावद्यत्याग को चारित्र माने हैं तहां महाव्रतादि रूप शुभयोगको उपादेयपनैंकरि ग्रहण माने है सो तत्त्वार्थसूत्रविषैं आस्रव पदार्थका निरूपण करते महाव्रत अणुव्रत भी आस्रव रूप कहे हैं, ए उपादेय कैसे होंय—अर आस्रवतो बन्धका साधक है—चारित्र मोक्षका साधक है—तातैं महाव्रतादि रूप आस्रव भावनिके चारित्र-पनौ संभवै नांही। सकल कषाय रहित जो उदासीन भाव

ताहीका नाम चारित्र है—जो चारित्रमोहके देशघाती स्पर्द्धकनिके उदयतैं महामन्द प्रशस्तराग हो है, सो चारित्रका मल है।' आगे लिखा है 'अशुभअशुभ परिणाम बंधके कारण हैं—और शुद्ध परिणाम निर्जराके कारण हैं।'

निर्जरा तत्त्वकी भूलमें लिखा है—कि 'बहुत कहा इतना समझि लेना—निश्चय धर्म तो वीतराग भाव है—अन्य नाना विशेष बाह्य साधन अपेक्षा उपचारतैं किए हैं—तिनकों व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा माननी—इस रहस्यको न जानैं, तातैं वाके निर्जराका भी सांचा श्रद्धान नाहीं है।

उसी प्रकरणमें आगे लिखा है कि 'चारित्र है सो वीतराग भाव रूप है तातैं सरागभावरूपसाधनको मोक्षमार्ग मानना मिथ्या बुद्धि है।' 'राग है सो चारित्रका स्वरूप नाहीं—चारित्र विषै दोष है।' और भी कई स्थानों पर उल्लेख है।

अध्याय ७ से 'मोक्षमार्ग दो प्रकार है' ऐसी मान्यताको मिथ्या ठहराते हुए लिखा है कि 'मोक्षमार्ग दो नांही है—मोक्षमार्गका निरूपण दो प्रकार है, सांचा निरूपण सो निश्चय और उपचार निरूपण सो व्यवहार—तातैं निरूपण अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना।'

अध्याय ७ में उन्होंने स्पष्ट किया है—बहुरि व्रत तप आदि मोक्षमार्ग हैं नांही—निमित्तादिक की अपेक्षा उपचारतैं इनको मोक्षमार्ग कहिए है तातैं इनको व्यवहार कह्या।' 'बहुरि परद्रव्यका निमित्त मेटनेकी अपेक्षा व्रत शील संयमादिकको मोक्षमार्ग कह्या, सो इनहीकौं मोक्षमार्ग न मानि लेना।' 'निश्चयकरि वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है। वीतरागभावनिके अर व्रतादिकके कदाचित् कार्यकारण पनो है तातैं व्रतादिकको मोक्षमार्ग कहे, सो कहने मात्र ही हैं।' किन्तु व्रत शील संयमादिका नाम व्यवहार नहीं इनको मोक्षमार्ग मानना व्यवहार है सो छोड़दे।'

आगे इसी प्रकरणमें लिखा है कि "बहुरि शुभउपयोगको बन्धका ही कारण जानना—मोक्षका कारण न जानना—जातैं बन्ध और मोक्षके तो प्रतिपक्षीपना है—तातैं एक ही भाव पुण्यबन्धको भी कारण होय और मोक्षको भी कारण होय ऐसा मानना भ्रम है।"

"वस्तु विचारतैं शुभोपयोग मोक्षका घातक ही है"—तातैं "शुद्धोपयोगको ही उपादेय मानि ताका उपाय करना—जहां शुभोपयोग न हो सके तहाँ अशुभोपयोगको छोडि शुभ विषै प्रवर्तना।"

आगे भी लिखा है कि "शुभोपयोग भये शुद्धोपयोगका यत्न करे तो (शुद्धोपयोग) होय जाय बहुरि जो शुद्धोपयोग ही को भला जानि ताका साधन किया करे तो शुद्धोपयोग कैसे होय।"

श्री मुख्तार सा० का ध्यान मैं आत्मधर्म वर्ष ७ अंक ४ श्रावण २४७७ पृष्ठ १४१ में प्रकाशित श्रीकानजी स्वामीके "पुण्य-पाप और धर्मके सम्बन्धमें आत्मार्थी जीवका विवेक कैसा होता है" शीर्षक लेखकी ओर दिलाना चाहता हूं जिससे उनकी तथा उन्हींके समान अन्य विद्वानों की धारणा उनके सम्बन्धमें ठीक-ठीक तौर पर हो सके।

उद्धरण—"विकारका कार्य करने योग्य है ऐसा मानने वाला जीव विकारको नहीं हटा सकता—कोई जीव आत्माको एकान्त शुद्ध ही मानै, अज्ञानभावसे विकार करे तथापि न माने, तो विकारको नहीं हटा सकता। पुण्य बन्धन है इसलिए मोक्षमार्गमें उसका निषेध है—यह बात ठीक है; किंतु व्यवहारसे भी उसका निषेध करके पापमार्गमें प्रवृत्ति करे तो वह पाप तो कालकूट विषके समान है; अकेले पापसे तो नरक निगोदमें जावेगा। श्रद्धामें पुण्य-पाप दोनों हेय हैं, किन्तु वर्तमानमें शुद्धभावमें न रह सके तो शुभमें युक्त होना चाहिये किन्तु अशुभमें तो जाना ही नहीं चाहिए पुण्यभाव छोड कर पापभाव करना तो किसी भी प्रकार ठीक नहीं है। और यदि कोई पुण्यभावको ही धर्म मान ले तो उसे भी धर्म नहीं होता।"

इसी लेखमें आगे लिखा है कि "हे भाई! तू अभी निर्विकल्प शुद्धभावको तो प्राप्त नहीं हुआ है और पुण्यभाव तुझे नहीं करना है तो तू क्या पापमें जाना चाहता है?' 'इसलिये पुण्य पाप रहित आत्माके भान सहित वर्तमान योग्यताके अनुसार सारा विवेक प्रथम समझना चाहिए। कोई शुभभावमें ही सन्तोष मानकर रुक जाये अथवा उससे धीरे-धीरे धर्म होगा—इस प्रकार पुण्यको धर्मका साधन माने तो उसके भी भव-चक्र कम न होंगे। धर्मका प्रारम्भ करनेकी इच्छा वालेको तीव्र आसक्ति तो कम करना ही चाहिए; किन्तु इतनेसे तिर जाएगा। ऐसा माने वह भ्रम है। जीवको पापसे छुड़ा कर मात्र पुण्यमें नहीं लगा देना है किन्तु पाप और पुण्य इन दोनोंसे रहित धर्म—उन सबका स्वरूप जानना चाहिये।"

श्री कानजी स्वामीके किसी भी प्रवचनमें "आत्मा एकान्ततः अबद्धस्पृष्ट है" हमारे तो सुनने अथवा उनके किसी साहित्यमें कहीं भी देखनेमें नहीं आया। यदि श्री मुख्तार

सा० के देखनेमें आया हो तो कृपया हमें भी बतलाने की कृपा करें।

श्री मुख्तार सा० ने उपसंहारमें एक ऐसा वाक्य लिखा है कि जिसे पढ़ कर मैं एकदम स्तब्ध रह गया। लिखा है—"यह चौथा सम्प्रदाय किसी समय पिछले तीनों सम्प्रदायों (श्वे० दि० तथा स्थानकवासी) का हित शत्रु बनकर भारी संघर्ष उत्पन्न करेगा और जैनसमाजको वह हानि पहुंचाएगा जो अब तक तीनों सम्प्रदायके संघर्षों द्वारा नहीं पहुंच सकी है क्योंकि तीनों सम्प्रदायोंकी प्रायः कुछ ऊपरी बातोंमें ही संघर्ष है भीतरी सिद्धान्तकी बातोंमें नहीं।"

कितने आश्चर्यकी बात है कि जिन श्वे० तथा स्थानकवासी सम्प्रदायके आगममें देवगुरु धर्म (रत्नत्रय) का स्वरूप ही अन्यथा वर्णित है और जिसका श्री टोडरमलजी सदृश महान विद्वानने जोरदार शब्दोंमें लगभग ३२ पृष्ठोंमें खंडन किया है उसीके लिये यह लिखना कि तीनों सम्प्रदायोंमें प्रायः कुछ ऊपरी बातोंमें ही संघर्ष है—वस्तुस्थितिसे कितना विपरीत है। यह पाठकगण विचार करें। जहाँ देवगुरु धर्म व रत्नत्रयका स्वरूप ही अन्यथा हो वहां मूलमें ही भेद रहा या ऊपरी बातोंमें? क्या यह भेद नगण्य है क्या यह भारी सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है?

श्री कानजी स्वामीका प्रवचन द्रव्यदृष्टि प्रधान एवम् अधिकारतः शुद्ध निश्चयनयको लिये हुए होनेके कारण उसमें कभी-कभी एकान्तकी सी गन्ध भले ही झलकने लगती हो, क्योंकि लगभग सभी प्रवचनोंमें निश्चयनयकी मुख्यताको लिये हुए विवेचन होता है। लेकिन वहाँसे अब तक जो सिद्धान्त ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं (समयसार-प्रवचनसार-नियमसार-अष्टपाहुड जो आदि २) उसमें कहीं भी एकाँत निरपेक्ष विवेचन हमारे देखनेमें तो नहीं आया। अन्यधर्ममें भी कई बार पाप पुण्य व धर्मके अन्तरको स्पष्ट करते हुए उन्होंने पुण्यको पापसे अच्छा बतलाते हुए यही लिखा है कि बन्ध तत्त्वकी अपेक्षा दोनों समान होते हुए भी पाप भावसे तो पुण्य भाव अच्छा ही है। इस पर भी यदि हमारी समाजके विद्वानोंको उनके किसी भी प्रवचन तथा लेखमें एकान्तकी गन्ध आती हो तो उन्हें इस विषयमें अवश्य लिखा जाय—लेकिन इस ढंगसे कदापि नहीं जैसा कि उपरोक्त लेखमें अपनाया गया है।

इस लेखमें मुझसे यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो मैं क्षमा चाहता हूँ।

हकीम श्रीकन्हैयालालजीका वियोग!!

हकीम श्री कन्हैयालालजी वैद्यराज कानपुरसे जैनसमाज भलीभांति परिचित है। वे कानपुरके लोकप्रिय धार्मिक व्यक्ति थे। उन्होंने सबसे प्रथम दिगम्बर जैन समाजमें छात्रोंको आयुर्वेदकी परीक्षाओंमें उत्तीर्ण कराकर अनेकों वैद्य बनाए हैं। भाई सुन्दरलाल जी आदि उनके पुत्रोंके पत्रसे यह जान कर अत्यन्त खेद व दुःख हुआ कि उनका गत ५ नवम्बरको स्वर्गवास हो गया है।

वैद्यजी ख्यातिप्राप्त और अपने कार्यमें निष्णात वैद्य थे। उन्होंने स्वयं ही अपनी योग्यता और अध्यवसायसे अर्थोपार्जन किया। आपका 'चाँद औषधालय' कानपुरमें प्रसिद्ध औषधालय है जिसमें उच्च कोटिका आयुर्वेदिक औषधियोंका निर्माण होता है। वैद्यजी बड़े ही सहृदय और परोपकारी थे। उनमें धर्मवत्सलता और स्नेह पर्याप्त मात्रामें विद्यमान था। आयुर्वेदमें उनकी अच्छी गति थी। आपके द्वारा शिक्षित अनेक वैद्य आज भी सफलता के साथ चिकित्साका कार्य संचालन कर रहे हैं। आपको शिक्षासे विशेष प्रेम था, यही कारण है कि आपने पुत्र-पुत्रियोंको उच्च शिक्षासे सम्पन्न किया है। देशके स्वतन्त्रता आन्दोलनमें भी आपका प्रमुख हाथ रहा है और उनके लिए उन्होंने कभी कष्टोंकी परवाह नहीं की। अनेक बार जेल यात्रा स्वयं की, और आपकी धर्म-पत्नी भी उससे अछूती नहीं रहीं। इस तरह समाज और देश-सेवामें आपका प्रमुख हाथ रहा है।

कुछ वर्ष हुए जब आप कार्यवश सरसावा पधारे थे, तब आपने अपनी यह इच्छा व्यक्त की थी कि पंडित हरपाल कृत प्राकृत वैद्यक ग्रंथका हिन्दी अनुवादके साथ सम्पादन करनेका मेरा विचार है, और उसकी दो तीन गाथाओंका अर्थ भी उन्होंने मुझे सुनाया था, पर वे प्राकृत भाषासे विज्ञ नहीं थे। मैंने उन्हें उन गाथाओंका जब शुद्ध रूप बतलाया तब उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई हुई, और १०-१५ दिन सरसावा ठहरकर उस ग्रंथको सांगोपांग बनाने की इच्छा प्रकट की। पर अन्य कार्योंमें फंसे रहनेके कारण वे अपनी उस इच्छाको पूरा नहीं कर सके।

आपके निधनसे एक अनुभवी समाज-सेवी व्यक्तिकी कमी हो गई है हमारी भावना है कि दिवंगत आत्मा परलोक में सुख-शान्ति प्राप्त करे, और पारिवारिक सज्जनोंको इष्ट-वियोग जन्य दुःखको सहने की क्षमता प्राप्त हो।

—परमानन्द जैन

वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी „
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू „
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी „
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन „
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी „
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी „
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी „
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल „
२५१) सेठ सुआलालजी जैन „
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी „
२५१) सेठ मांगीलालजी „
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन „
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी „
१०१) बा० शान्तिनाथजी कलकत्ता
१०१) बा० निर्मलकुमारजी कलकत्ता
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, „
१०१) बा० काशीनाथजी, ... „
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी „
१०१) बा० धनंजयकुमारजी „
१०१) बा० जीतमलजी जैन „
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी „
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, राँची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीराम बैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) ला० रतनलाल जी कालका वाले, देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली। मुद्रक-रूप-वाणी प्रिंटिंग हाऊस २३, दरियागंज, देहली

अनेकान्त

सितम्बर १९५४

अनेकान्त वर्ष १३
किरण ३

महामना पूज्य वर्णी जी भारत के ही अहिंसक सन्त नहीं हैं किन्तु वे दुनियाके आध्यात्मिक योगी हैं; वे क्षुल्लक पदमें स्थित होते हुए भी भाव मुनि हैं। आपने ८१वें वर्षमें प्रवेश किया है, आपकी जयन्ती ता० १६ सितम्बर १९५४ को समारोहके साथ ईसरीमें मनाई गई। इस अवसर पर अनेकान्त परिवार अपनी श्रद्धांजलि सादर समर्पित करता हुआ आपके शतवर्ष जीवी होनेकी कामना करता है।

विषय-सूची

१ समन्तभद्रभारती—देवागम—[युगवीर ६५
२ भगवान ऋषभदेवके अमर स्मारक—[पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री ६७
३ दिल्ली और योगिनीपुर नामोंकी प्राचीनता—[अगरचन्द नाहटा ७२
४ निरतिवादी समता—सत्यभक्त — ७४
५ काक-पिक-परीक्षा—पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री ७८
६ विश्वकी अशान्तिको दूर करनेके उपाय—[परमानन्द जैन ७६
७ मौजमाबाद के जैन शास्त्र भण्डारमें उल्लेखनीय ग्रन्थ [परमानन्द शास्त्री ८०
८ श्रमण संस्कृतिमें नारी—[परमान्द शास्त्री ८४
९ आत्महितकी बातें—[क्षुल्लक सिद्धिसागर ८६
१० अहिंसा तत्व—[परमानन्द शास्त्री ९०
११ श्रद्धांजलि (कविता)—विनम्र ९५
१२ राजस्थानमें दासी प्रथा परमानन्द जैन ९६
१३ साहित्य परिचय और समालोचन परमानन्द जैन ९६

ॐ अर्हम्

वर्ष १३ किरण ३ | वीरसेवामन्दिर, दरियागंज, देहली | आश्विन वीर नि० संवत २४८०, वि० संवत २०११ | सितम्बर १९५४

समन्तभद्र-भारती

देवागम

अभावैकान्त-पक्षेऽपि भावाऽपह्नव-वादिनाम् ।
बोध-वाक्यं प्रमाणं न केन साधन-दूषणम् ॥ १२ ॥

'यदि अभावैकान्तपक्षको स्वीकार किया जाय—यह माना जाय कि सभी पदार्थ सर्वथा असत्-रूप हैं—तो इस प्रकार भावोंका सर्वथा अभाव कहने वालोंके यहाँ (मतमें) बोध (ज्ञान) और वाक्य (आगम) दोनोंका ही अस्तित्व नहीं बनता और दोनोंका अस्तित्व न बननेसे (स्वार्थानुमान, परार्थानुमान आदिके रूपमें) कोई प्रमाण भी नहीं बनता; तब किसके द्वारा अपने अभावैकान्त पक्षका साधन किया जा सकता और दूसरे भाववादियोंके पक्षमें दूषण दिया जा सकता है?—स्वपक्ष-साधन और पर पक्ष-दूषण दोनों ही घटित न होनेसे अभावैकान्तपक्ष-वादियोंके पक्षकी कोई सिद्धि अथवा प्रतिष्ठा नहीं बनती और वह सदोष ठहरता है; फलतः अभावैकान्तपक्षके प्रतिपादक सर्वज्ञ एवं महान् नहीं हो सकते।'

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद-न्याय-विद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति र्नाऽवाच्यमिति युज्यते ॥ १३ ॥

'(भावैकान्त और अभावैकान्त दोनोंकी अलग-अलग मान्यतामें दोष देखकर) यदि भाव और अभाव दोनोंका एकात्म्य (एकान्त) माना जाय, तो स्याद्वाद-न्यायके विद्वेषियोंके यहाँ—उन लोगोंके मतमें जो अस्तित्व-नास्तित्वादि सप्रतिपक्ष धर्मोंमें पारस्परिक अपेक्षा-को न मानकर उन्हें स्वतन्त्र धर्मोंके रूपमें स्वीकार करते हैं और इस तरह स्याद्वाद-नीतिके शत्रु बने हुए हैं—वह एकात्म्य नहीं बनता; क्योंकि उससे विरोध दोष आता है—भावैकान्त अभावैकान्तका और अभावैकान्त भावैकान्तका सर्वथा विरोधी होनेसे दोनोंमें एकात्मता घटित नहीं हो सकती।'

'(भाव, अभाव और उभय तीनों एकान्तोंकी मान्यतामें दोष देख कर) यदि अवाच्यता (अवक्तव्य) एकान्तको माना जाय—यह कहा जाय कि वस्तुतत्त्व

सर्वथा अवाच्य (अनिर्वचनीय या अवक्तव्य) है—तो वस्तुतत्त्व 'अवाच्य' है ऐसा कहना भी नहीं बनता—इस कहनेसे ही वह 'वाच्य' हो जाता है, 'अवाच्य' नहीं रहता; क्योंकि सर्वथा अवाच्यकी मान्यतामें कोई वचन-व्यवहार घटित ही नहीं हो सकता।'

कथञ्चित्ते सदेवेष्टं कथञ्चिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च नय-योगान्न सर्वथा ॥ १४ ॥

'(स्याद्वाद-न्यायके नायक हे वीर भगवन्!) आपके शासनमें वह वस्तुतत्त्व कथञ्चित् (किसी प्रकारसे सत्-रूप ही है, कथञ्चित् असत्-रूप ही है, कथञ्चित् उभयरूप ही है, कथञ्चित् अवक्तव्यरूप ही है (चकारसे) कथञ्चित् सत् और अवक्तव्यरूप ही है; कथञ्चित् असत् और अवक्तव्य रूप ही है, कथञ्चित् सदसत् और अवक्तव्यरूप ही है; और यह सब नयोंके योगसे है—वक्ताके अभिप्राय-विशेषको लिए हुए जो सप्तभंगात्मक नय-विकल्प हैं उनकी विवक्षा अथवा दृष्टिसे है—सर्वथा रूपसे नहीं—नयदृष्टिको छोड़ कर सर्वथारूपमें अथवा सर्वप्रकारसे एकरूपमें कोई भी वस्तुतत्त्व व्यवस्थित नहीं होता।'

सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादि-चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥ १५ ॥

'(हे वीर जिन!) ऐसा कौन है जो सबको—चेतन-अचेतनको, द्रव्य-पर्यायादिकको, भ्रान्त-अभ्रान्तको अथवा स्वयंके लिए इष्ट अनिष्टको—स्वरूपादिचतुष्टयकी दृष्टिसे—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षासे—सत् रूप ही, और पररूपादिचतुष्टयकी दृष्टिसे—परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षासे—असत् रूप ही अंगीकार न करे? —कोई भी लौकिकजन, परीक्षक, स्याद्वादी, सर्वथा एकान्तवादी अथवा सचेतन प्राणी ऐसा नहीं है, जो प्रतीतिका लोप करनेमें समर्थ न होनेके कारण इस बातको न मानता हो। यदि (स्वयं प्रतीत करता हुआ भी कुनयके वश विपरीत-बुद्धि अथवा दुराग्रहको प्राप्त हुआ) कोई ऐसा नहीं मानता है तो वह (अपने किसी भी इष्ट तत्त्वमें) व्यवतिष्ठित अथवा व्यवस्थित नहीं होता है—उसकी कोई भी तत्त्वव्यवस्था नहीं बनती। क्योंकि स्वरूपके ग्रहण और पररूपके त्यागकी व्यवस्थासे ही वस्तुमें वस्तुत्वकी व्यवस्था सुघटित होती है, अन्यथा नहीं। स्वरूपकी तरह यदि पररूपसे भी किसीको सत् माना जाय तो चेतनादिके अचेतनत्वादिका प्रसंग आता है। और पररूपकी तरह यदि स्वरूपसे भी असत् माना जाय, तो सर्वथा शून्यताकी आपत्ति खड़ी होती है। अथवा जिस रूपसे सत्त्व है उसी रूपसे असत्त्वको और जिस रूपसे असत्त्व है उसी रूपसे सत्त्वको माना जाय, तो कुछ भी घटित नहीं होता। अतः अन्यथा माननेमें तत्त्व या वस्तुकी कोई व्यवस्था बनती ही नहीं, यह भारी दोष उपस्थित होता है।'

क्रमार्पित-द्वयाद् द्वैतं सहाऽवाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भङ्गाः स्वहेतुतः ॥ १६ ॥

'वस्तुतत्त्व कथञ्चित् क्रम-विवक्षित स्व-पर-चतुष्टय-की अपेक्षा द्वैत (उभय रूप—सदसद्रूप अथवा अस्तित्व-नास्तित्वरूप—है और कथञ्चित् युगपत् विवक्षित स्व-पर-चतुष्टयकी अपेक्षा कथनमें वचनकी अशक्ति-असमर्थताके कारण अवक्तव्यरूप है। (इन चारोंके अतिरिक्त) सत्, असत् और उभयके उत्तरमें अवक्तव्यको लिए हुए जो शेष तीन भंग—सदवक्तव्य, असदवक्तव्य और उभयावक्तव्य—हैं वे (भी) अपने अपने हेतुसे कथञ्चित् रूपमें सुघटित हैं—अर्थात् वस्तुतत्त्व यद्यपि स्वरूपादि चतुष्टयकी अपेक्षा कथञ्चित् अस्तिरूप है तथापि युगपत् स्व-पर-चतुष्टयकी अपेक्षा कहा न जा सकनेके कारण अवक्तव्यरूप भी है और इसलिए स्यादस्त्यवक्तव्यरूप है इसी तरह स्यान्नास्त्य-वक्तव्य और स्यादस्ति-नास्ति-अवक्तव्य इन दो भंगोंको भी जानना चाहिए।'

अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाऽविनाभाव्येक-धर्मिणि।
विशेषणत्वात्साधर्म्यं यथा भेद-विवक्षया ॥ १७ ॥

एक धर्मीमें अस्तित्वधर्म नास्तित्वधर्मके साथ अविनाभावी है—नास्तित्वधर्मके बिना अस्तित्व नहीं बनता—क्योंकि वह विशेषण है—जो विशेषण होता है वह अपने प्रतिषेध्य (प्रतिपक्ष धर्म) के साथ अविनाभावी होता है—जैसे कि (हेतु-प्रयोगमें) साधर्म्य (अन्वय-हेतु) भेद-विवक्षा (वैधर्म्य अथवा व्यतिरेक-हेतु) के साथ अविनाभाव सम्बन्धको लिए रहता है। व्यतिरेक (वैधर्म्य) के बिना अन्वय (साधर्म्य) और अन्वयके बिना व्यतिरेक घटित नहीं होता।'

भगवान् ऋषभदेवके अमर स्मारक

(पं० हीरालाल जैन, सिद्धान्तशास्त्री)

जैन मान्यताके अनुसार भ० ऋषभदेव इस युगके आदि तीर्थंकर थे। उन्होंने ही यहाँ पर सर्वप्रथम लोगोंको जीवन-निर्वाहका मार्ग बतलाया. उन्होंने ही स्वयं दीक्षित होकर साधु-मार्गका आदर्श उपस्थित किया और केवलज्ञान प्राप्त कर उन्होंने ही सर्वप्रथम संसारको धर्मका उपदेश दिया। भ० ऋषभदेवने लिपिविद्या और अंकविद्याका लिखना-पढ़ना सिखलाया, ग्राम-नगरादिकी रचना की और लोगोंको विभिन्न प्रकारकी शिक्षा देकर वर्णोंकी स्थापना की।

आज भारतमें जो प्राचीन संस्कृति पाई जाती है, उसके मूलकी छान-बीन करने पर पता चलता है कि उस पर भ० ऋषभदेवके द्वारा प्रचलित व्यवस्थाओंकी कितनी ही अमिट छाप आज भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है और अक्षय तृतीया, अक्षयवट तथा शिवरात्रि जैसे पर्व तो आज भी भगवानके अन्तिम तीनों कल्याणोंके अमर स्मारकके रूपमें उनके ऐतिहासिक महापुरुष होनेका स्वयं उद्घोष कर रहे हैं। इस लेखमें संक्षेपरूपसे भ० ऋषभदेवके इन्हीं अमर स्मारकों पर प्रकाश डाला जायगा।

भारतवर्ष—

भ० ऋषभदेवके ज्येष्ठ पुत्र आदि चक्रवर्ती सम्राट भरत सर्वप्रथम इस षट्खंड भूभागके स्वामी बने और तभीसे इसका नाम 'भरतक्षेत्र' या 'भारतवर्ष' प्रसिद्ध हुआ। इस कथनकी पुष्टि जैन-शास्त्रोंसे तो होती ही है, किन्तु हिन्दुओंके अनेक पुराणोंमें भी इसका स्पष्ट उल्लेख है। उनमेंसे २-१ प्रमाण यहाँ दिये जाते हैं:—

अग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद्वरः॥३६॥
हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः॥४१॥

—(मार्कण्डेयपुराण अ० ५०)

अर्थात्—नाभिराजके पुत्र ऋषभदेव हुए और ऋषभदेवके भरत। भरत अपने सौ भाइयोंमें सबसे ज्येष्ठ थे। ऋषभदेवने हिमालयके दक्षिणका क्षेत्र भरतके लिये दिया और इस कारण उस महात्माके नामसे इस क्षेत्रका नाम 'भारतवर्ष' पड़ा।

यही बात विष्णुपुराणमें भी कही गई है:—

नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते॥५७॥

—(विष्णुपुराण, द्वितीयांश अ० १)

इस प्रकार उपर्युक्त उल्लेखोंसे जहां भरतके नामसे इस क्षेत्रका नाम भारतवर्ष' सिद्ध होता है, वहां भरतके पिता होनेके कारण भ० ऋषभदेवकी ऐतिहासिकता और प्राचीनता भी स्वतः सिद्ध हो जाती है।

इक्ष्वाकुवंश—

'जैन मान्यताके अनुसार भ० ऋषभदेवके जन्मसे पूर्व यहां पर भोगभूमि थी और यहांके निवासी कल्पवृक्षोंसे प्रदत्त भोग-उपभोगकी सामग्रीसे अपना जीवन निर्वाह करते थे। जब ऋषभदेवका जन्म हुआ, तब वह व्यवस्था समाप्त हो रही थी और कर्मभूमिकी रचना प्रारम्भ हो रही थी। भोगभूमिके समाप्त होते ही कल्पवृक्ष लुप्त हो गये और यहांके निवासी भूख-प्याससे पीड़ित हो उठे। वे 'त्राहि-त्राहि' करते हुए ऋषभदेवके पास पहुचे। लोगोंने अपनी करुण कहानी उनके सामने रखी। भगवान उनके कष्ट सुनकर द्रवित हो उठे और उन्होंने सर्वप्रथम अनेक दिनोंसे भूखी-प्यासी प्रजाको अपने आप उगे हुए इक्षुओं (गन्नों) के रस-पान-द्वारा अपनी भूख-प्यास शान्त करनेका उपाय बतलाया और इसी कारण लोग आपको 'इक्ष्वाकु' कहने लगे।

'इक्षु इति शब्दं अकार्षीत्, अथवा इक्षुमाकरोतीति इक्ष्वाकुः।' अर्थात् भूखी-प्यासी प्रजाको 'इक्षु' ऐसा शब्द कहनेके कारण भगवान् 'इक्ष्वाकु' कहलाये।

सोमवंश, सूर्यवंश आदि जितने भी वंश हैं, उनमें 'इक्ष्वाकु' वंश ही आद्य माना जाता है।

तदनन्तर भ० ऋषभदेवने प्रजाको असि, मषि, कृषि, वाणिज्य, विद्या और शिल्पवृत्तिकी शिक्षा देकर अपनी जीविका चलानेका मार्ग दिखाया और ग्राम-नगरादिके रचनेका उपाय बताकर व्याघ्रादि हिंस्र प्राणियोंसे आत्म-रक्षा करने और सर्दी-गर्मीकी बाधा दूर करनेका मार्ग दिखाया।

भ० ऋषभदेवने ही सर्वप्रथम घड़ा बनानेकी विधि बतलाई और कूप, बावड़ी आदि बनाने और उनसे पानी निकालकर पीनेका मार्ग बतलाया। इन सब कारणोंसे भगवान् 'प्रजापति' कहलाये।

विक्रमकी दूसरी शताब्दीके महान् विद्वान् स्वामी समन्तभद्रने अपने प्रसिद्ध स्वयम्भूस्तोत्रमें इन दोनों बातोंको इस प्रकार चित्रित कर उनकी प्रामाणिकता प्रकट की है—

'प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषुः
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः ॥२॥
'मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान्
प्रभुःप्रवव्राज सहिष्णुरच्युतः ॥३॥

संक्षेपमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि इस कर्म-भूमि-युगके प्रारम्भमें प्रजाकी सुव्यवस्था करनेके कारण भ० ऋषभदेव ब्रह्मा, विधाता, सृष्टा आदि अनेक नामोंसे प्रसिद्ध हुए।

ब्राह्मीलिपि—

भ० ऋषभदेवने सर्व प्रथम अपने भरत आदि पुत्रोंको पुरुषोंकी ७२ कलाओंमें पारंगत किया। ज्येष्ठ पुत्र भरत नाट्य-संगीत कलामें सबसे अधिक निपुण थे। आज भी नाट्यशास्त्रके आद्य प्रणेता भरत माने जाते हैं। भगवान्ने अपनी बड़ी पुत्रीको लिपिविद्या-अक्षर लिखनेकी कला-और छोटी सुन्दरी पुत्रीको अंक-विद्या सिखाई। ब्राह्मीके द्वारा प्रचलित लिपिका नाम ही 'ब्राह्मी लिपि' प्रसिद्ध हुआ। भारतकी लिपियों-में यह सबसे प्राचीन मानी जाती है और प्रणेताके रूपमें भगवान् ऋषभदेवकी अमर स्मारक है।

अक्षयतृतीया—

एक लम्बे समय तक प्रजाका पालन कर ऋषभ-देव संसारसे विरक्त होकर दीक्षित हो गये और दीक्षा लेनेके साथ ही छह मासका उपवास स्वीकार किया। तदनन्तर वे आहारके लिए निकले। परन्तु उस समय-के लोग मुनियोंको आहार देनेकी विधि नहीं जानते थे, अतः कोई उनके सामने रत्नोंका थाल भरकर पहुं-चता, तो कोई अपनी सुन्दरी कन्या लेकर उपस्थित होता। विधिपूर्वक आहार न मिलने के कारण ऋषभ-देव पूरे छह मास तक इधर-उधर परिभ्रमण करते रहे और अन्तमें हस्तिनापुर पहुंचे। उस समय वहांके राजा सोमप्रभ थे। उनके छोटे भाई श्रेयांस थे। उनका कई पूर्व भवोंमें भगवान्से सम्बन्ध रहा है और उन्होंने पूर्व भवमें भगवान्के साथ किसी मुनि-को आहार दान भी दिया था। भगवान्के दर्शन करते ही श्रेयांसको पूर्वभवकी सब बातें स्मरण हो आईं और उन्होंने बड़ी श्रद्धा और भक्तिसे भगवान्को पडिगाह करके इक्षुरसका आहार दिया। वह दिन वैशाखशुक्ला तृतीयाका था। भगवान्को पूरे एक वर्षके पश्चात् आहार मिलनेके हर्षमें देवोंने पंचाश्चर्य किये; श्रेयांसका जयघोष किया और 'तुम दान तीर्थके आद्य प्रवर्तक हो।' यह कहकर उनका अभिनन्दन किया। इस प्रकार भगवान्को आहार-दान देनेके योगसे यह तिथि अक्षय बन गई और तभीसे यह 'अक्षयतृतीया' के नामसे प्रसिद्ध होकर मांगलिक पर्वके रूपमें प्रचलित हुई *।

अक्षयवट—

भ० ऋषभदेव पूरे १००० वर्ष तक तपस्या करनेके अनन्तर पुरिमतालपुर पहुंचे जो कि आज प्रयागके नामसे प्रसिद्ध है। वहां पर नगरके समीपवर्त्ती शकट नामक उद्यानके वटवृक्षके नीचे वे ध्यान लगा कर अवस्थित हो गये और फाल्गुन कृष्णा एकादशीके दिन उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया, वे अक्षय अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्यके धारक सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गये। भगवानको जिस वट वृक्षके नीचे केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ, वह उसी दिनसे 'अक्षय वट' के नामसे संसारमें प्रसिद्ध हुआ।

---

* राधशुक्लतृतीयायां दानमासीत्तदक्षयम्।
पर्वाक्षयतृतीयेति ततोऽद्यापि प्रवर्तते ॥३०१॥
(त्रि० श० पु० पर्व १ सर्ग ३)

नंदिसंघकी गुर्वावलीमें 'अक्षयवट' का उल्लेख इस प्रकारसे किया गया है:—

'श्रीसम्मेदगिरि-चम्पापुरी-उर्जयन्तगिरि-अक्षयवट-आदीश्वरदीक्षासर्वसिद्धक्षेत्रकृतयात्राणां।'

इस उल्लेखसे सिद्ध है कि 'अक्षयवट' भी जैनियोंमें तीर्थस्थानके रूपमें प्रसिद्ध रहा है।

प्रयाग—

भ० ऋषभदेवका प्रथम समवसरण इसी पुरिमतालपुरके उसी उद्यानमें रचा गया। इन्द्रने असंख्य देवी-देवताओंके साथ तथा भरतराजने सहस्त्रों राजाओं और लाखों मनुष्योंके साथ आकर भगवानके ज्ञान-कल्याणकी बड़ी ठाठ-बाटसे पूजा-अर्चा की। इस महान् पूजन रूप प्रकृष्ट यागमें देव और मनुष्योंने ही नहीं, पशु-पक्षियों तक ने भी भाग लिया था और सभीने अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार महती भक्तिसे पूजा-अर्चा की थी। इस प्रकृष्ट या सर्वोत्कृष्ट याग होनेके कारण तभीसे पुरिमतालपुर 'प्रयाग' के नामसे प्रसिद्ध हुआ। 'याग' नाम पूजनका है। जैन मान्यताके अनुसार इन्द्रके द्वारा की जाने वाली 'इन्द्रध्वज' पूजन ही सबसे बड़ी मानी जाती है।

शिवरात्रि—

केवलज्ञान उत्पन्न होनेके पश्चात् भ० ऋषभदेवने आर्यावर्तके सर्व देशोंमें विहार कर धर्मका प्रसार किया और जीवनके अन्तमें अष्टापद पहुंचे, जिसे कि आज कैलास पर्वत कहते हैं। वहां योग-निरोध कर आपने माघ कृष्णा चतुर्दशीके दिन शिव (मोक्ष) प्राप्त किया। अष्टापद या कैलाससे भगवानने जिस दिन शिव प्राप्त किया उस दिन सर्व साधु-संघने दिनको उपवास और रात्रिको जागरण करके शिवकी आराधना की, इस कारण उसी दिनसे यह तिथि भी 'शिवरात्रि' के नामसे प्रसिद्ध हुई। उत्तरप्रान्तमें शिवरात्रिका पर्व फाल्गुण कृष्णा १४ को माना जाता है, इसका कारण उत्तरी और दक्षिणी देशोंके पंचांगोंमें एक मौलिक भेद है। उत्तर भारत वाले मासका प्रारम्भ कृष्ण पक्षसे मानते हैं, पर दक्षिण भारत वाले शुक्लपक्षसे मासका प्रारम्भ मानते हैं और प्राचीन मान्यता भी यही है। यही कारण है कि कई हिन्दू शास्त्रोंमें माघ कृष्णा चतुर्दशीके दिन ही शिवरात्रिका उल्लेख पाया जाता है*।

उत्तर और दक्षिण भारतवालोंकी यह मास-विभिन्नता केवल कृष्णपक्षमें ही रहती है, किन्तु शुक्लपक्ष तो दोनोंके मतानुसार एक ही होता है। जब उत्तर भारतमें फाल्गुण कृष्णपक्ष चालू होगा, तब दक्षिण भारतमें वह माघ कृष्णपक्ष कहलाएगा। जैन पुराणोंके खास कर आदिपुराणके रचयिता आचार्य जिनसेन दक्षिणके ही थे, अतः उनके ही द्वारा लिखी गई माघ कृष्णा चतुर्दशी उत्तरभारतवालोंके लिए फाल्गुण-कृष्णा चतुर्दशी ही हो जाती है।

स्वयं इस मासवैषम्यका समन्वय हिन्दू पुराणोंमें भी इसी प्रकार किया है। —कालमाधवीय नागरखंडमें लिखा है:—

माघमासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च।
कृष्णा चतुर्दशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्त्तिता॥

अर्थात्—दक्षिण वालोंके माघ मासके उत्तरपक्षकी और उत्तर वालोंके फाल्गुण मासके प्रथमपक्षकी कृष्णा चतुर्दशी शिवरात्रि मानी गई है।

इस प्रकार अक्षय तृतीया भ० ऋषभदेवके दीक्षा-तपकल्याणककी, अक्षयवट ज्ञानकल्याणकका और शिवरात्रि निर्वाणकल्याणककी अमर स्मारक है।

शिवजी और उनका वाहन नन्दी बैल—

हिन्दुओंने जिन तेतीस कोटि देवताओंको माना है उनमें ऐतिहासिक दृष्टिसे शिवजीको सबसे प्राचीन या आदिदेव माना जाता है। उनका वाहन नन्दी बैल और निवास कैलाश पर्वत माना जाता है। साथ ही शिवजीका नग्नरूप भी हिन्दुपुराणोंमें बताया गया है। जैन मान्यताके अनुसार ऋषभदेव इस युगके आदितीर्थंकर थे और उनका वृषभ (बैल) चिन्ह था। वे जिनदीक्षा लेनेके पश्चात् आजीवन नग्न रहे और अन्तमें कैलाश पर्वतसे शिव प्राप्त किया। क्या ये सब

* माघे कृष्णचतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिवलिंगतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः॥
तत्कालव्यापिनी ग्राह्या शिवरात्रिव्रते तिथिः॥
(ईशानसंहिता)

बातें ऋषभदेव और शिवजीकी एकताकी द्योतक नहीं हैं? निश्चयतः उक्त समता अकारणक नहीं है और उसकी तहमें एक महान तथ्य भरा हुआ है।

शिवजीको जटा-जूट युक्त माना जाता है। भगवान ऋषभदेवकी आज जितनी भी प्राचीन मूर्त्तियां मिली हैं, उन सबमें भी नीचे लटकती हुई केश-जटाएँ स्पष्ट दृष्टि गोचर होती हैं। आ० जिनसेनने अपने आदिपुराणमें लिखा है कि भ० ऋषभदेवके दीक्षा लेनेके अनन्तर और पारणा करनेके पूर्व एक वर्षके घोर तपस्वी जीवनमें उनके केश बहुत बढ़ गये थे और वे कन्धोंसे भी नीचे लटकने लगे थे, उनके इस तपस्वी जीवनके स्मरणार्थ ही उक्त प्रकारकी मूर्त्तियोंका निर्माण किया गया इस प्रकार शिवजी और ऋषभदेवकी जटा-जूट युक्त मूर्त्तियां उन दोनोंकी एकताकी ही परिचायक हैं।

गंगावतरण—

हिन्दुओंकी यह मान्यता है कि गंगा जब आकाशसे अवतीर्ण हुई, तो शिवजीकी जटाओंमें बहुत समय तक भ्रमण करती रही और पीछे वह भूमण्डल पर अवतरित हुई। पर वास्तवमें बात यह है कि गंगा हिमवान् पर्वतसे नीचे जिस गंगाकूटमें गिरती है, वहां पर एक विस्तीर्ण चबूतरे पर आदि जिनेन्द्रकी जटामुकुट वाली वज्रमयी अनेक प्रतिमाएँ हैं, जिन पर हिमवान् पर्वतके ऊपरसे गंगाकी धार पड़ती है। इसका बहुत सुन्दर वर्णन त्रिलोक-प्रज्ञप्तिकारने किया है, जो विक्रमकी चौथी शताब्दीके महान् आचार्य थे और जिन्होंने अनेक सद्धान्तिक ग्रन्थोंकी रचना की है। वे उक्त गंगावतरणका वर्णन अपनी त्रिलोकप्रज्ञप्तिके चौथे अधिकारमें इस प्रकार करते हैं:—

आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जडमउडसेहरिल्लाओ।
पडिमोवरिम्मगंगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि॥२३०

अर्थात्—उस कुण्डके श्रीकूट पर जटा-मुकुटसे सुशोभित आदिजिनेन्द्रकी प्रतिमाएं हैं। उन प्रतिमाओंका मानों अभिषेक करनेके लिये ही गंगा उन प्रतिमाओंके जटाजूट पर अवतीर्ण होती है। (अभिषेक जलसे युक्त होनेके कारण ही शायद वह बादको सर्वांगमें पवित्र मानी जाने लगी।)

त्रिलोकसारके रचयिता आ० नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीने भी गंगावतरणके इस दृश्यको इस प्रकार चित्रित किया है:—

सिरिगिहसीसट्ठियंबुजकण्णियसिंहासणं जडामउलं।
जिणमभिसित्तुमणा वा ओदिण्णा मत्थए गंगा॥५९०

अर्थात्—श्रीदेवीके गृहके शीर्ष पर स्थित कमलकी कर्णिकाके ऊपर एक सिंहासन पर विराजमान जो जटामुकुटवाली जिनमूर्ति है, उसे अभिषेक करनेके लिये ही मानों गंगा हिमवान् पर्वतसे अवतीर्ण हुई है।

शिवजीके मस्तक पर गंगाके अवतीर्ण होनेका रहस्य उक्त वर्णनसे स्पष्ट हो जाता है और किसी भी निष्पक्ष पाठकका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है।

शिवजीके उक्त रूपकका अर्थ इस प्रकार भी लिखा जा सकता है कि इस युगके प्रारम्भमें दिव्यवाणीरूपी गंगा भ० ऋषभदेवसे ही सर्वप्रथम प्रकट हुई, जिसने भूमंडल पर बसनेवाले जीवोंके हृदयोंसे पाप-मलको दूर कर उन्हें पवित्र बनानेका बड़ा काम किया।

तक्षशिला और गोम्मट्टेश्वरकी मूर्ति—

भारतवर्षके आदि सम्राट् भरतके जीवनमें एक ऐसी घटना घटी, जो युग-युगोंके लिये अमर कहानी बन गई। जब वे दिग्विजय करके अयोध्या वापिस लौटे और नगरमें प्रवेश करने लगे, तब उनका सुदर्शनचक्र नगरके द्वार पर अटक कर रह गया। राजपुरोहितोंने इसका कारण बतलाया कि अभी भी कोई ऐसा राजा अवशिष्ट है, जो कि तुम्हारी आज्ञाको नहीं मानता है। बहुत छान-बीनके पश्चात् ज्ञात हुआ कि तुम्हारे भाई ही आज्ञा-वश-वर्ती नहीं हैं। सर्व भाइयोंके पास सन्देश भेजा गया। वे लोग भरतकी शरणमें न आकर और राज पाट छोड़कर भ० ऋषभदेवकी शरणमें चले गये, पर बाहुबलाने—जो कि भरतकी विमाताके ज्येष्ठ पुत्र थे—स्पष्ट शब्दोंमें भरतकी आज्ञा माननेसे इन्कार कर दिया और दूतके मुखसे कहला दिया कि जाओ और भरतसे कह दो—'जिस बापके तुम बेटे हो, उसीका मैं भी हूँ। मैं पिताके दिये राज्यको भोगता हूँ, मुझे तुम्हारा आधिपत्य स्वीकार नहीं है।' भरतने यह सन्देश सुनकर बाहुबलीको युद्धका आमन्त्रण भेज दिया। दोनों ओरसे

सैनिकगण समरांगणमें उतर आये। रण-भेरी बजने ही वाली थी कि दोनों ओरके मन्त्रियोंने परस्परमें परामर्श किया—'ये दोनों तो चरम शरीरी और उत्कृष्ट संहननके धारक हैं, इनका तो कुछ बिगड़ेगा नहीं। वेचारे सैनिक परस्परमें कट मरेंगे। इनका व्यर्थ संहार न हो, अतः उभयपक्षके मन्त्रियोंने अपने-अपने स्वामियोंसे कहा—'महाराज, व्यर्थ सेनाके संहारसे क्या लाभ? आप दोनों ही परस्परमें युद्ध करके क्यों न निपटारा कर लें?' भरत और बाहुबलीने इसे स्वीकार किया। मध्यस्थ मन्त्रियोंने दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध निश्चित किये और भरत तीनों ही युद्धोंमें अपने छोटे भाई बाहुबलीसे हार गये। हारसे खिन्न होकर और रोषमें आके भरतने बाहुबलीके ऊपर सुदर्शनचक्र चला दिया। कभी व्यर्थ न जाने वाला यह अमोघ अस्त्र भी तद्भवमोक्षगामी बाहुबलीका कुछ बिगाड़ न कर सका, उल्टा उनकी तीन प्रदक्षिणा देकर वापिस चला गया। इस घटनासे संसारके आदि चक्रवर्ती भरतका अपमान हुआ और वे किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गये। पर बाहुबलीके दिलको बड़ी चोट पहुंची और विचार आया कि धिक्कार है इस राज्यलक्ष्मीको, कि जिसके कारण भाई भाईका ही गला काटनेको तैयार हो जाता है। वे इस विचारके जागृत होते ही राज-पाटको छोड़कर वनको चले गये और पूरे एक वर्षका प्रतिमायोग धारण करके घोर तपश्चर्यामें निरत हो गये। इस एक वर्षकी अवधिमें उनके चरणोंके पास चींटियोंने बामी बना डाली और सांपोंने उसमें डेरा डाल दिया। पृथ्वीसे उत्पन्न हुई अनेक लताओंने ऊपर चढ़कर उनके शरीरको आच्छादित कर लिया! इन दोनों ही घटनाओंकी यथार्थताको प्रमाणित करनेवाले जीते-जागते प्रमाण आज उपलब्ध हैं। कहते हैं कि जिस स्थान पर दोनों भाइयोंका यह युद्ध हुआ था और जहाँ पर चक्र चलाया गया था, वह स्थान 'तक्षशिला' के नामसे प्रसिद्ध हुआ। (तक्षशिलाका शब्दार्थ तक्षण अर्थात् काटने वाली शिला होता है।) तथा बाहुबलीकी उस उग्र तपस्याकी स्मारक श्रवणबेलगोल (मैसूर) के विंध्यगिरि-स्थित बाहुबलीकी ५७ फीट ऊँची, संसारको आश्चर्यमें डालनेवाली मनोज्ञ मूर्ति आज भी उक्त घटनाकी सत्यता संसारके सामने प्रकट कर रही है। तथा वहीं दूसरी पहाड़ी चन्द्रगिरि पर अवस्थित जड़-भरतकी मूर्ति उनकी किंकर्तव्यविमूढ़ताका आज भी स्मरण करा रही है।

भरत और बाहुबली दोनों ही भ० ऋषभदेवके पुत्र थे, अतएव उन दोनोंकी ऐतिहासिक सत्यताके प्रतीक स्मारक पाये जानेसे भ० ऋषभदेवकी ऐतिहासिक प्राचीनता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज विविध रूपोंमें भ० ऋषभदेवके अमर स्मारक अपनी ऐतिहासिकताकी अमिट छापको लिये हुए भारतवर्षमें सर्वत्र व्याप्त हैं, जिससे कोई भी पुरातत्त्वविद् इन्कार नहीं कर सकता।

आशा है सहृदय ऐतिहासिक विद्वान् इस लेख पर गम्भीरताके साथ विचार करनेकी कृपा करेंगे और उसके फलस्वरूप भ० ऋषभदेवके अमरस्मारक और भी अधिक प्रकाशमें आकर लोक मानसमें अपना समुचित स्थान बनाएंगे। •

दिल्ली और योगिनीपुर नामोंकी प्राचीनता

(लेखक—अगरचन्द नाहटा)

अनेकान्तके वर्ष १३ अंक १ में पं० परमानन्दजी शास्त्रीका 'दिल्ली और उसके पाँच नाम' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें आपने १ इन्द्रप्रस्थ २ ढिल्ली ३ योगिनीपुर या जोइणीपुर, ४ दिल्ली और ५ जहांनाबाद—इन पांच नामोंके सम्बन्धमें अपनी जानकारी प्रकाशित की है। इनमेंसे जहांनाबाद नाम तो बहुत पीछेका और बहुत कम प्रसिद्ध है और इन्द्रप्रस्थ पुराना होने पर भी जनसाधारणमें प्रसिद्ध कम ही रहा है। साहित्यगत कुछ उल्लेख इस नामके जरूर मिलते हैं चौथा दिल्ली और ढिल्ली वास्तवमें दोनों एक ही नाम हैं। ढिल्लीका उपभ्रंश हो जनसाधारणके मुखसे बदलता-बदलता दिल्ली बन गया है। वास्तवमें उसका भी कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। कई लोगोंकी जो यह कल्पना है कि दिलू राजाके नामसे दिल्लीका नामकरण हुआ, पर वास्तवमें यह एक भ्रांत और मनगढ़न्त कल्पना है। दिलू राजाका वहां होना किसी भी इतिहाससे समर्थित नहीं, अत एव ढिल्ली और योगिनीपुर ये दोनों नाम ही ऐसे रहते हैं, जो करीब एक हजार वर्षोंसे प्रसिद्ध रहे हैं, अतः इनकी प्राचीनताके सम्बन्धमें ही प्रस्तुत लेखमें प्रकाश डाला जायगा।

ढिल्ली नामकी प्राचीनताके सम्बन्धमें पं० परमानन्द जीने संवत् ११८६ के श्रीधर-रचित पार्श्वनाथचरित्रमें इस नामका सर्व प्रथम प्रयोग हुआ है—ऐसा सूचित करते हुए लिखा है कि "इससे पूर्वके साहित्यमें उक्त शब्दका प्रयोग मेरे देखनेमें नहीं आया।" यद्यपि 'गणधरसार्द्धशतकबृहद्वृत्ति' जिसकी रचना सं० १२९५ में हुई है, उक्त पार्श्वनाथचरित्रके पीछेकी रचना है, पर उक्त ग्रन्थमें ग्यारहवीं शताब्दीके वर्द्धमानसूरिका परिचय देते हुए उनके 'ढिल्लो, वादली' आदि देशोंमें पधारनेका उल्लेख किया है।

—स्वाचार्याः नु ज्ञातः कतिपययतिपरिवृतः ढिल्ली-बादली-प्रमुखस्थानेषु समाययौ।' इसीसे ग्यारहवीं शताब्दीमें भी इस नगरके पार्श्ववर्ती प्रदेशको ढिल्ली प्रदेश कहते थे, ज्ञात होता है। आचार्य वर्द्धमानसूरि रचित उपदेशपदटीका सं० १०५५ की प्राप्त है और यह घटना उससे भी पहले की है। अतः सं० १०५० से पूर्व भी ढिल्ली नाम प्रसिद्ध व सिद्ध होता है ×।

जोइणीपुर या योगिनीपुरकी प्राचीनताके सम्बन्धमें पं० परमानन्दजीने पंचास्तिकायकी सं० १३२६ की लिखित प्रशस्ति उद्धृत करते हुए लिखा है कि 'योगिनीपुर का उल्लेख अनेक स्थलों पर पाया जाता है। 'जिनमें सं० १३२६ का उल्लेख सबसे प्राचीन जान पड़ता है।' पर श्वेताम्बर साहित्यसे इस नामकी प्राचीनता सं० १२०० के लगभग जा पहुंचती है और इस नामकी प्रसिद्धिका कारण भी भली भांति स्पष्ट हो जाता है। इसलिए यहां इस नामके सम्बन्धमें विशेष प्रकाश डाला जा रहा है।

संवत् १३०५ में ढिल्ली वास्तव्य साधु साहुलिके पुत्र हेमाकी अभ्यर्थनासे खरतरगच्छीय जिनपति सूरिके शिष्य विद्वद्वर जिनपालोपाध्यायके 'युगप्रधानाचार्य गुर्वावली' नामक[१] ऐतिहासिक ग्रन्थकी रचना की भारतीय साहित्यमें संवतानुक्रम और तिथिके उल्लेखवार प्रत्येक घटनाका सिलसिलेवार वर्णन करनेवाला यह एक ही अपूर्व ग्रन्थ है। रचयिताके गुरु जिनपतिसूरिके गुरु जिनचन्द्रसूरि जो कि सुप्रसिद्ध जिनदत्तसूरिके शिष्य थे, का जीवनवृत्त देते हुए संवत् १२२३ में उनके ढिल्ली—योगिनीपुर (वहांके राजा मदनपालके अनुरोधसे) पधारनेका विवरण दिया है। यहां उसका आवश्यक अंश उद्धृत किया जाता है:—

ततःस्थानात्प्रचलितान् पृष्ठगामे संघातेन सहागतान् श्रीपूज्यान् श्रुत्वा ढिल्लीवास्तव्य ठ० लोहट सा० पाल्हण—सा० कुलचन्द्र सा० गृहिचन्द्रादि संघ मुख्य श्रावका महता विस्तेरण वन्दनार्थं सम्मुखं प्रचालिताः।

× पूर्ववर्ती तो तब होता, जब उसी समयके बने हुए ग्रन्थमें इन नामोंका उल्लेख हो, यों तो अनेक विषयोंके अनेक उल्लेख मिलते है।

अच्छा होता यदि लेखक महानुभाव सं० १०५० या उससे पूर्ववर्ती ग्रन्थमें उल्लिखित 'ढिल्लो' शब्दके प्रयोगका उल्लेख दिखलाते। —सम्पादक

१ देखें भारतीयविद्या वर्ष १ पृष्ठ ४ में प्रकाशित हमारा लेख।

तांश्च प्रधानवेषान् प्रधानपरिवारान् प्रधानवाहनाधिरूढान् ढिल्ली-नगराद्बहिर्गच्छन्तो दृष्ट्वा स्वप्रसादोपरि वर्तमानः श्री मदनपालराजा विस्मितः सन्, स्वकीय राजप्रधानलोकं पप्रच्छ—'

श्रीपूज्यैरुक्तम्—'महाराज ! युष्मदीयं नगरं प्रधानं धर्मक्षेत्रं ।' तर्हि उत्तिष्ठत चलत ढिल्लीं-प्रति, न कोऽपि युष्मानंगुलिकयापि सञ्ज्ञास्यतीत्यादि । श्रीमदनपालमहाराजोपरोधाद् 'युष्माभिर्योगिनीपुरमध्ये कदापि न विहर्तव्यमित्यादि श्रीजिनदत्तसूरिदत्तोपदेशन्यागे न हृदये दयमाना अपि श्री पूज्याः श्री ढिल्लीं प्रति प्रस्थिताः ।'

यह गुर्वावली जिनचन्द्रसूरिजीके प्रशिष्यकी ही निर्मित है, इसलिये इसकी प्रामाणिकतामें सन्देहकी गुंजाइस नहीं है । उपर्युक्त उद्धरणोंसे सम्वत् १२२३ में दिल्लीके राजा मदनपाल थे सिद्ध है । उस समयके प्रधान श्रावकोंके नामोंके उद्धरणोंसे, वहाँ पार्श्वनाथ विधि चैत्य भी था, इसकी जानकारी मिलती है । जिन आचार्यश्रीके दिल्लीमें स्वर्गवासी होनेका उल्लेख है, वे मणिधारी जिनचन्द्रसूरिके नामसे प्रख्यात हैं और उनका स्तूप कुतुबमीनारके पास आज भी विद्यमान व पूज्यमान है । उनका अग्नि संस्कार इतने दूरवर्ती स्थानमें क्यों किया गया, इसके सम्बन्धमें गुर्वावलीमें लिखा है कि ऐसी प्रसिद्धि रही है कि आचार्यश्रीका कथन है कि मेरा अग्नि संस्कार जितनी दूरवर्ती भूमिमें किया जायगा, वहाँ तक नगरकी वस्ती बढ़ जाएगी — "तदनन्तरं श्रावकैर्महाविस्तरेणाऽनेकमण्डपिका मण्डिते विमान आरोप्य यत्र क्वाप्यस्माकं संस्कारं करिष्यत यूयं तावती भूमिकां यावन्नगरवसतिः भविष्यतीत्यादि गुरुवाक्यस्मृतेरतीव दूरभूमौ नीताः ।"

गुर्वावलीमें जिनचन्द्रसूरिजीको जिनदत्तसूरिजीने योगिनीपुर जाना क्यों मना किया था ? और वहाँ जाने पर एकाएक छोटी उम्रमें ही उनका क्यों स्वर्गवास हो गया ? इसके सम्बन्धमें कुछ भी प्रकाश नहीं डाला पर परवर्ती पट्टावलियों व वृद्धाचार्य प्रबन्धावलीमें इस सम्बन्धमें जो प्रवाद था, उसका स्पष्ट उल्लेख किया है । प्रबन्धावलीमें लिखा है कि एक बार जिनदत्तसूरि अजमेर दुर्ग पधारे, वह चौसठ योगनियोंका पीठ-स्थान था । योगिनियोंने आचार्य श्रीके रहते अपना पूजा सत्कार नहीं होगा समझ उन्हें छलनेके लिये वे श्राविकाके रूपमें व्याख्यानमें आयी । सूरिजीने उन्हें सूर्यमन्त्रके अधिष्ठायक द्वारा कीलके स्तम्भित कर दी । वे उठ न सकीं तब सूरिजीसे प्रार्थना कर मुक्त हुई और कहा हमें एक वचन दीजिये कि जहां जहां हमारा पीठ स्थान है, आप नहीं जायं । हमारा पहला पीठ उज्जयनीमें, दूसरा दिल्ली, तीसरा अजमेर दुर्ग और आधा भरू अच्छमें है । वहाँ आपके शिष्य या पट्टधर न जायं । जाने पर मरण-बन्धनादि कष्ट होंगे

इसीलिये जिनदत्त सूरिजीने वहां जानेका निषेध किया था पर भावी भाववश राजा व संघके अनुरोधसे वहां जाना हुआ । प्रबन्धावलिमें लिखा है— 'जोगिनीहिं छलिओ मओ' अज्जवि पुरातन ढिल्ली मज्झे तस्स थुंभो अच्छई । संघो तस्स जत्ता कम्मं कुणइ' अर्थात् जिनचन्द्रसूरिजीका स्वर्गवास योगनियोंके छलके द्वारा हुआ । उनका स्तूप आज भी पुरानी दिल्लीमें है, जिसकी संघ यात्रा किया करता है ।

प्रबन्धावलि १७वीं शताब्दीके प्रारम्भ या उससे पहलेकी रचना है । उस समय जिनचन्द्रसूरिके स्तूप स्थानकी संज्ञा 'पुरातन ढिल्लीः मानी जाती थी ।

योगिनीपुर नामकरणका कारण हमें उपर्युक्त प्रबन्धावलि द्वारा स्पष्ट रूपमें मिल जाता है कि ढिल्ली चौसठ योगिनियोंका पीठ स्थान था और उनकी प्रसिद्धिके कारण ही दिल्लीका दूसरा नाम योगिनीपुर प्रसिद्ध हुआ ।

इस नामकी प्राचीनता सम्वत् १३०५ व १२२३ तक तो गुर्वावलीसे सिद्ध ही है और उसमें जिनदत्त सूरिके कहे हुए निषेध वाक्यमें भी 'योगिनीपुर' नाम ही दिया है, इसलिये बारहवीं शताब्दी तक इस नामकी प्राचीनता जा पहुँचती है ।

दिल्लीका जैन इतिहास भी अवश्य प्रकाशित होना चाहिए । उसके सम्बन्धमें काफी सामग्री इधर-उधर बिखरी पड़ी है उन सबका संग्रह होकर सुव्यवस्थित इतिहास लिखा जाना आवश्यक है । श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंका गत एक हजार वर्षसे यहां अच्छा निवास और प्रभाव रहा है । यहांके प्राचीन मन्दिरोंका विवरण भी संगृहीत किया जाना चाहिये । इस सम्बन्धमें मेरी सेवाएँ हर समय प्रस्तुत हैं ।

निरतिवादी समता

(स्वामी सत्यभक्त)

समाजमें न सब मनुष्य सब तरह समान बनाये जा सकते हैं न उनमें इतनी विषमता ही उचित कही जा सकती है जितनी आज है। पर आज दोनों तरहके अतिवादोंका पोषण किया जाता है। अतिसमतावादी यह कहते हैं कि साहब, चीनमें कालेजके एक चपरासीमें तथा प्रिन्सिपलमें फरक ही नहीं होता। इस प्रकारके लोग अन्धाधुन्ध समताके गीत गाते हैं। मानों विशेष योग्यता, विशेष अनुपयोगिता, विशेष सेवा या श्रमका कोई विशेष मूल्य न हो। ऐसी अतिवादी समता अव्यावहारिक तो होगी ही, पर उसकी दुहाई देनेसे जो लोगोंमें मुफ्तखोरी अन्याय कृतघ्नता आदि दोष बढ़ रहे हैं। उनका दुष्परिणाम समाजको और स्वयं उन लोगोंको भोगना पड़ेगा। यह तो अन्धेर नगरी होगी।

अन्धेर नगरी बेवूफ राजा।
टके सेर भाजी टके सेर खाजा॥

इस कहावतको चरितार्थ करना होगा।

दूसरी तरफ अतिवैषम्य है। एक आदमी मिहनत किये बिना या नाममात्रकी मिहनत या विशेषनासे हजारों लाखों कमा लेता है। दूसरी तरफ बौद्धिक और शारीरिक घोर श्रम करके भी भरपेट भोजन या उचित सुविधाएँ नहीं प्राप्त कर पाता। इस अतिवैषम्यको भी किसी तरह सहन नहीं किया जा सकता।

ये दोनों तरहके अतिवाद समाजके नाशक हैं। हमें अतिसमता और अतिविषमता दोनोंके दोषोंको समझकर निरतिवादी समताका मार्ग अपनाना चाहिये। इस बातमें मनोवैज्ञानिकता तथा व्यावहारिकताका भी पूरा ध्यान रखना चाहिये।

आर्थिक समताके मार्गमें रूसने सबसे अधिक प्रगति की है और वहां पूंजीवाद सबसे कम है विषमता भी सबसे कम है। फिर भी इतनी बातें तो वहां भी हैं।

१—किसी को २५० रूबल महीना मिलता है और किसीको ४००० रूबल महीना मिलता है। मतलब यह कि वहां सोलह गुणे तकका अन्तर शासन क्षेत्रमें है। श्रमिकोंमें यह अन्तर चौदह गुणा तक है। किसी-किसी श्रमिकको साढे तीन हजार रूबल मासिक तक मिलता है।

२—रेलवे में वहां भारतकी तरह तीन श्रेणियां हैं।

३—मकान, पशु आदि व्यक्तिगत सम्पत्ति काफी है और इसमें भी विषमता है।

४—अपना मकान भाड़ेसे देकर मनुष्य पूंजी पर मुनाफा खा सकता है, जो धंधा बिना नौकरके चल सकता है उसमें पूंजी लगाकर आमदनी बढ़ा सकता है, बैंकमें रुपया जमाकर व्याज खा सकता है।

रूसी क्रांतिके प्रारम्भमें इतनी विषमता नहीं थी, क्रांतिकारियोंकी इच्छा भी नहीं थी कि ऐसी विषमता आये। पर अनुभवने, मानव प्रकृतिने, परिस्थितियोंकी विवशताने इस प्रकारके अन्तर पैदा करा दिये। निःसन्देह यह विषमता भारतसे बहुत कम है। रूसमें जब यह एक और सोलहके बीचमें हैं तब भारतमें वह एक और चारसौ के बीचमें है। यहां किसीको पच्चीस रुपया महीना मिलता है तो किसीको दस हजार रुपया महीना। यह तो राजकीय क्षेत्रका अन्तर है। आर्थिक क्षेत्रमें यह विषमता और भी अधिक है। क्योंकि अनेक श्रीमानोंकी लाखोंकी आमदनी है। रूसने विषमताको काफी सीमित और न्यायोचित रक्खा है पर विषमताकी अनिवार्यता वहां भी है। अतिसमता वहां भी अव्यवहार्य मानी गई है।

अतिसमतासे हानियां

बहुतसे वामपक्षी लोग और बहुतसे सर्वोदयवादी लोग जिस प्रकार अति समताकीबात करते हैं या दुहाई देते हैं उसे अगर व्यवहारमें लानेकी कोशिश की जाय तो वह अव्यहार्य साबित होगी और अन्यायपूर्ण भी होगी इससे देशका घोर विनाश होगा।

१—एक आदमी अधिक श्रम करता है और दूसरा कमसे कम श्रम करता है, यदि दोनोंको श्रमके अनुरूप बदला न दिया जाय, अर्थात् दोनोंको बराबर दिया जाय तो अधिक श्रम करने वाला अधिक श्रम करना बन्द कर देगा, उसे श्रममें उत्साह न रहेगा। इस प्रकार देशमें श्रम रहते हुए भी श्रमका अकाल पड जायगा। उत्पादन क्षीण हो जायगा।

किसी कामकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये वर्षों तपस्या करना पड़ता है, और किसीके लिये नाममात्रकी तपस्या करनी पड़ती है, प्रिन्सिपल बननेकी योग्यता प्राप्त करनेके लिये आधी जिन्दगी निकल जायगी और चपरासी बनने के लिये मामूली पढ़ना लिखना ही काफ़ी होगा। दोनोंका मूल्य बराबर हो तो प्रिन्सपल और प्रोफेसर तैयार ही न हों। इसी प्रकार इंजीनियर और मामूली मजदूर, वैज्ञानिक और विज्ञान-शाला में झाडू देने वाला आदिके बारे में भी होगा।

३—विशेष मानसिक काम करने वाले और साधारण शारीरिक काम करनेवाले यदि समान सुविधा पायें तो मानसिक श्रम क्षीण होगा। मानसिक श्रमका काम करनेवालेको पाव भर घी की जरूरत होगी और शारीरिक श्रम करनेवालेका काम आध पाव घी से चल जल जायगा। दोनोंको बराबर दिया जाय तो मानसिक श्रमवाला उचित श्रम न कर पायगा।

४—एक आदमी पूरी जिम्मेदारीसे काम करता है, चारों तरफ नजर रखता है, दिनरात चिन्ता करता है, दूसरेको ऐसी जिम्मेदारीसे कोई मतलब नहीं। दोनोंको पारिश्रमिक दिया जाय तो जिम्मेदारी रखनेवाला उस तरफ ध्यान न देगा। इस प्रकार कामकी सारी व्यवस्था बिगड़ जायगी।

५—एक आदमीमें अपने क्षेत्रमें काम करनेके लिये असाधारण प्रतिभा है, असाधारण स्वर या सुन्दरता है, असाधारण शक्ति है, असाधारण कला है, इनका असाधारण मूल्य यदि न दिया जाय तो इन गुणोंका उपयोग करनेके लिये उन गुणवालोंका उत्साह ही मर जायगा। इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव ऐसा पड़ेगा कि इनका सदुपयोग करनेके लिये जो थोडी बहुत साधना करनेकी जरूरत है वह साधना भी मिट जायगी।

६—अतिसमता का सारे समाज पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा। सारा समाज दुःखी अशान्त निकम्मा और झगड़ालू हो जायगा। कामका या अपने मूल्यका विवेक किसीमें न रहेगा। हर आदमी को यही चिन्ता रहेगी कि मुझे बराबर मिलता है या नहीं? दूसरोंको क्या मिला और मुझे क्या मिला इसी पर नजर रखने और चिन्ता करनेमें और झगड़नेमें हर एककी शक्ति बर्बाद होगी। विशेष योग्यतावाले विशेष काम न करेंगे और हीन योग्यतावाले बराबरीके लिये दिनरात लड़ेंगे, थोड़ासा अन्तर रहेगा तो असन्तुष्ट होकर चोरी करेंगे, बदमाशी करेंगे, कृतघ्नताका परिचय देंगे विनय की हत्या करेंगे। इस प्रकार सारा समाज अनुत्साह, ईर्ष्या, खेद, मुफ्तखोरी, चोरी, अविनय, आलस्य, कृतघ्नता, कलह, अयोग्यता, असाधना, आदिसे भर जायगा, उत्पादन चौपट हो जायगा, अव्यवस्था असीम हो जायेगी।

अतिसमता जितनी मात्रामें होगी ये दोष भी उतनी मात्रामें होंगे। इस प्रकार अतिसमता अर्थात अन्याय्य समता सर्वनाशका मार्ग है।

अतिविषमतासे हानियां

अतिविषमताकी हानियोंसे हम परिचित ही हैं। हालां कि ये हानियां अतिसमताके बराबर नहीं हैं फिर भी काफी हैं।

एक आदमीको गुणी सेवक होते हुए भी जब निर्गुण असेवकोंसे कम मिलता है तब उसके साथ अन्याय होता है। इससे उसका ध्यान गुण बढ़ाने और सेवा करनेसे हटकर उन चालाकियोंकी तरफ चला जाता है जिनसे अधिक धन खींचा जा सकें। एक भी चालाक बदमाश आदमी जब धनी बन जाता है तब यह कहना चाहिये कि वह सौ गुणी और सेवकों की हत्या करता है। अर्थात् उसे देखकर सौ गुणी और सेवक व्यक्ति गुण सेवाके सन्मार्गसे भ्रष्ट होकर चालाक बदमाश बननेकी कोशिश करने लगते हैं। भले ही वे सफल हों या न हों।

समाजमें जो बेकारी है, एक तरफ काम पड़ा है दूसरी तरफ सामग्री पड़ी है तीसरी तरफ काम करनेवाले बेकार बैठे हैं, यह सब अतिविषमताका परिणाम है। इस प्रकार यह अति-विषमता भी काफी हानिप्रद है।

हमें अतिसमता और अतिविषमताको छोड़कर निरतिवादी समताकी योजना बनाना चाहिये। उसके सूत्र ये हैं।

१—हर एक व्यक्तिको भोजन वस्त्र और निवासकी उचित सुविधा मिलना ही चाहिये। हां, इस सुविधाकी जिम्मेदारी उन्हींकी ली जा सकती है जो समाजके लिये उपयोगी कार्य उचित मात्रामें करनेको तैयार हों।

२—देशमें बेकारी न रहना चाहिये। देशव्यापी एक ऐसी योजना होना चाहिये जिससे हर एक व्यक्तिको काममें लगाया जा सके।

३—न्यायोचित या समाजमान्य तरीकेसे जिसने जो सम्पत्ति उपार्जित की है उस पर उसकी मालिकी रहना चाहिये। बिना मुवावजे की वह सम्पत्ति उससे ली न जा सके।

४—साधारणतः ठीक आमदनी होने पर भी जो अपव्ययी या विलासी होनेसे कुछ भी सम्पत्ति नहीं जोड़ पाता उसकी गरीबीको दयनीय न मानना चाहिये।

५—निम्नलिखित आठ कारणोंसे पारिश्रमिक या पुरस्कार अधिक देना चाहिये। (१) गुण (२) साधना (३) श्रम (४) सहसाधन (५) कष्ट संकट (६) उत्पादन (७) उत्तरदायित्व (८) दुर्लभता।

(१) गुण—प्रतिभा, सुन्दरता, शारीरिक शक्ति, आदि जन्मजात गुण जिले कार्यमें अपनी विशेष उपयोगिता रखते हों उस कार्यमें इनके कारण विशेष पारिश्रमिक मिलना चाहिये। उदाहरणके लिये साहित्य निर्माणमें, शासनमें, प्रबन्धमें, शिक्षणमें प्रतिभाका विशेष मूल्य है। सिनेमा आदिमें सुन्दरताका मूल्य है। सेना पुलिस या शारीरिक मजदूरीके क्षेत्रमें शारीरिक शक्तिका मूल्य है। इन क्षेत्रोंमें इन गुणों पर विशेष पारिश्रमिक मिलना चाहिये।

(२) साधना—किसी कामको करनेकी योग्यता प्राप्त करनेमें कितने दिन कैसी साधना करना पड़ेगी इस परसे उसका मूल्य निर्धारित करना पड़ता है। जैसे एक क्लर्क बनने के लिये जितनी साधनाकी जरूरत है उससे कई गुणी साधनाकी जरूरत एक प्रोफेसर, लेखक, कवि या सम्पादक बननेमें है। इसलिये क्लर्ककी अपेक्षा इनके कार्यका मूल्य अधिक होगा।

(३) श्रम—जिस काममें जितना अधिक श्रम करना पड़ता है उसका मूल्य उतना ही अधिक होता है। सब कार्योंमें शारीरिक श्रम बराबर नहीं होता और शारीरिक कार्योंकी अपेक्षा वाचनिक और मानसिक कार्योंमें श्रम अधिक होता है। एक आदमी आठ घंटे घास खोदनेका काम वर्षों कर सकता है। पर चार घंटे व्याख्यान देने का काम बहुत दिन नहीं कर सकता, उसका गला बैठ जायगा दिमागी काम तो और भी कठिन है। शरीरको एक काम में भिड़ाये रखनेकी अपेक्षा मनको एक काममें भिड़ाये रखना काफ़ी कठिन है। शरीरको स्थिर रखनेकी अपेक्षा मनको स्थिर रखना काफी कठिन है। इसलिये मानसिक श्रमका मूल्य अधिक है।

(४) सहसाधन—किसी कामको करनेमें जितने अधिक सहसाधनोंकी जरूरत होगी उसका मूल्य उतना अधिक होगा। दर्जीको सिलाईके काममें एक मशीनकी जरूरत है, तो इस साधनके कारण भी उसके श्रमका मूल्य बढ़ जाता है। इसी तरह विशेष दिमागी कार्य करनेके लिये ठण्डे वातावरणमें रहना, घी आदि विशेष तरावटी चीजें खाना आदि सहसाधन हैं। एक अभिनेत्रीको अपनी सुन्दरता बनाये रखना, हजारों प्रशंसकोंके पत्र आते हैं। उनको पढ़नेके लिये प्राइवेट सेक्रेटरी रखना आदि सहसाधन हैं, धनकी पूंजी भी सहसाधन है।

इन कारणों से विशेष पारिश्रमिक देना जरूरी है। गाँवोंकी अपेक्षा नगर या महानगरमें सहसाधनोंकी ज्यादा जरूरत पड़ती है, महँगाई भी होती है इसलिये गांवकी अपेक्षा शहरका पारिश्रमिक अधिक होता है।

(५) कष्ट संकट—किसी काममें विशेष कष्ट हो, विशेष संकट हो तो उसके कारण उसका मूल्य बढ़ जाता है। साधारण मजदूरकी अपेक्षा कोयले आदिकी खदानमें काम करनेमें कष्ट और संकट अधिक है। हवाई जहाज चलानेमें संकट अधिक है शारीरिक श्रमकी अपेक्षा वचन या मनके कार्यमें कष्ट अधिक है। इसलिये इनका मूल्य बढ़ जाता है।

(६) उत्पादन—जो इस तरीकेसे काम करे कि अधिक या अच्छा उत्पादन कर सके तो उसकी इस कलाका मूल्य अधिक होगा। जो अच्छा चित्र बना सकता है, अच्छी मूर्त्ति गढ़ सकता है, अच्छा लेख लिख सकता है उसका पारिश्रमिक अधिक होगा। इसी प्रकार जो परिमाणमें ज्यादा उत्पादन कर सकता है उसका मूल्य भी अधिक होगा।

(७) जिम्मेदारी—जिम्मेदारीका भी मूल्य होता है। एक आदमीको अमुक समय काम करनेके बाद उसके हानि लाभसे कोई मतलब नहीं, दूसरेको हर समय हानि लाभका विचार रखना पड़ता है उसकी चिंता करनी पड़ती है। मैनेजरको जितना ध्यान रखना पड़ता है उतना साधारण मजदूर या क्लर्क को नहीं रखना पड़ता। इसलिये मैनेजरका मूल्य अधिक होगा।

(८) दुर्लभता—जिस कामको करने वाले मुश्किलसे मिलते हैं उनकी भी कीमत बढ़ती है। तीर्थंकर पैगम्बर महाकवि, महान वैज्ञानिक, महान दार्शनिक, महान नेता, महान लेखक, महान कलाकार आदि काफी दुर्लभ होते हैं इसलिये इनकी कीमत काफी अधिक होती है। आर्थिक दृष्टिसे तो इनकी कीमत चुकाना अशक्य होता है इसलिये इनकी ज्यादतर कीमत यश प्रतिष्ठाके द्वारा चुकाना पड़ती है। पर इनके सिवाय साधारण क्षेत्रमें भी दुर्लभताका असर पड़ता है। पहिले मैट्रिक पास व्यक्ति भी बड़ा दुर्लभ था इसलिये उसकी भी काफी कीमत थी, अब बी. ए., एम. ए. भी हजारों लाखोंकी संख्यामें सुलभ हैं इसलिये उनकी भी कीमत काफी घट गई है। बाजारमें जिस चीज़ की जितनी मांग होती है उससे अधिक चीज आ जाय तो उसकी कीमत गिर जाती है उसी प्रकार आदमीके बारे में भी है।

हाँ! समाजको ऐसी व्यवस्था करना चाहिये कि असाधारण महामानवोंको छोड़कर साधारण क्षेत्रमें अतिदुर्लभता

कारण किसीकी कीमत मूल्यसे अधिक न होने पाये और अति सुलभताके कारण किसीकी कीमत मूल्यसे गिरने न पाये।

मूल्यका निर्णय वस्तुकी उपयोगिता तथा इस प्रकरणमें बताये गये आठ कारणोंमें से प्रारम्भके सात कारणोंके आधारपर करना पड़ता है और कीमतके निर्णयमें दुर्लभता सुलभता आदमीकी गरजका भी असर पड़ जाता है। मूल्यमें उसकी सामग्रीका विचार है, कीमतमें सिर्फ उसके बाजारू विनिमयका विचार है। उदाहरणके लिये उपयोगिता की दृष्टिसे पानी काफी मूल्यवान है पर सुलभताके कारण उसकी कीमत कुछ नहीं है। सोने चांदीकी अपेक्षा अन्न अधिक मूल्यवान है पर दुर्लभताके कारण सोने चाँदीकी कीमत ज़्यादा है। कहीं-कहीं मूल्य और कीमतका अन्तर यों भी समझा जा सकता है कि मूल्य बताता है कि इसकी विनिमयकी मात्रा कितनी होना चाहिए, कीमत बताती है कि इसकी विनिमय की मात्रा कितनी है। चाहिये और है का फर्क भी कहीं कहीं इन दोनोंका फर्क बन जाता है। मनुष्येतर वस्तुओंमें यह फर्क थोड़ी बहुत मात्रामें बना रहे तो बना रहे पर मनुष्यके बारेमें यह अन्तर न रहना चाहिये। समाजको शिक्षण तथा बाजारमें सामञ्जस्य रखना चाहिये। असाधारण महामानवों की बात दूसरी है क्योंकि आर्थिक दृष्टिसे उनकी ठीक कीमत प्रायः चुकाई नहीं जाती।

खैर! ये आठ कारण हैं जिनसे पारिश्रमिक या पुरस्कार अधिक देना चाहिये।

एक ही कारणसे विनिमयकी दर बढ़ जाती हैं। जहाँ जितने अधिक कारण होंगे वहां विनिमयकी दर उतनी ही अधिक होगी। यदि अतिसमताके कारण इनकी विशेष कीमत न चुकाई जायगी तो इन विशेषताओंका नाश होगा और मिलना अशक्य होगा। इस प्रकार अतिसमता हर तरह अनुचित है। वह अन्यायपूर्ण भी है और अव्यावहारिक भी।

६—अतिविषमता रोकनेके लिये प्रारम्भके दो नियम पाले जाने चाहिये, साथ ही विनिमय क्षेत्र में अन्तरकी सीमा निश्चित कर देना चाहिये। हां! उसमें देशकालका विचार जरूर करना चाहिये। साधारणतः भारतकी वर्तमान परिस्थिति के अनुसार यह अन्तर एक और पचाससे अधिक न होना चाहिए। यदि साधारण चपरासीको ३०) मासिक मिलता है तो प्रधानमंत्री तथा राष्ट्रपतिको इससे पचासगुणे १५००) से अधिक न मिलना चाहिए।

७—उपार्जित सम्पत्तिके संग्रह करने पर अंकुश रहना चाहिए। पूंजीके रूपमें अधिक सम्पत्ति न रहना चाहिए, भोगोपभोगकी सामग्रीके रूपमें रहना चाहिए। जो आदमी रुपया आदि जोड़ता चला जाता है वह भोगोपभोगकी चीजें कम खरीदता है इससे उन चीजोंकी खपत घट जाती है और खपत घटजानेसे उन चीजों को तैयार करने वालोंमें बेकारी बढ़ जाती है। इसलिए व्यवस्था ऐसी होनी चाहिए कि लोग जो पायें उसे या उसका अधिकांश भोग डालें। अमुक हिस्सा संकटके समयके लिए सुरक्षित रक्खें, जिससे संकटमें उधार न लेना पड़े।

फिर भी यदि कोई पूंजीके रूपमें या रुपयाके रूपमें अधिक संग्रह करले तो उसका फर्ज है कि वह अपनी बचतका बहुभाग सार्वजनिक सेवाके क्षेत्रमें दान कर जाय या मृत्युकर द्वारा उससे ले लिया जाय।

इस नियमसे अतिविषमतापर काफी अंकुश पड़ेगा।

अतिसमताके आसमानी गीत गाना स्वरपर वञ्चनाके सिवाय कुछ नहीं है और अतिविषमता चालू रखना इन्सान को हैवान और शैतान में बांट देना है, इसलिए निरतिवादी समताका ही प्रचार होना चाहिए। —संगम से

मेरीभावनाका नया संस्करण

'मेरीभावना' एक राष्ट्रीय कविता है जिसका पाठ करना प्रत्येक व्यक्तिको अपने मानव जीवनको ऊँचा उठानेके लिए अत्यन्त आवश्यक है। वीरसेवामन्दिरसे उसका अभी हालमें संशोधित नया संस्करण प्रकाशित हुआ है। जो अच्छे कागज पर छपा है। बांटने या थोक खरीदने वालोंको ५) सैकड़ाके हिसाबसे दिया जाता है। एक प्रतिका मूल्य एक आना है। आर्डर देकर अनुग्रहीत करें।

मैनेजर—वीरसेवा-मन्दिर ग्रंथमाला

१ दरियागंज, दिल्ली

काक-पिक-परीक्षा

(पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री)

काक (कौआ) और पिक (कोयल) दोनों तिर्यग्गतिके पंख वाले प्राणी हैं, दोनों ही काले हैं और दोनोंका आकार-प्रकार भी प्रायः एकसा ही है। कहा जाता है कि दोनोंके अंडोंका रूप-रंग और आकार एक ही होता है और इसलिए काकी भ्रमसे कोयलके अंडेको अपना अंडा समझ कर पालने लगती है। समय पर अंडा फूटता है और उसमेंसे बच्चा निकलता है, तो काकी उसे भी अपना बच्चा समझकर पालती-पोषती है और चुगा-चुगा-कर उसे बड़ा करती है। धीरे-धीरे जब वह बोलने लायक हो जाता है, तो काक उसे अपनी बोली सिखानेकी कोशिश करता है। पर कोयल तो वसन्त ऋतुके सिवाय अन्य मौसममें प्रायः कुछ बोलती नहीं है, अतएव कौआ उसके न बोलने पर झुंझलाता है और बार-बार चोंचें मार-मारकर उसे बुलानेका प्रयत्न करते हुए भी सफलता नहीं पाता, तो बच्चेको गूंगा समझकर अपने दिलमें बड़ा दुखी होता है। फिर भी वह हताश नहीं होता और उसे बुलानेका प्रयत्न जारी रखता है। इतनेमें वसन्तका समय आ जाता है, आम्रकी नव मंजरी खाकर उसका कंठ खुल जाता है। कौआ सदाकी भांति उसे अब भी 'कांव-कांव' का पाठ पढ़ाता है। पर वह कोयलका बच्चा अपने स्वभावके अनुसार 'कांव-कांव' न बोलकर 'कुहू-कुहू' बोलता है। कौआ यह सुनकर चकित होता है और यह बच्चा तो 'कपूत' निकला, ऐसा विचार कर उसका परित्याग कर देता है।

कौएके द्वारा इतने लम्बे समय तक पाले-पोषे जानेके कारण कोयलको 'पर-भृत' भी कहते हैं।

काक और कोयलकी समताको देख कर सहज ही प्रश्न उठता है कि फिर इन दोनोंमें क्या अन्तर है? किसी संस्कृत कविके हृदयमें भी यह प्रश्न उठा और उसे यह समाधान भी मिला:—

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः, को भेदः पिक-काकयोः।
वसन्तकाले सम्प्राप्ते, काकः काकः पिकः पिकः॥

अर्थात्—काक भी काला है और कोयल भी काली है, फिर काक और कोयलमें क्या भेद है? इस प्रश्नके उत्तरमें कवि कहता है—वसन्तऋतुके आने पर इन दोनों-का भेद दिखाई देता है, उस समय कोयलकी बोली तो लोगोंके मनको मोहित कर लेती है और कौएकी बोली अपने प्रति सबके दिलमें घृणा पैदा कर देती है। उस समय काककी कटुता और पिककी प्रियताका पता चलता है। तुलसीदास जीने बहुत ही ठीक कहा है:—

कागा कासों लेत है, कोयल काको देत।
तुलसी मीठे वचनसों, जग अपनो कर लेत॥

इस विवेचनका सार यह है कि काक और पिकमें बोलीका एक मौलिक या स्वाभाविक अन्तर है, जो दोनों-के भेदको स्पष्ट प्रगट करता है। इस अन्तरके अतिरिक्त दोनोंमें एक मौलिक अन्तर और है और वह यह कि कौएकी नजर सदा मैले पदार्थ—विष्ठा, मांस, थूक आदि पर रहेगी। उसे यदि एक ओर अन्नका ढेर दिखाई दे और दूसरी ओर विष्ठामें पड़े अन्नके दाने; तो वह जाकर विष्ठाके दानों पर ही चोंच मारेगा, अन्नके ढेर पर नहीं। इसी प्रकार घी और नाकका मल एक साथ दिखाई देने पर भी वह नाकके मल पर पहुँचेगा, घी पर नहीं। कौएकी दृष्टि सदा अपवित्र गन्दी और मैली चीजों पर ही पड़ेगी। पर कोयलका स्वभाव ठीक इसके बिल्कुल विपरीत होता है। वह कभी मैले और गन्दे पदार्थोंको खाना तो दूर रहा, उन पर नजर भी नहीं डालती, न कभी गंदे स्थानों पर ही बैठती है। जब भी बैठेगी—वृक्षोंकी ऊँची शाखाओं पर ही बैठेगी और उनके नव, कोमल पल्लवों और पुष्पोंको ही खायगी। काककी मनो-वृत्ति अस्थिर और दृष्टि चंचल रहती है, पर कोयलकी मनोवृत्ति और दृष्टि स्थिर रहती है। इस प्रकार काक और कोयलमें खान-पान, बोली, मनोवृत्ति और दृष्टि सम्बन्धी तीन मौलिक अन्तर हैं।

शंका—तिर्यग्गतिका जीव तथा आकार-प्रकारकी एकसमता होने पर भी दोनोंमें उपर्युक्त तीन मौलिक विषमताएं उत्पन्न होनेका क्या कारण है?

समाधान—तिर्यंचोंमें उत्पन्न होनेका कारण मायाचार अर्थात् छल-कपटरूप प्रवृत्ति बतलाई गई है। जो जीव इस भवमें दूसरोंको धोखा देनेके लिए कहते कुछ और हैं, करते कुछ और हैं, तथा मनमें कुछ और ही रखते हैं, वे आगामी भवमें तीर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं। इस आगम-नियमके अनुसार जब हम काक और पिकके पूर्वभवोंके कृत्यों पर विचार करते हैं, तो ज्ञात होता है कि उन दोनों-के तिर्यंचोंमें उत्पन्न करानेका कारण मायाचार एकसा रहा

है, इस लिए दोनों तिर्यंचोंमें उत्पन्न हुए। तिर्यंचोंमें भी प्रधानतः दो जातियां हैं—पशु जाति और पक्षी जाति। जो केवल उदर-पूर्तिके लिये मायाचार करते हैं, मेरा मायाचार प्रगट न हो जाय, इस भयसे सदा शंकित-चित्त रहते हैं, मायाचार करके तुरन्त नौ-दो ग्यारह हो जाते हैं, या भागनेकी फ़िक्रमें रहते हैं, वे पक्षी जातिके जीवोंमें उत्पन्न होते हैं। जो उदर-पूर्तिके अतिरिक्त समाजमें बड़ा बनने, लोकमें प्रतिष्ठा पाने और धन उपार्जन करने आदिके लिए मायाचार करते हैं, वे पशुजातिके तिर्यंचोंमें उत्पन्न होते हैं। तदनुसार काक और कोयलके जीवोंने अपने पूर्वभवोंमें एकसा मायाचार किया है, अतः इस भवमें एकसा रूप रङ्ग और आकार प्रकार पाया है। परन्तु उन दोनोंके जीवोंमेंसे जिसका जीव मायाचार करते हुए भी दूसरोंके दोषों ऐबों और अवगुणों पर ही सतर्क और चंचल दृष्टि रखता था, अखाद्य वस्तुओंको खाया करता था, तथा बातचीतमें हर एकके साथ समय-असमय कांव-कांव(व्यर्थ बकवाद)किया करता था वह तदनुकूल संस्कारोंके कारण काककी पर्यायमें उत्पन्न हुआ। किन्तु जो जीव काकके जीवके समान मायाचार करते हुए भी दूसरोंके दोषों, ऐबों और अवगुणों पर नज़र न रखकर गुणों और भलाइयों पर नज़र रखता था, स्थिर मनोवृत्ति और अचंचल दृष्टि था, अखाद्य और लोकनिंद्य पदार्थोंको नहीं खाता था और लोगोंके साथ बातचीतके समय हित, मित और प्रिय बोलता था, वह उस प्रकारके संस्कारोंके कारण कोयलकी पर्यायमें उत्पन्न हुआ, जहां वह स्वभावतः ही मीठी बोली बोलता है, असमयमें नहीं बोलता, ऊंची जगह बैठता है और उत्तम ही खान-पान रखता है। पूर्वभवमें बीज रूपसे बोये गये संस्कार इस भवमें अपने-अपने अनुरूप वृक्षरूपसे अंकुरित पुष्पित और फलित हो रहे हैं। कौएमें जो बुरापन और बोलीकी कटुता, तथा कोयलमें जो भलापन और बोलीकी मिष्टता आज दृष्टिगोचर हो रही है, वह इस जन्मके उपार्जित संस्कारोंका फल नहीं, किन्तु पूर्वजन्मके उपार्जित संस्कारोंका ही फल है।

हमें काकवृत्ति छोड़कर दैनिक व्यवहारमें पिकके समान मधुर और मितभाषी होना चाहिए।

विश्वकी अशान्तिको दूर करनेके उपाय

(परमानन्द जैन शास्त्री)

विश्व-अशान्तिके कारण

आजके इस भौतिक युगमें सर्वत्र अशान्ति ही अशांति दृष्टि गोचर हो रही है। संसारका प्रत्येक मानव सुख-शांतिका इच्छुक है, परन्तु वह घबराया हुआ-सा दृष्टिगोचर होता है। उसकी इस अशान्तिका कारण इच्छाओंका अनियन्त्रण, अर्थप्राप्ति, साम्राज्यवादकी लिप्सा, भोगाकांक्षा और यश प्रतिष्ठा आदि हैं। संसार विनाशकारी उस भीषण युद्धकी विभीषिकासे ऊब गया है। एटमबम और हाइड्रोजनबमसे भी अधिक विनाशकारी अस्त्र शस्त्रोंके निर्माणकी चर्चा उसकी आन्तरिक शान्तिको खोखला कर रही है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको निगल जाने, उनकी स्वतन्त्रतामें बाधा डालने अथवा हड़प जानेके लिये तय्यार है। एक देश दूसरे देशकी श्री और धन-सम्पत्ति पर अपना अधिकार कर अपना प्रभुत्व चाहता है, इतना ही नहीं किन्तु उन देशवासियोंको पराधीन एवं गुलाम बनाना चाहता है। विनाशकारी उन अस्त्र-शस्त्रोंकी चका-चौंधमें वह अपनी कर्तव्यनिष्ठा और न्याय अन्यायकी समतुलाको खो बैठता है, वह साम्राज्यवादकी झूठी लिप्सामें राजनीतिके अनेक दाव-पेंच खेल कर अपनेको समुन्नत सुखी एवं समृद्ध देखना चाहता है और दूसरेको अविकल-गुलाम निर्धन एवं दुखी, राष्ट्र और देशोंकी बात जाने दीजिये। मानव-मानवके बीच परिग्रहकी अनन्ततृष्णा और स्वार्थ तत्परताके कारण गहरी खाई हो गई है, उनमेंसे कुछ लोग तो अपनेको सर्व प्रकारसे सुखी और समुन्नत देखना चाहते हैं और दूसरेको निर्धन एवं दुखी। दूसरेकी सम्पत्ति पर कब्जा करना चाहता है। और उसे संसारसे प्रायः समाप्त करनेकी भावना भी रखता है इस प्रकारकी दुर्भावनाएं ही नहीं हैं किन्तु इस प्रकारकी अनेकों घटनाएं भी घटित हो रही हैं जो अशान्तिकी जनक हैं और अहिंसाधर्मसे पराङ्मुख होनेका स्पष्ट संकेत करती हैं। इसी कारण

संसारका प्रत्येक देश विविध उपायोंसे अपनी शक्तिको संचित करने और एक दूसरेको नीचा दिखानेमें लगे हुए हैं। इस तरह प्रत्येक देशकी खुदगर्जी (स्वार्थ तत्परता) ही उन्हें पनपने नहीं दे रही हैं। और संसारके सभी मानव आगत युद्धकी उस भयानक विभीषिकासे सन्त्रस्त हो रहे हैं—भयभीत हैं अशान्त और उद्विग्न हैं: वे शान्तिके इच्छुक होते हुए भी बेचैन हैं; क्योंकि उनके सामने एटमबमसे होने वाले हिरोशिमाके विनाशक परिणाम सामने दिख रहे हैं। भौतिक अस्त्र शस्त्रोंका निर्माण एवं संग्रह उनकी उस विनाशसे रक्षा करनेमें नितान्त असमर्थ है।

युद्धसे कभी शान्ति नहीं मिलती प्रत्युत अशान्ति भुखमरी एवं निर्धनता (गरीबी) तथा बेकारी बढ़ती है इससे मानव परिचित है और युद्धोत्तर कठिनाइयोंको भोग कर अनुभव भी प्राप्त कर चुका है। अतः युद्ध किसी तरह भी शान्तिका प्रतीक नहीं हो सकता। तो फिर उक्त अशांतिके दूर करनेका क्या उपाय है?

अशान्तिके दूर करनेका उपाय अहिंसा

विश्वकी इस अशान्तिको दूर करनेका एक ही अमोघ उपाय है और वह है अहिंसा। यही एक ऐसा शस्त्र है जिस पर चलनेसे प्रत्येक मानव अपनी सुरक्षाकी गारन्टी कर सकता है और अपनी आन्तरिक अशान्तिको दूर करनेमें समर्थ हो सकता है। जब तक मानव मानवताके रहस्यसे अपरिचित रहेगा अर्थसंग्रह अथवा परिग्रहकी अपार तृष्णारूपी दाहसे अपनेको जलाता रहेगा तब तक वह अहिंसाकी उस महत्तासे केवल अपरिचित ही नहीं रहेगा किन्तु विश्वकी उस अशान्तिसे अपनेको संरक्षित करनेमें सर्वथा असमर्थ रहेगा। अहिंसा जीवन-प्रदायनी शक्ति है वह अहिंसाकी ही महत्ता है जो हम समष्टिरूपसे एक स्थानमें बैठ सकते हैं, एक दूसरेके विचारोंको सुन सकते हैं, एक दूसरेके सुख दुःखमें काम आते हैं, उनमें प्रेमभावकी वृद्धि करनेमें समर्थ हो सकते हैं। यदि अहिंसा हमारा स्वाभाविक धर्म न होता तो हम कभी समष्टिमें एक स्थान पर प्रेमसे बैठ भी नहीं सकते, विचार सहिष्णुता होना तो दूरकी बात है। हम कभी-कभी दूसरेके वचनोंको सुनकर आग-बबूला हो जाते हैं अशान्त होकर अपने सन्तुलनको खोकर असहिष्णु बन जाते हैं. यह हमारी ही कमजोरी है, कायरता है, पाप है, हिंसा है। इस पापसे छुटकारा अहिंसाके बिना नहीं हो सकता।

अहिंसा आत्माका गुण है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति वीर पुरुषमें होती है, कायरमें नहीं; क्योंकि वह आत्मघाति है, जहां वीरता और आत्म-निर्भयता है वहीं अहिंसा है। और जहां कायरता, बुजदिली एवं भयशीलता है वहां हिंसा है। कायरताके समान संसारमें अन्य कोई पाप नहीं है; क्योंकि वह पापोंको प्रश्रय अथवा आश्रय देती है। कायर मनुष्य मानवीय गुणोंसे भी वंचित रहता है, उसकी आत्मा हर समय डरपोक बनी रहती है और वह किसी एक विषयमें स्थिर नहीं हो पाता। उस पर दुःख और उद्वेग अपना अधिकार किये रहते हैं उसका स्वभाव एक प्रकारसे दब्बू हो जाता है वह दूसरोंकी कुत्सितवृत्तिके खिलाफ़ या उनके असद्व्यवहारके प्रतिपक्षमें कोई काम नहीं कर सकता, किन्तु वह हिचकता भयखाता और शंकाशील बना रहता है कि कहीं वह अमुक बुरे कार्यमें मेरा नाम न ले दे—मुझे ऐसे दुष्कर कार्यमें न फंसा दे, जिससे फिर निकलना बड़ी कठिनतासे हो सके, इस तरह उसकी भयावह आत्मा अत्यन्त निर्बल और दयनीय हो जाती है, वह हेयोपादेयके विज्ञानसे भी शून्य हो जाता है इन्हीं सब कारणोंसे कायरता दुर्गुणोंकी जनक है और मानवकी अत्यन्त शत्रु है। परन्तु अहिंसा वीर पुरुषकी आत्मा है अथवा वही बलवान् पुरुष उसका अनुष्ठान कर सकता है जिसकी दृष्टि विकार रहित समीचीन होती है उसमें कायरतादि दुर्गुण अपना प्रभाव अंकित करनेमें समर्थ नहीं हो पाते; क्योंकि उसके क्षमा, वीरता, निर्भयता और धीरतादि गुण प्रकट हो जाते हैं जिनके कारण उसकी दृष्टि विकृत नहीं हो पाती, वह कभी शंकाशील भी नहीं होता किन्तु निर्भय और सदा निःशंक बना रहता है। उसमें दूसरोंके दोषोंको क्षमा करने अथवा पचानेकी क्षमता एवं सामर्थ्य होती है। वह आत्म प्रशंसा और पर छिद्रान्वेषण की वृत्तिसे रहित होता है, और अपनेको निरन्तर क्रोधादि-दोषोंसे संरक्षित रखनेका प्रयत्न करता रहता है, उसकी निर्मल परिणति ही अहिंसाकी जनक है।

भगवान महावीरने आजसे ढाई हजार वर्ष पहले मानव जीवनकी कमजोरियां, अपरिमित इच्छाओं—अभीष्ट परिग्रहकी सम्प्राप्तिरूप आशाओं—और मानवताशून्य अनुदार विचारों आदिसे समुत्पन्न इन भयानक

परिस्थितियोंका विचार कर जगतकी इस वेदनाको और उनके अपरिमित दुःखोंसे छुटकारा दिलानेके लिए अहिंसा-का उपदेश दिया, इतना ही नहीं किन्तु स्वयं उसे जीवनमें उतार कर—अहिंसक बन कर और अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त कर लोकमें अहिंसाका वह आदर्श हमारे सामने रक्खा है। भगवान महावीरकी इस देनका भारत-की तत्कालीन संस्कृतियों पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वे अहिंसा धर्मको अपनाने ही नहीं लगीं प्रत्युत उसको उन्होंने अपने-अपने धर्मका अंग भी बनानेका यत्न किया है। भगवान महावीरने अहिंसाके साथ अपरिग्रहवाद, कर्मवाद और साम्यवादका भी अनुपम पाठ पढ़ाया था। उनके ये चारों ही सिद्धान्त प्रत्येक मानवके लिए कसौटी है। उन पर चलनेसे जीवमात्रको अपार दुःखोंकी परतन्त्रतासे मुक्ति मिल जाती है, और वह सच्ची सुख-शान्तिका अनुभव कर सकता है।

महात्मा बुद्धने भी उसीका अनुसरण किया, परन्तु वे उसके सूक्ष्म रूपको नहीं अपना सके। उनके शासन-में मरे हुए जीवका मांस खाना वर्जित नहीं है। महात्मा-गांधीने महावीरकी अहिंसा और सत्यका शक्त्यनुसार आंशिक रूपमें अनुसरण कर लोकमें अहिंसाकी महत्ताको चमकानेका प्रयत्न किया और लोकमें महात्मा पद भी प्राप्त किया, उन्होंने अपने जीवनमें राजनीतिमें भी अहिंसाका सफल प्रयोग कर दिखाया। महावीरकी अहिंसा आध्यात्मिक है उसकी साधनामें जीवनका अन्तस्तत्त्व सन्निहित है, जब कि राजनीतिकी अहिंसाका आध्यात्मि-कतासे कोई खास सम्बन्ध नहीं है फिर भी वह नैतिकतासे दूर नहीं है।

अहिंसाकी पूर्ण प्रतिष्ठासे जब जाति विरोधी जीवों-का—सिंह बकरी, चूहा बिल्ली नकुल सर्प आदिका—वैर-विरोध शान्त हो जाता है तब मानव मानवके विरोधका अन्त हो जाना कोई आश्चर्य नहीं है। इसीसे धर्मके विविध संस्थापकोंने अहिंसाको अपनाया है और अपने-अपने धर्मग्रन्थोंमें उसके स्थूल स्वरूपकी चर्चा कर उसकी महत्ताको स्वीकार किया है। अस्तु, यदि हम विश्वमें शान्तिसे रहना चाहते हैं तो हमारा परम कर्तव्य है कि हम अशान्तिके कारणोंका परित्याग करें—अपनी इच्छाओंका नियन्त्रण करें, अपरिग्रह और साम्यवादका आश्रय लें, अर्थसंग्रह, साम्राज्यवादकी लिप्सा और अपनी यश प्रतिष्ठादिके मोहका संवरण करते हुए अपने विचारों-को समुदार बनावें, और अहिंसाके दृष्टिकोणको पूर्णतया पालन करते हुए ऐसा कोई भी व्यवहार न करें जिससे दूसरों को कष्ट पहुँचे। तभी हम युद्धकी विभीषिकासे बच सकते हैं। इस अशान्तिसे एकमात्र अहिंसा ही हमारा उद्धार कर सकती है। और हमें सुखी तथा समृद्ध बनाने में समर्थ है।

मौजमाबादके जैन शास्त्रभंडारमें उल्लेखनीय ग्रन्थ

श्रीकुमारश्रमण क्षुल्लक सिद्धिसागरजीका चतुर्मास इस वर्ष मौजमाबाद (जयपुर) में हो रहा है। आपने मेरी प्रेरणाको पाकर वहांके ग्रन्थभण्डारमें स्थित कुछ अप्रकाशित महत्वपूर्ण ग्रन्थोंकी सूची भेजी है जिसे पाठकों-की जानकारीके लिये प्रकाशित की जा रही है। इस सूची परसे स्पष्ट है कि राजस्थानके ग्रन्थ भण्डारोंमें अपभ्रंश और संस्कृत भाषाके अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थ पूर्ण-अपूर्ण रूपमें विद्यमान हैं, जो अभी तक भी प्रकाशमें नहीं आ सके हैं। क्षुल्लकजी स्वयं विद्वान हैं और उन्हें इतिहास और साहित्यके प्रति अभिरुचि है, लिखने और टीकादि करनेका भी उत्साह है, अतएव वे जहाँ जाते हैं वहांके मन्दिरमें स्थित शास्त्रभण्डारको अवश्य देखते हैं और प्राप्त हुए कुछ खास ग्रन्थोंका नोट कर उनका संक्षिप्त परिचय भी कभी-कभी पत्रोंमें प्रकट कर देते हैं।

आज समाजमें मुनि, क्षुल्लक ब्रह्मचारी और अनेक त्यागीगण मौजूद हैं। यदि वे अपनी रुचिको जैनसाहित्य-के समुद्धारकी ओर लगानेका प्रयत्न करें जैसा कि श्वेतांबर मुनि कर रहे हैं तो जैनसाहित्यका उद्धार कार्य सहज ही सम्पन्न हो सकता है। आत्म-साधनके आवश्यक कार्योंके अतिरिक्त शास्त्रभण्डारोंमें ग्रन्थोंके अवलोकन करने उनकी सूची बनाने और अप्रकाशित महत्वके ग्रन्थोंको प्रकाशमें लाने की ओर प्रयत्न किया जाय तो समाजका महत्वपूर्ण

अधिकांश कार्य थोड़ेसे समयमें चल सकता है और उससे समाज बहुत सी दिक्कतोंसे भी बच सकता है। चतुर्मासमें त्यागीगण एक ही स्थान पर चार महीना व्यतीत करते हैं। यदि वे आत्मकल्याणके साथ जैनसंस्कृति और उसके साहित्यकी ओर अपनी रुचि व्यक्त करें तो उससे सैकड़ों प्राचीन ग्रन्थोंका पता चल सकता है और दीमक कीटकादिसे उनका संरक्षण भी हो सकता है। आशा है मुनि, क्षुल्लक ब्रह्मचारी और त्यागीगण साहित्यसेवाके इस पुनीत कार्यमें अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करेंगे।

खेद है आज समाजमें जिनवाणीके प्रति भारी उपेक्षा चल रही है उसकी ओर न धनिकोंका ध्यान है, न त्यागियोंका और न विद्वानोंका है। ऐसी स्थितिमें जिनवाणीका संरक्षण कैसे हो सकता है? आज हम जिनवाणीकी महत्ताका मूल्यांकन नहीं कर रहे हैं और न उसकी सुरक्षाका ही प्रयत्न कर रहे हैं, यह बड़े भारी खेदका विषय है। समाजमें जिनवाणी माताकी भक्ति केवल हाथ जोड़ने अथवा नमस्कार करने तक सीमित है, जब कि जिनवाणी और जिनदेवमें कुछ भी अन्तर नहीं है—'नहि किंचिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयोः'—जो जैनधर्मके गौरवके साथ हमारे उत्थान-पतनकी यथार्थ मार्गोपदेशिका है।

समाज मन्दिरोंमें चाँदी सोनेके उपकरण टाइल और संगमर्मरके फर्श लगवाने, नूतन मन्दिर बनवाने, मूर्ति-निर्माण, करने, वेदी प्रतिष्ठा और रथमहोत्सवादि कार्योंके सम्पादनमें लगे हुए हैं। जब कि दूसरी समाजें अपने शास्त्रोंकी सम्हालमें लाखों रुपया लगा रही हैं। एक वाल्मीकि रामायणके पाठ संशोधनके लिए साढ़े आठ लाख रुपये लगानेका समाचार भी नवभारतमें प्रकाशित हो चुका है। इतना सब होते हुए भी दिगम्बर समाजके नेतागणोंका ध्यान इस तरफ नहीं जा रहा है वे अब भी अर्थसंचय और अपारतृष्णाकी पूर्तिमें लगे हुए हैं। उनका जैनसाहित्यका इतिहास, जैन शब्दकोष, जैन ग्रन्थसूची आदि महत्वके कार्योंको सम्पन्न करानेकी ओर ध्यान भी नहीं है। ऐसी स्थितिमें जिनवाणीके संरक्षण उद्धार और प्रसारका भारी कार्य, जो बहु अर्थ व्ययको लिए हुए है कैसे सम्पन्न हो सकता है? आशा है समाजके नेतागण, और विद्वान तथा त्यागीगण अब भी इस दिशामें जागरुक होकर प्रयत्न करेंगे, तो यह कार्य किसी तरह सम्पन्न हो सकते हैं। क्षुल्लकसिद्धिसागरजीसे हमारा सानुरोध निवेदन है कि वे जैनसाहित्यके समुद्धारमें और भी अधिक प्रयत्नशील होनेकी चेष्टा करेंगे।

क्षुल्लकजीने मौजमाबादके शास्त्रभण्डारकी जो सूची भेजी है इसके लिए हम उनके आभारी हैं। उस सूचीमेंसे जिन अप्रकाशित महत्वपूर्ण अन्य ग्रन्थभण्डारोंमें अनुपलब्ध ग्रन्थोंके नाम जान पड़े उनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है:—

१. नागकुमार चरित—यह ग्रन्थ संस्कृत भाषाका है और इसके कर्ता ब्रह्म नेमिदत्त हैं जो विक्रमकी १६वीं शताब्दीके विद्वान थे।

२. बुद्धिरसायन—इस ग्रन्थमें १७१ दोहे हैं? पुरानी हिन्दीमें लिखे गये हैं। इसके कर्ता कवि जिनवर हैं दोहा आचरण-सम्बन्धि सुन्दर शिक्षाओंसे अलंकृत हैं। उसके आदि अन्तके दोहे नीचे दिये जाते हैं:—

पढम (पढमि) ओंकार बुह, भासइ जिणवरुदेउ।
भासइ···वेद पुराण सिरु, सिव सुहकारण हे उ ॥१॥

\+ + +

पढत सुणंतहं जे वि णर, लिहवि लिहाइवि देइ।
ते सुह भुंजहिं विविह परि, जिणवरु एम भणेइ ॥३७१॥

यह गुच्छक सं० १५५१ का लिखा हुआ है जो त्रिभुवनकीर्ति नामके मुनिराजको समर्पण किया गया है। इससे स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ उक्त सवत् से पूर्व बनाया गया है, कब बनाया गया? यह विचारणीय है।

३.—इस गुच्छकमें ६ ग्रन्थ हैं—१ कोकिलापंचमीकथा २ मुकुट सप्तमीकथा, ३ दुधारसिकथा ४ आदित्यवारकथा, ५ तीनचउबीसीकथा, ६ पुष्पांजलिकथा ७ निर्दुखसप्तमीकथा, ८ निर्झरपंचमीकथा ९अनुप्रेक्षा। इन सब ग्रन्थोंके कर्ता ब्रह्म साधारण हैं जो भट्टारक नरेन्द्रकीर्तिके शिष्य थे। यह गुच्छक संवत् १५०८ का लिखा हुआ है, जिसकी पत्र संख्या २० है। जिससे मालूम होता है कि ये सब कथादि ग्रन्थ उक्त संवत् से पूर्वके रचे हुये हैं।

४. यदुचरिउ—(मुनिकामर) यह ग्रन्थ अपभ्रंश भाषामें रचा गया है। यह मुनि कनकामरकी दूसरी कृति जान पड़ती है परन्तु वह अपूर्ण है, इसके ४६ से ७० तक कुल २५ पत्र ही उपलब्ध हैं। शेष आदिके पत्र प्रयत्न करने पर शायद उक्त भंडारमें उपलब्ध हो जाँय, ऐसी सम्भावना है।

५. अजितपुराण—इस ग्रन्थमें जैनियोंके दूसरे तीर्थं-

कर अजितनाथका जीवन परिचय दिया हुआ है। जिसकी पत्र संख्या ७१ और १० संधियोंकी श्लोक संख्या २२०० श्लोक जितनी है। इस ग्रन्थके कर्ता कवि विजयसिंह हैं, परन्तु इनका परिचय मुझे अभी ज्ञात नहीं हो सका। यह ग्रंथ भव्य कामीरायके पुत्र देवपालके लिये लिखा गया है।

५. मार्गोपदेश श्रावकाचार—यह संकृत भाषाका सात संध्यात्मक ग्रन्थ है जिसकी पत्र संख्या १४ है, १२वाँ पत्र इसका अनुपलब्ध है, श्लोक संख्या ३११ है, जिनमेंसे ३०१ श्लोक मूलग्रन्थके हैं, शेष पद्य ग्रन्थकर्ताके परिचयको लिये हुए हैं इस ग्रन्थके कर्ता जिनदेव हैं। यह ग्रन्थ भट्टारक जिनचन्द्रके नामांकित किया हुआ है। ग्रन्थका मंगलपद्य निम्न प्रकार है:—

नत्वा वीरं त्रिभुवनगुरं देवराजाधिवंद्य,
कर्मारातिं जयति सकलां मूलसंघे दयालु।
ज्ञानैः कृत्वा निखिलजगतां तत्त्वमाद्दीषु वेत्ता,
धर्माधर्म कथयति इह भारते तीर्थराजः ॥१॥

६. अपभ्रंश कथा संग्रह—इसमें तीन कथायें दी हुई हैं जिनमें प्रथम कथा रोहिणी व्रत की है, जिसके कर्ता मुनि देवनंदी हैं। यह ग्रन्थ आमेर भंडारादिके गुच्छकोंमें भी है। दूसरी कथा, दुधारसिनरक उतारी नाम की है जिसके कर्ता विनयचन्द्र मुनि हैं। तीसरी कथा सुगन्ध दशमी नामकी है जिसके कर्ता सुप्रभाचार्य हैं।

७. योगप्रदीप—यह संस्कृत भाषाका ग्रन्थ है जिसके कर्ता संभवतः सोमदेव जान पड़ते हैं। इसका विशेष विचार ग्रंथ देख कर किया जा सकता है।

८. अज्ञात न्याय ग्रन्थ—यह न्याय शास्त्रका एक छोटा सा ग्रन्थ है जो परीक्षामुखके बादकी रचना है, रचना सरल और तर्कणा शैलीको लिये हुए है।

९. चौबीस ठाणा—(प्राकृत) यह ग्रंथ सिद्धसेनसूरी कृत है। इसमें चौबीस तीर्थंकरोंके जन्मादिका वर्णन गाथाबद्ध दिया हुआ है। यह कृति भी एक गुटकेमें संनिहित है।

१०. अहोरात्रिकाचार—यह ग्रन्थ पं० आशाधरजी कृत है जिसकी श्लोक संख्या ४० बतलाई गई है और जो एक गुच्छकमें संगृहीत है।

११. हंसा अनुप्रेक्षा—इस ग्रन्थके कर्ता अजितब्रह्म हैं।

१२. नेमिचरित—(अपभ्रंश) महाकवि पुष्पदन्त कृत यह ग्रन्थ भी एक गुच्छकमें संकलित है। इस चरित ग्रन्थको देख कर यह निश्चय करना चाहिये कि यह पुष्पदन्तकी स्वतन्त्र कृति है या महापुराणान्तर्गत ही नेमिनाथका चरित है।

१३. अमृतसार—यह ग्रन्थ ४ संधियोंको लिये हुए है।

१४. षट् द्रव्यनिर्णयविवरण

१५. गोम्मटसार पंजिका—यह जीवकाण्ड कर्मकाण्डकी एक संस्कृत प्राकृत मिश्रित पंजिका टीका है जिसके कर्ता मुनि गिरिकीर्ति हैं। इस ग्रन्थका विशेष परिचय बादको दिया जायगा।

१६. श्रुतभवनदीपक—यह भट्टारक देवसेन कृत संस्कृत भाषाका ग्रंथ है।

१७. रावण-दोहा—प्राकृत (गुच्छकमें)

१८. कल्याणविहाण—(अपभ्रंश) इस ग्रन्थ भण्डारमें वे सब ग्रंथ भी विद्यमान हैं जो दूसरे भंडारोंमें पाये जाते हैं। कुछ ग्रन्थोंकी मूल प्रतियाँ भी उपलब्ध हैं, यथा—सोमदेवाचार्यका यशतिलकचम्पू मूल, गोम्मटसारकर्मकाण्ड मूल, (यन्त्र रचना सहित)
सिद्धान्तसार प्रा० (यन्त्र रचना सहित)
राजवार्तिकमूल, और अमरकोशकी टीका वीर स्वामिकृत मौजूद है। —परमानन्द जैन

मंगल पद्य

सवैया इकतीसा

वंदू वद्धमान जाको ज्ञान है समन्तभद्र, गुण अकलंक रूप विद्यानन्द धाम है।
जाको अनेकान्तरूप वचन अबाध सिद्ध, मिथ्या अन्धकारहारी दीप ज्यों ललाम है ॥
भव्यजीव जासके प्रकाश तैं विलोके सब, जीवादिक वस्तुके समस्त परिणाम हैं।
वर्तो जयवन्त सो अनन्तकाल लोक मांहि, जाको ध्यान मंगल स्वरूप अभिराम हैं॥

—कविवर भागचन्द

श्रमण संस्कृतिमें नारी

(परमानन्द शास्त्री)

श्रमण संस्कृतिमें नारीका स्थान

श्रमण संस्कृतिमें भारतीय नारीका आत्म-गौरव लोकमें आज भी उद्दीपित है, वह अपने धर्म और कर्तव्यनिष्ठाके लिये जीती है। नारीका भविष्य उज्वल है, वह नरकी जननी है और मातृत्वके आदर्श गौरवको प्राप्त है। वैदिक परम्परामें नारीका जीवन कुछ गौरवपूर्ण नहीं रहा और न उसे धर्म-साधना द्वारा आत्मविकास करनेका कोई साधन अथवा अधिकार ही दिया गया, वह तो केवल भोगोपभोगकी वस्तु एवं पुत्र जननेकी मशीनमात्र रह गई थी। उसका मनोबल और आत्मबल पराधीनताकी बेड़ीमें जकड़ा हुआ होनेके कारण कुंठित हो गया था। वह अबला एवं असहाय जैसे शब्दों द्वारा उल्लेखित की जाती थी और पुरुषों द्वारा पद-पद पर अपमानित की जाती थी। उस समय जनता—"यत्र नार्यस्तु पूज्यंते रमंते तत्र देवताः" की नीतिको भूल चुकी थी। वेद मंत्रका पाठ अथवा उच्चारण करना भी उन्हें गुनाह एवं अपराध माना जाता था। जाति बन्धन और रीति-रिवाज भी उनके उत्थानमें कोई सहायक नहीं थे, बल्कि वे उन्हें और भी पतित करनेमें सहायक हो जाते थे। वैदिक-संस्कृतिकी इस संकीर्ण मनोवृत्तिवाली धाराके प्रवाहका परिणाम उस समयकी श्रमण संस्कृति और उनके धर्मानुयायियों पर भी पड़ा। फलतः उस धर्मके अनुयायियोंने भी पुराणादिग्रंथोंमें नारीकी निंदा की, उसे 'विषबेल', 'नरक पद्धति' तथा मोक्ष मार्गमें बाधक बतलाया। फिर भी श्रमण-संस्कृतिमें नारीके धर्म-साधनका—धर्मके अनुष्ठान द्वारा आत्म-साधनाका कोई अधिकार नहीं छीना गया, वे उपचार महाव्रतादिके अनुष्ठान द्वारा 'आर्यिका' जैसे महत्तरपदका पालन करती हुई अपने नारी-जीवनको सफल बनाती रही हैं।

तुलनात्मक अध्ययन

वैदिक संस्कृतिकी तरह बौद्ध परम्परामें भी स्त्रीका कोई धार्मिक स्थान नहीं था। आज से कोई ढाई हजार वर्ष पहले जैनियोंके अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीरके संघमें लाखों स्त्रियोंको दीक्षित देखकर और उनके द्वारा श्राविका, क्षुल्लिका और आर्यिकाके व्रतोंके अनुष्ठान द्वारा होने वाली धार्मिक उदारताको देखकर, गौतमबुद्धके शिष्य आनन्द से न रहा गया, उसने बुद्धसे कहा कि आप अपने संघमें स्त्रियोंको दीक्षित क्यों नहीं करते, तब बुद्धने कहा कि कौन झगड़ा मोल ले। उस समय वैदिक संस्कृतिका बोलबाला था। उसके खिलाफ प्रवृत्ति करना साधारण कार्य नहीं था। इससे स्पष्ट है कि उस समय वैदिक संस्कृतिके प्राबल्यके कारण बुद्ध भी स्त्रियोंको अपने संघमें दीक्षित करनेमें संकोच करते थे। परन्तु महावीरने उसे कार्यरूपमें परिणतकर नारीका समुद्धार ही नहीं किया, प्रत्युत एक आदर्श मार्गको भी जन्म दिया। पश्चात् आनन्दकी प्रेरणा स्वरूप बुद्धने भी स्त्रियोंको दीक्षित करना शुरु कर दिया। ऊपरके उल्लेखसे स्पष्ट है कि श्रमणसंस्कृतिमें आंशिक रूपसे नारीका प्रभुत्व बराबर कायम रहा। फिर भी नारीने उस कालमें भी अपने आदर्श जीवनकी महत्ताको नष्ट नहीं होने दिया, किन्तु अपनी आनको बराबर कायम रखते हुए उसे और भी समुज्वल बनानेका यत्न किया।

सीताका आदर्श

जिस तरह पुरुषोंमें सेठ सुदर्शनने ब्रह्मचर्यव्रतके अनुष्ठान द्वारा उसकी महत्ताको गौरवान्वित किया; ठीक उसी तरह एक अकेली भारतीय सीताने अपने सतीत्व-संरक्षणका जो कठोरतम परिचय दिया उससे उसने केवल स्त्री-जातिके कलंकको ही नहीं धोया; प्रत्युत भारतीय नारीके अवनत मस्तकको सदाके लिए उन्नत बना दिया। जब रामचंद्रने सीतासे अग्निकुण्डमें प्रवेश करनेकी कठोर आज्ञा द्वारा अपने सतीत्वका परिचय देनेके लिये कहा, तब सीताने समस्त जन समूहके समक्ष यह प्रतिज्ञा की, कि यदि मैंने मनसे, वचनसे, कायसे रघुको छोड़कर स्वप्नमें भी किसी अन्य पुरुषका चिंतन किया हो तो मेरा यह शरीर अग्निमें भस्म हो जाय, अन्यथा नहीं, इतना कहकर सीता उस अग्निकुण्डकी भीषण ज्वालामें कूद पड़ी और सती साध्वी होनेके कारण वह उसमें खरी निकली[1]।

१—सर्वप्राणिहिताऽऽचार्य चरणौ च मनस्थितौ।
प्रणम्योदारगंभीरा विनीता जानकी जगौ॥
कर्मणा मनसा वाचा, रामं मुक्त्वा परं नरं।
समुद्वहामि न स्वप्नेप्यन्यं सत्यमिदं मम॥
यद्येतदनृतं वच्मि तदा मामेष पावकः।
भस्मसाद्भावमप्राप्तामपि प्रापयतु क्षणात्॥

—पद्मचरित्र १०५, २४-२६

लोकोपवादका वह कलङ्क जो जबर्दस्ती उसके शिर मढ़ा गया था वह सदाके लिये दूर हो गया और सीताने फिर संसारके इन भोग विलासोंको हेय समझकर, रामचन्द्रकी अभ्यर्थना और पुत्रादिकके मोहजालको उसी समय छोड़कर पृथ्वीमती आर्यिकाके निकट आर्यिकाके व्रत ले लिये और अपने केशोंको भी दुखदायी समझकर उनका भी लोच कर डाला२। कठिन तपश्चर्या द्वारा उस स्त्री पर्यायका भी विनाशकर स्वर्गलोकमें प्रतीन्द्र पद प्राप्त किया।

भारतीय श्रमण-परम्परामें केवल भगवान् महावीरने नारीको सबसे पहले अपने संघमें दीक्षितकर आत्म-साधनाका अधिकार दिया हो, यही नहीं; किन्तु जैनधर्मके अन्य २३ तीर्थंकरोंने भी अपने-अपने संघमें ऐसाही किया है; जिससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि श्रमणसंस्कृतिने पुरुषोंकी भांतिही स्त्रियोंके धार्मिक अधिकारोंकी रक्षा की—उनके आदर्शको भी कायम रहने दिया, इतना ही नहीं किन्तु उनके नैतिक जीवनके स्तरको भी ऊँचा उठानेका प्रयत्न किया है। भारतमें गान्धी-युगमें गान्धीजीके प्रयत्नसे नारीके अधिकारोंकी रक्षा हुई है उन्होंने जो मार्ग दिखाया उससे नारी-जीवनमें उत्साह की एक लहर आगई है, और नारियाँ अपने उत्तरदायित्वको भी समझने लगी हैं। फिर भी वैदिक संस्कृतिमें धर्म-सेवन-का अधिकार नहीं मिला।

नारियोंके कुछ कार्यों का दिग्दर्शन

भारतीय इतिहासको देखनेसे इस बातका पता चलता है कि पूर्वकालीन नारी कितनी विदुषी, धर्मात्मा, और कर्तव्य परायण होती थी। वह आजकलकी नारीके समान 'अबला' या कायर नहीं होती थी, किन्तु निर्भय, वीरांगना और अपने सतीत्वके संरक्षणमें सावधान होती थी जिनके अनेक उदाहरण ग्रन्थोंमें उपलब्ध होते हैं। यह सभी जानते हैं कि नारीमें सेवा करनेकी अपूर्व क्षमता होती है। पतिव्रता केवल पतिके सुख-दुखमें ही शामिल नहीं रहती है, किन्तु वह विवेक और धैर्यसे कार्य करना भी जानती है। पुराणोंमें ऐसे कितने ही उदाहरण मिलते हैं जिनमें स्त्रीने पतिकी सेवा करते हुए, उसके कार्यमें और राज्यके संरक्षणमें तथा युद्धमें सहायता की है अवसर आने पर शत्रुके दांत खट्टे किये हैं×। पतिके वियोगमें अपने राज्यकार्यकी संभाल यत्नके साथ की है। इससे नारीकी कर्तव्यनिष्ठाका भी बोध होता है। नारी जहाँ कर्तव्य निष्ठ रही है। वहां वह धर्मनिष्ठा भी रही है। धर्म-कर्म और व्रतानुष्ठानमें नारी कभी पीछे नहीं रही है। अनेक शिलालेखोंमें भारतीय जैन-नारियों द्वारा बनवाये जाने वाले अनेक विशाल गगन चुम्बी मंदिरोंके निर्माण और उनकी पूजादिके लिये स्वयं दान दिये और दिलवावाए थे। अनेक गुफाओंका भी निर्माण कराया था, जिनके कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

१—कलिङ्गाधिपति राजा खारवेलकी पट्टरानीने कुमारी पर्वत पर एक गुफा बनवाई थी, जिस पर आज भी निम्न लेख अङ्कित है और जो रानी गुफाके नामसे उल्लेखित की जाती है:—

(१) 'अरहंत पसादान (म्) कालिंगा (न) म् समणानम् लेणं कारितं राजिनो ल (।) लाक (स)

(२) हथिस हंस-पपोतस धुना कलिंग—च···(खा) र वे ल स

(३) आग महीषी या का लेणं।'

'मनसिवचसि काये जागरे स्वप्नमार्गे,
मम यदि पतिभावो राघवादन्यपुंसि।
तदिह दह शरीरं पावके मामकीनं,
स्वकृत विकृत नीतं देव साक्षी त्वमेव॥"

२—इत्युक्त्वाऽभिनवाशोकपल्लवोपमपाणिनः।
मूर्द्धाजान—स्वमुद्धृत्य पद्मायाऽर्पयदस्पृहा ॥६७॥
इन्द्रनीलद्युतिच्छायान्-सुकुमारन्मनोहरान्।
केशान-वीक्ष्य ययौ मोहं रामोऽपतश्चभूतले ॥७७॥
यावदाश्वासनं तस्य प्रारब्धं चंदनादिना।
पृथ्वीमत्यार्यया तावद्दीक्षिता जनकात्मजा ॥७८॥
ततो दिव्यानुभावेन सा विघ्न परिवर्जिता।
संवृत्ता श्रमणा साध्वी वस्त्रमात्रपरिग्रहा ॥७९॥

—पद्मचरित पृ० १०५

×चन्द्रगिरि पर्वतके शिलालेख नं० ६१ (१३९) में, जो 'वीरगल' के नामसे प्रसिद्ध है उसमें गङ्गनरेश रक्कसमणिके 'वीर योद्धा' 'बद्देग' (विद्याधर) और उसकी पत्नी सावियब्बेका परिचय दिया हुआ है, जो अपने पतिके साथ 'वागेयूर' के युद्धमें गई थी और वहां शत्रु से लड़ते हुए वीरगति-को प्राप्त हुई थी। लेखके ऊपर जो चित्र उत्कीर्ण है उसमें वह घोड़े पर सवार है और हाथमें तलवार लिये हुए हाथी पर सवार हुए किसी वीर पुरुषका सामना कर रही है। सावयब्बे रूपवती और धर्मनिष्ठ जिनेन्द्र भक्तिमें तत्पर थी। लेखमें उसे रेवती, सीता और अरुन्धतीके सदृश बतलाया गया है।

२—चतुर्थ महाराजा शांति वर्मा, जो पृथ्वी रामके समान ही जैन धर्मके उपासक थे; इनकी रानी चांदकब्बे भी जिन-धर्मकी परम उपासिका थी। शांति वर्माने सन् ९८१ (वि० सं० १०३८) में सोन्दत्तिमें जिनमन्दिरका निर्माण कराया था और १५० महत्तर भूमि राजाने और उतनी ही भूमि रानी चांदकब्बेने बाहुबली देवको प्रदान की थी, जो व्याकरणाचार्य थे।

—देखो, सोन्दत्ति शिला ले० नं० १६०।

३—विष्णु वर्धनकी भार्या शान्तलदेवीने सन् ११२३ (वि० सं० ११३० में) गन्ध वारण वस्ति बनवाई। यह मार-सिंह माचिकब्बे की पुत्री थी और जैन-धर्ममें सुदृढ और गान नृत्य विद्यामें अत्यन्त चतुर थी।

४—सोदेके राजा की रानीने, कारणवश पतिके धर्म-परिवर्तन कर लेनेके बाद भी पतिकी असाध्य बीमारीके दूर होने तथा अपने सौभाग्यके अक्षुण्ण बने रहने पर अपने नासिका भूषण (नथ) को, जो मोतियोंका बना हुआ था, बेचकर एक जैन-मन्दिर बनवाया था और सामने एक तालाब भी जो इस समय 'मुत्तिन केरे' के नामसे प्रसिद्ध है।

५—आहव मल्ल राजाके सेनापति मल्लपकी पुत्री अतिमब्बेने, जो जैनधर्मकी विशेष श्रद्धालु और दानशीला थी, उसने चांदी सोनेकी हजारों जिन प्रतिमाएँ स्थापित कीं और लाखों रुपयेका दान किया था।

६—"होयसल नरेश बल्लाल, बल्लाल द्वितीयके मन्त्री चन्द्रमौली वेदानुयायी ब्राह्मण थे। परन्तु उनकी पत्नी 'आचियक्क' जिनधर्म परायणा थी और वीरोचित क्षात्र-धर्ममें निष्ठ थी, उसने बेल्गोलमें पार्श्वनाथ वस्ति-का निर्माण कराया था।'

—देखो, श्रवण बेलगोल लेख नं० ४६४

जबलपुरमें 'पिसनहारीकी मढ़िया' के नामसे एक जैन मन्दिर प्रसिद्ध है जिसे एक महिलाने आटा पीस-पीसकर बड़े भारी परिश्रमसे पैसा जोड़ कर भक्तिवश अपने द्रव्यको सत्कार्यमें लगाया था। आज भी अनेक मंदिर और मूर्तियाँ तथा धर्मशालाएँ अनेक नारियोंके द्वारा बनवाई गई हैं, जिनका उल्लेख लेख वृद्धिके भयसे नहीं किया है।

नारियोंके धर्माचरण और उनके सन्यास लेनेके कुछ उल्लेख—

नारीको तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र और अन्य अनेक पुण्यात्मा महापुरुषोंके उत्पन्न करनेका भी सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जिन्होंने संसारके दुःखी जीवोंके दुःखोंको दूर करने-के लिये भोग-विलास और राज्यादि विभूतियोंको छोड़कर आत्म-साधना द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करनेका प्रयत्न किया है। अनेक स्त्रियोंने आर्यिकाओंके व्रतोंको धारणकर आत्म-साधनाकी उस कठोर तपश्चर्याको अपनाया है और आत्मा-नुष्ठान करते हुए मन और इन्द्रियोंको वशमें करनेका भी प्रयत्न किया है। साथ ही, आगत उपसर्ग परीषहोंको भी समभावसे सहन किया है और अन्त समयमें समाधि पूर्वक शरीर छोड़ा। उन धर्म-सेविका नारियोंके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं:—

(१) भगवान् महावीरके शासनमें जीवंधर स्वामीकी आठों पत्नियोंने जो विभिन्न देशोंके राजाओंकी राजपुत्रियाँ थीं, पतिके दीक्षा लेने पर आर्यिकाके व्रत धारण किये थे।

(२) वीरशासनमें जम्बू स्वामी अपनी तात्कालिक परिणाई हुई आठों स्त्रियोंके हृदयों पर विजय प्राप्तकर प्रातःकाल दीक्षित हो गए। तब उनकी उन स्त्रियोंने भी जैन-दीक्षा धारण की।

(३) चंदना सतीने, जो वैशाली गणतंत्रके राजा चेटककी पुत्री थी, आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर, भगवान् महावीरसे दीक्षित होकर आर्यिकाके व्रतोंका अनुष्ठान करती हुई महावीरके तीर्थमें छत्तीस हजार आर्यिकाओंमें गणिनीका पद प्राप्त किया था।

(४) मयूर ग्राम संघकी आर्यिका दमितामतीने कटवप्र गिरि पर समाधिमरण किया।

(५) नविलूरकी अनंतमती-गन्तिने द्वादश तपोंका यथाविधि अनुष्ठान करते हुए अन्तमें कटवप्र पर्वत पर स्वर्गलोक-का सुख प्राप्त किया।

(६) दण्ड नायक गङ्गराजकी धर्म-पत्नी लक्ष्मी मतिने, जो सती, साध्वी, धर्मनिष्ठा और दानशीला थी, और मूलसंघ देशीगण पुस्तकगच्छके शुभचन्द्राचार्यकी शिष्या थी, उसने शक सं० १०४४ (वि० सं० ११७६) में सन्यास विधिसे देहोत्सर्ग किया था।

इस प्रकारके सैकड़ों उदाहरण शिलालेखों और पुराण-ग्रंथोंमें उपलब्ध होते हैं, जिन सबका संकलन करनेसे एक पुस्तकका सहज ही निर्माण हो सकता है। अस्तु, यहां लेख वृद्धिके भयसे उन सभीको छोड़ा जाता है।

ग्रन्थ-रचना—

अनेक नारियाँ विदुषी होनेके साथ २ लेखिका और कवियित्री भी हुई हैं उन्होंने अनेक ग्रंथोंकी रचना की है। पर वे सब रचनाएं इस समय सामने नहीं हैं। आज भी अनेक नारियाँ विदुषी, लेखिका तथा कवियित्री हैं, जिनकी रचना भावपूर्ण होती है। भारतीय जैनश्रमण परम्परामें ऐसी पुरातन नारियाँ संभवतःकम ही हुई है जिन्होंने निर्भयतासे पुरुषोंके समान नारी जातिके हितकी दृष्टिसे किसी धर्मशास्त्र या आचार शास्त्रका निर्माण किया हो, इस प्रकारका कोई प्रामाणिक उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया।

हां, जैन नारियोंके द्वारा रची हुई दो रचनाएँ मेरे देखनेमें अवश्य आई हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि वे भी प्राकृत, संस्कृत और गुजराती भाषाकी जानकार थीं। इतना ही नहीं किन्तु गुजराती भाषामें कविता भी कर लेती थी। ये दो रचनाएँ दो विदुषी आर्यिकाओंके द्वारा रची गई है।

उनमें से प्रथमकृति तो एक टिप्पण ग्रंथ है जो अभिमान मेरु महाकवि पुष्पदन्तकृत 'जसहर चरिऊ' नामक ग्रन्थका संस्कृत टिप्पण है, जिसकी पृष्ठ संख्या १९ है और जिसकी खंडित प्रति दिल्लीके पंचायतीमंदिरके शास्त्रभण्डारमें मौजूद है। जिसमें दो से ११ और १९वाँ पत्र अवशिष्ट हैं। शेष मध्यके ७ पत्र नहीं है। सम्भवतः वे उस दुर्घटनाके शिकार हुए हों, जिसमें दिल्लीके शास्त्र भण्डारोंके हस्त-लिखित ग्रन्थोंके त्रुटित पत्रोंको बोरीमें भरवाकर कलकत्ताके समुद्रमें कुछ वर्ष हुए गिरवा दिया गया था। इसी तरह पुरातन खण्डित मूर्तियोंको भी देहलीके जैन समाजने अवज्ञाके भयसे अंग्रेजोंके राज्यमें बम्बईके समुद्रमें प्रवाहित कर दिया था, जिन पर सुनते हैं कितने ही लेख भी अंकित थे। खेद है! समाजके इस प्रकारके अज्ञात प्रयत्नसे ही कितनी ही महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री विलुप्त हो गई है। आशा है दिल्ली समाज आगे इस प्रकारकी प्रवृत्ति न होने देगा।

यशोधरचरित टिप्पण की वह प्रति सं० १५६६ मंगसिर वदी १० बुधवारको लिखी गई है। टिप्पणके अन्तमें निम्न पुष्पिका वाक्य लिखा हुआ है—'इति श्री पुष्पदन्तकृत यशोधर काव्यं टिप्पणं अर्जिका श्रीरणमतिकृतं संपूर्णम्।' टिप्पणके इस पुष्पिका वाक्यसे टिप्पणग्रन्थकी रचयत्री 'रणमति' आर्यिका है और उसकी रचना सं० १५६६ से पूर्व हुई है। कितने पूर्व हुई है इसके जाननेका अभी कोई साधन नहीं है। —टिप्पणका प्रारम्भिक नमूना इस प्रकार है :—

"वल्लहो– वल्लभ इति नामान्तरं कृष्णराज देवस्य। पञ्जतऊ पर्यात मलमिति यावत्।" दुक्किय पहाए— दुःकृतस्य प्रथमं प्रख्यापनं विस्तरणं वा। दुःकृत मार्गो वा। लहु मोक्खं देशतः कर्मक्षयं लाघवेति शीघ्रं पर्यायो था।
पंचसु पंचसु पंचसु—भरतैरावतविदेहाभिधानासु प्रत्येकं पंच प्रकारतया पंचसु दशसु कर्मभूमिसु। दया सहीसु— धर्मो दया रूख्यं ईश इव—दया सहितासु वा। धुउ पंचमु—विदेहभूमिसु पंचसु ध्रुवो धर्मसूत्रैक एव चतुर्थः कालः समयः। दशसु—पंचभरत पंचैरावतेषु। कालावेक्खए—वर्तमान (ना) सर्पिणी कालापेक्षया। पुनः देवसामि– प्रधानामराणां त्वं स्वामी। वत्ताणु-ट्ठाणे—कृषि पशुपालन वाणिज्या च वार्ता। खत्तधनु— क्षत्रदण्डनीति। परमपत्तु– परमा उत्कृष्टा गणेन्द्रा ऋषभ—सेनादयस्तेषां परम पूज्यः" ॥

दूसरी कृति समकितरास है, जो हिन्दी गुजराती मिश्रित काव्य-रचना है। इस ग्रन्थकी पत्र संख्या ८९ है, और यह ग्रन्थ ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती-भवन झालरा-पाटनके शास्त्रभण्डारमें सुरक्षित है। इस ग्रन्थमें सम्यक्त्वोत्पादक आठ कथाएं दी हुई हैं, और प्रसंगवश अनेक अवान्तर कथा भी यथा स्थान दी गई हैं। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ संस्कृत सम्यक्त्व कौमुदी का गुजराती पद्यानुवाद है। इसकी रचयित्री आर्यारत्नमती हैं। ग्रन्थमें उन्होंने अपनी जो गुरु परम्परा दी है वह इस प्रकार है :—

मूलसंघ कुन्दकुन्दान्वय सरस्वतिगच्छमें भट्टारक पद्मनन्दी, देवेन्द्रकीर्ति, विद्यानन्दी, मल्लिभूषण, लक्ष्मीचन्द, वीरचन्द्र, ज्ञानभूषण, आर्या चन्द्रमती, विमलमती और रत्नमती*। ग्रन्थका आदि मंगल इस प्रकार है :—

---

*इस गुरु परम्परामें भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति सूरतकी गद्दीके भट्टारक थे। विद्यानन्दि सं० १५५८ में उस पट्ट पर विराज-मान हुए थे। मल्लिभूषण सागवाड़ा या मालवाकी गद्दीके भट्टा-रक थे। लक्ष्मीचन्द और वीरचन्द्र भी मालवा या सागवाड़ा के आस-पास भट्टारक पद पर आसीन रहे हैं। ये ज्ञानभूषण तत्त्वज्ञान तरंगिणीके कर्तासे भिन्न हैं। क्योंकि यह भ० वीर-चन्द्रके शिष्य थे। और तत्त्वज्ञान तरंगिणीके कर्ता भ० भुवनकीर्तिके शिष्य थे।

वीर जिनवर वीर जिनवर नमूँ ते सार । तीर्थंकर चौवीसवें । मनवांछित फलबहु दान दातार । निरमल सारदा स्वामिनी वली तवूँ । लक्ष्मी चन्द्र, वीरचन्द्र मनोहर । ज्ञान भूषण पाय प्रणमिनि । रत्नमति कहि चंग, रास करूँ अति रूवडो । श्रीसमकिततणु भनिरास ॥१॥

भासगमनी —

चउवीस जिनवर पायनमीए, सारदा तणिय पसायनु ।
मूलसंघ महिमानिलुए, भारती गच्छि सिणगारनु ॥१॥
कुंदकुंदाचार्यजि कुलिईए, पद्मनन्दी शुभभावनु ।
देवेन्द्रकीरति गुरु गुण निलुए श्रीविद्यानंद महंतनु ॥२॥
श्रीमल्लिभूषण महिमा निलुए, श्रीलक्ष्मीचंद्र गुणवंतनु ॥३
वीरचंद्र विद्या निलुए, श्रीज्ञानभूषण ज्ञानवन्तनु ॥४॥
गम्भीरार्णव, मेरु सारिपु धीरनु ।
दयाराणी जि श्रिम निवसए, ज्ञानतणु दातारनु ॥५॥

अन्तिम भाग—

शांती जिनवर शांती जिनवर नमिय ते पाय ।
रास कहूं सम्यक्तणु सारदा तणिय पसाय मनोहर ।
कुंदकुंदाचार्यजि कुलि पद्मनन्दि गुरु जाणि ।
देविन्द्रकीरति तेह पट्ट हुव वादी सिरोमणि वखाणि ॥
दूहा—विद्यानन्द तसु पट्ट हुवनि मल्लिभूषण महंत ।
लक्ष्मीचन्द्र तेह पट्टोधरिसिरणु यति य सरोमणि संत ॥
वीरचन्द्र पाटि ज्ञानभूषण नमीनि । चन्द्रमती बाई नमो पाय । रत्नमती यो पिय रास करूं, विमलमती कहिण थकी सार॥ इति श्रीसमकितरास समाप्तः। आर्या रत्नमती कृतं ॥ भ० पुंजाराजी पठनार्थं (श्रीरस्तु)

आर्या रत्नमतीने अपना यह रास अथवा रासा आर्या विमलमतीकी प्रेरणासे रचा था। आर्या रत्नमतीकी गुरुआणी आर्या चन्द्रमती थी। यह ग्रंथ विक्रमकी १६वीं शताब्दीके मध्यकालकी रचना जान पड़ती है; क्योंकि रत्नमतीकी उक्त गुरु परम्परामें निहित विमलमती वह विमलश्री जान पड़ती है, जिनकी शिष्या विनयश्री भ० लक्ष्मीचन्द्रजी के द्वारा दीक्षित थी, जिन्होंने पं० आशाधरजी कृत महा-अभिषेक पाठकी ब्रह्म श्रुतसागर कृत टीका उक्त भट्टारक लक्ष्मीचन्द्रके शिष्य ब्रह्म ज्ञानसागरको सं० १५८२ में लिखकर प्रदान की थी। इस उल्लेख परसे भी आर्या रत्नमती विक्रमकी १६वीं शतीके मध्यकी जान पड़ती हैं।

अनेक विदुषी नारियोंने केवल अपना ही उत्थान नहीं किया, अपने पतिको भी जैनधर्मकी पावन शरणमें ही नहीं लाई; प्रत्युत उन्हें जैनधर्मका परम आस्तिक बनाया है और अपनी संतानको भी सुशिक्षित एवं आदर्श बनानेका प्रयत्न किया है। उदाहरणके लिये अपने पति मगध देशके राजा श्रेणिक (बिम्बसार) को भारतीय प्रथम गणतन्त्रके अधिनायक लिच्छिवि वंशी राजा चेटककी सुपुत्री चेलनाने बौद्धधर्मसे पराङ् मुखकर जैनधर्मका श्रद्धालु बनाया है जिसके अभय-कुमार और वारिषेण जैसे पुत्र रत्न हुए जिन्होंने सांसारिक सुख और वैभवका परित्यागकर आत्म-साधनाकी कठोर तप-श्चर्याका अवलम्बन किया था।

इस तरह नारीने श्रमणसंस्कृतिमें अपना आदर्श जीवन वितानेका यत्न किया है। उसने पुरुषोंकी भांति आत्मसाधन और धर्मसाधनमें सदा आगे बढ़नेका प्रयत्न किया है। नारीमें जिनेन्द्रभक्तिके साथ श्रुत-भक्तिमें भी तत्परता देखी जाती है, वे श्रुतका स्वयं अभ्यास करती थीं, समय-समय पर ग्रन्थ स्वयं लिखती और दूसरोंसे लिखा-लिखाकर अपने ज्ञानावरणी कर्मके क्षयार्थ साधुओं, विद्वानों और तत्कालीन भट्टारकों तथा आर्यिकाओंको प्रदान करती थीं, इस विषयके सैकड़ों उदाहरण हैं, उन सबको न देकर यहाँ सिर्फ ५-६ उद्धरण ही नीचे दिये जाते हैं :—

(१) संवत् १४६७ में काष्ठासंघके आचार्य अमरकीर्ति द्वारा रचित 'षट् कर्मोपदेश' नामक ग्रन्थकी १ प्रति ग्वालियरके तंवर या तोमरवंशी राजा वीरमदेवके राज्यमें अग्रवाल साहू जैतूकी धर्मपत्नी सरने लिखाकर आर्यिका जैनश्री की शिष्यणी आर्यिका बाई विमलश्रीको समर्पित की थी।

(२) संवत् १६८५ में अग्रवालवंशी साहू वच्छराजकी सती साध्वी पत्नी 'पाल्हे' ने अपने ज्ञानावरणी कर्मके क्षयार्थ द्रव्यसंग्रहकी ब्रह्मदेवकृत वृत्ति लिखाकर प्रदान की।

(३) संवत् १५६५ में खण्डेलवालवंशी साहु छीतरमलकी पत्नी राजाहीने अपने ज्ञानावरणी कर्मके क्षयार्थ 'धर्म-परीक्षा' नामक ग्रन्थ लिखकर मुनि देवनन्दिको प्रदान किया।

(४) संवत् १५३३ में धनश्रीने पद्मनन्द्याचार्यको 'जम्बूद्वीप

प्रज्ञप्ति' प्राकृत लिखाकर पं० मेधावीको प्रदानकी थी ।

(५) संवत् १५६० में माणिक बाई हूमडने, जो व्रत धारिणी थी, गोम्मटसारपंजिका लिखाकर लघुविशालकीर्तिको भेंट स्वरूप प्रदान की थी ।

(६) संवत् १६६८ में हूंबड जातीय बाई दीरोने लिखाकर भ० सकलचन्द्रको प्रदान किया था ।

उपसंहार

आशा है पाठक इस लेखकी संक्षिप्त सामग्री परसे नारीकी महत्ताका अवलोकन करेंगे, उसे उचित सम्मानके साथ उसकी निर्बलताको दूर करनेका यत्न करेंगे और श्रमणसंस्कृतिमें नारीकी महत्ताका मूल्यांकन करके नारी-जाति-को ऊँचा उठानेके अपने कर्तव्यका पालन करेंगे ।

आत्महितकी बातें

(क्षु० सिद्धिसागर)

जब लोग निश्चल होनेके लिए यशोलिप्सा और छलका परित्याग करके मन-वचन कायकी चंचलताका निरोध करनेके लिए उद्यम करते हैं तो सातों तत्वों पर विश्वास करने वाले आत्माको या सच्चे विश्वास ज्ञान और आचरणको आत्महितका वास्तविक रूप निश्चत करते हैं। सम्भव है चलनेमें पैर फिसल जाय किन्तु पैरको जमा कर रखनेका अभ्यास तो वे करते हैं—वे क्रोधकी ज्वालासे जलते हुए गर्तमें न गिर जावें इसके लिए यथा उद्यम भी करते हैं। यदि कभी-कभी क्रोधकी लपटोंसे वे झुलस जाते हैं उसे हेय तो अवश्य समझ लेते हैं। उनका दुर्भाग्य है जो अनंतानुबन्धी क्रोधकी आगमें जलते हैं। मानके पहाड़से उतर कर वे सम्पूर्ण विद्या और चारित्रके सच्चे नेता होते हैं। कपटकी झपटमें कभी वे आते हों तो चपेट भी अवश्य सहन करते ही हैं। आगामी तृष्णाको छोड़ने पर दुर्गतिका अन्त तो होता ही है किन्तु सन्तोष और शान्तिकी लहर भी अवश्य दौड़ जाती है।

सत्यका सूर्य जिसके अन्तःकरणसे उदित होकर सुख-गिरि पर चमक रहा है—क्या मजाल जो दुराग्रहियोंके बकवाद उसके सामने अधिक टिक सकें। बस स्याद्वादकी किरणोंसे चमकता हुआ अनेकान्त सूर्य उन जीवोंके मोहान्धकारको दूर करनेमें समर्थ है जो निकट भव्य है—उल्लूको सूर्य मार्ग नहीं बता सकता।

संयम जीवोंको कौनसा सुख ? नहीं देता अब भी यह प्रश्न उन मनीषियोंके मानसमें ज्यों का त्यों आ आ-कर उनको कितनी बार नहीं जगा जाता ?—फिर भी झोंटे लेनेकी-आदतसे बाज नहीं आते हैं वे, जो जागनेको पाप समझते हैं !!

तप अग्निके बिना कोई भी कर्मोंको राख नहीं बना सकता। इच्छाके निरोध होने पर ही तपकी आग प्रज्वलित होती है। यह वह आग है जो सुखको चरम सीमा तक पहुँचानेमें समर्थ है।

जो वस्तु पराई है और है वह विद्यमान तो उसे छोड़ने में सारी झंझटें छूट जाती है।

मरते समय जब शरीर ही अलग हो जाता है तो फिर शेष घर आदिक अपने कैसे हो सकते हैं ? अपने ज्ञान चेतनामय कर्तृत्वसे भिन्न अन्यका कर्ता होनेका साहस वे अन्तःकरणसे तन्मय होकर अनन्तानुबन्धी रूपसे नहीं कर सकते जो सम्यग्दर्शनकी नींव पर खड़े हैं।

जीवोंका सहारा आप आप ही अपनेमें रहना है। गुरुकुलके गुरुकुलमें रहते हुए स्नातक होना परम ब्रह्मचर्य है। स्त्रीके किसी भी अवस्थामें दृष्टिगत हो जाने पर विकृत न होना ब्रह्मचर्य है। उत्तम दश लक्षण वाले धर्मको निर्व्यसनी निष्पाप व्यक्ति पाले और रत्नत्रयमें त्रिगुप्ति गुप्त रह जावे तो आत्मा ही अपने हितका सच्चा रूप है।

अहिंसा-तत्त्व

(परमानन्द जैन शास्त्री)

संसारके समस्त धर्मोंका मूल अहिंसा है, यदि इन धर्मोंमेंसे अहिंसाको सर्वथा पृथक् कर दिया जाय तो वे धर्म निष्प्राण एवं अनुपादेय हो जाते हैं; इसी कारण अहिंसा-तत्त्वको भारतके विविध धर्म संस्थापकोंने अपनाया ही नहीं, किन्तु उसे अपने-अपने धर्मका प्रायः मुख्य अङ्ग भी बनाया है। अहिंसा जीवनप्रदायिनी शक्ति है, इसके बिना संसारमें सुख शान्तिका अनुभव नहीं हो सकता। जिस तरह सम्यग्निर्धारित राज्यनीतिके विना राज्यका संचालन सुचारु रीतिसे नहीं हो सकता उसी तरह अहिंसाका अनुसरण किये बिना शान्तिका साम्राज्य भी स्थापित नहीं हो सकता। अहिंसाके पालनसे ही जीवात्मा पराधीनताके बन्धनोंसे छूटकर वास्तविक स्वाधीनताको प्राप्त कर सकता है। अहिंसाकी भावना आज भारतका प्राण है, परन्तु इसका पूर्ण रूपसे पालन करना और उसे अपने जीवनमें उतारना कुछ कठिन अवश्य प्रतीत होता है। अहिंसासे आत्मनिर्भयता वीरता, दया और शौर्यादि गुणोंकी वृद्धि होती है, उससे ही प्राणि-समाजमें परस्पर प्रेम बढ़ता है और संसारमें सुख-शान्तिकी समृद्धि होती है। अहिंसाके इस गम्भीर रहस्यको समझनेके लिये उसके विरोधी धर्म हिंसाका स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है।

जैनदृष्टिसे हिंसा अहिंसाका स्वरूप—

हिंसा शब्द हननार्थक 'हिंसि' धातुसे निष्पन्न होता है; इस कारण उसका अर्थ—प्रमाद वा कषायके निमित्तसे किसी भी सचेतन प्राणीको सताना या उसके द्रव्यभाव रूप प्राणोंका वियोग करना होता है*। अथवा किसी जीवको बुरे भावसे शारीरिक तथा मानसिक कष्ट देना, गाली प्रदानादि-रूप अपशब्दोंके द्वारा उसके दिलको दुखाना, हस्त, कोड़ा, लाठी आदिसे प्रहार करना इत्यादि कारण-कलापोंसे उसे प्राण-रहित करने या प्राणपीड़ित करनेके लिये जो व्यापार किया जाता है उसे 'हिंसा' कहते हैं।

जब हम किसी जीवको दुखी करने-सताने पीड़ा देनेका विचार करते हैं उसी समय हमारे भावोंमें और वचन-काय-की प्रवृत्तिमें एक प्रकारकी विकृति आ जाती है, जिससे हृदय-में अशान्ति और शरीरमें बेचैनी उत्पन्न होती रहती है और जो आत्मिक शान्तिके विनाशका कारण है, इसी प्रकारके प्रयत्नावेशको अथवा तज्जन्य संकल्प विशेषको संरम्भ कहते हैं×। पश्चात अपनी कुत्सित चित्तवृत्तिके अनुकूल उस प्राणिको दुखी करनेके अनेक साधन जुटाये जाते हैं; मायाचारोसे दूसरोंको उसके विरुद्ध भड़काया जाता है, विश्वासघात किया जाता है— कपटसे उसके हितैषी मित्रोंमें फूट डाली जाती है—उन्हें उसका शत्रु बनानेकी चेष्टा की जाती है, इस तरहसे दूसरोंको पीड़ा पहुँचाने रूप व्यापारके साधनोंको संचित करने तथा उनका अभ्यास बढ़ानेको समारम्भ कहा जाता है+। फिर उस साधनसामग्रीके सम्पन्न हो जाने पर उसके मारने या दुखी करनेका जो कार्य प्रारम्भ कर दिया जाता है उस क्रियाको आरम्भ कहते हैं†। ऊपरकी उक्त दोनों क्रियाएं तो भावहिंसाकी पहली और दूसरी श्रेणी हैं हीं, किन्तु तीसरी आरम्भक्रियामें द्रव्य-भाव रूप दोनों प्रकार-की हिंसा गर्भित है अतः ये तीनों ही क्रियाएँ हिंसाकी जननी हैं। इन क्रियाओंके साथमें मन वचन तथा कायकी

---

*प्रमत्त योगात्प्राणव्यपरोपणं हिंसा।

—तत्त्वार्थसूत्रे, उमास्वातिः

यत्खलु कषाययोगात् प्राणानां द्रव्यभावरूपाणां।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा॥

—पुरुषार्थसिद्ध्युपाये, अमृतचन्द्रः

×'संरंभो संकप्पो'—भ० आराधनायां, शिवार्यः ८१२।

प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवतः प्रयत्नावेशः संरंभः।

—सर्वार्थसिद्धौ, पूज्यपादः, ६, ८।

प्राणव्यपरोपणादौ प्रमादवतः प्रयत्नः संरंभः

—विजयोदयां, अपराजितः गा० ८११

+परिदावकदो हवे समारम्भो॥

—भग० आराधनाया, शिवार्यः ८१२

साधनसमभ्यासीकरणं समारम्भः।

सर्वार्थसिद्धौ, पूज्यपादः, ६, ८।

साध्याया हिंसादिक्रियायाः साधनानांसमाहारः समारंभः।

—विजयोदयायां, अपराजितः, गा० ८११।

†आरम्भो उद्दवओ,

—भ० आराधनायां शिवार्यः, ८१२।

प्रक्रमः आरम्भः। सर्वार्थसिद्धौ, पूज्यपादः ६, ८।

संचितहिंसाद्युपकरणस्य आद्यः प्रक्रमः आरंभः।

विजयोदयायां अपराजितः, गा० ८११

प्रवृत्तिके संमिश्रणसे हिंसाके नव प्रकार हो जाते हैं और कृत-स्वयं करना, कारित-दूसरोंसे कराना, अनुमोदन-किसी को करता हुआ देखकर प्रसन्नता व्यक्त करना, इनसे गुणा करने पर हिंसाके २७ भेद होते हैं। चूँकि ये सब कार्य क्रोध, मान, माया, अथवा लोभके वश होते हैं। इसलिये हिंसाके सब मिलाकर स्थलरूपसे १०८ भेद हो जाते हैं। इन्हींके द्वारा अपनेको तथा दूसरे जीवोंको दुःखी या प्राण-रहित करनेका उपक्रम किया जाता है। इसीलिये इन क्रियाओंको हिंसाकी जननी कहते हैं। हिंसा और अहिंसाका जो स्वरूप जैन ग्रन्थोंमें बतलाया गया है, उसे नीचे प्रकट किया जाता है—

सा हिंसा व्यपरोप्यन्ते त्रसस्थावराङ्गिनाम् ।
प्रमत्तयोगतः प्राणा द्रव्य-भावस्वभावकाः ॥
—अनगारधर्मामृते, आशाधरः ४, २२

अर्थात्—क्रोध-मान माया और लोभके आधीन होकर अथवा अयत्नाचारपूर्वक मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिसे त्रसजीवों-के—पशु पक्षी मनुष्यादि प्राणियोंके—तथा स्थावर जीवों के पृथ्वी, जल, हवा और वनस्पति आदिमें रहने वाले सूक्ष्म जीवोंके—द्रव्य और भावप्राणोंका घात करना हिंसा कहलाता है। हिंसा नहीं करना सो अहिंसा है अर्थात् प्रमाद व कषायके निमित्तसे किसीभी सचेतन प्राणीको न सताना, मन वचन-कायसे उसके प्राणोंके घात करनेमें प्रवृत्ति नहीं करना न कराना और न करते हुएको अच्छा समझना 'अहिंसा' है। अथवा—

रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तेति भासिदं समये ।
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा ॥
—तत्त्वार्थवृत्तौ, पूज्यपादेन उद्धृतः।

अर्थात्—आत्मामें राग-द्वेषादि विकारोंकी उत्पत्ति नहीं होने देना 'अहिंसा' है और उन विकारोंकी आत्मामें उत्पत्ति होना 'हिंसा' है। दूसरे शब्दोंमें इसे इस रूपमें कहा जा सकता है कि आत्मामें जब राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया और लोभादि विकारोंकी उत्पत्ति होती है तब ज्ञानादि रूप आत्म-स्वभावका घात हो जाता है इसीका नाम भाव हिंसा है और इसी भाव हिंसासे—आत्म परिणामोंकी विकृतिसे—जो अपने अथवा दूसरोंके द्रव्यप्राणोंका घात हो जाता है उसे द्रव्यहिंसा कहते हैं।

हिंसा दो प्रकारसे की जाती है—कषाय और प्रमादसे। जब किसी जीवको क्रोध, मान, माया और लोभादिके कारण या किसी स्वार्थवश जानबूझ कर सताया जाता है या सताने अथवा प्राणरहित करनेके लिए कुछ व्यापार किया जाता है उसे कषायसे हिंसा कहते हैं और जब मनुष्यकी आलस्यमय असावधान एवं अयत्नाचार प्रवृत्तिसे किसी प्राणीका वधादिक हो जाता है तब वह प्रमादसे हिंसा कही जाती है। इससे इतनी बात और स्पष्ट हो जाती है कि यदि कोई मनुष्य बिना किसी कषायके अपनी प्रवृत्ति यत्नाचारपूर्वक सावधानीसे करता है उस समय यदि दैवयोगसे अचानक कोई जीव आकर मर जाय तो भी वह मनुष्य हिंसक नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उस मनुष्यकी प्रवृत्ति कषाययुक्त नहीं है और न हिंसा करनेकी उसकी भावना ही है यद्यपि द्रव्यहिंसा जरूर होती है परन्तु तो भी वह हिंसक नहीं कहा जा सकता और न जैनधर्म इस प्राणिघातको हिंसा कहता है। हिंसात्मक परिणति ही हिंसा है, केवल द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं कहलाती, द्रव्यहिंसाको तो भावहिंसाके सम्बन्धसे ही हिंसा कहा जाता है। वास्तवमें हिंसा तब होती है जब हमारी परिणति प्रमाद-मय होती है अथवा हमारे भाव किसी जीवको दुःख देने या सतानेके होते हैं। जैसे कोई समर्थ डाक्टर किसी रोगीको नीरोग करनेकी इच्छासे ऑपरेशन करता है और उसमें दैव-योगसे रोगीकी मृत्यु हो जाती है तो वह डाक्टर हिंसक नहीं कहला सकता और न हिंसाके अपराधका भागी ही हो सकता है। किन्तु यदि डाक्टर लोभादिके वश जान बूझकर मारनेके इरादे से ऐसी क्रिया करता है जिससे रोगीकी मृत्यु हो जाती है तो जरूर वह हिंसक कहलाता है और दण्डका भागी भी होता है। इसी बातको जैनागम स्पष्ट रूपसे यों घोषणा करता है :—

उच्चालदम्मिपादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे ।
आवादेज्ज कुलिङ्गो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज ॥
णहि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमोवि देसिदो समये ।
—तत्त्वार्थवृत्तौ पूज्यपादेन उद्धृतः

अर्थात्—जो मनुष्य देखभालकर सावधानीसे मार्ग पर चल रहा है उसके पैर उठाकर रखनेपर यदि कोई जन्तु अकस्मात पैरके नीचे आ जाय और दब कर मर जाय तो उस मनुष्यको उस जीवके मारनेका थोडा सा भी पाप नहीं लगता है।

जो मनुष्य प्रमादी है—अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करता है—उसके द्वारा किसी प्राणीकी हिंसा भी नहीं हुई है तो भी

वह 'प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसकः' के वचनानुसार हिंसक अवश्य है—उसे हिंसाका पाप जरूर लगता है। यथा—

मरदु व जीयदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामित्तेण समिदस्स ॥
—प्रवचनसारे कुन्दकुन्दः ३, १७

अर्थात्—जीव चाहे मरे, अथवा जीवत रहे, असावधानीसे काम करने वालेको हिंसाका पाप अवश्य लगता है, किन्तु जो मनुष्य यत्नाचारपूर्वक सावधानीसे अपनी प्रवृत्ति करता है उससे प्राणि-वध हो जाने पर भी हिंसाका पाप नहीं लगता—वह हिंसक नहीं कहला सकता, क्योंकि भावहिंसाके बिना कोरी द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं कहला सकती।

सकषायी जीव तो पहले अपना ही घात करता है, उसके दूसरोंकी रक्षा करनेकी भावना ही नहीं होती। वह तो दूसरोंका घात होनेसे पहले अपनी कलुषित चित्तवृत्तिके द्वारा अपना ही घात करता है, दूसरे जीवोंका घात होना न होना उनके भवितव्यके आधीन है*।

हिंसा दो प्रकारकी होती है एक अन्तरंग हिंसा और दूसरी बाहिरंग हिंसा। जब आत्मामें ज्ञानादि रूप भाव प्राणोंका घात करने वाली अशुद्धोपयोगरूप प्रवृत्ति होती है तब वह अंतरंग हिंसा कहलाती है और जब जीवके बाह्य द्रव्यप्राणोंका घात होता है तब बहिरंग हिंसा कहलाती है। इन्हींको दूसरे शब्दोंमें द्रव्यहिंसा और भावहिंसाके नामसे भी कहते हैं। यदि तत्त्वदृष्टिसे विचार किया जाय तो सचमुचमें हिंसा क्रूरता और स्वार्थकी पोषक है। मनुष्यका निजी स्वार्थ ही हिंसाका कारण है। जब मनुष्य अपने धर्मसे च्युत हो जाता है तभी वह स्वार्थवश दूसरे प्राणियोंको सतानेकी चेष्टा किया करता है; आत्मविकृतिका नाम हिंसा है और उसका फल दुःख एवं अशान्ति है और आत्मस्वभावका नाम अहिंसा है तथा सुख और शान्ति उसका फल है अर्थात् जब आत्मामें किसी तरहकी विकृति नहीं होती चित्त प्रशान्त एवं प्रसादादि गुणयुक्त रहता है उसमें क्षोभकी मात्रा नज़र नहीं आती, उसी समय आत्मा अहिंसक कहा जाता है। द्रव्यहिंसाके होने पर भावहिंसा अनिवार्य नहीं है उसे तो भाव हिंसाके सम्बन्धसे ही हिंसा कहते हैं, वास्तवमें द्रव्यहिंसा तो भावहिंसासे जुदी ही है। यदि द्रव्यहिंसाको भावहिंसासे अलग न किया जाय तो कोई भी जीव अहिंसक नहीं हो सकता और इस तरहसे तो शुद्ध वीतराग-परिणति वाले साधु महात्मा भी हिंसक कहे जायेंगे; क्योंकि पूर्ण अहिंसाके पालक योगियोंके शरीरसे भी सूक्ष्म वायुकायिक आदि जीवोंका वध होता ही है, जैसा कि आगमकी निम्न प्राचीन गाथामें स्पष्ट है :—

जदि सुद्धस्स य बंधो होदि बाहिरवत्थुजोगेण।
णत्थि दु अहिंसगो णाम होदि वायादिवधहेदु ॥
—विजयोदयायां—अपराजितः—६, ८०६

हिंसा और अहिंसाके इस सूक्ष्म विवेचनसे जैनी अहिंसाके महत्वपूर्ण रहस्यसे अपरिचित बहुतसे व्यक्तियोंके हृदयमें यह कल्पना हो जाती है कि जैनी अहिंसाका यह सूक्ष्मरूप अव्यवहार्य है—उसे जीवनमें उतारना नितान्त कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। अतएव इसका कथन करना व्यर्थ ही है। यह उनकी समझ ठीक नहीं है; क्योंकि जैनशासनमें हिंसा और अहिंसाका जो विवेचन किया गया है वह अद्वितीय है, उसमें अल्पयोग्यतावाले पुरुष भी बड़ी आसानीके साथ उसका अपनी शक्तिके अनुसार पालन कर सकते हैं और अपनेको अहिंसक बना सकते हैं। साथ ही, जैनधर्ममें अहिंसाका जितना सूक्ष्मरूप है वह उतना ही अधिक व्यवहार्य भी है। इस तरहका हिंसा और अहिंसाका स्पष्ट विवेचन दूसरे धर्मोंमें नहीं पाया जाता, इसलिये उसका जैनधर्मको अहिंसाके आगे बहुत ही कम महत्व जान पड़ता है।

जैनशासनमें किसीके द्वारा किसी प्राणीके मर जाने या दुःखी किये जानेसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमें सब जगह जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्तसे मरते भी रहते हैं, परन्तु फिर भी, जैनधर्म इस प्राणिघातको हिंसा नहीं कहता, क्योंकि जैनधर्म तो भावप्रधानधर्म है इसीलिये जो दूसरोंकी हिंसा करनेके भाव नहीं रखता प्रत्युत उनके बचानेके भाव रखता है उससे दैववशात् सावधानी करते हुए भी यदि किसी जीवके द्रव्य प्राणोंका वध हो जाता है तो उसे हिंसाका पाप नहीं लगता। यदि हिंसा और अहिंसाको भावप्रधान न माना जाय तो फिर बंध और मोक्षकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती। जैसे कि कहा भी है—

विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत।
भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ॥
—सागरधर्मामृतः ४, २३

अर्थात्—जब कि लोक जीवोंसे खचाखच भरा हुआ

*स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यंतराणान्तु पश्चात्स्याद्वा न वा वधः ॥
—तत्त्वार्थवृत्तौमें उद्धृत, पृ० २३१

है तब यदि बन्ध और मोक्ष भावोंके ऊपर ही निर्भर न होते तो कौन पुरुष मोक्ष प्राप्त कर सकता ? अतः जब जैनी अहिंसा भावोंके ऊपर ही निर्भर है तब कोई भी बुद्धिमान जैनी अहिंसाको अव्यवहार्य नहीं कह सकता।

अहिंसा और कायरतामें भेद—

अब मैं पाठकोंका ध्यान इस विषयकी ओर आकर्षित करना चाहता हूँ कि जिन्होंने अहिंसा तत्त्वको नहीं समझकर जैनी अहिंसापर कायरताका लाञ्छन लगाया है उनका कहना नितान्त भ्रममूलक है।

अहिंसा और कायरतामें बड़ा अन्तर है। अहिंसाका सबसे पहला गुण आत्मनिर्भयता है। अहिंसामें कायरताको स्थान नहीं। कायरता पाप है, भय और संकोचका परिणाम है। केवल शस्त्र संचालनका ही नाम वीरता नहीं है किन्तु वीरता तो आत्माका गुण है। दुर्बल शरीरसे भी शस्त्रसंचालन हो सकता है। हिंसक वृत्तिसे या मांसभक्षणसे तो क्रूरता आती है, वीरता नहीं। परन्तु अहिंसासे प्रेम, नम्रता, शान्ति, सहिष्णुता और शौर्यादि गुण प्रकट होते हैं।

दुर्बल आत्माओंसे अहिंसाका पालन नहीं हो सकता उनमें सहिष्णुता नहीं होती। अहिंसाकी परीक्षा अत्याचारीके अत्याचारोंका प्रतीकार करनेकी सामर्थ्य रखते हुए भी उन्हें हँसते-हँसते सह लेनेमें है। किन्तु प्रतीकारकी सामर्थ्यके अभावसे अत्याचारीके अत्याचारोंको चुपचाप अथवा कुछ भी विरोध किये बिना सह लेना कायरता है—पाप है—हिंसा है। कायर मनुष्यका आत्मा पतित होता है, उसका अन्तःकरण भय और संकोचसे अथवा शंकासे दबा रहता है। उसे आगत भयकी चिन्ता सदा व्याकुल बनाये रहती है—मरने जीने और धनादि सम्पत्तिके विनाश होनेकी चिन्तासे वह सदा पीड़ित एवं सचिन्त रहता है। इसीलिये वह आत्मबल और मनोबलकी दुर्बलताके कारण—विपत्ति आने पर अपनी रक्षा भी नहीं कर सकता है। परन्तु एक सम्यग्दृष्टि अहिंसक पुरुष विपत्तियोंके आनेपर कायर पुरुषकी तरह घबराता नहीं और न रोता चिल्लाता ही है किन्तु उनका स्वागत करता है और सहर्ष उनको सहनेके लिये तैयार रहता है तथा अपनी सामर्थ्यके अनुसार उनका धीरतासे मुकाबिला करता है—उसे अपने मरने जीने और धनादि सम्पत्तिके समूल विनाश होनेका कोई डर ही नहीं रहता, उसका आत्मबल और मनोबल कायर मनुष्यकी भांति कमजोर नहीं होता, क्योंकि उसका आत्मा निर्भय है—सप्तभयोंसे रहित है। जैनसिद्धांतमें सम्यग्दृष्टिको सप्तभय-रहित बतलाया गया है*। साथ ही, आचार्य अमृतचन्द्रने तो उसके विषयमें यहाँ तक लिखा है कि यदि त्रैलोक्यको चलायमान कर देनेवाला वज्रपात आदिका घोर भय भी उपस्थित होजाय तो भी सम्यग्दृष्टि पुरुष निःशंक एवं निर्भय रहता है—वह डरता नहीं है। और न अपने ज्ञानस्वभावसे च्युत होता है, यह सम्यग्दृष्टिका ही साहस है। इससे स्पष्ट है आत्म निर्भयी—धीर—वीर पुरुष ही सच्चे अहिंसक हो सकते हैं, कायर नहीं। वे तो ऐसे घोर भयादिके आने पर भयसे पहले ही अपने प्राणोंका परित्याग कर देते हैं। फिर भला ऐसे दुर्बल मनुष्योंसे अहिंसा जैसे गम्भीर तत्त्वका पालन कैसे हो सकता है? अतः जैनी अहिंसापर कायरताका इल्जाम लगाकर उसे अव्यवहार्य कहना निरी अज्ञानता है।

जैन शासनमें न्यूनाधिक योग्यतावाले मनुष्य अहिंसाका अच्छी तरहसे पालन कर सकते हैं, इसीलिये जैनधर्ममें अहिंसाके देशअहिंसा और सर्वअहिंसा अथवा अहिंसा-अणुव्रत और अहिंसा-महाव्रत आदि भेद किये गये हैं। जो मनुष्य पूर्ण अहिंसाके पालन करनेमें असमर्थ है, वह देश अहिंसाका पालन करता है, इसीसे उसे गृहस्थ, अणुव्रती, देशव्रती या देशयतीके नामसे पुकारते हैं; क्योंकि अभी उसका सांसारिक देहभोगोंसे ममत्व नहीं छूटा है—उसकी आत्मशक्तिका पूर्ण विकास नहीं हुआ है—वह तो असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य, विद्यारूप षट् कर्मोंमें शक्त्यानुसार प्रवृत्ति करता हुआ एक देश अहिंसाका पालन करता है। गृहस्थअवस्थामें चार प्रकारकी हिंसा संभव है। संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। इनमेंसे गृहस्थ सिर्फ एक संकल्पी हिंसा-मात्रका त्यागी होता है और वह भी त्रस जीवोंकी। जैन आचार्योंने हिंसाके इन चार भेदोंको दो भागोंमें समाविष्ट किया है और बताया है कि गृहस्थ-अवस्थामें दो प्रकारकी हिंसा हो सकती है, आरम्भजा और अनारम्भजा। आरम्भजा हिंसा कूटने, पीसने आदि गृहकार्योंके अनुष्ठान और आजीविकाके उपार्जनादिसे सम्बन्ध रखती है, परन्तु दूसरी हिंसा-गृही कर्तव्यका यथेष्ट पालन करते हुए मन-वचन-कायसे होने वाले जीवोंके घातकी ओर संकेत करती है। अर्थात् दो इंद्रियादि त्रसजीवोंको संकल्पपूर्वक जान बूझकर सताना

---

* सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का जम्हा तम्हा दु णिस्संका॥
—समयसार, कुन्दकुन्द २२८

या जानसे मारना ही इसका विषय है, इसीलिये इसे संकल्पी-हिंसा कहते हैं। गृहस्थ अवस्थामें रहकर आरम्भजा हिंसाका त्याग करना अशक्य है। इसीलिये जैन ग्रन्थोंमें इस हिंसाके त्यागका आमतौरपर विधान नहीं किया है*। परन्तु यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करनेकी ओर संकेत अवश्य किया है जो कि आवश्यक है; क्योंकि गृहस्थीमें ऐसी कोई क्रिया नहीं होती जिसमें हिंसा न होती हो। अतः गृहस्थ सर्वथा हिंसाका त्यागी नहीं हो सकता। इसके सिवाय, धर्म-देश-जाति और अपनी तथा अपने आत्मीय जनोंकी रक्षा करनेमें जो विरोधी हिंसा होती है उसका भी वह त्यागी नहीं हो सकता।

जिस मनुष्यका सांसारिक पदार्थोंसे मोह घट गया है और जिसकी आत्मशक्ति भी बहुत कुछ विकास प्राप्त कर चुकी है वह मनुष्य उभय प्रकारके परिग्रहका त्याग कर जैनी दीक्षा धारण करता है और तब वह पूर्ण अहिंसाके पालन करनेमें समर्थ होता है। और इस तरहसे ज्यों-ज्यों आत्म-शक्तिका प्राबल्य एवं उसका विकास होता जाता है त्यों-त्यों अहिंसाकी पूर्णता भी होती जाती है। और जब आत्माकी पूर्णशक्तियोंका विकास होजाता है, तब आत्मा पूर्ण अहिंसक कहलाने लगता है। अस्तु, भारतीय धर्मोंमें अहिंसाधर्म ही सर्वश्रेष्ठ है। इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त करनेवाला पुरुष परम-ब्रह्म परमात्मा कहलाता है। इसीलिये आचार्य समन्तभद्रने अहिंसाको परब्रह्म कहा है*। अतः हमारा कर्तव्य है कि हम जैन शासनके अहिंसातत्त्वको अच्छी तरहसे समझें और उस पर अमल करें। साथ ही, उसके प्रचारमें अपनी सर्व-शक्तियोंको लगादें, जिससे जनता अहिंसाके रहस्यको समझे और धार्मिक अन्धविश्वाससे होनेवाली घोर हिंसाका—राक्षसी कृत्यका—परित्यागकर अहिंसाकी शरणमें आकर निर्भयतासे अपनी आत्मशक्तियोंका विकास करनेमें समर्थ हो सकें।

*हिंसा द्वेधा प्रोक्ताऽऽरंभानारंभजत्वतो दक्षैः।
गृहवासतो निवृत्तो द्वेधाऽपि त्रायते तां च॥
गृहवाससेवनरतो मन्दकषायाप्रवर्तितारम्भः।
आरम्भजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियमात्॥
श्रावकाचार, अमितगतिः, ६, ६, ७

* अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं,
न सा तत्रारम्भोस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ॥
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं,
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः॥११९
स्वयंभूस्तोत्रे, समन्तभद्रः।

पूज्य वर्णीजीके प्रति श्रद्धांजलि

(विनम्र जैन)

"भारतके आध्यात्मिक योगिन् !
स्वीकारो जगतीका प्रणाम ।।"

हे पूज्यवर्य, हे गुण निधान, हो गई धन्य यह वसुन्धरा ।
तुमने अपने सज्ज्ञान-सूर्यसे, अज्ञान तिमिरको, अहो, हटा ॥
शिक्षासे ही मानव बढ़ते, शिक्षा ही जीवन-दायक है ।
तुमने सदैव यह सिखलाया, शिक्षा विवेक उन्नायक है ॥
बस एक अमिट यह चाह पाकर तुम बने सदासे हो अकाम !
भारतके आध्यात्मिक योगिन, स्वीकारो जगतीका प्रणाम ॥१॥

तू परम मधुर भाषण कर्ता, अंतर बाहर द्वयसे निर्मल ।
तेरी वाणी शुचि गंगाजल, गुंजित सुरभित जिससे नभ-थल ॥
हे क्षमा-देविके चिर सुहाग, तुमको वरकर वह हुई अमर ।
तेरे पवित्र हृदयाम्बरमें, बहता रहता करुणा सागर ॥
अधरोंपर शिशु मुस्कानधार, कर्त्तव्य निरत तुम अनविराम
भारतके आध्यात्मिक योगिन, स्वीकारो जगतीका प्रणाम ॥२॥

'मेरे जिनवरका नाम राम, हे संत ! तुम्हें सादर प्रणाम ।'
युगकवि[1] की इस श्रद्धांजलिसे, श्रद्धाका सार्थक हुआ नाम ॥
निंदा स्तुति दोनोंमें ही तो, अपनेको चिर निर्लिप्त रखा ।
बस वही कर्मअरि जय करने तुमने तपको वर लिया सखा ॥
निज तपश्चरणसे हे मुनीश, पाओगे वह कैवल्यधाम ।
भारतके आध्यात्मिक योगिन, स्वीकारो जगतीका प्रणाम ॥३॥

हो अगम ज्ञानके ज्ञाता तुम, विद्या-वारिधि ! युग नमस्कार ।
वह ब्रह्मचर्य दीपित मुख-रवि, कर रहा अहिंसाका प्रसार ॥
मानवका हित साधन करने, पावन पगसे चिरकाल चले ।
हे द्रव्यदानके उत्प्रेरक, लखि तेज हृदय-पाषाण गले ॥
मुख मौन मात्र हो हे ऋषिवर ! रचनामानव विधि-लिपि ललाम
भारतके आध्यात्मिक योगिन, स्वीकारो जगतीका प्रणाम ॥४॥

वह पुण्य ? दिवस जब गया मध्य, तुमसे ऋषि भावे स्वयं मिले ।
वे भूमिदानके अन्वेषक, जिनसे लिप्सा उर-तार हिले ॥
तुम आध्यात्मिक दुःखके त्राता, कर रहे मलिन अंतर पवित्र ।
वे भौतिक क्लेशोंके नाशक, कर रहे शुद्ध मानव-चरित्र ॥
तुम दोनों दो युग पुरुषमान्य, ज्योतित करते भारत सुनाम ।
भारतके आध्यात्मिक योगिन, स्वीकारो जगतीका प्रणाम ॥५॥

एकासी जन्म दिवसपर कवि, भावोंका अर्घ चढ़ाता है ।
छंदोंकी छोटीसी माला, पहिनाने हाथ बढ़ाता है ॥
तुम मौन शांत सस्मित बैठे, क्या श्रद्धा-सुमन न थे सुखकर ?
यद्यपि वाणी मुखरित न हुई, सम्बोधा दिव्याभा ने पर ॥६॥
आचरण करो सन्तोंके गुण, गुण-गानमात्र है मार्ग वाम ।
भारतके आध्यात्मिक योगिन्, स्वीकारो जगतीका प्रणाम ॥६॥

---

१ राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरणजी गुप्त

४ अगस्त सन ५३

राजस्थानमें दासी-प्रथा

राजस्थान स्वतन्त्र भारतका एक प्रान्त है। उसमें दासी प्रथाका होना राजस्थानके लिये कलंक की वस्तु है। जब भारत अपनी सदियोंकी गुलामीसे उन्मुक्त हो चुका है तब उसमें दासी प्रथा जैसी जघन्य प्रथाका अस्तित्व उसके लिये अभिशाप रूप है।

यद्यपि प्राचीन भारतमें दासी-दास-प्रथाका आम रिवाज था। जब किसी लड़के या लड़कीकी शादी होती थी तब दहेजके रूपमें हाथी घोड़ा, रथ आदि अन्य वस्तुओंके साथ कुछ दासी-दास भी दिये जाते थे। इनके सिवाय, क्रीतदास, ग्रहदास (दासीपुत्र) पैत्रिकदास दण्डदास, भुक्तदास आदि सात प्रकारके दास होते थे। चाणिक्यके अर्थशास्त्रमें इस प्रथाका समुल्लेख पाया जाता है। जैन-ग्रन्थ गत परिग्रह परिमाणव्रतमें दासी-दास रखनेके परिमाण करनेका उल्लेख किया जाता है। गुलाम रखनेकी यह प्रथा जैन-समाजमें से तो सर्वथा चली गई है, भारतमें भी प्रायः नहीं जान पड़ती, किन्तु राजस्थानमें दासी प्रथाका बने रहना शोभा नहीं देता। वहां मानवता विहीन अबला नारीका सिसकना एक अभिशाप है। आजके 'हिन्दुस्तान' नामक दैनिक पत्रमें इस प्रथाका अवलोकन कर हृदयमें एक टीस उत्पन्न हुई कि भारत जैसे स्वतन्त्र देशमें ऐसी निंद्य प्रथाका होना वास्तवमें उसके लिये भारी कलंक है।

राजस्थानमें यह प्रथा सामन्तशाहीके समयसे प्रचलित हुई जान पड़ती है। जब अंग्रेजी शासनमें 'सती' जैसी प्रथाका अस्तित्व नहीं रहा तब राजस्थानकी यह दासी प्रथा कैसे पनपती रही, यह कुछ समयमें नहीं आता। राजस्थानके रजवाड़ोंमें राजा, महाराजा, सामन्त और राज्य मन्त्री आदिके लड़के लड़कियोंकी शादीमें दहेजकी अन्य वस्तुओंके साथ सीमित दासियोंके देनेका रिवाज है जिनकी संख्या कभी कभी सैकड़ों तक पहुँच जाती है जिन्हें आजन्म लड़की की ससुरालमें रहना पड़ता है। और एक गुलामकी तरह मालिक मालकिनकी सेवा करते हुए उनकी झिड़कियाँ गाली गलौज तथा मारपीटकी भीषण वेदना उठाना पड़ती है और अमानवीय अत्याचारोंको चुपचाप सहना पड़ता है। इस तरह उन अबलाओंका तमाम जीवन 'रावले' (रनिवास) की चहार दीवारीमें सिसकता हुआ व्यतीत होता है। जिसमें उनकी भावनाएं और इच्छाएँ उत्पन्न होतीं और निराशाकी अनंत गोदमें विलीन हो जाती हैं। मालिक मालकिनकी सेवा उनका जीवन है। उनके अमानवीय अत्याचार एवं अनाचारोंसे पीड़ित राजस्थानकी लाखों अबलाएँ अपना जीवन राजस्थानके रनिवासोंमें पशुओंसे भी बदतर स्थितिमें रहकर आंसू बहाती हुई व्यतीत करती हैं। हमें खेद है कि स्वतन्त्र भारतकी सरकारका ध्यान इस प्रथाके बन्द करनेकी ओर नहीं गया। आशा है भारत सरकार शीघ्रही राजस्थानके इस कलंकको धोनेका यत्न करेगी। —परमानन्द जैन

साहित्य-परिचय और समालोचन

इष्टोपदेश (टीकात्रय और पद्यानुवादसे युक्त) ग्रंथ-कर्त्ता देवनन्दी, प्रकाशक रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई। पत्र संख्या ८८ मूल्य १॥) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य देवनन्दी (पूज्यपाद) की सुन्दर आध्यात्मिक कृति है। इसमें पं० आशाधरजी की संस्कृत टीका भी साथमें दी हुई है, और पं० धन्यकुमारजी का हिंदी अनुवाद दिया हुआ है। बैरिस्टर चम्पतरायजीकी अंग्रेजी टीका, ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीका दोहानुवाद, रावजी भाई देशाईका गुजराती पद्यानुवाद और बाबू जयभगवानजी एडवोकेटका अंग्रेजी पद्यानुवाद दिया हुआ है। जिससे पुस्तक और भी उपयोगी हो गई है। इष्टोपदेशकी संस्कृतटीकाको बिना किसी संशोधनके छापा गया। उद्धृत पद्योंको रनिंग रूपमें पहलेकी तरह दिया गया है। यह संस्करण अंग्रेजी जानने वालोंके लिये विशेष उपयोगी है।

प्राची—एक साप्ताहिक पत्र है जिसके दो अङ्क मेरे सामने हैं। पत्रका वार्षिक मूल्य १०) रुपया है और एक प्रतिका मूल्य चार आना। यह हिन्दीका अच्छा पत्र है जिसमें सुन्दर लेख-सामग्रीका चयन रहता है। पत्रका प्रकाशन 'प्राची प्रकाशन' ११ स्क्वायर कलकत्ता' से होता है। यदि सहयोगी इसी प्रकारकी उपयोगी पाठ्य सामग्री देता रहे तो पत्रका भविष्य उज्ज्वल और क्षेत्र विस्तृत हो जायगा, आशा है प्राचीके संपादक महानुभाव अत्युपयोगी लेख सामग्रीसे पत्रको बराबर विभूषित करते रहेंगे।

—परमानन्द जैन

श्रीवीतरागाय नमः

रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला

श्रीमद्देवनंदि-अपरनाम-पूज्यपादस्वामिविरचित

इष्टोपदेश

[टीकात्रय एवं पद्यानुवाद चतुष्टययुक्त।]

१—पण्डितप्रवर श्रीआशाधरजीकृत संस्कृतटीका।

हिन्दी टीकाकार और सम्पादक—

२—जैनदर्शनाचार्य श्रीधन्यकुमारजी जैन, एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत) साहित्यरत्न

३—स्व० बॅरिस्टर श्रीचम्पतरायजी विद्यावारिधिकृत अंग्रेजीटीका The Discourse Divine.

तथा

१—स्व० जैनधर्मभूषण ब्र० शीतलप्रसादजीकृत हिन्दी पद्यानुवाद,

२—अज्ञातकविकृत मराठी पद्यानुवाद,

३—शाह रावजीभाई देसाईकृत गुजराती पद्यानुवाद,

४—श्रीजयभगवानजी जैन, बी. ए. एल एल. बी. एडवोकेट पानीपतकृत विस्तृत अंग्रेजी पद्यानुवाद Happy sermons.

प्रकाशक—

परमश्रुतप्रभावक मंडल, श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला।

चोंकसी चेम्बर, खाराकुआ, जौहरी बाजार, बम्बई नं० २.

इष्टोपदेशकी विषय-सूची

मंगलाचरण—टीकाकार और मूल ग्रन्थकर्त्ताका — १
'स्वयंस्वभावाप्ति' का समाधान — २
व्रतादिकोंकी सार्थकता— ३
आत्म-परिणामीके लिये स्वर्गकी सहजमें ही प्राप्ति ५
स्वर्ग-सुखोंका वर्णन - ६
"सांसारिक स्वर्गादि-सुख भ्रान्त है" इसका कथन ७
यदि ये वासनामात्र हैं, तो उनका वैसा अनुभव क्यों नहीं होता? इसका उत्तर-मोहसे ढका हुआ ज्ञान वस्तु-स्वरूपको ठीक-ठीक नहीं जानता है— १०
मोहनीयकर्मके जालमें फँसा प्राणी शरीर, धन, दारा, को आत्माके समान मानता है— ११
जीव-गति वर्णन, अपने शत्रुओंके प्रति भी द्वेषभाव मत करो— १२
राग द्वेष भावसे आत्माका अहित होता है— १४
संसारमें सुख है तो फिर इसका त्याग क्यों किया जाय? इसका समाधान १६
सांसारिक सुख तथा धन, आदि, मध्य और अन्तमें दुःखदायी हैं १७
'धनसे आत्माका उपकार होता है,' अतः यह उपयोगी है, इसका समाधान— १८
धनसे पुण्य करूँगा, इसलिये कमाना चाहिए-इसका समाधान— १९
भोगोपभोग कितने भी अधिक भोगे जायेंगे कभी तृप्ति न होगी २१
शरीरके सम्बन्धसे पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं-शरीरकी मलिनताका वर्णन— २२
जो आत्माका हित करता है, वह शरीरका अपकारी है और जो शरीरका हित करता है, वह जीवका अपकारक (बुरा करनेवाला) है २३
ध्यानके द्वारा उत्तम फल और जघन्य फल इच्छानुसार मिलते हैं २४
आत्मस्वरूप वर्णन— २५
मनको एकाग्र कर इन्द्रियोंके विषयोंको नष्ट कर आत्मा ज्ञानी परमानदमयी होकर अपने-आपमें रमता है २७
अज्ञभक्ति अज्ञानको ज्ञानभक्ति ज्ञानको देती है, जो जिसके पास होता है, उसे वह देता है २८
आत्मामें आत्माके चिन्तवनरूप ध्यानसे, परीषहादिका अनुभव न होनेसे, कर्म निर्जरा होती है—२९
जहाँ आत्मा ही ध्याता और ध्येय हो जाता है वहाँ अन्य सम्बन्ध कैसा? ३२
मोही कर्मोंको बाँधता है, और निर्मोही छूट जाता है, इसलिए हरतरहसे निर्ममताका प्रयत्न करे— ३३
मैं एक ममता रहित शुद्ध हूँ, संयोगसे उत्पन्न पदार्थ देहादिक मुझसे सर्वथा भिन्न हैं— ३४
देहादिकके सम्बन्धसे प्राणी दुःख-समूह पाते हैं, इससे इन्हें कैसे दूर करना चाहिए? ३५
ज्ञानी सदा निःशंक है, क्योंकि उसमें रोग, मरण, बाल, युवापना नहीं, ये पुद्गलमें हैं ३६
पुद्गलोंको बार बार भोगे और छोड़े, इससे ज्ञानीका उच्छिष्ट-झूठेमें प्रेम नहीं है ३७
कर्म कर्मका भला चाहता है, जीव जीवका, सब अपना अपना प्रभाव बढ़ाते हैं— ३८
परका उपकार छोड़कर अपने उपकारमें तत्पर होओ-अपनी भलाईमें लगो। ३९
गुरुके उपदेशसे अपने और परके भेदको जो जानता है, वह मोक्षसम्बन्धी सुखका अनुभव करता है। ४०
स्वयं ही स्वयंका गुरु है ४१
अभव्य हजारों उपदेशोंसे ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है। सच्चे योगी अपने ध्यानसे चलायमान नहीं होते हैं, चाहे कुछ भी हो जावे ४२
स्वात्मावलोकनके अभ्यासका वर्णन ४३
स्वात्मसंवित्ति बढ़नेपर आत्मपरिणत— ४४
योगी निर्जन और एकान्तवास चाहता है, अन्य सब बातें जल्दी भुला देता है— ४७
ध्यानमें लगे योगीकी दशाका वर्णन ४८
आत्मस्वरूपमें तत्पर रहनेवालेको परमानन्दकी प्राप्ति ४९
परद्रव्योंके अनुराग करनेसे होनेवाले दोषोंका वर्णन ५०
तत्त्वसंग्रहका वर्णन ५१
तत्त्वका सार-वर्णन— ५२
शास्त्रके अध्ययनका साक्षात् और परम्परासे होनेवाले फलका वर्णन— ५३
उपसंहार और टीकाकारका निवेदन— ५४
परिशिष्ट नं. १ मराठी पद्यानुवाद— ५५
,, न. २ गुजराती ,, ५७
,, नं. ३ अंग्रेजी अनुवाद— ५९
The Discourse Divine,
,, ४ अंग्रेजी विस्तृत पद्यानुवाद
Happy Sermons ७८
,, नं. ५ मूल श्लोकोंकी वर्णानुक्रमणिका ८४
,, न. ६ उद्धृत श्लोकों गाथाओं और दोहोंकी वर्णानुक्रमणिका ८५

न्यू भारत प्रिंटिंग प्रेस, गिरगांव बम्बई ४

श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमाला ।

परिचय और **निवेदन**—स्वर्गवासी तत्त्वज्ञानी शतावधानी कविवर, महात्मा गान्धीजीके गुरुतुल्य **श्रीरायचन्द्र**जीके स्मारकमें **यह** ग्रंथमाला उनके स्थापित किये हुए **परमश्रुत-प्रभावकमंडलके** तत्त्वावधानमें ५५ वर्षसे निकल रही है, इसमें श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य, श्रीउमास्वामी, श्रीसिद्धसेनदिवाकर, श्रीपूज्यपादस्वामी, श्रीअमृतचन्द्रसूरि, श्रीशुभचन्द्राचार्य, श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ती, श्रीयोगीन्दुदेव श्रीविमलदास, श्रीहेमचन्द्रसूरि, श्रीमल्लिषेण सूरि आदि आचार्योंके अतिशय उपयोगी ग्रंथ सुसम्पादित कराके मूल, संस्कृतटीकाएँ और सरल हिन्दीटीका सहित निकाले गए हैं। **सर्वसाधारणमें सुलभ मूल्यमें तत्त्वज्ञानपूर्ण ग्रन्थोंका प्रचार करना इसका मुख्य उद्देश्य है।** ग्रंथ छपाकर कमाई करनेका उद्देश्य इस शा० मा० का नहीं है। जो द्रव्य आता है, वह ग्रन्थोद्धार-कार्यमें लगाया जाता है। हमारा यह उद्देश्य तभी सफल हो सकता है, जब पाठक अधिकसे अधिक द्रव्य भेजें, अथवा शास्त्रमालाके ग्रंथ खरीदकर जैनसाहित्योद्धारके काममें हमारी मदद करें, क्योंकि तत्त्वज्ञानके प्रसारसे बढ़कर दूसरा कोई प्रभावनाका पुण्य-कार्य नहीं है।

आगामी प्रकाशन—श्रीकुन्दकुन्दस्वामीके सभी ग्रंथ, स्वामिकार्त्तिकेयानुप्रेक्षा मूलगाथायें भ० शुभचन्द्रकृत संस्कृतटीका और पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीकृत नई हिन्दी टीका, समाधिशतक और आप्तमीमांसा आदि कई ग्रन्थोंका सुसम्पादन हो रहा है और कई छप रहे हैं, जो समयानुसार निकलेंगे। शास्त्रमालाके सभी ग्रंथ सुन्दर मजबूत जिल्दोंसे मंडित हैं, बहुत शुद्ध और सस्ते हैं।

प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

१ **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय**—अमृतचन्द्रसूरिकृत मूल श्लोक और पं० नाथूरामजीप्रेमीकृत हिन्दीटीका। इस ग्रन्थमें श्रावक-धर्मका विस्तृत वर्णन है। चौथी आवृत्ति सशोधित होके छपी है। अबकी बार ग्रंथकर्त्ताका परिचय, विषय-सूची और २ अनुक्रमणिकायें लगा दी हैं। २) पो. ।=)

२ **पंचास्तिकाय**—अप्राप्य है। छपेगा

३ **ज्ञानार्णव**—श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत मूल और स्व० पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत हिन्दीटीका, योगका महत्त्वपूर्ण ग्रंथ। मू. ६) पो. १)

४ **सप्तभंगीतरंगिणी**—अप्राप्य।

५ **बृहद्द्रव्यसंग्रह**—अप्राप्य

६ **गोम्मटसार कर्मकांड**—श्रीनेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत मूल गाथायें और स्व० पं० मनोहरलालजीकृत हिन्दीटीका। सिद्धान्त-ग्रन्थ। मू. ३) पो. ।।।)

७ **गोम्मटसार जीवकांड**—अप्राप्य है, जल्दी छपेगा।

८ **लब्धिसार**—हिन्दीटीका सहित, अप्राप्य।

९ **प्रवचनसार**—अप्राप्य है, पुनः छपेगा।

१० **परमात्मप्रकाश और योगसार**—अप्राप्य है।

११ **समयसार**—श्रीकुन्दकुन्दस्वामीकृत, अप्राप्य है। पुनः सम्पादन संशोधन हो रहा है, जल्दी छपेगा।

१२ **द्रव्यानुयोगतर्कणा**—अप्राप्य है।

१३ **स्याद्वादमंजरी**—श्रीहेमचन्द्राचार्यकृत मूल कारिकायें, श्रीमल्लिषेणसूरिकृत संस्कृतटीका, डॉ० पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए०, पी० एच० डी० कृत हिन्दीटीका सहित, न्यायका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। मू० ६) पो० १)

१४ **सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र-मोक्षशास्त्र**—श्रीउमास्वातिकृत मूलसूत्र संस्कृतटीका, प० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत हिन्दी टीका। इसमें तमाम जैन तत्त्वोंका वर्णन है, सागरको गागरमें आचार्यश्रीने भर दिया है। पृष्ठ ५०० मू० ३) पो० १)

१५ **पुष्पमाला मोक्षमाला और भावनाबोध**—श्रीराजचन्द्रकृत, अप्राप्य है।

१६ **उपदेशछाया और आत्मसिद्धि**—अप्राप्य है।

१७ **योगसार**—अप्राप्य है।

१८ **योगीन्द्र-कृत परमात्मप्रकाश**—अंग्रेजी अप्राप्य।

१९ **श्रीमद्राजचन्द्र**—श्रीमद्राजचन्द्रजीके पत्रों और रचनाओंका अपूर्व संग्रह, अध्यात्मका अपूर्व और विशाल ग्रंथ है। म० गांधीजीकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना है। पृष्ठसंख्या ९५० स्वदेशी कागजपर कलापूर्ण सुन्दर छपाई हुई है। मूल्य सिर्फ १०) पो० २)

२० **न्यायावतार**—श्रीसिद्धसेनदिवाकरकृत। ५) पो. ।।)

२१ **प्रशमरतिप्रकरण**—श्रीउमास्वातिकृत ६) पो.।।=)

२२ **इष्टोपदेश**—जैनोपनिषद्-आचार्य पूज्यपादस्वामीकृत। मू० १।।) पो० ।-) अंग्रेजीटीका ।।) पो० -)

सूचना—शास्त्रमालाके सभी ग्रंथ दिगम्बर जैन पुस्तकालय, कापड़िया भवन, गान्धी चौक **सूरतसे** भी मिलेंगे।

मैनेजर—परमश्रुतप्रभावक मंडल, (रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला)

ठि० चौकसी चेम्बर, खाराकुवा, जौहरी बाजार, बम्बई नं० २.

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके नवीन तीन ग्रन्थ-रत्न।

आचार्यसिद्धसेनदिवाकरकृत सम्राट् विक्रमादित्यकी सभाके ९ रत्नोंमेंसे क्षपणक नामक रत्न

१ न्यायावतार—श्रीसिद्धर्षिगणिकी संस्कृतटीकाका हिन्दी-भाषानुवाद।

अनुवादकर्ता—पं० **विजयमूर्ति शास्त्राचार्य (जैनदर्शन)** एम्. ए. (दर्शन, संस्कृत);

यह न्यायका सुप्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें ३२ कारिकाओं (श्लोकों) मे न्याय-शास्त्रके मुख्य मुख्य सिद्धान्तोंका सरल भाषामें विस्तृत विवेचन है। इसमे न्यायावतारका अर्थ, प्रमाणका लक्षण, प्रमाणके लक्षण कहनेका प्रयोजन, प्रमाणके प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष भेद, अनुमानका लक्षण, प्रत्यक्षका अभ्रान्तत्व, सकल ज्ञानोंके भ्रान्तत्वकी असिद्धि, शब्द-प्रमाणका, लक्षण-कथन, परार्थानुमान और परार्थप्रत्यक्षका सामान्य लक्षण, प्रत्यक्षका परार्थत्वरूपसे निरूपण, परार्थप्रत्यक्षका स्वरूप, परार्थानुमानका लक्षण, पक्षका लक्षण, पक्षका प्रयोग स्वीकार न करनेपर दोष, असिद्ध, विरुद्ध और अनेकान्तिक हेत्वाभासोंका लक्षण, साधर्म्यदृष्टान्ताभासोंके लक्षण और उसके भेदोंका प्रतिपादन, वैधर्म्यदृष्टान्ताभासका लक्षण, दूषण और दूषणाभासका लक्षण, पारमार्थिकप्रत्यक्षका निरूपण, प्रमाणके फलका प्रतिपादन, प्रमाण और नयके विषयका निरूपण, स्याद्वादश्रुतनिर्देश, प्रमाणका लक्षण, ग्रन्थोपसंहार आदि सैकड़ों विषयोंका वर्णन है। अन्तमें श्लोकोंकी वर्णानुक्रमणिका, टीकामें उद्धृत श्लोकों और गाथाओंकी वर्णानुक्रमणिका, न्यायावतार सूत्रोंकी शब्द-सूची है। पृष्ठसंख्या १४४, सुन्दर मजबूत जिल्द बँधी है। मूल्य ५) पोष्टेज ॥)

२ प्रशमरतिप्रकरण—मोक्षशास्त्र-तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता श्रीउमास्वामि (ति) कृत। श्रीहरिभद्रसूरिकृत संस्कृतटीका और साहित्याचार्य पं० **राजकुमारजी शास्त्री** एम० ए०, प्रोफेसर जैन कॉलेज बड़ौत (मेरठ) कृत सरल हिन्दी-टीका।

यह बहुत प्राचीन ग्रंथ है। श्रीउमास्वामी आचार्यने जैसे मोक्षशास्त्रके सूत्रोंमे संक्षेपमें सारे जैन तत्त्वोंका वर्णन किया है, वैसे ही ३१३ कारिकाओंमे वैराग्य-अध्यात्मका सुन्दर सरल स्पष्ट विवेचन इस ग्रंथमें किया है, इसमें १ पीठबन्ध, २ कषाय, ३ रागादि, ४ आठ कर्म, ५ पंचेन्द्रिय-विषय, ६ आठ मदस्थान, ७ आचार, ८ भावना, ९ दशविधि धर्म, १० धर्म-कथा, ११ जीवादि नवतत्त्व, १२ उपयोग, १३ भाव, १४ षड्द्रव्य, १५ चारित्र, १६ शीलके अंग, १७ ध्यान, १८ क्षपकश्रेणी, १९ समुद्घात, २० योग निरोध, २१ मोक्षगमन-विधान, २२ अन्तफल ऐसे २२ अधिकारोंमें सैकड़ों विषयोंका हृदयग्राही वर्णन है। आचार्यने जैनागमका सार इसमें भर दिया है। ग्रंथके अन्तमें श्रावकके व्रतोंका वर्णन है। सबसे अन्तमें अवचूरि अर्थात् मूल ग्रन्थपर टिप्पणी, कारिकाओंकी अनुक्रमणिका, संस्कृतटीकामें उद्धृत पद्योंकी वर्णानुक्रमणिका है। पृष्ठसंख्या २४० मूल्य सिर्फ ६) पोष्टेज ॥=)

३ इष्टोपदेश—आचार्यपूज्यपाद—देवनन्दिकृत मूलश्लोक, पं. प्रवर **आशाधरकृत** संस्कृतटीका, जैनदर्शनाचार्य **प. धन्यकुमारजी** शास्त्री एम. ए. साहित्यरत्नकृत सरल हिन्दी अनुवाद, स्व० बैरिष्टर **चम्पतरायजी** विद्यावारिधिकृत अंग्रेजीटीका, स्व. ब्र. **शीतलप्रसादजी**कृत हिन्दी दोहानुवाद, **अज्ञातकविकृत** मराठी पद्यानुवाद, **रावजीभाई** देसाईकृत गुजराती पद्यानुवाद, **जयभगवानजी** बी. ए. एल एल. बी. एडवोकेटकृत विस्तृत अंग्रेजी पद्यानुवादसे अलंकृत। इस ग्रन्थको जैनोपनिषद ही कहना चाहिए। संसारसे दुःखित प्राणियोंके लिए तो इसका उपदेश परमौषध है। इस ग्रन्थमें जिन बातोंका वर्णन है, उनका प्रचार और प्रसार होनेसे जगती-तलका बड़ा कल्याण होगा। छः परिशिष्टों सहित। पृष्ठसंख्या ९६. इतने सुन्दर ग्रन्थका मूल्य सिर्फ १॥) पो० ।—)

लाभकी बात—२०) के ग्रन्थ मँगानेपर ३) का ग्रंथ **सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र**—मोक्षशास्त्र-तत्त्वार्थसूत्र भेट मिलेगा, पर ग्रन्थोंका मूल्य पोष्टेज रजिष्ट्री खर्च निम्न पतेसे पहले आ जाना चाहिए।

सूचना—वी० पी० से ग्रन्थ नहीं भेजे जायँगे। जिन भाइयोंको ग्रंथ चाहिये, वे ग्रन्थोंका मूल्य, पोष्टेज और रजिस्ट्रीके छह आने मनिआर्डरसे पेशगी भेजनेकी कृपा करें। ऐसा करनेसे बढ़े हुए भारी पोष्टेजखर्चमे आठ दस आनेकी बचत होगी। रेलपार्सलसे मँगानेवाले भाई चौथाई दाम पेशगी भेजें। इकट्ठी मँगानेवाले, प्रभावनामें वितरण करनेवाले भाई पत्र-व्यवहार करें, हम उन्हें यथोचित कमीशन देंगे। दाम भेजनेका वर्तमानका पता—

वीरसेवामन्दिरके सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

(१) पुरातन-जैनवाक्य-सूची—प्राकृतके प्राचीन ६४ मूल-ग्रन्थोंकी पद्यानुक्रमणी, जिसके साथ ४८ टीकादिग्रन्थोंमें उद्धृत दूसरे पद्योंकी भी अनुक्रमणी लगी हुई है। सब मिलाकर २५३५३ पद्य-वाक्योंकी सूची। संयोजक और सम्पादक मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजी की गवेषणापूर्ण महत्वकी ७० पृष्ठकी प्रस्तावनासे अलंकृत, डा० कालीदास नागर एम. ए., डी. लिट् के प्राक्कथन (Foreword) और डा० ए. एन. उपाध्याय एम. ए. डी. लिट् की भूमिका (Introduction) से भूषित है, शोध-खोजके विद्वानों के लिये अतीव उपयोगी, बड़ा साइज, सजिल्द (जिसकी प्रस्तावनादिका मूल्य अलगसे पांच रुपये है) १५)

(२) आप्त-परीक्षा—श्रीविद्यानन्दाचार्यकी स्वोपज्ञ सटीक अपूर्वकृति, आप्तोंकी परीक्षा द्वारा ईश्वर-विषयके सुन्दर सरस और सजीव विवेचनको लिए हुए, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी के हिन्दी अनुवाद तथा प्रस्तावनादिसे युक्त, सजिल्द। ... ... ८)

(३) न्यायदीपिका—न्याय-विद्याकी सुन्दर पोथी, न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजीके संस्कृतटिप्पण, हिन्दी अनुवाद, विस्तृत प्रस्तावना और अनेक उपयोगी परिशिष्टोंसे अलंकृत, सजिल्द। ... ... ५)

(४) स्वयम्भूस्तोत्र—समन्तभद्रभारतीका अपूर्व ग्रन्थ, मुख्तार श्रीजुगलकिशोरजीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद छन्दपरिचय, समन्तभद्र-परिचय और भक्तियोग, ज्ञानयोग तथा कर्मयोगका विश्लेषण करती हुई महत्वकी गवेषणापूर्ण १०६ पृष्ठकी प्रस्तावनासे सुशोभित। ... ... २)

(५) स्तुतिविद्या—स्वामी समन्तभद्रकी अनोखी कृति, पापोंके जीतनेकी कला, सटीक, सानुवाद और श्रीजुगलकिशोर मुख्तारकी महत्वकी प्रस्तावनादिसे अलंकृत सुन्दर जिल्द-सहित। ... ... १॥)

(६) अध्यात्मकमलमार्तण्ड—पंचाध्यायीकार कवि राजमल्लकी सुन्दर आध्यात्मिक रचना, हिन्दीअनुवाद-सहित और मुख्तार श्रीजुगलकिशोरकी खोजपूर्ण ७८ पृष्ठकी विस्तृत प्रस्तावनासे भूषित। ... १॥)

(७) युक्त्यनुशासन—तत्वज्ञानसे परिपूर्ण समन्तभद्रकी असाधारण कृति, जिसका अभी तक हिन्दी अनुवाद नहीं हुआ था। मुख्तारश्रीके विशिष्ट हिन्दी अनुवाद और प्रस्तावनादिसे अलंकृत, सजिल्द। ... १)

(८) श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र—आचार्य विद्यानन्दरचित, महत्वकी स्तुति, हिन्दी अनुवादादि सहित। ... ।॥)

(९) शासनचतुस्त्रिंशिका—(तीर्थपरिचय)—मुनि मदनकीर्तिकी १३ वीं शताब्दीकी सुन्दर रचना, हिन्दी अनुवादादि-सहित। .. .. ।॥)

(१०) सत्साधु-स्मरण-मंगलपाठ—श्रीवीर वर्द्धमान और उनके बाद के २१ महान् आचार्यों के १३७ पुण्य-स्मरणोंका महत्वपूर्ण संग्रह, मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवादादि-सहित। ... ... ॥)

(११) विवाह-समुद्देश्य मुख्तारश्रीका लिखा हुआ विवाहका सप्रमाण मार्मिक और तात्त्विक विवेचन ... ॥)

(१२) अनेकान्त-रस-लहरी—अनेकान्त जैसे गूढ गम्भीर विषयको अतीव सरलतासे समझने-समझानेकी कुंजी, मुख्तार श्रीजुगलकिशोर-लिखित। ... ... ।)

(१३) अनित्यभावना—आ० पद्मनन्दी की महत्वकी रचना, मुख्तारश्रीके हिन्दी पद्यानुवाद और भावार्थ सहित ।)

(१४) तत्त्वार्थसूत्र—(प्रभाचन्द्रीय)—मुख्तारश्रीके हिन्दी अनुवाद तथा व्याख्यासे युक्त। ... ।)

(१५) श्रवणबेल्गोल और दक्षिणके अन्य जैनतीर्थ क्षेत्र—ला० राजकृष्ण जैनकी सुन्दर सचित्र रचना भारतीय पुरातत्व विभागके डिप्टी डायरेक्टर जनरल डा०टी०एन० रामचन्द्रनकी महत्व पूर्ण प्रस्तावनासे अलंकृत १)

नोट—ये सब ग्रन्थ एकसाथ लेनेवालोंको ३८॥) की जगह ३०) में मिलेंगे।

व्यवस्थापक 'वीरसेवामन्दिर-ग्रन्थमाला'
वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी
१०१) बा० शान्तिनाथजी कलकत्ता
१०१) बा० निर्मलकुमारजी कलकत्ता
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीरामबैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) रतनलालजी जैन कालका देहली
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली
१०१) ला० रतनलाल जी कालका वाले, देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली। मुद्रक-रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

सम्पादक-मण्डल
श्री जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'
बा० छोटेलाल जैन
बा० जयभगवान जैन एडवोकेट
पं० परमानन्द शास्त्री

१ समन्तभद्र-भारती—देवागम—[युगवीर — ३३
२ मद्रास और मयिलापुरका जैन-पुरातत्त्व—[छोटेलाल जैन — ३५
३ श्री नेमिनाथाष्टक (स्तोत्र)— — ४१
४ हिंसक और अहिंसक (कविता)—[मुन्नालाल 'मणि' — ४२
५ सत्यवचन माहात्म्य (कविता)—[मुन्नालाल 'मणि' — ४२
६ निर्मोहिया या नशियाँ—[पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री — ४३
७ तीर्थ और तीर्थंकर [पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री — ४८
८ राजस्थान के जैन शास्त्रभण्डारोंमें उपलब्ध महत्त्वपूर्ण-साहित्य [कस्तूरचन्दजी एम० ए० — ४९
९ सिंह-श्वान-समीक्षा—[पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री — ५१
१० ग्रन्थोंकी खोजके लिये ६००) रुपयेके छह पुरस्कार —[जुगलकिशोर मुख्तार — ५५
११ वीरसेवामन्दिरको प्राप्त सहायता — ५६
१२ सकाम-धर्मसाधन—[जुगलकिशोर मुख्तार — ५७
१३ सखि ! पर्वराज पर्यूषण आये (कविता)—[मनु 'ज्ञानार्थी' — ६१
१४ सम्पादकीय — ६२
१५ वीरसेवामन्दिरको स्वीकृत सहायता — ६३
१६ साहित्य परिचय और समालोचन —[परमानन्द जैन — ६४

अनेकान्त वर्ष १३
किरण २

ॐ अर्हम्

वर्ष १२ किरण २	वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली भाद्रपद वीर नि० संवत् २४८०, वि० संवत् २०११	अगस्त १९५४

समन्तभद्र-भारती

देवागम

स त्वमेवाऽसि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक्। अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते॥६॥

'(हे वीर जिन!) वह निर्दोष—अज्ञान तथा रागादि दोषोंसे रहित वीतराग और सर्वज्ञ-आप ही हैं; क्योंकि आप युक्ति-शास्त्राऽविरोधिवाक् हैं—आपका वचन (किसी भी तत्त्व-विषयमें) युक्ति और शास्त्रके विरोधको लिये हुए नहीं है। और यह अविरोध इस तरहसे लक्षित होता है कि आपका जो इष्ट है—मोक्षादितत्त्वरूप अभिमतअनेकान्तशासन है—वह प्रसिद्धसे—प्रमाणसे अथवा पर-प्रसिद्ध एकान्तसे—बाधित नहीं है; जब कि दूसरोंका (कपिल-सुगतादिकका) जो सर्वथा नित्यवाद-अनित्यवादादिरूप एकान्त अभिमत (इष्ट) है वह प्रत्यक्षप्रमाणसे ही नहीं किन्तु पर-प्रसिद्ध अनेकान्तसे भी बाधित है और इसलिए उन सर्वथा एकान्तमतोंके नायकोंमेंसे कोई भी युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक् न होनेसे निर्दोष एवं सर्वज्ञ नहीं है।'

त्वन्मताऽमृत-बाह्यानां सर्वथैकान्त-वादिनाम्। आप्ताऽभिमान-दग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥७॥

'जो लोग आपके मतरूपी अमृतसे—अनेकान्तात्मक-वस्तु-तत्त्वके प्रतिपादक आगम (शासन) से, जो कि दुःखनिवृत्ति-लक्षण परमानन्दमय मुक्ति-सुखका निमित्त होनेसे अमृतरूप है—बाह्य हैं—उसे न मान कर उससे द्वेष रखते हैं—'सर्वथा एकांतवादी हैं—स्वरूप-पररूप तथा विधि-निषेधरूप सभी प्रकारोंसे एक ही धर्म नित्यत्वादिको मानने एवं प्रतिपादन करनेवाले हैं—और आप्ताऽभिमानसे दग्ध हैं— वस्तुतः आप्त-सर्वज्ञ न होते हुए भी 'हम आप्त हैं' इस अहंकारसे भुने हुए अथवा जले हुएके समान हैं, उनका जो अपना इष्ट है—सर्वथा एकान्तात्मक अभिमत है—वह प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित है—प्रत्यक्षमें कोई भी वस्तु सर्वथा नित्य या अनित्यरूप, सर्वथा एक या अनेकरूप, सर्वथा भाव या अभावरूप इत्यादि नज़र नहीं आती—अथवा यों कहिये कि प्रत्यक्ष-सिद्ध अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्वके साथ साक्षात् विरोधको लिये हुए होनेके कारण अमान्य है।'

कुशलाऽकुशलं कर्म परलोकश्च न क्वचित् । एकान्त-ग्रह-रक्तेषु नाथ स्व-पर-वैरिषु ॥८॥

'जो लोग एकांतके ग्रहण—स्वीकरणमें आसक्त हैं, अथवा एकांतरूप ग्रहके वशीभूत हुए उसीके रंगमें रंगे हैं—सर्वथा एकान्त पक्षके पक्षपाती एवं भक्त बने हुए हैं और अनेकान्तको नहीं मानते, वस्तुमें अनेक गुण-धर्मों (अन्तों) के होते हुए भी उसे एक ही गुण धर्म (अन्त) रूप अंगीकार करते हैं—(और इसीसे) जो स्व-परके बैरी हैं—दूसरोंके सिद्धान्तोंका विरोध कर उन्हींके शत्रु नहीं, किन्तु अपने एक सिद्धान्तसे अपने दूसरे सिद्धान्तोंका विरोध कर और इस तरह अपने किसी भी सिद्धान्तको प्रतिष्ठित करनेमें समर्थ न होकर अपने भी शत्रु बने हुए हैं—उनमेंसे प्रायः किसीके भी यहां अथवा किसीके भी मतमें, हे वीर भगवान् ! न तो कोई शुभ कर्म बनता है, न अशुभ कर्म, न परलोक (अन्य जन्म) बनता है और (चकारसे) यह लोक (जन्म) भी नहीं बनता, शुभ-अशुभ कर्मोंका फल भी नहीं बनता और न बन्ध तथा मोक्ष ही बनते हैं—किसी भी तत्त्व अथवा पदार्थकी सम्यक् व्यवस्था नहीं बैठता । और इस तरह उनका मत प्रत्यक्षसे ही बाधित नहीं, बल्कि अपने इष्टसे अपने इष्टका भी बाधक है ।'

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात् । सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥९॥

'(हे वीर भगवन् !) यदि पदार्थोंके भाव (अस्तित्व) का एकान्त माना जाय—यह कहा जाय कि सब पदार्थ सर्वथा सत् रूप ही हैं, असत् (नास्तित्व) रूप कभी कोई पदार्थ नहीं है—तो इससे अभाव पदार्थोंका—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभावरूप वस्तु-धर्मोंका—लोप ठहरता है, और इन वस्तु-धर्मोंका लोप करनेसे वस्तुतत्त्व (सर्वथा) अनादि, अनन्त, सर्वात्मक और अस्वरूप हो जाता है, जो कि आपको इष्ट नहीं है—प्रत्यक्षादिके विरुद्ध होनेसे आपका मत नहीं है ।'

(किस अभावका लोप करनेसे क्या हो जाता अथवा क्या दोष आता है, उसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है:—)

कार्य-द्रव्यमनादि स्यात्प्रागभावस्य निन्हवे । प्रध्वंसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥१०॥

'प्रागभावका यदि लोप किया जाय—कार्यरूप द्रव्यका अपने उत्पादसे पहले उस कार्यरूपमें अभाव था इस बातको न माना जाय—तो वह कार्यरूप द्रव्य—घटादिक अथवा शब्दादिक—अनादि ठहरता है—और अनादि वह है नहीं, एक समय उत्पन्न हुआ यह बात प्रत्यक्ष है । यदि प्रध्वंस धर्मका लोप किया जाय—कार्यद्रव्यमें अपने उस कार्यरूपसे विनाशकी शक्ति है और इसलिए वह बादको किसी समय प्रध्वंसाभावरूप भी होता है, इस बातको यदि न माना जाय—तो वह कार्य-रूप द्रव्य—घटादिक अथवा शब्दादिक—अनन्तता—अविनाशताको प्राप्त होता है—और अविनाशी वह है नहीं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध होता है, प्रत्यक्षमें घटादिक तथा शब्दादिक कार्योंका विनाश होते देखा जाता है । अतः प्रागभाव और प्रध्वंसाभावका लोप करके कार्यद्रव्यको उत्पत्ति और विनाश-विहीन सदासे एक ही रूपमें स्थिर (सर्वथा नित्य) मानना प्रत्यक्ष-विरोधके दोषसे दूषित है और इसलिए प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभावका लोप किसी तरह भी समुचित नहीं कहा जा सकता । इन अभावोंको मानना ही होगा ।'

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्याऽपोह-व्यतिक्रमे । अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा ॥११॥

'यदि अन्याऽपोहका—अन्योन्याभावरूप पदार्थका—व्यतिक्रम किया जाय—वस्तुके एक रूपका दूसरे रूपमें अथवा एक वस्तुका दूसरी वस्तुमें अभाव है इस बातको न माना जाय—तो वह प्रवादियोंका विवक्षित अपना-अपना इष्ट एक तत्त्व (अनिष्टात्माओंका भी उसमें सद्भाव होनेसे) अभेदरूप सर्वात्मक ठहरता है—और इसलिए उसकी अलगसे कोई व्यवस्था नहीं बन सकती । और यदि अत्यन्ताभावकासमलोप किया जाय—एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें सर्वथा अभाव है इसको न माना जाय—तो एक द्रव्यका दूसरेमें समवाय-सम्बन्ध (तादात्म्य) स्वीकृत होता है और ऐसा होने पर यह चेतन है, यह अचेतन है इत्यादि रूपसे उस एक तत्त्वका सर्वथा भेदरूपसे कोई व्यपदेश कथन) नहीं बन सकता ।' —युगवीर

मद्रास और मयिलापुरका जैन-पुरातत्त्व

(छोटेलाल जैन)

अभी जब मूडबिद्रीकी सिद्धान्तवसतिमें सुरक्षित आगम ग्रन्थ (धवलादि) की एक मात्र प्रतियोंके फोटो प्राप्त करनेके उद्देश्यसे दक्षिणकी यात्रा करनी पड़ी थी. वहां का कार्य समाप्त कर मैं सितन्नवामल' सिद्धक्षेत्रके फोटो लेता हुआ मद्रास गया था। वहां 'दक्षिणके जैनशिलालेखोंका संग्रह' नामका एक ग्रन्थ, जो कई वर्षोंसे वीरशासनसंघके लिए तैयार कराया जा रहा था, उसको शीघ्र पूर्ण करानेके लिये मुझे वहां प्रायः एक मास ठहर जाना पड़ा। इस दीर्घ समयका उपयोग मैंने मद्रास और उसके निकटवर्ती स्थानोंके जैन पुरातत्त्वका अनुसन्धान करनेमें किया। उसीके फलस्वरूप जो किंचित इतिहास मद्रासका मैं प्राप्त कर सका उसे आज पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत करता हूँ।

मद्रास नगरका इतिहास मात्र तीन शताब्दी जीवन-कालके क्रमिक विकास (वृद्धि) का है। वर्तमानका विस्तीर्ण यह नगर, जो सन् १६३९ में स्थापित हुआ था, अंग्रेजोंके आगमनके सैकड़ों वर्ष पूर्व विभिन्न छितरे हुए ग्रामोंके रूपमें था, 'मद्रास' शब्दकी उत्पत्ति इन्हीं ग्रामोंमेंसे एक ग्रामके नामसे हुई है जो 'मद्रासपटम्' कहलाता था, और जो 'चीनपटम्' (वर्तमानका फोर्ट सेंट जार्ज दुर्ग) के निकट उत्तरकी ओर तथा सैनथामी' (मयिलापुर) के उत्तर तीन मील पर था। यह नगर बंगोपसागरके तट पर अवस्थित है और उपकूलके साथ साथ ९ मील लम्बा तथा तीन मील चौड़ा है, जिसका क्षेत्रफल प्रायः ३० वर्ग मील है। इसकी संस्थिति समुद्र-तल (Sea-level) के बराबर है और इसका सर्वोच्च प्रदेश समुद्रतटसे कुल २२ फीट ऊँचा है।

किन्तु इसके चारों ओरके प्रदेशोंका अतीत गौरव और ऐतिहासिक गुरुत्व तथा इसके कुछ भागों (जैसे ट्रिप्लिकेन, मयिलापुर और तिरुओट्टियूर) और पल्लवरम् जैसे उप-नगरोंने भूतकालमें जो महत्व प्राप्त किया था वह वास्तवमें अत्यन्त चित्ताकर्षक है। मद्रासके निकटके अंचलोंमें अनेक प्रागैतिहासिक अवशेष, प्रस्तरयुगकी समाधियाँ, प्रस्तरनिर्मित शवाधार (कब्रें) और पत्थरकी चक्रियाँ और अन्य पुरातत्त्वकी सामग्री प्राप्त हुई है, जो इतिहास और मानव-विज्ञानके अनुसन्धाताओंके लिए बहुत ही उपयोगी है।

ऐतिहासिक कालका विचार करने पर हम देखते हैं कि इसके निकटके कई अंचल और आस-पासके अनेक ग्राम एक समय संस्कृति और धर्मोंके केन्द्र रह चुके हैं।

कुरुम्ब-जाति

कर्नल मेकेन्जीने हस्तलिखित ग्रन्थों और लेखोंका बहुत बड़ा संग्रह किया था, जो अब मद्रासके राजकीय पुस्तकालयमें सुरक्षित है। इनका परिचय और विवरण टेलर साहबने सन् १८६२ में 'कैटेलोगरेशिोने आफ़ ओरियन्टल मान्युस्क्रिप्ट्स इन दि गवर्नमेंट लायब्रेरी' नामक बृहद् ग्रन्थमें प्रकाशित किया था। इनमें दक्षिण भारतके इतिहासकी प्रचुर सामग्री है। कुरुम्ब जातिके सम्बन्धमें भी अनेक विवरण इसमें उप-लब्ध हैं, उन्हींके आधारसे हम यहां कुछ लिख रहे हैं:—

कुरुम्ब-जातिके लोग भारतके अति प्राचीन अधिवासी हैं और वे अपनी द्रविड जातीय वल्लवोंसे भी पूर्व यहां बसे हुए थे। किन्तु परवर्ती कालमें ये दोनों जातियाँ परस्पर मिश्रित हो गई थीं।

भारतीय इतिहासमें कुरुम्बोंने उल्लेखनीय कार्य किये हैं। अति प्रसिद्ध 'टोन्डमण्डलम्' प्रदेशका नाम, जिसकी राजधानी एक समय कांचीपुरम् थी, 'कुरुम्ब-भूमि' या 'कुरुम्बनाडु' था। सर वाल्टर ईलियट (सहायकग्रन्थ १,४) के अभिमतसे तो 'द्राविड देशके बहुभागका नाम कुरुम्ब भूमि था और जिसका विस्तार कोरोमण्डलसे मलाबार उपकूल तक इस सम्पूर्ण प्रायोद्वीपके किनारे तक था। इस प्रदेशके पूर्व भागका नाम 'टोण्डमण्डलम्' तो तब पड़ा था जबकि चोलोंने इसे विजित किया था। इनके अभिमतसे चोलवंशके नृपति कारिकालने कुरुम्बोंको जीता था। इस प्रान्तका चौबीस जिलों (कोट्टम्) में विभाजनका श्रेय कुरुम्बों को है।"

गस्टव आपर्ट (स० ग्र० २) साहबने इनकी व्युत्पत्ति, को (कु) = पर्वत शब्दके वर्धित रूप 'कुरु' से की है। अस्तु, कुरुब या कुरुम्बका अर्थ होता है पर्वतवासी।

मूलतः ये यादववंशी थे जिन्होंने कौरव पाण्डव (महा-भारत) युद्धमें भाग लिया था। तत्पश्चात् इनके वंशधर विभिन्न क्षेत्रोंमें तितर-बितर हो गए थे। अति प्राचीन कालमें ये जैनधर्मानुयायी थे। किसी समय कर्नाट देशसे इन लोगोंने द्राविड देशमें 'टोण्डमण्डलम्' तक विस्तार किया

था (थे फैले थे) उस समय ये स्वतन्त्र थे। जब इनमें परस्पर मतभेद और द्वन्द्व होने लगे तब इन्होंने यह उचित समझा कि किसी प्रधानका निर्वाचन कर लिया जाय, जो उनमें ऐक्य स्थापित कर सके। अतः अपनेमें से एक बुद्धिमान नेताको उन्होंने कुरुम्ब-भूमिका राजा मनोनीत किया, जो कमण्ड कुरुम्ब-प्रभु या पुलल राजा कहलाने लगा।

कुरुम्ब-भूमि (जो टोण्डमण्डलम्के नामसे प्रसिद्ध है) प्रदेशमें वह क्षेत्र सम्मिलित है, जो नेल्लोरमें प्रवाहित नदी पेन्नार और दक्षिण आरकटकी नदी पेन्नारके मध्यकी भूमिका है। उस कुरुम्ब प्रभुने अपने राज्यको चौबीस कोट्टम् या जिलोंमें विभाजित किया, जिनमें प्रत्येकके मध्य एक-एक दुर्ग था और जो एक-एक राज्यपालक अधिकारमें था। इन कोट्टम् (जिलों) में ७६ नाडु या ताल्लुके (Taluks) बनाए गए। एक-एक जिलेमें एकसे पांच तक नाडु थे। नाडुओंके भी नागरिक विभाग किये गए, जिनकी कुल संख्या एक हजार नौ सौ था। कुरुम्ब प्रभुने 'पुरलूर' (पुलल या पुज्हलूरदुर्ग) को अपनी राजधानी बनाई। मद्रासपटम् ग्राम (आधुनिक मद्रास) और अनेक अन्य ग्राम इसी कोट्टम् या जिलेमें थे।

उपरोक्त कोट्टम् या जिलोंमेंसे कुछके नाम ये हैं:— पुरलूर (राजकीय दुर्ग,) कल्लटूर, आमूर, पुलियूर, चेम्बूर, उत्तरीकाडु, कलियम्, वेनगुन, इकथूकोट्ट, पडुवूर, पट्टिपुलम्, सालकुप्पम्, सालपाकम्, मेयूर, कडलूर, अलपरि, मरकानम् इत्यादि।

उस समय देश-विदेशके वाणिज्य पर विशेष ध्यान दिया गया और विशेषकर पोतायन (जहाजों) द्वारा व्यवसायकी अभिवृद्धि बहुत की गई, जिससे कुरुम्ब अति समृद्धिशाली हो गए।

पुरलूर राजनगरीमें एक दि० जैन मुनिके पधारने और उनके द्वारा धर्मप्रचार करनेकी स्मृतिमें एक जैन वसति (मंदिर) उन कुरुम्बप्रभुने वहां बनवाई थी। सन् १८६० के लगभग टेलर साहबने (ग्रन्थ ३) पुरलूरमें जाकर इस प्राचीन वसति और कई मन्दिरोंके भग्नावशेष देखे थे। उन्होंने लिखा है कि समय-समय पर अब भी जैनमूर्तियाँ धानके खेतोंसे उपलब्ध होती रहती हैं किन्तु जैनोंके विपक्षी हिन्दू या तो उन्हें नष्ट कर देते हैं या उन्हें जमीन में पुनः गाड़ देते हैं।

जब कुरुम्ब लोग उत्तरोत्तर समृद्धि प्राप्त करते तथा सुख-शान्तिसे जीवन यापन करते हुए राज्य कर रहे थे तब चोल और पाण्ड्य राजा इनपर बार-बार आक्रमण करने लगे किन्तु वे कुरुम्बोंको परास्त करनेमें असमर्थ रहे; क्योंकि कुरुम्ब गण वीर थे और रणाङ्गणमें प्राण विसर्जन करने की पर्वाह नहीं करते थे। अपनी स्वतन्त्रताको वे अपने प्राणोंसे अधिक मूल्यवान समझते थे। कई बार तो ऐसा हुआ है कि आक्रमणकारी राजा पकड़े जाकर पुरलदुर्गके सामने पद्-श्रृखलाओंसे कारावद्ध कर दिये गये।

इन वीर कुरुम्बोंके इतिहासका अभी तक आवश्यक अनुसंधान नहीं हुआ है और इनके सम्बन्धमें अनेक विवरण तामिलके संगम साहित्य और विशेषकर शैवमतके तामिल ग्रंथोंमें उपलब्ध होते हैं। यद्यपि ये शैवग्रन्थ अपने मतकी अतिशयोक्तियोंसे ओत-प्रोत हैं तो भी इनमें ऐसी अनेक बातें मिलती हैं जिनसे इतिहासकी किसी अंश तक पूर्ति होती है। अब हम पाठकोंको उस साहित्यके उपलब्ध विवरणोंसे प्राप्त संक्षिप्त तथ्यके अनुसार कुरुम्बोंकी आगेकी वार्ता बताते हैं:—

चोल और पाण्ड्य राजाओंके बार-बारके आक्रमण असफल होते रहनेसे द्वेषाग्नि और ईर्षा उत्तरोत्तर बढ़ती गई और शैवमतके धर्मान्ध आचार्योंने जैन कुरुम्बोंके विरुद्ध द्वेषाग्निमें आहूति प्रदान करना प्रारम्भ कर दिया। उनके कथनसे अन्तमें 'आडोन्डई' नामक चोलनृपति, जो कुलोत्तुंग चोलराजाका औरसपुत्र था, उसने कुरुम्बराजधानी 'पुरलूर' पर एक बहुत बड़ी सेना लेकर आक्रमण किया। दोनों ओरसे घमासान युद्ध हुआ और अनेक वीर आहत-निहत हुए, किन्तु आडोन्डई राजाको तीन चौथाई सेनाके खेत आजानेसे उसके पाँव उखड़ गए और उसने अवशिष्ट सेनाके साथ भागकर निकटके स्थानमें आश्रय लिया (वह स्थान अब भी 'चोलनपेडू' के नामसे पुकारा जाता है)। शोकाभिभूत होकर उसने दूसरे दिन प्रातःकाल तंजोर लौट जानेका विचार किया। किन्तु रात्रिके एक स्वप्नमें शिवजीने प्रगट होकर उन्हें आश्वासन दिया कि कुरुम्बोंपर तुम्हारी पूर्ण विजय होगी। इस स्वप्नसे प्रोत्साहित हो वह पुनः रणक्षेत्रपर लौटा और कुरुम्बोंको परास्त कर कुरुम्ब नृपतिको तलवारके घाट उतार दिया और पुरलदुर्गके बहुमूल्य धातुके कपाटोंको उखाड़कर तंजोर भेजकर वहांके शैवमन्दिरके गर्भगृहमें उन्हें लगवा दिया गया। इसके बाद क्रमसे अन्य अवशिष्ट तेईस दुर्गोंको भी जीतकर और उनके शासकोंका

वध कर मारी कुरुम्बभूमि पर अधिकार कर उसका नाम 'टोण्डमण्डलम्' रख दिया।

इस कथानकका बहुभाग 'तिरुमूलैत्रयल्पटिकम्' नामक शैव ग्रन्थसे लिया गया है। टेलर साहबके अभिमतसे (सं. ग्रं.३, पृ. ४४२) इस कथाका सारांश यह है कि हिंदुओंने कोलीरुन नदीके दक्षिणकी ओरके देशमें तो उपनिवेश अति प्राचीनकालमें स्थापित कर लिया था और उपर्युक्त युद्धके समयसे मद्रासके चतुर्दिकवर्ती देशमें उन्होंने पदार्पण किया। राजनैतिकके साथ-साथ धर्मान्धता भी इस आक्रमणका कारण थी; क्योंकि जैनधर्मके प्राधान्यको चूर्ण करना था। शैवमतका प्रभुत्व हो जाना ही इस युद्धका मुख्य परिणाम हुआ। यद्यपि लिङ्गायत मतमें अनेक कुरुम्बोंको परिणत कर दिया गया, तो भी कुरुम्बोंसे जैनधर्म विहीन न हो सका।

चोल राजाओंका अब तक जितना इतिहास प्रगट हो चुका है उसमें 'आडोन्डई' नामके किसी भी नृपतिका नाम नहीं मिलता है। हां, कुलोत्तुङ्ग चोल राजाका इतिहास प्राप्त है. उनका समय है सन १०७० से ११२०। इसी प्रकार करिकाल चोलराजाका भी थोडा इतिहास अवश्य प्राप्त है. उनका समय पचम शताब्दीसे पूर्वका है किन्तु यह युद्ध उनके समय नहीं हुआ था। मैं तो इस युद्धको १२ वीं शताब्दीके बादका मानता हूं। इसका अनुसंधान मैं कर रहा हूँ।

पुरल (पुरुलूर) मे और इसके निकटवर्ती क्षेत्रमें अब क्या-क्या बचा हुआ है इसका अनुसंधान करनेके लिये सन् १८८७ के लगभग आपर्ट साहब भी (स.ग्रं२) वहाँ स्वय गये थे। उन्होंने लिखा है (पृ० २४८)—यह प्राचीन नगर मद्रास नगरसे उत्तर-पश्चिम आठ मील पर है और 'रेडहिल्स' नामक बृहत् जलाशय (जहां से मद्रासको अब पेयजल दिया जाता है) के पूर्वकी ओर अवस्थित है। इस क्षेत्र (Red Hills) के पल्ली नामक स्थानसे पुझलूर (पुरल) का प्राचीन दुर्ग था उस स्थानको अब भी लोग दिखाते है और वहां उसकी प्राचीरके कई भग्नावशेष विद्यमान है। मद्रासपर चढाई करनेके समय हैदरअली यहीं ठहरा था। पुरलको 'वाण पुलल' भी कहते है और उसके निकट 'माधवरम्' नामका एक छोटा गाँव भी है। दक्षिण-पूर्वकी ओर एक मीलपर वर्तमान पुललग्राम है जिसमें आपर्ट साहबने तीन मन्दिर देखे थे, "एक आदि तीर्थंकरकी जैनवसति—जो उस समय यद्यपि जीर्णावस्थामें थी. तो भी वहाँ पूजा होती थी और वह प्राचीन समझी जाती थी। दूसरा मन्दिर वैष्णव था, जो प्राचीन नहीं था और तीसरा शैव मन्दिर था उसे 'आडोन्डई' चोलनृप द्वारा निर्मित कहा जाता था।' पुझलूर में भी गत मई मासमें गया था। वहाँ अब भी एक प्राचीन विशाल दिगम्बर जैन मन्दिर है जिसमें मूलनायक प्रथम तीर्थंकर आदिनाथकी एक बहुत बडी पद्मासन प्रस्तर-मूर्ति है जो बड़ी मनोज्ञ है। मंदिरके चारों ओरका क्षेत्र बड़ा ही चित्ता-कर्षक और प्राकृतिक सौन्दर्यको प्रदर्शित करता है। दिगम्बर जैनोंमें यह रिवाज है, खासकर दक्षिणमें, कि प्रत्येक मन्दिरको किसी जैन दिगम्बर ब्राह्मण पुजारीके आधीन कर दिया जाता है जो वहां दैनिक पूजा, आरती किया करता है तथा उसकी देखभाल करता रहता है और मन्दिरका चढावा तथा उसके आधीन सम्पत्तिसे आयका किंचित् भाग उसे पारिश्रमिकके रूपमें प्राप्त होता रहता है। ऐसे मन्दिरोंके आस-पास जहां श्रावक नहीं रहे वहांके मन्दिरोंके पुजारी स्वयं सर्वेसर्वा बनकर उसकी सम्पत्तिको हड़प रहे हैं—ऐसे कई क्षेत्र मैंने देखे हैं। जिन मन्दिरोंकी बड़ी-बड़ी जमींदारी थी उन्हें ये हड़प चुके हैं और दक्षिणका दिगंबर जैन समाज ध्यान नहीं दे रहा है. यह दुःख की बात है। इसी पुझलूर (पुरल) दिगम्बर मन्दिरके पुजारीने भी ऐसा ही किया है। उस प्राचीन दिगम्बर मन्दिरकी मूलनायक ऋषभदेवकी मूर्तिपर चक्षु लगा दिये गए हैं। हमारे श्वेताम्बर भाई दिगम्बर मन्दिरोंमें पूजा-पाठ करें यह बहुत ही सराहनीय है और हम उनका स्वागत करते हैं; किन्तु यह कदापि उचित नहीं कहा जा सकता है कि वे किसी भी दिगम्बरमूर्ति पर आभूषण और चक्षु लगावें। यह चक्षु और आभूषण लगानेकी प्रथा स्वयं श्वेताम्बरोंमें भी प्राचीन नहीं है। यह शृंगारकी प्रथा तो पड़ौसी हिन्दुओंकी नकल है। बौद्धोंपर इनका प्रभाव नहीं पड़ा, इसीलिये उनकी मूर्तियोंमें विकार नहीं आया। समस्त परिग्रहत्यागी, निर्ग्रन्थ, वीतराग, बनवासी महात्माको यदि आभूषणसे शृंगारित कर दिया जाय तो किसीको भी अच्छा नहीं लगेगा और उसके सच्चे जीवनको भी वह कलंकित करेगा। क्या महात्मा गांधीजी की मूर्तिको आज कोई आभूषणोंसे सजानेका साहस करेंगे? फिर तीर्थंकर तो निर्ग्रंथ थे। ऊपर जिस पुझलूर (पुरल) जिलेका वर्णन किया गया है उसी पुझलूर जिलेके अन्तर्गत मद्रास अवस्थित था।

कुछ वर्ष हुए श्रीसीताराम आयर इन्जीनियरके नं० ३०

लायड्स स्ट्रीट रायपेट्टा (मद्रास) की जमीनसे ५ जैन मूर्तियाँ भवनके लिए नीव खोदते समय प्राप्त हुई थीं। श्री सीतारामने इनमेंसे ४ मूर्तियाँ तो किसी गाँवमें भेज दी थीं और एक मूर्ति अब भी उसी भवनके बाहरी आँगनमें पड़ी हुई है जिसका फोटो मैंने अभी ता० ४ मईको लिया था। यह पद्मासन मूर्ति महावीर स्वामी की है, और प्रायः ३८ इंच ऊँची है (चित्र)।

राजा सर अन्नमलाई चेट्टियर रोड, मद्रास, निवासी रायबहादुर एस. टी. श्रीनिवास गोपालाचारियरके पास दश-बारह जैन मूर्तियाँ हैं। इसी प्रकार न जाने मद्रासके कितने ही अन्य स्थानोंमें जैन मूर्तियाँ पड़ी होंगी, जिनका हमें पता ही नहीं है। और कितनी ही भूगर्भमें होंगी।

अब हम पाठकोंको मद्रासके ही एक विशिष्ट अंचलके सम्बन्धमें कुछ बताना चाहते हैं—वर्तमान पौर-सीमान्तर्गत 'मयिलापुर' नगरके दक्षिण भागमें अवस्थित है। इसकी प्राचीनता कमसे कम २० शताब्दी (द्विसहस्र) काल की है। और उस समयके उच्च श्रेणीके 'ग्रीक-रोमन' भूगोलज्ञ और वणिकों ने इस नगरकी महानताका उल्लेख किया है।

'मयिल' या 'मयिलै' का अर्थ है मयूरनगर। तामिल भाषामें मोरको मयिल कहते हैं। सन् १६४० में ईस्ट इंडिया कंपनी (अंग्रेजों) द्वारा फोर्ट सेंट जार्ज दुर्गके निर्माणसे मद्रासका उत्पादन सम्भव हुआ, और मयिलापुर उस नूतन नगरके अन्तर्गत होकर उसमें मिल गया।

ई० पू० प्रथमशताब्दीके उत्तरार्ध के पवित्र 'तिरुकुरल' के अमर सृष्टा (रचयिता) लोक प्रसिद्ध तामिल सन्त 'तिरुवल्लुवर' मयिलापुरके निवासी थे। ये जैनधर्मानुयायी थे (देखो. ए. चक्रवर्तीकी तिरुकुरल)। परम्परागत प्रवादसे ज्ञात होता है कि प्राचीनकालमें समुद्रतटके किनारे (Foreshore उस अंश पर जहां भाटाके समय जल नहीं रहता है), मयिलापुरमें एक बड़ा मन्दिर था, जिसे समुद्रके बढ़ आनेके कारण त्यक्त करना पड़ा था। इस घटनाका समर्थन जैन और क्रिश्चियन दोनों ही जन-श्रुतियोंसे होता है।

मयिलापुर कांचीके पल्लवराज्यका पोताश्रय (बन्दर) था। पल्लव नरेश नन्दिवर्मन तृतीयको मल्लयिवेन्दन अर्थात् मल्लयि या मामल्लपुरम् के नृपति और मयिलैकलन् अर्थात् मयिलापुरके रक्षक और अभिभावकके विरुद दिए गए थे। टोंडमण्डलम्के पुलियूरका यह एक भाग था। यह नगर जैनों और शैवोंके धार्मिक कार्य-कलापका केन्द्र था। और सप्तमशताब्दीके प्रसिद्ध शैव सन्यासी 'तिरुज्ञानसम्बन्ध' का यह भी कर्मक्षेत्र था। तिरुज्ञानसम्बन्धने जैनों पर बहुत उत्पीड़न किया था।

१६ वीं १७ वीं शताब्दियोंमें मयिलापुरका अपने निकट के नगर सैनथामीसे घनिष्ट सम्बन्ध था। ऐसी जनश्रुति है कि १६०० वर्ष पूर्व सेन्ट थामसने मयिलापुर और उसके निकटस्थ स्थानोंमें क्रिश्चियन धर्मका प्रचार किया था। मयिलापुरके सैनथामी गिरजाघरमें उनकी कब्र है। उन्हींके नामसे उस अंचलका नाम सैनथामी पड़ा था। यह दुःखकी बात है कि गिरजाघरकी नींवमें प्राचीन मन्दिरोंके पत्थरोंका उपयोग किया गया है।

सन् १४० में प्रसिद्ध भूगोलज्ञ टालेमीने दक्षिणभारतके पूर्व उपकूल पर स्थित जिस महत्वपूर्ण स्थानका मलियारफाके नामसे वर्णन किया है वह और मयिलापुर दोनों अभिन्न हैं। मलियारफा, टामिल शब्द मयिलापुरका अनुवाद है।

१६वीं शताब्दीमें 'डुआरेट बारबोसा', नामक प्रसिद्ध समुद्र यात्रीने क्रस्टानोंके इस पूज्य स्थानको उजड़ा हुआ देखा था। सन् १५१२में पुर्तगाल वासियोंने यहां उपनिवेश बनाया और कुछ ही समय बाद सेन्ट थामसकी कब्रके चारों ओर एक दुर्गका निर्माण किया और उसका नाम रक्खा 'सैन थामी दी मेलियापुर'।

प्राचीन कालमें मयिलापुर (अपर नाम वामनाथपुर) जैनोंका एक महान् केन्द्र था, वहां २२वें तीर्थंकर श्रीनेमिनाथका प्राचीन मन्दिर था, यह मन्दिर उसी जगह पर था जहां अब सैनथामी गिर्जाघर अवस्थित है। एक विवरणके अनुसार यह मन्दिर बढ़ते हुए समुद्रके उदरमें समा गया था और अन्य कई लोगोंके मतानुसार पुर्तगाल-वासियोंने धर्म-द्वेषके कारण इसका विध्वंसकर इसकी सारी सम्पत्तिका अपहरण कर लिया था।

कहते हैं कि १५वीं शताब्दीके शेष भागमें समुद्र बढकर मन्दिरके निकट आ गया था और भय हुआ कि मन्दिर डूब जायगा, इससे वहां की मूल नायक प्रतिमा (नेमिनाथकी) वहांसे हटाकर दक्षिण आरकट जिलान्तर्गत चित्तामूरके जैन मन्दिरमें विराजमान कर दी गई, जहां पर अब भी इस प्रतिमाकी पूजा होती है। उपर्युक्त नेमिनाथ मंदिर तथा अन्य जैन मन्दिरोंके मयिलापुरमें अस्तित्वके साहित्यिक और पुरातात्विक प्रमाण भी उपलब्ध हैं।

वीर शासन सघ कलकत्ता से प्राप्त

जैन-मन्दिरका गोपुर-तिरुपरुट्टिकुत्रम (जिनकांची)
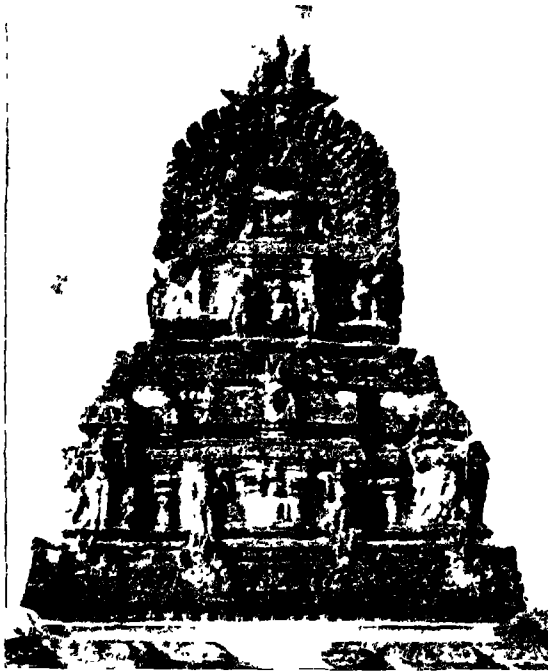
जैन-मन्दिर का शिखर—तिरुपरुट्टिकुत्रम (जिनकांची)

सैन थामी अनाथालय (मयिलापुर) की भूमि से प्राप्त तीर्थंकर मूर्त्ति

वीर शासन संघ कलकत्ता मे प्राप्त

महावीर, ३० लायड स्ट्रीट, रायपेटा (मद्रास)

मयिलापुर में नारियल के कुञ्ज मे प्राप्त
सुपार्श्वनाथ १० वीं शती

१२ वीं शताब्दी का शिला लेख, सेन थामी स्कूल
मयिलापुर (मद्रास)

१ ली पंक्ति— " उटपड नेमिनाथ स्वामिकु [कु]
२ री पंक्ति—क्कुडुत्तोम डवड पल्लनदीपरा "'

सेन्ट थामी स्कूलके मुख्य द्वार पर ले जाने वाली अंतिम सोपानके दक्षिणकी ओरसे एक खंडित शिला-लेख कुछ समय पूर्व प्राप्त हुआ था। यह प्रस्तर खण्ड ३६×१२ इंच-का है। और इस पर तामिलभाषामें निम्न लेख अङ्कित है ..(देखो चित्र ※)

(प्रथम पंक्ति)··········उटपड नेमिनाथ स्वामिक (कु)
(द्वितीय पंक्ति ··········कडुत्तोम इवै पलन्दी परा
अनुवादक······(इन सबके) सहित हम नेमिनाथ स्वामी को प्रदान करते हैं। (यह हस्ताक्षर हैं) पलन्दीपराके।
(देखो ग्रं० ४ और ५)

इससे स्पष्ट विदित होता है कि मयिलापुरमें नेमिनाथ स्वामीका मन्दिर था और शिलालेखकी प्राप्ति स्थानसे यह निश्चितरूपसे मालूम होता है कि ठीक इसी स्थानके आस-पास कहीं प्राचीन जैन मन्दिर था। इसकी पुष्टि करने वाले अनेक साहित्यिक प्रमाण भी उपलब्ध हैं।

१३ वीं शताब्दीके एक जैनकवि अविरोधि अाल्वरकी तामिलके १०३ पद्योंकी नेमिनाथकी स्तुति 'थिरुनुट्र अन्दथि' में उनके मयिलापुर स्थित मन्दिरका प्रथम पद्यमें ही उल्लेख किया है। इस कविने 'नेमिनाथाष्टक' नामके एक संस्कृत स्तोत्रकी भी रचना की है।

१३ वीं शताब्दीके एक दूसरे ग्रन्थकार गुणवीर पंडितने 'सिन्नुल' नामक अपने तामिल व्याकरणको मयिलापुरके नेमिनाथको समर्पित करते हुए उसका नाम 'नेमिनाथम्' रखा था। 'उर्वालिथेवर' नामके एक जैन मुनिने अपने ग्रन्थ 'थिरुकलंबहम्', में मयिलापुरका उल्लेख किया है×।

इस मयिलापुरके नेमिनाथको 'मयिलयिनाथ' अर्थात् मयिलापुरके नाथ भी कहते हैं। तामिलभाषाके अतिप्राचीन और सुप्रसिद्ध व्याकरण 'नन्नुल' पर एक टीका है जो दक्षिण भारतमें आज भी अति सम्मानार्ह है। उसके रचयिता मयि-लापुरके नेमिनाथ स्वामीके बड़े भक्त थे। उन्होंने भक्तिवश अपना नाम ही 'मयिलयिनाथ' रख लिया था।

अंग्रेज़ी जैनगजटके भूतपूर्व सम्पादक मद्रास निवासी श्री सी. एस. मल्लिनाथके पास तामिल लिपिमें लिखा हुआ एक प्राचीन ताडपत्रोंका गुटका (संग्रहग्रन्थ) है जिसकी कुल पत्रसंख्या २१३ है। प्रत्येक पत्र १४३/४×१३/४ इंच है। और प्रत्येक पत्रमें ७ पंक्तियां हैं। इस संग्रह ग्रंथके ६१वें पत्र पर एक 'नेमि नाथाष्टक' संस्कृत स्तोत्र है उसमें (देखो, परिशिष्ट पृ० ४१) इन मयिलापुरके नेमि-नाथका और उस मन्दिरका सुन्दर वर्णन किया गया है। इस स्तोत्रमें मन्दिरकी स्थिति भीमसागरके मध्य लिखी है इससे यह विदित होता है कि समुद्रके उस भाग (बंगोप सागर) का नाम भीमसागर था। किन्तु यह अभी निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इसकी पुष्टिके लिये अन्य प्रमाणोंके अनुसन्धानकी आवश्यकता है। या यह भी हो सकता है कि वह मन्दिर भीमसागर नामके किसी विशाल जलाशयके मध्यमें स्थित रहा हो, जैसाकि पावापुर (बिहार) में भगवान महावीरका जलमन्दिर (निर्वाणक्षेत्र) है। और कारकलके निकट वरंगलका जैनमन्दिर। इम्पीरियल गजेटियर के जिल्द xvi में एक नक्शा है जिसमें कपलेश्वर स्वामी मन्दिरके पास भीमसपेट है। वहाँ एक बड़ा तलाब भी है। क्या भीमसागर यहाँ था? इस प्रश्न पर भी विचार करना है।

इस समय पश्चिम 'टिन्डिवनम्' ताल्लुकमें 'चित्तामूर' ग्राममें नेमिनाथका एक मन्दिर है। जनश्रुति है कि नेमि-नाथ स्वामीकी वह मूर्ति मयिलापुरसे लाकर यहाँ विराजमान की गई थी; क्योंकि समुद्रके बढ़आनेसे मन्दिर जलमग्न हो चला था।

दक्षिण आरकाट जिलेका (दिगम्बर) जैनोंका मुख्य केन्द्रस्थान 'चित्तामूर' (सितामूर) है। वहां एक भव्य जैन मन्दिर,है, और तामिल जैन प्रान्तके भट्टारकजीका मठ भी है। मन्दिरके उत्तरभागमें नेमिनाथस्वामीकी वह मनोज्ञ-मूर्ति विराजमान है। यह मूर्ति मयिलापुर से वहां लाई गई थी। इस घटनाकी पुष्टि (ग्रं० ३,६) से भी होती है। ग्रन्थ नं० ३, से मालूम होता है कि एक बार किसी साधुको स्वप्न हुआ कि वह नगर (मयिलापुर) शीघ्र समुद्रसे आच्छन्न हो जायगा। अस्तु, वहांकी मूर्तियोंको हटा-कर समुद्रसे कुछ दूर मयिलमनगरमें ले आये और वहाँ अनेक मन्दिरोंका निर्माण हुआ। कुछ कालबाद दूसरी बार सावधान वाणी हुई कि तीन दिनके भीतर मयिलमनगर जल-मग्न हो जायेगा, इसलिए जैनों द्वारा वे मूर्तियाँ और भी दूर स्थानान्तरित कर दी गईं। मालूम होता है कि इसी समय नेमिनाथकी वह मूर्ति चित्तामूरमें पधराई गई थी। प्रथम प्राचीन नगर मयिलापुरके डूब जानेके बाद यह द्वितीय

※ नोट—प्रेसकी असावधानीसे यह शिलालेख उल्टा छप गया है।

× संस्कृत स्थविर शब्दके प्राकृतरूप थविर और थे होते हैं जिसका अपभ्रंश थेवर है। स्थविर वृद्ध साधुको कहते हैं।

मयिलमनगर इसीके निकट बसाया गया था ऐसा मालूम होता है और वर्तमान मयिलापुर वही दूसरा नगर है।

मुथु ग्रामनी स्ट्रीट और अप्पुमुडाली स्ट्रीट (मयिलापुर) के सन्धिस्थलमें नारियल वृक्षोंके एक कुंजमें पादड़ी एस० जे० हास्टेनको सन् १९३१ में भूगर्भसे दो दिगम्बर जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं। वे दोनों मूर्तियाँ अब श्री एस० धनपालके गृह नं० १८ चित्राकुलम् ईस्टवर स्ट्रीट (मयिलापुर) में हैं (चित्र) इनमें एक मूर्ति ४१ इंच ऊंची है जिसके पैर खंडित हैं। वह सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ की है। दूसरी ४३ इंच ऊँची छठे तीर्थंकर पद्मप्रभ की है। दोनों ही १०वीं ग्यारहवीं शताब्दी काल की हैं। इससे भी यह अनुमान होता है कि दशवीं शताब्दीमें उस स्थान पर कोई जैन मन्दिर था। (स-ग्रन्थ ५)

इस प्रकार हमें मयिलापुरमें १५वीं शताब्दीके पूर्वमें दो जैनमन्दिरोंके अस्तित्वका पता चलता है। इनके अतिरिक्त एक तीसरे मन्दिरका भी पता लगा है वह वर्तमानके सैन्टथामी आरफनेज (अनाथालय) की भूमि पर था। वहाँ से कुछ वर्ष हुए एक मस्तक-विहीन दिगम्बरजैन मूर्ति प्राप्त हुई थी जो १८×१३॥ इंच है वह मूर्ति सन् १९२१ से अभी तक विशप (पादड़ी) भवन (मयिलापुर) में है। चित्र। (स-ग्रन्थ ४, ५)

एक समय पुर्तगाल-गवर्नर (शासक) का पुराना प्रासाद जहाँ था वहांकी सैनथामी अनाथालय की अब भोजनशाला है। उसके ठीक पीछे की भूमिसे गत शताब्दीमें एक लेख युक्त श्वेत पाषाणकी जैनमूर्ति प्राप्त हुई थी। जब यह जायदाद फ्रैनसिस्कन मिशनरीज ऑफ मैरीके अधिकारमें आई तब उन्होंने वह मूर्ति एक गड्ढेमें डाल दी थी। सन् १९२१ में फादर हास्टेनने इस मूर्तिके अनुसन्धानके लिये उस स्थलको दो दो सप्ताह तक खनन करवाया जिसमें एक सौ रुपये व्यय हुए और धनाभावके कारण उस खुदाईको बन्द करना पड़ा।

सैनथामीचर्चके निकट जहाँ गूँगे-बहरोंका स्कूल है वह मकान पहले श्री धनकोटिराज इंजीनियर विक्टोरिया वर्क्स, सैनथामी हाई रोडका था। ३८ वर्ष हुए उस स्थानसे धातुकी एक जैन मूर्ति उन्हें प्राप्त हुई थी, किन्तु कुछ ही समय बाद वह चोरी चली गई।

इन उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह भली भांति सिद्ध हो जाता है कि मयिलापुरमें कई जैन मन्दिर थे।

मद्रासके निकट कांजीवरम् एक अति प्राचीन नगर है। पल्लव-नरेशोंकी यह राजधानी थी। चतुर्थ शताब्दीसे अष्टम शताब्दी तक दक्षिण भारतके इस प्रदेशमें पल्लवोंका प्रचुर प्राबल्य था। कांजीवरम् 'मन्दिरोंका नगर' के नामसे प्रसिद्ध था और इससे जैनोंका सम्बन्ध अति प्राचीन कालसे रहा है। इस नगरके तीन प्रधान विभाग थे— लघुकांजीवरम् (विष्णुकांची), वृहत्कांजीवरम् (शिवकांची) और पिल्लयि पलयम् (जिनकांची) जो वस्त्रवपनका विशाल केन्द्र है। कांचीके निकट पश्चिमकी ओर निरूपरुट्टिकुन्नम् गाँव है जो एक समयके प्रसिद्ध जैन केन्द्रका स्मारक है। यहाँ दो भव्य जैन मन्दिर हैं—एक महावीर स्वामीका, दूसरा ऋषभदेवका। प्राचीन समयमें कांजीवरम् जैन और हिन्दुओं की उच्च शिक्षाओंका केन्द्र था। इसके सम्बन्धमें हम पूर्ण विवरण दूसरे लेखमें लिखेंगे।

इसी प्रकार पल्लव कालमें मामल्लपुरम् (महाबल्लिपुरम्) संस्कृति और धर्म जागृतिका केन्द्र था। महाबल्लिपुरम्की एक प्राचीन जनश्रुतिसे यह निश्चयतः ज्ञात होता है कि यहांके अधिवासी कुरुम्ब जातिके लोग जैनधर्मानुयायी थे। इस प्राचीन नगरके जैन ऐतिह्य पर भी मैं अनुसन्धान कर रहा हूं।

इसी प्रकार मद्रासके निकटके कई अन्य स्थानोंके दर्शन भी मैं कर आया हूं जैसे—अकलंक बसति, आरपाक,म् असंगलम्, और यहांके जैन मन्दिर और मूर्तियोंके फोटो भी मैंने लिये है। समय समय पर इनके सम्बन्धमें भी सचित्र लेख प्रकट किये जावेंगे।

नोट—मेरे लेखोंमें जो चित्र प्रगट किए जाते हैं वे सब ब्लाक 'वीरशासनसंघ' कलकत्ताके सौजन्यसे प्राप्त होते हैं।

Bibliograpy : सहायक ग्रन्थ

1. Annual Report of the Archaeological Survey of India for 1906-7 p. 221, n. 4 (Sir Walter Elliot)
2. On the Original Inhabitants of Bharatavarsha or India. by Gustav Oppert, Madras. 1889 pp. 215, 217, 236, 244, 245, 246 to 248, 257, 258, 260.
3. Catalogue Raisonne of Oriental Manuscripts in the Govt. Library, By Rev. W. Taylor. Vol. III, Madras 1862. pp. 372 to 374,363,421,430, to 433.
4. Voices from the Dust by Rev. B. A. Figredo, Mylapore, 1953.
5. Antiquities of San Thome and Mylapore by Hosten pp. 170, 175.
6. Imperial Gazetteer of India Vol, XVI, pp. 235, 364, 368, 369.
7. Tirukkural by A. Chakravarti, Madras, 1953.
8. List of Antiquarian Remains in Madras Presidency, Vol. I. PP. 177, 190
9. Cathay And the Way Thither, Being a Collection of Medieval Notices of China. Translated and edited by Henry Yule. New edition, revised by Henri Cordier, Vol.III, London,1914 pp.251, n.2.
10. A History of the City of Madras by C. S. Srinivasachari, Madras, 1939.
11. Vestiges of Old Madras 1640-1800 by H. D. Love, London, 1913.
12. Studies in South Indian Jainism.

परिशिष्ट

श्रीनेमिनाथाष्टकम्

श्रीमदाकृतिभासुरं जिनपुंगवं त्रिदिवागतम्, वामनाधिपुरे गतं मयिलापुरे पुनरागतम् ।
हेम-निर्मित-मन्दिरे गगनस्थितं हितकारणम्, नेमिनाथमहं चिरं प्रणमामि नीलमहत्त्विषम् ॥१॥
कामदेव-सुपूजितं करुणालयं कमलासनम्, भूमिनाथ-समर्चितं महनीयपादसरोरुहम् ।
भीमसागर-पद्ममध्य-समागतं मयिलापुरे, नेमिनाथमहं चिरं प्रणमामि नीलमहत्त्विषम् ॥२॥
पापनाशकरं परं परमेष्ठिनं परमेश्वरम्, कोप-मोह-विवर्जितं गरुरुग्मणि त्रिबुधार्चितम् ।
दीप-धूप-सुगन्धिपुष्प-जलाक्षतैर्मयिलापुरे, नेमिनाथमहं चिरं प्रणमामि नीलमहत्त्विषम् ॥३॥
नागराज-नरामराधिप-संगताशिवतार्चनैः, सागरे परिपूजिते सकलार्चनैः शममीश्वरम् ।
रागरोषमशोकिनं वरशासनं मयिलापुरे, नेमिनाथमहं चिर प्रणमामि नीलमहत्त्विषम् ॥४॥
वीतरागभयादिकं विबुधार्यतत्त्वनिरीक्षणम्, जातबोध-सुखादिकं जगदेकनाथमलंकृतम् ।
भूतभव्यजनाम्बुजद्वयभास्करं मयिलापुरे, नेमिनाथमहं चिरं प्रणमामि नीलमहत्त्विषम् ॥५॥
वीर-धीरजनं विभुं विमलेक्षणं कमलास्पदम्, धीर-धीरमुनिस्तुतं त्रिजगदद्भुतं पुरुषोत्तमम् ।
सार-सारपदस्थितं त्रिजगद्भुतं मयिलापुरे, नेमिनाथमहं चिरं प्रणमामि नीलमहत्त्विषम् ॥६॥

चामरासन-भानुमण्डल-पिण्डिवृक्ष-सरस्वती, भीमदुन्दुभि-पुष्पवृष्टि-सुमण्डितातपवारणैः।
धाम येन कृतालय करिशोभितं मयिलापुरे, नेमिनाथमहं चिरं प्रणमामि नीलमहत्त्विषम् ।।७।।
नेमिनाथमनामयं कमनीयमच्युतमक्षयम् , घातिकर्म-चतुष्टय-क्षयकारणं शिवदायिनम् ।
वादिराज-विराजितं वरशासनं मयिलापुरे, नेमिनाथमहं चिरं प्रणमामि नीलमहत्त्विषम् ।।८।।
सानन्द-वन्दित-पुरन्दरवृन्दमौलि-मन्दारफुल्ल-नवशेखरधूमरांघ्रिम् ।
आनन्दकन्दमतिसुन्दरमिन्दुकान्तम् , श्रीनेमिनाथ-जिननाथमहं नमामि ।।९।।

हिंसक और अहिंसक

(पं० मुन्नालाल जैन 'मणि')

(षट्पद्)

(१)

विषय-कषायासक्त जीव ही परवध ठाने ।
करै वैर विद्रोह जगत को वैरी जाने ॥
रहे प्रमादी, दीन, व्यसन में लीन, भयातुर ।
करे पाप समरम्भ समारंभ आरंभ कर कर ॥
हो मूर्छासे मूर्छित सदा जो नहिं निज-हित शुध करे ।
सो पर जीवन पर दया कर मणि कैसे यह दुःख हरे ?

(२)

विषय कषाय-विरक्त स्वयं पर दुख परिहारी ।
निष्प्रमाद, निरवद्य, अहिंसा - पंथ - प्रचारी ॥
सब प्रवृत्तिमें समिति रूप ही दृष्टी राखे ।
गुप्ति रूप वा रहे सदा समतामृत चाखे ॥
निज आत्म शौर्यसे धर्म वा संघ शौर्य दिशि दिश भरे ।
मणि वही अहिंसा धर्म-ध्वज विश्व शिखर पर फरहरे ॥

(३)

इन्द्रिय-सुखमें मग्न जीव निज सुख नहि जाने ।
निज जाने बिन आत्म अहिंसा कैसे ठाने ॥
आत्म दया बिन अन्य जीव की करुणा कैसी ।
करुणा दिखती बाह्य जानिये बगुला जैसी ॥
हो विषय-विरत निज जानकर जिसने अपना हित किया ।
उस दयामूर्ति नरश्रेष्ठ ने पर हित भी कर यश लिया ॥

सत्यवचन - माहात्म्य

(१)

जल, शशि, मुक्ताहार, लेप चन्दन मलयागिर ।
चन्द्रकांति मणि भी त्यों शीतल नहीं तापहर ॥
ज्यों प्रिय मीठे सत्य वचन जगजन-हितकारी ।
वर्द्धन प्रीति, प्रतीति, शांतिकर, आतपहारी ॥
'मणि' सत्यवचन समधर्म नहिं संयम, जप तप व्रत नहीं।
है सत्याकर्षक शक्ति जहँ सब गुण खिच आवें वहीं ॥

(२)

सत्य वचन के अतिशयकर नहिं अग्नि जलावे ।
उदधि न सके डुबाय नदी पड़ती न बहावे ॥
बन्दीग्रहमें पड़े व्यक्ति को सत्य छुड़ावे ।
चिर बिछड़े प्रियबन्धुजनों को सत्य मिलावे ॥
'मणि' सत्यवचनसे वृद्धि हो देशविदेश प्रसिद्धि हो ।
हो विश्वहितकर दिव्यध्वनि अन्तिम शिवसुख सिद्ध हो ॥

(पं० मुन्नालाल जैन 'मणि')

निसीहिया या नशियां

(पं० हीरालालजी सिद्धान्तशास्त्री)

जैन समाजको छोडकर अन्य किसी समाजमें 'निसीहिया' या 'नशियां' नाम सुननेमें नहीं आया और न जैन साहित्य-को छोड़कर अन्य भारतीय साहित्यमें ही यह नाम देखनेको मिलता है। इससे विदित होता है कि यह जैन समाजकी ही एक खास चीज़ है।

जैन शास्त्रोंके आलोडनसे ज्ञात होता है कि 'नशियां' का मूलमें प्राकृत रूप 'णिसीहिया' या 'णिसीधिया' रहा है। इसका संस्कृत रूप कुछ आचार्योंने निषीधिका और कुछने निषिद्धिका दिया है। कहीं-कहीं पर निषीधिका और निषद्या रूपभी देखनेमें आता है, पर वह बहुत प्राचीन नहीं मालूम देता। संस्कृत और कनडीके अनेक शिलालेखोंमें निसिधि, निसिदि, निषिधि, निषिदि, निसिद्धी, निसिधिग और निशिग रूप भी देखनेको मिलते हैं। प्राकृत 'णिसीहिया' का ही अपभ्रंश होकर 'निसीहिया' बना और उसीका परिवर्तित रूप निसियासे नसिया होकर आज नशियां व्यवहारमें आरहा है।

मालवा, राजस्थान, उत्तर तथा दक्षिण भारतके अनेक स्थानों पर निसिही या नसियां आज भी पाई जाती हैं। यह नगरसे बाहिर किसी एक भागमें होती है। वहां किसी साधु, यति या भट्टारक आदिका समाधिस्थान होता है, जहां पर कहीं चौकोर चबूतरा बना होता है, कहीं उस चबूतरे के चारों कोनों पर चार खम्भे खड़े कर ऊपरको गुम्बजदार छतरी बनी पाई जाती है और कहीं-कहीं छह-पाल या आठपालदार चबूतरे पर छह या आठ खम्भे खडे कर उस पर गोल गुम्बज बनी हुई देखी जाती है। इस समाधि स्थान पर कहीं चरण-चिन्ह, कहीं चरण-पादुका और कहीं सांथिया बना हुआ दृष्टिगोचर होता है। कहीं कहीं इन उपर्युक्त बातोंसेंसे किसी एकके साथ पीछेके लोगोंने जिन-मन्दिर भी बनवा दिए हैं और अपने सुभीतेके लिए बगीचा, कुँआ, बावडी एवं धर्मशाला आदि भी बना लिए हैं। दक्षिण प्रान्तकी अनेक निसिदियों पर शिलालेख भी पाये जाते हैं; जिनमें समाधि-मरण करने वाले महा पुरुषोंके जीवनका बहुत कुछ परिचय लिखा मिलता है। उत्तर प्रान्तके देवगढ क्षेत्र पर भी ऐसी शिलालेख-युक्त निषीधिकाएँ आज भी विद्यमान हैं। इतना होने पर भी आश्चर्यकी बात है कि हम लोग अभी तक इतना भी नहीं जान सके हैं कि यह निसीहिया या नशियाँ क्या वस्तु है और इसका प्रचार कबसे और क्यों प्रारम्भ हुआ?

संन्यास, सल्लेखना या समाधिमरण-पूर्वक मरने वाले साधुके शरीरका अन्तिम संस्कार जिस स्थान पर किया जाता था उस स्थानको निसीहिया कहा जाता था। जैसा कि आगे सप्रमाण बतलाया जायगा—दिगम्बर-परम्पराके अति प्राचीन ग्रन्थ भगवतीआराधनामें निसीहियाका यही अर्थ किया गया है। पीछे-पीछे यह 'निसीहिया' शब्द अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होने लगा, इसे भी आगे प्रगट किया जायगा।

जैन शास्त्रों और शिलालेखोंकी छान-बीन करने पर हमें इसका सबसे पुराना उल्लेख खारवेलके शिलालेखमें मिलता है, जो कि उदयगिरि पर अवस्थित है और जिसे कलिंग-देशाधिपति महाराज खारवेलने आजसे लगभग २२०० वर्ष पहले उत्कीर्ण कराया था। इस शिलालेखकी १४वीं पंक्तिमें "......कुमारीपवते अरहते पखीणसंसतेहि काय-निसी-दियाय..." और १५वीं पंक्तिमें..."अरहतनिसीदिया-समीपे पाभारे......' पाठ आया है। यद्यपि खारवेलके शिलालेखका यह अंश अभी तक पूरी तौरसे पढ़ा नहीं जा सका है और अनेक स्थल अभी भी सन्दिग्ध हैं, तथापि उक्त दोनों पंक्तियोंमें 'निसीदिया' पाठ स्पष्ट रूपसे पढा जाता है जो कि निसीहियाका ही रूपान्तर है।

'निसीहिया' शब्दके अनेक उल्लेख विभिन्न अर्थोंमें दि० श्वे० आगमोंमें पाये जाते हैं। श्वे० आचारांग सूत्र (२, २, २) 'निसीहिया' की संस्कृत छाया 'निशीथिका' कर उसका अर्थ स्वाध्यायभूमि और भगवतीसूत्र (१४-१०) में अल्प-कालके लिए गृहीत स्थान किया गया है। समवायांगसूत्रमें 'निसीहिया' की संस्कृत छाया 'नैषेधिकी' कर उसका अर्थ स्वाध्यायभूमि, प्रतिक्रमणसूत्रमें पाप क्रियाका त्याग, स्थानांग-सूत्रमें व्यापारान्तरके निषेधरूप समाचारी आचार, वसुदेव-हिण्डिमें मुक्ति, मोक्ष, स्मशानभूमि, तीर्थंकर या सामान्य केवलीका निर्वाण-स्थान, स्तूप और समाधि अर्थ किया गया है। आवश्यकचूर्णिमें शरीर, वसतिका—साधुओंके रहनेका स्थान और स्थण्डिल अर्थात् निर्जीव भूमि अर्थ किया गया है।

गौतम गणधर-ग्रथित माने जाने वाले दिगम्बर प्रतिक्रमणसूत्रमें णिसीहियाओंकी वन्दना करते हुए—

'जाओ अण्णाओ काओवि णिसीहियाओ जीवलोयम्मि' यह पाठ आया है—अर्थात् इस जीव-लोकमें जितनी भी निषीधिकाएं हैं, उन्हें नमस्कार हो।

उक्त प्रतिक्रमण सूत्रके संस्कृत टीकाकार आ० प्रभाचन्द्रने जो कि प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदि अनेक दार्शनिक ग्रन्थोंके रचयिता और समाधिशतक, रत्नकरण्डक आदि अनेक ग्रन्थोंके टीकाकार हैं—निषीधिकाके अनेक अर्थोंका उल्लेख करते हुए अपने कथनकी पुष्टिमें कुछ प्राचीन गाथाएँ उद्धृत की हैं जो इस प्रकार हैं :—

जिण सिद्धबिंब-णिलया किदगाकिदगा य रिद्धिजुदसाहू।
णाणजुदा मुणिपवरा णाणुप्पत्तीय णाणिजुदखेत्तं ॥१॥
सिद्धा य सिद्धभूमी सिद्धाण समासिओ णहो देसो।
सम्मत्तादिचउक्कं उप्पण्णं जेसु तेहिं सिदखेत्तं ॥२॥
चत्तं तेहिं य देहं तट्ठविदं जेसु ता णिसीहीओ।
जेसु विसुद्धा जोगा जोगधरा जेसु संठिया सम्मं ॥३॥
जोगपरिमुक्कदेहा पंडिदमरणट्ठिदा णिसीहीओ।
तिविहे पंडिदमरणे चिट्ठंति महामुणी समाहीए ॥४॥
एदाओ अण्णाओ णिसीहियाओ सया वंदे।

अर्थात्—कृत्रिम और अकृत्रिम जिनबिम्ब, सिद्धप्रतिबिम्ब, जिनालय, सिद्धालय, ऋद्धिसम्पन्नसाधु, तत्सेवित क्षेत्र अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञानके धारक मुनिप्रवर, इन ज्ञानोंके उत्पन्न होनेके प्रदेश, उक्त ज्ञानियोंसे आश्रित क्षेत्र, सिद्ध भगवान निर्वाणक्षेत्र, सिद्धोंसे समाश्रित सिद्धालय, सम्यक्त्वादि चार आराधनाओंसे युक्त तपस्वी, उक्त आराधकोंसे आश्रित क्षेत्र, आराधक या क्षपकके द्वारा छोड़े गये शरीरके आश्रयवर्ती प्रदेश, योगस्थित तपस्वी, तदाश्रित क्षेत्र, योगियोंके द्वारा उन्मुक्त शरीरके आश्रित प्रदेश और भक्त प्रत्याख्यान इंगिनी और प्रायोपगमन* इन तीन प्रकारके पंडितमरणमें स्थित साधु तथा पंडितमरण जहाँ पर हुआ है, ऐसे क्षेत्र: ये सब निषीधिकापदके वाच्य हैं।

निषीधिकापदके इतने अर्थ करनेके अनन्तर आचार्य प्रभाचन्द्र लिखते हैं :—

अन्ये तु 'णिसीधियाए' इत्यस्यार्थमित्थं व्याख्यानयन्ति—
णि त्ति णियमेहिं जुत्तो सित्ति य सिद्धि तहा अहिग्गामी।
धि त्ति य धिदिबद्धकओ एत्ति य जि णसासणे भत्तो ॥

अर्थात् कुछ लोग 'निसीधिया' पदकी निरुक्ति करके उसका इस प्रकार अर्थ करते हैं:—नि—जो व्रतादिके नियमसे युक्त हो, सि—जो सिद्धिको प्राप्त हो या सिद्धि पानेको अभिमुख हो, धि—जो धृति अर्थात् धैर्यसे बद्ध कक्ष हो, और या—अर्थात् जिनशासनको धारण करने वाला हो, उसका भक्त हो। इन गुणोंसे युक्त पुरुष 'निसीधिया' पदका वाच्य है।

साधुओंके दैवसिक-रात्रिकप्रतिक्रमणमें 'निषिद्धिकादंडक' नामसे एक पाठ है। उसमें णिसीहिया या निषिद्धिका की वंदनाकी गई है। 'निसीहिया' किसका नाम है और उसका मूलमें क्या रूप रहा है इस पर उससे बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है। पाठकोंकी जानकारीके लिए उसका कुछ आवश्यक अंश यहाँ दिया जाता है :—

'णमो जिणाणं ३। णमो णिसीहियाए ३। णमोत्थु दे अरहंत, सिद्ध बुद्ध, णीरय, णिम्मल, ... गुणरयण, सीलसायर, अणंत, अप्पमेय, महदिमहावीर-वड्ढमाण, बुद्धिरिसिणो चेदि णमोत्थु दे णमोत्थु दे णमोत्थु दे। (क्रियाकलाप पृष्ठ ५५)

××× सिद्धिणिसीहियाओ अट्ठावयपव्वए सम्मेदे उज्जंते चंपाए पावाए मज्झिमाए हत्थिवालियसहाए जाओ अण्णाओ काओ वि णिसीहियाओ जीवलोयम्मि, इसिपब्भारतलग्गयाणं सिद्धाणं बुद्धाणं कम्मचक्कमुक्काण णीरयाणं णिम्मलाणं गुरु-आइरिय-उवज्झायाणं पवत्ति-थेर-कुलयराणं चाउव्वण्णो य समणसंघो य

---

*भक्तनाम भोजन का है उसे क्रम-क्रमसे त्याग करके और अन्तमें उपवास करके जो शरीरका त्याग किया जाता है उसे भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। भक्तप्रत्याख्यान करने वाला साधु अपने शरीरकी सेवा-टहल या वैयावृत्य स्वयं भी अपने हाथसे करता है और यदि दूसरा वैयावृत्य करे तो उसे भी स्वीकार कर लेता है। इंगिनीमरणमें शेष विधि-विधान तो भक्तप्रत्याख्यानके समान ही है पर इंगिनी-मरण करने वाला साधु दूसरेके द्वारा की जाने वाली वैयावृत्यको स्वीकार नहीं करता, केवल अपनी सेवा-टहल अपने हाथसे करता है। परन्तु प्रायोपगमन मरण करने वाला इसे ग्रहण करनेके अनन्तर न स्वयं अपनी वैयावृत्य करता है और न दूसरेसे कराता है, किन्तु प्रतिमाके समान मरण होने तक संस्तर पर तदवस्थ रहता है।

भरहेरावएसु दससु पंचसु महाविदेहेसु।' (क्रियाकलाप पृष्ठ ५६)।

अर्थात् जिनोंको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो। निषीधिकाको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो। अरहंत, सिद्ध, बुद्ध आदि अनेक विशेषण-विशिष्ट महति-महावीर-वर्धमान बुद्धिऋषिको नमस्कार हो, नमस्कार हो, नमस्कार हो।

अष्टापद, सम्मेदाचल, ऊर्जयन्त, चंपापुरी, पावापुरी, मध्यमापुरी और हस्तिपालितसभामें तथा जीवलोकमें जितनी भी निषीधिकाएं हैं, तथा ईषत्प्राग्भारनामक अष्टम पृथ्वी-तलके अग्र भागपर स्थित सिद्ध, बुद्ध, कर्मचक्रसे विमुक्त, नीराग, निर्मल, सिद्धोंकी तथा गुरु, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, कुलकर (गणधर) और चार प्रकारके श्रमण-संघकी जो पांच महाविदेहोंमें और दश भरत और दश ऐरावत क्षेत्रोंमें जो भी निषिद्धिकाएँ हैं, उन्हें नमस्कार हो३।

इस उद्धरणसे एक बात बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि निषीधिका उस स्थानका नाम है, जहां से महा-मुनि कर्मोका क्षय करके निर्वाण प्राप्त करते हैं और जहां पर आचार्य उपाध्याय प्रवर्तक, स्थविर कुलकर और ऋषि, यति, मुनि, अनगाररूप चार प्रकारके श्रमण समाधिमरण करते हैं, वे सब निषीधिकाएँ कहलाती हैं।

बृहत्कल्पसूत्रनियुक्तिमें निषीधिकाको उपाश्रय या वसतिकाका पर्यायवाची माना है। यथा—

अवसग पडिसगसेज्जाआलय, वसधी णिसीहियाठाणे।
एगट्ठ वंजणाई उवसग वगडा य निक्खेवो ॥३२६५॥

अर्थात—उपाश्रय, प्रतिश्रय, शय्या, आलय, वसति, निषीधिका और स्थान ये सब एकार्थवाचक नाम हैं।

इस गाथाके टीकाकारने निषीधिका का अर्थ इस प्रकार किया है :—

"निषेधः गमनादिव्यापारपरिहारः, स प्रयोजन-मस्याः, तमर्हतीति वा नैषेधिकी।"

अर्थात्—गमनागमनादि कायिक व्यापारोंका परिहार कर साधुजन जहां निवास करें, उसे निषीधिका कहते हैं।

इससे आगे कल्पसूत्रनियुक्तिकी गाथा नं० ५५४१ में भी 'निसीहिया' का वर्णन आया है पर यहाँ पर उसका अर्थ उपाश्रय न करके समाधिमरण करने वाले क्षपक साधुके शरीरको जहां छोड़ा जाता है या दाह-संस्कार किया जाता है, उसे निसीहिया या निषिद्धिका कहा गया है। यहाँ पर टीकाकारने 'नैषेधिक्यां शवप्रतिष्ठापनभूम्याम्' ऐसा स्पष्ट अर्थ किया है। जिसकी पुष्टि आगेकी गाथा नं० ५५४२ से भी होती है।

भगवती आराधनामें जो कि दिगम्बर-सम्प्रदायका अति प्राचीन ग्रन्थ है वसतिकासे निषीधिकाको सर्वथा भिन्न अर्थमें लिया है। साधारणतः जिस स्थान पर साधुजन वर्षाकालमें रहते हैं, अथवा विहार करते हुए जहां रात्रिको बस जाते हैं, उसे वसतिका कहा है। वसतिका का विस्तृत विवेचन करते हुए लिखा है :—

"जिस स्थानपर स्वाध्याय और ध्यानमें कोई बाधा न हो, स्त्री, नपुंसक, नाई, धोबी, चाण्डाल आदि नीच जनोंका सम्पर्क न हो, शीत और उष्णकी बाधा न हो, एक दम बंद या खुला स्थान न हो, अंधेरा न हो, भूमि विषम-नीची-ऊँची न हो, विकलत्रय जीवोंकी बहुलता न हो, पंचेन्द्रिय पशु-पक्षियों और हिंसक जीवोंका संचार न हो, तथा जो एकान्त, शान्त, निरुपद्रव और निर्व्याक्षेप स्थान हो, ऐसे उद्यान-गृह, शून्य-गृह, गिरि-कन्दरा और भूमि-गुहा आदि स्थानमें साधुओंको निवास करना चाहिए। ये वसति-काएं उत्तम मानी गई हैं।"

(देखो—भग० आराधना गा० २२८-२३०,६३३-६४१)

परन्तु वसतिकासे निषीधिका बिलकुल भिन्न होती है. इसका वर्णन भगवती आराधनामें बहुत ही स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है और बतलाया गया है कि जिस स्थान पर समाधिमरण करने वाले क्षपकके शरीरका विसर्जन या अंतिम संस्कार किया जाता है, उसे निषीधिका कहते हैं।

यथा--निषीधिका—आराधकशरीर - स्थापनास्थानम्।

(गा० १९६७ की मूलाराधना टीका)

साधुओंको आदेश दिया गया है कि वर्षाकाल प्रारंभहोने-के पूर्व चतुर्मास-स्थापनके साथ ही निषीधिका-योग्य भूमिका अन्वेषण और प्रतिलेखन करलेवे। यदि कदाचित् वर्षाकालमें किसी साधुका मरण हो जाय और निषीधिका योग्य भूमि पहलेसे देख न रखी हो, तो वर्षाकालमें उसे ढूढ़नेके कारण हरितकाय और त्रस जीवोंकी विराधना सम्भव है, क्योंकि उनसे उस समय सारी भूमि आच्छादित हो जाती है। अतः वर्षावास के साथ ही निषीधिकाका अन्वेषण और प्रतिलेखन कर लेना चाहिए।

भगवती आराधनाकी वे सब गाथाएँ इस प्रकार हैं:—

विजहणा निरूप्यते—

एवं कालगदस्स दु सरीरमंतो बहिज्ज वाहिं वा।
विज्जावच्चकरा तं सयं विकिंचंति जदणाए ॥१९६६॥
समणाणं ठिदिकप्पो वासावासे तहेव उडुबंधे।
पडिलिहिदव्वा णियमा णिसीहिया सव्वसाधूहिं १९६७॥
एगंता सालोगा णादिविकिट्ठा ण चावि आसण्णा।
वित्थिण्णा विद्धत्ता णिसीहिया दूरमागाढा ॥१९६८॥
अभिसुआ असुसिराअघसा उज्जोवा बहुसमा यअसिणिद्धा
णिज्जंतुगा अहरिदा अविला य तहाअणाबाधा ॥१९६९॥
जा अवर-दक्खिणाए व दक्खिणाए व अध व अवराए।
वसधीदो वणिज्जदि णिसीधिया सा पसत्थत्ति॥१९७०॥

अब समाधिसे मरे हुए साधुके शरीरको कहां परित्याग करे, इसका वर्णन करते हैं—इस प्रकार समाधिके साथ काल गत हुए साधुके शरीरको वैयावृत्य करने वाले साधु नगरसे बाहिर स्वयं ही यतनाके साथ प्रतिष्ठापन करें। साधुओंको चाहिए कि वर्षावासके तथा वर्षाऋतुके प्रारम्भमें निषीधिकाका नियमसे प्रतिलेखन करलें, यही श्रमणोंका स्थितिकल्प है। वह निषीधिका कैसी भूमिमें हो, इसका वर्णन करते हुए कहा गया है— वह एकान्त स्थानमें हो, प्रकाश युक्त हो, वसतिकासे न बहुत दूर हो, न बहुत पास हो, विस्तीर्ण हो, विध्वस्त या खण्डित न हो, दूर तक जिसकी भूमि दृढ़ या ठोस हो, दीमक-चींटी आदिसे रहित हो, छिद्र रहित हो, घिसी हुई या नीची-ऊँची न हो, सम-स्थल हो, उद्योतवती हो, स्निग्ध या चिकनी फिसलने वाली भूमि न हो निर्जन्तुक हो, हरितकायसे रहित हो, बिलोंसे रहित हो, गीली या दल-दल युक्त न हो, और मनुष्य-तिर्यंचादिकी बाधासे रहित हो। वह निषीधिका वसतिकासे नैऋत्य, दक्षिण या पश्चिम दिशामें हो तो प्रशस्त मानी गई है।

इससे आगे भगवती आराधनाकारने विभिन्न दिशाओंमें होने वाली निषीधिकाओंके शुभाशुभ फलका वर्णन इस प्रकार किया है:—

यदि वसतिकासे निषीधिका नैऋत्य दिशामें हो, तो साधुसंघमें शान्ति और समाधि रहती है, दक्षिण दिशामें हो तो संघको आहार सुलभतासे मिलता है, पश्चिम दिशामें हो, तो संघका विहार सुखसे होता है और उसे ज्ञान-संयमके उपकरणोंका लाभ होता है। यदि निषीधिका आग्नेय कोणमें हो, तो संघमें स्पर्धा अर्थात् तूँ-तूँ-मैं-मैं होती है, वायव्य दिशामें हो तो संघमें कलह उत्पन्न होता है, उत्तर दिशामें हो तो व्याधि उत्पन्न होती है, पूर्व दिशामें हो तो परस्परमें खींचातानी होती है और संघमें भेद पड़ जाता है। ईशान दिशामें हो तो किसी अन्य साधुका मरण होता है। (भग० आरा० गा० १९७१—१९७३)

इस विवेचनसे वसनिका और निषीधिकाका भेद बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। ऊपर उद्धृत गाथा नं० १९७० में यह साफ शब्दोंमें कहा गया है कि वसतिकासे दक्षिण, नैऋत्य और पश्चिम दिशामें निषीधिका प्रशस्त मानी गई है। यदि निषीधिका वसतिकाका ही पर्यायवाची नाम होता, तो ऐसा वर्णन क्यों किया जाता।

प्राकृत 'णिसीहिया' का अपभ्रंश ही 'निसीहिया' हुआ और वह कालान्तरमें नसिया होकर आजकल नशियांके रूपमें व्यवहृत होने लगा।

इसके अतिरिक्त आज कल लोग जिन मन्दिरमें प्रवेश करते हुए 'ओं जय जय जय, निस्सही निस्सही नस्सही, नमोऽस्तु नमोऽस्तु नमोस्तु' बोलते हैं। यहां बोले जाने वाले 'निस्सही' पदसे क्या अभिप्रेत था और आज हम लोगोंने उसे किस अर्थमें ले रखा है, यह भी एक विचारणीय बात है। कुछ लोग इसका यह अर्थ करते हैं कि 'यदि कोई देवादिक भगवानके दर्शन-पूजनादि कर रहा हो, तो वह दूर या एक ओर हो जाय।' पर दर्शनके लिए मन्दिरमें प्रवेश करते हुए तीन वार निस्सही बोलकर 'नमोस्तु' बोलनेका यह अभिप्राय नहीं रहा है, किन्तु जैसा कि 'निषिद्धिका दंडकका उद्धरण देते हुए ऊपर बतलाया जा चुका है, वह अर्थ यहां अभिप्रेत है। ऊपर अनेक अर्थोंमें यह बताया जा चुका है कि निसीहि या यानिषीधिका का अर्थ जिन, जिन-बिम्ब, सिद्ध और सिद्ध-बिम्ब भी होता है। तदनुसार दर्शन करने वाला *तीन वार 'निस्सही'— जो कि 'णिसिहीए' का अपभ्रंश रूप* है—को बोलकर उसे तीन वार नमस्कार करता है। यथार्थमें हमें मन्दिरमें प्रवेश करते समय *'णमो णिसीहियाए' या* इसका संस्कृत रूप 'निषीधिकायै नमोऽस्तु, अथवा 'णिसीहियाए णमोत्थु' पाठ बोलना चाहिए।

यहां यह शंका की जा सकती है कि फिर यह अर्थ कैसे प्रचलित हुआ—कि यदि कोई देवादिक दर्शन-पूजन कर रहा हो तो वह दूर हो जाय! मेरी समझमें इसका कारण 'निःसही या निस्सही जैसे अशुद्धपदके मूल रूपको ठीक तौरसे न समझ सकनेके कारण 'निर उपसर्ग पूर्वक सृ' गमनार्थक

धातुका आज्ञाके मध्यम पुरुष एक वचनका बिगडा रूप मान कर लोगोंने वैसी कल्पना कर डाली है। अथवा दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि साधुको किसी नवीन स्थानमें प्रवेश करने या वहांसे जानेके समय निसीहिया और आसिया करनेका विधान है। उसकी नकल करके लोगोंने मन्दिर-प्रवेशके समय बोले जाने वाले 'निसीहिया' पदका भी वही अर्थ लगा लिया है।

साधुओंके १० प्रकारके * समाचारोंमें निसीहिया और आसिया नामके दो समाचार हैं और उनका वर्णन मूलाचारमें इस प्रकार किया गया है :—

कंदर-पुलिण-गुहादिसु पवेसकाले णिसिद्धियं कुज्जा।
तेहिंतो णिग्गमणे तहासिया होदि कायव्वा ॥१३४॥
—(समा० अधि०)

अर्थात्—गिरि-कंदरा, नदी आदिके पुलिन-मध्यवर्ती जलरहित स्थान और गुफा आदिमें प्रवेश करते हुए निषिद्धिका समाचारको करे और वहांसे निकलते या जाते समय आशिका समाचारको करे। इन दोनों समाचारोंका अर्थ टीकाकार आ० वसुनन्दिने इस प्रकार किया है :—

टीका—पविसंतय प्रविशति च प्रवेशकाले णिसिही निषेधिका तत्रस्थानमभ्युपगम्य स्थानकरणं, सम्यग्दर्शनादिषु स्थिरभावो वा, णिग्गमणे-निर्गमनकाले आसिया देव-गृहस्थादीन् परिपृच्छ्य यानं, पापक्रियादिभ्यो मनोनिवर्तनं वा।"

अर्थात्—साधु जिस स्थानमें प्रवेश करें, उस स्थानके स्वामीसे आज्ञा लेकर प्रवेश करें। यदि उस स्थानका स्वामी कोई मनुष्य है तो उससे पूछें और यदि मनुष्य नहीं है तो उस स्थानके अधिष्ठाता देवताको सम्बोधन कर उससे पूछें इसीका नाम निसीहिका समाचार है। इसी प्रकार उस स्थानसे जाते समय भी उसके मालिक मनुष्य या क्षेत्रपालको पूछकर और उसका स्थान उसे संभलवा करके जावें। यह उनका आसिकासमाचार है अथवा करके इन दोनों पदोंका टीकाकारने एक दूसरा भी अर्थ किया है। वह यह कि विवक्षित स्थानमें प्रवेश करके सम्यग्दर्शनादिमें स्थिर होनेका नाम 'निसीहिया' और पाप-क्रियाओंसे मनके निवर्तनका नाम 'आसिया' है। आचारसारके कर्त्ता आ० वीरनन्दिने उक्त दोनों समाचारोंका इस प्रकार वर्णन किया है :—

जीवानां व्यन्तरादीनां बाधायै यन्निषेधनम्।
अस्माभिः स्थीयते युष्मद्दिष्टैयवेति निषिद्धिका ॥११॥
प्रवासावसरे कन्दरावासादेर्निषिद्धिका।
तस्मान्निर्गमने कार्या स्यादाशीर्वैरहारिणी ॥१२॥
(आचारसार द्वि० अ०)

अर्थात्—व्यन्तरादिक जीवोंको बाधा दूर करनेके लिए जो निषेधात्मक वचन कहे जाते हैं कि भो क्षेत्रपाल यक्ष, हम लोग तुम्हारी आज्ञासे यहां निवास करते हैं, तुम लोग रुष्ट मत होना, इत्यादि व्यवहारको निषिद्धिका समाचार कहते हैं और वहां से जाते समय उन्हें वैर दूर करने वाला आशीर्वाद देना यह आशिका समाचार है।

ऐसा मालूम होता है कि लोगोंने साधुओंके लिए विधान किये गये समाचारोंका अनुसरण किया और "व्यन्तरादीनां बाधायै यन्निषेधनम्" पदका अर्थ मन्दिर-प्रवेशके समय लगा लिया कि यदि कोई व्यन्तरादिक देव दर्शनादिक कर रहा हो तो वह दूर हो जाय और हमें बाधा न दे। पर वास्तवमें 'निस्सही' पद बोलनेका अर्थ 'निषीधिका अर्थात् जिनदेवका स्मरण कराने वाले स्थान या उनके प्रतिबिम्बके लिए नमस्कार अभिप्रेत रहा है।

उपसंहार

मूलमें 'निसीहिया पद मृत साधु-शरीरके परिष्ठापन-स्थानके लिए प्रयुक्त किया जाता था। पीछे उस स्थानपर जो स्वस्तिक या चबूतरा-छतरी आदि बनाये जाने लगे, उनके लिए भी उसका प्रयोग किया जाने लगा। मध्य युगमें साधुओंके समाधिमरण करनेके लिए जो खास स्थान बनाये जाते थे उन्हें भी निसिधि या निसीहिया कहा जाता था। कालान्तरमें वहां जो उस साधुकी चरण-पादुका या मूर्त्ति आदि बनाई जाने लगी उसके लिए भी 'निसीहिया' शब्द प्रयुक्त होने लगा। आजकल उसीका अपभ्रंश या विकृत रूप निशि, निसिधि और नशियां आदिके रूपमें दृष्टिगोचर होता है।

* साधुओंका अपने गुरुओंके साथ तथा अन्य साधुओंके साथ जो पारस्परिक शिष्टाचारका व्यवहार होता है, उसे समाचार कहते हैं।

तीर्थ और तीर्थंकर

साधारणत: नदी-समुद्रादिके पार उतारनेवाले घाट आदि स्थानको तीर्थ कहा जाता है। आचार्योंने तीर्थके दो भेद किए हैं:—द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ। महर्षि कुन्दकुन्दने द्रव्यतीर्थका स्वरूप इस प्रकार कहा है:—

दाहोपसमणं तण्हाछेदो मलपंकपवहणं चेव।
तिहिं कारणेहिं जुत्तो तम्हा तं दव्वदो तित्थं ॥६२॥

अर्थात् जिसके द्वारा शारीरिक दाहका उपशमन हो, प्यास शान्त हो और शारीरिक या वस्त्रादिका मैल वा कीचड़ बह जाय, इन तीन कारणोंसे युक्त स्थानको द्रव्यतीर्थ कहते हैं। (मूलाचार षडावश्यकाधिकार)

इस व्याख्याके अनुसार गंगादि नदियोंके उन घाट आदि खास स्थानोंको तीर्थ कहा जाता है, जिनके कि द्वारा उक्त तीनों प्रयोजन सिद्ध होते हैं। पर यह द्रव्यतीर्थ केवल शरीरके दाहको ही शान्त कर सकता है, मानसिक सन्तापको नहीं; शरीर पर लगे हुए मैल या कीचड़को धो सकता है, आत्मा पर लगे हुए अनादिकालीन मैलको नहीं धो सकता; शारीरिक तृष्णा अर्थात् प्यासको बुझा सकता है, पर आत्माकी तृष्णा परिग्रह-संचयकी लालसाको नहीं बुझा सकता। आत्माके मानसिक दाह, तृष्णा और कर्म-मलको तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रय-तीर्थ ही दूर कर सकता है। अतएव आचार्योंने उसे भावतीर्थ कहा है।

आ० कुन्दकुन्दने भावतीर्थका स्वरूप इस प्रकार कहा है:—

दंसण-णाण-चरित्ते णिज्जुत्ता जिणवरा दु सव्वेवि।
तिहिं कारणेहिं जुत्ता तम्हा ते भावदो तित्थं ॥६३॥

आत्माके अनादिकालीन अज्ञान और मोह-जनित दाहकी शान्ति सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति से ही होती है। जब तक जीवको अपने स्वरूपका यथार्थ दर्शन नहीं होता, तब तक उसके हृदयमें अहंकार-ममकार-जनित मानसिक दाह बना रहता है और तभी तक इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोगों के कारण वह बेचैनीका अनुभव करता रहता है। किन्तु जिस समय उसके हृदय में यह विवेक प्रकट हो जाता है कि पर पदार्थ कोई मेरे नहीं है और न कोई अन्य पदार्थ मुझे सुख-दुख दे सकते हैं; किन्तु मेरे ही भले बुरे-कर्म मुझे सुख-दुख देते हैं, तभी उसके हृदयका दाह शान्त हो जाता है। इस लिए आचार्योंने सम्यग्दर्शनको दाहका उपशमन करने वाला कहा है।

पर पदार्थोंके संग्रह करनेकी तृष्णाका छेद सम्यग्ज्ञानकी प्राप्तिसे होता है। जब तक आत्माको अपने आपका यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक वह धन, स्त्री, पुत्र, परिजन, भवन, उद्यानादि पर पदार्थोंको सुख देने वाला समझ कर रात-दिन उनके संग्रह अर्जन और रक्षणकी तृष्णामें पड़ा रहता है। किन्तु जब उसे यह बोध हो जाता है कि—

"धन, समाज, गज, बाज, राज तो काज न आवे,
ज्ञान आपको रूप भये थिर अचल रहावे।"

तभी वह पर पदार्थोंके अर्जन और रक्षणकी तृष्णाको छोड़कर आत्मस्वरूपकी प्राप्तिका प्रयत्न करता है और पर पदार्थोंके पानेकी तृष्णाको आत्मस्वरूपके जाननेकी इच्छामें परिणत कर निरन्तर आत्मज्ञान प्राप्त करने, उसे बढ़ाने और संरक्षण करनेमें तत्पर रहने लगता है। यही कारण है कि सम्यग्ज्ञानको तृष्णाका छेद करने वाला माना गया है।

जल शारीरिक मल और पंकको बहा देता है, पर वह आत्माके द्रव्य भावरूप मल और पंकको बहानेमें असमर्थ है। किन्तु शुद्ध आचरण आत्माके ज्ञानावरणादि रूप आठ प्रकारके द्रव्य-कर्म-पंकको और रागद्वेषरूप भाव-कर्म-मलको बहा देता है और आत्माको शुद्ध कर देता है, इस लिए हमारे महर्षियोंने सम्यक्चारित्रको कर्म-मल और पाप-पंकका बहानेवाला कहा है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय धर्म ही भावतीर्थ है और इसके द्वारा ही भव्य-जीव संसार-सागरसे पार उतरते हैं।

इस रत्नत्रयरूप भावतीर्थका जो प्रवर्तन करते हैं, पहले अपने राग, द्वेष, मोह पर विजय पाकर अपने दाह और तृष्णाको दूर कर ज्ञानावरणादि कर्म-मलको बहाकर स्वयं शुद्ध हो संसार-सागरसे पार उतरते हैं और साथमें अन्य जीवोंको भी रत्नत्रयरूप धर्म-तीर्थका उपदेश देकर उन्हें पार उतारते हैं—जगत्के दुःखोंसे छुड़ा देते हैं—वे तीर्थंकर कहलाते हैं। लोग इन्हें तीर्थकर, तीर्थकर्त्ता, तीर्थकारक, तीर्थकृत्, तीर्थनायक, तीर्थप्रणेता, तीर्थप्रवर्तक, तीर्थंकर्ता, तीर्थविधायक, तीर्थवेधा, तीर्थसृष्टा और तीर्थेश-आदि नामोंसे पुकारते हैं।

संसारमें सद्ज्ञानका प्रकाश करनेवाले और धर्मरूप तीर्थका प्रवर्तन करनेवाले तीर्थंकरोंको हमारा नमस्कार है।

—हीरालाल

राजस्थानके जैनशास्त्रभंडारोंमें उपलब्ध महत्त्वपूर्ण साहित्य

(अनेकान्त वर्ष १२ किरण ४ से आगे)

(ले० कस्तूरचन्द कासलीवाल एम० ए०)

(६) अष्टसहस्री—आचार्य विद्यानन्दका यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ जैन दार्शनिक संस्कृत साहित्यमें ही नहीं किन्तु भारतीय दर्शनसाहित्यमें भी एक उल्लेखनीय रचना है। आचार्य विद्यानन्द अपने समयके एक प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान थे। इनकी अनेक दार्शनिक रचनाएँ उपलब्ध है जिनके अध्ययनसे उनकी विशाल प्रज्ञा और चमत्कारिणी प्रतिभाका पद पद पर दर्शन होता है। अष्टसहस्री को तो विद्वानोंने कष्टसहस्री बतलाया है। इनकी दार्शनिक महत्तासे वे भली भांति परिचित है जिन्होंने उसका आकण्ठ पान किया है। भट्टाकलंकदेव कृत अष्टशतीका यह महाभाष्य है। जिसका दूसरा नाम आप्तमीमांसालंकृति है। इसकी संवत् १४६० की लिखी हुई एक प्राचीन प्रति जयपुरके तेरह पंथियोंके श्री दि० जैन बड़ा मन्दिरके शास्त्र भण्डारमें सुरक्षित है। प्रति सुन्दर शुद्ध तथा साधारण अवस्थामें है। इस ग्रन्थकी प्रतिलिपि आचार्य शुभचन्द्रकी प्रतिशिष्या आर्या मलयश्रीने करवायी थी। इसके लिपिकार गजराज थे, जिन्होंने विक्रम् संवत १४६० फाल्गुन वदी २ के दिन इसकी प्रतिलिपि पूर्ण की थी। इस प्रतिको शुभचन्द्रने अपने पीछे होने वाले भट्टारक वर्द्धमानको प्रदान की थी। ग्रन्थकी लेखक प्रशस्ति निम्न प्रकार है:—

(स्वस्ति) श्रीमूलामलसघमंडणमणिः श्रीकुन्दकुन्दान्वये,
गीर्गच्छे च बलात्कारकगण श्रीनन्दिसंघाग्रणीः।
स्याद्वादेतर वादिदंतिदवणो (मनो) ग्रत्पाणि-पचाननो,
यावत्सोऽस्तु सुमेधसामिह मुदे श्रीपद्मनन्दी गणी ॥

श्रीपद्मनन्द्यधिप-पट्ट पयोजहंस-
श्वेतातपत्रितयशस्फुरदात्मवशः (श्यः)।
राजाधिराजकृतपादपयोजसेव-
स्यान्नः श्रिये कुवलये शुभचन्द्रदेवः ॥२॥

आर्याशीदार्यवर्यै र्या दीक्षिता पद्मनंदिभिः।
रत्नश्रीरिति विख्याता तन्नामैवास्ति दीक्षिता ॥३॥
शुभचन्द्रार्यवर्यै र्या श्रीमद्भिः शीलशालिनी।
मलयश्रीरितिख्याता शांतिका गर्वगालिनी ॥४॥
तयैषा लेखिता यस्य ज्ञानावरणशान्तये।
लिखिता गजराजेन जीयादष्टसहस्त्रिका ॥५॥
व्योमग्रहाब्धि चन्द्राब्दे,(संवत्१४६०)विक्रमार्के महीपते
द्वितीया वाक्पतौ पूर्णा फाल्गुणार्जुन पाक्षिके ॥६॥
फाल्गुण सुदी २ गुरौ प्रदत्ता वर्द्धमानाय,
भावि भट्टारकोत्थ यः।
श्रेयसे··· ········· ···ध्ययनशालिना ॥७॥

७ उत्तरपुराण टिप्पण—श्री गुणभद्राचार्य कृत उत्तरपुराण संस्कृत पुराणसाहित्यमें उल्लेखनीय रचना है। उत्तरपुराणको महाकाव्यका भी नाम दिया जा सकता है: क्योंकि महाकाव्यमें मिलने वाले लक्षण इस पुराणमें भी पाए जाते हैं। उत्तरपुराण महापुराणका उत्तर भाग है। इसका पूर्वभाग जो आदिपुराणके नामसे प्रसिद्ध है जिनसेनाचार्य कृत है। गुणभद्राचार्य जिनसेनाचार्यके शिष्य थे। ये विक्रमकी ६वीं शताब्दीके विद्वान थे।

जैन समाजमें आदिपुराण और उत्तरपुराण इतने अधिक लोक-प्रिय बने हुए हैं कि ऐसा कोई ही जैन होगा जिसने इसका स्वाध्याय अथवा श्रवण नहीं किया हो। जैनोंके प्रत्येक भण्डारमें इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ १०-१५ की संख्यामें मिलती हैं। इसकी कितनी ही हिन्दी टीकाएँ हो चुकी है जिनमें पं० दौलतरामजी कृत उत्तर पुराणकी टीका उल्लेखनीय है, इसी उत्तरपुराणका एक संस्कृत टिप्पण आमेर बड़े मन्दिरके शास्त्र भण्डारमें उपलब्ध हुआ है।

टिप्पण सरल संस्कृतमें है। मूल ग्रन्थके क्लिष्ट संस्कृत शब्दोंको सरल संस्कृतमें ही समझाया गया है। टिप्पण उत्तम है। टिप्पणकार कौन और कब हुए हैं यह टिप्पण परसे कुछ ज्ञात नहीं होता। टिप्पणकारने अपना ग्रन्थके आदि और अन्तमें कहीं भी कोई परिचय नहीं दिया है। पूनासे प्रकाशित 'जिनरत्नकोश' में आचार्य प्रभाचन्द्र कृत एक टिप्पणका उल्लेख अवश्य किया गया है। यह टिप्पण भी इन्हीं प्रभाचन्द्रका है अथवा नहीं है इस विषयमें जब तक दोनों प्रतियोंका मिलान न हो तब तक निश्चित रूपसे कुछ नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त श्रद्धेय पं० नाथूराम जी प्रेमीने अपने 'जैनसाहित्य और इतिहास' में श्रीचन्द्र और प्रभाचन्द्र वाले लेखमें प्रभाचन्द्रकी रचनाओंमें गुणभद्राचार्य कृत उत्तरपुराणके टिप्पणका कोई उल्लेख नहीं किया। इस लिए प्रभाचन्द्रने ही यह टिप्पण लिखा हो ऐसी कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती।

टिप्पणके पूरे पत्र ११५ हैं। टिप्पणकारने आरम्भमें अपने कोई निजी मंगलाचरणसे टिप्पण प्रारम्भ नहीं किया है किन्तु मूलग्रन्थके पदमें ही टिप्पण आरम्भ कर दिया है। टिप्पणका प्रारम्भिक भाग इस प्रकार है :—

विनेयानां भव्यानां। अवाग्भागे-दक्षिणभागे। प्रणयिनः संतः। वृणुतेस्म भजंतिस्म। शक्ति सिद्धि। त्रयोपेतः प्रभूत्साह मंत्र शक्तयस्तिस्रः।

प्रभूशक्ति भवेदाद्या मंत्रशक्तिर्द्वितीयका।
तृतीयोत्साह शक्तिश्चेत्याहु शक्तित्रयं बुधाः ॥

टिप्पणका अन्तिम भाग —

इत्यार्षे भगवद्गुणभद्राचार्यप्रणीते त्रिषष्टि महापुराणसंग्रहे श्रीवर्द्धमानतीर्थंकरपुराणं परिसमाप्तं पट्सप्ततितम पर्व्व ॥७६॥

यह प्रति संवत् १५६१ कार्तिक सुदी ५ सोमवारके दिन की लिखी हुई है। इसकी प्रतिलिपि खण्डेलवाल वंशोत्पन्न पापल्या गोत्रवाले संगही नेमा द्वारा करवायी गयी थी। लिपिकार श्री हुल्लू के पुत्र पं० रतनू थे।

(८) तत्त्वार्थसूत्र टीका :—

तत्त्वार्थसूत्रका जैनोंमें सबसे अधिक प्रचार है। जैन समाजमें इसका उतना ही आदरणीय स्थान है जितना ईसाई समाजमें बाईबिल का, हिन्दू समाजमें गीताका तथा मुसलिम समाजमें कुरान का है। यह उमास्वातिकी अमूल्य भेंट है। सर्व प्रिय होनेके कारण इस पर अनेक टीकायें उपलब्ध हैं जिनरत्नकोश' में इनकी संख्या ३१ बतलायी गई है लेकिन वास्तवमें इससे भी अधिक इस पर टीकायें मिलती हैं! तत्त्वार्थसूत्रकी टीका हिन्दी, संस्कृत, गुजराती, तामिल, तेलगू कन्नड आदि सभी भाषाओंमें उपलब्ध होती है। इसी तत्त्वार्थ सूत्र पर एक टीका अभी मुझे बड़े मन्दिर (जयपुर) के शास्त्र भण्डारमें उपलब्ध हुई है जिसका परिचय पाठकोंकी सेवामें उपस्थित किया जा रहा है :—

तत्त्वार्थसूत्रकी यह टीका १७८ पत्रोंमें समाप्त होती है। टीकाकार कौन है तथा उन्होंने इसे कब समाप्त किया था। आदि तथ्योंके लिये यह प्रति मौन है। यह प्रति संवत १६५६ आसोज सुदी ११ मंगलवारकी है। साह श्री खीवसी अग्रवालने इसकी प्रतिलिपि करवायी थी एवं रणथम्भोर दुर्गमें पूर्णमल कायस्थ माथुरने इसकी प्रतिलिपि की थी।

टीका अत्यधिक सरल है एवं टीकाकार ने तत्त्वार्थसूत्रके गूढ़ अर्थको समझानेका काफी प्रयत्न किया है। संस्कृत भाषाके अतिरिक्त उसने बीच २ में हिन्दीके पद्योंका भी प्रयोग किया है और उदाहरण देकर विषयको समझानेका प्रयत्न किया है। टीकाका प्रारम्भ निम्न प्रकार है :—

मोक्षमार्गस्य भेत्तारं भेत्तारं कर्मभूभृतां।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुणलब्धये।

अस्यार्थ :—विशिष्ट इष्ट देवता नमस्कार पूर्व्वं तत्वार्थशास्त्रं करोमि। मोक्षमार्गस्य नेतारं को त्रिशंशः य. परमेश्वरः अरहंतदेवः मोक्षमार्ग-अनन्तचतुष्टय सौख्यः शाश्वतासौख्यः अव्यय विनाशरहितः ईदृग्विधं मोक्षमार्गस्य निश्चय व्यवहारस्य निरवशेषनिराकृतमलकलंकस्य शरीरस्यात्मनो स्वाभाविकतान ज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमत्यंतिकमवस्थान्तरं मोक्षः तस्य मार्ग उपायः तस्य नेत्तारं उपदेशकं ......।

मंगलाचरणके पश्चात ग्रन्थके प्रथम सूत्रकी भी टीका देखिये :—

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं—

तत्त्वशब्दो भावसामान्यवाची। भो भगवन्!

सम्यग्दर्शनं किम् उक्तं च ?

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ तथाऽनायतनानि षट।
अष्टौ शंकादयो दोषा दृग्दोषाः पंचविंशति ॥

पंचविंशति मलरहितं तत्त्वार्थानां भावना रुचि. सम्यग्दर्शनं भवति।

टीकाके बीच २ में टीकाकारने संस्कृत एवं कहीं २ हिन्दीके पद्योंका उद्धरण दिया है इससे विषय और भी स्पष्ट होगया है तथा यह एक नवीन शैली है जिसे टीकाकारने अपनायी है। अभी तक संस्कृत टीकाओं में हिन्दी पद्योंके उद्धरण देखने में नहीं आये। टीकाकारके समयमें हिन्दीकी व्यापकता एवं लोकप्रियताको भी यह द्योतक है। टीका में आये हुए कुछ उद्धरणोंको देखिये:—

जो जेहा नर सेवियउ सो ते ही फलपत्ति।
जलहिं पमाणें पुण्डइ विहिणालइ निप्पजन्ति ॥
भवाब्धौ भव्यसार्थस्य निर्वाणद्वीपायन।
चारित्रयान पात्रस्य कर्णधारो हि दर्शनः ॥
हस्ते चिंतामणि यस्य गृहे यस्य सुरद्रुमः।
कामधेनु धनं यस्य तस्य का प्रार्थना परा ॥

× × × × क्रमशः

(श्री दि० जैन अ० क्षेत्र श्री महावीर जी के अनुसन्धान विभागकी ओर से)

सिंह-श्वान-समीक्षा

(पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री)

प्राणिशास्त्रके अनुसार सिंह और श्वान दोनों ही हिंसक एवं मांसाहारी प्राणी हैं। दोनों ही शिकारी जानवर माने जाते हैं और दोनोंके खाने - पीनेका प्रकार भी एक सा ही है। फिर भी जबसे लोगोंने कुत्तोंको पालना प्रारम्भ कर दिया, तबसे वह कृतज्ञ (वफादार) और उपयोगी जानवर माने जाना लगा है। पर सिंहको लोगोंने लाख प्रयत्न करनेपर भी—पिंजड़ोंमें और कठघरोंमें वर्षों तक बंद रखनेके बाद भी—आज तक पालतू, वफादार और उपयोगी नहीं बना पाया है। सर्कसके भीतर हंटरके बलपर चाहे जैसा नाच नचाने पर भी न उसका स्वभाव बदला जा सका है और न खाना-पीना ही। जबकि लोगोंने कुत्तोंको रोटी खाना सिखाकर उसे बहुत कुछ अन्न-भोजी भी बना दिया है और उससे मेल-जोल बढ़ाकर उसे अपना दास, अंग-रक्षक और घरका पहरेदार तक बना लिया है। युद्धके समय इससे संदेश-वाहक (दूत) का भी काम लिया गया है और इसके द्वारा अनेक महत्वपूर्ण रहस्योंका उद्घाटन भी हुआ है। कुत्तेकी एक बड़ी विशेषता उसकी घ्राण-शक्ति की है, जिसके द्वारा वह चोर-साहूकार और भले-बुरे आदमी तकका पहिचान लेता है। सूंघ सूंघ कर वह जमीनके भीतर गड़ी हुई वस्तुओंका भी पता लगा लेता है। इसके अतिरिक्त कुत्तेकी नींद बहुत हल्की होती है, जरा सी आहटसे वह जाग जाता है और रात भर घर-बारकी रक्षा करता रहता है। इस प्रकार कुत्ता हिंसक प्राणियोंमें मनुष्यका सबसे अधिक लाभ-दायक (फायदेमन्द), उपकारी और वफादार प्राणी साबित हुआ है, और सिंह सदा इसके विपरीत ही रहा है।

कुत्तेके इतना कृतज्ञ, उपयोगी और उपकारक सिद्ध होने पर भी यदि कोई मनुष्य अपने हितैषी या उपकारकको कुत्तेकी उपमा देकर कह बैठे—'अजी, आप तो कुत्तेके समान हैं' तो देखिए, इसका उसपर क्या असर होता है? लेने के देने पड़ जायंगे, आज तकके किये-करायेपर पानी फिर जायगा और वह आपकी जानका ग्राहक बन जायगा!!! पर इसके विपरीत स्वभाव वाले और मनुष्यके कभी काम न आने वाले सिंहकी उपमा देकर किसीसे कहिये—'अजी, आपतो सिंहके समान हैं' तो देखिए इसका उसपर क्या असर होता है? वह आपके इस वाक्यको सुनते ही हर्षसे फूलकर कुप्पा हो जायगा, मूंछोंपर ताव देने लगेगा और गर्वका अनुभव करेगा तथा मनमें विचार करेगा, वाक़ई मैंने ऐसे-ऐसे कार्य किये हैं कि मैं इस उपमाके ही योग्य हूँ!

यहां मैं पाठकोंसे पूछना चाहता हूँ—क्या कारण है कि कुत्तेके इतने उपयोगी और फायदेमन्द होने पर भी लोग उसकी उपमा तकको पसंद नहीं करते, प्रत्युत मरने-मारनेको तैयार हो जाते हैं और जिससे मनुष्यका कोई लाभ नहीं, उसकी उपमा दिये जानेपर इतने अधिक हर्ष और गर्वका अनुभव करते हैं? मालूम पड़ता है कि कुत्तेमें भले ही सैकड़ों गुण हों, पर कुछ एक ऐसे महान् अवगुण अवश्य हैं, जिससे उसके सारे गुण पासंग पर चढ़ जाते हैं और जिनके कारण लोग उसकी उपमाको पसंद नहीं करते। इसके विपरीत सिंहमें लाख अवगुण भले ही हों, पर कुछ-एक महान गुण उसमें ऐसे अवश्य हैं, जिसके कि कारण लोग उसकी उपमा दिये जाने पर हर्ष और गर्वका अनुभव करते हैं।

सिंह और श्वान, इन दोनोंके स्वभावका सूक्ष्म अध्ययन करनेपर हमें उन दोनोंके इस महान् अन्तरका पता चलता है और तब यह ज्ञात होता है कि वास्तवमें इन दोनोंमें महान् अन्तर है और उसके ही कारण लोग एककी उपमाको पसन्द और दूसरेकी उपमाको नापसन्द करते हैं।

सिंह और श्वानमें सबसे बड़ा अन्तर आत्म-विश्वास का है। सिंहमें आत्मविश्वास इतना प्रबल होता है कि जिसके कारण वह अकेले ही सैकड़ों हाथियोंके साथ मुकाबिला करनेकी क्षमता रखता है। परन्तु कुत्तेमें आत्मविश्वासकी कमी होती है। वह अपने मालिकके भरोसे पर ही सामने वाले पर आक्रमण करता है। जब तक उसे अपने मालिक की ओरसे प्रोत्तेजन मिलता रहेगा, वह आगे बढ़ता रहेगा। आक्रमण करते हुए भी वह बार-बार मालिक-की ओर झांकता रहेगा और ज्योंही मालिकका प्रोत्ते-

जन मिलना बन्द होगा कि वह तुरन्त दुम दबा कर वापिस लौट आयेगा। पर सिंह किसी दूसरेके भरोसे शत्रु पर आक्रमण नहीं करता। आक्रमण करते हुए वह कभी किसीकी सहायताके लिए पीछे नहीं झांकता और शत्रुसे हार कर तथा दुम दबा कर वापिस लौटना तो वह जानता ही नहीं। वह 'कार्यं वा साधयामि, देहं वा पातयामि' का महामन्त्र जन्मसे ही पढ़ा हुआ होता है। अपने इस अदम्य आत्मविश्वासके बल पर ही वह बड़े से बड़े जानवरों पर भी विजय पाता है और जंगलका राजा बनता है।

सिंह और श्वानमें दूसरा बड़ा अन्तर विवेकका है। कुत्तेमें विवेककी कमी स्पष्ट है। यदि कहीं किसी अपरिचित गलीसे आप निकलें, कोई कुत्ता आपको काटने दौड़े और आप अपनी रक्षाके लिए उसे लाठी मारें तो वह लाठीको पकड़ कर चबानेकी कोशिश करेगा। उस बेवकूफको यह विवेक नहीं है कि यह लाठी मुझे मारने वाली नहीं है। मारने वाला तो यह सामने खड़ा हुआ पुरुष है, फिर मैं इस लकड़ीको क्या चबाऊँ। दूसरा अविवेकका उदाहरण लीजिये—कुत्तेको यदि कहीं हड्डीका टुकड़ा पड़ा हुआ मिल जाय तो यह उसे उठा कर चबायेगा और हड्डीकी तीखी नोकों से निकले हुए अपने ही मुखके खूनका स्वाद लेकर फूला नहीं समायेगा। वह समझता है कि यह खून इस हड्डीमेंसे निकल रहा है। पर सिंहका स्वभाव ठीक इससे विपरीत होता है। वह कभी हड्डी नहीं चबाता और न आक्रमण करने वालेकी लाठी, बन्दूक या भाला आदिको पकड़ कर ही उसे चबानेकी कोशिश करता है, क्योंकि उसे यह विवेक है कि ये लाठी, बन्दूक आदि जड़ पदार्थ मेरा स्वतः कुछ बिगाड़ नहीं कर सकते; ये लाठी आदि मुझे मारने वाले नहीं, बल्कि इनका उपयोग करने वाला यह मनुष्य ही मुझे मारने वाला है। अपने इस विवेकके कारण वह लाठी आदिको पकड़ने या पकड़ कर उन्हें चबानेकी चेष्टा नहीं करता; प्रत्युत उनके चलाने वाले पर आक्रमण कर उसका काम तमाम कर देता है।

सिंह और श्वानमें एक और बड़ा अन्तर पुरुषार्थका है। कुत्तेमें पुरुषार्थकी कमी होती है, अतएव वह सदा रोटीके टुकड़ोंके लिये दूसरोंके पीछे पूंछ हिलाता हुआ फिरा करता है और टुकड़ोंका गुलाम बना रहता है। जब तक आप उसे टुकड़े डालते रहेंगे, आपकी गुलामी करेगा और जब आपने टुकड़े डालना बन्द किये और आपके शत्रुने टुकड़े डालना प्रारम्भ किये तभीसे वह उसकी गुलामी शुरू कर देगा। वह 'गंगा गये गङ्गादास और जमुना गये जमुनादास' की लोकोक्तिको चरितार्थ करता है। पर सिंह कभी भी रोटीका गुलाम नहीं है। वह पेट भरनेके लिये न दूसरोंके पीछे पूंछ हिलाता फिरता है और न कुत्तेके समान दूसरोंकी जूठी हड्डियाँ ही चाटा करता है। सिंह प्रति दिन अपनी रोटी अपने पुरुषार्थसे स्वयं उत्पन्न करता है। सिंहके विषयमें यह प्रसिद्धि है कि वह कभी भी दूसरोंके मारे हुए शिकारको हाथ नहीं लगाता। स्वतंत्र सिंहकी तो जाने दीजिये, पर कटघरों में बन्द सिंहोंके सामने भी जब उनका भोजन लाया जाता है तब वे भोजन-दाताको ओर न तो दीनता-पूर्ण नेत्रों से ही देखते हैं, न कुत्तेके समान पूँछ हिलाते हैं और न जमीन पर पड़ कर अपना उदर दिखाते हुए गिड़गिड़ाते ही हैं। प्रत्युत इसके एक बार गम्भीर गर्जना कर मानो वे अपना विरोध प्रकट करते हुए यह दिखाते हैं कि अरे मानव ? क्या तू मुझे अब भी टुकड़ोंके गुलाम बनाने का व्यर्थ प्रयास कर अपने को दातार होने का अहंकार करता है ? कहने का अर्थ यह कि पराधीन और कठघरे में बन्द सिंह भी रोटी का गुलाम नहीं है, पर स्वतन्त्र और आजाद रहने वाला भी कुत्ता सदा टुकड़ोंका गुलाम है। कुत्तेको अपने पुरुषार्थका भान नहीं, पर सिंह अपने पुरुषार्थसे खूब परिचित है और उसके द्वारा ही अपनी रोटी स्वयं उपार्जित करता है।

इस उपर्युक्त अन्तरके अतिरिक्त सिंह और श्वान में एक और महान् अन्तर है और वह यह कि कुत्ता 'जाति देख घुर्राऊं स्वभावी है। अपने जाति वालोंको देखकर यह भौंकता, गुर्राता और काटनेको दौड़ता है। इससे अधिक नीचताकी और पराकाष्ठा क्या हो सकती है ? पर सिंह कभी भी दूसरे सिंहको देख कर गुर्राता या काटनेको नहीं दौड़ता है, बल्कि जैसे

एक राजा दूसरे राजासे सम्मान और गौरवके साथ मिलता है, ठीक उसी प्रकार दो सिंह परस्पर मिलते हैं। सिंहमें अपने सजातीय बन्धुओंके साथ वात्सल्य भाव भरा रहता है, जब कि कुत्ता ठीक इसके विपरीत है। उसमें स्वजाति वात्सल्यका नामोनिशान भी नहीं होता। स्वजाति वात्सल्यका गुण सर्वगुणोंमें सिरमौर है और उसके होनेसे सिंह वास्तवमें सिंह संज्ञाको सार्थक करता है और उसके न होनेसे कुत्ता 'कुत्ता' ही बना रहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिंहमें आत्मविश्वास विवेक पुरुषार्थशीलता और स्वजातिवत्सलता ये चार अनुपम जाज्वल्यमान गुण-रत्न पाये जाते हैं, जिनके प्रकाशमें उसके अन्य सहस्रों अवगुण नगण्य या तिरोभूत हो जाते हैं। इसके विपरीत कुत्तेमें आत्म-विश्वासकी कमी, विवेकका अभाव, टुकड़ोंका गुलामी-पना और स्वजाति-विद्वेष ये चार महा अवगुण पाये जानेसे उसके अनेकों गुण तिरोभूत हो जाते हैं। सिंहमें उक्त चार गुणोंके कारण ओज, तेज और शौर्यका अक्षय भण्डार पाया जाता है और ये ही उसकी सबसे बड़ी विशेषताएं हैं, जिनके कारण सिंहकी उपमा दिये जाने पर मनुष्य हर्ष और गर्वका अनुभव करते हैं। कुत्तेमें हजारों गुण भले ही हों, पर उसमें उक्त चार महान गुणोंकी कमी और उनके अभावसे प्रगट होने वाले चार महान अवगुणोंके पाये जानेसे कोई भी कुत्तेकी उपमाको पसन्द नहीं करता। इस प्रकार यह फलितार्थ निकलता है कि सिंह और श्वानमें आकाश-पाताल जैसा महान अन्तर है

ठीक यही अन्तर सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टिमें है। सम्यक्त्वी सिंहके समान है और मिथ्यात्वी कुत्तेके समान। सम्यक्त्वीमें सिंहके उपर्युक्त चारों गुण पाये जाते हैं। आत्मविश्वाससे यह सदा निःशंक और निर्भय रहता है। विवेक प्रगट होनेसे वह अमूढ़दृष्टि या यथार्थदर्शी बन जाता है। पुरुषार्थके बलसे वह आत्मनिर्भर रहता है और साजातीय-वात्सल्यसे तो वह लबालब भरा ही रहता है। सम्यक्त्वी स्वभावतः अपने सजातीय या साधर्मीजनोंसे 'गो वत्स' सम प्रेम करता है। पर मिथ्यात्वी सदा सजातियोंसे जला ही करता है, उनके उत्कर्षको देखकर कुढ़ता है और अवसर आने पर उन्हें गिराने और अपमानित करनेसे नहीं चूकता।

इन गुणोंके प्रकाशमें यदि सम्यक्त्वीके चारित्र-मोहके उदयसे अविरति-जनित अनेकों अवगुण पाये जाते है, तो भी वे उक्त चारों अनुपम गुण-रत्नोंके प्रकाशमें नगण्यसे हो जाते हैं। इसके विपरीत मिथ्या-त्वीमें दया, क्षमा, विनय, नम्रता आदि अनेक गुणोंके पाये जाने पर भी आत्मविश्वासकी कमी से वह सदा सशंक बना रहता है, विवेकके अभावमें उस पर अज्ञानका पर्दा पड़ा रहता है और इसलिए वह निस्तेज एवं हतप्रभ होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना रहता है, पुरुषार्थकी कमीके कारण वह सदा टुकड़ोंका गुलाम और दूसरोंका दास बना रहता है तथा स्वजाति-विद्वेषके कारण वह घर-घरमें दुतकारा जाता है।

हमें श्वानवृत्ति छोड़कर अपने दैनिक व्यवहारमें सिंहवृत्ति स्वीकार करना चाहिए।

शंका-समाधान

शंका - जबकि सिंह और श्वान दोनों मांसाहारी और शिकारी जानवर हैं, तब फिर इन दोनोंमें उपर्युक्त आकाश-पाताल जैसे महान अन्तर उत्पन्न होनेका क्या कारण है ?

समाधान—इसके दो कारण हैं :- एक अन्तरंग और दूसरा बहिरंग। अन्तरंग कारण तो सिंह और श्वान नामक पंचेन्द्रिय जातिनामकर्मका उदय है और बहिरंग कारण बाहिरी संगति मनुष्योंका सम्पर्क एवं तदनुकूल अन्य वातावरण है। अन्तरंग कारण कर्मो-दयके समान होने पर भी जिन्हें मनुष्यके द्वारा पाले जाने आदि बाह्य कारणोंका योग नहीं मिलता, वे जंगली कुत्ते आज भी भारी खूंख्वार और भयानक देखे जाते हैं जिन्हें लोग 'शुना कुत्ता' कहते हैं। 'शुना शब्द 'श्वान' का ही अपभ्रंश रूप है जो आज भी अपने इस मूल नामके द्वारा स्वकीय असली रूप—खूंख्वारताका परिचय दे रहा है। मनुष्योंने इसे पाल-पुचकारके उसे उसकी स्वाभाविक शक्तिसे बेभान करा

दिया और रोटीके टुकड़े खिला २ कर उसे 'दोगला' * बना दिया है।

शंका—बहिरंग कारण और उनका असर तो समझ में आया, पर यह सिंह या श्वान नामक नाम-कर्मके उदयरूप अन्तरंगकारण क्या वस्तु है ?

समाधान—जो कारण बाहिर में दृष्टिगोचर न हो सके, पर अन्तरंगमें—भीतर आत्माके ऊपर अपना सूक्ष्म असर डाले, उसे अन्तरंग कारण कहते हैं। जीव अपनी भली-बुरी नाना प्रकारकी हरकतोंसे अपने आत्मा पर जो संस्कार डाल लेता है, उसे जैन शास्त्रोंकी परिभाषामें 'कर्म' कहते हैं और वही कर्म संचित संस्कारोंका फल देनेके लिए अन्तरंग कारण है।

शंका वे ऐसे कौनसे संस्कार हैं, जिनके कारण जीव सिंह और श्वान नामक कर्मको उपार्जन करता है और उनके उदयसे सिंह और कुत्तेकी पर्यायको धारण करता है ?

समाधान पशुओंमें उत्पन्न होनेका प्रधान कारण 'मायाचार' है। सिंह और श्वान दोनों ही पशु हैं, अतः यह स्वतः सिद्ध है कि दोनोंने पूर्वभवमें भरपूर मायाचार किया है। मनमें कुछ और रखना, वचनसे कुछ और कहना, तथा काम कुछ और ही करना, यह मायाचार कहलाता है। यह मायाचार कोई प्रतिष्ठा प्राप्त करनेके लिए करता है, कोई धन कमानेके लिए और कोई व्यभिचार आदि अन्य मतलब हल करनेके लिए। धनको ग्यारहवां प्राण कहा गया है जो मायाचार करके दूसरेके धनको हड़प करते हैं, वे मांस-भक्षी या छोटे-मोटे जीवोंको जिन्दा हड़प जाने वाले जानवरोंमें पैदा होते हैं। सिंह और श्वान दोनों ही मांस-भक्षी हैं, पर इनका पूर्वभवमें मायाचार धन-विषयक रहा, ऐसा जानना चाहिए। जो जीव सामने जाहिरमें—तो धनियोंकी खुशामद करते हैं और अवसर पातेही पीछे से उसके धनको चुरा लेते हैं, या लिए हुए, और अमानत रखे धनको हड़प कर जाते हैं, या हड़प करनेकी भावना रखते हुए भी कभी-कभी अमानत रखनेवालेको व्याज या सहायता आदिके रूपमें कुछ तांबेके टुकड़े देते रहते हैं, वे तो कुत्तोंके संस्कार अपनी आत्मापर डालते हैं। किन्तु जो दूसरेके धनको चुराने या हड़प करनेके लिए न सामने खुशामद ही करते हैं और न पीछे धन ही चुराते हैं, किन्तु दिनभर तो स्वाभिमानका बाना पहने अपने घरोंमे पड़े रहते हैं और रातको शस्त्रोंसे लैस होकर दूसरों पर डाका डालते हैं, वे जीव शेर, चीते, सिंह आदि जानवरोंमें उत्पन्न होनेका कर्म उपार्जन करते हैं। जो मायाचार करते हुए अपने सजातीयोंका उत्कर्ष नहीं देख सकते उन्हें नीचा दिखाने मारने और काटनेको दौड़ते हैं वे कुत्तेका कर्म संचय करते हैं किन्तु जो उक्त प्रकारका मायाचार करते हुए भी अपने सजातीयोंका सन्मान करते हैं। उन्हें काटने नहीं दौड़ते, पेटके लिए दूसरोंकी खुशामद नहीं करते, दूसरोंके इशारोंपर नहीं नाचते भले बुरेका स्वयं विवेक रखते हैं और आत्मनिर्भर रहते हैं, वे सिंह नामक नामकर्मको उपार्जन करते हैं।

* दोगलाका अर्थ है, दो प्रकारका गला। पशु स्वभावतः दो जातिके होते हैं—शाकाहारी और मांसाहारी। कुत्ता स्वभावतः मांसाहारी है, पर मनुष्योंके संसर्गसे अन्नभोजी भी हो गया। अन्नभोजी फल तथा घासाहारी जीवोंकी गणना शाकाहारियोंमें ही की जाती है। कुत्ता मांसाहारियोंके साथ मांस भी खा लेता है और मनुष्योंके साथ अन्न भी खा लेता है, इस प्रकार परस्पर विरोधी दो भक्ष्य पदार्थोंको अपने गलेके नीचे उतारनेके कारण वह 'दोगला' कहलाता कहलाता है।

समाजसे निवेदन

'अनेकान्त' जैन समाजका एक साहित्यिक और ऐतिहासिक सचित्र मासिक पत्र है। उसमें अनेक खोजपूर्ण पठनीय लेख निकलते रहते हैं। पाठकोंको चाहिये कि वे ऐसे उपयोगी मासिक पत्रके ग्राहक बनकर, तथा संरक्षक या सहायक बनकर उसको समर्थ बनाएं। हमें दो सौ इक्यावन तथा एक सौ एक रुपया देकर संरक्षक व सहायक श्रेणीमें नाम लिखाने वाले के वलदो सौ सज्जनोंकी आवश्यकता है। आशा है समाजके दानी महानुभाव एक सौ एक रुपया प्रदानकर सहायकश्रेणीमें अपना नाम अवश्य लिखाकर साहित्य-सेवामें हमारा हाथ बटायंगे। —मैनेजर 'अनेकान्त'

ग्रन्थोंकी खोजके लिये
६००) रु० के छह पुरस्कार

जो कोई भी सज्जन निम्न-लिखित जैनग्रंथोंमें से, जिनका उल्लेख तो मिलता है परन्तु वे अभी तक उपलब्ध नहीं हो रहे हैं, किसी भी ग्रन्थको, किसी भी जैन-अजैन शास्त्रभण्डार अथवा लायब्रेरीसे खोज लगा कर सर्व प्रथम सूचना नीचे लिखे पते पर देनेकी कृपा करेंगे और फिर बादको ग्रन्थकी शुद्ध कापी भी देवनागरी लिपिमें भेजेंगे या खुद कापीका प्रबन्ध न कर सकें तो मूल ग्रन्थ ही कापी अथवा फोटोके लिये वीरसेवामन्दिरको भिजवाएँगे तो उन्हें, ग्रंथका ठीक निश्चय हो जाने पर, पुरस्कारकी वह रकम भेंट की जायगी जो प्रत्येक ग्रन्थके लिये १००) रु० की निर्धारित की गई है। ग्रन्थ सब संस्कृत-भाषाके हैं।

उक्त सूचनाके साथमें ग्रन्थके मंगलाचरण तथा प्रशस्ति (अन्तभाग) की और एक सन्धिकी भी (यदि संधियाँ हो तो) नकल आनी चाहिये। यदि सूचना तार-द्वारा दी जाय तो उक्त नकल उसके बाद ही डाक रजिस्टरीसे भेज देनी चाहिये। ऐसी स्थितिमें तार मिलनेका समय ही सूचना-प्राप्तिका समय समझा जायगा। सूचना की अन्तिम अवधि फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा संवत २०११ तक है।

किसी ग्रथकी श्लोकसंख्या यदि २०० से ऊपर हो तो कुल कापीकी उजरत पुरस्कारकी रकमसे अलग दी जाएगी और वह दस रुपए हजारके हिसाबसे होगी। मूल ग्रन्थ प्रतिके हिन्दी लिपिमें देखनेको आजानेसे कापी भेजनेकी जिम्मेदारी समाप्त हो जाएगी। तब कापीका प्रबन्ध वीरसेवामंदिर-द्वारा हो जायगा।

खोजके ग्रन्थोंका परिचय

(१) जीव-सिद्धि—यह ग्रंथ स्वामी समन्तभद्रका रचा हुआ है और उनके युक्त्यनुशासनकी जोडका ग्रन्थ है। श्री जिनसेनाचार्यने हरिवंशपुराणके निम्न पद्यमें इसे भी भगवान महावीरके वचनों जैसा महत्वशाली बतलाया है—

जीवसिद्धि-विधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥

(२) तत्त्वानुशासन—यह ग्रन्थ भी स्वामि-समन्तभद्र-कृत है और रामसेनकृत उस तत्त्वानुशासनसे भिन्न है जो नागसेनके नामसे माणिकचन्द्रग्रन्थमालामें छपा है। इसका उल्लेख 'दिगम्बर जैनग्रन्थ-कर्ता और उनके ग्रन्थ' नामकी सूचीके अतिरिक्त, जो अनेक ग्रन्थसूचियों पर से बनी है, 'जैन ग्रन्थावली' में भी पाया जाता है, जिसमें वह सूरतके उन सेठ भगवानदास कल्याणदासजीकी प्राइवेट रिपोर्टसे लिया गया है जो कि पिटर्सन साहबकी नौकरीमें थे। 'नियमसार' की पद्मप्रभ-मलधारि देव-कृत-टीकामें 'तथा चोक्तं तत्त्वानुशासने' इस वाक्यके साथ नीचे लिखा पद्य उद्धृत किया गया है, जो रामसेनके उक्त तत्त्वानुशासनमें नहीं है, न ग्रन्थसन्दर्भकी दृष्टिसे उसका हो सकता है तथा विषय-वर्णनकी दृष्टिसे बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है, और इसलिये सम्भवतः स्वामीजीके तत्त्वानुशासनका ही जान पड़ता है :—

उत्सृज्य कायकर्माणि भावं च भवकारणम्।
स्वात्मावस्थानमव्यग्रं कायोत्सर्गः स उच्यते ॥

(३) सन्मति सूत्रकी दो टीका—सिद्धसेनाचार्यका सन्मति-सूत्र नामका एक प्राकृत ग्रन्थ है, जिस पर दो खास संस्कृत टीकाएँ अभी तक अनुपलब्ध हैं—एक दिगम्बराचार्य सन्मति या सुमतिदेवकी रचना है और दूसरी श्वेताम्बराचार्य मल्ल-वादी की। दिगम्बराचार्यकी टीकाका उल्लेख वादिराजसूरिके पार्श्वनाथचरितमें और श्वेताम्बराचार्यकी टीकाका उल्लेख हरिभद्रकी अनेकान्तजयपताका तथा यशोविजयके अष्ट-सहस्री-टिप्पणमें निम्न प्रकार पाया जाता है :—

'नमः सन्मतये तस्मै भवकूप-निपातिनाम्।
सन्मतिर्विवृता येन सुखधाम प्रवेशिनी ॥
(पार्श्वनाथचरित)

'उक्तं च वादिमुख्येन श्रीमल्लवादिना सम्मतौ।'
(अनेकान्त जय०)

'इहार्थे कोटिशो भंगा निर्दिष्टा मल्लवादिना।
मूल-सम्मति-टीकायामिदं दिङ्मात्रदर्शनम् ॥
(अष्टसहस्री-टि०)

(४) तत्त्वार्थसूत्र-टीका (तत्त्वार्थालंकार) शिवकोटि-आचार्यकृत—श्रवणबेलगोलके शिलालेख नं० १०५ (२५४) के निम्न पद्यसे इस टीकाका पता चलता है और इसमें प्रयुक्त हुआ 'एतत्' शब्द इस बातको सूचित करता है कि यह पद्य उक्त टीका परसे ही उद्धृत किया गया है, जिसे समन्तभद्रके शिष्य शिवकोटिकी कृति बतलाया गया है—

तस्यैव शिष्यः शिवकोटिसूरिस्तपोलतालम्बनदेहयष्टिः।
संसार-वाराकर-पोतमेतत् तत्त्वार्थसूत्रं तदलंचकार ॥

(५) त्रिलक्षणकदर्थन—यह ग्रंथ स्वामी पात्रकेसरी-का रचा हुआ है। श्रवणबेलगोलके मल्लिषेणप्रशस्ति नामक शिलालेख नं० ५४ (६७), सिद्धिविनिश्चय टीका और न्याय विनिश्चय-विवरणमें इसका उल्लेख है। वादिराजसूरिने न्याय-विनिश्चय-विवरणमें लिखा है—

'त्रिलक्षणकदर्थने वा शास्त्रे विस्तरेण श्रीपात्र-केसरि-स्वामिना प्रतिपादनादित्यलमभिनिवेशेन।'

आवश्यक निवेदन—

इन ग्रन्थोंके उपलब्ध होनेपर साहित्य, इतिहास और तत्त्वज्ञान-विषयक क्षेत्रपर बड़ा प्रकाश पड़ेगा और अनेक उलझी हुई गुत्थियाँ स्वतः सुलझ जाएँगी। इसीसे वर्तमानमें इनकी खोज होनी बहुत ही आवश्यक है। अतः सभी विद्वानोंको—खासकर जैनविद्वानोंको—इनकी खोजके लिये शीघ्र ही पूरा प्रयत्न करना चाहिये, सारे शास्त्रभण्डारोंकी अच्छी छान-बीन होनी चाहिये। उन्हें पुरस्कारकी रकमको न देखकर यह देखना चाहिये कि इन ग्रन्थोंकी खोज-द्वारा हम देश और समाजकी बहुत बड़ी सेवा कर रहे हैं। ऐसी सेवाओंका वास्तवमें कोई मूल्य नहीं होता—पुरस्कार तो आदर-सत्कार एवं सम्मान व्यक्त करनेका एक चिन्ह मात्र है। वे तो जिस ग्रंथकी भी खोज लगाएंगे उसके 'उद्धारक' समझे जाएंगे।

जो सज्जन पुरस्कारके अधिकारी होकर भी पुरस्कार लेना नहीं चाहेंगे उनके पुरस्कारकी रकम साहित्यिक शोध-खोजके विभागमें जमा की जायगी और वह उनकी ओरसे किसी दूसरे ग्रंथकी खोजके काममें लगाई जायगी। साथ ही उनका नाम उस ग्रन्थके उद्धारक' रूपमें प्रकाशित किया जायगा।

जुगलकिशोर मुख्तार
अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'
१, दरियागंज, दिल्ली

नोट—दूसरे पत्र-सम्पादकोंसे निवेदन है कि वे भी इस विज्ञप्तिको अपने-अपने पत्रमें प्रकाशित करनेकी कृपा करें।

वीर सेवामन्दिरको सहायता

आचार्य श्री नमिसागरजीकी प्रेरणा आदिको पाकर वीरसेवामन्दिरको उसके साहित्यिक तथा ऐतिहासिक कामोंके लिए जिन सज्जनोंसे जो सहायता प्राप्त हुई है उसकी सूची निम्न प्रकार है:

१००१) ला० प्यारेलालजी सर्राफ, सब्जी मंडी देहली
५५१) अखिल भा० दि० जैन केन्द्रीय महा समिति ,,
५००) लाला रतनलाल सुकमाल चन्दजी, मेरठ
५००) डा० उत्तमचन्दजी, अम्बाला छावनी
३००) लाला मोतीलालजी, ५५ दरियागंज; देहली
२०१) ला० खजानसिंह विमलप्रसादजी मंसूरपुर
१०१) ला० हरिश्चन्द्र जी, देहली-सहादरा
१०१) लाला होशयारसिंह शीतलप्रसाद जी मंसूरपुर
१०१) धर्मपत्नी ला० शिखरचन्दजी देहली
१०१) ला० रामप्रसाद जी पंसारी, देहली
१०१) ला० ज्योतिप्रसाद श्रीपालजी टाइप वाले देहली
१००) ला० नेमचन्द्र जी मंगलौर
८५) धर्मपत्नी लाला सुमेरचन्द्र जी खजांची देहली
५१) लाला अयन्तीप्रसादजी देहली
२५) ला० रामकरनदासजी, बहादुरगंज मण्डी
२५) ला० धूमसेन महावीरप्रसादजी कटरा सत्यनारायण देहली
२५) श्रीमती राजकली देवी अम्बहटा (सहारनपुर)
२५) ला० दाताराम जी, ७ दरियागंज देहली,
२५) ला० रघुवीरसिंह जी, बहादुरगंज मण्डी, फर्म ला० केदारनाथ चन्द्रभान जी
२१) श्री विजयरत्न जी
१०) अज्ञात, मार्फत ला० ज्योतिप्रसादजी टाइप वाले
५) श्रीमती तारादेवी
५) ला० शिखरचन्दजी सब्जीमण्डी देहली

निवेदक
राजकृष्ण जैन
व्यवस्थापक वीरसेवा-मन्दिर

सकाम धर्मसाधन

लौकिक-फलकी इच्छाओंको लेकर जो धर्मसाधन किया जाता है उसे 'सकाम धर्मसाधन' कहते हैं और जो धर्म वैसी इच्छाओंको साथमें न लेकर, मात्र आत्मीय कर्तव्य समझकर किया जाता है उसका नाम 'निष्काम धर्मसाधन' है। निष्काम धर्मसाधन ही वास्तवमें धर्मसाधन है और वही वास्तविक-फलको फलता है। सकाम धर्मसाधन धर्मको विकृत करता है, सदोष बनाता है और उससे यथेष्ट धर्म-फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती। प्रत्युत इसके, अधर्मकी और कभी कभी घोर पाप-फलकी भी प्राप्ति होती है। जो लोग धर्मके वास्तविक स्वरूप और उसकी शक्तिसे परिचित नहीं, जिनके अन्दर धैर्य नहीं, श्रद्धा नहीं, जो निर्बल हैं - कमजोर हैं, उतावले हैं और जिन्हें धर्मके फल पर पूरा विश्वास नहीं, ऐसे लोग ही फल-प्राप्तिमें अपनी इच्छाकी टाँगें अड़ा कर धर्मको अपना कार्य करने नहीं देते — उसे पंगु और बेकार बना देते हैं, और फिर यह कहते हुए नहीं लजाते कि धर्म-साधनसे कुछ भी फलकी प्राप्ति नहीं हुई। ऐसे लोगोंके समाधानार्थ—उन्हें उनकी भूलका परिज्ञान करानेके लिए ही यह लेख लिखा जाता है, और इसमें आचार्य-वाक्योंके द्वारा ही विषयको स्पष्ट किया जाता है।

श्रीगुणभद्राचार्य अपने 'आत्मानुशासन' ग्रन्थमें लिखते

संकल्प्यं कल्पवृक्षस्य चिन्त्यं चिन्तामणेरपि।
असंकल्प्यमसंचिन्त्यं फलं धर्मादवाप्यते ॥२२॥

अर्थात्—फलप्रदानमें कल्पवृक्ष संकल्पकी और चिन्तामणि चिन्ताकी अपेक्षा रखता है—कल्पवृक्ष बिना संकल्प किये और चिन्तामणि बिना चिन्ता किये फल नहीं देता; परन्तु धर्म वैसी कोई अपेक्षा नहीं रखता - वह बिना संकल्प किए और बिना चिन्ता किए ही फल प्रदान करता है।

जब धर्म स्वयं ही फल देता है और फल देनेमें कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणिकी शक्तिको भी मात (परास्त) करता है, तब फल-प्राप्तिके लिए इच्छाएँ करके—निदान बाँधकर—अपने आत्माको व्यर्थ ही संक्लेशित और आकुलित करनेकी क्या जरूरत है? ऐसा करनेसे तो उलटा फल-प्राप्तिके मार्गमें काँटे बोए जाते हैं। क्योंकि इच्छा फल-प्राप्तिका साधन न होकर उसमें बाधक है।

इसमें सन्देह नहीं कि धर्म-साधनसे सब सुख प्राप्त होते हैं; परन्तु तभी तो जब धर्मसाधनमें विवेकसे काम लिया जाय। अन्यथा, क्रियाके—बाह्य धर्माचरणके—समान होने पर भी एकको बन्ध फल दूसरेको मोक्षफल अथवा एकको पुण्यफल और दूसरेको पापफल क्यों मिलता है? देखिये, कर्मफलकी इस विचित्रताके विषयमें श्रीशुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवमें क्या लिखते हैं—

यत्र बालश्चरत्यस्मिन्पथि तत्रैव पण्डितः।
बालः स्वमपि बध्नाति मुच्यते तत्त्वविद्ध्रुवम् ॥७२१॥

अर्थात्—जिस मार्ग पर अज्ञानी चलता है उसी पर ज्ञानी चलता है। दोनोंका धर्माचरण समान होने पर भी अज्ञानी अपने अविवेकके कारण कर्म बाँधता है और ज्ञानी अपने विवेक द्वारा कर्म-बन्धनसे छूट जाता है। ज्ञानार्णवके निम्न श्लोकमें भी इसी बातको पुष्ट किया गया है—

वेष्टयत्यात्मनात्मानमज्ञानी कर्मबन्धनैः।
विज्ञानी मोचयत्येव प्रबुद्धः समयान्तरे ॥७१७॥

इससे विवेक पूर्वक आचरणका कितना बड़ा माहात्म्य है उसे बतलानेकी अधिक जरूरत नहीं रहती।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने, अपने प्रवचनसारके चारित्राधिकारमें, इसी विवेकका — सम्यग्ज्ञानका — माहात्म्य वर्णन करते हुए बहुत स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण ३८॥

अर्थात्—अज्ञानी—अविवेकी मनुष्य जिस अथवा जितने ज्ञानावरणादिरूप कर्मसमूहको शत-सहस्र कोटि भवोंमें—करोड़ों जन्म लेकर—क्षय करता है उस अथवा उतने कर्मसमूहको ज्ञानी—विवेकी मनुष्य मन-वचन-कायकी क्रियाका निरोध कर अथवा उसे स्वाधीनकर स्वरूपमें लीन हुआ उच्छ्वासमात्रमें—लीलामात्रमें—नाश कर डालता है।

इससे अधिक विवेकका माहात्म्य और क्या हो सकता है? यह विवेक ही चारित्रको 'सम्यक्चारित्र' बनाता है और संसार-परिभ्रमण एवं उसके दुःख कष्टोंसे मुक्ति दिलाता है। विवेकके बिना चारित्र मिथ्याचारित्र है, कोरा कायक्लेश है और वह संसार-परिभ्रमण तथा दुःख—परम्पराका ही कारण है। इसीसे विवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञानके अनन्तर चारित्रका आराधन बतलाया गया है; जैसा कि श्रीअमृतचन्द्राचार्यके निम्न वाक्यसे प्रगट है—

न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।

ज्ञानानन्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ॥ ३८ ।
—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थात्—अज्ञानपूर्वक,—विवेकको साथमें न लेकर दूसरोंकी देखा-देखी अथवा कहने-सुनने मात्रसे—जो चरित्र-का अनुष्ठान किया जाता है वह 'सम्यक् चारित्र' नाम नहीं पाता—उसे 'सम्यक् चारित्र' नहीं कहते। इसीसे (आगममें) सम्यग्ज्ञानके अनन्तर—विवेक हो जाने पर—चारित्रके आरा-धनका—अनुष्ठानका—निर्देश किया गया है—रत्नत्रय धर्मकी आराधनामें, जो मुक्तिका मार्ग है, चारित्रकी आरा-धनाका इसी क्रमसे विधान किया गया है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने, प्रवचनसारमें, 'चारित्तं खलुधम्मो' इत्यादि वाक्यके द्वारा जिस चारित्रको—स्वरूपाचरणको-वस्तु-भाव होनेकेकारण धर्म बतलाया है वह भी यही विवेकपूर्वक सम्यक्-चारित्र है, जिसका दूसरा नाम साम्यभाव है और जो मोह-क्षोभ अथवा मिथ्यात्व राग-द्वेष तथा काम-क्रोधादिरूप विभावपरिणतिसे रहित आत्माका निज परिणाम होता है *।

वास्तवमें यह विवेक ही उस भावका जनक होता है जो धर्माचरणका प्राण कहा गया है। बिना भावके तो क्रियाएं फलदायक होती ही नहीं है। कहा भी है—

"यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः× ।"

तदनुरूप भावके बिना पूजनादिककी, तप-दान-जपादिककी और यहां तक कि दीक्षाग्रहणादिककी सब क्रियाएँ भी ऐसी ही निरर्थक हैं जैसेकि बकरीके गलेके स्तन (थन), अर्थात् जिस प्रकार बकरी के गलेमें लटकते हुए स्तन देखनेमें स्तनाकार होते हैं, परंतु वे स्तनोंका कुछ भी काम नहीं देते—उनसे दूध नहीं निक-लता—उसी प्रकार बिना तदनुकूल भावके पूजा-तप-दान-जपादिककी उक्त सब क्रियाएँ भी देखनेकी ही क्रियाएँ होती हैं, पूजादिकका वास्तविक फल उनसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता †।

ज्ञानी विवेकी मनुष्य ही यह ठीक जानता है कि पुण्य किन भावोंसे बँधता है, किनसे पाप और किनसे दोनोंका बन्ध नहीं होता? स्वच्छ, शुभ तथा शुद्ध भाव किसे कहते हैं? और अस्वच्छ, अशुद्ध तथा अशुभ भाव किसका नाम है? सांसा-रिक विषय-सौख्यकी तृष्णा अथवा तीव्र कषायके वशीभूत हो कर जो पुण्य-कर्म करना चाहता है वह वास्तवमें पुण्यकर्मका सम्पादन कर सकता है या कि नहीं? और ऐसी इच्छा धर्म-की साधक है या बाधक? वह खूब समझता है कि सकाम धर्मसाधन मोह-क्षोभादिसे घिरा रहनेके कारण धर्मकी कोटिसे निकल जाता है; धर्म वस्तुका स्वभाव होता है और इसलिये कोई भी विभाव परिणति धर्मका स्थान नहीं ले सकती। इसीसे वह अपनी धार्मिक क्रियाओंमें तद्रूपभावकी योजना-द्वारा प्राणका संचार करके उन्हें सार्थक और सफल बनाता है। ऐसे ही विवेकी जनोंके द्वारा अनुष्ठित धर्मको भव-सुख-का कारण बतलाया है। विवेककी पुट बिना अथवा उसके सहयोगके अभावमें मात्र कुछ क्रियाओंके अनुष्ठानका नाम ही धर्म नहीं है। ऐसी क्रियाएँ तो जड़ मशीनें भी कर सकती हैं। और कुछ करती हुई देखी भी जाती हैं—फोनोग्राफके कितने ही रिकार्ड खूब भक्ति-रसके भरे हुए गाने तथा भजन गाते हैं और शास्त्र पढ़ते हुए भी देखने में आते हैं। और भी जड़मशीनोंसे आप जो चाहें धर्मकी बाह्य क्रियाएँ करा सकते हैं। इन सब क्रियाओंको करके जड़मशीनें जिस प्रकार धर्मात्मा नहीं बन सकतीं और न धर्मके फलको ही पा सकती हैं, उसी प्रकार अविवेकपूर्वक अथवा सम्यग्ज्ञानके बिना धर्मकी कुछ क्रियाएँ कर लेने मात्रसे ही कोई धर्मात्मा नहीं बन जाता और न धर्मके फलको ही पा सकता है। ऐसे अविवेकी मनुष्यों और जड़ मशीनोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं होता—उनकी क्रियाओंको सम्यक्चारित्र न कह कर 'यांत्रिक चारित्र' कहना चाहिये। हां, जड़मशीनोंकी अपेक्षा ऐसे मनुष्योंमें मिथ्याज्ञान तथा मोहकी विशेषता होनेके कारण वे उसके द्वारा पाप-बन्ध करके अपना अहित जरूर कर लेते हैं—जब कि जड़मशीनें वैसा नहीं कर सकतीं। इसी यांत्रिक चारित्रके भुलावेमें पड़कर हम अक्सर भूले रहते हैं और यह समझते रहते हैं कि हमने धर्मका अनुष्ठान कर लिया! इसी तरह करोड़ों जन्म निकल जाते हैं और करोड़ों वर्षकी बाल-तपस्यासे भी उन कर्मोंका नाश नहीं हो पाता, जिन्हें एक ज्ञानी पुरुष त्रियोगके संसाधन-पूर्वक क्षणमात्रमें नाश कर डालता है। अस्तु।

इस विषयमें स्वामी कार्तिकेयने, अपने अनुप्रेक्षा ग्रन्थमें, कितना ही प्रकाश डाला है। उनके निम्न वाक्य खास तौरसे

---

* चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

× देखो, कल्याणमन्दिरस्तोत्रका 'आकर्णितोऽपि' आदि पद्य।

† "भावहीनस्य पूजादि-तपोदान-जपादिकम्।
व्यर्थं दीक्षादिकं च स्यादजाकण्ठे स्तनानिव ॥"

ध्यान देने योग्य हैं :—

कम्मं पुण्णं पावं हेऊ तेसिं च होंति सच्छिदरा।
मंदकसाया सच्छा तिव्वकसाया असच्छा हु॥
जीवो वि हवइ पावं अइतिव्वकसायपरिणदो णिच्चं।
जीवो हवेइ पुण्णं उवसमभावेण संजुत्तो॥
जोअहिलसेदि पुण्णं सकसाओ विसयसोक्खतण्हाए।
दूरे तस्स विसोही विसोहिमूलाणि पुण्णाणि॥
पुण्णासएण पुण्णं जदो णिरीहस्स पुण्णसंपत्ती।
इय जाणिऊण जइणो पुण्णे वि म आयरं कुणह॥
पुण्णं बंधदि जीवो मंदकसाएहिं परिणदो संतो।
तम्हा मंदकसाया हेऊ पुण्णस्स ण हि वंछा॥
—गाथा नं० ६०, १६०, ४१० से ४१२

इन गाथाओंमें बतलाया है कि—'पुण्य कर्मका हेतु स्वच्छ, (शुभ परिणाम है और पाप कर्मका हेतु अस्वच्छ (अशुभ या अशुद्ध) परिणाम। मंदकषायरूप परिणामोंको स्वच्छ परिणाम और तीव्रकषायरूप परिणामोंको अस्वच्छ परिणाम कहते हैं। जो जीव अतितीव्र कषायसे परिणत होता है, वह पापी होता है और जो उपशमभावसे—कषायकी मंदतासे—युक्त रहता है वह पुण्यात्मा कहलाता है। जो जीव कषायभावसे युक्त हुआ विषयसौख्यकी तृष्णासे—इंद्रिय-विषयको अधिकाधिक रूपमें प्राप्त करनेकी तीव्र इच्छासे पुण्य करना चाहता है—पुण्य क्रियाओंके करनेमें प्रवृत्त होता है—उससे विशुद्धि बहुत दूर रहती है और पुण्य-कर्म विशुद्धिमूलक-चित्तकी शुद्धि पर आधार रखने वाले होते हैं। अतः उनके द्वारा पुण्यका सम्पादन नहीं हो सकता—वे अपनी उन धर्मके नामसे अभिहित होनेवाली क्रियाओंको करके पुण्य पैदा नहीं कर सकते। चूंकि पुण्यफलकी इच्छा रखकर धर्मक्रियाओंके करनेसे—सकाम धर्मसाधनसे—पुण्य-की सम्प्राप्ति नहीं होती, बल्कि निष्काम-रूपसे धर्मसाधन करने वालेके ही पुण्यकी संप्राप्ति होती है, ऐसा जानकर पुण्य-में भी आसक्ति नहीं रखना चाहिए। वास्तवमें जो जीव मंद कषायसे परिणित होता है वही पुण्य बांधता है, इस लिये मन्दकषाय ही पुण्यका हेतु है, विषयवांछा पुण्यका हेतु नहीं —विषयवांछा अथवा विषयासक्ति तीव्रकषायका लक्षण है और उसका करने वाला पुण्यसे हाथ धो बैठता है।

इन वाक्योंसे स्पष्ट है कि जो मनुष्य धर्म-साधनके द्वारा अपने विषय-कषायोंकी पुष्टि एवं पूर्ति चाहता है उसकी कषाय मन्द नहीं होती और न वह धर्मके मार्ग पर स्थिर ही होता है। इसलिए उसके द्वारा वीतराग भगवान्की पूजा-भक्ति-उपासना तथा स्तुतिपाठ, जप-ध्यान, सामायिक, स्वाध्याय, तप, दान और व्रत-उपवासादिरूपसे जो भी धार्मिक क्रियाएँ बनती हैं वे सब उसके आत्मकल्याणके लिए नहीं होतीं—उन्हें एक प्रकारकी सांसारिक दुकानदारी ही समझना चाहिए। ऐसे लोग धार्मिक क्रियाएं करके भी पाप उपार्जन करते हैं और सुखके स्थानमें उल्टा दुखको निमन्त्रण देते हैं। ऐसे लोगोंकी इस परिणतिको श्री शुभचन्द्राचार्यने, ज्ञानार्णवग्रन्थके २५वें प्रकरणमें, निदान-जनित आर्त्तध्यान लिखा है और उसे घोर दुःखोंका कारण बतलाया है। यथा—

पुण्यानुष्ठानजातैरभिलषति पदं यज्जिनेन्द्रामराणां,
यद्वा तैरेव वांछत्यहितकुलकुजच्छेदमत्यन्तकोपात्।
पूजा सत्कार-लाभ-प्रभृतिकमथवा याचते यद्विकल्पैः
स्यादार्त्तं तन्निदानप्रभवमिह नृणां दुःखदावोग्रधामं॥

अर्थात्—अनेक प्रकारके पुण्यानुष्ठानोंको—धर्म कृत्योंको करके जो मनुष्य तीर्थंकरपद तथा दूसरे देवोंके किसी पदकी इच्छा करता है अथवा कुपित हुआ उन्हीं पुण्याचरणोंके द्वारा शत्रुकुल-रूपी वृक्षोंके उच्छेदकी वांछा करता है, और या अनेक विकल्पोंके साथ उन धर्म-कृत्योंको करके अपनी लौकिक पूजाप्रतिष्ठा तथा लाभादिककी याचना करता है, उसकी यह सब सकाम प्रवृत्ति 'निदानज' नामका, आर्त्तध्यान है। ऐसा आर्त्तध्यान मनुष्योंके लिए दुःख-दावानलका अग्र-स्थान होता है—उससे महादुःखोंकी परम्परा चलती है।

वास्तवमें आर्त्तध्यानका जन्म ही संक्लेश परिणामोंसे होता है, जो पाप बन्धके कारण हैं। ज्ञानार्णवके उक्त प्रकरणान्तर्गत निम्न श्लोकमें भी आर्त्तध्यानको कृष्ण-नील-कापोत ऐसी तीन अशुभ लेश्याओंके बल पर ही प्रकट होने वाला लिखा है और साथ ही यह सूचित किया है कि यह आर्त्त-ध्यान पाप,रूपी दावानलको प्रज्वलित करनेके लिए इन्धनके समान है—

कृष्ण नीलाद्यसल्लेश्याबलेन प्रविजृम्भते।
इदं दुरितदावार्चिः प्रसूतेरिन्धनोपमम्॥४०॥

इससे स्पष्ट है कि लौकिक फलोंकी इच्छा रखकर धर्म-साधन करना धर्माचरणको दूषित और निष्फल ही नहीं बनाता, बल्कि उल्टा पापबन्धका कारण भी होता है, और इसलिए हमें इस विषयमें बहुतही सावधानी रखनेकी ज़रूरत है। हमारा सम्यक्त्व भी इससे मलिन और खण्डित होता है। सम्यक्त्वके आठ अंगोंमें निःकांक्षित नामका भी एक

अंग है, जिसका वर्णन करते हुए श्रीअमितगति आचार्य उपासकाचारके तीसरे परिच्छेदमें साफ़ लिखते हैं—

विधीयमानाः शम-शील-संयमाः
श्रियं ममेमे वितरन्तु चिन्तिताम्।
सांसारिकानेकसुखप्रवर्द्धिनी
निष्कांक्षितो नेति करोति कांक्षाम् ॥७४॥

अर्थात्—निःकांक्षित अंगका धारक सम्यग्दृष्टि इस प्रकारकी वांछा नहीं करता है कि मैंने जो शम, शील और संयमका अनुष्ठान किया है वह सब धर्माचरण मुझे उस मनोवांछित लक्ष्मीको प्रदान करे जो नाना प्रकारके सांसारिक सुखोंमें वृद्धि करनेके लिए समर्थ होती है—ऐसी वांछा करनेसे उसका सम्यक्त्व दूषित होता है।

इसी निःकांक्षित सम्यग्दृष्टिका स्वरूप श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने 'समयसार' में इस प्रकार दिया है—

जो ण करेदि दु कंखं कम्मफले तह य सव्वधम्मेसु।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥ २४८ ॥

अर्थात्—जो धर्मकर्म करके उसके फलकी—इन्द्रिय-विषयसुखादिकी—इच्छा नहीं रखता है—यह नहीं चाहता है कि मेरे अमुक कर्मका मुझे अमुक लौकिक फल मिले—और न उस फल साधनकी दृष्टिसे नाना प्रकारके पुण्यरूप धर्मोंको ही इष्ट करता है—अपनाता है—और इस तरह निष्कामरूपसे धर्मसाधन करता है, उसे निःकांक्षित सम्यग्दृष्टि समझना चाहिये।

यहां पर मैं इतना औरभी बतला देना चाहता हूं कि श्रीतत्त्वार्थसूत्रमें क्षमादि दश धर्मोंके साथमें 'उत्तम' विशेषण लगाया गया है—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दवादिरूपसे दश धर्मोंका निर्देश किया है। यह विशेषण क्यों लगाया गया है? इसे स्पष्ट करते हुए श्रीपूज्यपाद आचार्य अपनी 'सर्वार्थसिद्धि' टीकामें लिखते हैं—

"दृष्टप्रयोजनपरिवर्जनार्थमुत्तमविशेषणम्।"

अर्थात्—लौकिक प्रयोजनोंको टालनेके लिए 'उत्तम' विशेषणका प्रयोग किया गया है।

इससे यह विशेषणपद यहां 'सम्यक्' शब्दका प्रतिनिधि जान पड़ता है और उसकी उक्त व्याख्यासे स्पष्ट है कि किसी लौकिक प्रयोजनको लेकर कोई दुनियावी ग़र्ज़ साधनके लिये—यदि क्षमा-मार्दव-आर्जव-सत्य-शौच, संयम-तप-त्याग-आकिंचन्य ब्रह्मचर्य इन दश धर्मोंमें से किसीभी धर्मका अनुष्ठान किया जाता है तो वह अनुष्ठान धर्मकी कोटिसे निकल जाता है—ऐसे सकाम धर्मसाधनको वास्तवमें धर्मसाधन ही नहीं कहते। धर्मसाधन तो स्वरूपसिद्धि अथवा आत्मविकासके लिये आत्मीय कर्त्तव्य समझ कर किया जाता है, और इसलिये वह निष्काम धर्मसाधन ही हो सकता है।

इस प्रकार सकाम धर्मसाधनके निषेधमें आगमका स्पष्ट विधान और पूज्य आचार्योंकी खुली आज्ञाएँ होते हुए भी खेद है कि हम आज-कल अधिकांशमें सकाम धर्मसाधनकी ओर ही प्रवृत्त हो रहे हैं। हमारी पूजा-भक्ति-उपासना, स्तुति-वन्दना-प्रार्थना, जप, तप, दान और संयमादिकका सारा लक्ष लौकिक फलोंकी प्राप्तिकी तरफ ही लगा रहता है—कोई उसे करके धन-धान्यकी वृद्धि चाहता है तो कोई पुत्रकी संप्राप्ति। कोई रोग दूर करनेकी इच्छा रखता है, तो कोई शरीरमें बल लाने की। कोई मुक़द्दमेमें विजयलाभके लिये उसका अनुष्ठान करता है, तो कोई अपने शत्रुको परास्त करनेके लिये। कोई उसके द्वारा किसी ऋद्धि-सिद्धिकी साधनामें व्यग्र है, तो कोई दूसरे लौकिक कार्योंको सफल बनानेकी धुनमें मस्त। कोई इस लोकके सुखको चाहता है, तो कोई परलोकमें स्वर्गादिकोंके सुखोंकी अभिलाषा रखता है। और कोई-कोई तो तृष्णाके वशीभूत होकर यहां तक अपना विवेक खो बैठता है कि श्रीवीतराग भगवानको भी रिश्वत (घूस) देने लगता है—उनसे कहने लगता है कि हे भगवान्, आपकी कृपासे यदि मेरा अमुक कार्य सिद्ध हो जायेगा तो मैं आपकी पूजा करूँगा, सिद्धचक्रका पाठ थापूँगा, छत्र-चँवरादि भेट करूँगा, रथ-यात्रा निकलवाऊँगा, गज-रथ चलवाऊँगा अथवा मन्दिर बनवा दूँगा !! ये सब धर्मकी विडम्बनाएँ हैं! इस प्रकारकी विडम्बनाओंसे अपनेको धर्मका कोई लाभ नहीं होता और न आत्म-विकास ही सध सकता है। जो मनुष्य धर्मकी रक्षा करता है—उसके विषयमें विशेष सावधानी रखता है—उसे विडम्बित या कलंकित नहीं होने देता, वही धर्मके वास्तविक फलको पाता है। 'धर्मो रक्षति रक्षितः' की नीतिके अनुसार रक्षा किया हुआ धर्म ही उसकी रक्षा करता है और उसके पूर्ण विकासको सिद्ध करता है।

ऐसी हालतमें सकाम धर्मसाधनको हटाने और धर्मकी विडम्बनाओंको मिटानेके लिये समाजमें पूर्ण आन्दोलन होनेकी ज़रूरत है। तभी समाज विकसित तथा धर्मके मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा, तभी उसकी धार्मिक पोल मिटेगी और

तभी वह अपने पूर्व गौरव-गरिमाको प्राप्त कर सकेगा। इसके लिये समाजके सदाचारनिष्ठ एवं धर्मपरायण विद्वानोंको आगे आना चाहिये और ऐसे दूषित धर्माचरणोंकी युक्ति-पुरस्सर खरी-खरी आलोचना करके समाजको सजग तथा सावधान करते हुए उसे उसकी भूलोंका परिज्ञान कराना चाहिये तथा भूलोंके सुधारका सातिशय प्रयत्न कराना चाहिये। यह इस समय उनका खास कर्तव्य है और बड़ा ही पुण्य-कार्य है। ऐसे आन्दोलन-द्वारा सन्मार्ग दिखलानेके लिये अनेकान्तका द्वार खुला हुआ है। वे इसका यथेष्ट उपयोग कर सकते हैं और उन्हें करना चाहिये। —जुगलकिशोर मुख्तार

सखि ! पर्वराज पर्यूषण आये।

[लेखक—मनु 'ज्ञानार्थी]

मैं कबसे पथ देख रही थी;
भादोंकी रङ्गीन धरा पर;
भवके बन्धन ढीले करने,
पर्वराज प्रियतम पर्यूषण।
युगकी सोई साध जगाने आये। सखि ! पर्वराज......

गुरुतम क्षमा मार्दव आर्जव
सत्य शौच सयम आकिंचन
त्याग तपस्या ब्रह्मचर्यमय,
रत्न-दशकके ज्योति-पुंजसे,
गगन-अवनिका छोर मिलाने आये। सखि ! पर्वराज.....

अब देखूँ तो अन्तस्तल में;
परको छोड़ निहारूँ घर में;
स्वच्छ साफ है; पड़े नहीं हैं
काम क्रोध मायाके छींटे ?
पर; मैंने निज अन्तर-घट रीते पाये। सखि ! पर्वराज.....

कैसे करूँ अतिथिका स्वागत,
स्वच्छ नहीं मेरा मानस-गृह ?
अर्घ चढ़ानेके पहले ही;
लौट न जायें मेरे प्रभुवर ?
जगकी अन्तर-ज्योति जगाने आये। सखि ! पर्वराज.....

सम्पादकीय

१. दो नये पुरस्कारोंकी योजनाका नतीजा

गत वर्ष जुलाई मासकी किरण नं० २ में मैंने ४२५) के दो नये पुरस्कारोंकी योजना की थी, जिसमें से १२५) का एक पुरस्कार 'सर्वज्ञके संभाव्यरूप' नामक निबन्ध पर था और दूसरा ३००) रु० का पुरस्कार समन्तभद्रके 'विधेयं वार्यं वा' इत्यादि वाक्यकी ऐसी विशद व्याख्याके लिये था जिससे सारा 'तत्त्व-नय-विलास' सामने आजाय। निबन्धोंके लिए दिसम्बर तककी अवधि नियत की गई थी और बादको उसमें फर्वरी तक दो महीनेकी और भी वृद्धि कर दी गई थी। साथ ही कुछ खास विद्वानोंको मौखिक तथा पत्रों द्वारा निबन्ध लिखनेकी प्रेरणा भी की गई थी। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी खेदके साथ लिखना पड़ता है कि किसी भी विद्वान या विदुषी स्त्रीने निबन्ध लिखकर भेजनेकी कृपा नहीं की। पुरस्कारकी रकम कुछ कम नहीं थी और न यही कहा जा सकता है कि इन निबन्धोंके विषय उपयोगी नहीं थे; फिर भी विद्वानोंकी उनके विषयमें यह उपेक्षा बहुत ही अखरती है और इसलिए साहित्यिक विषयके पुरस्कारोंकी योजनाको आगे सरकानेके लिए कोई उत्साह नहीं मिल रहा है। अतः अब आगे कुछ ग्रन्थोंके अनुसन्धान के लिए पुरस्कारोंकी योजना की गई है। जिसकी विज्ञप्ति इसी किरणमें अन्यत्र प्रकाशित है।

२. डा० भायाणीने भूल स्वीकार की

अनेकान्तकी गत किरणमें 'डा० भायाणी एम० ए० की भारी भूल' इस शीर्षकके साथ एक नोट प्रकाशित किया गया था, जिसमें उनके द्वारा सम्पादित स्वयम्भू देवके 'पउमचरिउ' की अंग्रेजी प्रस्तावनाके एक वाक्य Marudexi saw a series of fourteen dreams) पर आपत्ति करते हुए यह स्पष्ट करके बतलाया गया था कि मूल ग्रन्थ में मरुदेवीके चौदह स्वप्नोंका नहीं किन्तु सोलह स्वप्नोंको देखनेका उल्लेख है। साथ ही इस भूलको सुधारने की प्रेरणा भी की गई थी। इस पर डा० साहबने उदारता-पूर्वक अपनी भूल स्वीकार की है और लिखा है कि ग्रन्थके तीसरे खण्डमें गलतीका संशोधन कर दिया जायगा, यह प्रसन्नताकी बात है। इस विषय में उनके २६ जुलाईके पत्र के शब्द निम्न प्रकार हैं—

"आपकी टीका पढ़ी। fourteen dreams जो लिखा गया है वह मेरी स्पष्ट गलती है और इसलिए मैं विद्वानों तथा पाठकोंका क्षमाप्रार्थी हूँ। इससे आपको और अन्यको जो दुःख हुआ हो, उससे मुझे बहुत खेद है। 'पउमचरिउ' के तीसरे खण्डमें उसकी शुद्धि जरूर कर लूंगा।"

३—उत्तम ज्ञानदानके आयोजनका फल

दो-ढाई वर्षसे ऊपरका अर्सा हुआ जब एक उदार-हृदय धर्मबन्धुने, जिनका नाम अभी तक अज्ञात है और जिन्होंने अपना नाम प्रकट करना नहीं चाहा, सेठ मंगल जी छोटेलाल जी कोटावालोंकी मार्फत मेरे पास एक हजार रुपये भेजे थे और यह इच्छा व्यक्त की थी कि इन रुपयोंसे ज्ञानदानका आयोजन किया जाय अर्थात् जैन-अजैन विद्वानों, विदुषी स्त्रियों और उच्च शिक्षाप्राप्त विद्यार्थियों एवं साधारण विद्यार्थियोंको भी जैन धर्म-विषयक पुस्तकें वितरण कीजाएँ। साथ ही खास-खास यूनिवर्सिटियों, विद्यालयों कालिजों और लायब्रेरियोंको भी वे दी जाएँ। और सब आयोजनको कुछ सामान्य सूचनाओंके साथ, मेरी इच्छा पर छोड़ा था। तदनुसार ही मैंने उस समय दातारजी की पुनः अनुमति मँगाकर एक विज्ञप्ति जैनसन्देश और जैनमित्रमें प्रकाशित की थी, जिसमें आप्तपरीक्षा, स्वयम्भूस्तोत्र, स्तुतिविद्या, युक्त्यनुशासन और अध्यात्मकमलमार्तण्ड आदि आठ ग्रन्थों-की सामान्य परिचयके साथ सूची देते हुए, जैन-जैनेतर विद्वानों, विदुषी स्त्रियों, विद्यार्थियों, यूनिवर्सिटियों, कालिजों विद्यालयों और विशाल लायब्रेरियोंको प्रेरणा की थी कि वे अपने लिए जिनग्रन्थों को भी मँगाना आवश्यक समझें उन्हें शीघ्र मँगालें। तदनुसार विद्वानों आदिके बहुत से पत्र उस समय प्राप्त हुए थे, जिनमेंसे अधिकांशको आठों ग्रन्थोंके पूरे सेट और बहुतोंको उनके पत्रानुसार अधूरे सेट भी भेजे गये। कितनोंने अधिक ग्रन्थोंकी इच्छा व्यक्त की परन्तु उन्हें जितने तथा जो ग्रन्थ अपनी निर्धारित नीतिके अनुसार भेजने उचित समझे गये वे ही भेजे गये, शेषके लिए इन्कार करना पड़ा। जैसे कुछ लोगोंने अपनी साधारण घरू पुस्तकालय के लिये सभी ग्रंथ चाहे जो उन्हें नहीं भेजे जा सके; फिर भी जिन लोगोंकी मांगें आई उनमेंसे प्रायः सभीको कोई न कोई ग्रन्थ भेजे जरूर गये हैं। इसके सिवाय देश-विदेशके अनेक विद्वानों, यूनिवर्सिटियों, कालिजों तथा लायब्रेरियोंको अपना

पोस्टेज लगाकर भी ग्रन्थ भेजे गये हैं। और कुछको साक्षात् भेंट भी किए गये हैं। इस तरह उक्त दानकी रकमसे १३००) से ऊपरके मूल्य वाले ग्रन्थ वितरित हुए हैं, जिन्हें प्राप्त कर अनेक विद्वानोंने अपना आनन्द तथा आभार व्यक्त किया है।

वितरणका यह कार्य अर्सा हुआ समाप्त हो चुका है, फिर भी कुछ लोगोंकी मांगें आप्तपरीक्षादि जैसे ग्रन्थोंके लिये अभी तक भी आती रहती हैं जिन्हें पूरा करनेके लिये असमर्थता व्यक्त करनी पड़ती है। यदि कोई दूसरे दानी महानुभाव शास्त्रदान जैसे पुण्य-कार्योंके लिए दशलक्षण जैसे पावन पर्वमें कुछ द्रव्य निकालें तो उनकी ओरसे यह उत्तम ज्ञानदानके आयोजनका सिलसिला जारी रक्खा जा सकता है। आशा है उदार हृदय महानुभाव इस ओर भी ध्यान देनेकी कृपा करेंगे।

वीरसेवामन्दिरको स्वीकृत सहायता

आचार्य श्रीनमिसागरजीजो की प्रेरणा आदिको पाकर वीरसेवामन्दिरको उसके साहित्यिक तथा ऐतिहासिक कार्मोके लिये जिन सज्जनोंने जो सहायता स्वीकृत की है उसकी सूची निम्न प्रकार है। इसमें से जो सहायता अब तक प्राप्त हो चुकी है उसकी सूची इसी किरण में अन्यत्र दी गई है :—

१५००) ला० मोतीलालजी, ६४ दरियागंज, देहली
१५००) डा. उत्तमचन्दजी, अम्बाला छावनी
१००१) अखिल भा० दि० जैन केन्द्रीय महासमिति धर्मपुरा देहली।
१००१) राय सा० ला० उल्फतरायजी, ७/३३ दरियागंज
१००१) ला० प्यारेलालजी जैन सर्राफ, सब्जी मण्डी,
१००१) ला० जुगमन्दरदास शीतलप्रसादजी मेरठ सदर
१००१) पं० राजेन्द्र कुमारजी
६०१) ला० आनन्दस्वरूपजी सुनपत वाले, देहली
५०१) ला० विमलप्रसादजी मा० ला० हरिश्चन्द्रजी,
५००) ला० सुकमालचन्द्रजी मेरठसिटी
२०१) ला० मनोहरलाल नन्हेंमलजी जैन, दरियागंज,
२०१) ला० खजानसिंह विमलप्रसादजी मंसूरपुर
२०१) ला० नेमिचन्दजी मंगलार
१७५) ला० नानकचन्दजी सोनीपत वाले, सैंट्रल बैंक,
१०१) धर्म पत्नी ला० सुमेरचन्दजी खजांची
१०१) ला० शिखरचन्दजी ३ दरियागंज, देहली
१०१) ला० रामप्रसादजी किराना मर्चेन्ट, देहली
१०१) ला० हरिश्चन्द्रजी देहली—शाहदरा
१०१) ला० होशयारसिंह शीतलप्रसादजी मंसूरपुर
१०१) ला० ज्योतिप्रसादजी टाइप वाले, मस्जिद खजूर
१०१) ला० रंगीलाल श्रीपालजी जैन, दरियागंज, देहली
१०१) श्रीमती कान्ता देवी, न्यू इण्डिया मोटर्स कम्पनी
१०१) श्रीमती स्यालकोट वाली बहिन ला० अमरनाथजी,
५१) लाला दीवानचन्दजी सुपुत्र लाला दीपचन्दजी झज्झर वाले
५१) ला० जयन्तीप्रसादजी
२५) ला० धूमसेन महावीरप्रसादजी कटरा सत्यनारायण
२५) ला० रामकरणदासजी, बहादुरगंजमण्डी
२५) ला० रघुवीरसिंहजी फर्म ला० केदारनाथ चन्द्रभानजी, बहादुरगंजमंडी
२५) श्रीमतीराजकलीदेवी अम्बहटा (सहारनपुर)
२५) ला० दातारामरायजी ७ दरियागंज देहली
२१) ला० विजयरत्नजी
११) ला० पन्नालालजी, २१ दरियागंज देहली
११) ला० माल्तीप्रसादजी मंसूरपुर
१०) अज्ञात् मा० ला० ज्योतीप्रसादजी टाइप वाले
५) श्रीमती तारादेवी
५) ला० शिखरचन्दजी सब्जी मण्डी

११५८४)

वीर सेवामन्दिरको सहायता

गत वीरशासन जयन्ती और वीरसेवामन्दिरके नूतन-भवनके शिलान्यासके अवसर पर श्रीमान् रायबहादुर ला० दयाचन्द्र जीदरियागंज देहली ने वीरसेवामन्दिरको उसके साहित्यिक कार्योंके लिए ५००) रुपयेकी सहायताका वचन दिया है, जिसके लिए वे धन्यवादके पात्र हैं।

मैनेजर—वीरसेवामंदिर

साहित्य परिचय और समालोचन

१. श्रीमहावीरस्तोत्रम्—'चन्द्रदूत काव्य और विद्वत्प्रबोध शास्त्र एवं नरसुन्दरगणिकी अवचूरिसे अलंकृत) प्रकाशक, श्रीजिनदत्तसूरि-ज्ञान भंडार, सूरत। पृष्ठ संख्या ६४। मूल्य भेंट।

प्रस्तुत ग्रन्थमें खरतर गच्छीय अभयदेवसूरिके शिष्य जिनवल्लभसूरि द्वारा रचित 'महावीर स्तोत्र' ३० पद्यों में दिया हुआ है, और उस पर नरसुन्दरगणीकी अवचूरि भी साथमें दी हुई है।

महावीर स्तोत्र अच्छा भावपूर्ण स्तवन है। यह स्तवन विक्रमकी १२ वीं शताब्दी (सं० ११२५-११६७) की रचना है। अवचूरिकी रचना कब हुई, यह कुछ ज्ञात नहीं हो सका। उक्त स्तोत्रके कर्ता जिनवल्लभ सूरिजी प्राकृत संस्कृत भाषाके अच्छे विद्वान थे। उन्होंने अनेक स्तोत्र-ग्रन्थोंकी रचना की है।

दूसरी रचना चन्द्रदूतकाव्य है जिसके कर्ता साधु सुन्दरके शिष्य विमलकीर्ति हैं। और 'विद्वत्प्रबोध शास्त्रके कर्ता वल्लभगणी हैं।

इस ग्रन्थकी प्रस्तावनाके लेखक मुनि मंगलसागर हैं। ग्रन्थकी छपाई सफाई अच्छी है। ग्रन्थका प्रकाशन बालाघाट वालोंकी ओरसे हुआ है, और वह प्रकाशन स्थानसे भेंट स्वरूप प्राप्त हो सकता है।

२. बाहुबली और नेमिनाथ—बाबू माईदयाल जैन सम्पादक, यशपाल जैन। प्रकाशक, मार्तण्ड उपाध्याय, मन्त्री सस्तासाहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृष्ठ संख्या ३२ मूल्य छः आना।

उक्त पुस्तक 'समाज-विकास माला' का १६ वां भाग है। इसमें बाहुबली और नेमिनाथके तप और त्यागकी कथा शिक्षाप्रद कहानीके रूपमें अंकित की गई है। पुस्तककी भाषा सरल है और उक्त महपुरुषों के जीवन परिचयको साररूपमें रखनेका प्रयत्न किया गया है। साथमें कुछ चित्रोंकी भी योजना की गई है जिससे पुस्तककी उपयोगिता बढ़ गई है। पुस्तकमें दो एक खटकने योग्य भूलें रह गई हैं जैसे पोदनपुरको अयोध्याके पास बतलाना। जलयुद्धकी घटनामें विजयके कारणको स्पष्ट न करना और नेमिनाथके साधु होने पर उन्हें साधुके मामूली कपड़े पहने हुए बतलाना जब कि वे जिनकल्पी दिगम्बर साधु थे। यह सब होते हुए भी पुस्तक उपयोगी है, छपाई सफाई सुन्दर और गैट अप चित्राकर्षक है। सस्तासाहित्यमण्डलने इस पुस्तकको प्रकाशित कर असम्प्रदायक उदारताका जो परिचय दिया है वह सराहनीय है। आशा है भविष्यमें अन्य भी शिक्षाप्रद जैन कथानकोंको मंडल द्वारा प्रकाशमें लाया जायगा।

३ गृहस्थ धर्म—लेखक स्व० ब्र० शीतलप्रसाद जी। प्रकाशक, मूलचन्द किसनदास जी कपड़िया, सूरत। पृष्ठ संख्या २७२, मूल्य सजिल्द प्रतिका ३) रुपया।

प्रस्तुत ग्रन्थका नाम उसके विषयमें स्पष्ट है। इसमें गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त तक सभी आवश्यक क्रियाओंका स्वरूप और उनके करनेकी विधिका परिचय दिया हुआ है। यह ग्रन्थ ३१ अध्यायोंमें विभक्त है गृहस्थ धर्म तुलनात्मक अध्ययनको लिए हुये एक विचारपूर्ण पुस्तकके लिखे जानेकी आवश्यकता है। फिर भी वह पुस्तक उसकी आंशिक पूर्ति तो करती ही है। छपाई सफाई साधारण है।

४. चारुदत्त चरित्र—लेखक पं० परमेष्ठीदास जैन न्यायतीर्थ। प्रकाशक, मूलचन्द किसनदास कापड़िया सूरत। पृष्ठ संख्या १५६, मूल्य १॥)।

प्रस्तुत पुस्तकमें चम्पा नगरीके सेठ चारुदत्तका जीवन-परिचय दिया हुआ है। लेखकने उक्त चरित्र सिंघई भारामलके पद्यमय चारुदत्त चरित्र, जो संवत् १८१३ का रचा हुआ है, से लेकर लिखा है। जहाँ कोई बात विरुद्ध या असंगत जान पड़ी, उसके सम्बन्धमें फुटनोटमें खुलाशा करनेका यत्न भी किया गया है। चरित नायक किस तरह वेश्या बन्धनमें पड़ कर अपनी करोड़ोंकी सम्पत्ति दे डालता है, और अपने परिवारके साथ स्वयं भी अनन्त कष्टोंका सामना करता हुआ दुःखी होता है और विषयासक्तिके उस भयंकर परिणामका पात्र बनता है। पुरन्तु अन्तमें विवेकके जागृत होने पर किए हुए उन पापोंका प्रायश्चित करने तथा आत्म-शोधनके लिए मुनिव्रत धारण किया, और अपने व्रतोंको पूर्ण दृढ़ताके साथ पालन कर महर्द्धिक देव हुआ। पुस्तकके भाषा साहित्यको और प्रांजल बनानेकी आवश्यकता है, अस्तु पुस्तककी छपाई तथा सफाई साधारण है, प्रेस सम्बन्धी कुछ अशुद्धियाँ खटकने योग्य हैं। फिर भी प्रकाशक धन्यवादार्ह हैं।

परमानन्द जैन

Regd. No. D. 211

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी „
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू „
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी „
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन „
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी „
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी „
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी „
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल „
२५१) सेठ सुआलालजी जैन „
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी „
२५१) सेठ मांगीलालजी „
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन „
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी „
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, „
१०१) बा० काशीनाथजी, ... „
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी „
१०१) बा० धनंजयकुमारजी „
१०१) बा० जीतमलजी जैन „
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी „
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, राँची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, एटा
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीरामबैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कानपुर
१०१) रतनलालजी जैन कालका देहली
१०१) ला० प्रकाशचन्द व शीलचन्दजी जौहरी, देहली

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली । मुद्रक-रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, देहली

अनेकान्त

जुलाई १९५४

अनेकान्त वर्ष १३
किरण १

वीरसेवामन्दिर के नूतन-भवनका शिलान्यास

वीरसेवामन्दिर

आचार्य जुगलकिशोर जी मुख्तार 'युगवीर'

सरसावा (सहारनपुर)

के

नूतन भवनका शिलान्यास

भारत के सुप्रसिद्ध उद्योगपति, दानवीर

साहू शान्तिप्रसादजी जैन कलकत्ता

के

कर-कमलों द्वारा आज २५१०वीं

वीर-शासन जयन्ती

के

शुभ अवसर पर सम्पन्न हुआ।

२१, दरियागंज, दिल्ली
१६ जुलाई १९५४

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा
वि० सं० २०११

विषय - सूची

१ समन्तभद्रभारती - देवागम— पृ०
[युगवीर १
२ डा० भायाणी एम. ए. की भारी भूल—
[जुगलकिशोर ४
३ समयसारकी १५वीं गाथा और श्री कानजी स्वामी—
[श्री जुगलकिशोर मुख्तार ५
४ नाथ अब तेरा शरण गहूं (कविता)—
[मनुज्ञानार्थी साहित्यरत्न १६
५ पुरातन जैन साधुओंका आदर्श—
[पं० हीरालाल शास्त्री १०
६ मूलाचारसे कर्तृत्व पर नया प्रकाश—
पृ०
[पं० हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री १८
७ दिल्ली और उसके पाँच नाम—
[पं० परमानन्द शास्त्री १९
८ रत्न राशि (कहानी)—
श्रीमनुज्ञानार्थी साहित्य रत्न २४
९ राजधानीमें वीरशासनजयन्ती और वीरसेवा-मन्दिर-नूतनभवनके शिलान्यासका महोत्सव
[परमानन्द जैन २७
१० सम्पादकीय— २९
११ स्वागत गान (कविता)—[ताराचन्द प्रेम ३१
१२ वीर सेवामन्दिरकी सेवाएं—[व्यवस्थापक टा० पे० ३
१३ हिसाबका संशोधन—[टाइटिल पेज ३

ॐ अर्हम्

वर्ष १३	वीरसेवामन्दिर, १ दरियागंज, देहली	जुलाई
किरण १	श्रावण वीर नि० संवत २४८०, वि० संवत् २०११	१९५४

समन्तभद्र-भारती

देवागम

देवागम-नभोयान-चामरादि-विभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

(हे वीरजिन !) देवोंके आगमनके कारण - स्वर्गादिकके देव आपके जन्मादिक कल्याणकोंके अवसर पर आपके पास आते हैं इसलिए—, आकाशमें गमनके कारण—गगनमें बिना किसी विमानादिकी सहायताके आपका सहज स्वभावमें विचरण होता है इस हेतु—और चामरादि विभूतियोंके कारण—चँवर, छत्र, सिंहासन, देवदुन्दुभि पुष्पवृष्टि अशोक वृक्ष, भामण्डल और दिव्यध्वनि जैसे अष्ट प्रातिहार्योंका तथा समवसरणकी दूसरी विभूतियोंका आपके अथवा आपके निमित्त प्रादुर्भाव होता है इसकी वजहसे—आप हमारे—मुझ जैसे परीक्षा - प्रधानियोंके—गुरु—पूज्य अथवा आप्तपुरुष नहीं हैं—भले ही सामाजके दूसरे लोग या अन्य लौकिक जन इन देवागमनादि अतिशयोंके कारण आपको गुरु, पूज्य अथवा आप्त मानते हों। क्योंकि ये अतिशय मायावियोंमें —मस्करि-पूरणादि इन्द्रजालियोंमें—भी देखे जाते हैं। इनके कारण ही यदि आप गुरु, अथवा आप्त हों तो वे मायावी इन्द्रजालिये भी गुरु, पूज्य तथा आप्त ठहरते हैं; जब कि वे वैसे नहीं हैं। अतः उक्त कारण-कलाप व्यभिचार-दोषसे दूषित होनेके कारण अनैकान्तिक हेतु है, इससे आपकी गुरुता एवं विशिष्टताको पृथक् रूपसे लक्षित नहीं किया जा सकता और न दूसरों पर इसे स्थापित ही किया जा सकता है।

(यदि यह कहा जाय कि उन मायावियोंमें ये अतिशय सच्चे नहीं होते—बनावटी होते हैं—और आपके साथ इनका सम्बन्ध सच्चा है तो इसका नियामक और निर्णायक कौन ? आगमको यदि नियामक और निर्णायक

बतलाया जाय तो आगम उन मायावियोंका भी है—वे अपने वचनरूप आगमके द्वारा उन अतिशयोंको मायाचार-जन्य होने पर भी सत्य ही प्रतिपादित करते हैं। और यदि अपने ही आगम (जैनागम) को इस विषयमें प्रमाण माना जाय तो उक्त हेतु आगमाश्रित ठहरता है, और एक मात्र उसीके द्वारा दूसरोंके यथार्थ वस्तु स्थितिका प्रत्यय एवं विश्वास नहीं कराया जा सकता। अतः उक्त कारण-कलापरूप हेतु आपकी महानता एवं आप्तताको व्यक्त करनेमें असमर्थ है और इसीसे मेरे जैसोंके लिए एक प्रकारसे उपेक्षणीय है।

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादि-महोदयः। दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥

'यह जो आपके शरीरादिका अन्तर्बाह्य महान् उदय है—अन्तरंगमें शरीर क्षुधा-तृषा-जरा-रोग-अपमृत्यु आदिके अभावको और बाह्यमें प्रभापूर्ण अनुपम सौन्दर्यके साथ गौर वर्ण रुधिरके संचार सहित निःस्वेदता, सुरभिता एवं निर्मलताको लिए हुए है—जो साथ ही दिव्य है—अमानुषिक है—तथा सत्य है—मायादिरूप मिथ्या न होकर वास्तविक है और मायावियोंमें नहीं पाया जाता—,(उसीके कारण यदि आपको महान्, पूज्य एवं आप्त पुरुष माना जाय, तो यह हेतु भी व्यभिचार दोषसे दूषित है; क्योंकि) वह (विग्रहादि महोदय) रागादिसे युक्त—राग द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि कषायोंसे अभिभूत स्वर्गके देवोंमें भी पाया जाता है: (यदि यदि महानता एवं आप्तताका हेतु हो तो स्वर्गोंके रागी, द्वेषी, कामी तथा क्रोधादि कषाय दोषोंसे दूषित देव भी महान् पूज्य एवं आप्त ठहरें; परन्तु वे वैसे नहीं हैं, अतः इस 'अन्तर्बाह्य विग्रहादि महोदय' विशेषणके मायावियोंमें न पाये जाने पर भी रागादिमान् देवोंमें उसका सत्त्व होनेके कारण वह व्यावृत्ति-हेतुक नहीं रहता और इसलिए उससे भी आप जैसे आप्त पुरुषोंका कोई पृथक् बोध नहीं हो सकता)'

(यदि कहा जाय कि घातिया कर्मोंका अभाव होने पर जिस प्रकारका विग्रहादि महोदय आपके प्रकट होता है उस प्रकारका विग्रहादि महोदय रागादियुक्त देवोंमें नहीं होता तो इसका क्या प्रमाण? दोनोंका विग्रहादि महोदय अपने प्रत्यक्ष नहीं है, जिससे तुलना की जा सके। यदि अपने ही आगमको इस विषयमें प्रमाण माना जाय तो यह हेतु भी आगमाश्रित ठहरता है और एक मात्र इसीसे दूसरोंको यथार्थ वस्तु-स्थितिका प्रत्यय एवं विश्वास नहीं कराया जा सकता। अतः यह विग्रहादि महोदय हेतु भी आपकी महानता व्यक्त करनेमें असमर्थ होनेसे मेरे जैसों के लिए उपेक्षणीय है।

तीर्थकृत्समयानां च परस्पर-विरोधतः। सर्वेषामाप्तता नास्ति, कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

(यदि यह कहा जाय कि आप तीर्थंकर हैं—संसारसे पार उतरनेके उपायस्वरूप आगम तीर्थके प्रवर्तक हैं—और इसलिए आप्त-सर्वज्ञ होनेसे महान् हैं, तो यह कहना भी समुचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि तीर्थंकर तो दूसरे सुगतादिक भी कहलाते हैं और वे भी संसारसे पार उतरने अथवा निर्वृति प्राप्त करनेके उपायस्वरूप आगमतीर्थके प्रवर्तक माने जाते हैं, तब वे सब भी आप्त-सर्वज्ञ ठहरते हैं, अतः तीर्थंकरत्वहेतु भी व्यभिचार-दोषसे दूषित है। और यदि सभी तीर्थंकरोंको आप्त अथवा सर्वज्ञ माना जाय तो यह बात भी नहीं बनती; क्योंकि) तीर्थंकरोंके आगमोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है जो कि सभीके आप्त होने पर न होना चाहिए। अतः इस विरोधदोषके कारण सभी तीर्थंकरोंके आप्तता-निर्दोष सर्वज्ञता-घटित नहीं होता।'

(इसे ठीक मानकर यदि यह पूछा जाय कि क्या उन परस्पर-विरुद्ध आगमके प्ररूपक सभी तीर्थंकरोंमें कोई एक भी आप्त नहीं है और यदि है तो वह कौन है? इसका उत्तर इतना ही है कि) उनमें कोई तीर्थंकर आप्त जरूर हो सकता है और वह वही पुरुष हो सकता है जो चित् ही हो—चैतन्यके पूर्ण विकासको लिए हुए हो अर्थात् जिसमें दोषों तथा आवरणोंकी पूर्णतः हानि हो चुकी हो।'

दोषाऽऽवरणयोर्हानिर्निःशेषाऽस्त्यतिशायनात् । क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

(यदि यह कहा जाय कि ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है जिसमें अज्ञान-रागादिक दोषों तथा उनके कारणभूत कर्म-आवरणोंकी पूर्णतः हानि सम्भव हो तो यह भी ठीक नहीं है; क्यों कि) दोषों तथा दोषोंके कारणोंकी कहीं-कहीं सातिशय हानि देखनेमें आती है—अनेक पुरुषोंमें अज्ञान तथा राग-द्वेष-काम क्रोधादिक दोषोंकी एवं उनके कारणोंकी उत्तरोत्तर बहुत कमी पाई जाती है—और इसलिए किसी पुरुष-विशेषमें विरोधी कारणोंको पाकर उनका पूर्णतः अभाव होना उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार कि (सुवर्णादिकमें) मल-विरोधी कारणोंको पाकर बाह्य और अन्तरंग मलका पूर्णतः क्षय हो जाता है—अर्थात् जिस प्रकार किट्ट-कालिमादि मलसे बद्ध हुआ सुवर्ण अग्नि-प्रयोगादिरूप योग्य साधनोंको पाकर उस सारे बाहिरी तथा भीतरी मलसे विहीन हुआ अपने शुद्ध सुवर्णरूपमें परिणत हो जाता है उसी प्रकार द्रव्य तथा भावरूप कर्ममलसे बद्ध हुआ भव्य जीव सम्यग्दर्शनादि योग्य साधनोंके बलपर उस कर्ममलको पूर्णरूपसे दूर करके अपने शुद्धात्मस्वरूपमें परिणत हो जाता है । अतः किसी पुरुष विशेषमें दोषों तथा उनके कारणोंकी पूर्णतः हानि होना असम्भव नहीं है । जिस पुरुषमें दोषों तथा आवरणोंकी यह निःशेष हानि होती है वही पुरुष आप्त अथवा निर्दोष सर्वज्ञ एवं लोकगुरु होता है ।'

सूक्ष्मान्तरित-दूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा । अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः ॥५॥

'यदि यह कहा जाय कि दोषों तथा आवरणोंकी पूर्णतः हानि होने पर भी कोई मनुष्य अतीत-अनागत-काल सम्बन्धी सब पदार्थोंको अतिदूरवर्ती सारे वर्तमान पदार्थोंको और सम्पूर्ण सूक्ष्म पदार्थोंको साक्षात रूपसे नहीं जान सकता है तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि' सूक्ष्मपदार्थ—स्वभाव विप्रकर्षि परमाणु आदिक—, अन्तरित पदार्थ—कालसे अन्तरको लिये हुए कालविप्रकर्षि राम रावणादिक, और दूरवर्ती पदार्थ—क्षेत्रसे अन्तरको लिये हुए क्षेत्रविप्रकर्षि मेरु हिमवानादिक—अनुमेय (अनुमानका अथवा प्रमाणका विषय १) होनेसे किसी न किसीके प्रत्यक्ष जरूर हैं; जैसे अग्नि आदिक पदार्थ जो अनुमान या प्रमाणका विषय हैं वे किसीके प्रत्यक्ष जरूर हैं । जिसके सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ प्रत्यक्ष हैं वह सर्वज्ञ है । इस प्रकार सर्वज्ञकी सम्यक स्थिति, व्यवस्था अथवा सिद्धि भले प्रकार सुघटित है ।

—युगवीर

१ प्रमाणका विषय 'प्रमेय' कहलाता है । अनुमेयका अर्थ 'अनुगतं मेयं मानं येषां ते अनुमेयाः प्रमेया इत्यर्थः' इस वसुनंद्याचार्यके वाक्यानुसार 'प्रमेय' भी होता है और इस तरह अनुमेयत्व हेतुमें प्रमेयत्व हेतु भी गर्भित है ।

मिथ्यात्वकी महत्ता

चित्तकी चचलताका कारण अंतरङ्ग कषाय है । वैसे चित्त तो चैतन्य आत्माके चेतना गुणका परिणमन है, किन्तु कषायदेवीकी इसके ऊपर इतनी अनुकम्पा है कि जागृत अवस्थाकी तो कथा दूर रहे, स्वप्नावस्थामें भी उसे प्रेमका प्याला पिलाकर बेहोश बनाये रहती है और यह प्याला भी ऐसा है कि मद्यसे भी अधिक उन्मत्त करता है । मादक द्रव्यका पान करने वाला तो उतना उन्मत्त नहीं होता, बाह्य शरीरकी चेष्टाएं ही उसकी अन्यथा दिखती हैं, घर जाना हो तो स्खलद्गमन करता हुआ घरके सम्मुख ही जाता है परन्तु यहाँ तो उसके विपरीत आत्मतत्त्वसे बाह्य शरीरमें ही स्वतत्त्वका अध्यवसाय करके अहर्निश उसीके पोषणमें पूर्ण शक्तियों का उपयोग करके भी यह मोही जीव आनन्दका पात्र नहीं होता । बलिहारी इस मिथ्यादर्शनकी ।

(वर्णी वाणीसे)

बतलाया जाय तो आगम उन मायावियोंका भी है—वे अपने वचनरूप आगमके द्वारा उन अतिशयोंको मायाचार-जन्य होने पर भी सत्य ही प्रतिपादित करते हैं। और यदि अपने ही आगम (जैनागम) को इस विषयमें प्रमाण माना जाय तो उक्त हेतु आगमाश्रित ठहरता है, और एक मात्र उसीके द्वारा दूसरोंके यथार्थ वस्तु स्थितिका प्रत्यय एवं विश्वास नहीं कराया जा सकता। अतः उक्त कारण-कलापरूप हेतु आपकी महानता एवं आप्तताको व्यक्त करनेमें असमर्थ है और इसीसे मेरे जैसोंके लिए एक प्रकारसे उपेक्षणीय है।

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादि-महोदयः। दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥

'यह जो आपके शरीरादिका अन्तर्बाह्य महान् उदय है—अन्तरंगमें शरीर क्षुधा-तृषा-जरा-रोग-अपमृत्यु आदिके अभावको और बाह्यमें प्रभापूर्ण अनुपम सौन्दर्यके साथ गौर वर्ण रुधिरके संचार सहित निःस्वेदता, सुरभिता एवं निर्मलताको लिए हुए है—जो साथ ही दिव्य है—अमानुषिक है—तथा सत्य है—मायादिरूप मिथ्या न होकर वास्तविक है और मायावियोंमें नहीं पाया जाता—,(उसीके कारण यदि आपको महान्, पूज्य एवं आप्त पुरुष माना जाय, तो यह हेतु भी व्यभिचार दोषसे दूषित है; क्योंकि) वह (विग्रहादि महोदय) रागादिसे युक्त—राग द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि कषायोंसे अभिभूत स्वर्गके देवोंमें भी पाया जाता है : (वही यदि महानता एवं आप्तताका हेतु हो तो स्वर्गोंके रागी, द्वेषी, कामी तथा क्रोधादि कषाय दोषोंसे दूषित देव भी महान् पूज्य एवं आप्त ठहरें; परन्तु वे वैसे नहीं हैं, अतः इस 'अन्तर्बाह्य विग्रहादि महोदय' विशेषणके मायावियोंमें न पाये जाने पर भी रागादिमान् देवोंमें उसका सत्त्व होनेके कारण वह व्यावृत्ति-हेतुक नहीं रहता और इसलिए उससे भी आप जैसे आप्त पुरुषोंका कोई पृथक् बोध नहीं हो सकता)'

(यदि कहा जाय कि घातिया कर्मोंका अभाव होने पर जिस प्रकारका विग्रहादि महोदय आपके प्रकट होता है उस प्रकारका विग्रहादि महोदय रागादियुक्त देवोंमें नहीं होता तो इसका क्या प्रमाण? दोनोंका विग्रहादि महोदय अपने प्रत्यक्ष नहीं है, जिससे तुलना की जा सके। यदि अपने ही आगमको इस विषयमें प्रमाण माना जाय तो यह हेतु भी आगमाश्रित ठहरता है और एक मात्र इसीसे दूसरोंको यथार्थ वस्तु-स्थितिका प्रत्यय एवं विश्वास नहीं कराया जा सकता। अतः यह विग्रहादि महोदय हेतु भी आपकी महानता व्यक्त करनेमें असमर्थ होनेसे मेरे जैसोंके लिए उपेक्षणीय है।

तीर्थकृत्समयानां च परस्पर-विरोधतः। सर्वेषामाप्तता नास्ति, कश्चिदेव भवेद्गुरुः ॥३॥

(यदि यह कहा जाय कि आप तीर्थंकर हैं—संसारसे पार उतरनेके उपायस्वरूप आगम तीर्थके प्रवर्तक हैं—और इसलिए आप्त-सर्वज्ञ होनेसे महान् हैं, तो यह कहना भी समुचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि तीर्थंकर तो दूसरे सुगतादिक भी कहलाते हैं और वे भी संसारसे पार उतरने अथवा निर्वृति प्राप्त करनेके उपायस्वरूप आगमतीर्थके प्रवर्तक माने जाते हैं, तब वे सब भी आप्त-सर्वज्ञ ठहरते हैं, अतः तीर्थंकरत्वहेतु भी व्यभिचार-दोषसे दूषित है। और यदि सभी तीर्थंकरोंको आप्त अथवा सर्वज्ञ माना जाय तो यह बात भी नहीं बनती; क्योंकि) तीर्थंकरोंके आगमोंमें परस्पर विरोध पाया जाता है जो कि सभीके आप्त होने पर न होना चाहिए। अतः इस विरोधदोषके कारण सभी तीर्थंकरोंके आप्तता-निर्दोष सर्वज्ञता-घटित नहीं होता।'

(इसे ठीक मानकर यदि यह पूछा जाय कि क्या उन परस्पर-विरुद्ध आगमके प्ररूपक सभी तीर्थंकरोंमें कोई एक भी आप्त नहीं है और यदि है तो वह कौन है? इसका उत्तर इतना ही है कि) उनमें कोई तीर्थंकर आप्त जरूर हो सकता है और वह वही पुरुष हो सकता है जो चित् ही हो—चैतन्यके पूर्ण विकासको लिए हुए हो अर्थात् जिसमें दोषों तथा आवरणोंकी पूर्णतः हानि हो चुकी हो।'

दोषाऽऽवरणयोर्हानिर्निःशेषाऽस्त्यतिशायनात् । क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥४॥

(यदि यह कहा जाय कि ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है जिसमें अज्ञान-रागादिक दोषों तथा उनके कारणभूत कर्म आवरणोंकी पूर्णतः हानि सम्भव हो तो यह भी ठीक नहीं है; क्यों कि) दोषों तथा दोषोंके कारणोंकी कहीं-कहीं सातिशय हानि देखनेमें आती है—अनेक पुरुषोंमें अज्ञान तथा राग-द्वेष-काम-क्रोधादिक दोषोंकी एवं उनके कारणोंकी उत्तरोत्तर बहुत कमी पाई जाती है—और इसलिए किसी पुरुष-विशेषमें विरोधी कारणोंको पाकर उनका पूर्णतः अभाव होना उसी प्रकार सम्भव है जिस प्रकार कि (सुवर्णादिकमें) मल-विरोधी कारणोंको पाकर बाह्य और अन्तरंग मलका पूर्णतः क्षय हो जाता है—अर्थात् जिस प्रकार किट्ट-कालिमादि मलसे बद्ध हुआ सुवर्ण अग्नि-प्रयोगादिरूप योग्य साधनोंको पाकर उस सारे बाहिरी तथा भीतरी मलसे विहीन हुआ अपने शुद्ध सुवर्णरूपमें परिणत हो जाता है उसी प्रकार द्रव्य तथा भावरूप कर्ममलसे बद्ध हुआ भव्य जीव सम्यग्दर्शनादि योग्य साधनोंके बलपर उस कर्ममलको पूर्णरूपसे दूर करके अपने शुद्धात्मस्वरूपमें परिणत हो जाता है। अतः किसी पुरुष विशेषमें दोषों तथा उनके कारणोंकी पूर्णतः हानि होना असम्भव नहीं है। जिस पुरुषमें दोषों तथा आवरणोंकी यह निःशेष हानि होती है वही पुरुष आप्त अथवा निर्दोष सर्वज्ञ एवं लोकगुरु होता है।'

सूक्ष्मान्तरित-दूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा । अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ-संस्थितिः ॥५॥

'यदि यह कहा जाय कि दोषों तथा आवरणोंकी पूर्णतः हानि होने पर भी कोई मनुष्य अतीत-अनागत-काल सम्बन्धी सब पदार्थोंको अतिदूरवर्ती सारे वर्तमान पदार्थोंको और सम्पूर्ण सूक्ष्म पदार्थोंको साक्षात् रूपसे नहीं जान सकता है तो वह ठीक नहीं है; क्योंकि' सूक्ष्मपदार्थ—स्वभाव विप्रकर्षि परमाणु आदिक—, अन्तरित पदार्थ—कालसे अन्तरको लिये हुए कालविप्रकर्षि राम रावणादिक, और दूरवर्ती पदार्थ—क्षेत्रसे अन्तरको लिये हुए क्षेत्रविप्रकर्षि मेरु हिमवानादिक—अनुमेय (अनुमानका अथवा प्रमाणका विषय १) होनेसे किसी न किसीके प्रत्यक्ष जरूर हैं; जैसे अग्नि आदिक पदार्थ जो अनुमान या प्रमाणका विषय हैं वे किसीके प्रत्यक्ष जरूर हैं। जिसके सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ प्रत्यक्ष हैं वह सर्वज्ञ है। इस प्रकार सर्वज्ञकी सम्यक् स्थिति, व्यवस्था अथवा सिद्धि भले प्रकार सुघटित है।

—युगवीर

१ प्रमाणका विषय 'प्रमेय' कहलाता है। अनुमेयका अर्थ 'अनुगतं मेयं मानं येषां ते अनुमेयाः, प्रमेया इत्यर्थः' इस वसुनंद्याचार्यके वाक्यानुसार 'प्रमेय' भी होता है और इस तरह अनुमेयत्व हेतुमें प्रमेयत्व हेतु भी गर्भित है।

मिथ्यात्वकी महत्ता

चित्तकी चचलताका कारण अंतरङ्ग कषाय है। वैसे चित्त तो चैतन्य आत्माके चेतना गुणका परिणमन है, किन्तु कषायदेवीकी इसके ऊपर इतनी अनुकम्पा है कि जागृत अवस्थाकी तो कथा दूर रहे, स्वप्नावस्थामें भी उसे प्रेमका प्याला पिलाकर बेहोश बनाये रहती है और यह प्याला भी ऐसा है कि मद्यसे भी अधिक उन्मत्त करता है। मादक द्रव्यका पान करने वाला तो उतना उन्मत्त नहीं होता, बाह्य शरीरकी चेष्टाएं ही उसकी अन्यथा दिखती हैं, घर जाना हो तो स्खलद्‌गमन करता हुआ घरके सम्मुख ही जाता है परन्तु यहाँ तो उसके विपरीत आत्मतत्त्वसे बाह्य शरीरमें ही स्वतत्त्वका अध्यवसाय करके अहर्निश उसीके पोषणमें पूर्ण शक्तियों का उपयोग करके भी यह मोही जीव आनन्दका पात्र नहीं होता। बलिहारी इस मिथ्यादर्शनकी।

(वर्णी वाणीसे)

डा० भायाणी एम० ए० की भारी भूल

डा० हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी एम० ए०, पी० एच० डी० ने कविराज स्वयम्भूदेवके 'पउमचरिउ' नामक प्रमुख अपभ्रंश ग्रन्थका सम्पादन किया है, जिसके दो भाग सिंघी जैनग्रन्थमालामें प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम भाग (विद्याधर काण्ड) के साथ आपकी १२० पृष्ठकी अंग्रेजी प्रस्तावना लगी हुई है जो अच्छे परिश्रमसे लिखी गई तथा महत्वकी जान पड़ती है और उस पर बम्बई यूनिवर्सिटीसे आपको डाक्टरेट (पी० एच० डी०) की उपाधि भी प्राप्त हुई है। यह प्रस्तावना अभी पूरी तौरसे अपने देखने तथा परिचयमें नहीं आई। हालमें कलकत्ताके श्रीमान् बाबू छोटेलालजी जैनने प्रस्तावनाका कुछ अंश अवलोकन कर उसके एक वाक्यकी ओर अपना ध्यान आकर्षित किया, जो इस प्रकार हैः—

'Marudevi sow a sesies of fourteen dreams'

यह वाक्य ग्रन्थकी प्रथम सन्धिके के परिचयसे सम्बन्ध रखता है। इसमें बतलाया गया है कि 'मरुदेवीने चौदह स्वप्न देखे'। चौदह स्वप्नोंकी मान्यता श्वेताम्बर सम्प्रदाय की है जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय सोलह स्वप्नोंका देखा जाना मानता है और ग्रन्थकार स्वयम्भूदेव दिगम्बराम्नायके विद्वान हैं। अतः बाबू छोटेलालजीको उक्त परिचयवाक्य खटका और उन्होंने यह जाननेकी इच्छा व्यक्त की कि 'क्या मूल ग्रन्थमें ऋषभदेवकी माता मरुदेवीके चौदह स्वप्नोंके देखनेका ही उल्लेख है।' तदनुसार मूलग्रन्थको देखा गया उसके १५वें कडवक की आठ पंक्तियोंमें मरुदेवीको जिस स्वप्नावलीका उल्लेख है उसमें साफ तौर पर, प्रति पंक्ति दो स्वप्नोंके हिसाबसे, सोलह स्वप्नोंके नाम दिये हैं। कडवककी वे पंक्तियां इस प्रकार हैंः—

दीसइ मयगलु मय-गिल्ल-गंडु, दीसइ वसहुक्खय-कमल-संडु।
दीसइ पंचमुहु पईहरच्छि, दीसइ णव-कमलारूढ-लच्छि॥
दीसइ गंधुक्कड-कुसुम-दामु, दीसइ छण-यंदु मणोहिरामु।
दीसइ दिणयर कर-पज्जलन्तु, दीसइ झस-जुयलु परिब्भमंतु॥
दीसइ जल मंगल-कलसु वरणु, दीसइ कमलायरु कमल-छण्णु
दीसइ जलणिहि गज्जिय-जलोहु, दीसइ सिंहासणु दिण्ण-सोहु
दीसइ विमाणु घण्टालि-मुहलु दीसइ णागालउ सव्वु धवलु।
दीसइ मणि णियरु परिप्फुरन्तु, दीसइ धूमद्धउ धग-धगन्तु॥

इनमें जिन सोलह स्वप्नोंको देखनेका उल्लेख है वे क्रमशः इस प्रकार हैं—१ मद झरता हुआ हाथी, २ कमलवनको उखाड़ता हुआ वृषभ, ३ विशालनेत्र सिंह, ४ नवकमलारूढ लक्ष्मी, ५ उत्कट गन्धवाली पुष्पमाला, ६ मनोहर पूर्ण चन्द्र, ७ किरणोंसे प्रदीप्त सूर्य ८ परिभ्रमण करता हुआ मीन-युगल, ९ जल-पूरित मंगल-कलश, १० कमलाच्छादित पद्म सरोवर, ११ गर्जना करता हुआ समुद्र, १२ दिव्यसिंहासन, १३ घण्टालियोंसे मुखरित विमान, १४ सब ओरसे धवल नाग-भवन, १५ देदीप्यमान रत्न समूह, १६ धधकती हुई अग्नि।

इतने स्पष्ट उल्लेखके होते हुए भी डा० भायाणी जैसे डिग्रीप्राप्त विद्वानने अपने पाठकोंको वस्तु-स्थितिके विरुद्ध चौदह स्वप्न देखने की अन्यथा बात क्यों बतलाई, यह कुछ समझमें नहीं आता! मालूम नहीं इसमें उनका क्या रहस्य है? क्या इसके द्वारा वे यह प्रकट करना चाहते हैं कि इस विषयमें ग्रन्थकार श्वेताम्बर मान्यता का अनुयायी था? यदि ऐसा है तो यह ग्रन्थकारके प्रति ही नहीं बल्कि अपने अंग्रेजी पाठकोंके प्रति भी भारी अन्याय है जिन्हें सत्यसे वंचित रखकर गुमराह करने की चेष्टा की गई है। खेद है डा० साहबके गुरु आचार्य जिनविजयजीने भी, जोकि सिंघी जैन ग्रन्थमालाके प्रधान सम्पादक हैं और जिनकी खास प्रेरणा को पाकर ही यह प्रस्तावनात्मक निबन्ध लिखा गया है, इस बहुत मोटी गलती पर कोई ध्यान नहीं दिया। इसीसे वह उनके अंग्रेजी प्राक्कथन [Foreword] प्रकट नहीं की गई। और न शुद्धिपत्रमें ही उसे अन्य अशुद्धियोंके साथ दर्शाया गया है। ऐसी स्थितिमें इसे संस्कारोंके वश होने वाली भारी भूल समझी जाय या जानबूझ कर की गई गलती माना जाय? मैं तो यही कहूंगा कि यह डा० साहब की संस्कारोंके वश होने वाली भारी भूल है। ऐसी भूलें कभी कभी भारी अनर्थ कर जाती है। अतः भविष्यमें उन्हें ऐसी भूलोंके प्रति बहुत सावधानी वर्तनी चाहिये और जितना भी शीघ्र होसके इस भूलका प्रतिकार कर देना चाहिये। साथ ही ग्रन्थमालाके संचालकजी को ग्रन्थकी अप्रकाशित प्रतियोंमें इसके सुधार की अविलम्ब योजना करनी चाहिये। आशा है। ग्रन्थ-सम्पादक उक्त डा० साहब और सञ्चालक आ० जिनविजयजी इस ओर शीघ्र ध्यान देने की कृपा करेंगे।

—जुगलकिशोर

समयसारकी १५वीं गाथा और श्रीकानजी स्वामी

[३]

(गत किरण ८ से आगे)

क्या शुभ भाव जैनधर्म नहीं ?

श्री कानजी स्वामीने अपने प्रवचन लेखमें आचार्य कुन्दकुन्दके भावप्राभृतकी गाथाको उद्धृत करके यह बतलानेकी चेष्टा की है कि जिनशासनमें पूजादिक तथा व्रतोंके अनुष्ठानको 'धर्म' नहीं कहा है, किन्तु 'पुण्य' कहा है, धर्म दूसरी चीज है और वह मोह-क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम है:—

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥ ८३ ॥

इस गाथामें पूजा-दान-व्रतादिकके धर्मरूप होनेका कोई निषेध नहीं, 'पुण्णं' पदके द्वारा उन्हें पुण्य प्रसाधक धर्मके रूपमें उल्लेखित किया गया है। धर्म दो प्रकारका होता है—एक वह जो शुभ भावोंके द्वारा पुण्यका प्रसाधक है और दूसरा वह जो शुद्ध भावोंके द्वारा अच्छे या बुरे किसी भी प्रकारके कर्मास्रवका कारण नहीं होता। प्रस्तुत गाथामें दोनों प्रकारके धर्मोंका उल्लेख है। यदि श्री कुन्दकुन्दाचार्यकी दृष्टिमें पूजा दान व्रतादिक धर्म कार्य न होते तो वे रयणसारकी निम्न गाथामें दान तथा पूजाको श्रावकोंका मुख्य धर्म और ध्यान तथा अध्ययनको मुनियोंका मुख्य धर्म न बतलाते—

दाणं पूजामुक्खं सावयधम्मो ण सावगो तेण विणा
झाणज्झयणं मुक्खं जइधम्मो तं विणा सोवि ॥ ११ ॥

और न चारित्रप्राभृतकी निम्नगाथामें अहिंसादिव्रतोंके अनुष्ठानरूप संयमाचरणको श्रावक धर्म तथा मुनिधर्मका नाम ही देते—

एवं सावयधम्मं संजमचरणं उदेसियं सयलं ।
सुद्धं संजमचरणं जइधम्मं णिक्कलं वोच्छे ॥ २६ ॥

उन्होंने तो चारित्रप्राभृतके अन्तमें सम्यक्त्व-सहित इन दोनों धर्मोंका फल अपुनर्भव (मुक्त-सिद्ध) होना लिखा है। तब वे दान-पूजा-व्रतादिकको धर्मकी कोटिसे अलग कैसे रख सकते हैं? यह सहज ही समझा जा सकता है।

स्वामी समन्तभद्रने अपने समीचीन धर्मशास्त्र (रत्नकरण्डश्रावकाचार) में सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदुः' इस वाक्यके द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्रको वह समीचीन धर्म बतला कर जिस धर्मके ईश्वर तीर्थंकरादिकने निर्दिष्ट किया है उस धर्मका व्याख्या करते हुए सम्यक्चारित्रके वर्णनमें 'वैयावृत्य' को शिक्षाव्रतोंमें अन्तर्भूत धर्मका एक अंग बतलाया है, जिसमें दान तथा संयमियोंकी अन्य सब सेवा और देव-पूजा ये तीनों शामिल हैं; जैसा कि उक्त ग्रन्थके निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

दानं वैयावृत्त्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये ।
अनपेक्षितोपचारोपक्रियमगृहाय विभवेन ॥१११॥

व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात् ।
वैयावृत्त्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपि संयमिनाम् ॥११२॥

देवाधिदेवचरणे परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।
कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम्॥११३॥

साथ ही यह भी बतलाया है कि धर्म निःश्रेयस तथा अभ्युदय दोनों प्रकारके फलोंको फलता है, जिसमें अभ्युदय पुण्य प्रसाधक अथवा पुण्यरूप धर्मका फल होता है और वह पूजा धन तथा आज्ञाके ऐश्वर्यको बल परिजन और काम भोगोंकी समृद्धि एवं अतिशयको लिए रहता है जैसा कि तत्स्वरूप-निर्देशक निम्न पद्यसे जाना जाता है:—

पूजार्थाज्ञैश्वर्यैर्बल-परिजन-काम-भोगभूयिष्ठैः ।
अतिशयितभुवनमद्भुतमभ्युदयं फलति सद्धर्मः ॥१३५॥

स्वामी समन्तभद्रके इन सब वाक्योंसे स्पष्ट है कि पूजा तथा दानादिक धर्मके अंग हैं वे मात्र अभ्युदय अथवा पुण्य फलको फलनेकी वजहसे धर्मकी कोटिसे नहीं निकल जाते। धर्म अभ्युदयरूप पुण्य फलको भी फलता है, इसीसे लोकमें भी पुण्यकार्यको धर्मकार्य और धर्मको पुण्य कहा जाता है। जिस पुण्यके विषयमें 'पुण्यप्रसादात् किं न भवति' (पुण्यके प्रसादसे क्या कुछ नहीं होता) जैसी लोकोक्तियाँ प्रसिद्ध हैं, वह यों ही धर्मकी कोटिसे निकाल कर उपेक्षा किये जानेकी वस्तु नहीं है। तीन लोकके अधिपति धर्म-तीर्थंकरके पदकी प्राप्ति भी उस सर्वातिशायि पुण्यका ही फल है—पुण्य भिन्न किसी दूसरे

धर्मका नहीं; जैसा कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके निम्न वाक्य से प्रकट हैः—

"सर्वातिशायि तत्पुण्यं त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्"

ऐसी हालतमें कानजी स्वामीका पूजा-दान तथा व्रतादिकको धर्मकी कोटिसे निकाल कर यह कहना कि उनका करना धर्म नहीं है और इसके लिये जैनमत तथा जिनेन्द्र भगवानकी दुहाई देते हुए यह प्रतिपादन करना कि 'जैनमतमें जिनेश्वर भगवान्ने व्रत-पूजादिकके शुभ भावोंको धर्म नहीं कहा है—आत्माके वीतरागभावको ही धर्म कहा है[१] ।' कितना असंगत तथा वस्तु-स्थितिके विरुद्ध है, इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं। मैं तो यहां सिर्फ इतना ही कहूँगा कि यह सब कथन जिन-शासनके एकांगी अवलोकन अथवा उसके स्वरूप विषयक अधूरे एवं विकृत ज्ञानका परिणाम है। जब श्री कुन्दकुन्द तथा स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् एवं पुरातन आचार्य, जो कि जैनधर्मके आधारस्तम्भ माने जाते हैं, पूजा-दान-व्रतादिकको धर्मका अंग बतलाते हैं, तब जैनमत और जिनेश्वरदेवका वह कौनसा वाक्य हो सकता है जो धर्म रूपमें इन क्रियाओंका सर्वथा उत्थापन करता हो? कोई भी नहीं हो सकता। शायद इसीसे वह प्रमाणमें उपस्थित नहीं किया जा सका। इतने पर भी जो विद्वान् आचार्य पूजा-दान-व्रतादिकको 'धर्म' प्रतिपादन करते हैं उन्हें "लौकिक जन" तथा "अन्यमती" तक कहनेका दुःसाहस किया गया है, यह बड़ा ही चिन्ताका विषय है। इस विषयमें कानजी महाराजके शब्द इस प्रकार हैं :—

"कोई कोई लौकिकजन तथा अन्यमती कहते हैं कि पूजादिक तथा व्रत-क्रिया सहित हो वह जैनधर्म है; परन्तु ऐसा नहीं है। देखो, जो जीव पूजादिके शुभरागको धर्म मानते हैं, उन्हें "लौकिक जन" और "अन्यमती" कहा है"।

इन शब्दोंकी लपेटमें, जाने-अनजाने, श्रीकुन्द-कुन्द समन्तभद्र उमास्वाति, सिद्धसेन, पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्दादि सभी महान् आचार्य आ जाते हैं; क्योंकि इनमेंसे किसीने भी शुभभावोंका जैनधर्ममें निषेध नहीं किया है, प्रत्युत इसके उन्होंने अनेक प्रकारसे उनका विधान किया है। ऐसे चोटीके महान् आचार्योंको भी "लौकिकजन" तथा "अन्यमती" बतलाना दुःसाहस की ही नहीं, किन्तु धृष्टता की भी हद हो जाती है। ऐसी अविचारित एवं बेतुकी वचनावली शिष्टजनोंको बहुत ही अखरती तथा असह्य जान पड़ती है।

जिन कुन्दकुन्दाचार्यका कानजी स्वामी सबसे अधिक दम भरते हैं और उन्हें अपना आराध्य गुरुदेव बतलाते हैं वे भी जब पूजा दान-व्रतादिकका धर्मके रूपमें स्पष्ट विधान करते हैं तब अपने उक्त वाग्बाणोंको चलाते हुए उन्हें कुछ आगा पीछा सोचना चाहिए था। क्या उन्हें यह समझ नहीं पड़ा कि इससे दूसरे महान् आचार्य ही नहीं, किन्तु उनके आराध्य गुरुदेव भी निशाना बने जा रहे हैं?

यहां पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि श्री कुन्दकुन्दाचार्यने शुद्धोपयोगी तथा शुभोपयोगी दोनों प्रकारके श्रमणों (मुनियों) को जैनधर्म-सम्मत माना है। जिनमेंसे एक अनास्रवी और दूसरा सास्रवी होता है, अर्हन्तादिमें भक्ति और प्रवचनाभियुक्तोंमें वत्सलताको मुनियोंकी शुभचर्या बतलाया है; शुद्धोपयोगी श्रमणोंके प्रति वन्दन, नमस्करण, अभ्युत्थान और अनुगमन द्वारा आदर-सत्कार-की प्रवृत्तिको, जो सब शुद्धात्मवृत्तिके संत्राणकी निमित्त-भूत होती है, सरागचारित्रकी दशामें मुनियोंकी चर्यामें सम्यग्दर्शन-ज्ञानके उपदेश, शिष्योंके ग्रहण-पोषण और जिनेन्द्र पूजाके उपदेशको भी विहित बतलाया है; साथ ही यह भी बतलाया है कि जो मुनि काय-विराधनासे रहित हुआ नित्य ही चातुर्वर्ण्य श्रमण संघका उपकार करता है वह रागकी प्रधानताको लिए हुए श्रमण होता है, परन्तु वैयावृत्त्यमें उद्यमी हुआ मुनि यदि काय-खेदको धारण करता है तो वह श्रमण नहीं रहता, किन्तु गृहस्थ (श्रावक) बन जाता है; क्योंकि उस रूपमें वैयावृत्त्य करना श्रावकोंका धर्म है; जैसा कि प्रवचनसार की निम्न गाथाओंसे प्रकट है :—

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति समयम्हि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥३-४५॥
अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥४६॥
वंदण-णमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ॥४७॥

[१] श्रीकानजी स्वामीकी सोनगढ़ीय संस्थासे प्रकाशित समयसार (गुटका) में भी धर्मका अर्थ 'पुण्य' किया है। (देखो गाथा २१० पृ० १५७)

दंसण-णाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥ ४८ ॥
उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो सो ॥४९॥
जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो ।
ण हवदि, हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥५०॥

श्री कुन्दकुन्दाचार्यके इन वचनोंसे स्पष्ट है कि जैन-धर्म या जिनशासनसे शुभ भावोंको अलग नहीं किया जा सकता और न मुनियों तथा श्रावकोंके सरागचारित्रको ही उससे पृथक् किया जा सकता है। ये सब उसके अंग हैं, अंगोंसे हीन अंगी अधूरा या लंडूरा होता है. तब कानजी स्वामीका उक्त कथन जिनशासनके दृष्टिकोणसे कितना बहिर्भूत एवं विरुद्ध है इसे बतलाने की जरूरत नहीं रहती। खेद है उन्होंने पूजा-दान-व्रतादिकके शुभ भावोंको धर्म मानने तथा प्रतिपादन करने वालोंको "लौकिकजन" तथा "अन्यमती" तो कह डाला! परन्तु यह बतलानेकी कृपा नहीं की कि उनके इस कहनेका क्या आधार है—किसने कहां पर वैसा मानने तथा प्रतिपादन करने वालोंको 'लौकिक जन" आदिके रूपमें उल्लेखित किया है? जहां तक मुझे मालूम है ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्दने अपने प्रवचनसारमें 'लौकिक जन' का जो लक्षण दिया है वह इस प्रकार है:—

णिग्गंथो पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं ।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजम-तव-संजुदो चावि ।३-६९

इसमें आचार्य जयसेनकी टीकानुसार, यह बतलाया गया है कि—'जो वस्त्रादि परिग्रहका त्यागकर निर्ग्रन्थ बन गया और दीक्षा लेकर प्रव्रजित हो गया है ऐसा मुनि यदि ऐहिक कार्योंमें प्रवृत्त होता है अर्थात् भेदाभेदरूप रत्नत्रयभावके नाशक ख्याति-पूजा-लाभके निमित्तभूत ज्योतिष-मंत्रवाद और वैद्यकादि जैसे जीवनोपायके लौकिक कर्म करता है, तो वह तप-संयमसे युक्त हुआ भी 'लौकिक' (दुनियादार) कहा गया है।

इस लक्षणके अन्तर्गत वे आचार्य तथा विद्वान् कदापि नहीं आते जो पूजा-दान-व्रतादिके शुभ भावोंको 'धर्म' बतलाते हैं। तब कानजी महाराजने उन्हें 'लौकिक जन' ही नहीं, किन्तु 'अन्यमती' तक बतलाकर जो उनके प्रति गुरुतर अपराध किया है उसका प्रायश्चित्त उन्हें स्वयं करना चाहिए। ऐसे वचनाऽनयके दोषसे दूषित निरर्गल वचन कभी कभी मार्गको बहुत बड़ी हानि पहुँचानेके कारण बन जाते हैं। शुद्धभाव यदि साध्य है तो शुभभाव उसकी प्राप्तिका मार्ग है—साधन है। साधनके बिना साध्यकी प्राप्ति नहीं होती, फिर साधनकी अवहेलना कैसी? साधनरूप मार्ग ही जैन तीर्थंकरोंका तीर्थ है, धर्म है, और उस मार्ग का निर्माण व्यवहारनय करता है। शुभ-भावोंके अभावमें अथवा उस मार्गके कटजाने पर कोई शुद्धत्वको प्राप्त नहीं होता। शुद्धात्माके गीत गाये जायँ और शुद्धात्मा तक पहुँचनेका मार्ग अपने पास हो नहीं, तब उन गीतोंसे क्या नतीजा? शुभभावरूप मार्गका उत्थापन सचमुचमें जैनशासनका उत्थापन है और जैन तीर्थके लोपकी ओर क़दम बढ़ाना है—भले ही वह कैसी भी भूल ग़लती अजानकारी या नासमझीका परिणाम क्यों न हो?

शुभमें अटकनेसे डरनेकी भी बात नहीं है। यदि कोई शुभमें अटका रहेगा तो शुद्धत्वके निकट तो रहेगा—अन्यथा शुभके किनारा करने पर तो इधर-उधर अशुभ राग तथा द्वेषादिकमें भटकना पड़ेगा और फलस्वरूप अनेक दुर्गतियोंमें जाना होगा। इसीसे श्रीपूज्यपादाचार्यने इष्टोपदेशमें ठीक कहा है:—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाऽव्रतैर्वत नारकम् ।
छायाऽऽतपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥

अर्थात्—व्रतादि शुभ राग-जनित पुण्यकर्मोंके अनुष्ठान-द्वारा देवपद (स्वर्ग) का प्राप्त करना अच्छा है, न कि हिंसादि अव्रतरूप पापकर्मोंको करके नरकपदको प्राप्त करना। दोनोंमें बहुत बड़ा अन्तर उन दो पथिकोंके समान है जिनमेंसे एक छायामें स्थित होकर सुखपूर्वक अपने साथीकी प्रतीक्षा कर रहा है और दूसरा वह जो तेज़ धूपमें खड़ा हुआ अपने साथीकी बाट देख रहा है और आतप-जनित कष्ट उठा रहा है। साथीका अभिप्राय यहाँ उस सुद्रव्य-क्षेत्र-काल भावकी सामग्रीसे है जो मुक्तिकी प्राप्तिमें सहायक अथवा निमित्तभूत होती है।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने भी इसी बातको मोक्खपाहुडकी 'वर वय-तवेहिं सग्गो' इत्यादि गाथा नं० २५ में निर्दिष्ट किया है। फिर शुभमें अटकनेसे डरनेकी ऐसी कौन सी बात है जिसकी चिन्ता कानजी महाराजको सताती है,

खासकर उस हालतमें जब कि वे नियतिवादके सिद्धान्तको मान रहे हैं और यह प्रतिपादन कर रहे हैं कि जिस द्रव्य-की जो पर्याय जिस क्रमसे जिस समय होनेको है वह उस क्रमसे उसी समय होगी उसमें किसीभी निमित्तसे कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। ऐसी स्थितिमें शुभभावोंको अधर्म बतलाकर उनको मिटाने अथवा छुड़ानेका उपदेश देना भी व्यर्थका प्रयास जान पड़ता है। ऐसा करके वे उलटा अशुभ-राग-द्वेषादिकी प्रवृत्तिका मार्ग साफ कर रहे हैं; क्योंकि शुद्धभाव छद्मस्थावस्थामें सदा स्थिर नहीं रहता कुछ क्षणमें उसके समाप्त होते ही दूसरा भाव आएगा, वह भाव यदि धर्मकी मान्यताके निकल जानेसे शुभ नहीं होगा तो लोगोंको अनादिकालीन कुसंस्कारोंके वश अशुभमें ही प्रवृत्त होना पड़ेगा।

अब यहाँ एक प्रश्न और पैदा होता है वह यह कि जब कानजी महाराज पूजादिके शुभ रागको धर्म नहीं मानते तब वे मन्दिर मूर्तियों तथा मानस्तम्भादिक निर्माणमें और उनकी पूजा-प्रतिष्ठाके विधानमें योग क्यों देते हैं? क्या उनका यह योगदान उन कार्योंको अधर्म एवं अहितकर मानते हुए किसी मजबूरीके वशवर्ती है? या तमाशा देखने-दिखलानेकी किसी भावनाको साथमें लिए हुए हैं? अथवा लोक-संग्रहकी भावनासे लोगोंको अपनी ओर आकर्षित करके उनमें अपने किसी मत-विशेषके प्रचार करनेकी दृष्टिसे प्रेरित है? यह सब एक समस्या है, जिसका उनके द्वारा शीघ्र ही हल होनेकी बड़ी जरूरत है; जिससे उनकी कथनी और करणीमें जो स्पष्ट अन्तर पाया जाता है उसका सामंजस्य किसी तरह बिठलाया जा सके।

उपसंहार और चेतावनी

कानजी महाराजके प्रवचन बराबर एकान्तकी ओर ढले चले जा रहे हैं और इससे अनेक विद्वानोंका आपके विषयमें अब यह खयाल हो चला है कि आप वास्तवमें कुन्दकुन्दाचार्यको नहीं मानते और न स्वामी समन्तभद्र जैसे दूसरे महान जैन आचार्योंको ही वस्तुतः मान्य करते हैं; क्योंकि उनमेंसे कोई भी आचार्य निश्चय तथा व्यवहार दोनोंमेंसे किसी एक ही नयके एकान्त पक्षपाती नहीं हुए हैं; बल्कि दोनों नयोंको परस्पर सापेक्ष, अविनाभाव सम्बन्धको लिये हुए एक दूसरेके मित्र-रूपमें मानते तथा प्रतिपादन करते आये हैं जब कि कानजी महाराजकी नीति कुछ दूसरी ही जान पड़ती है। वे अपने प्रवचनोंमें निश्चय अथवा द्रव्यार्थिकनयके इतने एकान्त पक्षपाती बन जाते हैं कि दूसरे नयके वक्तव्यका विरोध तक कर बैठते हैं—उसे शत्रुके वक्तव्यरूपमें चित्रित करते हुए 'अधर्म' तक कहनेके लिए उतारू हो जाते हैं। यह विरोध ही उनकी सर्वथा एकान्तताको लक्षित कराता है और उन्हें श्री कुन्दकुन्द तथा स्वामी समन्तभद्र जैसे महान् आचार्योंके उपासकोंकी कोटिसे निकाल कर अलग करता है अथवा उनके वैसा होनेमें सन्देह उत्पन्न करता है। और इसीलिए उनका अपनी कार्य-सिद्धिके लिए कुन्दकुन्दादिकी दुहाई देना प्रायः वैसा ही समझा जाने लगा है जैसा कि कांग्रेस सरकार गांधीजीके विषयमें कर रही है—वह जगह-जगह गांधीजीकी दुहाई देकर और उनका नाम ले लेकर अपना काम तो निकालती है परन्तु गांधीजीके सिद्धान्तोंको वस्तुतः मान कर देती हुई नज़र नहीं आती।

कानजी स्वामी और उनके अनुयायियोंकी प्रवृत्तियोंको देख कर कुछ लोगोंको यह भी आशंका होने लगी है कि कहीं जैन समाजमें यह चौथा सम्प्रदाय तो कायम होने नहीं जा रहा है, जो दिगम्बर श्वेताम्बर और स्थानकवासी सम्प्रदायोंकी कुछ कुछ ऊपरी बातोंको लेकर तीनोंके मूलमें ही कुठाराघात करेगा और उन्हें आध्यात्मिकताके एकान्त गर्तमें धकेल कर एकान्त मिथ्यादृष्टि बनानेमें यत्नशील होगा; श्रावक तथा मुनिधर्मके रूपमें सच्चारित्र एवं शुभ भावोंका उत्थापन कर लोगोंको केवल 'आत्मार्थी' बनानेकी चेष्टामें संलग्न रहेगा; उसके द्वारा शुद्धात्माके गीत तो गाये जायेंगे परन्तु शुद्धात्मा तक पहुँचनेका मार्ग पासमें न होनेसे लोग "इतो भ्रष्टास्ततो भ्रष्टाः" की दशाको प्राप्त होंगे; उन्हें अनाचारका डर नहीं रहेगा, वे समझेंगे कि जब आत्मा एकान्ततः अबद्धस्पृष्ट है—सर्व प्रकारके कर्म-बन्धनोंसे रहित शुद्ध बुद्ध है और उस पर वस्तुतः किसी भी कर्मका कोई असर नहीं होता, तब बन्धनसे छूटने तथा मुक्ति प्राप्त करनेका यत्न भी कैसा? और पापकर्म जब आत्माका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते तब उनमें प्रवृत्त होनेका भय भी कैसा? पाप और पुण्य दोनों समान, दोनों ही अधर्म; तब पुण्य जैसे कष्ट-साध्य कार्यमें कौन प्रवृत्त होना चाहेगा? इस तरह यह चौथा सम्प्रदाय किसी समय पिछले तीनों सम्प्रदायों-का हित-शत्रु बन कर भारी संघर्ष उत्पन्न करेगा और

जैन समाजको वह हानि पहुँचाएगा जो अब तक तीनों सम्प्रदायोंके संघर्ष-द्वारा नहीं पहुँच सकी है; क्योंकि तीनोंमें प्रायः कुछ ऊपरी बातोंमें ही संघर्ष है—भीतरी सिद्धान्तकी बातोंमें नहीं। इस चौथे सम्प्रदायके द्वारा तो जिन शासनका मूल रूप ही परिवर्तित हो जायगा—वह अनेकान्तके रूपमें न रह कर आध्यात्मिक एकान्तका रूप धारण करनेके लिये बाध्य होगा।

*यदि यह आशंका ठीक हुई तो निःसन्देह भारी चिन्ता*का विषय है और इसलिए कानजी स्वामीको अपनी पोजीशन और भी स्पष्ट करनेकी जरूरत है। जहाँ तक मैं समझता हूँ कानजी महाराजका ऐसा कोई अभिप्राय नहीं होगा जो उक्त चौथे जैन सम्प्रदायके जन्मका कारण हो। परन्तु उनकी प्रवचन-शैलीका जो रुख चल रहा है और उनके अनुयायियोंकी जो मिशनरी प्रवृत्तियाँ आरम्भ हो गई हैं उनसे ऐसी आशंकाका होना अस्वाभाविक नहीं है और न भविष्यमें ऐसे सम्प्रदायकी सृष्टिको ही अस्वाभाविक कहा जा सकता है। अतः कानजी महाराजकी इच्छा यदि सचमुच चौथे सम्प्रदायको जन्म देनेकी नहीं है, तो उन्हें अपने प्रवचनोंके विषयमें बहुत ही सतर्क एवं सावधान होनेकी जरूरत है—उन्हें केवल वचनों द्वारा अपनी पोजीशनको स्पष्ट करनेकी ही जरूरत नहीं है, बल्कि व्यवहारादिके द्वारा ऐसा सुदृढ प्रयत्न करनेकी भी जरूरत है जिससे उनके निमित्तको पाकर वैसा चतुर्थ सम्प्रदाय भविष्यमें खड़ा न होने पावे, साथ ही लोक-हृदयमें जो आशंका उत्पन्न हुई है वह दूर हो जाय और जिन विद्वानोंका विचार उनके विषयमें कुछ दूसरा हो चला है वह भी बदल जाय।

आशा है अपने एक प्रवचनके कुछ अंशोंपर सद्भावनाको लेकर लिखे गये इस आलोचनात्मक लेख पर कानजी महाराज सविशेषरूपसे ध्यान देनेकी कृपा करेंगे और उसका सत्फल उनके स्पष्टीकरणात्मक वक्तव्य एवं प्रवचन शैलीको समुचित तब्दीलीके रूपमें शीघ्र ही दृष्टिगोचर होगा।

वीरसेवामन्दिर, दिल्ली
आषाढ शुक्ला ३ सं० २०१५ } जुगलकिशोर मुख्तार

प्रस्तुत प्रवचनमें और भी बहुत सी बातें आपत्तिके योग्य हैं जिन्हें इस समय छोड़ा गया है—नमूनेके तौर पर कुछ बातोंका ही यहाँ दिग्दर्शन कराया गया है—जरूरत होने पर फिर किसी समय उनपर विचार प्रस्तुत किया जा सकेगा।

नाथ ! अब तेरा शरण गहूँ।

(मनु 'ज्ञानार्थी' साहित्य-रत्न)

मैं पथभ्रष्ट पथिक युग युगसे तुमसे कथा कहूँ ।
स्वार्थ-ग्राहके मुखमें चेतन कैसे त्राण करूँ ?
आग जला कर आग, आगमें कैसे शान्त करूँ ?
विष-फल बोय; नाथ ! अमृत फल कैसे आज लहूँ ?
अपना नीड भुला कर कैसे किससे राह लहूँ ?
क्या जानूँ जग कितना निष्ठुर कैसे व्यथा सहूँ ?
मोह-ग्राहसे मुझे बचालो तुमसे यही चहूँ !!

अति गंभीर है मोह-जलधि मैं कैसे इसे तरूँ ?
तृष्णा-तृषा मोह-खाराजल कैसे तृषा हरूँ ?
यह संसार मान-तरंगोंसे कैसे पार करूँ ?
मैं पंछी सन्ध्याकी वेला कैसे नीड गहूँ ?
जगके जन सब छोड़ चले हैं अपना किसे कहूँ ?
भटक भटक कर जन्म जन्मसे तेरा शरण गहूँ ?
नाथ ! अब तेरा शरण गहूँ

पुरातन जैन साधुओंका आदर्श

(श्री० पं० हीरालाल जैन सिद्धान्त शास्त्री)

संसारके संतोंमें भारतीय संतोंका सदासे उच्च स्थान रहा है और भारतीय संतोंमें भी जैन साधु-सन्तोंका आदर्श सर्वोच्च रहा है। जिन्होंने जैन शास्त्रोंका थोड़ासा भी अध्ययन किया है और जो सच्चे जैन साधुओंके सम्पर्कमें रहे हैं, व यह बात भली भांति जानते हैं कि जैन साधुओंका आचार विचार कितना पवित्र और महान् होता है। जैन साधुमें ही अहिंसामय परम धर्मका पूर्ण दर्शन होता है। ये साधु अपने आचार-विचारसे किसी प्राणीको कष्ट नहीं पहुँचाते, प्रत्युत प्राणिमात्रके उद्धारकी प्रतिक्षण भावना करते रहते हैं। यही कारण है कि ऐसे सार्वजनीन — सर्वहितकर — साधुओंको जैनोंने अपने अनादि मूल मंत्रमें स्थान दिया है और उन्हें "णमो लोए सव्वसाहूणं" कह कर भक्ति पूर्वक नमस्कार किया है।

आ० कुन्दकुन्दने ऐसे सार्व साधुओं का जो स्वरूप दिया है वह इस प्रकार है :—

णिव्वाण-साधए जोगे, सदा जुञ्जंति साधवो।
समा सव्वेसु भूदेसु, तम्हा ते सव्वसाधवो॥

(मूलाचार ५१२)

जो सदा काल निर्वाण—साधक रत्नत्रयकी साधना में तल्लीन रहते हैं और सर्व प्राणियों पर सम भाव रखते हैं—प्राणिमात्रके हित चिन्तक हैं—उन्हें सार्व साधु कहते हैं।

आ० कुन्दकुन्दने अपने मूलाचारमें साधुओंके आचार-विचारका बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है जिससे पता चलता है कि साधुओंका पूर्वकालमें कितना उच्च आदर्श था और वे चारित्ररूप गिरिकी शिखर पर आरूढ़ होकर किस प्रकार आत्म-साधना करते थे। ग्रन्थकारने साधुओंकी प्रत्येक क्रियाका वर्णन वर्तमान कालका क्रियापद देकर किया है, जिससे ज्ञात होता है, कि ग्रन्थ-वर्णित बातें केवल आदर्श ही आदर्श नहीं हैं, अपितु वे उनके जीवनमें रमी हुई सत्य घटनाएं हैं और उस समय ग्रन्थमें वर्णित आदर्शके अनुरूप मूर्तिमान् साधुगण इस भारतवर्षमें सर्वत्र विहार करते हुए दृष्टि-गोचर होते थे।

यद्यपि मूलाचारमें साधुओंके आचार-विषयक मुख्य-मुख्य सभी विषयोंका यथास्थान वर्णन किया गया है और इसका प्रत्येक अधिकार अपनी एक खास विशेषता को लिए हुए है, तथापि अनगारभावनाधिकार और समयसाराधिकार तो मूलाचारके सबसे अधिक महत्वपूर्ण अधिकार हैं। अनगार-भावनाधिकारको ग्रन्थकारने स्वयं सर्व शास्त्रोंका सारभूत अनगार-सूत्र कहा है। इसमें लिंग-शुद्धि व्रत-शुद्धि, वसति शुद्धि, विहार-शुद्धि, भिक्षा-शुद्धि, ज्ञान शुद्धि, उज्झन-शुद्धि, वाक्य शुद्धि, तपः - शुद्धि और ध्यान-शुद्धि, इन दश प्रकार की शुद्धियों का वर्णन किया गया है। इस प्रकरणको पढ़ते हुए पाठकके हृदय पर यह भाव अङ्कित हुए बिना नहीं रहता कि जैन साधुओंका धरातल संसारी प्राणियोंके धरातलसे कितना ऊँचा है, उनका आचार विचार व्रती श्रावकोंसे भी कितना ऊँचा होता है और उनका हृदय कितना शुद्ध और पवित्र होता है। इस अधिकारमें वर्णित उक्त दश प्रकारकी शुद्धियोंका पाठकोंको कुछ परिचय कराया जाता है, जो कि आदर्श साधु जीवनके लिए सर्वोपरि अपेक्षित है।

१. लिंग-शुद्धि—निर्विकार, निर्ग्रन्थ-रूप शरीरकी शुद्धिको लिंग शुद्धि कहते हैं। साधु किसी भी प्रकारका बाह्य परिग्रह नहीं रखते, शरीरका संस्कार नहीं करते, यहाँ तक कि स्नान और दातुनसे भी उपेक्षित रहते हैं। केशोंका अपने हाथोंसे लोंच करके वे शरीरसे अपने निर्ममत्व भावको प्रकट करते हैं, घर-बार छोड़कर और कुटुम्बसे दूर रह कर वे संसार और परिवारसे अपने निःसंगत्व-भावका परिचय देते हैं। पांचों इन्द्रियोंके भोगोपभोगोंसे राग भाव छोड़कर वे अपनी वीतरागताका प्रमाण उपस्थित करते हैं। वे इस मनुष्य जीवनको चपला (बिजली) के समान चंचल, भोगोंको रोगोंका घर और असार जानकर संसार, देह और भोगोंसे विरक्त होकर जिनोपदिष्ट वीतरागधर्मको धारण करते हैं। वे जन्म-मरणके दुःखोंसे उद्विग्न एवं संसार-वाससे भयभीत होकर जिनोक्त तत्त्वोंका दृढ़ श्रद्धान करते हैं, कषायोंका परिहार करते हैं और उत्साह पूर्वक शुद्ध आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए सतत अग्रेसर रहते हैं। इस प्रकार यथाजातरूप (नग्न) मुद्राको धारण कर वीतरागताकी आराधना करना ही साधुओंकी लिंग शुद्धि है। (गा० ७-१२)

२ व्रतशुद्धि—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, इन पाँचों पापोंका मन, वचन काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे यावज्जीवनके लिए त्याग कर पांच महाव्रतोंका धारण करना, उन्हें प्राणान्तक परीषह और उपसर्गके आने पर भी मलिन नहीं होने देना व्रतशुद्धि कहलाती है जैन साधु क्रूर जंगली जानवरोंके द्वारा खाये जाने पर भी मनमें उनके प्रति दुर्भाव नहीं लाते, प्रत्युत यह चिन्तवन करते हैं कि यह बेचारा उपद्रव करने वाला मेरे उदयमें आने वाले दुष्कर्मों के निमित्तसे पापका संचय कर रहा है, अहो, मैं कितना पापी हूँ। इस प्रकार स्वकर्म-विपाकका विचार कर उस पर क्षमाभाव धारण करते हैं। प्राण जानेका अवसर आने पर भी लेशमात्र झूठ नहीं बोलते, बिना दी हुई मिट्टी तकसे भी हाथ नहीं धोते, अखंड ब्रह्मचर्य धारण करते हैं और मेरा ब्रह्मचर्य स्वप्नमें भी खंडित न हो जाय, एतदर्थ गरिष्ठ भोजन, और घृतादि रसोंका परिहार कर एक वार नीरस रूखा सूखा आहार करते हैं। अति भयंकर शीत-उष्णकी बाधा होने पर भी सदा नग्न रहते हैं, बालाग्र मात्र भी वस्त्रादिको धारण नहीं करते। वे सदा अपरिग्रहके मूर्तिमान् स्वरूप होकर निज शरीरमें भी रंचमात्र ममत्व नहीं रखते और स्व-स्वभावमें सदा सन्तुष्ट रहते हैं इस तरह सर्व प्रकारसे महाव्रतोंका निर्दोष पालन करना व्रतशुद्धि है। (गा० १३-१८)

३ वसतिशुद्धि—वसति नाम निवासका है। विहार करते हुए साधुको जहाँ सूर्य अस्त होता हुआ दृष्टिगोचर होता है, वहीं किसी एकान्त, शुद्ध प्रासुक स्थान पर, जहाँ पशु, स्त्री, नपुंसकादिकी बाधा न हो, ठहर जाते हैं। और सूर्योदयके पश्चात् विहार कर जाते हैं। वे ग्राममें एक रात्रि और नगरमें पाँच रात्रि तक रहते हैं। वे सदा एकान्त, शान्त स्थानमें निवास करते हैं और प्रासुक मार्ग पर ही विहार करते हैं। साधुजनोंके निवास-योग्य वसतिकाओंका विवेचन करते हुए मूलाचार-कार कहते हैं कि पर्वतोंकी कन्दराएँ, श्मशान भूमियाँ और शून्यागार ही श्रेष्ठ वसतिकाएँ हैं और इनमें ही वीर पुरुष निवास करते हैं। जो स्थान जंगली जानवरोंकी गर्जनासे गुंजायमान हैं, जहाँ व्याघ्र, चीता, भालू आदिके शब्द सुनाई दे रहे हैं ऐसी गिरि-गुफाओंमें धीर वीर साधु जन निवास करते हैं। जहाँ सिंह विचरण करते हैं, ऐसे पर्वतोंके उपरितन, अधस्तन, मध्यवर्ती भागमें, या कन्दराओंमें वे नर-सिंह साधु जिनवचनामृतका पान करते हुए आवास करते हैं। वे साधुजन धर्ममें अनुरक्त हो, घोर अन्धकारसे व्याप्त, श्वापद सेवित, गहन वनोंमें रात्रि व्यतीत करते हैं, तथा स्वाध्याय और ध्यानमें लवलीन होकर रात भर सूत्रार्थ और आत्म चिन्तन करते हुए निद्राके वशंगत नहीं होते हैं। वे वीर मुनिजन, वीरासन, पद्मासन, उत्कुटासन आदि विविध योगासनोंका आश्रय लेकर आत्मस्वरूपका चिन्तवन करते हुए गिरि-गुफाओंमें रह कर रात्रिको व्यतीत करते हैं। उपधि-भारसे विमुक्त, काय ममत्वसे रहित, धीर वीर मुनियोंकी यही वसतिशुद्धि है और ऐसी वसतिकामें रह कर ही साधुजन आत्म-सिद्धिकी साधना करते हैं। (गा० १९-३)

४ विहारशुद्धि—दयाके अवतार साधुजन प्राणिमात्रकी रक्षा करते हुए इस भूतल पर विहार करते हैं वे ज्ञानके प्रकाशसे जीव और अजीवके विभागको भली-भाँति जान करके सदा सावधान होकर सर्व सावद्य योगका परिहार करते हैं, पापसे दूर रहते हैं, किसी भी त्रस जीवको बाधा नहीं पहुँचाते, पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पतिकी न स्वयं विराधना करते हैं, न अन्यसे कराते हैं और न करते हुएकी अनुमोदना करते हैं। वे सर्व प्रकारके अस्त्र-शस्त्रादिकसे रहित होते हैं, सर्व-प्राणियों पर समभाव रखते हैं और आत्मार्थका चिन्तवन करते हुए सिंहके समान निर्भय होकर विचरते हैं। कषायोंका उपशमन या क्षपण करने वाले वे साधुजन सदा उन्नत मन, उपेक्षाशील, काम-भोगोंसे विरक्त वैराग्य भावनाओंसे परिपूर्ण और रत्नत्रय धर्मके आराधनमें उद्यत रहकर इस भव-वृक्षके मूलका उच्छेदन करते रहते हैं। वे सदा अपनी विचक्षण बुद्धिसे कषायोंका दमन और इन्द्रियोंका निग्रह करते हुए अगर्भवसतिका अन्वेषण करते रहते हैं जिससे कि पुनः संसारमें जन्म न ग्रहण करना पड़े। इस प्रकार विचरनेकी शुद्धिको विहारशुद्धि कहते हैं। (गा० ३१-४३)

५ भिक्षाशुद्धि—भिक्षा अर्थात् भोजनकी शुद्धिको भिक्षाशुद्धि कहते हैं। साधुजन मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदनासे शुद्ध, शंकादि दश दोषसे रहित,

नख-रोम आदि चौदह मलोंसे वर्जित और दूसरेके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये हुए आहारको पर-घरमें ही पाणिपात्रमें रखकर भोजन करते हैं। वे अपने उद्देश्यसे बनाये गये, अपने लिए खरीदे गये, अज्ञात, शंकित, प्रतिषिद्ध और आगम-विरुद्ध आहारको ग्रहण नहीं करते। वे मौनपूर्वक विहार करते हुए, धनी या निर्धनका ख्याल न करके जहाँ पर निर्दोष भोजन उपलब्ध हो जाता है, वहीं उसे ग्रहण कर लेते हैं। वे शीतल या उष्ण, सरस या नीरस, लोने, या अलोने, रूखे या चिकने आदिका कुछ भी विचार न करके श्रावकके द्वारा भक्तिपूर्वक दिये गये भोजनको सम-भावके साथ ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार गाड़ीको ठीक प्रकारसे चलनेके लिए पहियोंमें ओंगनका लगाना जरूरी होता है उसी प्रकार शरीर धर्मसाधनके योग्य बना रहे, एतदर्थ वे निर्दोष आहारको ग्रहण करते हैं। आहारके मिलनेपर वे संतुष्ट नहीं होते और न उसके अलाभमें असंतुष्ट होते हैं। न मुँहसे आहारकी याचना करते हैं और न आहार देने वाले की प्रशंसा ही करते हैं। वे अप्रासुक, विवर्ण, जंतु-संसृष्ट, चलित, क्वथित, विरस और बासे भोजनको नहीं ग्रहण करते हैं। इस प्रकार भोजनकी शुद्धिका साधुजन भले प्रकारसे पालन करते हैं। (गा० ४४-६१)

६ ज्ञानशुद्धि—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी शुद्धि-पूर्वक ज्ञानकी प्राप्तिके लिए नाना प्रकारके तपोंकी आराधना करते हैं, एकान्तमें निवास करते हैं, गुरुकी सुश्रूषा करते हैं, साथियोंके साथ तत्त्वोंका अनुमनन और चिन्तन करते हैं, सर्व प्रकारके गर्वसे दूर रहते हैं, जिनोक्त तत्त्वोंके श्रवण, ग्रहण और धारणमें तत्पर रहते हैं, अपनी साधनाके द्वारा अष्टांग महानिमित्तोंके, ग्यारह अंग और चौदह पूर्वोंके पारगामी होते हैं, पदानुसारी, बीजबुद्धि, संभिन्नश्रोतृत्व आदि ऋद्धियोंके धारक होकर परमपदका मार्गण करते रहते हैं। ऐसे साधुजनोंके ज्ञानशुद्धि कही गई है। (गा० ६२ ६६)

७ उज्झनशुद्धि—उज्झन नाम त्याग या परिहारका है। साधुजन सर्वप्रथम स्त्री, पुत्रादि, कुटुम्बी जनोंके स्नेहका त्याग करते हैं, पुनः धन, परिग्रहादिकी ममताका त्याग करते हैं, शरीरसे मोहका त्याग करते हैं, उसके संस्कारका त्याग करते हैं, स्नान, दातुन, तैल मर्दन, अंजन, मंजन आदिका त्याग करते हैं। वे शरीरमें प्राण-हारिणी पीडाके उत्पन्न होने पर भी, आंखोंकी पीड़ा, शिरकी वेदना, उदर-का शूल और वात-पित्तादिक विकार जनित रोगोंके उत्पन्न होने पर भी स्वयं औषधि-सेवन नहीं करते और मनमें विकार तक नहीं उत्पन्न होने देते हैं। वे शारीरिक मान-सिक सभी आधि-व्याधियोंको परम औषधिरूप जिनवाणी-का सदा अभ्यास करते रहते हैं। वे जन्म, जरा, मरणरूप रोगोंके निवारण करनेके लिये जिनवचनको ही परम अमृत मानते हैं वे सर्व प्रकारके आर्त्त और रौद्रध्यान का परित्याग करके धर्म और शुक्ल ध्यानका चिन्तवन करते हैं, सर्व विकार भावोंका परित्याग करके शुद्ध भावों की प्राप्ति और पालन करनेमें प्रयत्नशील रहते हैं। शरीरको सर्व अशुचियोंका घर समझकर उससे उदासीन रहते हैं, उसमें भूल करके भी राग-भाव नहीं धारण करते हैं। इस प्रकार सांसारिक पदार्थोंका परित्याग करके वीतरागता-स्वरूप शुद्धिको धारण करना उज्झनशुद्धि कहलाती है। (गा. ७०-८६)

८ वाक्यशुद्धि—वचनकी शुद्धिको वाक्यशुद्धि कहते हैं। साधुजन धर्म-विरोधी, दूसरोंको पीड़ाकारी एवं अनर्थ जनक वचन भूल करके भी नहीं बोलते हैं। सर्वप्रथम तो साधु मौनको ही धारण करते हैं। यदि धर्मोपदेशादिके निमित्तसे बोलना भी पड़े तो हित मित, प्रिय वचन ही बोलते हैं, अप्रिय और कटु सत्यको भी नहीं बोलते हैं। स्त्रीकथा, अर्थकथा, भोजनकथा राजकथा, चोरकथा, देश-कथा, युद्धकथा मल्लकथा आदि विकथाओंको कभी नहीं कहते। वे इनका मन, वचन, कायसे परित्याग करते हैं। कन्दर्प कौत्कुच्य, मौखर्य-मय प्रलाप, हास्य, दर्प, गर्व और कलह उत्पादक वचन भूलकर भी नहीं कहते हैं। जब भी कहेंगे, तो आगमोक्त, धर्म-सयुक्त हित, मित ही कहेंगे। इस प्रकार साधुजन वाक्यशुद्धिकी निरन्तर भावना रखते हुए उसका समुचित पालन करते हैं। (गा० ८७ ६४)

९ तपःशुद्धि—तपःसम्बन्धी शुद्धिको तपःशुद्धि कहते हैं। वे साधुगण लौकिक-मान प्रतिष्ठा आदिसे रहित होकर निश्छलभावसे अपने कर्मोंकी निर्जराके लिए तपश्चरण करते हैं, स्वाध्याय संयम और ध्यानमें सदा सावधान रहते हैं। जब हेमन्त ऋतुमें आकाशसे हिम वर्षा हो रही हो, उस समय वे खुले मैदानोंमें खड़े होकर शीतपरीषह सहन करते हैं। जब ग्रीष्मऋतुमें प्रचण्ड सूर्य अग्निवर्षा करता है तब वे पर्वतोंकी शिखरोंपर ध्यान लगाकर उष्ण-

परीषह सहन करते हैं। जब वर्षाऋतुमें पानी मूसलाधार बरसता है, तब वे वृक्षोंके तले खड़े होकर ध्यान लगाते हैं। इस प्रकार वे परम तपस्वी साधु तीनों ऋतुओंमें घोर परीषह और उपसर्गोंको सहन करते हुए घोर तपश्चरण करते हैं। प्रबल शीतकालमें उनका सारा शरीर फट जाता है, अति उष्णकालमें सारा शरीर सूर्यकी प्रखर किरणोंसे झुलस जाता है, वर्षाऋतुमें जब डांस-मच्छरोंके उपद्रवसे सारा शरीर विकल हो उठता है, तब वे धीर वीर परम शमभावसे उस वेदनाको सहन करते हुए सदा कर्म-क्षपणमें उद्यत रहते हैं। कोई उन्हें दुर्वचन कहे, मारे, नानाप्रकारकी यातनाएं दे, शस्त्र-प्रहार करे, तो भी वे क्षमाके सागर प्रहार करने वालों पर जरा भी कुपित नहीं होते। सदा पांचों इन्द्रियोंका दमन करते और कषायोंका निग्रह करते हुए अपनी आवश्यक क्रियाओंका पालन करते रहते हैं। इस प्रकार परम विशुद्धि पूर्वक तपश्चरण करना तपःशुद्धि है। (गा० ६६ १०६)

१० ध्यानशुद्धि—मनकी चंचलताको रोकना, उसे विषय कषायोंमें प्रवृत्त नहीं होने देना ध्यानशुद्धि कहलाती है। जैसे मदोन्मत्त हाथी अंकुशसे वशमें हो जाता है, उसी प्रकार साधुजन अपने मनरूपी मत्त हस्तीको ज्ञानरूप अंकुशसे वशमें रखते हैं। अथवा विषयोंमें दौड़ते हुए चपल इन्द्रियरूप अश्वोंको वे योगिजन गुप्तिरूप लगामके द्वारा उन्हें अपने आधीन रखते हैं। राग, द्वेष, मोहको दूरकर, आर्त्त और रौद्रभावोंका परित्याग कर सदा धर्म-ध्यानमें रत होकर शुक्ल ध्यानको प्राप्त करनेका प्रयत्न करते रहते हैं। जिस प्रकार प्रबल आँधी और तूफान आने पर भी सुमेरु अचल रहता है, उसी प्रकार वे साधुजन प्रबल उपसर्गादिकके आने पर भी अपने ध्यानसे रंचमात्र चल-विचल नहीं होते। यही उनकी ध्यानशुद्धि है। (गा० १०७-११६)

इस प्रकार इन शुद्धियोंका वर्णनकर मूलाचार-कार कहते हैं कि उक्त शुद्धियोंको धारण करने वाले साधुओंको श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, अनगार, वीतराग, भदन्त और दान्त आदि नामोंसे पुकारा जाता है, और ऐसे ही ऋषिराज अपनी रत्नत्रयकी विशुद्धिके द्वारा सर्व कर्मोंका क्षय करके परम सिद्धिको प्राप्त करते हैं।

इस अधिकारका विहगावलोकन करने पर एक बात जो पाठकके हृदय पर अंकित होती है और उस पर अपना सर्वाधिक प्रभाव डालती है, वह यह है कि साधुका जीवन कितना पवित्र और उच्च आदर्शयुक्त होता है कि वह अपने आहार-विहारसे किसीको पीड़ा नहीं पहुँचाना चाहता, दुनियादारीसे सम्पर्क रखकर चित्तकी शुद्धिको बिगाड़ना नहीं चाहता और परिग्रह-भारका परित्यागकर निराकुल रहना चाहता है। वह साधु-वेषकी मर्यादा रखनेके लिए सदा सावधान रहता है। ग्राम और नगरोंके कोलाहलपूर्ण वातावरणसे अति दूर होकर निर्जन वन-वसतिकाओं और गिरि-कन्दराओंमें रहना स्वीकार करता है। वसति-शुद्धिका प्रकरण पढ़ते हुए सहसा समाधितंत्रका यह श्लोक याद आ जाता है :—

> जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः।
> भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥

अर्थात्—मनुष्योंके सम्पर्कसे वचनकी प्रवृत्ति होती है, वचनकी प्रवृत्तिसे मनमें व्यग्रता उत्पन्न होती है मनकी व्यग्रतासे नाना प्रकारके विकल्प उत्पन्न होते हैं और विकल्पोंसे कर्मास्रव होता है, इसलिए परम शान्तिके इच्छुक साधुओंको चाहिए कि वे लौकिकजनोंके साथ संसर्गका परित्याग करें।

कहनेका आशय यह है कि जहाँ भी लौकिक जनोंका सम्पर्क होता है, वहाँ कुछ न कुछ वार्तालाप अवश्य होता है, उससे चित्तमें चंचलता पैदा होती है और उससे नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प उत्पन्न होते हैं। अतः आत्मस्व-रूपके साधन करने वाले साधुओंको निर्जन एकान्त, शान्त वसतिकाओंमें ही निवास करना चाहिए, नगरोंके कोलाहल-पूर्ण वातावरणमें नहीं।

इस अधिकारको पढ़ते हुए वीतराग साधुओंका मूर्त्तिमान् रूप पाठकके सम्मुख आ उपस्थित होता है। पवित्रता और विशुद्धिताके आगार उन अनगार-साधुओंको नमस्कार है।

समयसाराधिकार—

मूलाचारका समयसाराधिकार तो सचमुच समय अर्थात् जैन शासनका सार ही है। 'समयसार' इस पदका अर्थ करते हुए टीकाकार आ० वसुनन्दि लिखते हैं :—

'समयसारं द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वाणां सारं परमतत्त्वं मूलगुणोत्तरगुणानां च दर्शनज्ञानचारित्राणां शुद्धि-विधानस्य च भिक्षाशुद्धेश्च सारभूतं।'

अर्थात्—'यह समयसार अधिकार बारह अंग और चौदह पूर्वोंका सार है, परम तत्त्व है, तथा मूलगुण, उत्तर

गुण, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी शुद्धिके विधानका और भिक्षाशुद्धिका सारभूत है।'

इस प्रकार इस अधिकारका महत्त्व उसके नामसे ही स्पष्ट है। अधिकारका प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जो श्रमण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और संहननकी अपेक्षा जैसा प्रयत्न या परिश्रम करता है, तदनुसारही वह अल्पकालमें सिद्धिको प्राप्त करता है। इसका अभिप्राय यह है कि साधुको अपने द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव और काय-बलके अनुसार अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए। साधु आत्मसिद्धिको किस प्रकार शीघ्र प्राप्त कर लेता है, प्रश्नका उत्तर देते हुए मूलाचारकार कहते हैं कि जो धीर-वीर है अर्थात् परीषह और उपसर्गोंको दृढ़तापूर्वक सहन करता है, वैराग्यमें तत्पर है—अर्थात् संसार, देह और भोगोंसे विरक्त चित्त है, वह साधु थोड़ा भी पढ़कर-अष्ट प्रवचन-माताका और अपने कर्त्तव्यका परिज्ञान कर लेता है, वह सिद्धिको पा लेता है, परन्तु जो वैराग्यसे रहित है—जिसका चित्त संसार, देह और भोगोंमें आसक्त है, वह सर्व शास्त्रोंको पढ़ करके भी सिद्धिको प्राप्त नहीं होता है। इस उत्तरके द्वारा ग्रन्थकार आ० कुन्दकुन्दने साधुओंको उनका कर्त्तव्य बतलाते हुए एक बहुत ही महत्त्वकी बात कही है कि साधुको वैराग्यसे भरा हुआ होना ही चाहिए। यदि वह वैराग्यसे भरपूर नहीं है और उसका चित्त सांसारिक प्रपंचों और विषय वासनाओंमें उलझा हुआ है तो वह कभी भी सिद्धिको नहीं पा सकता। (गा० २-३)

अनगारभावनाधिकारके अध्ययनसे जहाँ यह विदित होता है कि मूलाचार-कारके समयमें साधुगण नगरोंसे दूर निर्जन, एकान्त, शान्त वन-प्रदेशोंमें रहकर मौन-पूर्वक आत्मसाधनामें तत्पर रहते थे, वहाँ इस अधिकारके अध्ययनसे यह भी ज्ञात होता है कि साधुजनोंमें कुछ शिथिलाचारका प्रवेश होने लगा था और वे गोचरी-कालके अतिरिक्त अन्य समयमें भी नगरोंमें रहने लगे थे, आहारकी मात्राका उल्लंघन करने लगे थे, व्यर्थ अधिक बोलने लगे थे, परीषह और उपसर्गोंके दुःख सहन करनेमें कायरपनेका अनुभव करने लगे थे। उन्हें रात्रिमें निद्रापर विजय पाना कठिन प्रतीत होने लगा था तथा वैराग्य और मैत्रीभावकी कमी होने लगी थी। ऐसा प्रतीत होता है कि साधुजनोंके इस प्रकारके व्यवहार और आचारको देखकर आ० कुन्दकुन्दका हृदय आन्दोलित हो उठा है और उन्होंने अत्यन्त प्रेमसे सूत्ररूपमें उपदेश देते हुए और साधुजनोंको संबोधन करते हुए कहा है :—

भिक्खं चर वस रण्णे थोवं जेमेहि मा बहू जंप।
दुक्खं सह जिण णिद्दा मेत्तिं भावेहि सुट्ठु वेरग्गं ॥४॥

हे साधुओ, हे श्रमणो, तुम लोग कहां भटके जा रहे हो और अपने कर्तव्यको भूल रहे हो? ग्रामों और नगरोंमें केवल भिक्षाके लिए आनेका तुम्हें आदेश है, वहाँ बसनेका नहीं; अतः भिक्षाके समय ग्राम या नगरमें जाओ और आहार करके तुरन्त वनको वापिस लौट आओ। गाथाके इस प्रथम चरण द्वारा साधुओंको उनके बड़े भारी कर्तव्यका भान कराया गया है और नगर-निवाससे उत्पन्न होने वाले अनेक दोषोंसे साधु-जनोंको बचानेका प्रयास किया गया है। गाथाके द्वितीय चरण द्वारा एक विधानात्मक और एक निषेधात्मक ऐसे दो उपदेश एक साथ दिए गए हैं। वे कहते हैं कि हे भिक्षुओ! थोड़ा जीमो और अधिक मत बोलो। कितना सुन्दर और मार्मिक उपदेश है। मनुष्य जब अधिक खाता है तब अधिक बोलता भी है। एक ओर जहाँ अधिक खानेसे आलस्य और निद्रा मनुष्यको पीड़ित करती है, वहाँ दूसरी ओर अधिक बोलने वाले मनुष्यके द्वारा सत्यका संरक्षण नहीं हो पाता। इसलिए आचार्य उपदेश देते हैं कि कम खाओ और कम बोलो। ध्यान और अध्ययनकी सिद्धि तथा चित्तकी विशुद्धिके लिए इन दोनों बातोंका होना अत्यन्त आवश्यक है। गाथाके तीसरे चरण द्वारा आचार्य उपदेश देते हैं कि हे साधुओ, दुःखको सहन करो और निद्राको जीतो। आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए निद्राको जीतना और दुःखोंको सहन करना अत्यन्त आवश्यक है। निद्रा मनुष्यको अचेतन कर देती है और उसके हिताहित-विवेकको शून्य बना देती है। इसके विपरीत जो निद्रा पर विजय प्राप्त करता है, उसकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है तथा ग्रहण और धारणा शक्ति बढ़ती है। इसी प्रकार शान्तिके साथ दुःख सहन करनेसे तपोबल बढ़ता है और उससे संचित कर्मोंकी निर्जरा द्वारा आत्मस्वरूपकी सिद्धि होती है, अतएव मुमुक्षु श्रमणको दुःखोंका सहन करना और निद्रा पर विजय पाना अत्यन्त आवश्यक है। चतुर्थ चरणके द्वारा आचार्य उपदेश देते हैं कि प्राणिमात्र पर मैत्रीभाव रखो और अच्छी तरहसे वैराग्य की भावना भाओ। (गा० ४)

इससे आगे मूलाचार-कार कहते हैं कि यदि तुम संसार-सागरसे पार होना चाहते हो, तो सर्व लोक-व्यवहार-को छोड़ो; आरंभ, परिग्रह और कषायोंका परित्याग करो; एकत्व की भावना भाओ और एकाग्र चित्त होकर आत्म ध्यानको करो। संसार-सागरको पार करनेके लिये चारित्र नौका है, ज्ञान खेवटिया है और ध्यान पवन है। इन तीनोंके समायोगसे ही भव्यजीव भव-सागरके पार उतरते हैं। (गा० ५-७)

इसी बातको आचार्य प्रकारान्तरसे कहते हैं कि ज्ञान मार्ग-दर्शक है, तप शोधक है और संयम रक्षक है। इन तीनोंके समायोगसे ही मोक्ष प्राप्त होता है। यथा—

णाणं पयासओ तओ सोधओ संजमो य गुत्तियरो।
तिण्हं पि संजोगे होदि हु जिणसासणे मोक्खो ॥८॥

सम्यग्दर्शनका माहात्म्य प्रकट करते हुए मूलाचार-कार कहते हैं कि सम्यक्त्वसे तत्त्वोंके ज्ञानकी उपलब्धि होती है, तत्त्वज्ञानसे सर्व पदार्थोंका यथार्थ बोध प्राप्त होता है और यथार्थ बोधसे मनुष्य श्रेय-अश्रेयको—अपने कल्याण और अकल्याणको जानता है। श्रेय-अश्रेयका ज्ञाता दुःशीलता या अकर्तव्यको छोड़कर शीलवान् बनता है और फिर उससे अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त करता है। इसलिए सर्व प्रथम सम्यक्त्वको प्राप्त करना चाहिए।

(गा० १२-१३)

आगे कहा गया है कि अच्छी तरहसे पठित और सुगुणित भी सर्व श्रुतज्ञान चारित्रसे भ्रष्ट श्रमणको सुगतिमें नहीं ले जा सकता है यदि कोई दीपक हाथमें लेकर कूपमें गिरता है तो उसके हाथमें दीपक लेनेसे क्या लाभ है? इसी प्रकार यदि कोई सर्व शास्त्रोंको पढ़ करके भी कुमार्ग पर चलता है; तो उसके शास्त्र शिक्षासे क्या लाभ है (गा० १४-१५)

श्रमण-लिंग—

साधुका लिंग या वेष कैसा होता है, इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा गया है कि अचेलकता, केशलुंचिता, व्युत्सृष्ट-शरीरता और प्रतिलेखन रखना, यह चार प्रकारका लिंगकल्प होता है। किसी भी प्रकारका वस्त्रादि परिग्रह नहीं रखना अचेलकता है। शिर और दाढ़ीके बालोंका अपने हाथसे उखाड़ना केश-लुंचिता है। शरीरके स्नान, अभ्यंग, संस्कारादिको छोड़कर उससे रागभावके दूर करनेको व्युत्सृष्टशरीरता कहते हैं। जीवोंकी रक्षार्थ कोमल प्रतिलेखनको रखना चौथा श्रमण-चिन्ह है। (गा० १७)

प्रतिलेखन कैसा हो, इसका विवेचन करते हुए कहा गया है कि जो रज-धूलि को ग्रहण न करे, प्रस्वेद-पसीना-को ग्रहण न करे, जिसमें मृदुता हो, सुकुमालता हो और लघुता हो, ऐसे पांच गुणोंसे युक्त मयूरपिच्छका प्रतिलेखन साधुओंके ग्रहण करने योग्य है। मयूर-पिच्छ इतने कोमल होते हैं कि उन्हें शरीरके सबसे अधिक सुकुमार अङ्ग-आंखोंके ऊपर भी प्रमार्जन कर देने पर उनमें कोई पीड़ा नहीं होती। अतः इसके द्वारा भूमिके प्रमार्जन करने पर आंखोंसे नहीं दिखाई देने वाले सूक्ष्म जीवों तक की भी विराधना नहीं होती। धूलि और पसीनाके न लगानेसे उसमें सम्मूर्च्छन जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होती। बालोंके प्रतिलेखनमें त्रसजीव उत्पन्न हो जाते है, अन्य वस्तुओंके प्रतिलेखन कर्कश होते हैं, जिससे कि जीवघातकी शंका बनी रहती है, अतएव उपर्युक्त पंचगुण विशिष्ट मयूर-पिच्छोंका प्रतिलेखन ही साधुओंको ग्रहण करनेके योग्य है। (गा० १८-२३)

अधःकर्म-भोजीके दोष—

जीवोंकी विराधनासे उत्पन्न होने वाले आहारको अधः-कर्म दूषित माना जाता है। जो साधु निरन्तर मौन रखता हो, आतापनादि योग और वीरासन आदिको करता हो, वनमें रहता हो, परन्तु यदि वह अधःकर्म-दूषित भोजन ग्रहण करता है; तो उसके उपर्युक्त सर्व योग निर-र्थक कहे गये हैं। (गा० ३१-३२) जो साधु गुरुके समीप सायं-प्रातः आलोचना और प्रतिक्रमण करके भी अधः कर्म-परिणत आहारको ग्रहण करता है, उसे संसारका बढ़ाने वाला कहा गया है। अधःकर्म-परिणत साधु सदा कर्म-बन्ध करने वाला माना गया है। (गा० ३६-४३) इसलिए प्रति दिन निरवद्य-निर्दोष अल्प आहारका ग्रहण करना उत्तम है, परन्तु वेला, तेला आदि अनेक उपवासों को करते हुए अधःकर्म-परिणत आहारको ग्रहण करना अच्छा नहीं है (गा० ४७) अतः धर्म-साधनके योग्य भक्ति-पूर्वक दिया गया, सर्व मल-दोषोंसे रहित विशुद्ध-प्रासुक आहार ही साधुको ग्रहण करना चाहिए। (गा० ५२-५२)

जुगुप्साका त्याग आवश्यक है—

व्यवहारकी शुद्धि और परमार्थकी सिद्धिके लिए लौकिक और लोकोत्तर जुगुप्सा या अशुचिताका परिहार भी साधुको करना चाहिए। यदि साधु व्यावहारिक शुद्धि नहीं रखता, तो वह लोक-निन्दाको प्राप्त होता है और यदि परमार्थ शुद्धि नहीं रखता, तो व्रत-भंगको प्राप्त होता है। इसलिए जिस प्रकार संयमकी विराधना न हो और लोकनिन्दा भी न हो उस प्रकारसे साधुको दोनों प्रकारकी जुगुप्साओंका परित्याग करना आवश्यक है। (गा० ५१)

निमित्त कारणोंकी उपयोगिता—

कुछ लोग उपादानको ही प्रधान मानकर निमित्त कारणोंकी अवहेलना या उपेक्षा करने लगे हैं उनके लिए मूलाचार-कारका यह कथन खास तौरसे ध्यान देनेके योग्य है :—

जत्थ कसायुप्पत्तिरभत्तिंदियदारइत्थिजणबहुलं।
दुक्खमुवसग्गबहुलं भिक्खू खेत्तं विवज्जेऊ ॥५८॥

अर्थात्—जिस क्षेत्रमें कषायोंकी उत्पत्ति हो, आदरका अभाव हो, मूर्खताकी अधिकता हो, इन्द्रियोंके विषयोंकी बहुलता हो, स्त्रियोंका प्राचुर्य हो, क्लेश अधिक हों और उपसर्ग बहुत हों, ऐसे स्थानका साधु परित्याग करे।

इस उल्लेखमें कुक्षेत्र पर निवास करनेका स्पष्ट निषेध किया गया है। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अपना प्रभाव न डालते होते, तो इस प्रकार स्पष्ट रूपसे खुले शब्दोंमें कुक्षेत्रमें निवासका निषेध कैसे किया जाता? इससे ज्ञात होता है कि क्षेत्रादिक अपना-अपना असर जरूर डालते हैं।

इससे आगे और भी ग्रन्थकार कहते हैं :—

णिवदिविहूणं खेत्तं णिवदी वा जत्थ दुट्ठओ होज्ज।
पव्वज्जा च ण लब्भइ संजमघादो य तं वज्जे ॥६०॥

अर्थात्—जो देश राजासे रहित हो, अथवा जहाँका राजा दुष्ट हो, भिक्षा भी न मिले, दीक्षा ग्रहण करनेमें रुचि भी न हो और संयमका घात हो, ऐसे देशका साधु अवश्य परित्याग करे।

मूलाचार-कार इस प्रकार कुक्षेत्रके निवासका निषेध करनेके अनन्तर सुक्षेत्रके निवासका विधान करते हुए कहते हैं —

गिरिकंदरं मसाणं सुण्णागारं च रुक्खमूलं वा।
ठाणं विरागबहुलं धीरो भिक्खू णिसेवेऊ ॥५९॥

अर्थात्—गिरिकन्दरा (पर्वतोंकी गुफाएं) स्मशान भूमि, शून्यागार (सूना—खाली पड़ा हुआ मकान) और वृक्षका मूलभाग तथा जहां पर वैराग्य उत्पन्न हो वैराग्यकी वृद्धि और रक्षा हो, ऐसे विराग-बहुल स्थानको धीर वीर भिक्षु-साधु सेवन करे।

बाह्य द्रव्यका भी प्रभाव आत्मा पर पड़ता है इस बातका वर्णन करते हुए मूलाचार-कार कहते हैं :—

वड्ढदि बोही संसग्गेण तह पुणो विणस्सेदि।
संसग्गविसेसेण दु उप्पलगंधो जहा अंभो ॥६३॥

अर्थात्—उत्तम जनोंके संसर्गसे बोधि-रत्नत्रयकी प्राप्ति और वृद्धि होती है और दुर्जनोंके संसर्गसे ही बुद्धिका विनाश हो जाता है। जैसे कमलकी सुगंधके संसर्गसे जल सुगंधित एवं शीतल हो जाता है और अग्नि, सूर्यादिके सम्बन्धसे वह उष्ण और विरस हो जाता है।

यदि उपादान कारण ही बलवान होता और निमित्त-कारण कुछ भी न करते होते तो क्यों इस प्रकारसे कुक्षेत्र निवासके परित्यागका उपदेश दिया जाता और क्यों सुक्षेत्रमें निवासका विधान किया जाता?

वस्तुतः उपादानके कमजोर होने पर प्रत्येक बाह्य वस्तु सकषाय आत्मापर अपना प्रभाव डालती है और वह उससे प्रभावित भी होता है। जब कोई अभ्यासी धीरे-धीरे बुरे बाह्य कारणोंको दूर कर उत्तम बाह्य निमित्तोंको जुटाता है और उनके आधार या निमित्तसे अपने आपको संस्कारित करता है, तभी वह उत्तम उपादान शक्तिको सम्पन्न कर पाता है और ऐसी अवस्थामें ही उसके योग्य निमित्त स्वयं हाजिर रहते हैं।

एकलविहारी साधु पाप-श्रमण है—

साधुको सदा संघमें रहनेकी जिनाज्ञा है। केवल उसी साधुको अकेले विहार करनेकी आज्ञा दी गई है, जिसने कि चिरकाल तक साधु-संघमें रहकर तप और श्रुतका भली-भांति अभ्यास किया है, जो परीषह और उपसर्गोंके सहन करनेकी अलौकिक शक्ति रखता है—देश और कालका ज्ञाता है, उत्कृष्ट संहननका धारक, परम धैर्य-शाली चिरकालका दीक्षित और आगम बलका धारक है। (समा० १४९) यदि उक्त गुणोंके प्राप्त हुए विना कोई साधु आचार्य कुलको-संघको छोड़कर अकेले विहार करता है तो वह 'पापश्रमण' कहा गया है समय० ६८) मूलाचार-कार अपने समयमें ऐसे ही किसी स्वच्छन्द-विहारी साधुका वर्णन करते हुए लिखते हैं —

आयरियत्तणतुरिओ पुव्वं सिस्सत्तणं अकाऊणं।
हिंडई ढुंढायरिओ णिरंकुसो मत्तहत्थि व्व ॥९६॥

अर्थात्—कोई ढुंढाचार्य किसी साधु संगमें रहकर और शिष्यपनेका अभ्यास न करके शीघ्रतासे स्वयं आचार्य बनने की भावनासे प्रेरित होकर मदोन्मत्त हस्तीके समान निरंकुश घूमता-फिरता है।

आ० कुन्दकुन्द ऐसे स्वच्छन्द विहारी एकाकी साधुके दोष बतलाते हुए मूलाचारके समाचाराधिकारमें कहते हैं—

सच्छंद गदागदी-सयण णिसयणादाणभिक्खवोसरणो।
सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तू वि एगागी ॥१५०॥

साधु-चर्याका ध्यान न रखकर स्वतंत्रतासे गमनागमन शयन-आसन, आदान-निक्षेपण करने वाला और स्वच्छन्द होकर आहार विहार करने वाला ऐसा मेरा शत्रु भी मत हो! फिर साधुकी तो बात ही क्या है? अर्थात् साधुको कभी एकाकी नहीं रहना चाहिए।

मूलाचार-कार एकाविहारी साधुके दोष बतलाते हुए कहते हैं कि साधुके अकेले विहार करनेसे गुरुकी निन्दा होती है, श्रुतका विच्छेद हो जाता है, तीर्थकी मलिनता होती है, जड़ता-मूर्खता की वृद्धि होती है, विह्वलता और कुशीलता प्राप्त होती है। (सामा० १५१) इसलिए साधु को सदा संघ में ही रहना चाहिए।

स्वाध्यायसे लाभ—

स्वाध्याय करनेके लाभ बतलाते हुए आ० कुन्दकुन्द कहते हैं कि स्वाध्याय करनेसे मनुष्य ज्ञान-विज्ञानसे सम्पन्न होता है, कषाय और गारवसे उन्मुक्त होता है और सद्ध्यानमें तल्लीन रहता है जिससे कि वह अल्पकालमें ही संसारसे पार हो जाता है। स्वाध्याय करते समय मनुष्यकी इन्द्रियां अपने विषयोंमें प्रवृत्त नहीं होतीं, अतः इन्द्रियों पर सहजमें ही विजय प्राप्त होता है। मन, वचन कायकी चंचलता रुकनेसे वह तीन गुप्तियोंका भी धारक बन जाता है और स्वाध्यायमें तन्मय हुए साधुका चित्त भी सहजमें एकाग्र हो जाता है। स्वाध्याय की महिमाका गान करते हुए मूलाचार-कार कहते हैं—

बारसविधम्हि य तवे सब्भंतर बाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि णवि य होहदि सज्झायसमं तवोकम्मं॥८९॥

अर्थात्—जिनेन्द्र-उपदिष्ट बाह्य-आभ्यन्तर बारह प्रकारके तपोंमें स्वाध्यायके समान परम तप न अन्य है और न होगा। इसलिए साधुको सदा स्वाध्यायमें निरत रहना चाहिए।

अनन्त संसारके कारण—

जीवको अनादि कालसे आज तक संसारमें परिभ्रमण कराने वाले राग द्वेष हैं और इनकी उत्पत्ति जिह्वा और उपस्थ (स्पर्शन) इन्द्रियके निमित्तसे होती है। इन दोनों इन्द्रियोंके वश होकर ही यह जीव अनन्त दुःखोंको भोगता चला आरहा है, इसलिए इन्हें जीतनेका भर-पूर प्रयत्न करना चाहिए। (९६-९८) मूलाचार कार कहते हैं कि चित्र-गत भी स्त्रीरूपके दर्शनसे मनुष्यके हृदयमें क्षोभ उत्पन्न हो जाता है, इसलिए उसे अपने ब्रह्मचर्य की रक्षाके लिए माता, बहिन, बेटी, मूका, गूंगी और वृद्धा स्त्रियों तकके संपर्कसे सदा दूर रहना चाहिए; क्योंकि पुरुष घी से भरे हुए घड़ेके सदृश होता है और स्त्री जलती हुई अग्निके समान होती है। इन दोनोंके संसर्गमात्रसे मनुष्योंका हृदय द्रवित हो उठता है। अनेक योगी स्त्री-सम्पर्कसे भ्रष्ट हो चुके हैं, इसलिए कुरूपा सुरूपा सभी प्रकार की स्त्रियोंसे सदा दूर रहना चाहिए (९९-१००)।

अब्रह्मके कारण—

यद्यपि मनुष्य तीव्र चारित्र-मोहोदय के उदयसे ही अब्रह्ममें (स्त्री-पुरुषसम्बन्धी विषय-सेवनमें) प्रवृत्त होता है, तथापि उसके कारणभूत द्रव्यों पर भी मूलाचार-कारने प्रकाश डाला है। उन्होंने अब्रह्मके दश द्रव्य कारण बतलाये हैं, जो इस प्रकार हैं:—१ विपुल-आहार-अधिक मात्रामें आहार ग्रहण करना, २ काय-शोधन—स्नान, तैल मर्दनादि राग वर्धक राग-कारणोंसे शरीरका संवारना, शृंगार करना, ३ सुगन्धित माला धारण करना, इत्रादि लगाना, ४ गीत-वादित्रादि सुनना, ५ शयन-शोधन—कोमल शय्या रखना शयनागार को काम वर्धक चित्रोंसे सजाना, ६ स्त्री-संसर्ग—राग बहुल स्त्रियोंके साथ संपर्क रखना, ७ अर्थ-ग्रहण—रुपया-पैसा रखना, रत्न सुवर्णादि के आभूषण और उत्तम वस्त्रादि रखना, ८ पूर्व-रति-स्मरण—पूर्वकालमें भोगे हुए भोगोंका स्मरण करना, ९ इन्द्रिय-विषयरति—पांचों इन्द्रियोंके विषयोंमें रति या प्रीति रखना, और १० प्रणीत रस-सेवन—गरिष्ठ और पौष्टिक रसोंका सेवन करना। मूलाचार-कारने इन दशों ही द्रव्य कारणों को ब्रह्मचर्यका घातक एवं संसारके महा-

दुःखोंका प्रधान कारण कहा है। इनमेंसे साधुओंके साधारणतः नं० २, ३, ४, ५, ६, ७, के कारणोंका तो त्याग होता ही है, क्योंकि वे बाह्य पदार्थोंसे सम्बन्ध रखते हैं नं० ८ और ९ के कारण मनसे सम्बन्ध रखते हैं, तथा नं० १ और १० के कारण भोजनसे सम्बन्ध रखते हैं। यदि साधु नीरस और अल्प-भोजी है, तब तो उसके सहजमें ही ब्रह्मचर्यका साधन संभव है। पर यदि वह सरस, गरिष्ठ और विपुल भोजी है, तब उसके ब्रह्मचर्यका पालन होना संभव नहीं। यदि साधुने नं० १ और १० के इन दोनों अब्रह्मके द्रव्य-कारणोंका सर्वथा त्याग कर दिया है, तो शेष आठ मध्यवर्ती कारणोंका उसके सहजमें ही त्याग संभव है। अतः साधुको नीरस और अल्पभोजी होना ही चाहिए। (१०५-१०७)

पूर्ण-श्रमण—

जो अन्तरंग १४ प्रकारके और बहिरंग १० प्रकारके परिग्रहसे रहित हो सर्व प्रकारके आरंभोंका त्यागी हो, पाँच समिति और त्रिगुप्तिसे युक्त हो, भिक्षावृत्तिसे शुद्धचर्या करने वाला हो, व्रत, गुण और शीलसे संयुक्त हो, शुद्ध भावोंका धारक हो हितमित-प्रिय-भाषी हो, एकाग्र होकर ध्यान और अध्ययनमें रत हो और अत्यन्त सावधान होकर जीव रक्षामें तत्पर हो, वह सर्व गुण-सम्पन्न पूर्ण श्रमण कहा गया है। (१०८ से ११५)

ऐसा सर्वगुण-सम्पन्न और सर्व-दोष रहित श्रमण ही सिद्धिको प्राप्त करता है। यही समयसार है और इसका प्रतिपादन करना ही समयसाराधिकारका प्रयोजन है।

मूलाचारके कर्तृत्व पर नया प्रकाश

मूलाचार आ० कुन्दकुन्द-रचित है, यह बात अनेकांत के विगत दो अंकों द्वारा स्पष्ट कर दी गई है। फिर भी विद्वान् लोग इस विषयको स्पष्ट उल्लेखों द्वारा पुष्ट करनेके प्रमाणोंके लिए उद्योग-शील रह रहे हैं। हमने इस विषयमें विशेष जानकारीके लिए कुछ पुराने शास्त्रभंडारों के व्यवस्थापकोंको छान-बीनके लिए प्रेरणा की। जिसके फलस्वरूप मूडबिद्री स्थित श्री० पं० लोकनाथजी शास्त्री सरस्वती-भंडारके व्यवस्थापक श्री पं० एस० चन्द्रराजेन्द्र शास्त्रीने वहांके जैनमठके मूलाचारकी ताड़पत्रीय प्रतिका एक उल्लेख हमारे पास भेजा है, जिससे यह भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि मूलाचार आ० कुन्दकुन्द-रचित ही है।

मूलाचारके ताड़पत्रीय ग्रन्थ नं० ५६ के अन्तमें वसुनन्दी टीका समाप्त होनेके अनन्तर यह निम्न-लिखित पद्य पाया जाता है:—

मूलाचाराख्यशास्त्रं वृषभजिनवरोपज्ञमर्हत्प्रवाहा—
दायातं कुन्दकुन्दाह्वयचरमलसच्चारणैस्सुप्रणीतम्।
तद्व्याख्यां वासुनन्दीमबुधविलिखनात्तावमानायासभक्त्या,
(?) संशोध्याध्येतुमर्हामकृतयति कृति (?)······॥२०५॥

इस पद्यके चतुर्थ चरणका आधा भाग त्रुटित है' एवं दो एक स्थल संदिग्ध हैं, तथापि इसमें इतना तो स्पष्ट ही लिखा है कि—'यह मूलाचार नामक शास्त्र आदि जिनेन्द्र वृषभनाथके द्वारा उपदिष्ट है और वह परम्परा-प्रवाहसे आकर आ० कुन्दकुन्दको प्राप्त हुआ। उसे दिव्य चारणऋद्धि धारकोंमें अन्तिम आ० कुन्दकुन्दने रचा। उसकी व्याख्या आ० वसुनन्दिने की, उसमें जो प्रमादजन्य भूलें हुई हों, उन्हें शास्त्र-वेत्ता संशोधन करके अध्ययन करें। ॥ २०५ ॥

इस पद्य-प्रमाणके उपलब्ध होनेसे यह और भी दृढ़ हो जाता है कि मूलाचार आ० कुन्दकुन्दके द्वारा ही रचा गया है।

—हीरालाल शास्त्री

दिल्ली और उसके पाँच नाम

(पं० परमानन्द जैन शास्त्री)

भारतीय इतिहासमें दिल्लीका महत्व-पूर्ण स्थान रहा है और वर्तमानमें भी उसकी महत्ता कम नहीं है; क्योंकि दिल्लीको भारतवर्षकी राजधानी होनेका अनेक बार गौरव प्राप्त हुआ है और वर्तमानमें भी वह स्वतन्त्र भारतकी राजधानी है। दिल्लीने अनेक बार उत्थान और पतनकी पराकाष्ठाके वे नंगे-चित्र देखे हैं—दिल्लीके उजाड़ने और पुनः बसाने तथा कत्लेआमके वे भीषणतम दृश्य देखे और सुने हैं जिनका चिन्तन और स्मरण भी आज अत्यन्त लोम-हर्षक है। जब हम इसकी समृद्धि और असमृद्धिका विचार करते हैं तब हमें संसारकी परिवर्तन-शीलताका स्वयं अनुभव होने लगता है।

दिल्लीको कब और किसने बसाया यह एक प्रश्न है, जिस पर ऐतिहासिक विद्वान अभी तक एकमत नहीं हैं। दिल्लीकी महत्ता ही उसके विविध नामोंकी सूचिका है। जैनसाहित्यमें दिल्लीके विविध नामोंका उपयोग किया गया है। खासकर 'ढिल्ली', जोइणिपुर' (योगिनीपुर) दिल्ली और जहानाबाद नामोंका उल्लेख जैनसाहित्यमें ग्रन्थ-गत प्रशस्तियों, मूर्तिलेखों और शिलालेखोंमें पाया जाता है जिनका परिचय दिल्लीके तोमर-कालीन कुछ ऐतिहासिक कथनके बाद किया जायगा।

अबुलफजल सं० ४२९ में और फरिश्ता सन् ६२० में दिल्लीका बसाया जाना मानता है १। परन्तु प्रायः सभी ऐतिहासिक विद्वान् दिल्लीको तोमरवंश द्वारा बसाए जानेका उल्लेख करते हुए पाए जाते हैं। कनिंघम साहब सन् ७३६ में अनंगपाल (प्रथम) द्वारा दिल्लीके बसाए जानेका उल्लेख करते हैं २। प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता स्वर्गीय ओझाजी भी द्वितीय अनंगपालको उसका बसाने वाला मानते हैं ३। और पण्डित जयचन्द्र विद्यालंकार सन् १०२० में अनंग-पाल नामके एक तोमर सरदार द्वारा दिल्लीके संस्थापित होनेका समुल्लेख करते हैं ४।

देहली म्यूजियममें सं० १३८४ का एक शिलालेख है उसके निम्न वाक्यमें तोमर या तम्बरवंशियों द्वारा दिल्लीके निर्माण किये जानेका स्पष्ट उल्लेख अंकित है:—

'देशोऽस्ति हरियानाख्यो पृथिव्यां स्वर्गसन्निभः।
ढिल्लिकाख्या पुरी तत्र तोमरैरस्ति निर्मिता॥'

उक्त पद्य-गत तोमर या तम्बर शब्द एक प्रसिद्ध क्षत्रिय जातिका सूचक है। जो तोमरवंशके नामसे लोकमें प्रसिद्ध है। इस वंशके राजा अनंगपाल (प्रथम) ने दिल्लीको बसाया और द्वितीय अनंगपालने इसका समुद्धार किया। द्वितीय अनंगपालको दिल्लीका बसानेवाला या संस्थापक मानने पर अनेक आपत्तियाँ आती हैं। और नहीं तो कमसेकम मिसराती मसैऊदीके इस कथनको तो गलत ठहराना ही पड़ेगा कि सालारमसऊदने सन् १०२७ से सन् १०३० के मध्यमें दिल्ली पर चढ़ाई की थी, उस समय वहाँका राजा महीपाल था जिसके पास उस समय भारी सैन्य और बहुतसे हाथी भी थे और जिसका पुत्र गोपाल लड़ाईमें मारा गया था ५।

जनरल कनिंघमके समान ही पं० लक्ष्मीधर वाजपेयी भी तोमरवंशके अनंगपाल प्रथमको दिल्लीका मूल संस्थापक लिखते हैं जिसका राज्याभिषेक सन् ७३६ में हुआ माना जाता है। उसने सबसे प्रथम दिल्लीमें राज्य किया और उसके बाद उसके वंशज कन्नौज चले गए, वहाँसे उन्हें चन्द्रदेव राठौड़ने भगा दिया था। इसके बाद दूसरा अनंगपाल दिल्लीमें आया और वहां उसने अपनी राजधानी बनाई ×। पुनः नूतन शहर बसाया और उसकी सुरक्षाके लिए कोट भी बनवाया था। कुतबमीनारके आस-पास प्राचीन इमारतोंके जो पुरातन अवशेष एवं चिन्ह देखे जाते हैं वे सब अनंगपाल द्वितीयकी राजधानीके माने जाते

---

१ देखो, टाड राजस्थान पृ० २२७, ओझाजी द्वारा सम्पादित।

२ देखो, आर्किओलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया By जनरल कनिंघम पृष्ट १४१।

३ देखो, टाड राजस्थान हिन्दी पृ० २३०।

४ इतिहास प्रवेश प्रथम भाग पृ० २२०

५ टाडराजस्थान हिन्दी सं० पृ० २३०

× देखो, दिल्ली अथवा इन्द्रप्रस्थ पृ० ६

है। इसके राज्य-समयका एक शिलालेख भी मिला है जिसमें लिखा है कि—'संवत् ११०६ दिल्ली अनंगपाल वही।' साथ ही कुतुबमीनारके पास अनंगपालके मन्दिरके एक स्तम्भ पर इसका नाम भी उत्कीर्ण किया हुआ मिला है १।

इस उल्लेखसे प्रकट है कि अनंगपाल द्वितीयने दिल्ली-का पुनरुद्धार किया था और उसे सुन्दर महलों, मकानातों, तथा धन-धान्यादिसे समृद्ध भी बनाया था। सम्भवतः इसी कारण उसके सम्बन्धमें दिल्लीके बसाये जानेकी कल्पनाका उद्गम हुआ जान पड़ता है।

द्वितीय अनंगपालके राज्याभिषेकका समय जनरल कनिंघम साहबने सन् १०५१ (वि० सं० ११०८) दिया है और राज्यकाल २६ वर्ष छह महीना, अठारह दिन बतलाया है। अतएव इसका राज्य समय सन् १०५१ (वि० सं० ११०८) से सन् १०८१ (वि सं० ११३८) के करीब पाया जाता है। यदि इसके राज्यका उक्त समय सुनिश्चित है तब उसके पश्चात् दिल्ली पर अन्य किसने शासन किया, यह कुछ ज्ञात नहीं होता। पर तोमर वंशका शासन उस समय तक दिल्लीमें रहा है।

भारतीय इतिहासका अवलोकन करनेसे तो यह ज्ञात होता है कि सन् १०१० से सन् १०४२ या इस समयके १०-२० वर्ष पूर्वोत्तरवर्ती समयमें भारतीय राजाओंकी संगठन-शक्ति शिथिल हो चुकी थी और विदेशी यवन लोग भारतकी समृद्धिको विनष्ट कर उस पर छा जाना चाहते थे। ग़ज़नीके सुलतान महमूदने सन् १०१० से पूर्व भारत पर अनेक आक्रमण किये थे और सन् १०११ में उसने थानेश्वर पर भी आक्रमण करनेका इरादा किया था। थानेश्वर उस समय सम्भवतः दिल्ली राज्यका ही एक भाग था। वहाँके शासकने इधर उधर दौड़ धूप कर सहायता प्राप्त करनेका भारी प्रयत्न किया, परन्तु उसके पूर्व ही उस पर महमूदने आक्रमण कर दिया और उसे बुरी तरहसे लूट खसोट कर अपने खजानेकी श्रीवृद्धि की। उसके बाद वह इतना बलशाली बन गया कि कन्नौजके सम्राट्को भी उसकी अधीनता स्वीकार करनेके लिये बाध्य होना पड़ा।

१ देखो, टाड राजस्थान पृ० २२७ ओझाजी द्वारा सम्पादित तथा राजपूतानेका इतिहास प्रथम जिल्द पृष्ठ २३४

महमूदके पुत्र मसूदसे भी तोमरवंशी राजाओंको अनेक युद्ध करने पड़े। तथा ममूदके प्रान्ताधिपति अहमद-नियाल्तिगीनने सन् १०२४ में बनारसको लूटा था और वहांकी जनताको भारी परेशान किया था *। भिरसेका घेरा स्वयं मसूदने डाला था और उसने सन् १०३८ (वि० सं० १०९५) के लगभग हाँसीके उस महान् सुदृढ़ दुर्गको भी अधिकृत कर लिया था ×। उसने अपने पुत्र मजदूदको भारतका प्रान्ताधिपति बनाया था। उसके बाद मजदूदने थानेश्वर पर भी कब्जा कर लिया और हाँसी पर घेरा डाल कर वह दिल्ली पर कब्जा करनेके लिये आक्रमण करना ही चाहता था कि मसूदके उत्तराधिकारी मजदूदसे किसी कारणवश अनबन हो गई, अतः उसे सेना सहित लाहौर वापिस लौटना पड़ा। जहाँ पर सन् १०४२ (वि० सं० १०९९) में उसकी मृत्यु हो गई १।

तोमरवंशी राजा महीपालने मुसलमानोंसे हाँसी और थानेश्वरके किले पुनः वापिस ले लिये। इतना ही नहीं, किन्तु उसने काँगड़े पर भी कब्जा कर लिया २। वह लाहौर पर भी कब्जा करना चाहता था, पर उसमें सफलता मिलती न देख कर वह दिल्ली वापिस लौट आया। तोमरवंशी राजाओंको केवल यवनोंसे ही युद्ध नहीं करना पड़ा; किन्तु चौहान वंशी राजाओंसे भी अनेक युद्ध करने पड़े हैं ३ और हानि उठानी पड़ी। यह सब घटनाचक्र

* बंगाल एशियाटिक सोसाइटी पत्रिका भाग ४२ पृ० १०४ से ११।

× केंब्रिज हिस्टरी आफ इंडिया, भाग ३ पृ० ३०

१ केंब्रिज हिस्टरी आफ इंडिया भाग ३ पृ० ३०

२ देखो, डा० दशरथ शर्मा एम० ए० का 'दिल्लीका तोमर राज्य' नामका लेख।

३ जैसा कि सन् ९७३ (वि० सं० १०३०) की उत्कीर्ण की हुई हर्षनाथ मन्दिर-प्रशस्तिके निम्न पद्यसे प्रकट है :—

······तोमरनायकं सलवणं सैन्याधिपत्योद्धतं,
युद्धे येन नरेश्वराः प्रतिदिशं निर्णाशिता जिष्णुना।
कारावेश्मनि भूर्यश्च विधृतास्तावद्धि यावद्गृहे,
तन्मुक्त्यर्थमुपागतो रघुकुले भूचक्रवर्ती स्वयं॥

इसमें सन् ९७३ आषाढ़सुदि १५ को सांभरके राजा

इस बातका द्योतक है कि उस समय भारतीय राजाओंको अपने राज्यकी सुरक्षाके लिये यवनादि विदेशियोंसे अनेक युद्ध आदि करके भी रक्षा करनी पड़ती थी। इनके परस्परमें भी अनेक हुए, जो उनकी संगठित शक्तिकी शिथिलताके सूचक हैं।

विग्रहराज (बीसलदेव चतुर्थ) ने दिल्लीको विजित कर उसे अपने राज्यका एक सूबा बनाया था। दिल्लीकी प्रसिद्ध फीरोजशाहकी लाट पर अशोकके धर्माज्ञाओंके नीचे शिवालिक स्तम्भ पर उत्कीर्ण किये हुए सन् ११६३ (वि० सं० १२२०) के वैशाख शुक्ला १५ के शिलावाक्यमें यह बतलाया गया है कि— चौहान वंशी राजा बीसलदेव (चतुर्थ) ने तीर्थयात्राके प्रसंगको लेकर विन्ध्याचलसे हिमालय तकके प्रदेशोंको जीतकर कर वसूल किया और आर्यावर्तसे म्लेच्छोंको निकालकर पुनः आर्यभूमि बनाया *। सं० १२२६ में उत्कीर्ण हुए बिजोलियाके एक शिलालेखमें यहाँ तक लिखा है कि दिल्ली लेनेसे श्रान्त (थके हुए) और आशिका (हांसी) के लाभसे लाभान्वित हुए विग्रहराजने अपने यशको प्रतोली और बलभीमें विश्रान्ति दी—वहां उसे स्थिर किया ×। इन दोनोंमें से प्रथम शिलावाक्यसे इतना तो सुनिश्चित है कि वि० सं० १२२० से पूर्व विग्रहराजने देहली पर कब्जा कर लिया था।

दिल्लीकी राजावलीमें सं. १२१६ में चौहानवंशका दिल्ली पर अधिकार करना लिखा है। +

स्वर्गीय महामना ओझाजीने सं० १२०७ के लगभग चौहानोंका दिल्ली पर कब्जा करना लिखा है *। पर वह राजावली और उस समयकी स्थितिको देखते हुए ठीक नहीं जँचता। हो सकता है कि वह सं० १२०७ और सं० १२१६ के मध्यमें किसी समय हुआ हो। अस्तु,

अब सोचना यह है कि सन् १०८१से (वि० सं० ११३८) सन् ११६२ (वि. सं. १२१६)के मध्यवर्ती समयमें देहलीपर किस-किसने शासन किया है। ऐतिहासिक विद्वानोंने इस सम्बन्धमें कोई निश्चित इतिवृत्तका विवरण दिया हो ऐसा मुझे अद्यावधि ज्ञात नहीं हुआ। हो सकता है कि वह मेरे देखनेमें नहीं आया हो। परन्तु दिल्लीकी राजावलीसे तो इतना स्पष्ट जाना जाता है कि दिल्ली पर सं० १२१६ के आस-पास तक तोमरवंशका शासन रहा है परन्तु उसमें राजाओंके जो नाम दिए हुए हैं उन सबका अभी तक दूसरे प्रमाणोंसे पूरा समर्थन नहीं हुआ है। इसी कारण मध्यवर्ती समयकी कड़ीका सम्बन्ध जोड़नेके लिए आनन्द मस्तककी भी कल्पना की गई। जिसका निरसन ओझाजीने किया है। अस्तु, इन तोमर शासकोंके नाम इस प्रकार हैं—१ रावलु तेजपाल, २ रावलु मदनपाल, ३ अनंगपाल) रावलु कुतपाल, ४ रावल लखणपालु, ५ और पृथ्वीपालु।

इन नामोंमें कुछ परिवर्तन भी हुआ है। प्रस्तुत मदनपालका नाम ही अनंगपाल (तृतीय) जान पड़ता है। इसी तरह कुतपालका नाम रावलु कुंवरपाल ज्ञात होता है। इन राजाओंके असली नाम क्या थे और उन्होंने कितने समय तक दिल्लीमें राज्य किया है यह सब बातें अभी विचारणीय हैं।

यहाँ पर इतना जान लेना और भी आवश्यक प्रतीत होता है कि अनंगपाल नामके एक तोमरवंशी राजाका समुल्लेख सं० ११८९ में रचे जाने वाले कविवर श्रीधरके पार्श्वपुराणमें हुआ है जो उस समय देहली में ही रचा गया है। उसमें अनंगपाल नामके राजाका ही स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु उसके राज्य, राजधानी और

विग्रहराजके पिता सिंहराजके तोमरवंशी राजा सलवणको पराजित करने और मारनेका उल्लेख किया गया है।

—एपिग्राफिया इंडिका जि० २ पृ० १२२

* आविन्ध्यादाहिमाद्रे र्विरचितविजयस्तीर्थयात्रा प्रसंगादुद्ग्रीवेषु प्रहर्तान्नृपतिषु विनमत्कन्धरेषु प्रपन्नः। आर्यावर्तं यथार्थं पुनरपि कृतवान्म्लेच्छविच्छेदनाभिर्देव शाकंभरीन्द्रो जगति विजयते बीसलः क्षोणिपालः॥

ब्रूते सम्प्रति चाहुवाणतिलकः शाकंभरीभूपतिः।
श्रीमान् विग्रहराज एष विजयी सन्तानजानात्मनः॥
अस्माभिः करदं व्यधायि हिमवद्विन्ध्यान्तरालं भुवः।
शेषं स्पष्टीकरणायमास्तु भवतामुद्योगशून्यं मनः॥

—इण्डियन एण्टीक्वेरी जिल्द १६ पृष्ठ २१८

× देखो अनेकान्त वर्ष ११ पृष्ठ ३६२।

+देखो अनेकान्त वर्ष ८ किरण ३ पृष्ठ ११ पर प्रकाशित दिल्ली और दिल्लीकी राजावली नामका मेरा लेख।

ऐश्वर्यका भी संक्षिप्त परिचय इस प्रकार दिया हुआ है:—

"असंख्य गांववाले हरियाना देशमें दिल्ली नामक एक नगर था, वह सुदृढ आकार वाले उच्च गोपुरों, आनन्द दायक मन्दिरों और सुन्दर उपवनोंसे अलंकृत था। उसमें असंख्य घोड़े, हाथी और सैनिक थे, वह अनेक नाटकों और प्रेक्षागृहोंसे सम्पन्न था, वहाँ उत्तम तलवारोंसे शत्रु-कपालोंको भग्न करने वाला अनंगपाल नामका एक राजा था। उसने वीर हम्मीरके दलको बढ़ाया था और बन्दी जनोंको वस्त्र प्रदान किये थे।"*

इससे स्पष्ट है कि १२वीं शताब्दीके अंत तक तो दिल्ली पर तोमरवंशक राजाओंका ही शासन रहा है। तृतीय अनंगपालके बाद तोमरवंशके अन्य किन किन शासकोंने कब तक दिल्ली पर शासन किया है यह अन्वेषणीय है। दूसरे सूत्रोंसे यह जाननेमें आता है कि मदनपालका सं० १२२३ में स्वर्गवास हुआ है, जो दिल्लीका शासक था। दिल्ली पर चौहानोंका अधिकार हो जाने पर भी शासक तोमर ही रहे जान पड़ते हैं। उनके बाद कुछ वर्ष चौहान राजाओंने भी राज्य किया है इस तरह दिल्लीका तोमर-वंश-सम्बन्धी इतिहास अभी बहुत कुछ अन्धकारमें है।

दिल्लीका सबसे प्राचीन नाम 'इन्द्रप्रस्थ' है। कहा जाता है कि दिल्लीका यह नाम उस समयका है जब पाण्डवोंका राज्य दिल्लीमें था। दिल्लीमें पाण्डवोंके राज्य होनेका उल्लेख महाभारतमें पाया जाता है उस समय उसका नाम इन्द्रप्रस्थ' या 'इन्द्रपुरी' था। पर उसके बाद दिल्लीके अन्य नामोंका प्रचार कब और किसने किया यह अभी तक अन्वेषणीय ही है।

प्राचीन उल्लेखोंसे पता चलता है कि दिल्ली 'हरियाना' नामके देशमें थी और आज भी दिल्लीके आस-पासके प्रदेशका हरियाना नामसे उल्लेख किया जाता है। विक्रमकी १२वीं शताब्दी (सं० ११८६) के विद्वान् कवि श्रीधरने अपने अपभ्रंश भाषाके पार्श्वनाथ चरित्रमें हरियाना देशको असंख्य ग्रामोंसे युक्त, जन-धनसे परिपूर्ण बतलाया है। उसी हरियाना देशकी राजधानी 'दिल्ली' बतलाई गई है जो यमुना नदीके किनारे पर बसी हुई थी, उसका प्रशासक अनंगपाल नामका एक राजा था, नट्टल साहू नामक एक दिगम्बर श्रावक उसका प्रधान मन्त्री था और उसकी प्रेरणासे कविवर श्रीधरने उक्त चरित ग्रन्थकी रचना की थी। इससे स्पष्ट है कि 'दिल्ली' शब्दका प्रयोग सं० ११८६ से पूर्व किया जाने लगा इससे पूर्वके साहित्यमें उक्त शब्दका प्रयोग मेरे देखनेमें नहीं आया। हां, बादके साहित्यमें इस शब्दका प्रयोग अवश्य देखनेमें आता है। उदाहरणके लिये संवत् १२८४ के देहली म्यूजियममें स्थित शिला-लेखके 'ढिल्लिकाख्या पुरी तत्र तोमरैरस्ति निर्मिता वाक्यमें उपलब्ध होता है। १४वीं शताब्दीके रासा साहित्य और गुर्वावली आदिमें भी 'ढिली' और 'ढिल्लिय' जैसे शब्दोंका प्रयोग देखनेको मिलता है।

* कहा जाता है कि राजा समुद्रगुप्तने जो लोहेकी एक विशाल लाट गड़वाई थी, बादको उस लाटकी स्थिरतासे अपने राज्यकी स्थिरताकी बात किसी ब्राह्मण विद्वान्से ज्ञात कर राजा अनंगपालने उसकी परीक्षाके लिये उसे उखड़वाया और देखा तो मालूम हुआ कि उस लाटके किनारे पर खून लगा हुआ है अतः राजाने उस विद्वान्की बातको सच मानकर उसको पुनः गड़वाया, परन्तु अबकी बार वह कीली उतनी नीचे तक नहीं जा सकी जितनी कि पहले चली गई थी। अतएव उस कीलीके ढीली रह जानेसे इसका नाम 'ढीली' या ढिल्ली पड़ा है। इस लोकोक्तिमें क्या कुछ रहस्य है और वह सत्यके कितने नजदीक है, यह अवश्य विचारणीय है।

फरिश्ता कहता है कि 'वहां की मिट्टी नरम है उसमें

*हरियाणए देसे असंखगाम, गामियजण जणिअणवरय काम
परचक्क विहट्टणु सिरिसंघट्टणु जो सुरवइणा परिगणियं।
रिउ रुहिरावट्टणु विउलु पवट्टणु ढिल्ली नामेण जि भणियं।
× × ×
जहि असिवर तोडिउ रिउ कपालु। णरणाहु पसिद्ध अणंगवालु
णिरुदलवड्ढिय हम्मीर वीरु। वंदियणविंद पवियण्ण चीरु॥
—पार्श्वपुराण प्र०

ॐ देखो, ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रहमें प्रकाशित संवत् १३८४ के पृ० ११ और १३ में जिनप्रभसूरि-गीतमें 'ढिल्लिय और ढोलिय' शब्दोंका प्रयोग हुआ मिलता है। खरतरगच्छकी पिप्पल शाखाकी 'गुरु पट्टावली चउपइ' के ६वें पद्यमें ढिल्ली शब्दका प्रयोग अङ्कित है। इन उल्लेखों-से स्पष्ट है कि ढिल्ली शब्दका प्रयोग भी जैन साहित्यमें अधिक मिलता है, परन्तु वह सं० ११८६ से पूर्वका नहीं मिलता है।

कठिनाईसे मेख (कील) हट गई सकती है। इसीसे इसका नाम 'ढीली' रक्खा गया है।

दिल्लीका तीसरा नाम 'जोइणिपुर' या 'योगिनीपुर' है। इन दोनों नामोंका उल्लेख अपभ्रंश और संस्कृत जैनसाहित्य तथा ग्रन्थ-लेखक प्रशस्तियोंमें प्रचुरतासे मिलता है। 'जोइणिपुर' शब्द अपभ्रंश साहित्यमें ही पाया जाता है और संस्कृतमें 'योगिनीपुर' उल्लिखित मिलता है। योगिनीपुरका उल्लेख अनेक स्थलों पर पाया जाता है जिनमें संवत् १३२१ का उल्लेख सबसे प्राचीन जान पड़ता है। वह इस प्रकार है:—

'संवत् १३२१ चैत्रसुदि दशम्यां बुधवासरे अद्येह योगिनीपुरे समस्त राजावलीसमालंकृत-श्रीगयासदीनराज्ये अत्रस्थित अग्रोतक परम श्रावक जिन चरणकमल ...' यह लेखक प्रशस्ति आचार्य कुन्दकुन्दके पंचास्तिकाय नामक ग्रन्थ की है।

सं० १३६५ के एक शिलालेखमें, जो गयासुद्दीन तुग़लकके समय हिजरी सन् ७२५ में फारसीमें लिखा गया है दमोहके पास वटियागढ़में मिला था, उसमें लिखा है कि—'कलियुगमें वसुधाधिप शकेन्द्र (मुसलमान बादशाह) है जो योगिनीपुर (दिल्ली) में रह कर समस्त पृथ्वीका भोग करता है और जिसने सागरपर्यन्त राजाओंको वशमें किया है उस शूर वीर सुलतान महमूदका कल्याण हो ।' इनके अतिरिक्त निम्न संवतोंकी लेखक-प्रशस्तियाँ भी 'योगिनीपुर' में लिखी गई हैं। सम्वत् १३८१ १३९९ १४१६, १४३६, १४४६, १४६१, १४९२, १४८८ और १५१७ आदि। श्वेताम्बरीय ग्रंथोंकी लेखक-पुष्पिकाएँ भी योगिनीपुरमें लिखी हुई उपलब्ध हैं जिनके दो उल्लेख इस प्रकार हैं—सम्वत् १५८४ में 'तन्दुलवैतालीसूत्र' योगिनीपुरमें लिखा गया है। दूसरा 'निरयावलीसूत्र' सम्वत् १६४४ में योगिनीपुरमें लिखा गया है। इन सब उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि योगिनीपुरका नामोल्लेख जैनसाहित्यमें बाहुल्यतासे पाया जाता है। योगिनीपुरका उल्लेख केवल ग्रन्थ-प्रतियोंकी प्रतिलिपियोंमें ही नहीं किया गया है किन्तु दिल्लीमें अनेक ग्रन्थकार भी हुए हैं जिन्होंने उक्त नामोंका उल्लेख किया है।

जोइणिपुरका सबसे पुरातन उल्लेख हमें सम्वत् १३६५ में महाकवि पुष्पदन्तके यशोधरचरित्रमें कौलका प्रसंग, राजा यशोधरका विवाह और भवांतर नामके प्रकरणोंको कण्हके पुत्र गन्धर्व द्वारा वीसलसाहुकी प्रेरणासे शामिल किया गया था। भट्टारक यशःकीर्तिके पाण्डवपुराण और हरिवंशपुराणमें जोइणिपुरका उल्लेख हुआ है जिनकी रचना सम्वत् १४९७ और १५०० में हुई है। इसके बाद कवि रइधूके ग्रन्थोंमें भी 'जोइणिपुरका उल्लेख पाया जाता है।

चौथा नाम दिल्ली है। कहा जाता है कि 'दिलु' नामके राजाके कारण इस नगरका नाम दिल्ली हुआ है ※। पर दिलु राजा कौन था और वह कब हुआ है, उसने दिल्लीका नाम-करण कब किया यह भी विचारणीय है। जहाँ तक मेरा खयाल है ढिल्लीसे ही दिल्लीकी कल्पना हुई जान पड़ती है।

दिल्लीका पाँचवा नाम जहानाबाद भी देखनेमें आता है, जिसका नामकरण शाहजहांके नाम पर हुआ कहा जाता है विक्रमकी १७ वीं १८ वीं शताब्दीके ग्रन्थों और ग्रन्थ-प्रशस्तियों मे भी 'जहानाबाद' नामसे दिल्लीका उल्लेख किया गया है।

आशा है अन्वेषक विद्वान् दिल्लीके पांच नामोंके विषय में और भी प्रकाश डालनेका यत्न करेंगे।

※ अस्तिकलियुगे राजा शकेन्द्रो वसुधाधिपः।
योगिनीपुरमस्थाय यो भुंक्ते सकलां महीम् ॥
सर्वसागरपर्यन्तं वशीचक्रे नराधिपान्।
महमूद सुरत्राणो नाम्ना शूरोऽभिनन्दतु ॥
—देखो, नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ४४ अंक १ में मध्य प्रदेशका इतिहास नामका लेख।

※ देखो, दिल्ली दिग्दर्शन पृ० १५

(श्री मनु ज्ञानार्थी साहित्यरत्न)

अभी दिनकरकी स्वर्णिम रश्मियाँ धरती पर उतर भी न पायी थीं कि सोमशर्माका प्राङ्गण वेद-मन्त्रोंसे गूँज उठा सोमशर्मा देवविमानोंसे भी स्पर्द्धा करने वाले देवकोटपुरका महापण्डित है। वह वेदोंका पारगामी और स्मृतियोंका उद्भट विद्वान है। घरमें सोमिला जैसी कुलीन और चरित्रवान पत्नी है। अग्निभूत और वायुभूत जैसे सुन्दर पुत्र हैं। सांसारिक जीवन मन्थर गतिसे चल रहा है। न अधिक पाने की चाह है और न कम पानेका असन्तोष।

मन्त्रोंके रस प्रवाहमें समागत जन गद्गद् हो उठे। शनैःशनैः स्वाध्याय समाप्त होने लगा नागरिक आशिष ले ले कर जाने लगे। सोमशर्मा आसनसे उठा और भोजन-भवनमें प्रवेश किया। उसने देखा सोमिलाकी आकृति पर विषादकी रेखायें गहरी हो गई हैं। भोजन थालमें परोस रही है, पर मानो वह एक यन्त्र है जो बस चल रहा है।

सोमशर्मा बोले—'देवि! मेरे रहते आकृति पर विषाद कैसा? जीवनमें जड़ता क्यों आती जा रही है पल-पलमें?''

सोमिला पतिकी कठिनाइयोंसे परिचित है। अभावोंमें भी उसने मुस्कराना सीखा है। पतिकी मानसिक शान्तिके लिए वह स्वयंको कुछ नहीं चाहती। जानती है, आदमीका जीवन परिवारके लिए ही तो होता है। दुनियाँके थपेड़ोंके बाद आदमी चाहता है उसका कोई अपना हो, जिससे मिल सके उसे शान्ति, सहानुभूति, और अपनत्व। यही सब देनेका यत्न किया है उसने अपने स्वामीको पर आज गृहकी स्थिति गम्भीर है। दीर्घकालसे भोजन-सामग्रीकी व्यवस्था भी अस्तव्यस्त हो चली है। तब अन्तरका विषाद आकृति पर उभर ही तो आया। सोमिला सकुचाती बोली देव! आप विद्वान हैं, सरस्वती-पुत्र हैं। क्या मेरे संतोषके लिए यही काफी नहीं कि आप मेरे साथी है? आपसे क्या छुपा है जिसे छुपाने का यत्न करूं? सदाके लिए जीवन-की डोर सौंप दी है आपके हाथमें। पर, घरकी स्थिति सुधारिये देव!''

ऐसा कौनसा पुरुष है जो नारीकी निश्छल आत्मीयता की अवहेलना कर सके। नारीका आत्मिक सौन्दर्य नारी और पुरुषके बीचमें एक माध्यम है जो एक क्षणमें ही पूर्णता पर पहुँच जाता है। यह एक क्षणका मिलाप बहुत उच्च और श्रेष्ठ है। इसीको हम प्रेम कहते हैं।

नारीकी आत्मीयता पर पुरुष पानी पानी हो चला। सोमशर्मा बोले—'देवि! चिन्ता की अदृश्य ज्वालाओंमें भस्म न करो, अपने आपको। नारीका चरित्र और सद्भावनाएँ पुरुषकी शान्ति और समृद्धिका व्यापक मार्ग खोल देती हैं। नारीके प्रेमने बड़े बड़े साम्राज्योंको बदला है। घरकी स्थिति भी बदल जायगी। देखो, आज ही देशान्तर जानेका प्रबन्ध करूंगा।

दिन ढल चला था। सूर्यदेव अस्ताचलकी ओर तीव्रगतिसे बढ़ रहे थे। सोमशर्मा अपने चिरपरिचित सखा विष्णुशर्माके पास पहुँचे। विष्णुशर्माने मित्रका अभिवादन करते हुए उचित स्थान दिया। कुछ क्षणोंके बाद मौन भंग करते हुए विष्णुशर्मा बोले—''मित्र! मेरे योग्य कोई कार्य हो तो बताइये?'

सोमशर्मा अन्यमनस्क होते हुए बोले—'विष्णु! देशान्तरमें जानेका विचार कर रहा हूँ। घरकी स्थिति अब असह्य हो चली है। भयानक जीव-जन्तुओंसे घिरे हुए वनोंमें रहना अच्छा है, पर बान्धवोंके बीचमें दरिद्र होकर रहना सह्य नहीं है। भाग्य-परीक्षाके लिए जाना चाहता हूँ कल प्रातःकाल ही।''

विष्णुशर्मा बोले—''मित्र! मेरे रहते ऐसी निराशाकी आवश्यकता नहीं। धन और वैभव ऐसे ही समयके लिए तो होते हैं। यदि ऐसे समयमें अपने सखाके तनिक भी काम आ सका तो यह मेरे लिए सौभाग्यकी बात होगी। तो लो, संकोचकी बात नहीं जितना धन चाहो ले जाओ। व्यापार करके धन और यश प्राप्त करो।''

सोमशर्माने प्रभात होते ही नगरसे प्रस्थान कर दिया। सूर्यकी किरणें धीरे-धीरे प्रखर होती जा रही थीं। मध्याह्नका समय आ पहुँचा। सोमशर्मा और उसके अनुचर एक भयानक अटवीमें आ पहुंचे थे। हिंस्र-जन्तुओंकी भयानक गर्जना पर्वतोंसे

टकरा कर अशेष कानन-प्रान्तको प्रतिध्वनित कर रही थी मृग शावक घबरायेसे चौकड़ी भरते हुए किसी अज्ञात दिशाकी ओर बढ़े जा रहे थे। अभी एक स्थल पर सामान उतारा ही था कि कुछ लोग उनकी ओर आते हुए दिखाई दिये। देखते ही देखते सारा वातावरण परिवर्तित होने लगा। ये थे भीमाकार जङ्गली डाकू, जिन्होंने सोमशर्मा और उनके अनुयायी वर्गको चारों ओरसे घेर लिया। डाकुओंके सरदारने गरजते हुए कहा—"देखते क्या हो, जो कुछ हो रख दो, इसी समय। नहीं तो तुम्हरी जिन्दगी संकटमें है।"

आपत्तिके समय व्यक्तिका मानसिक सन्तुलन स्थायी नहीं रह पाता, सोमशर्माने समस्त धन एक-एक करके सरदारके सामने रख दिया। जिस मार्गसे वे आये थे हवामें बातें करते चल दिये, उसी मार्गमें।

दुनियाँकी हर चीज परिस्थितिके अनुसार बदलती है जो कोमल हाथ कभी प्रेमका सन्देश देते हैं वही समय पाकर हलाहलका संकेत भी करते हैं। जो इठलाती नदियां कभी संगीत-स्वर मुखरित करती हैं; वही कभी कांपती और रोती ही दिखाई देती हैं। आज प्रकृति सूनी-सूनी हो चली है और प्रकृतिकी गोदमें पड़ा हुआ सोमशर्मा आपत्तिके भारसे धराशायी हो चला है। सुखकी लालसाने डँस लिया है उसे।

व्यक्तिकी लालसायें मृगतृष्णाकी भाँति कितनी अर्थहीन हैं? वह दौड़ता है आशाओंके पीछे, पर कुछ पाता नहीं। वह थक जाता है और बैठ जाता है विश्रामके लिए। फिर दौड़ता है, फिर थक जाता है। इसी भांति ज्वार उठता रहता है, आशाओंका। यही जीवन है मानव का, यही मृत्यु है मानव की।

दुखी आत्मा एकान्तको अधिक प्रेम करती है। संसारका क्रन्दन उन्हें उबा देता है। उसे एकान्त प्रिय हो चला था। किन्तु सिर उठा कर देखा तो विषादमें आशाकी एक ज्योति दिखाई दी। सामने ही महामुनि भद्रबाहु खड़े-खड़े उसे आश्वासन दे रहे थे। सोमशर्मा श्रद्धासे गद्गद् हो उठा।

मुनि कह रहे थे 'राही! मैं सब देख रहा था अपनी आँखोंसे। धनकी दासताने मानवको लूटनेकी प्रेरणा दी है और उसीने तुम्हें आंसुओंका उपहार भी दिया है। बाह्यके लिए तुम आँसू बहा रहे हो; और अन्तरका जो लुट रहा है उसकी ओर देखते भी नहीं? राही! चेतो, आपत्तिने तुम्हें दृष्टि दी है, देखनेके लिए, शक्ति दी है, सोचनेके लिए। काम-क्रोध, मान और मोहके डाकू आत्माको अनादिसे लूट रहे हैं, संसारकी अटवीमें। विषादकी जगह विवेककी ज्वाला जलाओ, अपनी आत्मामें। बाह्यमें शांति कब तक खोजोगे? शांति बाह्यकी नहीं अन्तरकी वस्तु है।'

श्रमणकी वाणीने दुखी मानवके हृदय पर सीधा असर किया। वह देखते ही देखते मुनिके चरणों पर इस प्रकार लोटने लगा, मानों युग-युगोंकी अनन्त पीडासे कराह उठा हो। अनादिसे बन्द हुए आत्माके कपाट खुलने लगे और शनैःशनैः मोह टूक-टूक होकर गिरने लगा।

सोमशर्मा बोले—'मुनिराज! अब संसार नहीं चाहिए मुझे। अब जन्म मरणकी परम्परा नहीं सही जाती।'

मुनिराजने घबराये हुए संसारी पर वरद-हस्त रख दिया। मानो संसारकी यातनाओंकी ओरसे उसे अभयदान ही मिल गया हो। उधर सूर्यदेव अस्ताचलकी ओर बढ़े जा रहे थे और इधर सोमशर्मा जैनेश्वरी दीक्षा लेकर अपनी आत्माका परिष्कार कर रहा था। सुख-दुखका विकल्प हटने लगा। बाह्य बाधाओंसे आत्माका क्या बिगड़ा है, प्रश्न तो है अन्तरके परिष्कारका? यही सबकर रहा है वह, आत्माके उत्कर्षके लिये।

× × ×

प्रशान्तात्मा मुनिराज सोमशर्मा वर्षों तक देशान्तर मे विहार करते रहे। आत्मा संसारकी विषमताओंसे बहुत ऊँची उठ गई थी। एक दिन जब वसन्तकी मीठी-मीठी हवायें फूलोंका पराग चुराकर चुपके चुपके दौड़ी जा रही थीं, वे विहार करते हुए देवकोटपुरमें आ पहुँचे। मुनिराजका आगमन सुनकर विशाल जनसमुदाय दर्शनोंके लिए उमड़ पड़ा। विष्णुशर्मा भी श्रमणका आत्मिक सौन्दर्य देखने लगा। वास्तवमें आत्मिक सौन्दर्य वह ज्योति है जो आत्माके कणसे फूटकर बाहरी शरीरको प्रकाशमान कर देता है। वह भी मुनिके प्रभावसे न बच सका। किन्तु जब उसने देखा कि मुनिराज कोई और नहीं, उसका चिर ऋणी सोमशर्मा है, जिसे वह दीर्घकालसे ढूंढ रहा था, श्रद्धा क्षत-विक्षत होने लगी!

लालसा व्यक्तिको नहीं वैभवको देखती है। उसके पंख इतने कठोर होते हैं कि आसमानसे देवताओंको भी गिरना पड़े तो उन्हें भी धकेलते हैं। लालसाने ही मानवके रोषको जगाया। रोषने उसके अहंकारको बलवान किया तभी विवेक नष्ट होता है, बुद्धि साथ नहीं देती और मानव गिर जाता है विनाशके पंकमें, सदाके लिए।

विष्णुशर्माके हृदयमें रोष भड़क उठा था। वह तीखी मुस्कान आकृति पर लाते हुए बोला—'सोमशर्मा! अच्छा स्वांग बनाया है ऋण-मुक्तिका? अपने इस नग्न रूपका छल दूसरोंके साथ करना। लाओ मेरी धनराशि। ऋण-मुक्तिके बाद ही जा सकोगे यहाँ से।'

भक्ति-गद्गद् जन-समुदाय स्तब्ध होकर रह गया! सहस्रोंकी आकृतिपर रोष उभरने लगा, विष्णुशर्माके कृत्य पर। वे बोले—'मुनिराज! क्या विष्णुशर्माका कहना ठीक है? या श्रमणके उपहासका चक्र है यह देव?'

मुनिराज गम्भीर होते हुए बोले—'उसका कहना ठीक है। गृहस्थ सोमशर्माने उससे ऋण लिया था, पर आज वह विरागी है। न उसके पास धन है और न धन-का मोह। पिताके बाद गृहका उत्तरदायित्व सन्तान पर होता है। हानि-लाभ, आदान-प्रदान मेरे पुत्रके हाथमें है और उसीका कार्य है संसारकी उलझनें सुलझाना। विष्णुशर्मा! ऋण मुक्ति पुत्रके हाथमें है और उसीसे तुम्हें सब मिलेगा।

विष्णुशर्मा बोला—"ओ मुनि! मैं तुम्हारे पुत्रको नहीं जानता। मैं जानता हूं केवल तुम्हें, जिसे मैंने विपुल धनराशि दी थी। तुम कहते हो कि तुम्हारे पास धन नहीं, पर धर्म तो है? उसीको बेच कर चुका दो मेरी धनराशि। गृहस्थ और विरागीका भेद करनेकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं, मुझे चाहिए है मेरा धन, जो तुम्हें दिया था, विश्वास करके।

उपस्थित जन हतप्रभ हो चले। वे प्रश्नभरी दृष्टिसे मुनिराजकी ओर देखने लगे।

मुनिराज बोले—'विष्णुशर्मा! मुझे एक रात्रिका अवकाश दो। प्रभात होते ही तुम्हें मिल जायगी तुम्हारी धनराशि!'

मध्य-रात्रिका समय है। मुनिराज सोमशर्मा नगरके भयानक स्मशानमें ध्यानस्थ हो गये। चारों ओरसे स्यालोंका रुदन स्मशानको और भी बीभत्स बनाने लगा। हवायें सूं-सूं करके बह रही थीं और उनके वेगसे चिताओंकी लपटें धायँ धायँ करके और उग्र होती जा रही थीं। मुनिराज अनन्तमें—शून्यमें हाथ फैलाते हुए बोले—'धरती और आसमानके देवताओ! आत्माकी करुण पुकार सुनो। आज एक विरागीका धर्म संकटमें है, जिसके पास न दुनियाकी ममता है और न उसका परिग्रह। उसके पास है केवल व्रत, उपवास और तप, विश्वास, ज्ञान और चारित्र। इनमेंसे जिसका भी फल चाहो ले लो, पर मुझे लालसाओंका खिलौना होनेसे बचाओ! संसारमें लौटनेसे मुझे बचाओ!! संसारकी लालसायें मुझे पथ-भ्रष्ट करनेका प्रयत्न कर रही है। देखो, मैं बहुत देकर 'कुछ' लेना चाहता हूँ। सच्चे रत्न देकर मैं कच्चे मोती लेना चाहता हूं, जो अज्ञानी संसारके लिए सर्वस्व हैं, प्राण हैं।'

रात्रिकी निस्तब्धतामें मुनिका करुण क्रन्दन दिग्-दिगन्तोंमें व्याप्त होने लगा विश्व देवता विह्वल हो उठे। कुछ क्षणोंमें ही मुनिराजकी पथरायी हुई आँखोंने देखा, आकाश प्रभामय होता जा रहा है। विचित्र वर्णोंकी रत्न-वृष्टिसे ऐसा मालूम होने लगा मानो राजपथ पर जाते हुए किसी सम्राट पर कुलवधुएँ पुष्प-वृष्टि कर रही हों। रत्नराशिके बीचमें मुनिराज उतने दीप्तिमय होते जा रहे थे, जैसे नक्षत्रोंके बीचमें चन्द्रमा। चन्द्रदेव मुनिराजके आगे उदास होकर पीले पड़ गये। टिमटिमाते हुए तारे शीघ्र ही आकाशके समुद्रमें अपने आपको डुबाने लगे। चकोरी हताश होकर किसी वृक्षकी शाखा पर बैठ कर रह गई और कोकिलका मधुर स्वर स्मशानकी नीरवता चीरता हुआ प्रभातियाँ गाने लगा। मुनिराज गम्भीर थे। उनकी आकृति पर तेज-पुञ्ज बिखर रहा था।

प्रभात होते ही विष्णुशर्मा और उनके साथी स्मशान में आ पहुँचे। पर मुनिराजको देखते ही उनकी आकृति पर आश्चर्य मूर्तिमान् होने लगा। इस समय विष्णु-शर्माकी स्थिति एक स्वप्नद्रष्टा जैसी थी।

उसी समय वनदेवताने प्रकट होते हुए कहा—'विष्णुशर्मा! मुनिराजके संकटको देख कर मैंने यह रत्न-राशि चारों ओर बिखेर दी है। लो! जितना ले जा सको ले जाओ यहाँ से। विरागीको विकल बना कर तुमने अच्छा नहीं किया।

विष्णुशर्माकी दृष्टि मुनिराजकी आकृति पर अचल हो रही थी। मुनिराज बोले— विष्णु ! क्या सोचते हो ? तृष्णा कभी शान्त नहीं होती। वह अग्निकी ज्वालाओंकी भांति वैभवका ईंधन पाकर और भी भड़कती है। यही तो वह कुमाता है जो अशान्ति द्वेष, घृणा और अहंकार की सन्तानको जन्म देती है। पवित्रात्मा बननेका प्रयास करो जिसके सामने संसारकी विभूतियाँ व्यर्थ हो जाती हैं। मकड़ीकी भांति मोहका ताना-बाना पूर कर उसीमें अपने आपको न उलझाओ। मोह-ग्राहके कठोर दाँत संसार-समुद्रकी गहराईमें आत्माको खींच ले जाते हैं, तब आत्माका उद्धार युगोंके लिए कठिन बन जाता है।'

विष्णुशर्माके अज्ञानकी दीवार धीरे-धीरे टूटने लगी। वह मुनिराजके चरणोंमें इस प्रकार लोटने लगा जैसे वर्षोंसे भटका हुआ बालक माताके चरणोंमें लोटने लगा हो।

आत्मा न जाने कबसे आत्मिक पिपासामें भटक रहा है। मोहकी मृगतृष्णामें जलका आभास पाते ही सोचता है—सुखी है, तृप्त है। पर समीपतामें बढ़ती है निराशा, अतृप्ति और अशान्ति। ''फिर मोहकी व्यर्थताके बाद आत्मा इतनी स्वच्छ हो जाती है, जैसे दर्पण। उसे वह द्वार दिखाई देने लगता है, जिसमें सीमा तोड़कर आत्मा असीम होकर प्रवेश करती है। योगीने ज्ञानकी कुञ्जीसे आत्माके कपाट खोल दिये थे। विष्णुशर्मा अपने आपमें असीमताका आभास पाकर गद्गद हो उठा पर।

वे चमकते हुए पाषाण जिन्हें पानेके लिए संसार पागल है जहाँ तहाँ बिखरे पड़े हैं ! आज वे इतने अर्थहीन हो चले जैसे प्यास बुझनेके बाद पानी।

——*——

राजधानीमें वीरशासन-जयन्ती

और

वीरसेवामन्दिर-नूतन-भवनके शिलान्यासका महोत्सव

भारतकी राजधानी दिल्ली (२१ दरियागंज) में श्रावण कृष्णा प्रतिपदा सं० २०११ ता० १६ जुलाई सन १९५४ शुक्रवारको प्रातःकाल ७ बजेसे ९ बजे तक सुप्रसिद्ध उद्योगपति दानवीर साहू शान्तिप्रसादजी जैन कलकत्ताकी अध्यक्षतामें वीर शासन-जयन्ती जैसे पावन पर्व और वीरसेवामन्दिरके नूतन भवनके शिलान्यासका महोत्सव बड़े उत्साह और समारोहके साथ मनाया गया।

इस समय श्री १०८ मुनि आनन्दसागरजी महाराज, श्री आर्यिका वीरमतीजी, सिद्धमतीजी, सुमतिमतीजी, वासमती जी, क्षुल्लिका गुणमती जी ज्ञानमतीजी खास तौर-से पहाड़ी धीरज और धर्मपुरासे पधारे। अन्य उपस्थित सज्जनोंमें टी. एन. रामचन्द्रन् ज्वाइण्ट डायरेक्टर जनरल पुरातत्त्व, डा० मोती चन्द्रजी अध्यक्ष—नेशनल म्यूज़ियम, दिल्ली, ला० तनसुखरायजी, रा० सा० उल्फतरायजी, राजवैद्य महावीरप्रसादजी, ला० रघुवीरसिंहजी जैनावाच-कम्पनी, चौ० धनराजजी, ला० पन्नालालजी अग्रवाल, श्री रघुवर दयालजी, पं० अजितकुमारजी, पं० दरबारीलाल-जी, पं० बाबूलाल जी, पं० मन्नूलालजी, लाला जुगल-किशोर जी कागजी, बा० मनोहरलालजी, बा० महताब सिंहजी वकील, श्री यशपाल जी, बा० बलवीरसिंहजी, बा० महेशचन्द्र जी एटा, श्री अक्षयकुमारजी आदिके नाम उल्लेख-नीय हैं। इनके अतिरिक्त सैकड़ों महिलाएं उपस्थित थीं, जिनमें जयवन्ती देवी, सूरजमुखी देवी, सुन्दरबाई, सरस्वती देवी, कृष्णादेवी आदिके नाम प्रमुख हैं।

साहू साहबके पधारने पर बैण्ड बाजेके साथ उपस्थित जनताने उनका स्वागत किया। उन्हें सर्व प्रथम पूजा-मण्डप-में ले जाया गया, जहाँ पर आचार्य जुगलकिशोरजी, पं० हीरालाल जी, पं० सुमेरुचन्द्रजी, पं० परमानन्दजी और पं० सिद्धनलाल जी द्वारा पूजन-हवनका कार्य सम्पन्न किया जा रहा था। साहूजीने पूजन-हवनमें भाग लिया और

पश्चात् वे सभा-भवनमें पधारे। सर्व प्रथम आचार्य जुगलकिशोर जी ने मंगलाचरण किया। इसके पश्चात् श्रीमती मखमली देवीने साहूजी को तिलक किया और उनके पति रा० ब० दयाचन्द्रजी जैनने साहूजी को, और रा० सा० उल्फतरायजी ने श्री मुख्तार सा० को हार पहराये। प्रसिद्ध संगीतज्ञ ताराचन्द्रजी प्रेमीने सुमधुर स्वरमें स्वागत गान गाया (जो अन्यत्र प्रकाशित है) तदनन्तर श्री पं० राजेन्द्र कुमारजी ने अपने भाषणमें साहूजी का परिचय देते हुए बतलाया कि साहू सा० ने केवल जैनसमाज और भारतीय व्यापारियों में ही प्रमुखता प्राप्त की, बल्कि उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय उद्योग पतियोंमें भी प्रतिष्ठा प्राप्त है। जैन समाज की तो प्रायः सभी संस्थाओं पर आपका वरद हाथ रहा है। ऐसे उदार, कार्य-कुशल, दानवीर व्यक्ति-द्वारा नवीन-भवनका शिलान्यास होना निःसन्देह गौरव की वस्तु है। साथ ही आपने यह भी बतलाया कि जैन संस्कृति पर जब कोई संकट या अन्य कोई ऐतिहासिक उलझन आई, तब उसे श्री मुख्तार सा० ने बड़े ही अच्छे ढंगसे सुलझानेका यत्न किया है; वीरसेवा-मंदिर द्वारा की गई सांस्कृतिक सेवाएं बड़ी ही महत्व पूर्ण है। अन्तमें पं० जी ने अपनी भावना प्रकट करते हुए कहा कि श्री मुख्तार सा० के द्वारा लगाया हुआ यह पौधा साहू जी जैसे उदारमना पुरुषों द्वारा सींचा जाकर भाण्डारकर रिसर्च इंस्टिट्यूट जैसी संस्थाका रूप धारण करे तो यह अति उत्तम होगा।

पं० हीरालाल जी शास्त्रीने वीर-शासन की महत्ता पर अच्छा प्रकाश डाला। पं० धर्मदेवजी जैतलीने वेदांत, बौद्धादि मतोंका उल्लेख करते हुए कहा—वेदान्ती लोग चित्रपटके पट को तो मानते हैं, पर उसके चित्रोंको सत् नहीं मानते। बौद्ध लोग चित्रों को तो मानते हैं, पर पटका अस्तित्व नहीं मानते। पर अनेकान्तमय जैनधर्म दोनों को सत्य मानता है। उसके मत से पट भी सत् है और चित्र भी सत् है। इस प्रकार जैनधर्मका स्याद्वाद सिद्धान्त परस्पर-विरोधी तत्त्वोंका समन्वय कर गंगा-जमुनाके संगमका पवित्ररूप धारण करने के कारण जगत्पूज्य और अनुपम है। संसारके समस्त धर्मोंमें जैन धर्म सबसे प्राचीन हैं। इसकी बराबरी कोई दूसरा धर्म नहीं कर सकता।

प्राच्य विद्या महार्णव आचार्य जुगलकिशोरजी मुख्तारने अपने भाषणोंमें कहा कि वीर शासनके अवतारका सबसे पुराना उल्लेख मुझे धवला टीकामें उद्धृत एक प्राचीन गाथामें मिला। जिस तीर्थ-प्रवर्तन जैसे महान् पर्वको लोग भूले हुये थे उसका उस गाथामें स्पष्ट उल्लेख है। इस गाथा में बताया गया है कि वर्ष के प्रथम मास, प्रथम पक्ष और प्रथम दिन श्रावण कृष्णा प्रतिपदाको अभिजित नक्षत्रमें सूर्योदयके समय वीर जिनके धर्म-तीर्थकी उत्पत्ति हुई थी। युगका प्रारम्भ भी इसी तिथिसे होता है। पांचों कल्याणक तो तीर्थंकरोंके व्यक्तिगत उत्कर्षके द्योतक हैं, किन्तु संसारके प्राणियोंके कल्याणका सम्बन्ध भगवानकी वाणीसे है, जिसका अवतार इस पुण्य तिथिको हुआ है। इस लिए तीर्थप्रवर्तन होने के नाते आजके दिन का बड़ा महत्त्व है। सबसे पहले वह पर्व वीरसेवा मन्दिरमें मनाया गया, तदनन्तर बराबर विद्वन्मान्य होता हुआ अब सारे भारत में मनाया जाता है। अपना भाषण जारी रखते हुए आपने यह भी बतलाया कि अनेकांत और अहिंसा ये दो वीरशासनके प्रधान आधार-स्तम्भ हैं। संसार की अशान्तिके दो मूल कारण हैं—विचार-संघर्ष और आचार-संघर्ष। विचार-संघर्ष को अनेकान्त और आचार-संघर्षको अहिंसा मिटाती है। इन दोनों सिद्धान्तों के समुचित प्रचारसे विश्वमें सच्ची शान्ति स्थापित हो सकती है। विश्व-शान्तिके लिए इन दोनोंके प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है—विश्वमें आज इनकी मांग भी है। यह हमारी त्रुटि और कमजोरी है जो हम उसका प्रचार नहीं कर रहे हैं।

इसके पश्चात् बा० छोटेलाल जी कलकत्ता, अध्यक्ष—वीरसेवा मन्दिरने अपने भाषणमें बतलाया कि पूज्य मुख्तार सा० जैसे महान साहित्य-तपस्वी और सन्यासी जैसे पवित्र जीवन व्यतीत करनेवाले महानुभाव-द्वारा संस्थापित मन्दिर-के शिलान्यासके लिए जिस धर्मनिष्ठ एवं गुणविशिष्ट महानुभावकी आवश्यकता थी उसकी पूर्ति हम साहूजी में देख रहे हैं। आपके दादा साहू सलेखचन्द्र जी बड़े धर्मात्मा और उदार थे। आपको यह धर्मनिष्ठा और उदारता पैतृक सम्पत्तिके रूपमें प्राप्त है। आपके चरित्रकी उच्चता एक विशेष बात है; जिसकी आज धनिकवर्गमें बहुत ही कमी देखी जाती है। देश-विदेशोंमें घूमने पर भी आपका आहार-विहार हम लोगोंके लिए आदर्श रहा है। सभी तरहके लोगोंसे सम्पर्क रखते हुए भी आप सिगरेट तक नहीं पीते। धनाढ्य युवक होते हुए भी आपका शील प्रशंसनीय है। पर्वके दिनोंमें आप सम्पूर्ण परिवारके साथ बेलगछियाके जिन मन्दिरमें बड़ी भक्तिसे भगवत्पूजन किया करते हैं।

बाईं ओर से—आर्यिकाएं, मुनि आनन्दसागरजी, साहू शान्तिप्रसादजी,
पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, श्री छोटेलालजी भाषण दे रहे हैं।

साहू शान्तिप्रसाद जी हवन कुंड में सामग्री चढ़ा रहे हैं।

साहू शान्तिप्रसादजी भाषण दे रहे हैं।

साहू शान्तिप्रसादजी चौखटका मुहूर्त कर रहे हैं।

आपके यहां समस्त गार्हस्थिक कार्य जैनविधिसे जैन विद्वानों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। आगे आपने बताया कि मैंने आपके इन गुणोंको देख कर ही वीरसेवामन्दिरके शिलान्यास के लिए आपसे निवेदन किया था, न कि आर्थिक सहायताके उद्देश्य से। जब-जब मैंने आपके समक्ष किसी संस्था या व्यक्तिकी सहायता करनेका प्रस्ताव रखा, आपने उसे हमेशा पूरा किया है। आपने यह भी बतलाया कि साहू सा० के दान-द्वारा न केवल जैन किन्तु जैनेतर संस्थाएं भी पल्लवित हो रही हैं। आप लाखों रुपये दान कर चुके हैं और आपका 'दानकोष' भी लाखोंका है जिसमें केवल मेरे नाम पर ट्रस्ट-के दस लाख रुपये हैं। इन सब बातोंका अनुभव मुझे विगत २० वर्षोंके निकट सम्पर्कसे हुआ है। आप कोट्याधीश और उदार होते हुए भी अत्यन्त सरल और विनम्र हैं। आप भारतवर्षके व्यापारियोंकी सबसे बड़ी प्रतिनिधि संस्था (फेडरेशन आफ इण्डियन चेम्बर्स ऑफ कोमर्स एण्ड इण्डस्ट्रीज) के सभापति रह चुके हैं।

तदनन्तर श्री मुख्तार सा० ने स्वरचित 'महावीरसन्देश' नामकी कविता पढ़ी, जिसने सबको आनंद-विभोर कर दिया।

अन्तमें साहू साहबने अपना भाषण प्रारम्भ करते हुए बताया कि मैं श्री मुख्तारसाहबको अपने बाल्यकालसे जानता हूं। णमोकार मन्त्रके पश्चात् सर्व प्रथम मैंने आपके द्वारा रचित 'मेरी भावना' को सीखा था। मुख्तार सा० की जैन साहित्य और इतिहास सम्बन्धी सेवाएं महान हैं, जैन समाज आपकी असंख्य सेवाओंके लिए सदा ऋणी रहेगा। आजके समारोहका जिक्र करते हुए आपने कहा कि मैं तो कलकत्ता कुछ वर्षों से ही रह रहा हूं पर असलमें मेरा घर तो नजीबाबाद है, जो कि दिल्लीके बहुत समीप है। कलकत्ता बहुत दूर है और बाबू छोटेलालजी वहांके रहने वाले हैं इसलिए इस समारोहका आयोजन तो उनकी अपेक्षा हमें करना चाहिये था। इसके सिवा बा० छोटेलालजीके विषयमें बहुमान्यता-व्यंजक अपने गम्भीर हृदयोद्गारोंको व्यक्त करते हुए आखिरमें यह भी प्रकट किया कि आज कल बा० छोटेलालजी अपना सब कारोबार छोड़कर निरन्तर साहित्य-साधनामें लग रहे हैं। और उनके भाई बा० नन्दलालजी भी कारोबार छोड़ चुके हैं, यह कोई साधारण बात नहीं है, साहू सा० ने लाला राजकृष्णजीकी प्रशंसा करते हुए कहा कि आपने धवलादि ग्रन्थोंको जीर्णोद्धारके लिये दिल्ली मंगानेका जो आयोजन किया है वह प्रशंसनीय है। अब आप हमें लाला राजकृष्णजी का जगह पण्डित राजकृष्णजीके रूप में दिखाई दे रहे हैं।

अपने भाषणके अन्तमें सा० साहू ने वीरसेवामन्दिरके महान् कार्योंका उल्लेख करते हुए उसके नवीन भवन-निर्माण के लिये ११०००) रु० प्रदान करनेकी घोषणा की। इस पर बाबू छोटेलालजीने खड़े होकर कहा कि आपका सहयोग हमने आपके गुणोंसे आकृष्ट होकर शिलान्यासके लिये चाहा था—आपसे आर्थिक सहायताकी याचना नहीं की थी। किंतु जब आप स्वयं उदारता पूर्वक दे ही रहे हैं तो हम आपसे कम क्यों लें? अतएव हम तो आपसे पहली मंजिलके निर्माणका पूरा खर्च लेंगे। इस पर साहू सा० ने अपनी सहर्ष स्वीकृति प्रदान की और उपस्थित जनताने हर्षध्वनिके साथ आपके इस दानकी सराहना की।

अन्तमें लाला राजकृष्णजीने सबको धन्यवाद दिया। तत्पश्चात साहू सा० ने मंगलगान और जयध्वनिके मध्य अपने कर कमलोंसे शिलान्यास तथा चौखट-स्थापना की विधि सम्पन्न की।

सम्पादकीय

१. नव वर्षारम्भ—

इस किरणसे अनेकान्तका १३वां वर्ष प्रारम्भ होता है, जिसका आदि श्रावण और अन्त आषाढका महीना होगा। भारतवर्षमें बहुत काल व्यतीत हुआ जब वर्षका आरम्भ श्रावण कृष्ण प्रतिपदासे माना जाता था, जो वर्षा ऋतुका पहला दिन है वर्षाऋतुसे प्रारम्भ होनेके कारण ही साल (year) का नाम 'वर्ष' पड़ा जान पड़ता है, जिसका अन्त आषाढी पूर्णिमाको होता है। इसीसे आषाढी पूर्णिमाके दिन भारतमें जगह-जगह अगले वर्षका भविष्य जाननेके लिये ज्योतिष और निमित्तशास्त्रोंके अनुसार पवन-परीक्षा की जाती थी; जो आज भी प्रचलित है। सावनी आषाढीके रूपमें किसानोंका फसली साल भी उसी पुरानी प्रथाका द्योतक है, जिसे किसी समय पुनरुज्जीवित किया गया है। श्रावण कृष्ण प्रतिपदासे वर्षके प्रारम्भ सूचक कितने ही

* स्वागत-गान *

[जो दानवीर साहू शान्तिप्रसाद जी जैन के स्वागतमें वीरसेवामन्दिर के नूतनभवन के शिलान्यासके अवसर पर गाया गया]

(श्री ताराचन्दजी प्रेमी)

ले हृदय देखिये जैनजातिके युवक हृदय यहाँ आये हैं,
जिनके स्वागत-हित पग-पथमें हम सबने पलक बिछाये हैं !

ओ वैभवके वरदान, सरस्वतीके साधक, तेरा स्वागत,
ओ जातिके गौरव महान् सन्मान, आज तेरा स्वागत !!

तुमने वैभवकी शय्या पर जातिका मान बढ़ाया है,
तुमने चन्दाके रथ पर भी धरती से ध्यान लगाया है !

दुखियों पर दिलमें दया तेरे, कर्तव्यों पर अनुराग रहा,
इस हृदय-कुसुममें सरसवृत्ति का पावन पुण्य पराग रहा !!

मन फूला नहीं समाता है, साहू ! तुम सा हीरा पाकर,
हृत्-कलियां स्वयं खिली जातीं, गुञ्जित हृद है स्वयमेव मुखर।

धन दान दिया, मन दान दिया और भावोंका वरदान दिया,
साहू ! तुमने जातिके हित जाने कितना बलिदान किया !!

जीवनकी परिभाषा क्या है, इस जीवनमें तुम जान गए,
जीवन धनका उपयोग सही इस जीवनमें पहचान गये !

असहाय युवकों को साहू, तुम शिक्षाके अवतार हुए,
बेजार किसीको देख स्वयं साहू, दिलमें बेज़ार हुए !!

ये सरस हृदय, ये सहानुभूति, ये अपनापन, ये कोमलता,
निज गुणसे फहरा दी तुमने अब जैनधर्मकी कीर्ति-पता !

हे भारतके गौरव महान्, हम करते हैं तेरा वन्दन,
हे सरलवृत्ति, हे मूर्तिमान्, करते हैं तेरा अभिनन्दन !!

— *:X:* —

वीरसेवामन्दिरकी सेवाएँ

वीरसेवामन्दिरने, वैसाख सुदी तीज (अक्षय तृतीया) सं० १९९३ ता० २४ अप्रेल सन् १९३६ को सरसावा जि० सहारनपुरमें मुख्तार श्री जुगलकिशोरजी के द्वारा संस्थापित होकर अथवा जन्म पाकर, आज तक जो सेवाएँ की हैं, उन का संक्षिप्त सार इस प्रकार है :—

१. वीर-शासन-जयन्ती जैसे पावनपर्वका उद्धार और प्रचार।

२. स्वामी समन्तभद्रके एक अश्रुतपूर्व अपूर्व परिचय-पद्यकी नई खोज।

३. लुप्त-प्राय जैन साहित्यकी खोजमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दीके लगभग २०० ग्रन्थोंका अनुसंधान तथा परिचय प्रदान। दूसरे भी कितने ही ग्रन्थों तथा ग्रन्थ-कारोंका परिचय-लेखन।

४. श्रीपात्रकेसरी और विद्यानन्दको एक समझनेकी भारी भूलका सप्रमाण निरसन।

५. गोम्मटसारकी त्रुटिपूर्ति, रत्नकरण्डका कर्तृत्व और तिलोयपण्णत्तीकी प्राचीनता-विषयक विवादोंका प्रबल युक्तियों-द्वारा शान्तीकरण।

६. देहलीके तोमरवंशी तृतीय अनंगपालकी खोज, जिससे इतिहासकी कितनी ही भूल-भ्रान्तियाँ दूर हो जाती हैं।

७. गहरे अनुसन्धान-द्वारा यह प्रमाणित किया जाना कि सन्मतिसूत्रके कर्ता सिद्धसेन आचार्य दिगम्बर थे, तथा सन्मतिसूत्र, न्यायावतार और द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता एक ही सिद्धसेन नहीं, तीन या तीनसे अधिक हैं। साथ ही उपलब्ध २१ द्वात्रिंशिकाओंके कर्ता भी एक ही सिद्धसेन नहीं है।

८. इतिहासकी दूसरी सैकड़ों बातोंका उद्घाटन और समयादि विषयक अनेक उलझी हुई गुत्थियोंका सुलझाया जाना।

९. लोकोपयोगी महत्त्वके नव साहित्यका सृजन और प्रकाशन, जिसमें १६ ग्रन्थोंकी खोजपूर्ण खास प्रस्तावनाएं, २० ग्रन्थोंका हिन्दी अनुवाद और कोई ३०० लेखोंका लिखा जाना भी शामिल है।

१०. अनेकान्त मासिक-द्वारा जनतामें विवेकको जागृत करके उसके आचार-विचारको ऊँचा उठानेका सत्प्रयत्न।

११. धवल जयधवल और महाधवल (महाबन्ध) जैसे प्राचीन सिद्धान्त-ग्रन्थोंकी ताड़पत्रीय प्रतियोंका—जो मूडबिद्रीके मन्दिरमें सात तालोंके भीतर बन्द रहती थीं—फोटो लिया जाना और जीर्णोद्धारके लिये उनके दिल्ली बुलानेका आयोजन करके सबके लिए दर्शनादिका मार्ग सुलभ करना।

१२. जैन लक्षणावली (लक्षणात्मक जैन पारिभाषिक शब्दकोष), जैनग्रन्थोंकी बृहत्सूची और समन्तभद्र-भारती-कोशादिके निर्माणका समारम्भ। साथ ही 'पुरातन-जैन वाक्य-सूची' आदि २१ ग्रन्थोंका प्रकाशन।

—व्यवस्थापक वीरसेवामंदिर

हिसाबका संशोधन

अनेकान्तकी गत १२वीं किरणमें अनेकान्तका द्विवार्षिक हिसाब छपा है, जिसके छपनेमें खेद है कि कुछ गलतियां हो गई हैं। बड़ी ग़लती सूदकी रकमका १३२=) की जगह ३२=) छप जाना है जिससे जमा जोड़ और बाकीकी रकमों में सौ सौ रुपये की कमी हो गई है। वे रकमें ३२=), १७८८।)॥, १०३४८।)॥, १४४६॥)।॥, ३६२७≤)।॥ हैं, इनमें से प्रत्येकमें १००) की रकम बढ़ा कर सुधार कर लेना चाहिए। खर्चकी तरफ जोड़में एक रकम ८६०१॥≤)।॥ की जगह ८६० ॥≤)।॥ के रूप में छप गई है उसे भी, रिक्तस्थान पर एक का अंक बनाकर, सुधार लेना चाहिए। इधर १२वीं किरण की छपाई और पोस्टेज खर्चमें जो अन्दाज़ी रकमें १७५) और १०) की दर्ज हुई थीं वे क्रमशः १६०) तथा ६॥)।॥ के रूपमें स्थिर हुई हैं, इससे १२वें वर्ष सम्बन्धी खर्चके जोड़में १८≤)॥ की कमी होती है। अतः खर्चके जोड़की रकम ४६१६॥।-)॥ को ४५९८॥=)के रूप में परिवर्तित करना होगा। और इस तरह घाटे की रकम ६८६॥-)।॥ की जगह ८७१।=) बनानी होगी। आशा है पाठकजन अपनी-अपनी प्रति में यह सब संशोधन करने की कृपा करेंगे।

अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर'

Regd. No D. 21

अनेकान्तके संरक्षक और सहायक

संरक्षक

१५००) बा० नन्दलालजी सरावगी, कलकत्ता
२५१) बा० छोटेलालजी जैन सरावगी ,,
२५१) बा० सोहनलालजी जैन लमेचू ,,
२५१) ला० गुलजारीमल ऋषभदासजी ,,
२५१) बा० ऋषभचन्द (B.R.C. जैन ,,
२५१) बा० दीनानाथजी सरावगी ,,
२५१) बा० रतनलालजी झांझरी ,,
२५१) बा० बल्देवदासजी जैन सरावगी ,,
२५१) सेठ गजराजजी गंगवाल ,,
२५१) सेठ सुआलालजी जैन ,,
२५१) बा० मिश्रीलाल धर्मचन्दजी ,,
२५१) सेठ मांगीलालजी ,,
२५१) सेठ शान्तिप्रसादजी जैन ,,
२५१) बा० विशनदयाल रामजीवनजी, पुरलिया
२५१) ला० कपूरचन्द धूपचन्दजी जैन, कानपुर
२५१) बा० जिनेन्द्रकिशोरजी जैन जौहरी, देहली
२५१) ला० राजकृष्ण प्रेमचन्दजी जैन, देहली
२५१) बा० मनोहरलाल नन्हेंमलजी, देहली
२५१) ला० त्रिलोकचन्दजी, सहारनपुर
२५१) सेठ छदामीलालजी जैन, फीरोजाबाद
२५१) ला० रघुवीरसिंहजी, जैनावाच कम्पनी, देहली
२५१) रायबहादुर सेठ हरखचन्दजी जैन, रांची
२५१) सेठ वधीचन्दजी गंगवाल, जयपुर

सहायक

१०१) बा० राजेन्द्रकुमारजी जैन, न्यू देहली
१०१) ला० परसादीलाल भगवानदासजी पाटनी, देहली
१०१) बा० लालचन्दजी बी० सेठी, उज्जैन
१०१) बा० घनश्यामदास बनारसीदासजी, कलकत्ता
१०१) बा० लालचन्दजी जैन सरावगी ,,
१०१) बा० मोतीलाल मक्खनलालजी, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीप्रसादजी सरावगी, ,,
१०१) बा० काशीनाथजी, ... ,,
१०१) बा० गोपीचन्द रूपचन्दजी ,,
१०१) बा० धनंजयकुमारजी ,,
१०१) बा० जीतमलजी जैन ,,
१०१) बा० चिरंजीलालजी सरावगी ,,
१०१) बा० रतनलाल चांदमलजी जैन, रांची
१०१) ला० महावीरप्रसादजी ठेकेदार, देहली
१०१) ला० रतनलालजी मादीपुरिया, देहली
१०१) श्री फतेहपुर जैन समाज, कलकत्ता
१०१) गुप्तसहायक, सदर बाजार, मेरठ
१०१) श्री शीलमालादेवी धर्मपत्नी डा०श्रीचन्द्रजी, ए
१०१) ला० मक्खनलाल मोतीलालजी ठेकेदार, देहली
१०१) बा० फूलचन्द रतनलालजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० सुरेन्द्रनाथ नरेन्द्रनाथजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० वंशीधर जुगलकिशोरजी जैन, कलकत्ता
१०१) बा० बद्रीदास आत्मारामजी सरावगी, पटना
१०१) ला० उदयराम जिनेश्वरदासजी सहारनपुर
१०१) बा० महावीरप्रसादजी एडवोकेट, हिसार
१०१) ला० बलवन्तसिंहजी, हांसी जि० हिसार
१०१) सेठ जोखीराम बैजनाथ सरावगी, कलकत्ता
१०१) बाबू जिनेन्द्रकुमार जैन, सहारनपुर
१०१) वैद्यराज कन्हैयालालजी चाँद औषधालय, कान
१०१) रतनलालजी जैन कालका वाले देहली
१०१) ला० प्रकाशचन्द शीलचन्द जी जौहरी, देहल

अधिष्ठाता 'वीर-सेवामन्दिर'
सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशक—परमानन्दजी जैन शास्त्री १, दरियागंज देहली। मुद्रक—रूप-वाणी प्रिंटिंग हाउस २३, दरियागंज, दे